(संशोधित-संस्करण)

व्याख्याकार

डॉ. सत्यपाल सिंह

आचार्यवरदराजप्रणीता

लघुसिद्धान्तकौमुदी

प्रकाशिकानाम्नीहिन्दीव्याख्यासहिता

लघुसिद्धान्तकौमुदी
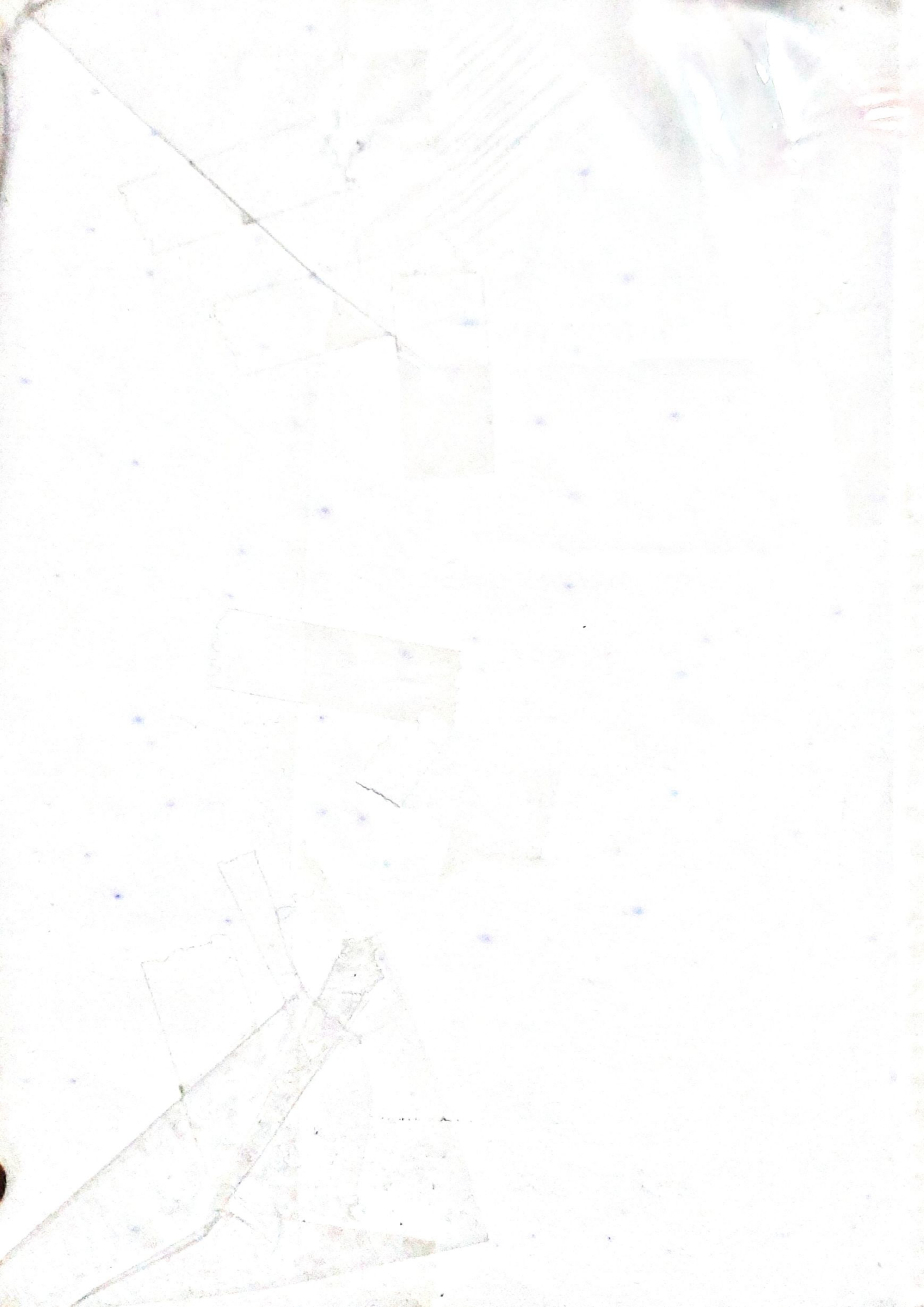
आचार्य वरदराजप्रणीत

लघुसिद्धान्तकौमुदी

प्रकाशिकानाम्नी हिन्दीव्याख्या सहित

व्याख्याकार

डॉ० सत्यपाल सिंह

शिवालिक प्रकाशन

दिल्ली (भारत)

परिवर्धित एवं संवर्धित संस्करण : 2013

आई.एस.बी.एन. : 81-88808-34-2

मूल्य : 395/- (सम्पूर्ण भाग में)

प्रकाशक :
शिवालिक प्रकाशन
27/16, शक्तिनगर
दिल्ली-110007
दूरभाष-011-42351161

भारत में प्रकाशित :
वीरेन्द्र तिवारी द्वारा शिवालिक प्रकाशन, 27/16, शक्ति नगर, दिल्ली-110007 के लिये प्रकाशित, अक्षर संयोजन ए-वन ग्राफिक्स, नई दिल्ली-88, और नागरी प्रिन्टर्स-दिल्ली द्वारा मुद्रित।

विनम्र स्वीकारोक्ति

ईश्वर की असीम अनुकम्पा से निर्विघ्न सम्पन्न इस व्याख्या को लिखने की प्रेरणा देने वाले उन सभी छात्र-छात्राओं का आभारी हूँ जिन्होंने अपने निरन्तर आग्रह से मुझे लिखने के लिए विवश कर दिया। वन्दनीय गुरु-परम्परा के प्रति श्रद्धासंवलित विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करना मेरा परम कर्त्तव्य है जिसने लेखनी उठाने का सलीका और सामर्थ्य प्रदान किया। शिवालिक प्रकाशन के सूत्रधार प्रिय मित्र श्री वीरेन्द्र तिवारी जी भूरिश: साधुवाद के पात्र हैं जिन्होंने प्रकाशन-भार को स्वीकार करके मुझे भारमुक्त कर दिया। मैं परमात्मा से इनके सर्वसुखसम्पन्न समृद्ध भविष्य की कामना करता हूँ। अन्त में अपनी सहधर्मिणी सहकर्मिणी डॉ. सरस्वती का धन्यवाद करके उनकी आत्मीयता का अवमूल्यन नहीं करना चाहता जिनकी खट्टी-मीठी सतत प्रेरणा ने इस कार्य की सम्पन्नता में रसायन का काम किया।

विषयसूची

संकेत–सूची

अ० – अव्यय
अनु० – अनुवृत्ति
अष्टा० – अष्टाध्यायी
उ०पु० – उत्तम पुरुष
एक व० – एक वचन
का० वृ० – काशिका वृत्ति
ग० सू० – गण सूत्र
तृ० वि० – तृतीया विभक्ति
द्वि व० – द्विवचन
द्वि० वि० – द्वितीया विभक्ति
प० वि० – पदच्छेद विभक्ति
प्र० पु० – प्रथम पुरुष
प्र० वि० – प्रथमा विभक्ति
बहु व० – बहुवचन
बा० म० – बालमनोरमा
म०पु० – मध्यम पुरुष
वा० – वार्तिक

संशोधित संस्करण की भूमिका

लघुसिद्धान्तकौमुदी की प्रकाशिका व्याख्या का प्रथम संस्करण २००९ में सुधी पाठकों के हाथों में आया था। उसके अनन्तर अद्यावधि (२०११ जुलाई मास तक) इसके दो संस्करण आ चुके हैं, जो इसकी उपयोगिता एवं ग्राह्यता का परिचायक है। अनेक प्रबुद्ध छात्रों और विद्वानों ने अनेक अवसरों पर इस पुस्तक की उपयोगिता के विषय में स्वयं लेखक से और प्रकाशक से सकारात्मक चर्चा की है। दक्षिण-भारत के कुछ विद्वान् अध्यापकों ने इसका अनूदति अंग्रेजी संस्करण लाने का भी आग्रह किया है।

हमारे कुछ मित्रों ने इस पुस्तक में विद्यमान टंकण की अशुद्धियों की तरफ तथा एक स्थान पर सुबन्त प्रकरण में सिद्धान्त-गत भूल की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट किय है। मैं उन सभी का हृदय से धन्यवाद करता हूँ। इस संशोधित संस्करण में उन सभी त्रुटियों और न्यूनताओं के निराकरण का यथा-सम्भव प्रयास किया गया है।

जिस सिद्धान्त-गत भूल की तरफ जो ऊपर संकेत किया गया है, उसके विषय में हम यह बताना चाहते हैं कि सुबन्त प्रकरण में 'रामौ', रामा:' आदि द्विवचन और बहुवचन रूपों की सिद्धि-प्रक्रिया में व्याकरण के प्रौढ़ ग्रन्थ न्यास और पदमञ्जरी आदि में 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' की प्रवृत्ति के समय सम्भावित पाँच पक्षों पर विस्तृत विचार विमर्श हुआ है। जिस पक्ष को हमने लघुसिद्धान्तकौमुदी की इस प्रकाशिका व्याख्या के प्रथम संस्करण में रखा था वह उन विवेचित पाँच पक्षों में से एक है, परन्तु वह वहाँ सिद्धान्त रूप में स्वीकृत पक्ष नहीं है। इस पक्ष में 'रामश्च रामश्चेति रामौ' की सिद्धि प्रक्रिया में पहले 'चार्थे द्वन्द्वः' से समास तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो:' से सुपों का लुक् करने के पश्चात् 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' से एकशेष किया जाता है। पदमञ्जरीकार ने इस पक्ष में स्वर सम्बन्धी दोष, 'ऋक् च ऋक्चेति ऋचौ' आदि में अन्तरङ्ग होने के कारण समासान्त प्रत्यय की पहले प्रसक्ति होने से अव्यवहित परे विभक्ति न मिलने के कारण एकशेष की अप्रवृत्ति तथा 'पादौ', 'पादा:' आदि में प्राण्यङ्गवाची शब्दों के समास (द्वन्द्व) में 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' से एकवद्भाव की प्राप्ति आदि के कारण इसे सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं किया है।

उक्त पक्ष के विषय में पर्याप्त विचार करने के परिणामस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे

हैं कि ऊपर संकेतिक सिद्धान्त-रूप में अस्वीकृत पक्ष ही पाणिनि का अभीष्ट और सिद्धान्त पक्ष कहा जा सकता है। जिसे हमने लघुसिद्धान्तकौमुदी की प्रकाशिका व्याख्या के प्रथम संस्करण में रखा था। इस पक्ष में उद्भावित सभी दोषों का निराकरण तथा इसे सिद्धान्त पक्ष के रूप में स्वीकार करने में हेतु और उसकी युक्तियुक्तता का प्रतिपादन विस्तार से 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' सूत्र पर दे दिया गया है। अतः उसे वहाँ देखा जा सकता है।

मित्रों के आग्रह और परम्परा का सम्मान करते हुए इस संशोधित संस्करण में प्रथम संस्करण में प्रदत्त 'रामौ' की सिद्धि-प्रक्रिया के साथ परम्परा में इष्ट अविभक्तिक पदों के एकशेष वाली सिद्धि-प्रक्रिया को भी दे दिया गया है। **पुनरपि हमारा ये सुदृढ़ मत है कि रामौ और रामाः आदि द्विवचन और बहुवचन शब्दों की सिद्धि-प्रक्रिया में 'द्वन्द्व' समास के पश्चात् लुप्त विभक्तियों को प्रत्ययलक्षण से निमित्त मानकर 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' की प्रवृत्ति वाली सिद्धि-प्रक्रिया ही उचित, युक्तियुक्त और पाणिनि को भी अभीष्ट है।**

प्रथम संस्करण में ग्रन्थ के अन्त में दिए गए लघुसिद्धान्तकौमुदी में प्रयुक्त या संकेतिक 'गणपाठ' के गणों की सूची में कुछ गण छूट गए थे, उन्हें इस संस्करण में जोड़ दिया गया है।

'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (१०) सूत्र की व्याख्या में आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्नों को विस्तार से समझाकर अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। प्रायोगिक स्तर पर इन्हें व्यवहार में या उच्चारण-काल में कैसे अनुभव किया जा सकता है, इसे भी समझाया गया है। वर्णोच्चारण के इस पक्ष को प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही पद्धतियों में प्रायः उपेक्षित कर दिया गया है।

इस संशोधित संस्करण को यथाशक्य अशुद्धियों से मुक्त करने का प्रयास किया गया है। तथापि ऐसी त्रुटियाँ या अशुद्धियाँ हो सकती हैं, जिन पर हमारा ध्यान न गया हो। अतः सुधी पाठक-वृन्द से हमारा निवेदन है कि इस पुस्तक में जहाँ भी टंकण-सम्बन्धी अथवा सिद्धान्त-गत दोष दृष्टि-पथ में आए तो उसे लेखक अथवा प्रकाशक को सूचित करके अनुगृहीत करें, जिससे उन्हें अग्रिम संस्करण में दूर किया जा सके।

अन्त में समस्त सज्जन वृन्द को निम्नलिखित शब्दों में प्रणति-तति समर्पित करना चाहता हूँ-

उत्तल-अवतल ऊँच-नीच से भरे हुए इस जीवन-पथ में,
कर्मठ-जन उत्साहित होकर जब-जब कदम बढ़ाते हैं।
निश्चय ही इस जीवन-पथ पर आगे बढ़ना सरल नहीं है,
अनुभवहीन पथिक मुझ जैसे कदम फिसल ही जाते हैं।
तब जो सज्जन आगे बढ़कर गिरते को सहारा देते हैं,
सचमुच वे जन सज्जन हैं, हम उनको शीश नवाते हैं।।

-सत्यपाल सिंह

भूमिका

पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन की दो पद्धतियाँ आज प्रचलित हैं जिन्हें हम प्रक्रिया-पद्धति और अष्टाध्यायी-क्रम-पद्धति के नामों से जानते हैं। प्रक्रिया-पद्धति के प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में लघुसिद्धान्तकौमुदी और सिद्धान्तकौमुदी का अध्ययन-अध्यापन सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्दिष्ट पाठविधि का यत्किञ्चित् अनुपालन करने वाले गुरुकुलों की परम्परा में ष्टाध्यायी-क्रम से व्याकरण का बोध छात्रों को कराया जाता है। इस परम्परा में पाणिनि-विर अष्टाध्यायी, धातुपाठ और उणादिकोष आदि ग्रंथों को पहले मूल रूप में छात्रों को कण्ठस्थ कराया जाता है। तदनन्तर इस पद्धति के प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप श्री पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा प्रणीत अष्टाध्यायी-भाष्य प्रथमावृत्ति और वामन-जयादित्य-कृत काशिका का अध्यापन प्रारम्भ होता है। मुझे इ दोनों ही पद्धतियों से पढ़ने-पढ़ाने का अवसर प्राप्त हुआ। मेरे संस्कृत व्याकरण के अध्ययन का प्रारम्भ गुरुकुल झज्जर (हरयाणा) में अष्टाध्यायी-क्रम पद्धति से हुआ, जहाँ अष्टाध्यायी आदि को कण्ठस्थ करने के उपरान्त अष्टाध्यायी-भाष्य प्रथमावृत्ति, काशिका, माधवीया धातुवृत्ति और महाभाष्य के अध्ययन का सुअवसर मिला। इस पद्धति की अपनी अनेक विशेषताएँ हैं। जैसे-अष्टाध्यायी-क्रम पर आधारित अनुवृत्ति और अधिकार का बोध होने से सूत्रार्थ की सुगमता, 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र के द्वारा निर्दिष्ट सूत्रों की प्रवृत्ति में पौवापर्य व्यवस्था, 'पूर्वत्रासिद्धम्' द्वारा निर्दिष्ट असिद्ध व्यवस्था और 'असिद्धवदत्राभात्' सूत्र द्वारा निर्दिष्ट आभीय असिद्ध व्यवस्था आदि उल्लेखनीय हैं। इस पद्धति से अध्ययन में एक मात्र कठिनाई यह थी कि शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया में किसी सूत्र की प्रवृत्ति के उपरान्त अग्रिम परिस्थिति में कौन सा सूत्र प्रवृत्त होगा इसका बोध सुगम नहीं था। सामान्य-बुद्धि और मन्द-बुद्धि छात्रों के लिए तो यह अत्यन्त दुष्कर कार्य था।

दिल्ली-विश्वविद्यालय से 'एम्.ए.' संस्कृत में जब लघुसिद्धान्तकौमुदी और सिद्धान्तकौमुदी के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन किया तो पता चला कि प्रक्रिया-क्रम के इन ग्रन्थों में सूत्र-क्रम, अष्टाध्यायी के सूत्र-क्रम से सर्वथा भिन्न है। जिसे शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया के क्रम से रखा गया है। प्रक्रिया-पद्धति से अध्ययन की

इस परम्परा में शब्दसिद्धि की प्रक्रिया अत्यन्त सुगम हो जाती है और मन्दबुद्धि छात्र भी थोड़े से परिश्रम से सूत्रार्थ को यथावत् कण्ठस्थ करके शब्दसिद्धि-प्रक्रिया को सरलता से जानने में सक्षम हो जाते हैं।

प्रक्रिया-पद्धति के 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' आदि ग्रन्थ शब्द-सिद्धि की दुरूहता से तो छुटकारा दिला देते हैं, परन्तु वहीं अष्टाध्यायी-सूत्र-क्रम के अभाव में अनेक समस्याएं सामने आकर खड़ी हो जाती हैं। यथा-अनुवृत्ति के अभाव में सूत्रार्थ-बोध में दुरूहता, विप्रतिषेध अर्थात् एक ही स्थिति में एक से अधिक सूत्रों की प्रवृत्ति की सम्भावना होने पर पौर्वापर्य-विषयक निर्णय करने में कठिनाई और असिद्ध प्रकरणों में सूत्रों की प्रवृत्तिविषयक व्यवस्था को समझना असम्भव प्राय: होता है।

हमने अपने सत्रह वर्षों के अध्यापन काल में छात्रों की इस कठिनाई को निरन्तर अनुभव किया और उनसे मुक्ति हेतु जो प्रयास और प्रयोग किये उन्हें लघुसिद्धान्तकौमुदी की इस व्याख्या में और इस भूमिका में अत्यन्त संक्षेप में समाहित करने का प्रयास किया गया है।

पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन में सबसे बड़ी कठिनाई उसकी शास्त्रीय-भाषा **(Meta language)**और विशिष्ट तकनीक है जो अत्यन्त जटिल होने के कारण छात्रों के लिए दुरूह भी है। इसलिए यहाँ उन सभी जटिल बिन्दुओं को सुग्राह्य बनाने के उद्देश्य से विशेष रूप से सोदाहरण स्पष्ट करने का उपक्रम किया गया है।

लघुसिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या प्रारम्भ करने से पहले लघुसिद्धान्तकौमुदी और इसकी व्याख्या को समझने के लिए कुछ विशेष बिन्दुओं को ध्यान में रखना चाहिए, जिनकी चर्चा आगे की जा रही है। जैसा कि हम जानते हैं, लघुसिद्धान्तकौमुदी पाणिनीय अष्टाध्यायी से कुछ सूत्रों को चुनकर प्रक्रिया-क्रम से व्याकरण को समझने का एक स्तुत्य प्रयास है। सूत्रों की व्याख्या पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्ति में दिया गया अर्थ सूत्र के द्वारा सम्पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं होता। वरदराज ने भी इस समस्या को स्वयं पहचाना और 'हलन्त्यम्' सूत्र की वृत्ति में इसका निर्देश भी किया-**सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।** ग्रन्थकार ने इस समस्या की ओर संकेत तो किया, परन्तु ग्रन्थ के कलेवर को सीमित करने के लिए इसके समाधान का प्रयास नहीं किया। प्रस्तुत व्याख्या (प्रकाशिका) में पूर्व सूत्र से आने वाली **अनुवृत्ति** को सूत्र के अर्थ से पहले दिया गया है, जिससे सूत्र के अर्थ की संगति लग सके।

अनुवृत्ति-आचार्य पाणिनि का यह स्वभाव है कि वे एक पद का पाठ किसी एक सूत्र में करने के पश्चात्, यदि उसी पद की आवश्यकता बाद वाले सूत्रों में हो तो, उसका पाठ दुबारा उन सूत्रों में नहीं करते अपितु ऊपर वाले सूत्र से ही उस पद का ग्रहण कर लेते हैं। ऊपर वाले सूत्र से ही पदों को ग्रहण करने की यह प्रक्रिया **अनुवृत्ति** कहलाती है। यथा- **'हलन्त्यम्'** इस सूत्र में केवल दो पद हैं-(१) हल् (२) अन्त्यम्। सूत्र के रूप में पठित इन दो पदों से तो केवल इतना ही अर्थ प्रतीत होता है-'अन्त में होने वाला हल्

अर्थात् व्यञ्जन' जो कि अपने आप में असम्पूर्ण है; क्यों कि यहाँ सुसंगत अर्थ की प्रतीति हेतु किञ्चित् आकाङ्क्षा बनी ही रहती है। इस आकाङ्क्षा के उपशमन हेतु 'हलन्त्यम्' सूत्र से पहले पठित 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से **उपदेशे** और **इत्** इन दो पदों का ग्रहण किया जाता है। इसके अतिरिक्त सभी वाक्यों में जहाँ कोई क्रिया-पद नहीं होता वहाँ सर्वत्र **अस्ति** या **भवति** आदि क्रिया पदों का अध्याहार करने पर 'हलन्त्यम्' सूत्र का आशय है–उपदेश में (उच्चरित) अन्तिम 'हल्' अर्थात् व्यञ्जन 'इत्' (संज्ञक) होता है। 'हलन्त्यम्' सूत्र का यह अर्थ अपने आप में सम्पूर्ण है जिसे ग्रहण करने के बाद वक्ता, श्रोता या अध्येता के मन में प्रकृत सूत्र से सम्बद्ध किसी प्रकार की आकाङ्क्षा नहीं रहती। इसी प्रकार अन्य सूत्रों में भी अनुवृत्ति को जानें। यह तो स्थालीपुलाक न्याय से निदर्शन मात्र है।

विभक्तियों के विशिष्ट अर्थ–सामान्य भाषा में विभक्तियों के जो अर्थ होते हैं पाणिनि ने अपने सूत्रों में प्रयुक्त विभक्तियों के उनसे भिन्न अर्थ निर्दिष्ट किये हैं। कहीं-कहीं प्रचलित अर्थों को भी स्वीकार किया है। अत: पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त सातों विभक्तियों के अर्थों को दिया जा रहा है :

प्रथमा – प्रातिपदिकार्थ मात्र।
द्वितीया – को।
तृतीया – के योग में, के साथ।
चतुर्थी – के लिए।
पञ्चमी – से उत्तर या के बाद।
षष्ठी – के स्थान में।
सप्तमी – परे रहते पूर्व में, के विषय में, में, उपपद में रहते।

सूत्रों का अर्थ स्पष्ट हो सके, तदर्थ व्याख्या में सूत्रों का पदच्छेद, विभक्ति और वचन का निर्देश भी किया गया है। विभक्ति के अर्थों को समझने के लिए **'इको यणचि'** सूत्र को उदाहरण के रूप में यहाँ समझ सकते हैं। सूत्र में 'इक:' पद में षष्ठी विभक्ति का एक वचन, 'यण्' में प्रथमा विभक्ति का एक वचन तथा 'अचि' में सप्तमी विभक्ति का एक वचन है। पूर्व प्रदर्शित विभक्तियों के अर्थ की संगति इस सूत्र को समझने के लिए इस प्रकार लगाई जा सकती है– 'इक:' (षष्ठी)–'इक्' के स्थान में, 'यण्' (प्रथमा)–'यण्' होते हैं, 'अचि' (सप्तमी)–'अच्' परे रहते। अर्थात् 'अच्' परे रहते पूर्व में 'इक्' के स्थान में 'यण्' (आदेश) होते हैं।

प्रत्याहार–लघुसिद्धान्तकौमुदी अथवा पाणिनीय-व्याकरण को समझने के लिए प्रत्याहार-निर्माण-प्रक्रिया को जान लेना भी अत्यन्त आवश्यक है। 'प्रत्याहार' का अर्थ है संक्षिप्त करना। हम सामान्य भाषा में लम्बे शब्दों को छोटा करकर लिखने की प्रवृत्ति व्यवहार में भी देखते हैं। जैसे–अंग्रेजी भाषा में 'Mis[illegible]' को छोटा करके Mr. तथा Doctor को Dr. लिखा जाता है, वैसे ही पाणिनि[illegible]र्णमाला के विभिन्न समूहों के

अत्यन्त विस्तृत प्रयोग को ध्यान में रखकर प्रत्याहार (संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया) को अपनाया है। जैसे–सभी स्वरों के लिए कोई कार्य करना हो तो 'अ, इ, उ' इत्यादि सभी स्वरों का उच्चारण न करके मात्र 'अच्' कह कर कार्य को सम्पन्न किया जाता है। प्रत्याहार बनाने की प्रक्रिया में एक विशेष संज्ञा 'इत्' का प्रयोग किया गया है, जिसे जान लेना अपरिहार्य है। पाणिनि ने अपने सूत्रों के द्वारा अथवा स्वतन्त्र रूप से जिन प्रत्यय, धातु आदि का उल्लेख किया है, उनका अन्तिम वर्ण यदि 'हल्' अर्थात् व्यञ्जन हो तो उसका नाम 'इत्' होता है[1]। जैसे–'अइउण्' इस सूत्र में अन्तिम वर्ण 'ण्' व्यञ्जन (हल्) है अतः उसका नाम 'इत्' रखा गया है। इसी प्रकार आगे निर्दिष्ट अन्य 'ऋलृक्' में अन्तिम वर्ण 'क्', 'एओङ्' में 'ङ्', 'ऐऔच्' में 'च्', 'हयवरट्' में 'ट्', 'लण्' में 'ण्', 'ञमङणनम्' में 'म्', 'झभञ्' में 'ञ्', 'घढधष्' में 'ष्', 'जबगडदश्' में 'श्', 'खफछठथचटतव्' में 'व्', कपय्' में 'य्', 'शषसर्' में 'र्' तथा 'हल्' में 'ल्' की 'इत्' संज्ञा अर्थात् 'इत्' नाम होता है।[2]

प्रत्याहार बनाने की प्रक्रिया में जब माहेश्वर अथवा प्रत्याहार सूत्रों में पठित कोई वर्ण (अन्तिम वर्ण के अतिरिक्त) किसी भी सूत्र के अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण के साथ मिला दिया जाता है, तो वह एक प्रत्याहार कहलाता है। जैसे 'अइउण्' के 'अ' को जब 'ऐऔच्' के अन्तिम इत्सज्ञंक वर्ण 'च्' के साथ मिला दिया जाता है तो 'अच्' प्रत्याहार बनता है। यह 'अच्' प्रत्याहार 'अ' से प्रारम्भ करके मध्य आने वाले सभी वर्णों के लिए प्रयुक्त होता है। विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि सूत्रों में प्रयुक्त होने वाले अन्तिम वर्ण प्रत्यहार बनाने में सहयोग तो करते हैं परन्तु उनकी गणना प्रत्याहारों में परिगणित वर्णों में नहीं होती। अर्थात् 'तस्य लोपः' से इत्संज्ञकों का लोप हो जाने से उन्हें छोड़ दिया जाता है। जैसे 'अच्' प्रत्याहार में 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ और औ' वर्णों को ही 'अच्' कहा जाता है बीच में आने वाले सभी सूत्रों के अन्तिम वर्ण 'ण्', 'क्', 'ङ्' तथा 'च्' की गिनती 'अच्' प्रत्याहार में नहीं होती।

परिभाषा सूत्रों की अन्य सूत्रों के साथ एकात्मकता–पाणिनि ने अष्टाध्यायी में अनेक परिभाषा सूत्रों का स्वकण्ठतः पाठ किया है। यथा–**इको गुणवृद्धी, षष्ठी स्थानेयोगा, स्थानेऽन्तरतमः, अलोऽन्त्यस्य, स्थानीवदादेशोऽनल्विधौ, अचः परस्मिन् पूर्वविधौ, यथासंख्यमनुदेशः समानाम्, येन विधिस्तदन्तस्य** आदि उल्लेखनीय हैं। परिभाषा और अधिकार सूत्रों में मूलभूत अन्तर यह है कि अधिकार सूत्र के अपने उत्तरवर्ती सूत्रों में अनुवृत्ति के रूप में उपस्थित होकर तत्तत् सूत्रों के (अर्थों के) पूरक होते हैं। जबकि परिभाषा सूत्र समग्र शास्त्र में जहाँ भी आवश्यकता होती है वहाँ ही उपस्थित होकर अव्यवस्थित सन्दर्भों को व्यवस्थित बनाने का कार्य करते हैं। भाष्यकार महर्षि पतञ्जलि परिभाषा के विषय में कहते हैं–"परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति

१. हलन्त्यम्, अष्टा०-१.३.३.

२. 'इत्' संज्ञा करने वाले अन्य अनेक सूत्र हैं; जिनका उल्लेख यथाप्रसंग किया गया है।

यथा वेश्म प्रदीपवत्।" अर्थात् परिभाषा अपने स्थान पर रहते हुए समग्र शास्त्र को वैसे ही प्रकाशित करती है जैसे घर के एक कोने में रखा हुआ दीपक अपने स्थान पर रहते हुए सम्पूर्ण घर को प्रकाशित करता है। परिभाषा सूत्रों की उपयोगिता और कार्यविधि के निदर्शन हेतु परिभाषाओं से सम्बद्ध कुछ सन्दर्भों को आगे दिया जा रहा है। यथा–' सुधी + उपास्य:' यहाँ 'इको यणचि' से 'अच्' (उकार) परे रहते 'इक्' (ईकार) के स्थान पर 'यण्' (य्, व्, र्, ल्) आदेश प्राप्त हुए। यहाँ स्थानी 'इक्' (ईकार) एक है और उपलब्ध आदेश 'यण्' वर्णों की संख्या चार है। ऐसी स्थिति में ईकार के स्थान पर 'यण्' आदेश कौन सा होगा इस विषय में कोई नियामक न होने से अव्यवस्था अथवा पर्याय से चारों आदेशों की व्यवस्था माननी होगी। इस अनियम की स्थिति में **'स्थानेऽन्तरतमः'** परिभाषा सूत्र उपस्थित होकर व्यवस्थापक का कार्य करता है कि एक स्थानी के स्थान पर अनेक आदेशों की युगपत् उपलब्धि होने पर उन आदेशों में जो स्थानी का अन्तरतम अर्थात् सदृशतम आदेश होगा वही स्थानी के स्थान पर होगा, अन्य नहीं। प्रस्तुत सन्दर्भ में ईकार स्थानी का सदृशतम 'यण्' वर्ण यकार है क्योंकि दोनों का उच्चारण स्थान तालु होने के कारण ईकार का अन्तरतम (सदृशतम) यकार ही है इसलिए ईकार के स्थान में यणादेश यकार ही होता है, अन्य वकार आदि नहीं।

एक अन्य परिभाषा **'इको गुणवृद्धी'** के स्वरूप और कार्यविधि को आगे प्रदर्शित उदाहरण में स्पष्ट किया जा रहा है। प्रस्तुत परिभाषा का अर्थ है–'गुण होवे, वृद्धि होवे ऐसा कहकर जहाँ (स्थानी का स्पष्ट निर्देश किये बिना) 'गुण' और 'वृद्धि' का विधान किया जाता है वहाँ 'इकः' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित होता है। अर्थात् वहाँ 'इक्' स्थानी के रूप में उपस्थित हो जाता है। **यथा**–'भू+शप्+तिप्'='भू+अ+ति' यहाँ 'शप्' की 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' से 'सार्वधातुक' संज्ञा और 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' से 'भू' की 'अङ्ग' संज्ञा होने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से सार्वधातुक प्रत्यय (शप्) परे रहते अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ, इस स्थिति में 'भू' अङ्ग के किस वर्ण को गुण हो इस विषय का निर्धारण करने के लिए 'इको गुणवृद्धी' परिभाषा यहाँ उपस्थित होती है जिससे 'इकः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण बनने पर इगन्त अङ्ग को गुण, उकार के स्थान में 'ओ', आदेश होता है। इस प्रकार 'भो+अ+ति' बनने पर 'एचोऽयवायावः' से 'ओ' को 'अव्' आदेश होकर 'भवति' रूप सिद्ध होता है।

परिभाषाओं के प्रयोग को स्पष्टतया समझने के लिए एक अन्य परिभाषा **'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्'** को यहाँ देखा जा सकता है। यह परिभाषा स्थानी और आदेशों की संख्या समान होने पर ही कार्य करती है। परिभाषा में पठित 'अनुदेश' (आदेश) शब्द एक सापेक्ष शब्द है जो स्थानी की अपेक्षा रखता है। इसलिए सूत्र में पठित न होने पर भी सूत्र का अर्थ करते समय स्थानी का आक्षेप स्वतः हो जाता है। इस प्रकार प्रकृत परिभाषा का अर्थ होगा–स्थानी और अनुदेश अर्थात् आदेशों की संख्या समान होने

पर स्थानी के स्थान में आदेश यथासंख्य (संख्या के क्रम से प्रथम के स्थान में प्रथम, द्वितीय के स्थान में द्वितीय आदि) होते हैं। यथा–'हरे+ए=हरये' यहाँ जब 'एचोऽयवायावः' से 'अच्' (ए) परे रहते पूर्ववर्ती 'एच्' (ए) के स्थान में अय्, अव्, आय् और आव् आदेश प्राप्त हुए तब 'एच्' प्रत्याहार में आने वाले 'ए' के स्थान में कौन सा आदेश हो? इसके निर्णय हेतु प्रकृत परिभाषा उपस्थित हो जाती है। क्योंकि यहाँ स्थानी 'एच्' अर्थात् **ए**, **ओ**, **ऐ** और **औ** की संख्या, आदेश **अय्**, **अव्**, **आय्** और **आव्** के समान है। इसलिए यहाँ आदेश यथासंख्य अर्थात् अपनी संख्या के क्रम से प्रथम स्थानी के स्थान में प्रथम आदेश आदि होकर 'ए' के स्थान में 'अय्' आदेश होने पर 'हरये' रूप सिद्ध होता है।

उत्सर्ग-अपवाद व्यवस्था– पाणिनि ने प्रत्येक शब्द की साधन-प्रक्रिया में लाघव हेतु उनकी सिद्धि-प्रक्रिया विषयक कार्यों का प्रतिपद विधान न करके **उत्सर्ग** और **अपवाद** व्यवस्था को व्याकरण शास्त्र में अपनाया है। इस उत्सर्ग–अपवाद व्यवस्था को ठीक से जाने बिना व्याकरण के अध्ययन में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। विशेष रूप से उन स्थलों पर जहाँ एक ही परिस्थिति में एक ही निमित्त को मान कर दो अलग–अलग कार्यों की प्रसक्ति हो रही हो। ऐसे स्थलों में पाणिनि द्वारा स्वकण्ठतः प्रोक्त 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र से विहित अष्टाध्यायी–सूत्र–क्रमविषयक पौर्वापर्य व्यवस्था और उत्सर्ग–अपवाद व्यवस्था ही मुख्य रूप से एक कार्य की प्रसक्ति और अपर कार्य की अप्रसक्ति के नियामक कारक होते हैं।

उत्सर्ग सूत्र–जब अनेक स्थानों पर एक समान परिस्थिति के उपस्थित होने पर एक ही विषय की अभिव्यक्ति के लिए या एक ही उद्देश्य की प्राप्ति की लिए सामान्य रूप से किसी कार्य का विधान करने के लिए पाणिनि जिस सूत्र का प्रणयन करते हैं, वह **उत्सर्ग सूत्र** कहलाता है। **यथा**–कृदन्त प्रकरण में आचार्य पाणिनि ने 'कर्मण्यण्' सूत्र पढ़ा है। जो कर्म उपपद में रहने पर धातु से 'कर्त्ता' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय का विधान करता है। यह सूत्र किसी भी कर्म के उपपद में रहने पर बिना किसी भेद–भाव के धातु मात्र से 'अण्' प्रत्यय का विधान करता है। जो **कुम्भं करोतीति=कुम्भकारः, भाष्यं करोति इति=भाष्यकारः, भारं वहतीति=भारवाहः, धर्मम् पालयतीति=धर्मपालः** इत्यादि उदाहरणों में भिन्न–भिन्न कर्म उपपद में रहने पर भिन्न–भिन्न धातुओं से कर्त्ता अर्थ में ('अण्' प्रत्यय) सामान्य रूप से दिखाई देता है। यहाँ कर्म उपपद में रहने पर धातु मात्र से कर्त्ता अर्थ में 'अण्' प्रत्यय का सामान्य रूप से विधायक होने के कारण 'कर्मण्यण्' सूत्र **उत्सर्ग सूत्र** है।

अपवाद सूत्र–जब उत्सर्ग सूत्र के समान परिस्थिति में और उसी अर्थ में, किञ्चित् विशिष्ट परिस्थिति के उल्लेखपूर्वक उत्सर्ग सूत्र द्वारा विहित कार्य से भिन्न कार्य (प्रत्यय का विधान आदि) किसी सूत्र द्वारा किया जाता है तो वह **अपवाद सूत्र** कहलाता है। सद्य प्रदर्शित उत्सर्ग सूत्र 'कर्मण्यण्' के अपवाद रूप में विहित 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र को

देखा जा सकता है। यह सूत्र कर्म उपपद में रहते उपसर्ग रहित आकारान्त धातु से कर्त्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय का विधान करता है। यहाँ उत्सर्ग सूत्र के समान ही कर्म उपपद में रहते कर्त्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय का विधान किया है, जहाँ 'धातु के साथ उपसर्ग का अभाव' और 'धातु का आकारान्त होना' इन दोनों शर्तों को 'क' प्रत्यय के विधान के लिए अपरिहार्य बना दिया गया है। इसलिए 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र को 'कर्मण्यण्' का अपवाद माना जाता है। यथा–**गाम् ददातीति–गोदः** यहाँ 'गो' कर्म उपपद में रहते उपसर्ग रहित आकारान्त धातु 'दा' से प्रकृत सूत्र 'आतोऽनुपसर्गे कः' से 'क' प्रत्यय हुआ है।

उत्सर्ग और अपवाद सूत्रों के कार्य क्षेत्र के विषय में विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि जहाँ भी अपवाद सूत्र का विषय बनता है वहाँ उत्सर्ग सूत्र की प्रवृत्ति के लिए भी सभी अपेक्षित परिस्थितियाँ विद्यमान रहती हैं। ऐसी स्थिति में किस सूत्र की प्रवृत्ति हो इसका निर्णय करने के लिए 'पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः' इस परिभाषा को आधार बनाया जाता है। इससे अपवाद सूत्र के विषय को छोड़कर ही उत्सर्ग सूत्र की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् जहाँ उत्सर्ग और अपवाद दोनों प्रकार के सूत्रों की प्रवृत्ति सम्भव हो वहाँ अपवाद सूत्र उत्सर्ग सूत्रों के बाधक होते हैं। जैसा कि 'गां ददातीति=गोदः' में देखा जा सकता है, जहाँ 'कर्मण्यण्' इस उत्सर्ग सूत्र को बाधकर 'आतोऽनुपसर्गे कः' से 'क' प्रत्यय हुआ है।

पाणिनि की संज्ञा व्यवस्था–पाणिनि ने अपने व्याकरण शास्त्र में सामान्यतः एक ही शब्द की अनेक संज्ञाओं का विधान किया है। वे एक ही वर्ण, शब्द और प्रत्यय आदि की अनेक संज्ञाओं का विधान करके अपेक्षित कार्यों का निष्पादन करते हुए देखे जा सकते हैं। यथा–'कर्त्तव्यम्' आदि शब्दों में 'तव्यत्' आदि की एक साथ **प्रत्यय, कृत्** और **कृत्य** संज्ञाओं का विधान करके तत्तद् आश्रित कार्यों का निष्पादन क्रमशः प्रत्यय का प्रकृति से परे विधान, कृत् संज्ञा के आश्रय से सुबुत्पत्ति और कृत्य संज्ञा के आश्रय से 'तयोरेवकृत्यक्तखलर्थाः' से अर्थ-निर्देश किया है।

एकसंज्ञा–अधिकारव्यवस्था–इस उपर्युक्त संज्ञा-समावेश व्यवस्था के विपरीत पाणिनीय अष्टाध्यायी में एक ऐसा प्रकरण भी है जिसमें केवल एक संज्ञा का ही विधान किया गया है। इस का आशय यह है कि इस प्रकरण में यदि किसी प्रकृति, प्रत्यय अथवा वर्ण आदि की अनेक संज्ञाएं सम्भव हों तो उनमें से एक ही संज्ञा होती है और अन्य सम्भावित संज्ञाओं को उसके द्वारा बाध लिया जाता है। यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न यह होता है कि अनेक संज्ञाओं की प्राप्ति होने पर कौन सी एक संज्ञा की प्रसक्ति होगी और उसका आधार क्या है? इसका समाधान यह है कि 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' की व्यवस्था के आधार पर अष्टाध्यायी–क्रम में जिसका पर सूत्र के द्वारा विधान किया गया हो अथवा जो अनवकाश हो उसकी ही प्रसक्ति होती है; अन्य संज्ञाओं का उसके द्वारा बाध हो जाता है। उदाहरणार्थ 'वाच्+टा (आ)' यहाँ 'स्वादिष्वसर्वनमस्थाने' से सर्वनामस्थान से भिन्न

स्वादि प्रत्यय 'टा' परे रहते 'वाच्' की 'पद' संज्ञा प्राप्त है। इसी स्थान पर 'यचि भम्' से स्वादि प्रत्ययों के अन्तर्गत अजादि प्रत्यय परे रहते 'वाच्' की 'भ' संज्ञा भी प्राप्त है। ये दोनों सूत्र 'आकडारादेका संज्ञा' से विहित एक संज्ञा-अधिकार प्रकरण में पठित हैं।

यदि यहाँ 'पद' संज्ञा हो जाए तो 'चोःकुः' से पदान्त में कुत्व अर्थात् 'च्' को 'क्' आदेश और 'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में जश्त्व 'क्' को 'ग्' आदेश होकर 'वागा' यह अनिष्ट रूप बनेगा। एक संज्ञा-अधिकार में पठित होने के कारण परत्व से और अनवकाश होने के कारण 'यचि भम्' से प्राप्त 'भ' संज्ञा, 'पद' संज्ञा को बाध लेती है। इसलिए 'पद' संज्ञा के आश्रित कार्य कुत्व और जशत्व भी नहीं होते तथा 'वाचा' रूप सिद्ध होता है।

असिद्ध व्यवस्था—पाणिनि ने अष्टाध्यायी में दो भिन्न-भिन्न प्रकरणों में असिद्ध व्यवस्था का प्रयोग किया है। प्रथम असिद्ध व्यवस्था का प्रयोग छठे अध्याय के चतुर्थ पाद में 'असिद्धवदत्राभात्' (६.४.२२) सूत्र के द्वारा संकेतित है। इसे **आभीय असिद्ध** प्रकरण के नाम से जाना जाता है। जबकि द्वितीय असिद्ध प्रकरण का प्रारम्भ 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८.२.१) सूत्र के द्वारा किया गया है। जिसे **पूर्वत्रासिद्ध** प्रकरण के नाम से जाना जाता है। इन दोनों प्रकरणों में प्रयुक्त असिद्ध व्यवस्था का स्वरूप, नाम की समानता होने पर भी, परस्पर समान नहीं है। जिसे सद्य विवेचित सन्दर्भों में देख सकेंगे।

आभीय असिद्ध—पाणिनि ने इस प्रकरण का प्रारम्भ और व्यवस्था **असिद्धवदत्राभात्** (६.४.२२) सूत्र से की है। इस प्रकरण में असिद्ध व्यवस्था के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह सूत्र कहता है—प्रस्तुत सूत्र असिद्धवदत्राभात् (६.४.२२) से प्रारम्भ करके 'भ' संज्ञा के अधिकार की समाप्ति पर्यन्त अर्थात् छठे अध्याय के चतुर्थ पाद की समाप्ति तक सभी सूत्रों का कार्य परस्पर एक दूसरे की दृष्टि में असिद्ध होता है। कहने का आशय यह है कि यदि इस प्रकरण के किसी सूत्र की प्रवृत्ति के पश्चात् इस प्रकरण के दूसरे सूत्र की प्रवृत्ति के लिए परिस्थिति बनती है तो इस प्रकरण के सूत्र के द्वारा पूर्व में किया गया कार्य पश्चात् प्रवृत्त होने के लिए उपस्थित इसी आभीय प्रकरण के सूत्र की दृष्टि में असिद्ध अर्थात् बिना हुए के समान होता है। जिसे प्रस्तुत उदाहरण 'जहि' में देखा जा सकता है। **जहि**—'हन्' धातु से लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एक वचन में 'सिप्', 'सेर्ह्यपिच्च' से लोट् सम्बन्धी 'सि' को 'हि' आदेश, 'कर्तरि शप्' से 'शप्' आकर 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से शप् का लुक् होने पर 'हन्+हि' इस स्थिति में 'हन्तेर्जः' से 'हि' परे रहते 'हन्' को 'ज' आदेश होने पर 'ज+हि' यहाँ 'अतो हेः' से ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से उत्तर 'हि' का लुक् प्राप्त हुआ। 'अतो हेः' और 'हन्तेर्जः' दोनों सूत्र आभीय प्रकरण में पठित हैं इसलिए 'हन्तेर्जः' से किया गया 'हन्' को 'ज' आदेश 'अतो हेः' की दृष्टि में असिद्धवत् (अनिष्पन्नवत्) हो जाने से ह्रस्व अकारान्त अङ्ग नहीं मिलता, इसलिए निमित्त (ह्रस्व अकारान्त अङ्ग) न मिलने से 'अतो हेः' से 'हि' का लुक् नहीं होता, और 'जहि' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार किसी स्थान पर एक ही स्थिति में इस आभीय प्रकरण के दो

सूत्रों का कार्य युगपत् प्राप्त हो तो वहाँ 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र की व्यवस्था से अष्टाध्यायी क्रम में पर-सूत्र पहले प्रवृत्त होकर अपना कार्य करता है, तदनन्तर द्वितीय सूत्र, जो कि विप्रतिषेध अवस्था में बाधित हो गया था, की दृष्टि में आभीय कार्य के असिद्ध हो जाने से पुनः प्रवृत्त हो जाता है। यथा– **'एधि'** यहाँ 'अस्' धातु से लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एक वचन में 'सिप्', 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'सेर्ह्यपिच्च' से लोट् सम्बन्धी 'सि' को 'हि' आदेश होने पर 'अस्+शप्+हि' यहाँ 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से 'शप्' का लुक् और 'श्नसोरल्लोपः' से कित् सार्वधातुक परे रहते 'अस्' के अकार का लोप होने पर 'स् + हि' इस स्थिति में 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (६.४.१०१) से झलन्त (सकारान्त) अङ्ग से उत्तर 'हि' को 'धि' आदेश और 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (६.४.११९) से 'हि' परे रहते 'अस्' धातु को एकारादेश की युगपत् प्राप्ति होने पर परत्व से और नित्य होने के कारण 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' से 'अस्' धातु के अन्तिम अल् (सकार) को एकार आदेश हुआ, तदनन्तर 'ए+हि' इस स्थिति में झलन्त अङ्ग न मिलने से निमित्त के अभाव में 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से 'हि' को 'धि' आदेश प्राप्त नहीं होता। चूंकि 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' और 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' दोनों ही सूत्र आभीय असिद्ध प्रकरण के हैं इसलिए 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' से किये गए एकारादेश के असिद्धवत् (अनिष्पन्नवत्) मान लिए जाने पर 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से सकारान्त (झलन्त) से उत्तर 'हि' को धि आदेश होकर 'एधि' रूप निष्पन्न होता है।

पूर्वत्रासिद्ध व्यवस्था–इस प्रकरण की व्यवस्था का निर्देशक सूत्र 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८.२.१) इस प्रकरण का प्रारम्भिक सूत्र भी है। इस असिद्ध व्यवस्था में अष्टाध्यायी-क्रम को जानना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र की व्याख्या में प्रयुक्त 'सपादसप्ताध्यायी' और 'त्रिपादी' पदों के वाच्च (अर्थ) को केवल अष्टाध्यायी के क्रम को जानकर ही समझ सकते हैं।

सपादसप्ताध्यायी पद से अष्टाध्यायी के प्रथम सात अध्याय और अष्टम अध्याय का प्रथम पद अभिप्रेत हैं।

त्रिपादी शब्द अष्टम अध्याय के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद का संकेत करता है। इन दोनों शब्दों के अर्थ को जानने के पश्चात् अब पूर्वत्रासिद्ध व्यवस्था को जानने के लिए 'पूर्वत्रिसिद्धम्' सूत्र के अर्थ पर विचार किया जाता है। इस सूत्र का आशय है–सपादसप्ताध्यायी के सूत्रों की दृष्टि में त्रिपादी के सूत्रों का कार्य असिद्ध (अनिष्पन्न के समान) होता है और त्रिपादी में भी पूर्व सूत्र की दृष्टि में पर सूत्रों के द्वारा किया गया कार्य असिद्ध होता है।

इस असिद्ध व्यवस्था को 'हर इह' उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है।

हर इह= 'हरे+इह' यहाँ 'एचोऽयवायावः' से अच् परे रहते 'ए' को 'अय्' आदेश होने पर 'हरय्+इह' इस स्थिति में त्रिपादी के सूत्र 'लोपः शाकल्यस्य' (८.३.१९) से

अवर्ण पूर्वक पदान्त यकार का 'अश्' परे रहते विकल्प से लोप होने पर 'हर+इह' यहाँ सपादसप्ताध्यायी के सूत्र 'आद् गुणः' (६.१.८७) से अवर्ण से 'अच्' परे रहते गुण एकादेश प्राप्त हुआ; 'पूर्वत्रासिद्धम्' से त्रिपादी का कार्य, 'लोपः शाकल्यस्य' से किया गया यकार का लोप, सपादसप्ताध्यायी के कार्य 'आद् गुणः' की दृष्टि में असिद्ध (बिना हुए के समान) होने से अवर्ण से परे 'अच्' नहीं मिलता और गुण भी नहीं होता। इस प्रकार 'हर इह' रूप ही रहता है।

उपर्युक्त विचार बिन्दुओं को भूमिका में समाविष्ट करने का उद्देश्य अष्टाध्यायी क्रम के महत्त्व और प्रक्रिया-क्रम के लघुसिद्धान्तकौमुदी आदि ग्रन्थों को समझने में उसकी अपरिहार्यता को प्रदर्शित करने के साथ लघुसिद्धान्तकौमुदी को समझने में सहायक तकनीकी बिन्दुओं को स्पष्ट करना है।

इस **प्रकाशिका** व्याख्या में ग्रन्थ के कलेवर को सीमित रखने के लिए सिद्धि-प्रक्रिया में सूत्रों को पूरा न लिखकर उनका संक्षेप में संकेत मात्र कर दिया है। पाठकों की सुविधा के लिए लघुसिद्धान्तकौमुदी में व्याख्यात सूत्रों की वर्णानुक्रम से सूची तथा ग्रन्थ में प्रयुक्त या संकेतित गणों का उल्लेख भी अन्त में किया गया है।

सुधी पाठक जन से विनम्र निवेदन है कि जहाँ कहीं भी उन्हें कुछ न्यूनता अथवा त्रुटि प्रतीत हो उसे लेखक को अवश्य सूचित करें, जिससे अग्रिम संस्करण में दूर किया जा सके। टीका के विषय में सुधी जनों के अमूल्य सुझाव और सम्मतियाँ लेखक का मार्गदर्शन और उत्साह वर्धन करेंगी ऐसा विश्वास है।

अन्त में इन्हीं शब्दों के साथ इस लघु प्रयास को सुधी जनों को समर्पित करना चाहता हूँ-

इस लोक में कुछ भी नया, है कौन दे सकता यहाँ।
इस ग्रन्थ में भी शब्दों का, विन्यास ही है बस नया॥

-सत्यपाल सिंह

अथ संज्ञाप्रकरणम्

नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम्।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्।।

(अक्षरसमाम्नाय:, शिवसूत्राणि)

अइउण् १। ऋलृक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरट् ५। लण् ६। ञमङणनम् ७। झभञ् ८। घढधष् ९। जबगडदश् १०। खफछठथचटतव् ११। कपय् १२। शषसर् १३। हल् १४।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि। एषामन्त्या इत:। हकारादिष्वकार उच्चारणार्थ:। लण्मध्ये त्वित्संज्ञक:।

भारतीय शास्त्रीय परम्परा में किसी भी कार्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण की परम्परा है। मंगलाचरण के सामान्यत: दो प्रयोजन माने जाते हैं। विघ्नों का विघात, अर्थात् ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति तथा शिष्यों को शिक्षा देना।

ग्रन्थकार वरदराज आचार्य ने समुचित इष्ट देवता के नमस्कारात्मक मंगलाचरण से अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है। सरस्वती विद्या से सम्बद्ध देवता होने के कारण समुचित भी है तथा लेखक की इष्ट भी।

नत्वेति–मैं वरदराज आचार्य पवित्रता और उदारता आदि गुणों से युक्त (विद्या की देवी) सरस्वती को नमस्कार करके महर्षि पाणिनि के द्वारा विरचित व्याकरण शास्त्र में (शिष्यों के) प्रवेश के लिए लघुसिद्धान्तकौमुदी की रचना करता हूँ।

'अइउण्' आदि चौदह सूत्र प्रत्याहार सूत्र अथवा माहेश्वर सूत्र कहलाते हैं। 'प्रत्याहार' शब्द इन सूत्रों के प्रयोजन 'संक्षिप्तकरण' को द्योतित करता है। जबकि 'माहेश्वर' शब्द इन सूत्रों की उत्पत्ति अथवा आगम की ओर संकेत करता है।

ऐसा माना जाता है कि ये 'अ इ उ ण्' आदि चौदह सूत्र भगवान् शिव की कृपा से महर्षि पाणिनि को मिले थे, अत: इन्हें (महेश्वरादागतानि माहेश्वराणि सूत्राणि) माहेश्वर सूत्र कहा जाता है[1]। इन सभी सूत्रों का अन्तिम वर्ण 'हल्' अर्थात् व्यञ्जन होने के कारण इत्संज्ञक है। इसका प्रयोजन–'अण्', 'अक्', 'अच्' आदि प्रत्याहारों का निर्माण करना है। 'अण्', 'अक्', 'अच्' आदि प्रत्याहार वस्तुत: अपने आदि वर्ण सहित

---

१. नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्का नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकाम: सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्।।

मध्य में आने वाले वर्णों की संज्ञायें हैं। जैसे–'अण्' प्रत्याहार अकार सहित मध्य में आने वाले अ, इ, उ वर्णों की संज्ञा होता है। इसी प्रकार 'अक्' प्रत्याहार अ, इ, उ, ऋ, लृ वर्णों की संज्ञा बनेगा। इसी प्रकार 'अच्' आदि प्रत्याहार भी जानें।

'हयवरट्' इत्यादि सूत्रों में हकारादि के साथ पठित अकार उच्चारण की सुविधा के लिए है, उनका कोई अन्य प्रयोजन नहीं है, परन्तु 'लण्' सूत्र में लकारोत्तरवर्ती अकार उच्चारण की सुविधा के लिए होने के साथ ही इत्संज्ञक भी है। अर्थात् 'लण्' सूत्र के मध्य में पठित अकार सानुनासिक होने से इत्संज्ञक है। अकार की इत्संज्ञा का प्रयोजन, 'हयवरट्' के रेफ तथा 'लण्' के लकार से उत्तरवर्ती इत्संज्ञक अकार को मिलाकर, 'र' प्रत्याहार का निर्माण करना है जिससे 'र' प्रत्याहार 'र्' और 'ल्' दोनों की संज्ञा बन सके। जिसका ग्रहण 'उरण् रपरः' सूत्र में माना जाता है। इसका प्रयोजन 'उरण् रपरः' सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया जायेगा।

१. हलन्त्यम् १।२।३

उपदेशेऽन्त्यं हलित् स्यात्। उपदेश आद्योच्चारणम्। सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।

प०वि०–हल् १।१।। अन्त्यम् १।१।। **अनु०**–उपदेशे, इत्।

अर्थः–उपदेश में अन्तिम 'हल्' अर्थात् व्यञ्जन इत्संज्ञक होता है।

उपदेश–उपदेश शब्द का अर्थ है आदि उच्चारण। अर्थात् व्याकरण शास्त्र के प्रणेता पाणिनि द्वारा उच्चरित अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिकोष तथा लिङ्गानुशासन **उपदेश** कहलाते हैं। यह काशिकाकार का मत है। कुछ आचार्यों के अनुसार पाणिनि के उत्तरवर्ती आचार्य वार्तिककार कात्यायन तथा भाष्यकार पतञ्जलि के द्वारा विहित वार्तिकों और इष्टियों आदि को भी उपदेश के अन्तर्गत रखा जाता है। जैसा कि व्याकरण सम्प्रदाय में प्रचलित कारिका में देखा जा सकता है–

धातु-सूत्र-गणोणादि-वाक्य-लिङ्गानुशासनम्।
आगम-प्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः।।

प्रत्याहारों के विषय में व्याकरण सम्प्रदाय में दो मत प्रचलित हैं। कुछ लोग मानते हैं कि 'अइउण्' आदि चौदह प्रत्याहार सूत्र पाणिनि की स्वोपज्ञ रचना है। जबकि कुछ दूसरे लोगों का मानना है कि ये भगवान शिव की आराधना के फलस्वरूप पाणिनि को प्राप्त हुए थे। अतः इन्हें पाणिनि के सूत्र न मानकर 'माहेश्वर-सूत्र' मानना उपयुक्त है। दूसरे पक्ष को स्वीकार करने पर अर्थात् 'माहेश्वर–सूत्र' मानने पर उपदेश शब्द का अर्थ केवल पाणिनीय रचनाओं को न मानकर उसमें माहेश्वर सूत्रादि का भी समावेश करना आवश्यक हो जाता है। जैसाकि निम्नलिखित कारिका में स्पष्ट किया गया है:

प्रत्ययाः शिवसूत्राणि आदेशा आगमास्तथा।
धातुपाठो गणपाठ उपदेशाः प्रकीर्तिताः।।

अर्थात् प्रत्यय, माहेश्वर सूत्र, आदेश, आगम, धातुपाठ और गणपाठ ये सभी **उपदेश** कहलाते हैं।

इस प्रकार उपदेश में अर्थात् 'अइउण्' आदि सूत्रों में अन्तिम 'हल्' (व्यञ्जन) वर्ण णकारादि की इत्संज्ञा होती है।

धातुपाठ में पठित धातुओं में यदि अन्तिम वर्ण 'हल्' अर्थात् व्यञ्जन हो तो उसकी भी इत्संज्ञा हो जायेगी। जैसे–'डुकृञ् करणे' धातु में अन्तिम वर्ण ञकार 'हल्' अर्थात् व्यञ्जन है अतः इसकी इत्संज्ञा हो जायेगी।

गणपाठ में पठित प्रातिपदिक यदि व्यंजनान्त होंगे तो उनके भी अन्तिम व्यञ्जन (हलों) की इत्संज्ञा हो जायेगी। जैसे–'देवट्', 'नदट्' इत्यादि शब्दों में अन्तिम 'हल्' अर्थात् व्यञ्जन वर्ण टकार की इत्संज्ञा होती है।

प्रत्ययों मे यदि अन्तिम वर्ण 'हल्' होगा तो वह भी इत्संज्ञक हो जायेगा। जैसे–'तुमुन्' में नकार, 'तिप्' में पकार और 'यक्' में ककार अन्तिम वर्ण 'हल्' (व्यञ्जन) होने के कारण इत्संज्ञक होते हैं।

आगम और आदेशों का विधान भी पाणिनीय सूत्रों के द्वारा होता है, अतः वे भी उपदेश के अन्तर्गत आते हैं। आगम 'नुम्' आदि में अन्तिम वर्ण 'हल्' होने से इत्संज्ञक होगा। इसी प्रकार 'क्त्वा' के स्थान पर होने वाले 'ल्यप्' आदेश का अन्तिम वर्ण 'प्' भी 'हल्' है, अतः उसकी भी इत्संज्ञा हो जाती है।

सूत्रेष्विति–सूत्र में जो पद दिखाई नहीं दे रहे हैं और उनका अर्थ वृत्ति में दृष्टिगोचर हो रहा है, वे पद अष्टाध्यायी क्रम में पूर्व सूत्रों में पठित होते हैं। उनकी अनुवृत्ति लाकर ही वृत्ति को समझना चाहिए। उन पदों का उल्लेख अनुवृत्ति के रूप में पदच्छेद विभक्ति के पश्चात् सभी सूत्रों में किया गया है।

२. अदर्शनं लोपः १।१।६०

प्रसक्तस्याऽदर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्।

प०वि०–अदर्शनम् १।१।। लोपः १।१ **अनु०**–इति, स्थाने।

अर्थः–प्रसक्त अर्थात् विद्यमान का अदर्शन (दिखाई न देना) लोप कहलाता है। अर्थात् जो वर्ण अथवा प्रत्यय आदि एक बार होने के पश्चात् दिखाई न दे तो उस अदर्शन की 'लोप' संज्ञा होती है।[१]

---

१. पाणिनीय व्याकरण में जहाँ भी संज्ञा का विधान किया गया है, वहाँ संज्ञी के रूप में पठित वर्ण अथवा शब्द ही ग्रहण किये जाते हैं उनके अर्थ नहीं 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (सू० १.१.६८), अतः 'अदर्शनं लोपः' सूत्र में 'लोप' संज्ञा का संज्ञी 'अदर्शन' यह शब्द होना चाहिए था, इसका अर्थ 'दिखाई न देना' नहीं। जो कि आचार्य को इष्ट नहीं है। यही कारण है कि सूत्र में 'नवेति विभाषा' (सूत्र १.१.४४) से 'इति' पद की अनुवृत्ति लाई जाती है। जिसके कारण 'अदर्शन' शब्द का ग्रहण न करके अदर्शन के अर्थ 'दिखाई न देना' को संज्ञी के रूप में ग्रहण किया जाता है।

३. तस्य लोपः १।१।९

तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः।

प०वि०:—तस्य ६।१।। लोपः १।१

अर्थः—उसका अर्थात् जिसकी इत्संज्ञा होती है उसका लोप होता है।

जैसे—'अइउण्' सूत्र में अन्तिम 'हल्' वर्ण णकार की 'हलन्त्यम्' से 'इत्' संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से उसका लोप हो जाता है।

विशेषः—'तत्' सर्वनाम हमेशा किसी पूर्वकथित अथवा दूरस्थ की ओर संकेत करता है। प्रकृत सूत्र में पठित 'तस्य' पद अपने से पूर्ववर्ती प्रकरण में विहित 'इत्' संज्ञा की ओर इंगित कर रहा है। अतः 'तस्य' शब्द से 'इत्' संज्ञक का ग्रहण किया जाता है।

४. आदिरन्त्येन सहेता १।१।७१

अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। यथा—अणिति अ इ उ वर्णानां संज्ञा। एवमक् अच् हल् अलित्यादयः।

प०वि०—आदिः १।१।। अन्त्येन ३।१।। सह अ०।। **अनु०**—स्वं रूपम्।

अर्थः—आदि वर्ण अन्त में होने वाले इत्संज्ञक वर्ण के साथ मिलकर अपनी और मध्य में आने वाले वर्णों की संज्ञा होता है।

जैसे—'अइउण्' सूत्र का अकार 'ऐऔच्' सूत्र के अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण चकार के साथ मिलकर अपनी और मध्य में आने वाले वर्णों की संज्ञा होता है। 'अच्' कहने से 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ' इन वर्णों का बोध होता है। इसी प्रकार 'अक्' कहने से अकार से प्रारम्भ करके 'ऋलृक्' के 'क्' पर्यन्त सभी वर्ण अर्थात् 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' का बोध होता है।

इसी प्रकार 'हल्', 'अल्' आदि प्रत्याहारों के निर्माण की प्रक्रिया भी जानें।

विशेषः—'अच्' आदि प्रत्याहार बनाते समय सभी सूत्रों के अन्तिम-अन्तिम वर्ण छोड़ दिये जाते हैं, उनका प्रत्याहार में ग्रहण नहीं होता। इसका कारण यह है कि सभी प्रत्याहार सूत्रों के अन्तिम वर्ण 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञक होते हैं तथा 'तस्य लोपः' से उनका लोप हो जाता है।

सूत्र में पठित **'आदि'** पद प्रत्येक सूत्र के प्रारंभिक वर्ण का ही वाचक नहीं है, अपितु मध्य में पठित इ, उ आदि का भी वाचक होता है। इसका कारण यह है कि 'आदि' शब्द किसी परवर्ती वर्ण की अपेक्षा से पूर्ववर्ती वर्ण के लिए प्रयुक्त होता है। यही कारण है कि 'इक्', 'उक्' आदि प्रत्याहार, सूत्रों के मध्य में पठित 'इ', 'उ' आदि वर्णों से भी बनाए जाते हैं।

पाठकों की सुविधा हेतु अष्टाध्यायी में प्रयुक्त सभी प्रत्याहारों को आगे प्रदर्शित किया जा रहा है :

प्रत्याहार–

१. अक्– अ, इ, उ, ऋ, लृ।

२. अच्– अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ।

३. अट्– अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र।

४. अण्– अ, इ, उ।

५. अण्– अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल।

६. अम्– अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न।

७. अल्– अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।

८. अश्– अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।

९. इक्– इ, उ, ऋ, लृ।

१०. इच्– इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ।

११. इण्– इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल।

१२. उक्– उ, ऋ, लृ।

१३. एङ्– ए, ओ।

१४. एच् ए, ओ, ऐ, औ।

१५. ऐच्– ऐ, औ।

१६. खय्– ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प।

१७. खर्– ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स।

१८. ङम्– ङ, ण, न।

१९. चय्– च, ट, त, क, प।

२०. चर्– च, ट, त, क, प, श, ष, स।

२१. छव्– छ, ठ, थ, च, ट, त।

२२. जश्– ज, ब, ग, ड, द।

२३. झय्– झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प।

२४. झर्– झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स।

२५. झल्– झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।

२६. झश्– झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।
२७. झष्– झ, भ, घ, ढ, ध।
३०. बश्– ब, ग, ड, द।
३१. भष्– भ, घ, ढ, ध,।
३२. मय्– म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प।
३३. यञ्– य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ।
३४. यण्– य, व, र, ल।
३५. यम्– य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न।
३६. यय्– य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प।
३७. यर्– य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स।
३८. रल्– र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।
३९. वल्– व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।
४०. वश्– व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।
४१. शर्– श, ष, स।
४२. शल्– श, ष, स, ह।
४३. हल्– ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।

५. ऊकालोऽज्झ्रस्व-दीर्घ-प्लुतः १।२।२७

उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः, वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा।

प०वि०–ऊकालः १।१।। अच् १।१।। ह्रस्वदीर्घप्लुतः १।१।।

अर्थः–उ, ऊ और ऊ३ के काल के समान काल है जिन अचों (स्वरों) का वे क्रमशः **ह्रस्व, दीर्घ** और **प्लुत संज्ञक** होते हैं। अर्थात् एकमात्रिक स्वर की 'ह्रस्व', द्विमात्रिक स्वर की 'दीर्घ' और त्रिमात्रिक स्वर की 'प्लुत' संज्ञा होती है। जैसा कि शिक्षा-ग्रन्थों में कहा गया है–

एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रकम्।।

ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञक अचों में प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद

से तीन–तीन भेद हो जाते हैं। इस प्रकार ह्रस्व अकार के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन भेद, दीर्घ आकार के भी उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित तीन भेद तथा प्लुत के भी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तीन भेद (अ, अ, अ॑, आ, आ, आ॑, आ३, आ३, आ॑३) हो जाते हैं। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित क्या हैं, इनकी चर्चा अग्रिम सूत्रों में की जायेगी।

विशेषः–'ऊकाल' पद में द्वन्द्वगर्भ उत्तरपदलोपी बहुव्रीहि समास है, जैसा कि वृत्ति में स्पष्ट किया गया है। 'उश्च ऊश्च ऊ३श्च इति वः (द्वन्द्व), वां काल इव कालो यस्य स ऊकालः' (उत्तरपदलोपी बहुव्रीहि) अथवा 'वः कालो यस्येति ऊकालः'[1] इस प्रकार भी विग्रह किया जा सकता है। इस स्थिति में 'ऊ' शब्द ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत उकार का बोध न कराकर लक्षणा से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत उकार के उच्चारणकाल का बोधक होगा।

६. उच्चैरुदात्तः १।२।२९

प०वि०–उच्चैः अ०।। उदात्तः १।१।। **अनु०**–अच्।

अर्थः–तालु आदि स्थानों में ऊपर वाले भाग से उच्चरित होने वाला 'अच्' अर्थात् स्वर 'उदात्त' संज्ञक होता है।

विशेष–मुख में तालु, कण्ठ, मूर्धा आदि स्थान, जहाँ से वर्णों का उच्चारण होता है, एक बिन्दु के रूप में न होकर एक निश्चित क्षेत्र के लिए प्रयुक्त होते हैं। उस क्षेत्र को यदि दो भागों में विभाजित किया जाये तो एक भाग ऊपर का होगा तथा दूसरा भाग निम्न भाग होगा। जब किसी वर्ग के उच्चारण की प्रक्रिया में प्राण–वायु मुख में उस स्थान के ऊर्ध्वभाग को स्पर्श करता है तो उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाला 'अच्' अर्थात् स्वर 'उदात्त' कहलाता है। यथा–अकार का उच्चारण कण्ठ से ऊपर वाले हिस्से से होगा तो वह 'उदात्त' संज्ञक होगा। इसी प्रकार अन्य स्वरों के विषय में भी जानना चाहिए।

७. नीचैरनुदात्तः १।२।३०

प०वि०–नीचैः अ०।। अनुदात्तः १।१।। **अनु०**–अच्।

अर्थः–तालु आदि स्थानों के नीचे के हिस्से से उच्चरित होने वाला 'अच्' अर्थात् स्वर 'अनुदात्त' संज्ञक होता है। यथा–अकार का उच्चारण कण्ठ के निचले हिस्से से होगा तो वह 'अनुदात्त' संज्ञक होगा।

८. समाहारः स्वरितः १।२।३१

स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकाभ्यां द्विधा।

प०वि०–समाहारः १।१।। स्वरितः १।१।। **अनु०**–अच्, उदात्तः, अनुदात्तः।

अर्थः–जिस 'अच्' अर्थात् स्वर के उच्चारण में उदात्त और अनुदात्त दोनों के धर्म मिलते हैं वह 'स्वरित' संज्ञक होता है। अर्थात् जिस स्वर का उच्चारण तालु आदि स्थान

---
१. ऊ शब्देन स्वोचारणकालो लक्ष्यते। तत्त्वबोध० ।४।

के ऊपरी तथा निचले भागों को मिलाकर होता है, उसमें उदात्त और अनुदात्त दोनों के गुणों का मेल होता है, ऐसे स्वर को 'स्वरित' कहा जाता है।

विशेष–वर्तमान संस्कृत भाषा में स्वरों के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेदों का प्रयोग प्रचलित नहीं है। केवल वैदिक भाषा में ही इन तीनों प्रकार के स्वरों का प्रयोग मिलता है, जिन्हें विशेष संकेत चिह्नों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। उदात्त के लिए कोई चिह्न नहीं होता, अनुदात्त के नीचे पड़ी रेखा तथा स्वरित के ऊपर खड़ी रेखा का प्रयोग किया जाता है। जैसे–

उदात्त – अ, इ, उ आदि
अनुदात्त – अ॒, इ॒, उ॒ आदि
स्वरित – अ॑, इ॑, उ॑ आदि

९. मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः १।१।८

मुखसहित–नासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्। तदित्थम्–अ, इ, उ, ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादशभेदाः। लृवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्।

प०वि०–मुखनासिकावचनः १।१।। अनुनासिकः १।१।।

अर्थः–मुख सहित नासिका से बोले जाने वाला वर्ण 'अनुनासिक' संज्ञक होता है। अर्थात् जिस वर्ण के उच्चारण में मुख और नासिका दोनों का एक–साथ प्रयोग होता है उसकी 'अनुनासिक' संज्ञा होती है।

यथा–अँ, इँ, उँ, इत्यादि स्वर तथा ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, ये व्यञ्जन मुख सहित नासिका से बोले जाते हैं, अतः इनकी 'अनुनासिक' संज्ञा होती है। इस प्रकार अ, इ, उ, और ऋ वर्णों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक और निरनुनासिक भेद से प्रत्येक के अठारह भेद हो जाते हैं। लृवर्ण का दीर्घ भेद नहीं होता, अतः उसके बारह भेद होंगे। इसी प्रकार 'एच्' अर्थात् ए, ओ, ऐ और औ के ह्रस्व भेद न होने से इनके भी बारह–बारह भेद होंगे।

उदाहरण के लिए अकार के अट्ठारह भेदों की तालिका दी जा रही है:

	ह्रस्व	**दीर्घ**	**प्लुत्**
सानुनासिक उदात्त	अँ	आँ	आँ३
सानुनासिक अनुदात्त	अँ॒	आँ॒	आँ॒३
सानुनासिक स्वरित	अँ॑	आँ॑	आँ॑३
निरनुनासिक उदात्त	अ	आ	आ३
निरनुनासिक अनुदात्त	अ॒	आ॒	आ॒३
निरनुनासिक स्वरित	अ॑	आ॑	आ३॑

इसी प्रकार अन्य इ, उ आदि स्वरों के भेद भी जानें।

१०. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्।

(वा०)—ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्।

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां नासिका च। एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य।

यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा—स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्वि-वृतविवृतसंवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव। बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा—विवारः, संवारः, श्वासो, नादोऽघोषो घोषोऽल्प-प्राणो महाप्राण उदत्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथम-तृतीय- पञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः।

कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तःस्थाः। शल ऊष्माणः। अचः स्वराः। ≍क ≍ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः।
≍ प ≍ फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ।

प०वि०—तुल्यास्यप्रयत्नम् १।१।। सवर्णम् १।१।।

यह 'सवर्ण' संज्ञाविधायक सूत्र है। यहाँ 'आस्य' शब्द का अर्थ है, 'मुख में होने वाले स्थान' (आस्ये भवं आस्यम्)। अर्थात् इकार, अकार आदि वर्णों के तालु, कण्ठ आदि उच्चारण-स्थान। 'प्रयत्न' शब्द से यहाँ स्वर्ण-संज्ञा में 'आभ्यन्तर' प्रयत्नों का ही ग्रहण होता है।

अर्थ—जिन वर्णों के मुख में होने वाले तालु, कण्ठ आदि (उच्चारण) स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न दोनों ही समान होते हैं उनकी परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा होती है, अर्थात् वे एक-दूसरे के स्वर्ण कहलाते हैं।

यथा— 'क्' तथा 'ख्' दोनों का उच्चारण स्थान 'कण्ठ' और आभ्यन्तर-प्रयत्न 'स्पृष्ट' है, अतः ककार और खकार परस्पर 'सवर्ण' संज्ञक होते हैं।

(वा०)—ऋलृवर्णयोः० अर्थ—'ऋ' और 'लृ' वर्णों की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा कहनी चाहिए। कहने का आशय यह है कि 'ऋ' का उच्चारण स्थान 'मूर्धा' तथा 'लृ' का उच्चारण स्थान 'दन्त' होने से इनकी परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा नहीं हो सकती थी, अतः प्रकृत वार्तिक के द्वारा इनकी सवर्ण संज्ञा का विशेष रूप से विधान किया गया है।

सूत्र में पठित 'आस्य' पद तालु आदि स्थानों का वाचक है। अतः सूत्र के अर्थ को

समझने के लिए किन वर्णों का कौन-सा उच्चारण स्थान होगा यह जानना आवश्यक हो जाता है।

जिनका विवरण इस प्रकार है–**अकुह०**–अकार, कवर्ग (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्), हकार तथा विसर्गों (:) का उच्चारण-स्थान 'कण्ठ' होता है। **इचुयशा०**–इकार, चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्), 'य्' और 'श्' इन वर्णों का उच्चारण-स्थान 'तालु' होता है। **ऋटुर०**–'ऋ', टवर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्), 'र्' और 'ष्' इनका उच्चारण स्थान 'मूर्धा' होता है। **लृतुलसा०**–'लृ,' तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्), 'ल्' और 'स्' वर्णों का उच्चारण स्थान 'दन्त' होता है। **अपूपध्मा०**[1]–उकार, पवर्ग (प्, फ्, ब्, भ्, म्) और उपध्मानीय (≍प) का उच्चारण स्थान 'ओष्ठ' होता है। **ञमङणनानां०**–ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, जिस वर्ग में होते हैं, उस वर्ग के उच्चारण स्थान के साथ-साथ 'नासिका' भी इनका उच्चारण स्थान होता है। जैसे–'ङ्' कवर्ग का पञ्चम वर्ण है, अतः इसका उच्चारण स्थान 'कण्ठ' और 'नासिका' होगा। **एदैतो०**–'ए' और 'ऐ' का उच्चारण स्थान 'कण्ठ' और 'तालु' होता है। **ओदौतो०**–'ओ' तथा 'औ' का उच्चारण स्थान 'दन्त' और 'ओष्ठ' होता है। **जिह्वामूलीयस्य०**–जिह्वामूलीय (≍क) का उच्चारण-स्थान **जिह्वा का मूल** होता है। अनुस्वार का उच्चारण स्थान केवल 'नासिका' होता है।

वर्णों के उच्चारण स्थान को निम्नलिखित तालिका के माध्यम से सरलतापूर्वक आत्मसात् किया जा सकता है :

मुखगत स्थान-बोधक चक्र

कण्ठ	तालु	ओष्ठ	मूर्धा	दन्त	कण्ठतालु	कण्ठोष्ठ	दन्तोष्ठ	जिह्वामूल
अ	इ	उ	ऋ	लृ	ए	ओ	व्	≍क
क्	च्	प्	ट्	त्	ऐ	औ	–	≍ख
ख्	छ्	फ्	ठ्	थ्	–	–	–	–
ग्	ज्	ब्	ड्	द्	–	–	–	–
घ्	झ्	भ्	ढ्	ध्	–	–	–	–
ङ्	ञ्	म्	ण्	न्	–	–	–	–
ह्	य्	≍प	र्	ल्	–	–	–	–
विसर्ग	श्	≍फ	ष्	स्	–	–	–	–

सवर्ण संज्ञा के विधान में दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है-**प्रयत्न**। प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं, **आभ्यन्तर** और **बाह्य**। यहाँ आभ्यन्तर शब्द का अर्थ है मुख्य।

आभ्यन्तर-प्रयत्न–वर्णों की उत्पत्ति की प्रक्रिया में, जब फेफड़ों से आने वाली वायु को ओष्ठ अथवा जिह्वा के विविध भागों (अग्र, उपाग्र, मध्य, मूल इत्यादि) के द्वारा

---

१. कवर्ग और पवर्ग परे रहते विसर्ग के स्थान में क्रमशः जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आदेश विकल्प से होते हैं।

पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से अवरुद्ध करके अथवा प्राण-वायु के निर्बाध प्रवाह की गति को शिथिल बनाकर या प्राण-वायु की गति को किसी अवयव विशेष की तरफ मोड़कर (दिशा देकर) जो प्रयास किया जाता है, वह **आभ्यन्तर प्रयत्न** कहलाता है। ये आभ्यन्तर-प्रयत्न पाँच होते हैं जिन्हें-**स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत** और **संवृत** नाम से जाना जाता है।

स्पृष्ट–स्पर्श वर्ण अर्थात् 'क्' से लेकर 'म्' तक वर्णों का उच्चारण करते समय वर्णोच्चारण के लिए अत्याधिक सक्रिय मुख का निचला हिस्सा (Lower articulater) ऊपर वाले हिस्से (upper articulater) के साथ स्पष्ट रूप से स्पर्श करता है। इसलिए इनका आभ्यन्तर प्रयत्न 'स्पृष्ट' कहलाता है।

ईषत्स्पृष्ट–'अन्तःस्थ' वर्ण अर्थात् य्, व्, र् और ल् का आभ्यन्तर प्रयत्न 'ईषत्स्पृष्ट' होता है। य्, व्, इत्यादि के उच्चारण में मुख के अत्यधिक सक्रिय अवयव थोड़ा सा स्पर्श करते हैं, पूरी तरह से नहीं।

ईषद्विवृत–जब वर्णोत्पत्ति-प्रक्रिया में जिह्वा का कोई भाग वर्णों के उत्पत्ति-स्थान तालु आदि से थोड़ी सी दूरी पर रहता है, तो वह 'ईषद्विवृत' प्रयत्न कहलाता है। 'ऊष्म' अर्थात् श्, ष्, स् और ह् का आभ्यन्तर-प्रयत्न 'ईषद्विवृत' होता है।

विवृत–जब वर्णोत्पत्ति-प्रक्रिया में जिह्वा का कोई भाग वर्णों के उत्पत्ति-स्थान तालु आदि से सर्वथा दूर रहता है तो वह 'विवृत' प्रयत्न कहलाता है। ह्रस्व अकार को छोड़कर सभी स्वरों का आभ्यन्तर-प्रयत्न 'विवृत' होता है।

संवृत–जब वर्णोत्पत्ति-प्रक्रिया में जिह्वा का कोई भाग वर्णों के उत्पत्ति-स्थान के समीप तो आता है, परन्तु उसे स्पर्श नहीं करता, तो वह 'संवृत' प्रयत्न कहलाता है। 'संवृत' प्रयत्न केवल ह्रस्व अकार (अ) का ही होता है, जिसे व्याकरण सम्बन्धी प्रक्रियाओं में तो 'विवृत' ही माना जाता है, जिससे ह्रस्व अकार और दीर्घ आकार की सवर्ण संज्ञा हो सके।

बाह्यप्रयत्न–वर्णोच्चारण की प्रक्रिया में जब प्राण-वायु ऊर्ध्वगमन करते हुए मुखगत विविध स्थानों कण्ठ, मूर्धा, तालु आदि से टकराकर वर्ण-ध्वनियों को उत्पन्न करती है तब ध्वनि की उत्पत्ति के अनन्तर प्राण-वायु में अथवा वर्ण की ध्वनियों में जो अनुप्रभाव (after-effects) उत्पन्न होते हैं, वे बाह्य-प्रयत्न कहलाते हैं। बाह्यप्रयत्न ग्यारह प्रकार के होते हैं। जो क्रमशः **विवार, संवार, श्वास**, नाद, **अघोष, घोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त** और **स्वरित** संज्ञक होते हैं।

विवार–जब वर्णों का उच्चारण करते समय कण्ठ-विवर या गल-बिल (Throatal Cavity) का विकास अर्थात् फैलाव (विस्तार) होता है, तो वह 'विवार' नामक

आभ्यन्तर-प्रयत्न होता है। अथवा कण्ठ-विवर के विकास (फैलाव) से उत्पन्न वर्ण-धर्म 'विवार' कहलाता है।

संवार--जब ह्रस्व अकार (अ) का उच्चारण करते समय गल-बिल या कण्ठ-विवर में संकोच (सिकुड़ाव) होता है, तो वह 'संवार' नामक आभ्यन्तर-प्रयत्न होता है। अथवा कण्ठ-विवर के संकोच (सिकुड़ाव) से उत्पन्न वर्ण-धर्म 'संवार' कहलाता है।

श्वास--जिन वर्णों के उच्चारण में 'विवार' अर्थात् कण्ठ-विवर का विकास या विस्तार होता है, तो वहाँ वर्णोत्पत्ति के अनन्तर प्राण-वायु का निर्बाधगति से प्रवाह होने से 'श्वास' नामक बाह्य-प्रयत्न होता है।

नाद--जिन वर्णों का 'संवार' नामक बाह्य-प्रयत्न होता है, उनके (वर्णध्वनियों की उत्पत्ति के) अनन्तर कण्ठ-विवर के संकोच के फलस्वरूप जो अव्यक्त-ध्वनि या शब्द सुनाई देता है, वह 'नाद' नामक बाह्य-प्रयत्न होता है।

विशेष--जैसे घण्टा बजने की मूल ध्वनि के अनन्तर अनुरणन गूंज (धीरे-धीरे ह्रास को प्राप्त होती हुई ध्वनि) सुनाई देती है, उसी प्रकार मुख्य वर्ण-ध्वनि की उत्पत्ति के अनन्तर 'अनुरणन' सुनाई देता है, वह 'नाद' होता है। जिसे विशेष सावधानी से वर्णोच्चारण-काल में सुना या अनुभव किया जा सकता है।

अघोष--जिन वर्णों का बाह्य-प्रयत्न 'विवार' होता है, तो उनमें कण्ठ-विवर के प्रसार (फैलाव) के परिणामस्वरूप 'श्वास' नामक धर्म उत्पन्न होता है तथा 'श्वास' नामक वर्ण-धर्म के सङ्ग से 'अघोष' उत्पन्न होता है। कहने का आशय यह है कि वहाँ 'घोष' उत्पन्न नहीं होता, इसलिए वहाँ घोष का अभाव रूप 'अघोष' बाह्य-प्रयत्न होता है।

घोष--जिन वर्णों का बाह्य-प्रयत्न संवार होता है, वहाँ कण्ठ-विवर के सङ्कोच (सिकुड़ाव) के परिणामस्वरूप 'नाद' नामक धर्म उत्पन्न होता है। उस 'नाद' ध्वनि के सहाचर्य से 'घोष' उत्पन्न होता है।

विशेष--यदि हम **ग, घ, ङ, ज, झ, ञ** इत्यादि सभी वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम वर्णों का उच्चारण करते समय अपने दोनों कानों के छिद्रों को अपनी दो अंगुलियों से बन्द करके ग, घ, ङ आदि की वर्ण ध्वनियों को सुनने का प्रयास करें, तो हमें एक विशेष प्रकार की गूंज (गम्भीर ध्वनि) मुख्य वर्ण-ध्वनि के उत्तरकाल में सुनाई देती है, इसे ही 'घोष' कहा जाता है। इसी प्रकार सभी वर्गों के प्रथम और द्वितीय वर्णों **क, ख, च, छ** इत्यादि का उच्चारण करते हुए जब हम अपने दोनों कानों को बन्द करके पूर्ववत् सुनने का प्रयास करते हैं, तो मुख्य वर्ण-ध्वनि के उत्तरकाल में कोई अन्य अनुवर्ती ध्वनि या गूंज सुनाई नहीं देती, इसीलिए ये वर्ण 'अघोष' बाह्य-प्रयत्न वाले होते हैं।

अल्पप्राण--जब वर्णों के उच्चारण के अनन्तर थोड़ी मात्रा में प्राण-वायु मुख से बाहर निकलता है, तो वह 'अल्पप्राण' नामक बाह्य-प्रयत्न होता है।

महाप्राण--जब वर्णों के उच्चारण के अनन्तर अधिक मात्रा में प्राण-वायु मुख से बाहर निकलता है, तो वह 'महाप्राण' नामक बाह्य-प्रयत्न होता है।

विशेष--जब हम वर्गों के प्रथम, तृतीय और पंचम वर्णों **क, च, ग, ज, ङ** और **ञ** इत्यादि का उच्चारण करते समय अपने हाथ को मुख के सामने रखते हैं, तो हमारे मुख से अपेक्षाकृत थोड़ी मात्रा में प्राण-वायु बाहर निकलकर हाथ से टकराता है। इसे हम सरलता से अनुभव कर सकते हैं। प्राण-वायु का अल्प मात्रा में बाहर निकलना ही 'अल्पप्राण' नामक बाह्य प्रयत्न होता है।

जब वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्णों **ख, घ, छ** और **झ** आदि के उच्चारण के समय पूर्ववत् अपने हाथ को मुख के सामने रखते हैं, तो हमारे मुख से अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में प्राण-वायु बाहर निकलकर हाथ से टकराता है। प्राण-वायु का उक्त प्रकार से अधिक मात्रा में बाहर निकलना 'महाप्राण' नामक बाह्य-प्रयत्न होता है।

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित--उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नामक बाह्य-प्रयत्न केवल अचों (स्वरों) के होते हैं। इनका विवेचन 'उच्चैरुदात्तः' (६), नीचैरनुदात्तः (७) और समाहारः स्वरितः (८) सूत्रों की व्याख्या में किया जा चुका है।

किन वर्णों का कौन-सा बाह्य प्रयत्न होता है। उनका विवरण इस प्रकार है--

'खर्' अर्थात् ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, और स्, इन सबका बाह्य-प्रयत्न 'विवार', 'श्वास' और 'अघोष' होता है।

'हश्' अर्थात् ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड् और द् इन वर्णों का बाह्य-प्रयत्न 'संवार', 'नाद' और 'घोष' होता है। वर्गों अर्थात् कवर्ग चवर्ग आदि के प्रथम, तृतीय, पञ्चम वर्ण और 'यण्' (य्, व्, र्, ल्) अल्पप्राण तथा सभी वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण तथा 'शल्' (श्, ष्, स्, ह्) का बाह्य-प्रयत्न 'महाप्राण' होता है।

आभ्यन्तर प्रयत्न का विवरण देते हुए वरदराज ने **अन्तःस्थ** आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया है। जिन्हें स्पष्ट करते हुए कहते हैं--'क्' से लेकर 'म्' तक वर्णों की 'स्पर्श' संज्ञा होती है। 'शल्' प्रत्याहार में आने वाले वर्ण श्, ष्, स और ह् 'ऊष्म' संज्ञक होते हैं। 'अच्' अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ और औ वर्ण 'स्वर' कहलाते हैं। अ ≍क, अ ≍ख, अर्थात् 'क्' और 'ख्' से पहले आधे विसर्ग के सदृश वर्ण को 'जिह्वामूलीय' और अ≍पः, अ≍फः इस प्रकार के 'प्' और 'फ्' से पहले आधे विसर्ग

के समान वर्ण को 'उपध्मानीय' कहा जाता है। स्वरों के ऊपर बिंदु के रूप में दिखाई जाने वाली नासिक्य ध्वनि को 'अनुस्वार' और स्वरों के पश्चात् दो बिन्दुओं (:) के रूप में प्रदर्शित आधे हकार के समान ध्वनि को 'विसर्ग' कहा जाता है।

११. अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः १।१।६९

प्रतीयते विधियते इति प्रत्ययः। अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्। अत्रैवाण् परेण णकारेण। कु चु टु तु पु एते उदितः। तदेवम्–'अ' इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ। ऋकारस्त्रिंशतः। एवम् लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम्। अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा। तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा।

प० वि०–अणुदित् १।१।। सवर्णस्य ६।१।। च अ०।। अप्रत्ययः १।१।। **अनु०**–स्वं रूपम्।

सूत्र में प्रयुक्त 'प्रत्यय' शब्द का यौगिक अर्थ यहाँ इष्ट है। इसलिए इसका अर्थ है– 'विधीयते प्रतीयते इति प्रत्ययः, न प्रत्ययः=अप्रत्ययः'। अर्थात् जिसका विधान नहीं हुआ है (अविधीयमान)। 'उदित्' शब्द से 'कु, चु, टु, तु, पु' का ग्रहण होता है क्योंकि इनका ह्रस्व उकार 'इत्' संज्ञक होता है।

अर्थः–अविधीयमान 'अण्' प्रत्याहार में आने वाले वर्ण (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, और ल्) और उदित् (कु, चु, टु, तु और पु) वर्ण अपने स्वरूप की (अपनी) और अपने सवर्णों की संज्ञा होते हैं।

सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्र में (अष्टाध्यायी में) केवल इसी सूत्र में 'अण्' प्रत्याहार का ग्रहण पर णकार से अर्थात् 'लण्' सूत्रस्थ णकार से होता है।

इस प्रकार 'अ' अपने ह्रस्व ,दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक और निरनुनासिक भेद से १८ भेदों (सवर्णों) की संज्ञा होता है। इसी प्रकार ह्रस्व 'इ' और ह्रस्व 'उ' भी १८ सवर्णो की संज्ञा होंगे। ऋकार और लृकार की 'ऋलृवर्णयोर्मिथः०' (१०)वार्तिक से सवर्ण संज्ञा होती है। इसलिए ह्रस्व 'ऋ' अपने १८ भेदों की तथा लृकार के १२ भेदों की संज्ञा होने से कुल ३० भेदों (सवर्णों) की संज्ञा होगा। इसी प्रकार 'लृ' अपने १२ भेदों की तथा ऋकार के १८ भेदों की संज्ञा होने से कुल ३० भेदों की संज्ञा होगा। 'एच्' (ए, ओ, ऐ और औ) भी अपने १२-१२ सवर्णो की संज्ञा होंगे। य्, व्, और ल् के अनुनासिक भेद भी होने से ये अपनी और सानुनासिक दोनों भेदों की संज्ञा होते हैं। उदित् वर्ण 'कु' सम्पूर्ण कवर्ग (क्, ख्, ग्, घ् और ङ्) की संज्ञा होता है। इसी प्रकार 'चु' चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) की, 'टु' टवर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) की, 'तु' तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) की और 'पु' पवर्ग (प्, फ्, ब्, भ्, म्) की संज्ञा होंगे।

१२. परः सन्निकर्षः संहिता । १।४।१०९

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्।

प० वि०—परः १।१।। सन्निकर्षः १।१।। संहिता १।१।।

अर्थः—वर्णों की अतिशय समीपता अर्थात् व्यवधान से रहित उच्चारण को 'संहिता' कहते हैं।

विशेषः—वर्णों के मध्य सन्धि कार्य **संहिता** अर्थात् अत्यन्त समीपता होने पर ही होते हैं। अतिशय समीपता का आशय यह है कि वर्णों के उच्चारण में अर्धमात्रा काल का व्यवधान। इसे स्वाभाविक व्यवधान माना जाता है। अतः वह अतिशय समीपता का विघात नहीं करता। अर्धमात्रा काल का स्वाभाविक व्यवधान होने पर सभी संहिता कार्य अर्थात् सन्धि इत्यादि हो जाते हैं। परन्तु यदि वर्णों के मध्य अर्धमात्रा काल से अधिक काल का व्यवधान हो या मध्य में कोई अन्य वर्ण आ जाये तो उनकी 'संहिता' संज्ञा नहीं होती।

१३. हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः।

प०वि०—हलः १।३।। अनन्तराः १।३।। संयोगः १।१।।

अर्थः—अचों अर्थात् स्वरों के व्यवधान से रहित हलों (व्यञ्जनों) की 'संयोग' संज्ञा होती है। अर्थात् जब व्यञ्जनों के मध्य में कोई स्वर नहीं होता तो उनकी 'संयोग' संज्ञा होती है।

यथा—'इन्द्र' इस पद में न्, द् और र् के बीच कोई स्वर न होने से इनकी 'संयोग' संज्ञा होती है।

विशेषः—यह 'संयोग' संज्ञा समुदाय की होती है। एक-एक वर्ण की नहीं। कहने का आशय यह है कि 'इन्द्र' शब्द में नकार दकार और रेफ की अलग-अलग 'संयोग' संज्ञा नहीं होती, अपितु इनके समुदाय की ही 'संयोग' संज्ञा होती है।

१४. सुप्तिङन्तं पदम्। १।४।१४

सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्।

इति संज्ञा प्रकरणम् ।

प०वि०—सुप्तिङन्तम् १।१।। पदम् १।१।।

अर्थः—सुबन्त[1] अर्थात् सु, औ, जस् आदि 'सुप्' प्रत्यय जिनके अन्त में हैं और

---

१. 'स्वौजसमौट्०' (४.१.२) सूत्र के अन्तर्गत पठित इक्कीस प्रत्ययों का 'सुप्' प्रत्याहार के द्वारा ग्रहण होता है; जो इस प्रकार हैं—सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङसि, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस्, सुप् ।

'तिङन्त'[१] अर्थात् तिप्, तस्, झि आदि प्रत्यय जिनके अन्त में होते हैं उनकी 'पद' संज्ञा होती है।

यथा–(सुबन्त) रामः, रामौ, रामाः इत्यादि सभी शब्द रूप सुबन्त होने से 'पद' संज्ञक होते हैं। (तिङन्त) भवति, भवतः, भवन्ति आदि सभी धातु रूप तिङन्त होने के कारण 'पद' संज्ञक होते हैं।

।। संज्ञा-प्रकरण समाप्त ।।

---

१. 'तिप्तस्झिसिप्थस्थ०' (३.४.७८) सूत्र के अन्तर्गत पठित अठारह प्रत्ययों का ग्रहण 'तिङ्' प्रत्याहार के द्वारा होता है, जो इस प्रकार हैं–तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्।

अथ सन्धिप्रकरणम्

अच्–सन्धिप्रकरणम्

१५. इको यणचि ६।१।७७

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये। 'सुधी उपास्य' इति स्थिते–

प०वि०–इकः ६।१।। यण् १।१।। अचि ७।१।। **अनु०**–संहितायाम्।

अर्थ–'इक्' (इ, उ, ऋ, लृ) के स्थान में 'यण्' (य्, व्, र्, ल्) होते हैं 'अच्' (स्वर) परे रहते संहिता के विषय में। अर्थात् वर्णों के मध्य में काल का व्यवधान न होने पर।

जैसे–'सुधी+उपास्यः' यहाँ 'ई' (इक्) से परे 'उ' (अच्) है, इसलिए 'ई' (इक्) के स्थान पर 'य्'(यण्) हो जायेगा।

विशेष–इस सूत्र का तथा इसके पश्चात् आने वाले 'अलोऽन्त्यस्य' तक के सूत्रों का प्रयोग 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र के उदाहरणों की सिद्धि-प्रक्रिया में प्रदर्शित किया जायेगा।

१६. तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १।१।६६

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्।

प०वि०–तस्मिन् ७।१।। इति अ०।। निर्दिष्टे ७।१।। पूर्वस्य ६।१।।

अर्थ–सप्तमी विभक्ति से निर्देश करके कहा गया कार्य अव्यवहित पूर्व के स्थान में होता है।

आशय यह है कि जहाँ सूत्रों में जिस शब्द के साथ सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है वहाँ उस सप्तमी का अर्थ 'परे रहते पूर्व के स्थान में' होता है। **जैसे**–'इको यणचि' सूत्र में 'अचि' पद में 'अच्' शब्द से सप्तमी विभक्ति की गई है, जिसका अर्थ है 'अच् परे रहते पूर्व के स्थान में'। इस प्रकार 'इक्' के स्थान में 'यण्' आदेश तभी होगा जब 'इक्' के ठीक बाद (अव्यवहित परे) 'अच्' होगा।

१७. स्थानेऽन्तरतमः १।१।५०

प्रसंगे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। 'सुध्य् उपास्यः' इति जाते-

प०वि०–स्थाने ७।१।। अन्तरतमः १।१।। **अनु०**–स्थाने।

अर्थ–जब किसी वर्ण के स्थान में अनेक आदेश प्राप्त हों तो उन में से जो स्थानी के सबसे अधिक सदृश (सदृशतम) आदेश होगा, वह ही उसके स्थान में होता है।

जैसे–'सुधी+उपास्यः' यहाँ 'इको यणचि' से 'इक्' (ई) के स्थान में यणादेश (य् व् र् ल्) प्राप्त हुए। यहाँ एक स्थानी के स्थान में चार आदेश प्राप्त हैं, उनमें से कौन सा एक आदेश किया जाए इसका निर्णय प्रकृत सूत्र के द्वारा होता है। 'ई' स्थानी के साथ चारों आदेशों में से सदृशतम यकार है क्योंकि यकार ही ऐसा आदेश है जिसका उच्चारण-स्थान ईकार के समान 'तालु' है इसीलिए ईकार के स्थान में यकार आदेश होता है।

विशेष–शब्दों की सदृशता के चार आधार होते हैं–

१. **स्थानकृत**–जब स्थानी और आदेश का उच्चारण स्थान (तालु आदि) एक समान हो तो वह स्थानकृत सदृशता होती है, जैसा कि ऊपर 'सुधी+उपास्यः' में दिखाया गया है।

२. **अर्थकृत**–जब किसी एक शब्द के स्थान में दूसरा शब्द आदेश रूप में विहित होता है तो वहाँ प्रायः अर्थकृत सादृश्य देखा जाता है **जैसे**–'तृज्वत् क्रोष्टुः' इस सूत्र के द्वारा उकारान्त 'क्रोष्टु' शब्द के स्थान में अर्थ की समानता के कारण तृजन्त 'क्रोष्टृ' आदेश होता है।

३. **गुणकृत**–गुण शब्द से आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न यहाँ अभिप्रेत हैं। जहाँ स्थानकृत सादृश्य के कारण अनेक आदेश उपलब्ध हों वहाँ सदृशतम के निर्धारण के लिए गुणकृत अर्थात् प्रयत्नकृत सादृश्य देखा जाता है। **जैसे**–'वाक्+हरिः' यहाँ 'झयो होऽन्यतरस्याम्' से हकार के स्थान में पूर्वसवर्ण आदेश करते समय गुणकृत सादृश्य केवल कवर्ग के चतुर्थ वर्ण घकार के साथ ही मिलता है, क्योंकि दोनों के बाह्य प्रयत्न **संवार, नाद, घोष** तथा **अल्पप्राण** एक समान हैं। इसलिए हकार के स्थान में घकार ही आदेश होता है और 'वाग्घरिः' रूप बनता है।

4. **प्रमाणकृत**–प्रमाण से अभिप्राय वर्णों के उच्चारण में लगने वाले काल से है। जैसे–एक मात्रा, द्विमात्रा इत्यादि। जब एकमात्रिक स्थानी के स्थान में एकमात्रिक आदेश तथा द्विमात्रिक के स्थान में द्विमात्रिक आदेश होता है तो वह प्रमाणकृत आन्तर्य कहलाता है। **जैसे**–अमुष्मै और अमूभ्याम् में 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' से ह्रस्व अकार के स्थान में ह्रस्व उकार तथा दीर्घ आकार के स्थान में दीर्घ ऊकार आदेश प्रमाणकृत आन्तर्य के कारण होता है।

जहाँ अनेक प्रकार की सदृशता प्राप्त हो वहाँ स्थानकृत सदृशता (आन्तर्य) बलवती होती है।

१८. अनचि च ८।४।४७

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि। इति धकारस्य द्वित्वम्।

प०वि०—अनचि ७।१।। च अ०।। **अनु०**—यरः, वा, अचः, द्वे।

अर्थ—'अच्' (स्वर) से उत्तर 'यर्' (हकार को छोड़कर सभी व्यंजनों) को विकल्प से द्वित्त्व होता है, 'अच्' परे होने पर नहीं होता।

जैसे—'सुध् य्+उपास्यः' इस स्थिति में उकार (अच्) के बाद धकार (यर्) है तथा धकार के बाद यकार होने से 'अच्' परे भी नहीं है इसलिए धकार को विकल्प से द्वित्त्व हो जाता है। द्वित्त्व पक्ष में 'सुध् ध् य् उपास्यः' रूप बनता है, जबकि द्वित्त्व अभाव पक्ष में 'सुध् य् उपास्यः' रूप बनता है।

१९. झलां जश् झशि ८।४।५३

स्पष्टम्। इति पूर्वधकारस्य दकारः।

प०वि०—झलाम् ६।३। जश् ।१।१।। झशि ७।१।।

अर्थ—'झल्' अर्थात् वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण, श्, ष्, स् और ह के स्थान पर 'जश्' अर्थात् वर्गों के तृतीय वर्ण हो जाते हैं, 'झश्' अर्थात् वर्गों के तृतीय और चतुर्थ वर्ण परे रहते।

जैसे—'सुध् ध् य्+ उपास्यः' यहाँ प्रथम धकार 'झल्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आता है अतः उससे उत्तर 'झश्' द्वितीय धकार परे रहते 'झल्' प्रथम धकार के स्थान में 'जश्' अर्थात् दकार होकर 'सुद्ध्य् उपास्यः' यह स्थिति बनती है।

२०. संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३

संयोगान्तं यत्पदं तस्य लोपः स्यात्।

प०वि०—संयोगान्तस्य ६।१।। लोपः १।। **अनु०**—पदस्य।

अर्थ—संयोगान्त (संयोग अन्त वाले) पद का लोप होता है।

२१. अलोऽन्त्यस्य १।१।५२

षष्ठीनिर्दिष्टस्याऽन्त्यस्यालः आदेशः स्यात्। इति यलोपे प्राप्ते-(वा०) यणः प्रतिषेधो वाच्यः। सुद्ध्युपास्यः, सुध्युपास्यः। मद्ध्वरिः, मध्वरिः। धात्त्रंशः, धात्रंशः। लाकृतिः।

प०वि०—अलः ६।१।। अन्त्यस्य ६।१।। **अनु०**—षष्ठी, स्थाने।

अर्थ—षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट आदेश अन्तिम 'अल्' के स्थान में होता है। अर्थात् षष्ठ्यन्त पद के स्थान पर जो आदेश किया जाये वह उस सम्पूर्ण षष्ठ्यन्त पद के स्थान पर नहीं होता, अपितु षष्ठ्यन्त पद के अन्तिम वर्ण (अल्) के स्थान पर होता है।

जैसे–'संयोगान्तस्य लोपः' से जो संयोग अन्त वाले पद का लोप विधान किया गया है वह लोप इस परिभाषा सूत्र के कारण सम्पूर्ण पद का नहीं होता, अपितु उस पद के अन्तिम वर्ण (अल्) का लोप होता है।

(वा०) यणः प्रतिषेधो वाच्यः–यह वार्तिक 'संयोगान्तस्य लोपः' का अपवाद है।

अर्थ–यदि संयोगान्त पद का अन्तिम वर्ण 'यण्' (य्, व्, र्, ल्) हो तो उसका लोप नहीं होता।

सुद्ध्युपास्यः	(विद्वानों द्वारा मान्य)
सुधी उपास्यः	'इको यणचि' से 'इक्' के स्थान पर 'यण्' आदेश हुआ है 'अच्' परे रहते। 'स्थानेऽन्तरतमः' से ईकार के स्थान में प्राप्त 'यण्' (य्, व्, र्, ल्) में से यकार का उच्चारण स्थान तालु होने के कारण ईकार का सदृशतम है इसलिए ईकार के स्थान में यकार आदेश हुआ
सुध् य् उपास्यः	'अनचि च' से 'अच्' से उत्तर 'यर्' को विकल्प से द्वित्त्व होता है, 'अच्' परे होने पर नहीं होता। यहाँ उकार (अच्) से उत्तर धकार (यर्) को द्वित्त्व हुआ
सु ध् ध् य् उपास्यः	'झलां जश् झशि' से झलों के स्थान में 'जश्' हुआ 'झश्' परे रहते, 'स्थानेऽन्तरतमः' से पूर्ववर्ती धकार (झल्) के स्थान में दकार (जश्) आदेश हुआ, क्योंकि धकार और दकार दोनों का उच्चारण स्थान दन्त होने के कारण दकार ही सदृशतम है।
सु द् ध् य् उपास्यः	'हलोऽनन्तराः संयोगः' से **द् ध् य्** की 'संयोग' संज्ञा है। 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'सुद्ध्य्' की 'पद' संज्ञा होने पर 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद **'सुद्ध् य्'** का लोप प्राप्त हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से यह लोप अन्तिम वर्ण यकार का होने लगा, परन्तु 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' (वा०) से संयोगान्त पद के अन्तिम वर्ण यकार (यण्) के लोप का निषेध हो गया। इस प्रकार संहिता होने पर
सुद्ध्युपास्यः	रूप सिद्ध होता है।

सुध्युपास्यः–जिस पक्ष में 'अनचि च' से धकार को द्वित्त्व नहीं होगा तो 'झल्' से परे 'झश्' नहीं मिलेगा और 'झलां जश् झशि' भी नहीं लगेगा। शेष सभी कार्य **सुद्ध्युपास्यः** की तरह होकर 'सुध्युपास्यः' रूप बनेगा।

मद्ध्वरिः, मध्वरिः – 'मधु+अरिः' यहाँ 'इको यणचि' से उकार (इक्) के स्थान में 'यण्' आदेश स्थानकृत सादृश्य के कारण (दोनों ही ओष्ठ्य वर्ण होने के कारण) वकारादेश होता है, 'अनचि च' से द्वित्व पक्ष में 'सुद्ध्युपास्यः' के समान तथा द्वित्व-अभाव पक्ष में 'सुध्युपास्यः' के समान शेष सभी कार्य होकर 'मद्ध्वरिः' तथा 'मध्वरिः' रूप सिद्ध होते हैं।

धात्त्रंशः, धात्रंशः (ब्रह्मा का अंश)–'धातृ+अंशः' में 'इको यणचि' से ऋकार के स्थान में अन्तरतम 'यण्' आदेश रेफ होकर 'अनचि च' से द्वित्व पक्ष में तथा द्वित्व अभाव पक्ष में क्रमशः 'धात्त्रंशः' तथा 'धात्रंशः' बनते हैं। तकार 'झश्' प्रत्याहार में न आने के कारण यहाँ 'झलां जश् झशि' की प्रवृत्ति नहीं होती।

लाकृतिः ('लृ' की आकृति की तरह स्वरूपधारी)–'लृ+आकृतिः' यहाँ 'इको यणचि' से 'अच्' (आ) परे होने पर 'लृ' के स्थान में यणादेश प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से दन्त्य वर्ण 'लृ' का अन्तरतम आदेश दन्त्य वर्ण 'ल्' होकर 'लाकृतिः' रूप सिद्ध होता है।

२२. एचोऽयवायावः ६।१।७८

एचः क्रमाद् अय् अव् आय् आव् एते स्युरचि।

प०वि०–एचः ६।१।। अयवायावः १।३।। **अनु०**–संहितायाम्, अचि।

अर्थ–'अच्' (स्वर) परे होने पर 'एच्' अर्थात् ए, ओ, ऐ और औ के स्थान में क्रमशः 'अय्', 'अव्', 'आय्' और 'आव्' आदेश होते हैं, संहिता के विषय में अर्थात् कालकृत व्यवधान न होने पर।

२३. यथासंख्यमनुदेशः समानाम् १।३।१०

समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात्। हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः।

प०वि०–यथासंख्यम् १।१।। अनुदेशः १।१।। समानाम् ६।१।।

अर्थ–यदि स्थानी और आदेश की संख्या समान हो तो स्थानी के स्थान में आदेश क्रमशः होते हैं।

हरये (हरि के लिए)

हरे ए 'हरि' शब्द से चतुर्थी-एक वचन में 'ङे' आकर 'घेर्ङिति' से ङित् परे रहते 'घि' संज्ञक 'हरि' को गुण होकर 'हरे+ए' बनने पर 'एचोऽयवायावः' से 'अच्' (ए) परे रहते 'एच्' (ए, ओ, ऐ, औ) के स्थान में क्रमशः 'अय्', 'अव्', 'आय्' और 'आव्' आदेश प्राप्त हुए। स्थानी और आदेश की संख्या समान

	होने के कारण 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' से यहाँ प्रथम स्थानी 'ए' के स्थान में प्रथम आदेश 'अय्' हुआ
हर् अय् ए	संहिता होने पर
हरये	रूप सिद्ध होता है।
विष्णवे	(विष्णु के लिए)
विष्णो ए	यहाँ भी 'एचोऽयवायावः' से 'अच्' (ए) परे रहने पर 'एच्' (ओ) के स्थान में अयादि आदेश प्राप्त हुए, 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' से 'ओ' के स्थान में 'अव्' होकर संहिता होने पर
विष्णवे	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **नायकः**–'नै+अकः' में 'ऐ' के स्थान में 'आय्' और **पावकः**–'पौ+अकः' में 'औ' के स्थान में 'आव्' आदेश 'एचोऽयवायावः' से होकर 'नायकः' और 'पावकः' रूप सिद्ध होते हैं।

२४. वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरव् आव् एतौ स्तः।

गव्यम्। नाव्यम्। (वा०) अध्वपरिमाणे च। गव्यूतिः।

प०वि०–वान्तः १।१।। यि ७।१।। प्रत्यये ७।१।। **अनु०**–संहितायाम्।

अर्थ–संहिता के विषय में यकारादि प्रत्यय परे होने पर 'ओ' और 'औ' के स्थान पर वान्त अर्थात् क्रमशः 'अव्' और 'आव्' आदेश होते हैं।

विशेष–यहाँ 'वान्त' शब्द से 'एचोऽयवायावः' सूत्र में पठित वकारान्त 'अव्' और 'आव्' आदेश लिए जाते हैं तथा आदेशों के साहचर्य से उनके स्थानी 'ओ' और 'औ' का भी आक्षेप हो जाता है।

गव्यम्	(गौ का विकार घी, दूध आदि)
गो यम्	यहाँ 'गो' शब्द से विकार अर्थ में 'यत्' (य) यकारादि प्रत्यय परे रहने पर 'वान्तो यि प्रत्यये' से 'ओ' के स्थान में वकारान्त 'अव्' आदेश हुआ
ग् अव् यम्	संहिता होने पर
गव्यम्	रूप सिद्ध होता है।

नाव्यम्–(नौका से पार करने योग्य) 'नौ+यम्' यहाँ 'वान्तो यि प्रत्यये' से औ' के स्थान में 'आव्' आदेश होकर 'नाव्यम्' रूप बनता है।

(वा०) अध्वपरिमाणे च–(इस वार्तिक से सम्पूर्ण अर्थ प्राप्ति के लिए 'गोः' तथा 'यूतौ' इन दो पदों की अनुवृत्ति लानी पड़ती है।)

अर्थ–अध्व-परिमाण अर्थात् मार्ग के परिमाण अर्थ में 'यूति' परे होने पर 'गो' शब्द के ओकार के स्थान में वकारान्त 'अव्' आदेश होता है।

गव्यूतिः (दो कोस का नाप)

गो यूतिः 'अध्वपरिमाणे च' इस वार्त्तिक से 'यूति' परे रहते 'गो' शब्द के ओकार के स्थान ने 'अव्' आदेश होकर

गव्यूतिः रूप सिद्ध होता है।

विशेष–यहाँ 'यूति' शब्द है यकारादि प्रत्यय नहीं है इसलिए 'वान्तो यि प्रत्यये' से अवादेश प्राप्त नहीं था, यहाँ भी अवादेश हो जाए इसलिए इस वार्त्तिक से 'यूति' शब्द परे रहते विशेष विधान करना पड़ा।

२५. अदेङ् गुणः १।१।२

अत् एङ् च गुणसंज्ञः स्यात्।

प०वि०–अत् १।१।। एङ् १।१।। गुणः १।१।।

अर्थ–अ, ए, ओ इनकी 'गुण' संज्ञा होती है।

यहाँ 'अत्' से ह्रस्व अकार का तथा 'एङ्' से 'ए' और 'ओ' वर्णों का ग्रहण होता है।

२६. तपरस्तत्कालस्य १।१।७०

तः परो यस्मात् स च तात्परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव संज्ञा स्यात्।

प०वि०–तपरः[१] १।१।। तत्कालस्य ६।१।। **अनु०**–सवर्णस्य, स्वं रूपम्।

अर्थ–तकार से जो परे है तथा तकार जिससे परे है वे दोनों ही **तपर** कहलाते हैं। तपर वर्ण अपनी और अपने समान काल में उच्चरित होने वाले सवर्णों की संज्ञा होते हैं।

विशेष–इस सूत्र को समझने के लिए हमें 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' सूत्र को समझना होगा, जिसका यह सूत्र अपवाद है। 'अणुदित्०' सूत्र का अर्थ है–'अण्' वर्ण (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्) तथा उदित वर्ण (कु, चु, टु, तु, पु) अपनी और अपने सभी सवर्णों की संज्ञा होते हैं। इसका आशय यह हुआ कि जहाँ भी 'अण्' अर्थात् अ, इ, उ इत्यादि को कोई कार्य कहा जाए तो उस 'अ', 'इ', 'उ' इत्यादि से केवल उनके स्वरूप मात्र का ही ग्रहण नहीं होता, अपितु उनके सभी सवर्णों ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सानुनासिक और निरनुनासिक भेद से जितने भी संभव हो, का ग्रहण होता है। **जैसे**–'इको यणचि' यहाँ 'इक्' प्रत्याहार का ग्रहण है जिसमें आने वाले इ, उ, ऋ और लृ वर्ण 'अण्' में भी आते हैं, इसलिए 'इक्' के स्थान में कहा गया 'यण्' आदेश केवल 'इक्' प्रत्याहार में पठित ह्रस्व 'इ', 'उ', 'ऋ' और 'लृ' के स्थान में ही नहीं होता, अपितु उनके सवर्ण दीर्घ 'ई', 'ऊ' इत्यादि के स्थान में भी होता है। इससे यह एक

---

१. 'तः परो यस्मात् सोऽयं तपरः, तादपि परस्तपरः' का० १।१।७०।

सामान्य नियम प्राप्त हुआ कि 'अण्' प्रत्याहार में आने वाले वर्णों को यदि कोई कार्य कहा जाये तो वह उसके सवर्णों को भी होता है। इस नियम की उपस्थिति में 'अदेङ् गुणः' से विहित अ, ए, ओ की 'गुण' संज्ञा दीर्घ और प्लुत अकार, प्लुत एकार तथा प्लुत ओकार की भी होने लगेगी, जो कि इष्ट नहीं है। यहाँ केवल पठित वर्णों की ही संज्ञा हो, इसलिए 'तपरस्तत्कालस्य' सूत्र का प्रणयन किया गया। इससे जो 'अण्' वर्ण तपर होंगे अर्थात् तकार से परे होंगे या तकार जिनसे परे होगा, दोनों ही 'अण्' होते हुए भी केवल अपने समान काल वाले सवर्णों की ही संज्ञा होंगे, भिन्न काल वालों की नहीं। यही कारण है कि 'अदेङ् गुणः' में अकार तपर है क्योंकि 'अ' से परे तकार है तथा 'एङ्' भी तपर है क्योंकि वह तकार से परे है। इस प्रकार अत् ('अ') और एङ् ('ए' और 'ओ') तीनों ही वर्णों की तथा उनके समान काल वाले सवर्णों की ही 'गुण' संज्ञा होती है भिन्न काल वाले सवर्णों की नहीं।

२७. आद् गुणः ६।१।८७

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात्। उपेन्द्रः। गङ्गोदकम्।

प०वि०—आत् ५।१।। गुणः १।१।। **अनु०**—अचि, एकः, पूर्वपरयोः।

अर्थ—अवर्ण से 'अच्' (स्वर) परे हो तो पूर्व और पर वर्ण अर्थात् दोनों के स्थान में 'गुण' एकादेश होता है।

उपेन्द्रः—'उप+इन्द्रः' यहाँ 'आद् गुणः' से अवर्ण से 'अच्' (इ) परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर गुण एकादेश प्राप्त हुआ। 'अदेङ् गुणः' से गुणसंज्ञक तीन वर्ण **अ, ए, ओ** प्राप्त हुए, तब 'स्थानेऽन्तरतमः' से इन तीनों आदेशों में जो, स्थानी (अकार और इकार) के सर्वाधिक सदृश कण्ठ्य तालव्य वर्ण एकार है वह आदेश होकर 'उपेन्द्रः' रूप सिद्ध होगा।

गङ्गोदकम्	(गङ्गा का जल)
गङ्गा उदकम्	'आद् गुणः' से अवणं 'आ' से 'अच्' (उकार) परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर 'गुण' एकादेश प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से स्थानकृत आन्तर्य के कारण कण्ठ्योष्ठ्य वर्ण 'ओ' गुण होकर
गङ्गोदकम्	रूप सिद्ध होता है।

२८. उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२।

उपदेशेऽनुनासिकोऽज् इत्संज्ञः स्यात्। प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः। लण्सूत्रस्थाऽवर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा।

प०वि०—उपदेशे ७।१। अच् १।१। अनुनासिकः १।१। इत् १।१।

अर्थ–उपदेश में अनुनासिक अच् (स्वर) 'इत्' संज्ञक होते हैं।

आशय यह है कि पाणिनि द्वारा रचित अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिकोष तथा लिङ्गानुशासन में एवं कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा पठित वार्त्तिक और इष्टि आदि में अनुनासिक 'अच्' (स्वर) 'इत्' संज्ञक होते हैं।

वर्तमान भाषा में अनुनासिक चिह्नों का प्रयोग लुप्त होने के कारण प्रश्न उठता है कि उपदेश में प्रयुक्त अनुनासिक स्वरों की पहचान कैसे हो? इस प्रश्न को ध्यान में रखकर ही वरदाज कहते हैं–**प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः।** अर्थात् पाणिनि की परम्परा में अनुनासिक की पहचान आचार्य द्वारा अनुनासिक प्रतिज्ञा करने (किसी वर्ण को अनुनासिक घोषित करने) के कारण परम्परा से होती है। जैसे–'लण्' सूत्र में लकार से उत्तरवर्ती अकार पर अनुनासिक चिह्न दिखाई नहीं देता, परन्तु परम्परा बताती है कि उक्त अकार अनुनासिक है। अतः उसकी 'इत्' संज्ञा भी प्रकृत सूत्र से होती है। इसीलिए 'हयवरट्' सूत्रस्थ रेफ (र्) के साथ 'लण्' सूत्रस्थ लकार के उत्तरवर्ती अनुनासिक 'इत्' संज्ञक अकार मिलकर 'र' प्रत्याहार का निर्माण करता है जो कि रेफ तथा लकार दोनों वर्णों की संज्ञा बनता है।

२९. उरण् रपरः १।१।५१

ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तम्। तत्स्थाने योऽण्, स रपरः सन्नेव प्रवर्तते। कृष्णर्द्धिः। तवल्कारः।

प०वि०–उः ६।१। अण् १।१। रपरः १।१। **अनु०**–स्थाने, स्थाने।

अर्थ–(उः) ऋवर्ण (तथा ऌकार) के स्थान पर प्रसज्यमान 'अण्' (अ, इ और उ) होते-होते ही रपर होते हैं। अर्थात् 'अण्' ऋकार के स्थान पर 'रपर' तथा ऌकार के स्थान पर 'लपर' होते हैं।

विशेष–ऋकार को तीस वर्णों की संज्ञा कहा गया है। आशय यह है कि ऋकार तथा ऌकार दोनों की सवर्ण संज्ञा का विधान 'तुल्यास्य०' सूत्र में किया गया है अतः ऋकार, 'अणुदित्०' सूत्र के बल से ऋकार के १८ उदात्तादि भेदों की तथा ऌकार के दीर्घ रहित १२ भेदों की संज्ञा होने से कुल तीस वर्णों की संज्ञा होगा। प्रकृत् सूत्र में पठित 'रपरः' पदस्थ 'र' प्रत्याहार है जो कि 'र्' और 'ल्' दोनों की संज्ञा है। जैसा कि पूर्व सूत्र की व्याख्या में दिखाया गया है।

इस सूत्र में दो बार **स्थाने** पद की अनुवृत्ति की गई है। प्रथम 'स्थाने' पद का अर्थ है– 'के स्थान में' तथा दूसरे 'स्थाने' पद का अर्थ है –'प्रसंग उपस्थित होने पर अर्थात् होते-होते'।

जैसा कि 'अणुदित्०' सूत्र की व्याख्या में बताया जा चुका है कि 'अणुदित्०' सूत्र को छोड़कर 'अण्' प्रत्याहार सर्वत्र पूर्व णकार से ही बनाया जाता है। अतः यहाँ इस सूत्र

में भी 'अण्' प्रत्याहार से केवल 'अ, इ और उ' इन वर्णों का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार प्रकृत सूत्र का उपर्युक्त अर्थ किया गया है।

कृष्णर्द्धिः (कृष्ण का अभ्युदय)

कृष्ण ऋद्धिः यहाँ 'आद् गुणः' से अवर्ण से 'अच्' (ऋकार) परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर गुण एकादेश प्राप्त हुआ। यहाँ अकार तथा ऋकार के स्थान में प्राप्त गुण 'अ, ए तथा ओ' में अकार 'अण्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आता है अतः 'उरण् रपरः' सूत्र से ऋकार के स्थान पर होते-होते ही उसके साथ 'रेफ' भी होगा। इस प्रकार गुण 'अर्', 'ए' तथा 'ओ' प्राप्त हुए। 'स्थानेऽन्तरतमः' से स्थानकृत सादृश्य के कारण कण्ठ्य वर्ण अकार तथा मूर्धन्य ऋकार के स्थान में कण्ठ्य तथा मूर्धन्य 'अर्' आदेश हुआ

कृष्ण् अर् द्धिः संहिता होने पर तथा रेफ के जलतुम्बी[1] न्याय से ऊपर चले जाने पर

कृष्णर्द्धिः रूप सिद्ध होता है।

तवल्कारः (तुम्हारा, लृकार)

तव लृकारः यहाँ भी 'आद् गुणः' से गुण प्राप्त होने पर पूर्ववत् 'उरण् रपरः' से रपर अर्थात् लृकार के स्थान में प्राप्त 'अण्' (अकार) लपर होगा। 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'अ' और 'लृ' के स्थान में सदृशतम गुण एकादेश कण्ठ और दन्त से उच्चारित होने वाला 'अल्' हुआ

तव् अल् कारः संहिता होने पर

तवल्कारः रूप सिद्ध होता है।

३०. लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाऽशि परे।

प०वि०—लोपः १।१।। शाकल्यस्य ६।१।। **अनु०**—अपूर्वस्य, अशि, व्योः, पदस्य।

अर्थ—अवर्णपूर्वक (जिसके पहले 'अ' या 'आ' हो) पदान्त यकार और वकार का लोप होता है 'अश्' (कोई भी स्वर, वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम वर्ण तथा ह्, य्, व्, र्, ल्) परे रहते शाकल्य आचार्य के मत में, अर्थात् विकल्प से।

३१. पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१

सपाद-सप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्। हर इह। हरयिह। विष्ण इह। विष्णविह।

---

१. जैसे तुम्बी (सूखी लौकी) हल्की होने के कारण पानी के ऊपर तैरती है वैसे ही स्वर रहित रेफ भी अपने बाद वाले वर्ण के ऊपर लिखा जाता है।

प०वि०–पूर्वत्र अ०।। असिद्धम् १।१।।

विशेष–यह सूत्र अष्टाध्यायी के क्रम की महत्ता को रेखांकित करता है। अष्टाध्यायी क्रम से परिचित हुए बिना इस सूत्र का समझना संभव नहीं है। इसलिए इस सूत्र से सम्बद्ध कुछ विशेष बातों को ध्यान में रखना चाहिए, जो इस सूत्र को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

अष्टाध्यायी में कुल आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं।

प्रकृत सूत्र आठवें अध्याय के द्वितीय पाद का प्रथम सूत्र है। इस सूत्र में पढ़ा हुआ 'पूर्वत्र' पद इस सूत्र से पहले आने वाले सात अध्याय और आठवें अध्याय के प्रथम पाद के विषय में संकेत करता है। जिसे व्याकरण-सम्प्रदाय में 'सपादसप्ताध्यायी' कहा जाता है। तथा अष्टम अध्याय के दूसरे, तीसरे और चौथे पाद को 'त्रिपादी' के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है।

अर्थ–सपाद-सप्ताध्यायी के प्रति (की दृष्टि में) त्रिपादी असिद्ध है, तथा त्रिपादी में भी पूर्वसूत्र के प्रति परसूत्र असिद्ध होता है। अर्थात् पूर्ववर्त्ती सूत्र की दृष्टि में परवर्ती सूत्रों का कार्य न होने के समान होता है।

हर इह

हरे इह	'एचोऽयवायावः' से 'अच्' (इकार) परे रहते 'एच्' (ए) के स्थान में 'अय्' आदेश हुआ
हर् अय् इह	यहाँ सम्बोधन के एक वचन में 'हरे' की 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने से 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' परिभाषा से 'हरय्' भी पदसंज्ञक है इसलिए अवर्णपूर्वक पदान्त यकार से 'अश्' (इकार) परे रहते 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र से पदान्त यकार का विकल्प से लोप हुआ
हर इह	लोप होने पर 'आद् गुणः' से गुण प्राप्त हुआ जो कि छठे अध्याय के प्रथम पाद का होने से 'सपादसप्ताध्यायी' के अन्तर्गत आता है। इससे पहले 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र अष्टम अध्याय के तृतीय पाद का सूत्र है, इसलिए 'पूर्वत्रासिद्धम्' से सपादसप्ताध्यायी के सूत्र 'आद् गुणः' की दृष्टि में त्रिपादी का सूत्र 'लोपः शाकल्यस्य' असिद्ध हुआ। इससे 'आद् गुणः' (६.१.८७) की दृष्टि में 'लोपः शाकल्यस्य' (८.३.१९) से किया गया पदान्त यकार का लोप न हुए के समान होगा, ऐसा होने पर 'आद् गुणः' सूत्र की प्रवृत्ति भी नहीं हो पाएगी क्योंकि यकार–लोप न होने की स्थिति में अवर्ण से 'अच्' परे नहीं मिलता। इस प्रकार
हर इह	रूप सिद्ध होता है।

लोप-अभाव पक्ष में—यकार का लोप न होने पर यकार में इकार मिलकर 'हरयिह' यह रूप बनता है।

विष्ण इह

विष्णो इह	'एचोऽयवायावः' से 'अच्' (इकार) परे रहते 'ओ' के स्थान में 'अव्' आदेश हुआ
विष्णव् इह	पूर्ववत् 'अश्' परे रहते पदान्त वकार का 'लोपः शाकल्यस्य' से विकल्प से लोप हुआ
विष्ण इह	यहाँ 'आद् गुणः' से प्राप्त होने वाला गुण, 'पूर्वत्रासिद्धम्' से वकार-लोप के असिद्ध होने से नहीं होता। अतः
विष्ण इह	रूप सिद्ध होता है।

विष्णविह—यहाँ वकार लोप न होने की स्थिति में यह रूप बनता है।

३२. वृद्धिरादैच् १।१।१

आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात्।

प०वि०—वृद्धिः १।१।। आदैच् १।१।।

अर्थ—आ, ऐ और औ इन तीनों की 'वृद्धि' संज्ञा होती है।

विशेष—'ऐच्' के तपर (त से परे) होने के कारण केवल दीर्घ 'ऐ' और 'औ' की ही वृद्धि संज्ञा होती है, उनके प्लुत सवर्णों की नहीं।

३३. वृद्धिरेचि ६।१।८८

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। गुणाऽपवादः। कृष्णैकत्वम्। गङ्गौघः। देवैश्वर्यम्। कृष्णौत्कण्ठ्यम्।

प०वि०—वृद्धिः १।१।। एचि ७।१।। **अनु०**—आत्, एकः, पूर्वपरयोः।

अर्थ—अवर्ण से 'एच्' (ए, ओ, ऐ और औ) परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर 'वृद्धि' (आ, ऐ, औ) एकादेश होता है।

यह सूत्र 'आद् गुणः' से प्राप्त 'गुण' का अपवाद है।

कृष्णैकत्वम्	(कृष्ण की एकता)
कृष्ण एकत्वम्	यहाँ 'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' परे रहते पूर्व और पर अर्थात् अकार और एकार के स्थान पर 'वृद्धि' एकादेश प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से स्थानकृत सादृश्य के कारण कण्ठ्य वर्ण 'अ' और कण्ठतालव्य वर्ण 'ए' के स्थान पर कण्ठ और तालु से उच्चरित होने वाला वृद्धि संज्ञक 'ऐ' आदेश होकर
कृष्णैकत्वम्	रूप सिद्ध होता है।

गङ्गौघः (गंगा का प्रवाह)

गङ्गा ओघः यहाँ भी 'वृद्धिरेचि' से अवर्ण (आ) से 'एच्' (ओ) परे रहते पूर्व और पर के स्थान में 'वृद्धि' एकादेश प्राप्त हुआ। 'आ' और 'ओ' का उच्चारण-स्थान क्रमशः कण्ठ तथा कण्ठौष्ठ है। इन दोनों का सदृशतम वृद्धिसंज्ञक औकार का ही उच्चारण 'कण्ठ' और 'औष्ठ' से होता है, इसलिए 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'औ' वृद्धि होकर

गङ्गौघः रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'देवैश्वर्यम्'**–'देव+ऐश्वर्यम्' और **'कृष्णौत्कण्ठ्यम्'**–'कृष्ण+औत्कण्ठ्यम्' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

३४. एत्येधत्यूठ्सु ६।१।८९

अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। पररूप-गुणापवादः। उपैति। उपैधते। प्रष्ठौहः। एजाद्योः किम्? उपेतः, मा भवान् प्रेदिधत्। (वा०) अक्षादुहिन्यामुपसंख्यानम्। अक्षौहिणी सेना। (वा०) प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु। प्रौहः। प्रौढः। प्रौढिः। प्रैषः। प्रैष्यः। (वा०) ऋते च तृतीया समासे। सुखेन ऋतः सुखार्तः। तृतीयेति किम्? परमर्त्तः।

(वा०) प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानामृणे। प्रार्णम्। वत्सतरार्णम् इत्यादि।

प०वि०–एत्येधत्यूठ्सु ७।३।। **अनु०**–वृद्धिरेचि, अचि, आत्, एकः, पूर्वपरयोः।

अर्थ–अवर्ण से उत्तर 'एच्' से आरम्भ होने वाली 'इण्' धातु, 'एध्' धातु तथा 'ऊठ्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में 'वृद्धि' एकादेश होता है।

यह सूत्र 'एङि पररूपम्' से प्राप्त पररूप का तथा 'आद् गुणः' से प्राप्त गुण का अपवाद है।

उपैति **(समीप जाता है)**

उप एति यहाँ 'एङि पररूपम्' से अकारान्त उपसर्ग से उत्तर एङादि धातु (एति) परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एकादेश प्राप्त था, जिसे बाधकर अपवाद होने के कारण 'एत्येधत्यूठ्सु' से अवर्ण से एजादि 'इण्' धातु 'एति' परे रहते पूर्व 'अ' और पर वर्ण 'ए' के स्थान पर 'वृद्धि' एकादेश प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से स्थानकृत आन्तर्य के कारण कण्ठ और तालु से उच्चारित होने वाला वृद्धि संज्ञक वर्ण 'ऐ' एकादेश होकर

उपैति रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **उपैधते**–'उप+एधते' में 'उप' के अकार से उत्तर एजादि 'एध्' धातु परे रहते प्रकृत सूत्र से वृद्धि एकादेश होकर 'उपैधते' रूप बनता है।

प्रष्ठौहः (अल्पवयस्क बैल)

प्रष्ठ ऊहः यहाँ 'आद् गुणः' से गुण प्राप्त था। चूँकि 'ऊह' शब्द 'वाह्' को 'ऊठ्' सम्प्रसारण होकर बना है। इसलिए 'ऊहः' का ऊकार 'ऊठ्' ही माना जाएगा। अतः 'आद् गुणः' से प्राप्त 'गुण' को बाधकर 'एत्येधत्यूठ्सु' से अवर्ण से 'ऊठ्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में वृद्धि एकादेश प्राप्त हुआ। 'स्थानेऽन्तरतमः' से कण्ठ्य वर्ण अकार तथा औष्ठ्य वर्ण ऊकार का अन्तरतम वृद्धि कण्ठौष्ठ्य वर्ण औकार आदेश होकर

प्रष्ठौहः रूप सिद्ध होता है।

विशेष–इस सूत्र में एजादि इण् तथा ऊठ् कहने का विशेष प्रयोजन यह है कि जहाँ 'इण्' धातु एजादि नहीं होगा, जैसे–'उप+इतः' आदि में, वहाँ यह सूत्र 'वृद्धि' नहीं करेगा। अपितु 'आद् गुणः' से 'गुण' होकर 'उपेतः' रूप बनेगा।

मा भवान् प्रेदिधत्–इसी प्रकार 'माङ्' के योग में 'आट्' का अभाव होने पर 'एध्' धातु से णिजन्त से 'लुङ्' लकार में 'प्र+इदिधत्' में एजादि 'एध्' धातु न मिलने पर प्रकृत सूत्र से 'वृद्धि' नहीं होती, अपितु 'आद् गुणः' से 'गुण' ही होता है और इस प्रकार 'प्रेदिधत्' रूप बनता है।

(वा०) अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्–**अर्थ**–'अक्ष' शब्द से 'ऊहिनी' शब्द परे हो तो पूर्व और पर के स्थान पर 'वृद्धि' एकादेश होता है।

अक्षौहिणी–(सेना विशेष-२१८७० हाथी तथा रथ, ६५६१० घोड़े, १०,९२५० बैल)

अक्षौहिणी–'अक्ष+ऊहिनी' यहाँ 'आद् गुणः' से 'गुण' प्राप्त था, जिसे बाधकर 'अक्षादूहिन्या०' वार्त्तिक से वृद्धि प्राप्त हुई, 'स्थानेऽन्तरतमः' से औकार होकर 'अक्षौहिणी' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु–**अर्थ**–'प्र' से उत्तर 'ऊह', 'ऊढ', 'ऊढि', 'एष' और 'एष्य' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है।

प्र+ऊहः=**प्रौहः**, प्र+ऊढः=**प्रौढः**, प्र+ऊढिः=**प्रौढिः**, इन तीनों उदाहरणों में 'आद् गुणः' से 'गुण' प्राप्त था, जिसे बाधकर 'प्रादूहोढोढ्ये०' वार्त्तिक से सर्वत्र 'वृद्धि' होकर उक्त तीनों रूप सिद्ध होते हैं।

प्र+एषः=**प्रैषः**, प्र+एष्यः=**प्रैष्यः** इन दोनों उदाहरणों में अकारान्त उपसर्ग से उत्तर एङादि धातु परे रहते 'एङि पररूपम्' से पररूप-एकादेश प्राप्त था, जिसे बाधकर प्रकृत

वार्तिक से पूर्व और पर के स्थान में 'वृद्धि' एकादेश होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

(वा०) ऋते च तृतीयासमासे–अर्थ–तृतीया-तत्पुरुष समास में अवर्ण से उत्तर 'ऋत' शब्द परे हो तो पूर्व और पर के स्थान पर 'वृद्धि' एकादेश होता है।

सुखार्तः	'सुखेन ऋतः' (सुख से प्राप्त)
सुख टा ऋत सु	तृतीयान्त का समर्थ सुबन्त के साथ 'तृतीया' इस योग विभाग से समास करने पर 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से 'सुप्' विभक्तियों का लुक् हुआ
सुख ऋतः	यहाँ 'आद् गुणः' से 'गुण' प्राप्त था, जिसे बाधकर 'ऋते च तृतीयासमासे' से तृतीया समास में अवर्ण से 'ऋत' परे होने पर पूर्व वर्ण 'अ' और पर वर्ण 'ऋ' के स्थान पर वृद्धि एकादेश, 'उरण् रपरः' से 'आ' के रपर होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'आर्' आदेश हुआ
सुख् आर् तः	संहिता होने पर
सुखार्तः	रूप सिद्ध होता है।

तृतीयेति किम्–'ऋते च०' वार्त्तिक में **तृतीया** पद का प्रयोजन यह है कि तृतीया-समास से भिन्न स्थानों में अवर्ण से 'ऋत' परे होने पर भी 'वृद्धि' न हो। जैसे– **'परमर्त्तः'** ('परमश्चासौ ऋतः') =**परम+ऋतः** यहाँ तृतीया-समास न होने के कारण प्रकृत वार्त्तिक से 'वृद्धि' नहीं होती, अपितु 'आद् गुणः' से 'गुण' होकर उक्त रूप बनता है।

(वा०) प्र-वत्सतर०–अर्थ–'प्र', 'वत्सतर', 'कम्बल', 'वसन', 'ऋण' और 'दश' इन शब्दों के बाद यदि 'ऋण' शब्द हो तो पूर्व और पर वर्ण के स्थान में 'वृद्धि' एकादेश होता है।

प्र+ऋणम्=**प्रार्णम्**, वत्सतर+ऋणम्=**वत्सतरार्णम्**, कम्बल+ऋणम्=**कम्बलार्णम्**, वसन+ऋणाम्=**वसनार्णम्**, ऋण+ऋणम्=**ऋणार्णम्**, दश+ऋणम्=**दशार्णम्** इन सब उदाहरणों में 'आद् गुणः' से 'गुण' प्राप्त था, जिसे बाधकर प्रकृत वार्त्तिक **'प्रवत्सतर०'** से सभी स्थानों पर 'ऋण' परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर वृद्धि-एकादेश हुआ, जो 'उरण् रपरः' से 'अण्' के रपर होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'आर्' वृद्धि होकर 'प्रार्णम्' इत्यादि सिद्ध होते हैं।

३५. उपसर्गाः क्रियायोगे १।४।५९

प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः। प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्,

निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि, उप-एते प्रादयः।

प०वि०—उपसर्गाः १।३।। क्रियायोगे ७।१।। **अनु०**—प्रादयः।

अर्थ—क्रिया के साथ योग होने पर 'प्र' इत्यादि की 'उपसर्ग' संज्ञा होती है।

प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि तथा उप इन सबका क्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर ये 'उपसर्ग' संज्ञक होते हैं।

३६. भूवादयो धातवः १।३।१

क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः।

प०वि०—भूवादयः १।३।। धातवः १।३।।

अर्थ—'भू' आदि में है जिनके अर्थात् धातुपाठ में पठित शब्द, 'वा' की तरह जो क्रियावाचक उनकी 'धातु' संज्ञा होती है।

३७. उपसर्गाद् ऋति धातौ ६।१।९१

अवर्णान्तादुपसर्गाद् ऋकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। प्रार्च्छति।

प०वि०—उपसर्गात् ५।१।। ऋति ७।१।। धातौ ७।१।। **अनु०**—आत्, वृद्धिः एकः, पूर्वपरयोः।

अर्थ—अकारान्त उपसर्ग से उत्तर ऋकारादि धातु परे हो तो पूर्व और पर के स्थान पर 'वृद्धि' एकादेश होता है।

प्रार्च्छति	(अधिक चलता है)
प्र ऋच्छति	'भूवादयो धातवः' से 'ऋच्छ्' की धातु संज्ञा तथा 'उपसर्गाः क्रियायोगे' से 'प्र' की क्रिया के योग में 'उपसर्ग' संज्ञा है। यहाँ 'आद् गुणः' से 'गुण' प्राप्त था, जिसे बाधकर 'उपसर्गादृति धातौ' से अकारान्त उपसर्ग 'प्र' से उत्तर ऋकारादि धातु परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर 'वृद्धि' एकादेश प्राप्त हुआ, 'उरण् रपरः' से 'अण्' (आ) के रपर होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से अकार और ऋकार के स्थान में 'आर्' वृद्धि हुई
प्र आर् च्छति	संहिता होने पर
प्रार्च्छति	रूप सिद्ध होता है।

३८. एङि पररूपम् ६।१।९४

आदुपसर्गाद् एङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात्। प्रेजते। उपोषति।

प०वि०—एङि ७।१।। पररूपम् १।१।। **अनु०**—आत्, उपसर्गात्, धातौ, एकः, पूर्वपरयोः।

अर्थ—अकारान्त उपसर्ग से उत्तर एङादि धातु परे हो तो पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

प्रेजते	(अधिक कांपता है)
प्र एजते	यहाँ 'वृद्धिरेचि' से अकार से उत्तर 'एच्' परे रहते वृद्धि एकादेश प्राप्त था। 'उपसर्गाः क्रियायोगे' से 'प्र' की 'उपसर्ग' संज्ञा तथा 'भूवादयो धातवः' से 'एज्' की 'धातु' संज्ञा होने से 'एङि पररूपम्' से अकारान्त उपसर्ग 'प्र' से उत्तर एङादि धातु 'एज्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकादेश अर्थात् 'ए' हुआ
प्र् ए जते	संहिता होने पर
प्रेजते	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **उपोषति**—'उप+ओषति' यहाँ भी 'प्रेजते' के समान अकारान्त उपसर्ग 'उप' से उत्तर एङादि 'ओषति' (धातुरूप) परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकादेश 'ओ' होकर 'उपोषति' रूप सिद्ध होता है।

३९. अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४

अचां मध्ये योऽन्त्यः, स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात्। (वा०) शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। तच्च टेः। शकन्धुः। कर्कन्धुः। मनीषा। आकृतिगणोऽयम्। मार्त्तण्डः।

प०वि०—अचः ६।१।। अन्त्यादि १।१।। टि १।१।।

अर्थ—अचों में जो अन्तिम अच्, वह है आदि में जिसके, अच् सहित उस समुदाय की 'टि' संज्ञा होती है।

जैसे—'मनस्' यहाँ पर अचों में अन्तिम 'अच्' सकार से पूर्ववर्ती अकार है। वह अकार, सकार के आदि में है इसलिए अकार सहित सकार अर्थात् 'अस्' भाग की 'टि' संज्ञा है।

विशेष—ऐसे स्थलों में जहाँ किसी शब्द का अन्तिम वर्ण 'अच्' अर्थात् स्वर ही हो तो वहाँ 'टि' संज्ञा किसकी मानी जाए? इसका समाधान यह है कि 'व्यपदेशिवद्भाव' से अन्तिम 'अच्' को ही उसके स्वयं के आदि में मान लेने पर केवल अन्तिम वर्ण (स्वर) की ही 'टि' संज्ञा होगी। **जैसे**—'राम' यहाँ अन्तिम 'अच्' मकार से उत्तरवर्ती अकार है, जो किसी के आदि में नहीं है ऐसी स्थिति में 'व्यपदेशिवद्भाव एकस्मिन्' इस परिभाषा के अनुसार वह अकार अपने ही आदि में मान लिया जाएगा और उसकी ही 'टि' संज्ञा होगी।

(वा०) शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। तच्च टेः।

अर्थ–'शकन्धुः' आदि शब्दों में 'अच्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकदेश मानना चाहिए। वह पररूप पूर्ववर्ती शब्द के 'टि' भाग और पर वर्ण 'अच्' के स्थान में मानना चाहिए।

शकन्धुः–(शकों का कुआँ) 'शक+अन्धुः' यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' से 'अक्' से उत्तर सवर्ण 'अच्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में दीर्घ एकादेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। तच्च टेः' वार्तिक से 'शक' के टिभाग अर्थात् अकार और 'अन्धुः' के अकार को पररूप 'अ' एकादेश होकर 'शकन्धुः' रूप सिद्ध होता है। यहाँ 'अचोऽन्त्यादि टि' से अन्तिम अकार की ही 'टि' संज्ञा है।

कर्कन्धुः–'कर्क+अन्धुः' की सिद्धि-प्रक्रिया भी 'शकन्धुः' के समान जानें।

मनीषा	(बुद्धि)
मनस् ईषा	यहाँ कोई सन्धि कार्य प्राप्त नहीं था, किन्तु 'शकन्ध्वादिषु॰' वार्तिक से 'मनस्' के टिभाग, 'अचोऽन्त्यादि टि' से 'अस्' भाग की 'टि' संज्ञा होने से, 'अस्' तथा ईकार के स्थान पर पररूप एकादेश अर्थात् ईकार आदेश हुआ
मन् ई षा	संहिता होने पर
मनीषा	रूप सिद्ध होता है।

आकृतिगणोऽयम्– शकन्ध्वादि गण अकृति-गण है। आकृति-गण से अभिप्राय है कि ऐसा गण निर्देश जिसमें कुछ शब्दों का उल्लेख कर दिया जाता है और फिर शेष शब्दों को प्रयोग के आधार उस गण में मान लिया जाताा है। **जैसे**–शकन्ध्वादि गण में 'शकन्धु', 'कर्कन्धु' और 'मनीषा' आदि शब्दों का तो उल्लेख मिलता है, परन्तु 'मार्त्तण्डः' का उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए 'शकन्ध्वादिषु पररूपम्॰' से प्राप्त पररूप एकादेश गण में पठित शब्दों में तो हो सकता था, गण में अपठित 'मार्त्तण्डः' आदि में नहीं। शकध्वादि गण को आकृतिगण मान लेने से 'मार्त्तण्डः'-- 'मार्त्त+अण्डः' में दीर्घ एकादेश को बाधकर पररूप एकादेश भी इसी वार्तिक से सिद्ध हो जाता है। आकृति-गण की यही विशेषता है कि उसमें 'मार्त्तण्डः' आदि के समान न पढ़े गये शब्दों का भी समावेश मान लिया जाता है।

४०. ओमाङोश्च ६।१।९५

ओमि आङि चात् परे पररूपमेकादेशः स्यात्। शिवायों नमः। 'शिव+एहि' इति स्थिते–

प॰वि॰–ओमाङोः ७।२।। च अ॰।। **अनु॰**–आत्, पररूपम्, एकः, पूर्वपरयोः।

अर्थ–अवर्ण (अ या आ) से 'ओम्' या 'आङ्' (आ) परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

शिवायों नमः

शिवाय ओम् नमः	यहाँ अवर्ण से 'एच्' (ओ) परे रहते 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'ओमाङोश्च' से अवर्ण से 'ओम्' परे रहते पररूप 'ओ' एकादेश हुआ
शिवायोम् नमः	'मोनुस्वारः' से 'हल्' परे रहते पदान्त मकार को अनुस्वार होकर
शिवायों नमः	रूप सिद्ध होता है।

शिव+एहि इस स्थिति को अगले सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया जाएगा।

४१. अन्तादिवच्च ६।१।८५

योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत्। शिवेहि।

प०वि०–अन्तादिवत् अ०।। च अ०।। **अनु०**–एकः, पूर्वपरयोः।

अर्थ–पूर्व और पर (वर्ण) के स्थान पर किया गया एकादेश पूर्व (समुदाय) के अन्तिम (वर्ण) के समान तथा पर (समुदाय) के आदि (वर्ण) के समान होता है।

यह अतिदेश सूत्र है। इस सूत्र के द्वारा आदेश को ही पूर्व तथा पर दोनों स्थानियों के समान मान लेने पर स्थानी को प्राप्त होने वाले कार्य भी (आदेश को) हो जाते हैं। यथा–

शिवेहि

शिव एहि	यहाँ 'एहि' शब्द 'आ (ङ्)+इहि' को 'आद् गुणः' से पूर्व और पर अर्थात् 'आ' और 'इ' को गुण एकादेश 'ए' होकर बना है। इसलिए 'अन्तादिवच्च' से एकादेश 'ए' को पूर्व समुदाय 'आ' (ङ्) के अन्तिम (वर्ण) के समान माना जाएगा। चूँकि 'आ' (ङ्) से पूर्व कोई दूसरा वर्ण नहीं है इसलिए 'व्यपदेशिवद्भाव०' से 'आ' को ही अन्तिम मानकर 'ए' को भी 'आ' (ङ्) के समान मान लिया जाएगा। इस प्रकार 'एहि' के 'एकार' को 'आङ्' मान लेने पर अवर्ण से 'आङ्' परे मिल जाने से 'ओमाङोश्च' से अवर्ण से 'आङ्' परे रहते पूर्व 'अ' और पर 'ए' के स्थान पर पररूप एकादेश 'ए' होकर
शिवेहि	रूप सिद्ध होता है।

४२. अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१

अकः सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात्। दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः। होतॄकारः।

प०वि०–अकः ५।१।। सवर्णे ७।१। दीर्घः १।१।। **अनु०**–अचि, एकः, पूर्वपरयोः।

अर्थ–'अक्' अर्थात् अ, इ, उ, ऋ और लृ से उत्तर सवर्ण 'अच्' (स्वर) परे हो तो पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर दीर्घ एकादेश होता है। **यथा**–'दैत्यारिः, श्रीशः। विष्णूदयः। होतॄकारः।

दैत्यारिः	(दैत्यों का शत्रु)
दैत्य अरिः	यहाँ यकार के उत्तरवर्ती अकार का उच्चारण-स्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न 'अरिः' के अकार के समान ही हैं अर्थात् उच्चारण-स्थान 'कण्ठ' तथा आभ्यन्तर प्रयत्न 'विवृत' है, इसलिए दोनों की 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' से परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा होने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' से 'अक्' से उत्तर सवर्ण 'अच्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से पूर्व और पर दोनों अकारों के स्थान पर अन्तरतम दीर्घ आकार आदेश हुआ
दैत्य् आ रिः	संहिता होने पर
दैत्यारिः	रूप सिद्ध होता है।

श्रीशः (विष्णु)–'श्री+ईशः' यहाँ 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इस ग्राहक सूत्र के कारण दीर्घ ईकार (ई) को भी 'अक्' तथा 'अच्' माना जाता है। अतः पूर्ववत् यहाँ भी 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दोनों के स्थान में सवर्ण दीर्घ एकादेश (ई) होकर 'श्रीशः' रूप सिद्ध होता है।

विष्णूदयः (विष्णु का अभ्युदय)–'विष्णु+उदयः' यहाँ भी इसी प्रकार, दीर्घ ऊकार एकादेश प्रकृत सूत्र से ही होता है।

होतॄकारः–'होतृ+ऋकारः' यहाँ भी ऋकार 'अक्' में आता है तथा उससे परे सवर्ण 'अच्' ऋकार भी है, अतः प्रकृत सूत्र से **दैत्यारिः** के समान दीर्घ ॠकार आदेश होकर 'होतॄकारः' रूप सिद्ध होता है।

४३. एङः पदान्तादति ६।१।१०९

पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेऽव। विष्णोऽव।

प०वि०–एङः ५।१।। पदान्ताद् ५।१।। अति ७।१।। **अनु०**–पूर्वम्, एकः, पूर्वपरयोः।

अर्थ–पदान्त 'एङ्' (ए, ओ) से उत्तर ह्रस्व अकार परे हो तो पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होता है।

यथा–हरेऽव, विष्णोऽव।

हरेऽव	(हे हरि! रक्षा करो)
हरे अव	यहाँ 'हरे' सम्बोधन एकवचन का रूप है, इसलिए 'सुप्तिङन्तं

	पदम्' से इसकी 'पद' संज्ञा है तथा इसके अन्त में 'एङ्' होने से 'एङः पदान्तादति' से पदान्त 'एङ्' से उत्तर ह्रस्व अकार परे रहते पूर्व वर्ण 'ए' और पर वर्ण 'अ' के स्थान में पूर्वरूप 'ए' एकादेश हुआ
हर् ए व	संहिता होने पर
हरेऽव	रूप सिद्ध होता है।

विष्णोऽव (हे विष्णु! रक्षा करो) –'विष्णो+अव' में भी पूर्ववत् 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप एकादेश 'ओ' होकर 'विष्णोऽव' रूप सिद्ध होता है।

४४. सर्वत्र विभाषा गोः ६।१।१२२

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः पदान्ते। गो अग्रम्, गोऽग्रम्। एङन्तस्य किम्? चित्रग्वग्रम्। पदान्ते किम्? गोः।

प०वि०–सर्वत्र अ०।। विभाषा १।१।। गोः ।६।१। **अनु०**–प्रकृत्या, एङः, पदान्तात्, अति।

अर्थ–एङन्त 'गो' पद से यदि ह्रस्व अकार परे हो तो उसे विकल्प से प्रकृतिभाव[1] होता है, लोक और वेद दोनों में। अर्थात् एक बार सन्धि-कार्य होता है, एक बार नहीं।

गो अग्रम्	(गायों में उत्तम)
गो अग्रम्	यहाँ 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप एकादेश प्राप्त था जिसे बाधकर 'अवङ् स्फोटायनस्य' से 'अच्' परे रहते एङन्त 'गो' पद को विकल्प से 'अवङ्' आदेश प्राप्त हुआ। 'अवङ्' आदेश के अभाव पक्ष में 'सर्वत्र विभाषा गोः' से एङन्त 'गो' पद से ह्रस्व अकार परे रहते विकल्प से 'प्रकृतिभाव' का विधान कर दिया गया अर्थात् कोई सन्धि कार्य नहीं हुआ, इस प्रकार
गो अग्रम्	रूप सिद्ध होता है।

गोऽग्रम्–'गो+अग्रम्' प्रकृतिभाव के अभाव पक्ष में यथा-प्राप्त 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप एकादेश हो कर 'गोऽग्रम्' रूप सिद्ध होता है।

एङन्तस्य किम्–सूत्र की वृत्ति में एङन्त को 'गो' का विशेषण बनाया गया है। इसका प्रयोजन यह है कि जहाँ 'गो' पद एङन्त हो वहीं पर प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति हो, अन्यत्र नहीं। **जैसे**– 'चित्रगु+अग्रम्' यहाँ 'चित्रगु' शब्द मूलत 'गो' को ह्रस्व होकर बना है। यदि एङन्त विशेषण न रखते तो 'एकदेशविकृत' न्याय से 'चित्रगु' पद भी 'गो' अन्त

---

१. 'प्रकृतिभाव' से अभिप्राय यह है कि जो शब्द जैसा है वह वैसा ही रहता है, तथा संहिता (सन्धि) की स्थिति बनने पर भी उसके स्वरूप में सन्धि से होने वाले परिवर्तन या कार्य नहीं होते।

वाला मान लिया जाता और यहाँ भी 'प्रकृतिभाव' विकल्प से होने लगता, जो कि अनिष्ट होता। चूँकि 'चित्रगु' शब्द ओकारान्त (एङन्त) नहीं है, अतः 'प्रकृतिभाव' नहीं होता। परिणामस्वरूप 'इको यणचि' से यणादेश होकर **चित्रग्वग्रम्** रूप सिद्ध होता है।

पदान्ते किम्—सूत्र में 'पदान्तात्' पद की अनुवृत्ति का क्या प्रयोजन है? इस शंका का समाधान करने हेतु वरदराज ने '**गोः**' उदाहरण को उपस्थित किया है। 'गोः' इसमें 'गो+अस् (ङस्) ' इसी स्थिति में एङन्त 'गो' से ह्रस्व अकार परे रहते भी प्रकृतिभाव न हो, क्योंकि यहाँ 'गो' की 'पद' संज्ञा नहीं है। इसलिए 'ङसिङसोश्च' से पूर्वरूप एकादेश, सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर '**गोः**' रूप सिद्ध होता है।

४५. अनेकाल् शित् सर्वस्य १।१।५५

इति प्राप्ते-

प०वि०—अनेकाल् १।१।। शित् १।१।। सर्वस्य ६।१।। **अनु०**—षष्ठी।

यह सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' का अपवाद है, जिसका आशय है कि षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट स्थानी को होने वाला कार्य (आदेश) अन्तिम 'अल्' के स्थान में होता है।

अर्थ—षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट (स्थानी) के स्थान में होने वाला आदेश यदि अनेकाल् (एक से अधिक वर्ण वाला) हो या 'शित्' (जिसका शकार 'इत्' संज्ञक हो वह) हो तो वह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है, अन्तिम 'अल्' के स्थान पर नहीं।

४६. ङिच्च १।१।५३

ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात्।

प०वि०—ङित् १।१।। च अ०।। **अनु०**—अलः, अन्त्यस्य, षष्ठी।

यह सूत्र 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' का अपवाद है।

अर्थ—षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट (स्थानी) के स्थान में प्राप्त होने वाला 'ङित्' (जिसके ङकार की इत् संज्ञा हुई हो वह) आदेश अनेकाल् (एक से अधिक अल् वाला) होने पर भी अन्तिम 'अल्' के स्थान पर होता है।

४७. अवङ् स्फोटायनस्य ६।१।१२३

पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वाऽचि। गवाग्रम्, गोऽग्रम्। पदान्ते किम्? गवि।

प०वि०—अवङ् १।१।। स्फोटायनस्य ६।१।। **अनु०**—पदान्ताद्, गोः, अचि, एङः।

अर्थ—एङन्त 'गो' पद से 'अच्' (स्वर) परे हो तो 'गो' को 'अवङ्' आदेश होता है स्फोटायन आचार्य के मत में, अर्थात् विकल्प से।

'अवङ्' आदेश 'ङित्' होने के कारण 'ङिच्च' से अन्तिम 'अल्' ओकार के स्थान में होता है।

गवाग्रम्

गो अग्रम्	'अवङ् स्फोटायनस्य' से एङन्त 'गो' पद से 'अच्' परे रहते 'गो' को 'अवङ्' आदेश हुआ, स्फोटायन आचार्य के मत में अर्थात् विकल्प से। 'अवङ्' आदेश अनेकाल् होने पर भी 'ङित्' होने के कारण 'ङिच्च' से अन्तिम अल् 'ओ' के स्थान पर हुआ
ग् अवङ् अग्रम्	'हलन्त्यम्' से ङकार की इत् संज्ञा और 'तस्य लोपः' से उसका लोप हुआ
ग् अव अग्रम्	'अकः सवर्णे दीर्घः' से 'अक्' (अ) से उत्तर सवर्ण 'अच्' (अ) परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान में दीर्घ 'आ' एकादेश हुआ
ग् अव् आ ग्रम्	संहिता होने पर
गवाग्रम्	रूप सिद्ध होता है।

गोऽग्रम्

गो अग्रम्	जब 'अवङ् स्फोटायनस्य' से 'गो' को वैकल्पिक 'अवङ्' आदेश नहीं हुआ तब 'एङः पदान्तादति' से पदान्त 'एङ्' (ओ) से उत्तर ह्रस्व अकार परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप 'ओ' एकादेश होकर
ग्रोऽग्रम्	रूप सिद्ध होता है

पदान्ते किम्?गवि–इस सूत्र में 'पदान्तात्' पद की अनुवृत्ति का प्रयोजन यह है कि पदान्त में ही 'गो' पद को 'अवङ्' आदेश हो, अपदान्त में नहीं। **जैसे**–'गो+इ' यहाँ 'गो' प्रातिपदिक से परे सप्तमी विभक्ति, एकवचन का 'इ' (ङि) है, अतः 'गो' एङन्त पद नहीं है। 'पद' संज्ञा न होने से 'गो' को 'अवङ्' भी नहीं होगा। इसलिए 'एचोऽयवायावः' से 'ओ' को 'अव्' आदेश होकर 'गवि' रूप बनेगा।

४८. इन्द्रे च ६।१।१२४

गोरवङ् स्याद् इन्द्रे। गवेन्द्रः।

प०वि०–इन्द्रे ७।१।। च अ०।। **अनु०**–गोः, अवङ्, अचि, एङः।

अर्थ–एङन्त 'गो' पद से 'इन्द्र' शब्द परे हो (इन्द्र सम्बन्धी अच् परे हो) तो 'गो' शब्द को 'अवङ्' आदेश होता है।

यहाँ 'अवङ् स्फोटायनस्य' से विकल्प से 'अवङ्' आदेश पहले ही प्राप्त था, पुनः इस सूत्र का विधान 'इन्द्र' परे रहते विकल्प की निवृत्ति के लिए है।[1]

---

१. विकल्पनिवृत्त्यर्थः पुनरारम्भः। बा० म०

गवेन्द्रः	(गायों का स्वामी)
गो इन्द्रः	'इन्द्रे च' से एङन्त 'गो' शब्द से 'इन्द्र' शब्द का 'अच्' (इ) परे रहते 'गो' को 'अवङ्' आदेश हुआ। 'ङिच्च' से 'ङित्' होने के कारण 'अवङ्' आदेश अन्तिम 'अल्' ओकार के स्थान में हुआ
ग् अवङ् इन्द्रः	अनुबन्ध-लोप
गव इन्द्रः	'आद् गुणः' से अवर्ण से 'अच्' (इकार) परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर गुण एकादेश, 'स्थानेऽन्तरतमः' से कण्ठतालव्य 'ए' गुण होकर
गवेन्द्रः	रूप सिद्ध होता है।

४९. दूराद्धूते च ८।२।८४

दूरात् सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा स्यात्।

प०वि०—दूरात् ५।१।। हूते ७।१।। च अ०।। **अनु०**—वाक्यस्य, टेः, प्लुतः, उदात्तः।

अर्थ—दूर से आह्वान करने (पुकारने) पर वाक्य के 'टि' भाग को विकल्प से 'प्लुत' और उदात्त होता है।

यथा—**'आगच्छ कृष्ण ३'** इस वाक्य में 'टि' भाग णकार से उत्तरवर्ती अकार है, उसको ही 'प्लुत' हो गया है।

विशेष—सम्बोधन पद से युक्त वाक्य में यदि सम्बोध्यमान पद (सम्बोधन पद) वाक्य के अन्त में होगा तभी उस वाक्य के 'टि' भाग को प्लुत होगा, अन्यथा नहीं। जैसे—'कृष्ण आगच्छ' यहाँ सम्बोधन पद वाक्य के प्रारम्भ में आया है इसलिए यहाँ वाक्य के 'टि' भाग को प्लुत नहीं होता।[1]

५०. प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२५

एतेऽचि प्रकृत्या स्युः। आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति।

प०वि०—प्लुतप्रगृह्याः १।३।। अचि ७।१।। नित्यम् अ०।। **अनु०**—प्रकृत्या।

अर्थ—प्लुत और प्रगृह्य से 'अच्' परे हो तो प्लुत और प्रगृह्य को प्रकृति-भाव होता है, अर्थात् कोई सन्धि कार्य नहीं होता।

आगच्छ कृष्ण ३! अत्र गौश्चरति—इस उदाहरण में दो वाक्य मिले हुए हैं। प्रथम वाक्य **'आगच्छ कृष्ण ३!'** में 'कृष्ण' पद सम्बोधन में प्रयुक्त हुआ है। इस वाक्य के द्वारा कृष्ण का आह्वान किया जा रहा है। इसीलिए **कृष्ण** के णकार से उत्तरवर्ती अकार की 'टि' संज्ञा होने के कारण 'दूराद्धूते च' से **'अ३'** प्लुत हुआ है और उससे परे 'अत्र'

---

१. दूरादाह्वाने वाक्यस्यान्ते यत्र सम्बोधनपदं भवति तत्रायं 'प्लुत इष्यते'। का० वृ०

का 'अ' स्वर है। प्लुत अकार के साथ ह्रस्व अकार की सवर्ण संज्ञा होने के कारण 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश प्राप्त था, जिसे बाधकर प्रकृत सूत्र के द्वारा प्लुत 'अ३' से 'अच्' परे होने पर प्लुत को प्रकृतिभाव (सन्धि-कार्य का निषेध) हो गया।

'प्रगृह्य' के उदाहरण अग्रिम सूत्रों में दिखाए जाएंगे–

५१. ईदूदेद्द्विवचनम् प्रगृह्यम् १।१।११

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्। हरी एतौ। विष्णू इमौ। गङ्गे अमू।

प०वि०–ईदूदेत् १।१।। द्विवचनम् १।१।। प्रगृह्यम् १।।१।।

अर्थ–ईकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त द्विवचन की 'प्रगृह्य' संज्ञा होती है। अर्थात् ईकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त जो द्विवचनान्त शब्द उनकी 'प्रगृह्य' संज्ञा होती है।

हरी एतौ (ये दो सिंह हैं)

हरी एतौ यहाँ 'इको यणचि' से यणादेश प्राप्त हुआ, परन्तु 'हरी' शब्द दीर्घ ईकारान्त द्विवचनान्त है, इसीलिए इसकी 'ईदूदेद्द्विवचनं०' से 'प्रगृह्य' संज्ञा होने पर 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से 'अच्' परे रहते 'प्रगृह्य' को 'प्रकृतिभाव' हो गया अर्थात् कोई सन्धि कार्य नहीं हुआ। इस प्रकार

हरी एतौ रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार **विष्णू इमौ** तथा **गङ्गे अमू** इन दोनों उदाहरणों में 'विष्णू' तथा 'गङ्गे' दोनों ही पद क्रमशः दीर्घ ऊकारान्त तथा एकारान्त द्विवचनान्त हैं, इसलिए इन दोनों की 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' से 'प्रगृह्य' संज्ञा होने पर 'हरी एतौ' के समान 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से 'प्रगृह्य' से 'अच्' परे रहते 'प्रगृह्य' को 'प्रकृतिभाव' ही होगा, सन्धि कार्य नहीं होंगे।

५२. अदसो मात् १।१।१२

अस्मात् परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः। अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते। मात् किम्? अमुकेऽत्र।

प०वि०–अदसः ६।१।। मात् ५।१।। **अनु०**–ईदूत्, प्रगृह्यम्।

अर्थ–अदस्-सम्बन्धी मकार से उत्तर दीर्घ ईकार और ऊकार हो तो उनकी 'प्रगृह्य' संज्ञा होती है।

अमी ईशाः (ये सब देवगण हैं)

अमी ईशाः यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश प्राप्त था, किन्तु 'अदसो मात्' से 'अदस्' सम्बन्धी मकार से उत्तर ईकार की अर्थात् 'अमी' के ईकार की 'प्रगृह्य' संज्ञा होने से दीर्घ एकदेश को बाधकर 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से 'अच्' परे रहते

'प्रगृह्य' को प्रकृतिभाव हुआ और कोई सन्धि-कार्य नहीं हुआ, इस प्रकार

अमी ईशा: रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार **रामकृष्णावमू आसाते** में 'अमू' पद 'अदस्' शब्द का प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के द्विवचन का रूप है। इसमें 'अदसो मात्' सूत्र से मकार से उत्तर दीर्घ ऊकार की 'प्रगृह्य' संज्ञा होने से 'प्लुतप्रगृह्या अचि०' से 'प्रगृह्य' से उत्तर 'अच्' होने पर पूर्ववत् प्रकृतिभाव होगा, सन्धि-कार्य नहीं होंगे।

मात् किम्—सूत्र में 'मात्' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि यदि 'अदस:' इतना ही सूत्र बनाया जाए तो 'ईदूदेत्०' इत्यादि सूत्र से **ईदूदेत्** की अनुवृत्ति होने से 'अमुके' इत्यादि में 'अदस्' से उत्तर एकार भी मिलता है अत: अदस्सम्बन्धी एकारान्त द्विवचन 'अमुके' की भी 'प्रगृह्य' संज्ञा प्राप्त होने से 'अमुके+अत्र' इत्यादि स्थलों में भी सन्धि-कार्य का निषेध होकर प्रकृतिभाव होने लगेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

'मात्' पद के ग्रहण से 'अमुके+अत्र' यहाँ अदस् सम्बन्धी मकार से उत्तर एकार नहीं होने से 'अमुके' की 'प्रगृह्य' संज्ञा नहीं होती, इसलिए 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप एकादेश होकर **'अमुकेऽत्र'** सिद्ध होता है।

५३. चादयोऽसत्त्वे[1] १।४।५७

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाता: स्यु:।

प०वि०—चादय: १।३।। असत्त्वे ७।१।। **अनु०**—निपाता:।

अर्थ—चादि गण में पठित असत्त्ववाची अर्थात् अद्रव्यवाची शब्द 'निपात' संज्ञक होते हैं।

विशेष—पाणिनि द्वारा प्रणीत व्याकरण के पाँच ग्रन्थों में से एक 'गणपाठ' है। जिसमें मुख्य रूप से शब्दों का पाठ गणों अर्थात् शब्द-समूहों के रूप में किया गया है। इन गणों (शब्द समूहों) का नामकरण प्रत्येक गण के आदि-शब्द के नाम पर किया गया है। ऐसा ही एक शब्द-समूह 'च' शब्द से आरम्भ होता है जो 'चादिगण' नाम से जाना जाता है। उसी का संकेत इस सूत्र में 'चादि' से किया गया है।

५४. प्रादय: १।४।५८

एतेऽपि तथा।

प०वि०—प्रादय: १।३।। **अनु०**—असत्त्वे, निपाता:।

अर्थ—असत्त्व अर्थात् द्रव्यभिन्न अर्थ में 'प्र' आदि गण में पठित शब्द 'निपात' संज्ञक होते हैं।

---

१. 'लिङ्गसंख्याकारकान्वितं द्रव्यम्।' –बा० म०

'प्र' आदि के अन्तर्गत २२ शब्दों का समावेश किया गया है, जो ये हैं–प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुष्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि और उप।

५५. निपात एकाजनाङ् १।१।१४

एकोऽज् निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात्। इ इन्द्रः। उ उमेशः। वाक्य-स्मरणयोरङित्–आ एवं नु मन्यसे, आ एवं किल तत्। अन्यत्र ङित्–ईषदुष्णम्–ओष्णम्।

प०वि०–निपातः १।१।। एकाच् १।१।। अनाङ् १।१।। **अनु०**–प्रगृह्यम्।

अर्थ–'आङ्' भिन्न जो एक अच्रूप निपात उसकी 'प्रगृह्य' संज्ञा होती है।

सूत्र में पठित 'एकाच्' पद में 'एकोऽच् यस्य यस्मिन् तत्' ऐसा बहुव्रीहि समास नहीं है, अपितु 'एकश्चासौ अच् इति एकाच्' इस प्रकार कर्मधारय समास है। इसका प्रयोजन यह है कि केवल एक अच्रूप निपात की 'प्रगृह्य' संज्ञा हो, एकाच् समुदाय, जैसे–प्र, सम्, निर्, निस् इत्यादि की 'निपात' संज्ञा न हो।

इ इन्द्रः (अरे! (विस्मय) इन्द्र हैं)

इ इन्द्रः यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त था, परन्तु 'इ' (विस्मयार्थक) की 'चादयोऽसत्त्वे' से 'निपात' संज्ञा है और यह एक अच्मात्र है, इसलिए 'निपात एकाजनाङ्' से इसकी 'प्रगृह्य' संज्ञा होने पर 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से 'अच्' परे रहने पर 'प्रगृह्य' संज्ञक 'इ' को प्रकृतिभाव होने से सन्धि कार्य नहीं होता इस प्रकार

इ इन्द्रः सिद्ध होता है।

इसी प्रकार '**उ उमेशः**' में भी 'चादयोऽसत्त्वे' से 'उ' की निपात संज्ञा, 'निपात एकाजनाङ्' से 'उ' की 'प्रगृह्य' संज्ञा तथा 'प्लुतप्रगृह्या अचि०' से पूर्ववत् प्रकृतिभाव ही होगा, सन्धि कार्य नहीं।

वाक्यस्मरणयोरङित्–गणपाठ में 'आ' निपात का दो बार पाठ किया गया है। एक बार ङकार अनुबन्ध सहित अर्थात् 'आङ्' और दूसरी बार ङकार अनुबन्ध रहित अर्थात् 'आ'। सूत्र में 'अनाङ्' कहकर **चादि गण** में पठित ङकार अनुबन्ध रहित वाक्य एवं स्मरणार्थक 'आ' निपात की 'प्रगृह्य' संज्ञा का विधान किया गया है, ईषदाद्यर्थक[1] 'आङ्' का नहीं। **यथा–'आ एवं नु मन्यसे'** तथा **'आ एवं किल तत्'** इत्यादि में प्रयुक्त 'आ' वाक्य में तथा स्मरण अर्थ में होने से 'प्रगृह्य' संज्ञक हैं, इसलिए प्रकृतिभाव होने से कोई सन्धि कार्य नहीं होता।

---

१. ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित्।। का० १।१।१४

ओष्णम् ईषदुष्णम् (थोड़ा गर्म)

आ उष्णम् यहाँ 'चादयोऽसत्त्वे' से 'आ' यद्यपि 'निपात' संज्ञक है और एकाच् भी, परन्तु ङित् (आङ्) होने के कारण उसकी 'प्रगृह्य' संज्ञा नहीं होती; क्योंकि यहाँ 'आङ्' न तो वाक्य में है और न ही स्मरणार्थक: अपितु **ईषदर्थक** है इसलिए 'आद् गुण:' से अवर्ण से अच् परे रहते पूर्व 'आ' और पर 'उ' के स्थान में गुण, 'स्थानेऽन्तरतम:' से 'ओ' एकादेश होकर

ओष्णम् रूप सिद्ध होता है।

५६. ओत् १।१।१५

ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः। अहो ईशाः।

प०वि०—ओत् १।१।। **अनु०**—निपात:, प्रगृह्य:।

अर्थ—ओकारान्त ('ओ' अन्त वाले) निपात 'प्रगृह्य' संज्ञक होते हैं।

अहो ईशाः (अहो! देवगण हैं)

अहो ईशाः 'अहो' शब्द चादिगण में पठित है तथा यह द्रव्यवाची भी नहीं है, इसलिए इसकी 'चादयोऽसत्त्वे' से 'निपात' संज्ञा है। ओकारान्त होने के कारण इसकी 'ओत्' से 'प्रगृह्य' संज्ञा भी हो जायेगी, इसलिए 'एचोऽयवायाव:' से प्राप्त होने वाले अयादि आदेश को बाधकर 'प्लुतप्रगृह्या०' से 'अच्' परे रहते प्रगृह्य को प्रकृतिभाव होने से कोई सन्धि-कार्य नहीं होता, इस प्रकार

अहो ईशाः रूप सिद्ध होता है।

विशेष—पूर्वसूत्र से एक अच्रूप निपात की 'प्रगृह्य' संज्ञा का विधान होने के कारण अनेक अच् वाले 'आहो', 'उताहो' इत्यादि निपातों की 'प्रगृह्य' संज्ञा नहीं हो सकती थी, जिसका इस सूत्र के द्वारा विधान किया गया है।

५७. सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १।१।१६

सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे। विष्णो इति। विष्ण इति। विष्णविति।

प०वि०—सम्बुद्धौ ७।१।। शाकल्यस्य ६।१।। इतौ ७।१।। अनार्षे ७।१।। **अनु०**—ओत्, प्रगृह्यम्।

अर्थ—अनार्ष अर्थात् अवैदिक 'इति' शब्द परे रहते सम्बुद्धि-निमित्तक ओकार (सम्बोधन के एकवचन को निमित्त मानकर जो ओकार बना है) की 'प्रगृह्य' संज्ञा होती है, शाकल्य आचार्य के मत में अर्थात् विकल्प से।

विष्णो इति (हे विष्णु! इस प्रकार)

विष्णो इति यहाँ 'विष्णो' पद सम्बोधन के एकवचन में 'ह्रस्वस्य गुणः' से सम्बुद्धि को निमित्त मानकर 'विष्णु' के उकार को गुण होकर बना है, इसलिए यहाँ 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' से 'विष्णो' के ओकार की शाकल्य आचार्य के मत में 'प्रगृह्य' संज्ञा हो जायेगी। 'प्रगृह्य' संज्ञा होने से 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव होने से 'एचोऽयवायावः' से प्राप्त सन्धि-कार्य नहीं होता, इस प्रकार

विष्णो इति रूप सिद्ध होता है।

विष्ण इति

विष्णो इति जब 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्य०' से विकल्प से प्राप्त होने वाली 'प्रगृह्य' संज्ञा नहीं हुई तो 'एचोऽयवायावः' से 'अच्' परे रहते 'ओ' को 'अव्' आदेश हुआ

विष्णव् इति 'लोपः शाकल्यस्य' से अवर्णपूर्वक पदान्त वकार का 'अश्' परे रहते विकल्प से लोप हुआ

विष्ण इति यहाँ 'आद् गुणः' से गुण प्राप्त हुआ, परन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' से 'आद् गुणः' (६.१.८७) सपादसप्ताध्यायी के सूत्र की दृष्टि में त्रिपादी के सूत्र 'लोपः शाकल्यस्य' (८.३.१९) के असिद्ध हो जाने पर अवर्ण से 'अच्' परे नहीं मिलता तथा 'आद् गुणः' की प्रवृत्ति नहीं होती, इस प्रकार

विष्ण इति रूप सिद्ध होता है।

विष्णविति

विष्णो इति जिस पक्ष में 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्य०' से सम्बुद्धिनिमित्तक ओकार की 'प्रगृह्य' संज्ञा नहीं होगी तो 'एचोऽयवायावः' से अवादेश होगा

विष्णव् इति जिस पक्ष में 'लोपः शाकल्यस्य' से वकार का वैकल्पिक लोप नहीं होगा तो संहिता होने पर

विष्णविति रूप सिद्ध होगा।

५८. मय उञो वो वा। ८।३।३३

मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि। किम्वुक्तम्, किमु उक्तम्।

प०वि०–मयः ५।१।। उञः ६।१।। वः १।१।। वा अ०।। अनु०–अचि।

अर्थ–'मय्' से उत्तर 'उञ्' (उ) के स्थान पर विकल्प से 'व्' आदेश होता है 'अच्' परे रहते।

किम्वुक्तम् (क्या कहा?)

किम् उ उक्तम् — यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घादेश प्राप्त था, जिसका 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से बाध हो गया। 'चादयोऽसत्त्वे' से 'उञ्' की 'निपात' संज्ञा तथा 'निपात एकाज०' से एकाच् निपात होने से 'प्रगृह्य' संज्ञा भी है, इसलिए अच् परे रहते प्रगृह्य को 'प्रकृतिभाव' अर्थात् सन्धि-कार्य का निषेध होने लगा, तब प्रकृतिभाव का अपवाद होने के कारण 'मय उञो वो वा' से 'मय्' (मकार) से उत्तर 'उञ्' (उ) को विकल्प से वकार आदेश हुआ, अच् परे रहते

किम् व् उक्तम् — संहिता होने पर 'मोऽनुस्वारः' से 'हल्' परे रहते पदान्त मकार को अनुस्वार प्राप्त हुआ, 'पूर्वत्रासिद्धम्' के कारण 'मोऽनुस्वारः' (८.३.२३) की दृष्टि में 'मय उञो०' (८.३.३३) से किया गया वकार आदेश त्रिपादी में पर सूत्र का कार्य होने से असिद्ध होता है, अर्थात् 'मोऽनुस्वारः' की दृष्टि में वकार के स्थान पर उकार ही प्रतीत होता है। इस प्रकार मकार से परे 'हल्' नहीं मिलता और 'मोऽनुस्वारः' भी प्रवृत्त नहीं होता। संहिता होने पर

किम्वुक्तम् — रूप सिद्ध होता है।

किमु उक्तम्—'किम्+उ+उक्तम्' में जब 'मय उञो वो वा' से वैकल्पिक वकार आदेश नहीं हुआ तो 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से 'प्रगृह्य' संज्ञक उकार को 'अच्' परे रहते प्रकृतिभाव हुआ अर्थात् कोई सन्धि-कार्य नहीं हुआ। इस प्रकार **'किमु उक्तम्'** रूप सिद्ध हुआ।

५९. इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६।१।१२७

पदान्ता इको ह्रस्वा वा स्युरसवर्णेऽचि। ह्रस्वविधानसामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः। चक्रि अत्र, चक्र्यत्र। पदान्ता इति किम्? गौर्यौ। (वा०)—न समासे। वाप्यश्वः।

प०वि०—इकः ६।१।। असवर्णे ७।१।। शाकल्यस्य ६।१।। ह्रस्वः १।१।। च अ०।।

अनु०—पदान्तात्, अचि।

अर्थ—पदान्त 'इक्' को विकल्प से ह्रस्व होता है, असवर्ण 'अच्' परे रहते। 'इक्' को ह्रस्व होगा तो ह्रस्व विधान सामर्थ्य से जब अन्य सन्धि-कार्य नहीं होंगे।

जैसे—

चक्रि अत्र (कृष्ण यहाँ हैं)

चक्री अत्र — यहाँ 'इको यणचि' से यणादेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' से पदान्त 'इक्' (ई) से

	उत्तर असवर्ण 'अच्' (अ) परे रहते 'इक्' (ई) के स्थान में विकल्प से ह्रस्व 'इ' आदेश हुआ
चक्रि अत्र	यहाँ पुनः 'इको यणचि' से यणादेश प्राप्त हुआ, जो ह्रस्व विधान सामर्थ्य से नहीं होता। आशय यह है कि यदि यहाँ ह्रस्व होने के पश्चात् पुनः 'इको यणचि' की प्रवृत्ति होगी तो ह्रस्व विधान का कोई प्रयोजन नहीं रह जायेगा क्योंकि ह्रस्व करने के पश्चात् और ह्रस्व करने से पहले दोनों ही स्थितियों में यणादेश करने पर एक समान रूप 'चक्र्यत्र' बनता है। फिर भी आचार्य ने ह्रस्व विधान किया है, इससे आचार्य यह ज्ञापित करना चाहते हैं, कि जहाँ ह्रस्व विधान किया है वहाँ ह्रस्व ही रहता है अन्य सन्धि-कार्य नहीं होते। यही आचार्य का विधान सामर्थ्य है। संहिता होने पर
चक्रि अत्र	रूप सिद्ध होता है।
चक्र्यत्र	
चक्री अत्र	जब 'इकोऽसवर्णे॰' सूत्र से ह्रस्व नहीं हुआ तो 'इको यणचि' से यणादेश होकर
चक्र्यत्र	रूप सिद्ध होता है।

पदान्ता इति किम्—यह सूत्र पदान्त इक् को ही ह्रस्व करता है, अपदान्त इक् को नहीं। इसका प्रयोजन यह है कि **'गौरी+औ'** इत्यादि में विकल्प से ह्रस्व आदेश न हो, केवल नित्य ही यणादेश होकर 'गौर्यौ' यही रूप बने। यदि 'पदान्तात्' की अनुवृत्ति इस सूत्र में न लाते तो यहाँ अपदान्त में भी 'गौरी' के ईकार को विधान सामर्थ्य से ह्रस्व हो जाता और **'गौरि+औ'** यह अनिष्ट रूप बनता है। इसी अनिष्टापत्ति को रोकने के लिए पदान्त में ह्रस्व विधान किया गया।

(वा॰) न समासे–अर्थ–'इकोऽसवर्णे॰' सूत्र से असवर्ण 'अच्' परे रहते पदान्त 'इक्' के स्थान में विहित ह्रस्व, समास से नहीं होता।

उदाहरण–वाप्यश्वः।

वाप्यश्वः	(वाप्यामश्वः) लौ॰ वि॰
वापी ङि अश्व सु	'सप्तमी शोण्डैः' से समास, कृत्तद्धितसमा॰' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्ति-लुक् इत्यादि होने पर
वापी अश्व	'इकोऽसवर्णे॰' से पदान्त 'इक्' (ई) से असवर्ण 'अच्' (अ) परे रहते शाकल्याचार्य के मत में विकल्प से ह्रस्वादेश प्राप्त हुआ, जिसका समास के मध्य में होने के कारण (वा॰)– 'न

	समासे' से निषेध हो गया और 'इको यणचि' से नित्य यणादेश होकर स्वाद्युत्पत्ति होने पर 'सु' के स्थान में रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर
वाप्यश्वः	रूप सिद्ध होता है।

६०. अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। गौर्य्यौ।

प०वि०—अचः ५।१।। रहाभ्याम् ५।२।। द्वे १।२।। **अनु०**—यरः, वा।

अर्थ—'अच्' से उत्तर जो रेफ अथवा हकार, उससे उत्तर 'यर्' को विकल्प से द्वित्त्व होता है।

गौर्य्यौ	(प्र०वि०, द्वि व० में 'औ' परे रहने पर)
गौरी औ	यहाँ 'इको यणचि' से 'अच्' परे रहते ईकार के स्थान में यणादेश (य्) हुआ
गौर् य् औ	यहाँ 'अच्' (औ) से उत्तर रेफ तथा उससे परे 'यर्' अर्थात् यकार है, अतः 'अचो रहाभ्यां द्वे' से 'यर्' को विकल्प से द्वित्त्व हुआ
गौर् य् य् औ	संहिता होने पर 'जलतुम्बी न्याय' से रेफ का ऊर्ध्व गमन होकर
गौर्य्यौ	रूप सिद्ध होता है

६१. ऋत्यकः ६।१।१२८

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद् वा। ब्रह्मऋषिः, ब्रह्मर्षिः। पदान्ताः किम्? आर्च्छत्।

इति अच्सन्धिः।

प०वि०—ऋति ७।१।। अकः ६।१।। **अनु०**—पदान्तात्, शाकल्यस्य, ह्रस्वः।

अर्थ—ह्रस्व ऋकार परे रहते पदान्त 'अक्' को शाकल्य आचार्य के मत में अर्थात् विकल्प से ह्रस्व होता है।

ब्रह्मऋषिः	
ब्रह्मा ऋषिः	यहाँ 'आद् गुणः' से अवर्ण से उत्तर 'अच्' परे रहते गुण प्राप्त था, जिसे बाधकर 'ऋत्यकः' से ह्रस्व ऋकार परे रहते पदान्त 'अक्' (आकार) के स्थान में विकल्प से ह्रस्व (अकार) आदेश हुआ
ब्रह्म ऋषिः	ह्रस्व विधान सामर्थ्य से 'आद् गुणः' से गुण नहीं हुआ। इस प्रकार
ब्रह्म ऋषिः	रूप सिद्ध होता है।
ब्रह्मर्षिः	
ब्रह्मा ऋषिः	जब 'ऋत्यकः' से 'अक्' के स्थान में विकल्प से ह्रस्व नहीं

	हुआ तो 'आद् गुणः' से अवर्ण से 'अच्' परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान में गुण एकादेश हुआ। 'उरण् रपरः' से 'अण्' के रपर होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से आकार और ऋकार के स्थान में 'अर्' गुण एकादेश हुआ
ब्रह् म् अर् षिः	संहिता होने पर जलतुम्बी न्याय से रेफ का ऊर्ध्व गमन होकर
ब्रह्मर्षिः	रूप सिद्ध होता है।

पदान्ताः किम्– प्रकृत सूत्र के द्वारा विहित ह्रस्व पदान्त 'अक्' के स्थान में ही होता है, अपदान्त 'अक्' के स्थान में नहीं। **जैसे**–'आ+ऋच्छत्' यहाँ 'आ' (अक्) से उत्तर ह्रस्व ऋकार परे होने पर भी 'ऋत्यकः' से ह्रस्व नहीं होता, क्योंकि यहाँ पदान्त 'अक्' नहीं है। इसलिए 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'प्रार्च्छत्' रूप बनता है।

॥ अच्सन्धिप्रकरण समाप्त ॥

अथ हल्सन्धिप्रकरणम्

६२. स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः। रामश्शेते। रामश्चिनोति। सच्चित्। शार्ङ्गिञ्जय।

प०वि०–स्तोः ६।२।। श्चुना ३।१।। श्चुः १।१।।

अर्थ–सकार और तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) के स्थान में, शकार और चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) के योग में, शकार और चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) आदेश होते हैं।

विशेष–यहाँ स्थानी सकार तथा तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) की संख्या आदेश शकार और चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) की संख्या के समान होने के कारण (आदेश) यथासंख्य अर्थात् क्रमशः प्रथम के स्थान में प्रथम, द्वितीय के स्थान में द्वितीय इत्यादि होते हैं।

यद्यपि निमित्त 'श्चुः' अर्थात् शकार और चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) स्थानी के समान संख्या वाले हैं, तथापि इनमें यथासंख्य की प्रवृत्ति नहीं होती। इसका कारण यह है कि 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' सूत्र की प्रवृत्ति 'अनुदेश' अर्थात् आदेश के सम्बन्ध में होती है। 'अनुदेश' शब्द के कारण स्थानी का आक्षेप स्वतः हो जाता है। जबकि निमित्त के विषय में उपर्युक्त सूत्र किसी प्रकार का कोई विधान नहीं करता।

रामश्शेते	(राम सोता है)
रामस् शेते	'राम' शब्द से प्रथमा-विभक्ति, एक वचन में 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप होने पर यहाँ 'स्तोः श्चुना श्चुः' से शकार और चवर्ग के योग में सकार और तवर्ग के स्थान में शकार और चवर्ग आदेश प्राप्त हुए, स्थानी और आदेश की संख्या समान होने के कारण 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' से प्रथम स्थानी सकार के स्थान में प्रथम आदेश शकार होकर
रामश्शेते	रूप सिद्ध होता है।

रामश्चिनोति–(राम इकट्ठा करता है) 'रामस्+चिनोति', **सच्चित्**–'सत्+चित्' और **शार्ङ्गिञ्जय**–'शार्ङ्गिन्+जय' उदाहरणों में 'स्तोः श्चुना श्चुः' से क्रमशः सकार के स्थान में शकारादेश, तकार (तवर्ग) के स्थान में चकार (चवर्ग) और नकार के स्थान में ञकारादेश होते हैं।

६३. शात् ८।४।४४

शात्परस्य तवर्गस्य श्चुत्वं न स्यात्। विश्नः। प्रश्नः।

प०वि०–शात् ५।१।। **अनु०**–न, तोः, श्चुः।

अर्थ–शकार से उत्तर तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) के स्थान पर चवर्गादेश (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) नहीं होता।

विशेष–यह सूत्र 'स्तोः श्चुना श्चुः' का अपवाद है। 'स्तोः श्चुना०' से शकार का योग होने पर तवर्ग के स्थान मे चवर्ग प्राप्त होता है। यहाँ 'शात्' सूत्र से उसी का निषेध किया गया है।

विश्नः (गति, कथन)

विश् नः यहाँ 'विच्छ्' धातु से 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' से 'नङ्' प्रत्यय होने पर 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' से अनुनासिक ('नङ्') परे रहते 'च्छ्' को 'श्' आदेश होने पर 'विश्+नः' इस स्थिति में स्तोः श्चुना श्चुः' से तवर्ग के पञ्चम वर्ण नकार के साथ शकार का योग होने पर नकार के स्थान में श्चुत्व अर्थात् ञकारादेश प्राप्त था, जिसका 'शात्' सूत्र से शकार से उत्तर तवर्ग (नकार) के स्थान में चवर्ग (ञकार) का निषेध होने पर

विश्नः रूप सिद्ध होता है।

प्रश्नः (पूछना)

प्रश् नः यहाँ भी 'विश्नः' के समान 'प्रच्छ्' धातु से 'नङ्' प्रत्यय होकर 'प्रश्+न' बनने पर 'स्तोः श्चुना श्चुः' से नकार को श्चुत्व अर्थात् ञकार आदेश प्राप्त था, 'शात्' सूत्र से शकार से उत्तर तवर्ग (न्) को चवर्ग (ञ्) का निषेध होकर

प्रश्नः रूप सिद्ध होता है।

६४. ष्टुना ष्टुः ८।४।४१

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात्। रामष्षष्ठः। रामष्टीकते। पेष्टा। तट्टीका। चक्रिण्ढौकसे।

प०वि०–ष्टुना ३।१।। ष्टुः १।१।। **अनु०**–स्तोः।

अर्थ–षकार और टवर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) के योग में, सकार और तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) के स्थान में, षकार और टवर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) आदेश होते हैं।

रामष्षष्ठः (राम छठा है)

रामस् षष्ठः यहाँ 'ष्टुना ष्टुः' से सकार के साथ षकार का योग होने पर सकार के स्थान में ष्टुत्व अर्थात् षकार आदेश होकर

रामष्षष्ठः रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **रामष्टीकते**–'रामस्+टीकते' तथा **पेष्टा**–'पेष्+ता' में क्रमशः सकार के स्थान में षकार तथा तकार के स्थान टकार प्रकृत सूत्र से ही होता है।

चक्रिण्ढौकसे–'चक्रिन्+ढौकसे' में भी तवर्ग (न्) के साथ टवर्ग (ढ) का योग होने पर नकार के स्थान में णकारादेश होकर 'चक्रिण्ढौकसे' रूप सिद्ध होता है।

तट्टीका	(उसकी टीका)
तद् टीका	इस स्थिति में 'ष्टुना ष्टुः' से टवर्ग (ट्) के योग में तवर्ग (द्) के स्थान में टवर्ग का तृतीय वर्ण 'ड्' आदेश हुआ
तड् टीका	'खरि च' से 'खर्' परे रहते झलों के स्थान में 'चर्' आदेश, 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ड्' (झल्) के स्थान में 'ट्' (चर्) होकर
तट्टीका	रूप सिद्ध होता है।

६५. न पदान्ताट्टोरनाम् ८।४।४२

पदान्ताट्टवर्गात्परस्याऽनामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट्सन्तः। षट् ते। पदान्तात् किम्? ईट्टे। टोः किम्? सर्पिष्टमम्। (वा०) अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्। षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः।

प०वि०–न अ०।। पदान्तात् ५।१।। टोः ५।१।। अनाम् लुप्तषष्ठ्यन्त निर्देश।। **अनु०**–स्तोः, ष्टुः।

अर्थ–पदान्त टवर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) से उत्तर सकार तथा नाम्-भिन्न तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) के स्थान में ष्टुत्व अर्थात् षकार और टवर्ग आदेश नहीं होते।

षट्सन्तः	(छह सज्जन)
षड् सन्तः	यहाँ 'ष्टुना ष्टुः' से डकार (टवर्ग) के योग में सकार के स्थान में ष्टुत्व अर्थात् षकारादेश प्राप्त था, 'न पदान्ताट्टोरनाम्' से पदान्त टवर्ग से उत्तर सकार को ष्टुत्व का निषेध हो गया। इसलिए सकार के स्थान में षकारादेश नहीं हुआ
षड् सन्तः	'खरि च' से 'खर्' (सकार) परे रहते 'झल्' अर्थात् ड्कार के स्थान में 'चर्' अर्थात् टकार आदेश होकर
षट्सन्तः	रूप सिद्ध होता है।

षट् ते–'षड्+ते' में भी पूर्ववत् 'न पदान्ताट्टो०' से पदान्त टवर्ग से उत्तर तकार के स्थान में ष्टुत्व का निषेध होने पर तथा 'खरि च' से 'खर्' (त्) परे रहते चर्त्व अर्थात् डकार के स्थान में टकारादेश होकर **'षट् ते'** रूप सिद्ध होता है।

पदान्तात् किम्? सूत्र में **पदान्तात्** इस पद का प्रयोजन यह है कि अपदान्त में

से उत्तर सकार और तवर्ग के स्थान में ष्टुत्व का निषेध न हो। **जैसे**–'ईट्+ते' यहाँ यद्यपि टवर्ग से उत्तर तकार है तथापि पदान्त टवर्ग से उत्तर नहीं है। अतः 'न पदान्ताट्टोरनाम्' से होने वाला ष्टुत्व का निषेध यहाँ नहीं होता और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर **'ईट्टे'** रूप बनता है।

टोः किम्? सूत्र में **'टोः'** पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'ष्टुत्व' का निषेध पदान्त टवर्ग से उत्तर ही हो, षकार से उत्तर न हो। **जैसे–सर्पिष्टमम्**–'सर्पिष्+तमम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से 'तमप्' प्रत्यय परे रहते 'सर्पिष्' की पद संज्ञा होने से 'ष्टुना ष्टुः' से पदान्त षकार से उत्तर तवर्ग (तकार) के स्थान में टवर्ग अर्थात् टकार हो ही जाता है। इस प्रकार **'सर्पिष्टमम्'** रूप सिद्ध होता है।

(वा०)–अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्–इस वार्तिक का आशय यह है कि सूत्र में पढ़े हुए **'अनाम्'** शब्द के साथ **'नवति'** और **'नगरी'** शब्दों को भी रखना चाहिए। इस प्रकार 'न पदान्ताट्टोरनाम्' सूत्र के द्वारा पदान्त टवर्ग से उत्तर सकार और तवर्ग के स्थान में किया गया ष्टुत्व का निषेध 'नाम्', 'नवति' और 'नगरी' से भिन्न सकार और तवर्ग के स्थान पर होता है। जैसे–

षण्णाम्

षड् नाम्	यदि 'न पदान्ताट्टोरनाम्' सूत्र में 'अनाम्' न कहते हो यहाँ भी ष्टुत्व का निषेध हो जाता, जो कि 'अनाम्' कहने से नहीं हुआ इसलिए यहाँ 'ष्टुना ष्टुः' से 'ड्' के योग में 'नाम्' के नकार के स्थान में णकार हुआ
षड् णाम्	'प्रत्यये भाषायाम् नित्यम्' से अनुनासिक आदि प्रत्यय परे रहते 'यर्' के स्थान में नित्य ही अनुनासिक प्राप्त हुआ जो 'स्थानेऽन्तर-तमः' से डकार के स्थान में णकार अनुनासिक होकर
षण्णाम्	रूप सिद्ध होता है।
षण्णवतिः	(छियानवे)
षड् नवतिः	यहाँ 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व प्राप्त था, जिसे बाधकर 'न पदान्ताट्टोरनाम्' से पदान्त टवर्ग (ड्) से उत्तर नाम्-भिन्न तवर्ग (न्) के स्थान पर ष्टुत्व का निषेध हुआ। इस निषेध को **'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्'** (वा०) से सीमित कर दिया गया अर्थात् पदान्त टवर्ग से उत्तर 'नाम्' के समान 'नवति' और 'नगरी' शब्दों के तवर्ग अर्थात् नकारों के स्थान में ष्टुत्व का निषेध नहीं होता। इस प्रकार पुनः 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व अर्थात् 'न्' को 'ण्' आदेश हुआ
षड् णवतिः	'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से अनुनासिक (ण्) परे रहते 'यर्' (ड्) के स्थान में विकल्प से अनुनासिक (ण्) होने पर
षण्णवतिः	रूप सिद्ध होता है।

'षण्णवतिः' के समान ही **'षण्णगर्यः'** रूप भी (वा०) 'अनाम्नवति०' की सहायता से सिद्ध होता है।

६६. तो षि: ८।४।४३

तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम्। सन्षष्ठः।

प०वि०—तोः ६।१।। षि ७।१।। **अनु०**—ष्टुः, न।

यह सूत्र 'ष्टुना ष्टुः' का अपवाद है। 'ष्टुना ष्टुः' से षकार के योग में तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) के स्थान में टवर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) प्राप्त होते हैं, उसी का यहाँ निषेध किया गया है।

अर्थ—तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) से उत्तर षकार परे रहते तवर्ग के स्थान पर टवर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) आदेश नहीं होते।

सन्षष्ठः

सन् षष्ठः	यहाँ 'ष्टुना ष्टुः' से षकार के योग में तवर्ग (न्) के स्थान में टवर्ग (ण्) प्राप्त था, 'तोः षि' से षकार परे होने पर तवर्ग (नकार) को ष्टुत्व (टवर्ग) का निषेध होने पर
सन्षष्ठः	रूप ही रहता है।

६७. झलां जशोऽन्ते ८।२।३९

पदान्ते झलां जशः स्युः। वागीशः।

प० वि०—झलाम् ६।३।। जशः १।३।। अन्ते ७।१।। **अनु०**—पदस्य।

अर्थ—पदान्त में झलों (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण और श्, ष्, स्, ह्) के स्थान में 'जश्' (वर्गों के तृतीय वर्ण) आदेश होते हैं।

वागीशः	(बृहस्पति)
वाक् ईशः	'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'वाक्' की सुबन्त होने के कारण 'पद' संज्ञा है, तथा 'क्' वर्ण 'झल्' प्रत्याहार में आता है, इसीलिए 'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त 'झल्' के स्थान में 'जश्' प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से कण्ठ्य 'झल्' वर्ण ककार के स्थान में सदृशतम 'जश्' कण्ठ्य गकार आदेश हुआ
वाग् ईशः	संहिता होने पर
वागीशः	रूप सिद्ध होता है।

६८. यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५

यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्। एतन्मुरारिः, एतद्मुरारिः। (वा०) प्रत्यये भाषायां नित्यम्। तन्मात्रम्। चिन्मयम्।

प०वि०—यरः ६।१।। अनुनासिके ७।१।। अनुनासिकः १।१।। वा अ०।।

अनु०—पदान्तात्।

अर्थ—पदान्त 'यर्' (हकार को छोड़कर किसी भी व्यंजन) से अनुनासिक परे हो तो 'यर्' के स्थान में विकल्प से अनुनासिक आदेश होता है।

एतन्मुरारिः (यह विष्णु)

एतद् मुरारिः 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से पदान्त 'यर्' (दकार) से उत्तर अनुनासिक व्यञ्जन मकार परे होने पर दकार के स्थान में विकल्प से अनुनासिक आदेश प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से तवर्ग के तृतीय वर्ण दकार के स्थान में तवर्ग का पञ्चम अनुनासिक वर्ण नकारादेश हुआ

एतन् मुरारिः संहिता होने पर

एतन्मुरारिः रूप सिद्ध होता है।

एतद्मुरारिः— अनुनासिक अभाव पक्ष में 'एतद्मुरारिः' रूप ही रहता है।

(वा०) प्रत्यये भाषायां नित्यम्—अर्थ—भाषा में अर्थात् लौकिक संस्कृत भाषा में अनुनासिकादि प्रत्यय परे रहते पदान्त 'यर्' के स्थान में नित्य अनुनासिक आदेश होता है।

यह वार्त्तिक 'यरोऽनुनासिके०' सूत्र से प्राप्त विकल्प का अपवाद है।

तन्मात्रम् (उतने ही)

तद् मात्रम् 'तद्' प्रातिपदिक से 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' से प्रमाण अर्थ में तद्धित संज्ञक 'मात्रच्' प्रत्यय होने पर 'तद् + मात्रम्' यहाँ 'मात्रच्' प्रत्यय परे रहते 'तद्' की 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से 'पद' संज्ञा है, इसलिए यहाँ 'यरोऽनु०' से विकल्प से अनुनासिक प्राप्त था, जिसे बाधकर 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' से अनुनासिकादि प्रत्यय (मात्रच्) परे रहते पदान्त 'यर्' (दकार) को नित्य ही अनुनासिक आदेश प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से तवर्ग का पञ्चम वर्ण नकारादेश होने पर

तन्मात्रम् सिद्ध होता है।

चिन्मयम् (चेतनस्वरूप)

चिद् मयम् यहाँ 'मयट्' प्रत्यय है, इसलिए यहाँ भी 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से स्वादि प्रत्यय 'मयट्' परे रहते 'चिद्' की 'पद' संज्ञा होने पर 'यरोऽनुनासिके०' से प्राप्त वैकल्पिक अनुनासिक आदेश को बाधकर 'तन्मात्रम्' के समान 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' वार्त्तिक

	से अनुनासिक आदि प्रत्यय परे रहते पदान्त 'यर्' (द्) को नित्य अनुनासिक (न्) आदेश होकर
चिन्मयम्	सिद्ध होता है।

६९. तोर्लि: ८।४।६०

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्ण:। तल्लय:। विद्वाल्ँलिखति। नस्यानुनासिको ल:।

प०वि०–तो: ६।१।। लि ७।१।। **अनु०**–परसवर्ण:।

अर्थ–लकार परे रहते तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) के स्थान पर परसवर्ण आदेश होता है।

तल्लय:	(उसका विलय:)
तद् लय:	यहाँ 'तोर्लि' से तवर्ग (द्) से लकार परे रहते तवर्ग (दकार) के स्थान में परसवर्ण अर्थात् लकार आदेश हुआ, इस प्रकार संहिता होने पर
तल्लय:	रूप सिद्ध होता है।
विद्वाल्ँलिखति	(विद्वान् लिखता है)
विद्वान् लिखति	'तोर्लि' से लकार परे रहते तवर्ग अर्थात् नकार के स्थान में परसवर्ण अर्थात् लकार का सवर्ण आदेश प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतम:' से अनुनासिक नकार के स्थान में अनुनासिक 'ल्ँ' आदेश होकर
विद्वाल्ँलिखति	रूप सिद्ध होता है।

विशेष–व्यञ्जनों में केवल 'य्', 'व्' और 'ल्' ही ऐसे व्यञ्जन हैं जिनके सानुनासिक और निरनुनासिक दोनों भेद होते हैं। इसलिए अनुनासिक नकार के स्थान में सदृशतम परसवर्ण अनुनासिक लकार (ल्ँ) होता है।

७०. उद: स्थास्तम्भो: पूर्वस्य ८।४।६१

उद: परयो: स्थास्तम्भो: पूर्वसवर्ण:।

प०वि०–उद: ५।१।। स्थास्तम्भो: ६।२।। पूर्वस्य ६।१।। **अनु०**–सवर्ण:।

अर्थ–'उद्' उपसर्ग से उत्तर 'स्था' और 'स्तम्भ्' धातु को पूर्वसवर्ण आदेश होता है।

विशेष–'उद्' उपसर्ग के बाद 'स्था' तथा 'स्तम्भ' धातु को पूर्वसवर्ण आदेश 'आदे: परस्य' परिभाषा के अनुसार 'स्था' तथा 'स्तम्भ' के आदि वर्ण 'स्' के स्थान पर होगा। 'स्' से पूर्व वर्ण दकार है, अत: 'स्थानेऽन्तरतम:' से दकार का सवर्ण सकार का अन्तरतम 'थ्' आदेश होगा क्योंकि 'स्' और 'थ्' दोनों के बाह्य प्रत्यन **विवार**, **श्वास**, **अघोष** और **महाप्राण** हैं।

७१. तस्मादित्युत्तरस्य १।१।६७

पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्।

प०वि०—तस्मात् ५।१।। इति अ०।। उत्तरस्य ६।१।। **अनु०**—निर्दिष्टे।

अर्थ—पञ्चमी-निर्देश से किया जाने वाला कार्य अन्य (वर्णों) के व्यवधान से रहित पर के स्थान में होता है।

विशेष—यह परिभाषा सूत्र है। यह 'परिभाषा' सूत्रार्थ प्रक्रिया के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस परिभाषा से यह पता चलता है कि सूत्रों में जहाँ भी किसी पद के साथ पञ्चमी विभक्ति हो वहाँ कार्य उस पञ्चम्यन्त पद के अर्थ के उत्तरवर्ती वर्ण अथवा वर्णसमुदाय में होगा। यदि सरल शब्दों में कहें तो पञ्चमी का अर्थ होगा 'से उत्तर'। **जैसे**—'उदः स्थास्तम्भोः०' सूत्र में 'उदः' में पञ्चमी विभक्ति है जिसका अर्थ होगा—'उद् से उत्तर'।

७२. आदेः परस्य १।१।५३

परस्य यद् विहितं तत् तस्यादेर्बोध्यम्। इति सस्य थः।

प०वि०—आदेः ६।१।। परस्य ६।१।। **अनु०**—अलः।

अर्थ—पर के स्थान पर विधान किया हुआ कार्य उसके आदि 'अल्' के स्थान में होता है।

जैसे—'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' में 'उदः' इस पञ्चम्यन्त पद के द्वारा 'उद्' से उत्तर 'स्था' और 'स्तम्भ' के स्थान पर पूर्वसवर्ण आदेश विधान किया है, जो 'स्थास्तम्भोः' में षष्ठी विभक्ति होने के कारण 'षष्ठी स्थानेयोगा' और 'निर्दिश्यमानस्य आदेशा भवन्ति' परिभाषा के नियम से सम्पूर्ण 'स्था' और 'स्तम्भ्' को प्राप्त होने लगा। तब 'आदेः परस्य' ने नियम बना दिया कि पर को कहा हुआ कार्य सम्पूर्ण शब्द के स्थान में न होकर उसके आदि 'अल्' के स्थान में होता है। इसलिए पूर्व वर्ण दकार का सवर्ण केवल उत्तर-पद के आदि वर्ण सकार के स्थान में थकार आदेश होता है। **उद्+स्थानम्**—'उद् थ् थानम्' यह स्थिति बनती है। इसी प्रकार **उद्+स्तम्भनम्**—'उद् थ् तम्भनम्' स्थिति बनती है।

७३. झरो झरि सवर्णे ८।४।६५

हलः परस्य झरो वा लोपः सवर्णे झरि।

प०वि०—झरः ६।१।। झरि ७।१।। सवर्णे ७।१।। अनु०—अन्यतरस्याम्, हलः, लोपः।

अर्थ—'हल्' (व्यञ्जन) से उत्तर 'झर्' का विकल्प से लोप होता है सवर्ण 'झर्' परे रहते। अर्थात् व्यञ्जन के पश्चात् 'झर्' अर्थात् वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण और श्, ष्, स् हों और उनसे परे उनके सवर्ण हों तो पूर्व वाले 'झर्' का विकल्प से लोप होता है।

विशेष–इस सूत्र का कार्य अग्रिम सूत्र के उदाहरणों की सिद्धि-प्रक्रिया में देखें।

७४. खरि च ८।४।५५

खरि झलां चरः स्युः। इत्युदो दस्य तः–उत्थानम्, उत्तम्भनम्।

प०वि०–खरि ७।१।। च अ०।। **अनु०**–झलाम्, चर्।

अर्थ–'खर्' (वर्गों के प्रथम, द्वितीय वर्ण, श, ष और स्) परे हो तो 'झल्' (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण और श्, ष्, स्, ह्) के स्थान पर 'चर्' (वर्ग के प्रथम वर्ण, श्, ष् और स्) आदेश होते हैं।

उत्थानम्	(उठना)
उद् स्थानम्	'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' से 'उद्' से उत्तर 'स्था' को पूर्वसवर्ण आदेश प्राप्त हुआ, 'आदेः परस्य' से पर को कहा हुआ कार्य आदि 'अल्' सकार के स्थान में दकार का सवर्ण 'स्थानेऽन्तरतमः' से विवार, श्वास, अघोष और महाप्राण प्रयत्न वाला अन्तरतम सवर्ण थकार हुआ
उद् थ्थानम्	'झरो झरि सवर्णे' से 'हल्' (द्) से उत्तर 'झर्' (थ्) का विकल्प से लोप हुआ सवर्ण 'झर्' (थ्) परे रहते
उद् थानम्	'खरि च' से 'खर्' (थ्) परे रहते झलों के स्थान में 'चर्' आदेश, 'स्थानेऽन्तरतमः' से दन्त्य वर्ण दकार के स्थान में अन्तरतम 'चर्' दन्त्य वर्ण तकार आदेश होकर
उत्थानम्	रूप सिद्ध होता है।
उत्तम्भनम्	(रोकना)
उद् स्तम्भनम्	'उदः स्थास्तम्भो० से 'उद्' से उत्तर 'स्तम्भ' को से पूर्ववत् पूर्वसवर्ण प्राप्त होने पर 'आदेः परस्य' से सकार के स्थान में थकार हुआ
उद् थ् तम्भनम्	'झरो झरि सवर्णे' से 'हल्' (द्) से उत्तर 'झर्' (थ्) का सवर्ण 'झर्' तकार परे रहते थकार का विकल्प से लोप हुआ
उद् तम्भनम्	'खरि च' से पूर्ववत् दकार को तकार होकर
उत्तम्भनम्	रूप सिद्ध होता है

विशेष–'उद् थ् तम्भनम्' में जब 'झरो झरि सवर्णे' से थकार का वैकल्पिक लोप नहीं हुआ तो दकार को 'खरि च' से तकार होने पर 'उत् थ् तम्भनम्' यहाँ 'तम्भनम्' का तकार परे रहते 'खरि च' से थकार के स्थान में तकारादेश प्राप्त हुआ, जो नहीं होता। क्योंकि यह थकार 'उदः स्था०' ८।४।६१ सूत्र से सकार के स्थान में हुआ है, जो 'पूर्वत्रासिद्धम्' से त्रिपादी में पूर्ववर्त्ती सूत्र 'खरि च' ८.४.५५ की दृष्टि में असिद्ध हो जाता

है, और 'खर्' से पूर्व 'झल्' (थकार) नहीं मिलता, इसलिए उसके स्थान पर 'चर्' आदेश भी नहीं हो पाता। इस प्रकार **'उत्थ्तम्भनम्'** रूप बनता है।

७५. झयो होऽन्यतरस्याम् ८।४।६२

झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः। नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थः-वाग्घरिः, वाग्हरिः।

प०वि०–झयः ५।१।। हः ६।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। **अनु०**–पूर्वस्य, सवर्णः।

अर्थ–'झय्' (झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्) से उत्तर हकार के स्थान में विकल्प से पूर्वसवर्ण आदेश होता है।

क्योंकि हकार के बाह्य प्रयत्न **संवार, नाद, घोष** और **महाप्राण** हैं, इसलिए उसके स्थान में पूर्वसवर्ण वर्गों के चतुर्थ वर्ण ही होंगे, जिनके बाह्य प्रयत्न हकार के समान **संवार, नाद, घोष** और **महाप्राण** हैं।

वाग्घरिः	(वाणी का चतुर)
वाग् हरिः	'झयो होऽन्यतरस्याम्' से 'झय्' (गकार) से उत्तर हकार को विकल्प से पूर्वसवर्ण आदेश प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से हकार के स्थान में पूर्वसवर्ण संवार, नाद, घोष और महाप्राण कवर्ग का चतुर्थ वर्ण घकार हुआ
वाग् घ् अरिः	संहिता होने पर
वाग्घरिः	रूप सिद्ध होता है।

वाग्हरिः–'झयो होऽन्यतरस्याम्' से जब पूर्वसवर्ण आदेश नहीं हुआ तब 'वाग्हरिः' रूप ही बनता है।

७६. शश्छोऽटि ८।४।६३

झयः परस्य शस्य छो वाऽटि। 'तद्+शिवः' इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते 'खरि च' इति जकारस्य चकारः-तच्छिवः, तच् शिवः।

(वा०) छत्वममीति वाच्यम्। तच्छ्लोकेन।

प०वि०–शः ६।१।। छः १।१।। अटि ७।१।। **अनु०**–पदान्तस्य, झयः, अन्यतरस्याम्।

अर्थ–पदान्त 'झय्' (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण) से उत्तर शकार के स्थान में विकल्प से छकारादेश होता है 'अट्' (कोई भी स्वर और ह्, य्, व्, र्) परे रहते।

तच्छिवः	(उसका शिव)
तद् शिवः	'स्तोः श्चुना श्चुः' से शकार के योग में तवर्ग (दकार) के स्थान में चवर्ग (जकार) आदेश हुआ
तज् शिवः	'खरि च' से 'खर्' (शकार) परे रहते 'झल्' (जकार) के स्थान में 'चर्' (चकार) हुआ

तच् शिवः	'शश्छोऽटि' से पदान्त 'झय्' (च्) से उत्तर शकार के स्थान में विकल्प से छकारादेश हुआ, 'अट्' (इ) परे रहते
त च् छ् इवः	संहिता होने पर
तच्छिवः	रूप सिद्ध होता है।

तच् शिवः–'शश्छोऽटि' से जब छकारादेश नहीं हुआ तो 'तच् शिवः' रूप ही रहा।

(वा०) छत्वममीति वाच्यम्। तच्छलोकेन।

यह वार्तिक इस सूत्र के कार्यक्षेत्र का किञ्चित् विस्तार करता है। इसका आशय यह है कि सूत्र में 'अटि' के स्थान पर 'अमि' कहना चाहिए।

अर्थ–पदान्त 'झय्' से उत्तर शकार के स्थान पर विकल्प से छकार आदेश होता है 'अम्' परे रहते।

तच्छ्लोकेन	(उस श्लोक से)
तद् श्लोकेन	यहाँ 'स्तोः श्चुना श्चुः' से शकार के योग में दकार के स्थान पर जकार तथा 'खरि च' से जकार के स्थान पर चकार हुआ
तच् श्लोकेन	यहाँ 'शश्छोऽटि' से छकारादेश प्राप्त नहीं था, क्योंकि 'ल्' वर्ण 'अट्' प्रत्याहार में नहीं आता, अतः प्रकृत (वा०) **'छत्त्वममीति वाच्यम्'** से 'अम्' (लकार) परे रहते शकार को छकार का आदेश कर दिया। इस प्रकार संहिता होकर
तच्छ्लोकेन	सिद्ध होता है।

७७. मोऽनुस्वारः ८।३।२३

मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि। हरिं वन्दे।

प०वि०–मः ६।१।। अनुस्वारः १।१।। **अनु०**–पदस्य, हलि।

अर्थ–'हल्' (व्यञ्जन) परे रहते पदान्त मकार के स्थान में अनुस्वार आदेश होता है।

हरिं वन्दे	(विष्णु को प्रणाम)
हरिम् वन्दे	यहाँ 'हरिम्' की 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा है, इसलिए 'मोऽनुस्वारः' से 'हल्' (व्) परे रहते पदान्त मकार को अनुस्वार आदेश होकर
हरिं वन्दे	सिद्ध होता है।

७८. नश्चाऽपदान्तस्य झलि ८।३।२४

नस्य मस्य चाऽपदान्तस्य झल्यनुस्वारः। यशांसि, आक्रंस्यते। झलि किम्? मन्यसे।

प०वि०–नः ६।१।। च अ०।। अपदान्तस्य ६।१।। झलि ७।१।। **अनु०**–मः, अनुस्वारः।

अर्थ–'झल्' (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण तथा श्, ष् और स्) परे रहते अपदान्त नकार और मकार के स्थान में अनुस्वार आदेश होता है।

यशांसि	(अधिक यश)
यशान् सि	यहाँ नकार पद के अन्त में नहीं है तथा उससे परे सकार 'झल्' है इसलिए 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से 'झल्' परे रहते अपदान्त नकार के स्थान में अनुस्वार आदेश होने पर
यशांसि	सिद्ध होता है।
आक्रंस्यते	(आक्रमण करेगा)
आक्रम् स्यते	यहाँ मकार पद के अन्त में नहीं है तथा सकार 'झल्' उससे परे है इसलिए पूर्ववत् 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से नकार के स्थान में अनुस्वार आदेश होकर
आक्रंस्यते	रूप सिद्ध होता है।

सूत्र में 'झल्' ग्रहण के प्रयोजन को स्पष्ट करने के लिए कहा गया है **झलि किम्–मन्यसे।** अर्थात् अपदान्त नकार और मकार को 'झल्' परे रहने पर ही अनुस्वार होता है, 'झल्' से भिन्न वर्ण परे होने पर नहीं होता। जैसे–**'मन्यसे'** यहाँ अपदान्त नकार से उत्तर यकार 'झल्' से भिन्न वर्ण परे है, इसलिए नकार को अनुस्वार नहीं हुआ।

७९. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५८

स्पष्टम्। शान्तः।

प०वि०–अनुस्वारस्य ६।१।। ययि ७।१।। परसवर्णः १।१।।

वृत्ति के स्थान पर 'स्पष्टम्' लिखने का आशय यह है कि इस सूत्र में किसी अन्य सूत्र से कोई भी अनुवृत्ति नहीं आ रही है और सूत्र सम्पूर्ण अर्थ को स्पष्ट करने में सक्षम है।

अर्थ–'यय्' (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग और य्, व्, र्, ल्) परे रहते अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण आदेश होता है।

शान्तः	(शान्त)
शां तः	यहाँ 'शम्' धातु से 'क्तः' प्रत्यय होने पर 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' से झलादि कित् पर रहते अनुनासिकान्त की उपधा को दीर्घ तथा 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से मकार को अनुस्वार होने पर **'शां'** बना है। 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से 'यय्' (तकार) पर रहते अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण अर्थात् तकार का सवर्ण प्राप्त हुआ। 'स्थानेऽन्तरतमः' से नासिक्य अनुस्वार के स्थान पर तकार का सवर्ण अनुनासिक नकार आदेश होकर
शान्तः	रूप सिद्ध होता है।

८०. वा पदान्तस्य ८।४।४९

त्वङ्करोषि, त्वं करोषि।

प०वि०–वा अ०।। पदान्तस्य ६।१।। **अनु०**–अनुस्वारस्य, ययि, परसवर्णः।

अर्थ–'यय्' (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, और य्, व्, र्, ल्) परे रहते पदान्त अनुस्वार के स्थान पर विकल्प से परसवर्ण आदेश होता है।

त्वङ्करोषि (तुम करते हो)

त्वम् करोषि — 'मोऽनुस्वारः' से 'हल्' परे रहते पदान्त मकार को अनुस्वार हुआ

त्वं करोषि — 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'त्वं' पद संज्ञक होने से 'वा पदान्तस्य' से पदान्त अनुस्वार को, 'यय्' परे रहते, विकल्प से परसवर्ण आदेश हुआ। 'स्थानेऽन्तरतमः' से कवर्ग का पञ्चम वर्ण ङकार आदेश होकर

त्वङ्करोषि — रूप सिद्ध होता है।

त्वं करोषि–परसवर्णाभाव पक्ष में 'त्वं करोषि' रूप ही रहेगा।

८१. मो राजि समः क्वौ ८।३।२५

क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्।

प०वि०–मः १।१।। राजि ७।१।। समः ६।१।। क्वौ ७।१।। **अनु०**–मः।

विशेष–यह सूत्र 'मोऽनुस्वारः' का अपवाद है। अव्यय होने के कारण 'सम्' की 'पद' संज्ञा होने से पदान्त मकार को 'हल्' पर रहते अनुस्वार प्राप्त था। उसे बाधकर मकार के स्थान में मकार किया गया है।

अर्थ–क्विबन्त 'राज्' धातु परे रहते 'सम्' (उपसर्ग) के अवयव 'म्' के स्थान पर 'म्' ही आदेश होता है, अनुस्वार नहीं होता।

सम्राट् (सार्वभौम राजा)

सम् राट् — यहाँ 'मोऽनुस्वारः' से 'म्' के स्थान पर अनुस्वार प्राप्त था। परन्तु 'राट्' शब्द 'राजृ दीप्तौ' धातु से 'सत्सूद्विषद्रुहदुह०' से 'क्विप्' प्रत्यय, क्विप् का सर्वापहारी लोप, 'सु' आने पर सकार का हल्ङ्यादि लोप, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'ज्' को 'ष्' 'झलां जशोऽन्ते' से 'ष्' को 'ड्' और 'वाऽवसाने' से 'ड्' को 'ट्' आदेश करने पर बना है। इसलिए 'मोऽनुस्वारः' को बाधकर 'मो राजि समः क्वौ' से क्विबन्त 'राट्' परे रहते 'सम्' के मकार को मकार आदेश होकर

सम्राट् — रूप सिद्ध होता है।

८२. हे मपरे वा ८।३।२६

मपरे हकारे परे मस्य मो वा। किम्ह्मलयति, किं ह्मलयति।

(वा०) यवलपरे यवला वा। किय्ँ ह्यः, किं ह्यः। किव्ँ ह्वलयति, किं ह्वलयति। किल्ँ ह्लादयति, किं ह्लादयति।

प०वि०—हे ७।१।। मपरे ७।१।। वा अ०।। **अनु०**—मः (षष्ठी), मः (प्रथमा)।

अर्थ—मकार परे है जिससे, ऐसा हकार परे होने पर मकार के स्थान पर विकल्प से मकारादेश होता है।

विशेष—यह सूत्र 'मोऽनुस्वारः' का वैकल्पिक अपवाद है, इसलिए एकपक्ष में मकार के स्थान में मकार तथा दूसरे पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार ही रहता है।

किम्ह्मलयति	(क्या चलाता है)
किम् ह्मलयति	यहाँ 'मोऽनुस्वारः' से पदान्त मकार को अनुस्वार प्राप्त था, जिसे बाधकर 'हे मपरे वा' से मकार परे है जिससे, ऐसा हकार परे रहते मकार के स्थान में विकल्प से मकारादेश होकर
किम्ह्मलयति	रूप सिद्ध होता है।

किं ह्मलयति—जब 'हे मपरे वा' से मकारादेश नहीं हुआ तो 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वारादेश होकर 'किं ह्मलयति' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) यवलपरे यवला वा—**अर्थ**—यकारपरक हकार, वकारपरक हकार और लकारपरक हकार परे होने पर मकार के स्थान पर विकल्प से क्रमशः यकार, वकार और लकार आदेश होते हैं।

किय्ँ ह्यः	(कल क्या?)
किम् ह्यः	यहाँ 'मोऽनुस्वारः' से 'हल्' परे रहते पदान्त मकार के स्थान में अनुस्वार प्राप्त था, जिसे बाधकर 'यवलपरे यवला वा' वार्त्तिक से यकारपरक हकार परे रहते मकार के स्थान में विकल्प से यकारादेश प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से मकार के स्थान में अनुनासिक 'य्ँ' आदेश होकर
किय्ँ ह्यः	रूप सिद्ध होता है।

किं ह्यः—यकार आदेश–अभाव पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार होकर 'किं ह्यः' रूप सिद्ध होता है।

किव्ँ ह्वलयति—'किम्+ह्वलयति' यहाँ 'यवलपरे यवला वा' वार्तिक से वकारपरक हकार परे रहते मकार के स्थान में विकल्प से वकारादेश हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से मकार के स्थान में अनुनासिक 'व्ँ' होकर 'किव्ँ ह्वलयति' रूप बनता है।

किं ह्वलयति—वकाराभाव पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार होकर 'किं ह्वलयति' रूप ही रहता है।

किलँ ह्लादयति, किं ह्लादयति—इसी प्रकार 'किम्+ह्लादयति' यहाँ 'यवलपरे यवला वा' वार्तिक से लकारपरक हकार परे रहते मकार के स्थान में विकल्प से अनुनासिक लकार होकर 'किलँ ह्लादयति' तथा लकाराभाव पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वारादेश होकर 'किं ह्लादयति' रूप सिद्ध होते हैं।

८३. नपरे नः ८।३।२७

नपरे हकारे मस्य नो वा। किन्ह्नुते, किं ह्नुते।

प०वि०—नपरे ७।१।। नः १।१।। **अनु०**—हे, मः (षष्ठी)।

अर्थ—नकारपरक हकार परे रहते मकार के स्थान पर विकल्प से नकार आदेश होता है।

किन्ह्नुते	(क्या छिपाता है)
किम् ह्नुते	यहाँ 'मोऽनुस्वारः' से हल् परे रहते पदान्त मकार को अनुस्वारादेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'नपरे नः' से नकारपरक हकार परे रहते मकार के स्थान में विकल्प से नकारादेश होकर
किन्ह्नुते	रूप सिद्ध होता है।

किं ह्नुते—नकाराभाव पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार होकर 'किं ह्नुते' रूप सिद्ध होता है।

८४. डः सि धुट् ८।३।२९

डात्परस्य सस्य धुड् वा।

प०वि०—डः ५।१।। सि ७।१।। धुट् १।१।। **अनु०**—वा।

अर्थ—'ड्' से उत्तर सकार को विकल्प से 'धुट्' आगम होता है।[१]

इस सूत्र का कार्य 'आद्यन्तौ टकितौ' के उदाहरणों में स्पष्ट किया जायेगा।

८५. आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६।।

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः। षट्त्सन्तः, षट्सन्तः।

प०वि०—आद्यन्तौ १।२।। टकितौ १।२।।

अर्थ—टित् और कित् (आगम) को जिसके अवयव के रूप में विधान किया जाता है वे टित् और कित् उसके (आगमी के) क्रमशः आद्यवयव और अन्तावयव होते हैं। यथा—**षट्त्सन्तः, षट्सन्तः।**

---

१. सूत्र में पञ्चमी और सप्तमी—दोनों विभक्तियों का प्रयोग हो तो, वहाँ पञ्चमी निर्देश बलवान माना जाता है, और सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट पद का अर्थ षष्ठ्यन्त पद के समान किया जाता है। इस व्यवस्था के लिए 'उभयनिर्देशे पञ्चमी निर्देशो बलीयान्' इस परिभाषा को आधार बनाया जाता है।

षद्त्सन्तः	(छः सज्जन)
षड् सन्तः	यहाँ 'डः सि धुट्' से डकार से उत्तर सकार को विकल्प से 'धुट्' आगम हुआ, 'धुट्' में टकार की 'इत्' संज्ञा होने के कारण, 'आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से 'धुट्' सकार का आद्यवयव हुआ
षड् धुट् सन्तः	'हलन्त्यम्' से टकार की तथा 'उपदेशेऽज०' से उकार की 'इत्' संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से दोनों का लोप हुआ
षड् ध् सन्तः	'खरि च' से सकार (खर्) परे रहते धकार (झल्) को तकार (चर्) आदेश हुआ
षड् त् सन्तः	पुनः 'खरि च' से तकार परे रहते 'ड्' के स्थान में 'ट्' आदेश होकर
षट्त्सन्तः	रूप सिद्ध होता है।

षट् सन्त–'धुट्' अभाव पक्ष में 'षड्+सन्तः' में 'खरि च' से 'ड्' को 'ट्' होकर 'षट् सन्तः' रूप सिद्ध होगा।

८६. ङणोः कुक् टुक् शरि ८।३।२८

वा स्तः।

(वा०) चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्। प्राङ्ख् षष्ठः, प्राङ् क्षष्ठः, प्राङ् षष्ठः। सुगण्ठ् षष्ठः, सुगणट् षष्ठः, सुगण् षष्ठः।

प०वि०– ङणोः ६।२।। कुक् १।१।। टुक् १।१।। शरि ७।१।। अनु०–वा।

अर्थ–शर् (श्, ष् और स्) परे रहते ङकार को 'कुक्' तथा णकार को 'टुक्' आगम विकल्प से होते हैं।

'कुक्' और 'टुक्' आगम कित् होने के कारण ङकार एवं णकार के अन्तावयव बनते हैं।

(वा०) चयो द्वितीयाः०–**अर्थ**–पौष्करसादि आचार्यों के मत में (अर्थात् विकल्प से) 'शर्' परे रहते 'चय्' (वर्गों के प्रथम वर्णों) के स्थान में उन वर्णों के द्वितीय वर्ण आदेश होते हैं।

प्राङ्ख् षष्ठः	(छठा प्राग्देशवासी)
प्राङ् षष्ठः	'ङणोः कुक् टुक् शरि' से 'शर्' (षकार) परे रहते ङकार को विकल्प से 'कुक्' आगम हुआ, 'आद्यन्तौ टकितौ' से कित् होने के कारण 'कुक्' ङकार का अन्तावयव बना
प्राङ् कुक् षष्ठः	अनुबन्ध-लोप
प्राङ् क् षष्ठः	'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' से 'शर्' (षकार)

परे रहते 'चय्' (ककार) के स्थान में विकल्प से कवर्ग का द्वितीय वर्ण 'ख्' आदेश होकर

प्राङ्ख् षष्ठः रूप सिद्ध होता है।

प्राङ्क्षष्ठः—'चयो द्वितीया०' वार्तिक से जब 'चय्' (क्) को वर्ग का द्वितीय वर्ण (ख्) नहीं हुआ तब 'प्राङ् क् षष्ठः=प्राङ्क्षष्ठः रूप बनता है।

प्राङ् षष्ठः—जब 'ङ्णोः कुक् टुक् शरि' से 'कुक्' आगम नहीं हुआ तो 'प्राङ् षष्ठः' रूप बना।

सुगण्ठ् षष्ठः—इसी प्रकार 'सुगण्+षष्ठः' यहाँ 'ङ्णोः कुक् टुक् शरि' से 'टुक्' आगम होने पर तथा 'चयो द्वितीयाः०' से टकार के स्थान में विकल्प से 'ठकार' होकर 'सुगण्ठ् षष्ठः' रूप बनता है।

सगुण्ट् षष्ठः, सुगण् षष्ठः—'ठकार' के अभाव पक्ष में 'सुगण्ट् षष्ठः' तथा 'टुक्' अभाव पक्ष में 'सुगण् षष्ठः' रूप बनते हैं।

८७. नश्च ८।३।३०

नान्तात् परस्य सस्य धुड् वा। सन्त्सः, सन् सः।

प०वि०—नः ५।१।। च अ०।। **अनु०**—सि, धुट्, वा।

अर्थ—नकारान्त से उत्तर 'स्' को 'विकल्प से धुट्' आगम होता है।

यथा—सन्त्सः, सन्सः।

सन्त्सः	(विद्यमान वह)
सन् सः	'नश्च' से नकारान्त से उत्तर सकार को 'धुट्' आगम विकल्प से हुआ, टित् होने के कारण 'धुट्' आगम 'आद्यन्तौ टकितौ' से सकार का आद्यवयव बना
सन् धुट् सः	अनुबन्ध-लोप
सन् ध् सः	'खरि च' से 'खर्' (स्) परे रहते धकार के स्थान में तकार आदेश होने पर
सन्त्सः	रूप सिद्ध होता है।

सन् सः—'धुट्' के अभाव पक्ष में 'सन्सः' रूप ही रहता है।

८८. शि तुक् ८।३।३१

पदान्तस्य नस्य शे परे तुग् वा। सञ्शम्भुः, सञ्छम्भुः, सञ्च्छम्भुः, सञ्च्शम्भुः।

प०वि०—शि ७।१।। तुक् १।१।। **अनु०**—नः वा, पदस्य।

अर्थ—शकार परे रहने पर नकारान्त पद को विकल्प से 'तुक्' आगम होता है।

सञ् छम्भुः	(विद्यमान शिव)
सन् शम्भुः	'अस्' धातु से 'शतृ' प्रत्यय आने पर पुँल्लिङ्ग, प्र० वि०, एक

	व० में 'सन्' की 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने से 'शि तुक्' से शकार परे रहते पदान्त नकार को विकल्प से 'तुक्' आगम हुआ, 'आद्यन्तौ टकितौ' से कित् होने के कारण 'तुक्' नकारान्त पद का अन्तावयव बना
सन् तुक् शम्भुः	अनुबन्ध-लोप
सन् त् शम्भुः	'स्तोः श्चुना श्चुः' से शकार का योग होने पर तकार के स्थान में चकार आदेश हुआ
सन् च् शम्भुः	पुनः 'स्तोः श्चुना श्चुः' से चकार का योग होने पर नकार को भी चवर्ग अर्थात् 'ञ्' हुआ
सञ् च् शम्भुः	'शश्छोऽटि' से 'झय्' (च्) से उत्तर शकार को विकल्प से छकारादेश हुआ 'अट्' (अ) परे रहते
सञ् च् छम्भुः	'झरो झरि सवर्णे' से 'हल्' (ञ्) से उत्तर 'झर्' (च्) का विकल्प से लोप हुआ सवर्ण 'झर्' (छ्) परे रहते। इस प्रकार
सञ्छम्भुः	रूप सिद्ध होता है।

सञ्च्छम्भुः–'सञ्+च् छम्भुः' इस स्थिति में पूर्व विवेचित सिद्धि के अनुसार जब 'झरो झरि सवर्णे' से विकल्प से होने वाला चकार का लोप नहीं हुआ तो 'सञ्च्छम्भुः' रूप सिद्ध हुआ।

सञ् च् शम्भुः–जिस पक्ष में 'शश्छोऽटि' से शकार के स्थान में छकारादेश नहीं हुआ तो 'झरो झरि सवर्णे' से चकार का लोप भी नहीं होता और 'सञ्च्शम्भुः' रूप सिद्ध होता है।

सञ्शम्भुः	(यह 'तुक्-अभाव पक्ष का रूप है)
सन् शम्भुः	जब 'शि तुक्' से पदान्त नकार को शकार परे रहते वैकल्पिक 'तुक्' आगम नहीं हुआ तो 'स्तोः श्चुना श्चुः' से शकार का योग होने पर नकार के स्थान में चवर्ग अर्थात् ञकार आदेश होकर
सञ्शम्भुः	रूप सिद्ध होता है।

८९. ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्। ८।३।३२

ह्रस्वात्परो यो ङम्, तदन्तं यत्पदम्, तस्मात्परस्याचो नित्यं ङमुट्। प्रत्यङ्ङात्मा। सुगण्णीशः। सन्नच्युतः।

प०वि०–ङमः ५।१।। ह्रस्वात् ५।१।। अचि ७।१।। ङमुट् १।१।। नित्यम् अ०।। **अनु०**–पदस्य।

अर्थ–ह्रस्व से परे जो 'ङम्' (ङ्, ण्, न्), तदन्त जो पद, उस पद से परे 'अच्' (स्वर) को नित्य 'ङमुट्' (ङुट्, णुट्, नुट्) आगम होते हैं।

यहाँ 'ङम्' और 'ङमुट्' दोनों में 'ङम्' प्रत्याहार का ग्रहण किया गया है, जिसमें 'ङ्,' ण्' और 'न्' वर्ण आते हैं। इस प्रकार सूत्र का आशय इस प्रकार समझा जा सकता है–ह्रस्व स्वर के पश्चात् जो 'ङ्', 'ण्', 'न्' पदान्त में हों और उसके पश्चात् कोई 'अच्' (स्वर) आये तो उस 'अच्' (स्वर) को 'ङमुट्' अर्थात् 'ङुट्', 'णुट्' और 'नुट्' आगम होते हैं।

'यथा संख्यं०' परिभाषा से पदान्त ङकार के पश्चात् स्वर को 'ङुट्', पदान्त णकार के पश्चात् स्वर को 'णुट्' और पदान्त नकार के पश्चात् स्वर को 'नुट्' का आगम होते हैं।

प्रत्यङ्ङात्मा	(अन्तरात्मा)
प्रत्यङ् आत्मा	यहाँ 'प्रत्यङ्' की 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा है, अतः पदान्त में ङकार है तथा उससे पहले ह्रस्व अकार भी है, इस स्थिति में 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' से स्वर (आ) को 'ङमुट्' (ङुट्) आगम प्राप्त हुआ, 'टित्' होने से, 'आद्यन्तौ टकितौ' से, 'ङुट्' आकार का आद्यवयव बना
प्रत्यङ् ङुट् आत्मा	अनुबन्ध-लोप, संहिता होने पर
प्रत्यङ्ङात्मा	रूप सिद्ध होता है।
सुगण्णीशः	(अच्छा गणितज्ञ)
सुगण् ईशः	पूर्ववत् 'ङमो ह्रस्वादचि०' से ह्रस्व (अकार) से उत्तर जो णकार, तदन्त जो पद, उस से उत्तर 'अच्' अर्थात् ईकार को 'ङमुट्' (णुट्) आगम हुआ
सुगण् णुट् ईशः	अनुबन्ध-लोप, संहिता होने पर
सुगण्णीशः	रूप सिद्ध होता है।
सन्नच्युतः	(सत्स्वरूप विष्णु)
सन् अच्युतः	पूर्ववत् 'ङमो ह्रस्वादचि०' से ह्रस्व (अ) से उत्तर जो नकार, तदन्त पद से उत्तर 'अच्' अर्थात् अकार को 'ङमुट्' (नुट्) आगम हुआ
सन् नुट् अच्युतः	अनुबन्ध लोप, संहिता होने पर
सन्नच्युतः	रूप सिद्ध होता है।

९०. समः सुटि ८।३।५

समो रुः सुटि।

प०वि०–समः ६।१।। सुटि ७।१।। **अनु०**–रुः।

अर्थ–'सुट्' परे रहते 'सम्' के स्थान पर 'रु' आदेश होता है।

'रु' का उकार अनुबन्ध होने से 'र्' ही आदेश होता है, जो 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' मकार के स्थान पर होता है।

विशेष—इस सूत्र का तथा आगे आने वाले अन्य तीन सूत्रों का कार्य 'खरवसानयो०' (९३) सूत्र के उदाहरणों की सिद्धि-प्रक्रिया में स्पष्ट किया जायेगा।

९१. अत्राऽनुनासिकः पूर्वस्य तु वा ८।३।२

अत्र रु-प्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा।

प०वि०—अत्र अ०।। अनुनासिकः १।१।। पूर्वस्य ६।१।। तु अ०।। वा अ०।।

इस सूत्र में 'अत्र' शब्द अष्टाध्यायी में विहित 'रु' प्रकरण की ओर इङ्गित करता है।[1]

अर्थ—जहाँ भी इस प्रकरण के सूत्रों द्वारा 'रु' आदेश किया गया है, वहाँ 'रु' से पूर्व वर्ण के स्थान पर विकल्प से अनुनासिक आदेश होता है।

९२. अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः ८।३।४

अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः।

प०वि०—अनुनासिकात् ५।१।। परः १।१।। अनुस्वारः १।१।। **अनु०**—रुः, पूर्वस्य।

अर्थ—अनुनासिक को छोड़कर[2] अर्थात् जिस पक्ष में 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' से 'रु' से पूर्व वर्ण को विकल्प से होने वाला अनुनासिक नहीं हुआ हो तो उस 'रु' से पूर्ववर्ती वर्ण के पश्चात् अनुस्वार आगम होता है।

९३. खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः।

(वा०) सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः। सँस्स्कर्त्ता, संस्स्कर्त्ता।

प०वि०—खरवसानयोः ७।२।। विसर्जनीयः। १।१।। **अनु०**—रः, पदस्य।

अर्थ—'खर्' (वर्गों के प्रथम, द्वितीय वर्ण और श्, ष् और स्) परे रहते तथा अवसान के विषय में पदान्त में स्थित रेफ के स्थान में विसर्ग आदेश होता है।

(वा०) सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः—**अर्थ**—'सम्', 'पुम्' और 'कान्' शब्दों के विसर्ग के स्थान पर सकारादेश होता है।

सँस्स्कर्त्ता (संस्कार करने वाला)

सम् कर्त्ता यहाँ 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' से 'सम्' तथा 'परि' उपसर्ग से

---

१. 'अत्र' शब्द से निर्दिष्ट 'रुप्रकरण, अष्टध्यायी में 'मतुवसो रुच्छन्दसि' (८/३/१) से प्रारम्भ होकर 'कानाम्रेडिते' (८/३/१२) तक जिन सूत्रों से 'रु' का विधान किया गया है, उनके लिए प्रयुक्त हुआ है।

२. 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च'-'ल्यप्' का लोप होने पर उसके कर्म और अधिकरण में पञ्चमी होती है, इस प्रकार यहाँ 'ल्यप्' का लोप होने पर कर्म में पञ्चमी (अनुनासिकात्) की गई है। अतः इसका अर्थ होगा-अनुनासिकं विहाय।

	उत्तर 'कृ' धातु के ककार से पूर्व 'सुट्' आगम होता है। 'कर्त्ता' शब्द 'कृ' धातु का तृजन्त रूप है, इसलिए 'कर्त्ता' के ककार से पूर्व 'सुट्' आगम हुआ
सम् सुट् कर्त्ता	अनुबन्ध-लोप
सम् स् कर्त्ता	'समः सुटि' से 'सुट्' परे रहते 'सम्' को 'रु' आदेश हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से 'रु' आदेश मकार के स्थान में हुआ
सरु स् कर्त्ता	अनुबन्ध-लोप
सर् स् कर्त्ता	'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' से 'रु' प्रकरण में विहित 'रु' आदेश से पूर्व वर्ण अकार को विकल्प से अनुनासिक आदेश हुआ
सँर् स् कर्त्ता	'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'खर्' (सकार) परे रहते पदान्त रेफ के स्थान में विसर्ग हुआ
सँः स् कर्त्ता	'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः'[१] (वा०) से 'सम्' के विसर्ग के स्थान में सकारादेश होकर
सँस्स्कर्त्ता	रूप सिद्ध होता है।
संस्स्कर्त्ता	
सरु स् कर्त्ता	इस स्थिति में जब 'अत्राऽनुनासिकः पूर्वस्य तु वा' से वैकल्पिक अनुनासिकादेश नहीं हुआ तो 'अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः' से 'रु' से पूर्ववर्ती वर्ण के पश्चात् अनुस्वार आगम हो गया
संरु स् कर्त्ता	शेष सभी कार्य 'सँस्स्कर्त्ता' के समान होकर
संस्स्कर्त्ता	रूप सिद्ध होता है।

९४. पुमः खय्यम्परे ८।३।६

अम्परे खयि पुमो रुः। पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः।

प०वि०—पुमः ६।१।। खयि ७।१।। अम्परे ७।१।। **अनु०**—रुः, पदस्य।

अर्थ—'अम्' परे है जिससे ऐसा 'खय्' परे रहते 'पुम्' के मकार को 'रु' आदेश होता है।

---

१. यहाँ 'विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग के स्थान में नित्य ही सकारादेश प्राप्त था, जिसे अपवाद होने के कारण बाधकर 'वा शरि' से 'शर्' परे रहते विकल्प से सकारादेश प्राप्त हुआ, इस विकल्प को भी बाधकर अपवाद होने के कारण 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' (वा०) से (नित्य) सकारादेश हुआ।

यहाँ सूत्र में पठित '**खय्**' और 'अम्' दोनों ही प्रत्याहार हैं। '**खय्**' प्रत्याहार में **वर्गों के प्रथम** और **द्वितीय वर्ण** तथा '**अम्**' के अन्तर्गत सभी **स्वर, ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्,** और **न्** वर्ण आते हैं।

पुँस्कोकिल:	(नर कोयल)
पुम् कोकिल:	यहाँ 'कोकिल:' का ककार 'खय्' प्रत्याहार में आता है उससे परे 'ओ' वर्ण 'अम्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आता है। इसलिए 'पुमः खय्यम्परे' से 'अम्' (ओ) परे है जिससे ऐसा 'खय्' (ककार) परे रहते 'पुम्' के मकार को 'रु' आदेश हुआ
पुरु कोकिल:	'अत्राऽनुनासिक: पूर्वस्य तु वा' से 'रु' से पूर्ववर्त्ती वर्ण (उ) को विकल्प से अनुनासिक आदेश हुआ
पुँरु कोकिल:	अनुबन्ध-लोप, 'खरवसानयो०' से रेफ के स्थान में विसर्गादेश हुआ
पुँः कोकिल:	'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्य:' से 'पुम्' के विसर्ग को सकारादेश होकर
पुँस्कोकिल:	रूप सिद्ध होता है।

पुंस्कोकिल:—'पुरु+कोकिल:' इस स्थिति में जब 'रु' से पूर्ववर्त्ती वर्ण को 'अत्रानुनासिक०' से वैकल्पिक अनुनासिक आदेश नहीं हुआ तो 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वार:' से 'रु' से पूर्ववर्ती उकार को अनुस्वार आगम होने पर शेष सभी कार्य 'पुँस्कोकिल:' के समान जानें।

९५. नश्छव्यप्रशान् ८।३।७

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः, न तु प्रशान् शब्दस्य।

प०वि०—नः ६।१।। छवि ७।१।। अप्रशान्[१] ।१।१।। **अनु०**—अम्परे, रुः, पदस्य।

अर्थ—अम्परक 'छव्' परे रहते नकारान्त पद को 'रु' आदेश होता है, 'प्रशान्' शब्द को छोड़कर।

यहाँ '**छव्**' प्रत्याहार है जिसमें **छ्, ठ्, थ्, च्, ट्** और **त्** वर्ण आते हैं।

सूत्र का कार्य अग्रिम सूत्र के उदाहरण में स्पष्ट किया जायेगा।

९६. विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४

खरि। चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व। अप्रशान् किम्?प्रशान्तनोति। पदान्तस्येति किम्? हन्ति।

१. यहाँ षष्ठ्यर्थ में प्रथमा विभक्ति हुई है। सूत्रों को वेद के समान ही माना जाता है। 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' और वेद में सभी विधियों का विकल्प होता है 'छन्दसि सर्वे विधयः विकल्प्यन्ते।'

प०वि०–विसर्जनीयस्य ६।१।। सः १।१।। **अनु०**–खरि।

अर्थ–'खर्' (वर्गों के प्रथम, द्वितीय वर्ण और श्, ष्, स्) परे रहते विसर्ग के स्थान में सकारादेश होता है।

चक्रिँस्त्रायस्व	(हे कृष्ण! रक्षा करो)
चक्रिन् त्रायस्व	यहाँ 'त्र' में मिश्रित तकार 'छव्' प्रत्याहार के और रेफ 'अम्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आते हैं, इसलिए 'नश्छव्यप्रशान्' से 'अम्' (रेफ) परे है जिससे ऐसा 'छव्' (तकार) परे रहते नकारान्त पद (चक्रिन्) को 'रु' आदेश प्राप्त हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' नकार के स्थान में 'रु' आदेश हुआ
चक्रिरु त्रायस्व	अनुबन्ध-लोप
चक्रिर् त्रायस्व	'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' से 'रु' से पूर्ववर्ती वर्ण (इ) को विकल्प से अनुनासिक हुआ
चक्रिँर् त्रायस्व	'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'खर्' (त्) परे रहते रेफ को विसर्ग हुआ
चक्रिँः त्रायस्व	'विसर्जनीयस्य सः' से 'खर्' (त्) परे रहते विसर्ग के स्थान में सकारादेश होकर
चक्रिँस्त्रायस्व	रूप सिद्ध होता है

चक्रिंस्त्रायस्व–अनुनासिक-अभाव पक्ष में 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' से अनुस्वार आगम होकर 'चक्रिंस्त्रायस्व' रूप सिद्ध होता है।

अप्रशान् किम् ?–'नश्छव्यप्रशान्' सूत्र में 'अप्रशान्' पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि अम्परक 'छव्' परे रहते 'प्रशान्' को 'रु' आदेश न हो, 'प्रशान्तनोति' में अम्परक 'छव्' (अवर्णपरक तकार) होने पर भी 'रु' आदेश नहीं होता।

पदस्येति किम्?–'नश्छव्यप्रशान्' सूत्र में नकारान्त पद को 'रु' आदेश किया है, केवल नकारान्त को नहीं। इसका प्रयोजन यह है कि यदि 'पदस्य' की अनुवृत्ति नहीं लाते तो 'हन्+ति' इस स्थिति में अम्परक् छव् (इवर्णपरक तकार अर्थात् ति) परे रहते **पद** संज्ञा न होने पर भी 'हन्' को 'रु' आदेश हो जाता, जो कि इष्ट नहीं है। इसलिए 'पदस्य' की अनुवृत्ति लाने से 'हन्' को 'रु' नहीं होता।

९७. नृन्पे ८।३।१०

नृनित्यस्य रुर्वा पे।

प०वि०–नृन् लुप्तषष्ठ्यन्त।। पे ७।१।। **अनु०**–रुः, उभयथा।

अर्थ–पकार परे होने पर 'नृन्' के स्थान पर विकल्प से 'रु' आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' नकार के स्थान पर ही 'रु' आदेश होगा।

९८. कुप्वो ≍ क ≍ पौ च ८।३।३७

कवर्गे पवर्गे च परे विसर्गस्य ≍ क ≍ पौ स्तः, चाद्विसर्गः। नृँ ≍ पाहि, नृं ≍ पाहि, नृँः पाहि, नृंः पाहि, नृन्पाहि।

प०वि०–कुप्वोः ७।२।। ≍ क ≍ पौ १।२।। च अ०।। **अनु०**–विसर्जनीयः, विसर्जनीयस्य।

अर्थ–कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते विसर्ग के स्थान पर क्रमशः जिह्वामूलीय (≍ क) तथा उपध्मानीय (≍ प) आदेश विकल्प से होते हैं तथा चकार से विसर्ग भी होते हैं।

विशेष–'क' या 'ख' से पूर्व अर्ध विसर्ग सदृश '≍' चिह्न को जिह्वामूलीय और 'प' या 'फ' से पूर्व अर्धविसर्ग सदृश '≍' चिह्न को उपध्मानीय नाम से जाना जाता है।

नृँ≍पाहि

नृन् पाहि	'नृन् पे' से पकार परे रहते 'नृन्' को 'रु' आदेश प्राप्त हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से नकार के स्थान में 'रु' हुआ
नृ रु पाहि	'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' से 'रु' से पूर्ववर्ती वर्ण 'ॠ' को विकल्प से अनुनासिक आदेश हुआ
नृँरु पाहि	अनुबन्ध-लोप
नृँर् पाहि	'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'खर्' (प्) परे रहते रेफ के स्थान में विसर्ग हुआ
नृँः पाहि	यहाँ 'विसर्जनीयस्य सः' से 'खर्' परे रहते विसर्ग के स्थान में नित्य सकारादेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'कुप्वोः ≍ क ≍ पौ च' से पवर्ग (पकार) परे रहते विसर्ग के स्थान में विकल्प से उपध्मानीय (≍)आदेश होकर
नृँ ≍पाहि	रूप सिद्ध होता है।

नृँः पाहि–जब 'उपध्मानीय' आदेश नहीं हुआ तो विसर्ग ही रहा और 'नृँः पाहि' रूप सिद्ध हुआ।

नृं≍पाहि–'नृन्+पाहि' यहाँ 'नृन् पे' से 'रु' होने पर 'अत्रानुना०' से 'रु' से पूर्ववर्ती' वर्ण को वैकल्पिक अनुनासिक न होने पर 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' से 'रु' से पूर्ववर्त्ती वर्ण को अनुस्वार आगम, रेफ को 'खरवसानयो०' से विसर्ग और 'कुप्वोः ≍ क ≍ पौ च' से विसर्ग के स्थान में उपध्मानीय (≍) आदेश होने पर 'नृं ≍ पाहि' रूप सिद्ध होता है।

नृंः पाहि–उपध्मानीय-अभाव पक्ष में विसर्ग को विसर्ग आदेश होकर 'नृंः पाहि' रूप भी बनता है।

नृन्पाहि–जब नृन्+पाहि' यहाँ 'नृन्पे' से वैकल्पिक 'रु' नहीं होगा तो अनुस्वार, विसर्ग या उपध्मानीय आदि अन्य कार्य भी नहीं होंगे और 'नृन्पाहि' रूप ही सिद्ध होगा।

९९. तस्य परमाम्रेडितम् ८।१।२

द्विरुक्तस्य परमाम्रेडितं स्यात्।

प०वि०–तस्य ६।१।। परम् १।१। आम्रेडितम् १।१।।

विशेष–सूत्र में पठित 'तस्य' शब्द अपने से पूर्ववर्त्ती सूत्र '**सर्वस्य द्वे**' (८.१.१) में पठित 'द्वे' का वाचक है (परामर्श करता है)।

अर्थ–जिसको द्वित्त्व हुआ है उसका पर अर्थात् बाद वाला रूप 'आम्रेडित' संज्ञक होता है।

जैसे-'कान्+कान्' में पठित बाद वाला 'कान्' शब्द 'आम्रेडित' संज्ञक होगा।

१००. कानाम्रेडिते ८।३।१२

कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते। काँस्कान्, कांस्कान्।

प०वि०–कान् लुप्तषष्ठ्यन्त।। आम्रेडिते ७।१।। **अनु०**–नः, रुः, पदस्य।

अर्थ–'आम्रेडित' परे होने पर 'कान्' पद के अवयव नकार को 'रु' आदेश होता है।

काँस्कान्	(किन्हें)
कान् कान्	'तस्य परमाम्रेडितम्' से बाद वाले 'कान्' की 'आम्रेडित' संज्ञा होने पर 'कानाम्रेडिते' से 'आम्रेडित' परे रहते पूर्ववर्त्ती 'कान्' के 'न्' को 'रु' आदेश हुआ
कारु कान्	अनुबन्ध-लोप, 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य०' से 'रु' से पूर्ववर्ती वर्ण को अनुनासिक आदेश हुआ
काँर् कान्	'खरवसानयो०' से 'खर्' (क्) परे रहते रेफ को विसर्ग आदेश हुआ
काँः कान्	'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' (वा०) से 'कान्' के विसर्ग के स्थान में सकारादेश होकर
काँस्कान्	रूप सिद्ध होता है

कांस्कान्–अनुनासिक अभाव पक्ष में 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' से 'रु' से पूर्ववर्त्ती वर्ण को अनुस्वार आगम हुआ, अन्य सभी कार्य 'काँस्कान्' के समान होकर 'कांस्कान्' रूप सिद्ध होता है।

१०१. छे च ६।१।७३

ह्रस्वस्य छे तुक् । शिवच्छाया।

प०वि०–छे ७।१।। च अ०।। **अनु०**–ह्रस्वस्य, तुक्।

अर्थ–छकार परे रहते ह्रस्व को 'तुक्' आगम होता है।

'तुक्' आगम कित् होने के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से ह्रस्व का अन्तावयव बनता है।

शिवच्छाया	(शिव की छाया)
शिव छाया	यहाँ 'शिव' का अकार ह्रस्व है तथा उससे परे छकार है, इसलिए 'छे च' से छकार परे रहते ह्रस्व को 'तुक्' आगम हुआ
शिव तुक् छाया	अनुबन्ध-लोप
शिव त् छाया	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त 'झल्' वर्ण 'त्' को 'जश्' आदेश तथा 'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व एक साथ प्राप्त हुए। 'विप्रतिषेधे परम् कार्यम्' परिभाषा से 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) पर सूत्र होने के कारण पहले प्राप्त हुआ। त्रिपादी में पूर्व सूत्र की दृष्टि में पर सूत्र 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' के कारण असिद्ध होता है, अतः 'झलां जशो०' (८।२।३९) की दृष्टि में 'स्तोः श्चुना०' (८।४।४०) के असिद्ध हो जाने से पहले 'झलां जशोऽन्ते' से तकार के स्थान में दकार आदेश हुआ
शिव द् छाया	'स्तोः श्चुना श्चुः' से चवर्ग (छकार) के योग में तवर्ग (दकार) के स्थान में चवर्ग (जकार) आदेश हुआ
शिव ज् छाया	'खरि च' से 'खर्' (छ्) परे रहते 'झल्' (ज्) को 'चर्' (च्) आदेश होकर
शिवच्छाया	रूप सिद्ध होता है।

१०२. पदान्ताद्वा ६।१।७६

दीर्घात्पदान्ताच्छे तुग् वा। लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया।

इति हल्सन्धिः।

प०वि०–पदान्तात् ५।१।। वा अ०।। **अनु०**–छे, तुक्।

अर्थ–छकार परे रहते पदान्त दीर्घ को विकल्प से 'तुक्' आगम होता है। 'कित्' होने के कारण 'तुक्' दीर्घ का अन्तावयव बनेगा।

लक्ष्मीच्छाया	(लक्ष्मी की छाया)
लक्ष्मी छाया	'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'लक्ष्मी' की 'पद' संज्ञा है, इसलिए 'पदान्ताद्वा' से छकार परे रहते पदान्त दीर्घ ईकार को विकल्प से 'तुक्' आगम हुआ, 'आद्यन्तौ टकितौ' से कित् होने के कारण 'तुक्' पदान्त ईकार का अन्तावयव बना
लक्ष्मी तुक् छाया	अनुबन्ध-लोप
लक्ष्मी त् छाया	जश्त्व, श्चुत्व एवं चर्त्व इत्यादि कार्य 'शिवच्छाया' (१०१) के समान होकर
लक्ष्मीच्छाया	रूप सिद्ध होता है।

लक्ष्मीछाया–'लक्ष्मी+छाया' इस स्थिति में जब 'पदान्ताद्वा' से 'तुक्' नहीं हुआ तो 'लक्ष्मीछाया' रूप ही रहा।

।। हल्सन्धि-प्रकरण समाप्त ।।

अथ विसर्गसन्धि-प्रकरणम्

१०३. विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४

खरि। विष्णुस्त्राता।

प०वि०—विसर्जनीयस्य ६।१।। सः १।१।। **अनु०**—खरि।

अर्थ—'खर्' (वर्गों के प्रथम, द्वितीय वर्ण और श्, ष्, स्) परे रहते विसर्ग के स्थान पर सकारादेश होता है।

विष्णुस्त्राता	(विष्णु रक्षक हैं)
विष्णुः त्राता	'विसर्जनीयस्य सः' से 'खर्' (तकार) परे रहते विसर्ग के स्थान में सकार आदेश हुआ
विष्णुस् त्राता	यहाँ पुनः 'ससजुषो रुः' से सकारान्त पद को 'रु' प्राप्त हुआ, 'पूर्वत्रासिद्धम्' से 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) की दृष्टि में अष्टाध्यायी-क्रम में बाद में आने वाले सूत्र 'विसर्जनीयस्य सः' (८।३।३४) के असिद्ध हो जाने से सकारान्त पद नहीं मिलता, इसलिए 'रु' आदेश नहीं होता, इस प्रकार संहिता होने पर
विष्णुस्त्राता	रूप ही बनता है।

१०४. वा शरि ८।३।३६

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा। हरि:शेते, हरिश्शेते।

प०वि०—वा अ०।। शरि ७।१।। **अनु०**—विसर्जनीयस्य, विजर्सनीयः।

अर्थ—'शर्' (श्, ष् और स्) परे रहते विसर्ग के स्थान पर विकल्प से विसर्ग आदेश होता है।

विशेष—यहाँ विसर्ग के स्थान में विसर्ग आदेश विकल्प से होने के कारण पक्ष में पूर्ववर्ती सूत्र 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से सकार आदेश भी होता है।

हरि:शेते	(हरि शयन करते हैं)
हरिः शेते	'वा शरि' से 'शर्' (शकार) परे रहते विसर्ग के स्थान में विकल्प से विसर्ग आदेश होता है। यहाँ विसर्ग के स्थान में विसर्ग आदेश का प्रयोजन यह है कि 'विसर्जनीयस्य सः' से

	नित्य प्राप्त सकारादेश यहाँ विकल्प से हो। इस प्रकार विसर्ग के स्थान में विसर्ग होकर
हरि: शेते	रूप सिद्ध होता है।
हरिश्शेते	
हरि: शेते	जब 'वा शरि' से 'शर्' परे होने पर विसर्ग के स्थान में विसर्ग नहीं हुआ तब पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' से 'खर्' परे रहते विसर्ग को सकारादेश हुआ
हरि स् शेते	'स्तोः श्चुना श्चुः' से शकार का योग होने पर 'सकार' को 'शकार' आदेश होकर
हरिश्शेते	रूप सिद्ध होता है।

१०५. ससजुषो रुः ८।२।६६

पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रुः स्यात्।

प०वि०—ससजुषोः ६।२।। रुः १।१।। **अनु०**—पदस्य।

अर्थ—सकारान्त पद को तथा 'सजुष्' पद को 'रु' आदेश होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' से 'रु' आदेश सकारान्त पद के अन्तिम 'अल्' सकार के स्थान में तथा 'सजुष्' के अन्त्य 'अल्' वर्ण 'षकार' के स्थान में होता है।

१०६. अतो रोरप्लुतादप्लुते ६।१।११३

अप्लुतादतः पदस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति। शिवोऽर्च्यः।

प०वि०—अतः ५।१।। रोः ६।१।। अप्लुताद् ५।१।। अप्लुते ७।१।। **अनु०**— उत्, अति।

अर्थ—अप्लुत (प्लुत से भिन्न) ह्रस्व अकार से उत्तर 'रु' के स्थान पर 'उ' आदेश होता है, अप्लुत ह्रस्व अकार परे रहते।

शिवोऽर्च्यः	(पूजा के योग्य शिव)
शिव सु अर्च्यः	'उपदेशेऽज०' से उकार की 'इत्' संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञक (उकार) का लोप हुआ
शिव स् अर्च्यः	'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'शिव स्' की पद संज्ञा है इसलिए 'ससजुषो रुः' से सकारान्त पद को 'रु' आदेश प्राप्त हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम अल् (स्) के स्थान में 'रु' आदेश हुआ
शिव रु अर्च्यः	'अतो रोरप्लुतादप्लुते' से अप्लुत अकार परे रहते अप्लुत ह्रस्व अकार से उत्तर 'रु' के स्थान में 'उ' आदेश हुआ
शिव उ अर्च्यः	'आद् गुणः' से अवर्ण से उत्तर 'अच्' उकार परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर गुण 'ओ' हुआ

शिवो अर्च्यः	'एङः पदान्तादति' से पदान्त 'एङ्' से ह्रस्व अकार परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश 'ओ' होकर
शिवोऽर्च्यः	रूप सिद्ध होता है।

१०७. हशि च ६।१।११४।

तथा। शिवो वन्द्यः।

प०वि०—हशि ७।१। च अ०।। **अनु०**—अतः, रोः, अप्लुताद्, उत्।

अर्थ—अप्लुत ह्रस्व अकार से उत्तर 'रु' के स्थान में 'उ' आदेश होता है, 'हश्' (वर्गों के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम वर्ण तथा ह् ,य्, व्, र्, ल्,) परे रहते।

शिवो वन्द्यः	(शिव वन्दनीय हैं)
शिव सु वन्द्यः	अनुबन्ध-लोप होने पर 'ससजुषो रुः' से सकार को 'रु' हुआ
शिव रु वन्द्यः	'हशि च' से 'हश्' (वकार) परे रहते ह्रस्व अकार से उत्तर 'रु' के स्थान पर 'उ' आदेश हुआ
शिव उ वन्द्यः	'आद् गुणः' से गुण एकादेश 'ओ' होकर
शिवो वन्द्यः	रूप सिद्ध होता है।

१०८. भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य योऽशि ८।३।१७

एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशोऽशि। देवा इह, देवायिह। भोस्, भगोस्, अघोस् इति सान्ता निपाताः। तेषां रोर्यत्वे कृते–

प०वि०—भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य ६।१।। यः १।१।। अशि ७।१।। **अनु०**—रोः।

अर्थ—भो, भगो, अघो शब्द पूर्व में हैं जिसके ऐसे 'रु' के स्थान में तथा अवर्ण पूर्व में है जिसके ऐसे 'रु' के स्थान में 'य्' आदेश होता है 'अश्' (सभी स्वर, ह्, य्, व्, र्, ल्, तथा वर्गों के तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम वर्ण) परे रहते।

यहाँ पर भो, भगो, अघो मूलरूप से सकारान्त **भोस्, भगोस्** और **अघोस्** निपात हैं।

देवा इह

देवास् इह	यहाँ 'देव' शब्द से प्र० वि०, बहु व० में 'जस्' लाने पर 'देवास्' बना है अतः 'सुप्तिङन्तं पदं' से इसकी 'पद' संज्ञा होने से 'ससजुषो रुः' से सकारान्त पद को 'रु' आदेश प्राप्त हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से सकार के स्थान में 'रु' हुआ
देवारु इह	'भोभगोअघो-अपूर्वस्य योऽशि' से 'अश्' (इकार) परे रहते अवर्णपूर्वक 'रु' के स्थान में यकारादेश हुआ
देवाय् इह	'लोपः शाकल्यस्य' से अवर्णपूर्वक पदान्त यकार का 'अश्' (इकार) परे रहते विकल्प से लोप हुआ

देवा इह — यहाँ 'आद् गुण:' से 'गुण' प्राप्त हुआ, जो 'पूर्वत्रासिद्धम्', से सपादसप्ताध्यायी के कार्य 'आद् गुण:' की दृष्टि में त्रिपादी के कार्य 'लोप: शाकल्यस्य' से किये गये यकार-लोप के असिद्ध हो जाने के कारण अवर्ण से 'अच्' परे न मिलने से नहीं हुआ, इस प्रकार कोई सन्धि-कार्य न होने पर

देवा इह — रूप सिद्ध होता है।

देवायिह—जिस पक्ष में 'लोप: शाकल्यस्य' से यकार का लोप नहीं हुआ तो संहिता होने पर 'देवायिह' रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—भोस्, भगोस्, अघोस् इन सकारान्त निपातों के सकारों के स्थान में 'रु' आदेश करने पर इस सूत्र का कार्य-क्षेत्र बनता है जो अग्रिम सूत्र के उदाहरणों में स्पष्ट किया जायेगा।

१०९. हलि सर्वेषाम् ८।३।२२

भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य यस्य लोप: स्याद्धलि। भो देवा:। भगो नमस्ते। अघो याहि।

प०वि०—हलि ७।१।। सर्वेषाम् ६।३।। **अनु०**—भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य, यस्य, लोप:, पदस्य।

अर्थ—भो, भगो, अघो पूर्वक और अवर्णपूर्वक पदान्त यकार का लोप होता है 'हल्' परे रहते, सभी आचार्यों के मत में। अर्थात् यह लोप नित्य होता है।

भो देवा: — (हे देवगण!)

भोस् देवा: — 'ससजुषो रु:' से 'भोस्' के सकार को 'रु' आदेश हुआ

भोरु देवा: — 'भोभगो०' से 'अश्' (द्) परे रहते 'भो' पूर्व में है जिसके ऐसे 'रु' के स्थान में यकारादेश हुआ

भोय् देवा: — 'हलि सर्वेषाम्' से भोपूर्वक् पदान्त यकार का लोप हुआ 'हल्' परे रहते। इस प्रकार

भो देवा: — रूप सिद्ध होता है।

भगो नमस्ते, अघो याहि—यहाँ भी 'भगोस्' तथा 'अघोस्' के सकारों को 'ससजुषो रु: से 'रु' आदेश करने पर 'भो-भगो-अघो०' से 'रु' को 'य्' आदेश होकर 'भगोय्+नमस्ते' तथा 'अघोय्+याहि' में भी 'हलि सर्वेषाम्' से 'हल्' परे रहते पदान्त यकार का लोप होने पर **'भगो नमस्ते'** तथा **'अघो याहि'** रूप बनते हैं।

यद्यपि अवर्णपूर्वक यकार के लोप का उदाहरण मूल ग्रन्थ में नहीं दिया गया, पुनरपि इसका उदाहरण **'बालका हसन्ति'** देखा जा सकता है। जहाँ प्रथमा-बहुवचन में 'जस्' विभक्ति आने पर 'बालकास्+हसन्ति' में 'ससजुषो रु:' से सकार को 'रु' आदेश करने पर 'भोभगो०' सूत्र से 'रु' के स्थान में यकारादेश होकर 'बालकाय्+हसन्ति' बनने

पर 'हलि सर्वेषाम्' से 'हल्' परे रहते, अवर्णपूर्वक पदान्त यकार का लोप होकर **'बालका हसन्ति'** रूप सिद्ध होता है।

११०. रोऽसुपि ८।२।६९

अह्नो रेफादेशो न तु सुपि। अहरहः। अहर्गणः।

प०वि०—रः १।१।। असुपि ७।।१।। **अनु०**—अहन्।

अर्थ—'अहन्' को रेफादेश होता है, यदि 'सुप्' (सु, औ, जस् आदि इक्कीस प्रत्यय) परे नहीं हों तो।

अहरहः (दिनों दिन)

अहन् अहन्[1] 'रोऽसुपि' से 'सुप्' परे न होने पर 'अहन्' को रेफादेश हुआ, अलोऽन्त्यस्य' से रेफादेश अन्तिम 'अल्' नकार के स्थान में हुआ

अहर् अहर् 'विरामोऽवसानम्' से 'अवसान' संज्ञा होने पर अवसान में बाद वाले रेफ को 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग होकर संहिता होने पर पूर्ववर्त्ती रेफ में अकार मिल कर

अहरहः रूप सिद्ध होता है।

अहर्गणः

अहन् गणः 'रोऽसुपि' से 'सुप्' परे न होने पर 'अहन्' के नकार को रेफादेश होकर जलतुम्बी न्याय से रेफ के ऊपर चले जाने पर

अहर्गणः रूप सिद्ध होता है।

१११. रो रि ८।३।१४

रेफस्य रेफे परे लोपः।

प०वि०—रः ६।१।। रि ७।१।। **अनु०**—लोपः।

अर्थ—रेफ परे रहते रेफ का लोप होता है।

११२. ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६।३।१११

ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याणो दीर्घः। पुना रमते। हरी रम्यः। शम्भू राजते। अणः किम्? तृढः। वृढः।

'मनस्+रथः', इत्यत्र रुत्वे कृते 'हशि च' इत्युत्वे, 'रोरि' इति लोपे च प्राप्ते—

प०वि०—ढ्रलोपे ७।१।। पूर्वस्य ६।१।। दीर्घः १।१।। अणः ६।१।।

---

१. 'अहन्+सु' इस स्थिति में 'नित्यवीप्सयोः' से द्वित्व होकर 'अहन्+सु अहन्+सु' बनने पर, 'अहन्' शब्द नपुंसकलिङ्ग का होने के कारण, 'स्वमोर्नपुंसकात्' से नपुंसकलिङ्गी शब्दों से परे 'सु' का 'लुक्' होने पर 'अहन्+अहन्' रूप बनता है।

अर्थ–ढकार के लोप का निमित्त ढकार तथा रेफ के लोप का निमित्त रेफ परे रहने पर (लुप्त ढकार और रेफ से) पूर्ववर्ती 'अण्' (अ, इ और उ) को दीर्घ होता है।

पुना रमते	(फिर खेलता है)
पुनर् रमते	'रो रि' से रेफ परे रहते रेफ का लोप हुआ
पुन रमते	'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से रेफ के लोप का निमित्त रेफ परे होने पर लुप्त रेफ से पूर्ववर्ती 'अण्' वर्ण अकार को दीर्घ (आकार) आदेश होकर
पुना रमते	रूप सिद्ध होता है।

हरी रम्यः (विष्णु सुन्दर हैं)–'हरि+सु रम्यः' इस स्थिति में अनुबन्ध-लोप तथा सकार के स्थान में 'ससजुषो रुः' से 'रु' होने पर अनुबन्ध-लोप होकर 'हरि र्+रम्यः' बनने पर 'पुना रमते' के समान 'रो रि' से रेफ का लोप तथा 'ढ्रलोपे०' से 'अण्' (इकार) को दीर्घ (ईकार) होकर **'हरी रम्यः'** रूप सिद्ध होता है।

शम्भू राजते–'शम्भु सु+राजते' यहाँ अनुबन्ध-लोप, 'ससजुषो रुः' से 'स्' को 'रु' होकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'शम्भु र्+राजते' इस स्थिति में 'रो रि' से रेफ का लोप और 'ढ्रलोपे०' से 'अण्' (उ) को दीर्घ (ऊ) होकर **'शम्भू राजते'** रूप बनता है।

अणः किम्? 'ढ्रलोपे०' इस सूत्र में 'अणः' ग्रहण न करके 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घः' इतना ही कह देते तो 'तृढ्+ढः' यहाँ 'ढो ढे लोपः' से पूर्ववर्ती ढकार का लोप होने पर 'तृ+ढः' इस स्थिति में ऋकार को भी दीर्घ होने लगता जो कि अनिष्ट होता। 'अण्' को दीर्घ विधान करने से ऋकार को दीर्घ नहीं हो पाता क्योंकि पूर्व णकार से बनने वाले 'अण्' प्रत्याहार में 'ऋ' वर्ण नहीं आता।

विशेष–अष्टाध्यायी-क्रम में सूत्रों के क्रम का विशेष महत्त्व है। एक ही स्थिति में दो सूत्रों की प्राप्ति एक स्थान पर होने से किस सूत्र की प्रवृत्ति पहले हो, उसका नियामक सूत्र 'विप्रतिषेधे०' इत्यादि आगे दिया जा रहा है। जिसकी भूमिका के रूप में निम्नलिखित अवतरण देखा जा सकता है।

मनस् रथः	यहाँ 'ससजुषो रुः' से सकार को 'रु' आदेश करने तथा अनुबन्ध-लोप होने पर
मनर् रथः	यहाँ 'हशि च' से 'रु' के स्थान में उत्व प्राप्त हुआ तथा 'रो रि' से रेफ परे रहते रेफ का लोप प्राप्त हुआ दोनों सूत्रों में तुल्यबल विरोध होने पर नियामक सूत्र की व्याख्या आगे की जा रही है।

११३. विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२

तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्। इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' इति 'रो रि' इत्यस्यासिद्धत्वादुत्त्वमेव। मनोरथः।

प०वि०–विप्रतिषेधे ७।१।। परम् १।१।। कार्यम् १।१।।

अर्थ–विप्रतिषेध अर्थात् तुल्यबलविरोध होने पर परकार्य (अष्टाध्यायी- क्रम में बाद वाले सूत्र के द्वारा विहित कार्य) होता है।

यथा– **'रो रि'** (८.३.१४) और **'हशि च'** (६.१.११४) में विप्रतिषेध अर्थात् तुल्यबल विरोध होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' परिभाषा के नियम से **अष्टाध्यायी-क्रम** में पर-सूत्र 'रो रि' का कार्य रेफ का लोप प्राप्त हुआ। जैसा कि इस सूत्र की पृष्ठभूमि में दिखाया गया है। किन्तु 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' सूत्र के कारण 'रो रि' (८.३.१४) त्रिपादी का सूत्र होने से 'हशि च' (६.१.११४) (सपाद सप्ताध्यायी के सूत्र) की दृष्टि में असिद्ध हो जाता है। इसलिए 'हशि च' से उत्व ही होता है।

मनोरथः	(कामना)
मनस् रथः	'ससजुषो रुः' से सकारान्त पद के अन्तिम 'अल्' सकार को 'रु' आदेश हुआ
मन रु रथः	अनुबन्ध-लोप
मन र् रथः	यहाँ 'र्' वर्ण 'हश्' प्रत्याहार में आता है इसलिए 'हशि च' सूत्र से 'हश्' परे रहते अप्लुत अकार से उत्तर 'रु' को उकार आदेश प्राप्त हुआ। इसी स्थिति में 'रो रि' से रेफ परे रहते रेफ का लोप भी प्राप्त हुआ। एक स्थिति में एक साथ दो कार्य नहीं हो सकते। इसलिए किस सूत्र का कार्य यहाँ पर किया जाए इसका निर्णय 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' परिभाषा के बल से होता है। अष्टाध्यायी क्रम में परे होने के कारण 'रो रि' (८।३।१४) प्राप्त हुआ, परन्तु 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' सूत्र से सपादसप्ताध्यायी की दृष्टि में त्रिपादी का कार्य असिद्ध माना जाता है, इसलिए 'हशि च' (६.१.११४) की दृष्टि में 'रो रि' (८.३.१४) सूत्र असिद्ध हुआ, इस प्रकार 'रो रि' को बाधकर 'हशि च' से 'रु' के स्थान में उत्व ही हुआ
मन उ रथः	'आद् गुणः' से अवर्ण से 'अच्' (उ) परे रहते गुण एकादेश 'ओ' होने पर
मनोरथः	रूप सिद्ध होता है।

११४. एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।१३२

अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपो हलि, न तु नञ्समासे।

एष विष्णुः। स शम्भुः। अकोः किम्?एषको रुद्रः। अनञ्समासे किम्?असः शिवः। हलि किम्?एषोऽत्र।

प०वि०—एतत्तदोः ६।२।। सुलोपः १।१।। अकः ६।१।। अनञ्समासे ७।१।। हलि ७।१।।

अर्थ—नञ्समास में न होने पर ककार रहित 'एतद्' और 'तद्' के 'सु' का लोप होता है 'हल्' (व्यञ्जन) परे रहते।

अकोः किम्—यद्यपि 'एतद्' और 'तद्' दोनों ही शब्द मूलतः ककार रहित हैं, किन्तु 'एतद्' और 'तद्' की सर्वनाम संज्ञा होने के कारण 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' सूत्र से 'तद्' और 'एतद्' के 'टि' भाग से पहले 'अकच्' प्रत्यय होने पर 'तद्' और 'एतद्' का ककार सहित रूप भी मिलता है। ऐसे ककार सहित 'एतद्' और 'तद्' के सुपों का लोप न हो जाये अतः 'अकोः' पद का समावेश किया गया है। इसका प्रयोजन यह है कि 'एषक+सु+रुद्रः' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से 'सु' का लोप नहीं होता और 'सु' के स्थान में 'रु' होने पर 'हशि च' से 'रु' के स्थान में उत्व और 'आद् गुणः' से गुण होकर **'एषको रुद्रः'** बनता है।

अनञ्समासे किम्—'अनञ्समासे' पद का प्रयोजन यह है कि जहाँ 'तद्' अथवा 'एतद्' के साथ 'नञ्' समास होगा, वहाँ भी 'हल्' परे रहते 'सु' का लोप नहीं होता। **यथा**—'तद्' शब्द के साथ 'नञ्' अव्यय का समास होने पर **'न सः—असः शिवः'** यहाँ 'हल्' परे रहने पर भी 'तद्' के 'सु' का लोप नहीं होता, क्योंकि यहाँ 'तद्' शब्द नञ्समास में पड़ा हुआ है। इसलिए 'वा शरि' से 'शर्' परे रहते विसर्ग के स्थान में विकल्प से विसर्गादेश होकर 'असः शिवः' रूप बनता है।

हलि किम्—सूत्र में हल्ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'तद्' और 'एतद्' शब्द से 'अच्' परे रहते 'सु' का लोप न हो, 'हल्' परे रहते ही हो। **जैसे**—'एष+स् अत्र' यहाँ प्रकृत सूत्र से 'सु' का लोप नहीं होता, अपितु 'ससजुषो रुः' से 'सु' के स्थान में 'रु' होकर 'एष रु+अत्र' यहाँ 'अतो रोर०' से 'रु' के स्थान में उत्व होने पर 'एष उ+अत्र' इस स्थिति में 'आद् गुणः' से गुण होकर 'एषो+अत्र' बनने पर 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप एकादेश होकर **'एषोऽत्र'** रूप सिद्ध होता है।

एष विष्णुः — (यह विष्णु)

एषस् विष्णुः — यहाँ 'एतद्' शब्द ककार रहित है तथा उससे परे 'हल्' (वकार) भी है और यहाँ नञ्समास भी नहीं है, इसलिए 'एतत्तदोसुलोपो०' से 'हल्' परे रहते 'सु' का लोप होकर

एष विष्णुः — रूप सिद्ध होता है।

स शम्भुः — (वह शिव)

स स् शम्भुः — यहाँ भी 'तद्' शब्द ककार रहित है तथा यहाँ नञ् समास भी नहीं है, अतः 'हल्' (श्) परे रहते 'तद्' के 'सु' का लोप होकर

स शम्भुः — रूप सिद्ध होता है।

११५. सोऽचिलोपे चेत्पादपूरणम् ६।१।१३४

स इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत। सेमामविड्ढि प्रभृतिम्। सैष दाशरथी रामः।

॥ इति विसर्गसन्धिः ॥

प०वि०—सः ६।१।। अचि ७।१।। लोपे ७।१।। चेत् अ०। पादपूरणम् १।१।। **अनु०**—सुलोपः।

अर्थ—'अच्' (स्वर) परे रहते 'तद्' सम्बन्धी 'सु' का लोप होता है यदि 'सु' का लोप होने पर पाद-पूर्ति होती हो तो।

नोटः—यहाँ पाद से अभिप्राय श्लोक (छन्द) के चतुर्थांश से है। यदि पाद-पूर्ति में मात्रा का आधिक्य हो रहा हो और छन्द की संरचना में बाधा आ रही हो तो ऐसे स्थलों पर 'अच्' (स्वर) परे रहने पर 'सः' (तद्) के 'सु' का लोप होता है।

सेमामविड्ढि प्रभृतिम्

स स् इमामविड्ढि य ईशिषे इस वैदिक उदाहरण में, जो कि 'जगती' छन्द का एक पाद है जिसमें १२ अक्षर होते हैं, यदि 'सु' का लोप न किया जाए तो एक वर्ण की अधिकता होने से छन्द भंग हो जायेगा इसलिए 'सोऽचिलोपे०' सूत्र से पाद की पूर्ति हेतु 'अच्' परे रहते 'सः' के 'सु' का लोप हो जाता है

स इमामविड्ढि	'आद् गुणः' से अवर्ण से 'अच्' परे रहते गुण एकादेश होकर
सेमामविड्ढि	रूप बनता है।
सैष दाशरथी रामः—[1]	यहाँ भी छन्द के पाद की पूर्ति के लिए स्वर परे रहते 'तद्' (स) के 'सु' का लोप हो गया
स एष दाशरथी	'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' परे रहते वृद्धि एकादेश होकर
सैष दाशरथी रामः	रूप सिद्ध होता है।

॥ विसर्गसन्धिप्रकरण समाप्त ॥

---

१. यह 'अनुष्टुप्' छन्द का एक पाद है, जिसके एक चरण में आठ अक्षर होते हैं। यदि यहाँ 'सु' का लोप न किया जाये तो सकार के स्थान 'ससजुषो रुः से 'रु' होकर 'भो भगो०' सूत्र से 'रु' के स्थान में यकार हो जायेगा। इस प्रकार 'सय्+एष.' यहाँ 'लोपः शाकल्यस्य' से विकल्प से यकार का लोप होगा, लोप होने पर अन्य सन्धि-कार्यों के अभाव में 'स एष दाशरथी रामः' बनेगा जिसमें ९ अक्षर होंगे, इस प्रकार यकार लोपाभाव पक्ष में 'सयेष दाशरथी रामः' यहाँ भी ९ अक्षर हो जाने से छन्दभंग की आशंका बनी रहेगी। यहाँ छन्दभंग न हो इसलिए 'सु' का लोप किया गया है।

अथ अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्

इस प्रकरण को प्रारम्भ करने से पूर्व कुछ ध्यान रखने योग्य बातें–

इस प्रकरण के प्रारम्भिक सूत्र, जो कि स्वाद्युत्पत्ति-प्रक्रिया में लगते हैं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अध्येता को चाहिए कि वह इस प्रकरण को हृदयङ्गम करने के लिए आगे 'रामः' (१२४) की सिद्धि में दी गई स्वाद्युत्पत्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझकर कण्ठस्थ कर लें। ऐसा करने से यह प्रकरण अत्यन्त सरलतापूर्वक समझ में आ जायेगा।

सुबन्त प्रक्रिया के प्रत्येक उदाहरण में स्वाद्युत्पत्ति की प्रक्रिया लगभग एक समान होती है। केवल विभक्ति तथा वचन विधायक सूत्र ही बदलते हैं। इसलिए एक उदाहरण में सम्पूर्ण प्रक्रिया दिखाने के बाद स्वाद्युत्पत्ति की प्रक्रिया न दिखाकर केवल 'पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर' ऐसा निर्देश किया जायेगा। परीक्षा की दृष्टि से भी विद्यार्थी को चाहिए कि वह कम से कम एक उदाहरण में स्वाद्युत्पत्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया का प्रदर्शन सूत्रों की व्याख्या एवं कार्य सहित अवश्य करे। जैसा कि **'रामः'** शब्द की सिद्धि में आप देख सकेंगे। तत्पश्चात् प्रश्नपत्र में आये उदाहरणों में स्वाद्युत्पत्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया न दिखाकर केवल मुख्य सूत्रों का उल्लेख करके और 'अन्य कार्य पूर्ववत्' कहकर सिद्धि के विस्तार से बच सकते हैं।

११६. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५

धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वा अर्थवच्छब्दरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्।

प०वि०–अर्थवत् १।१।। अधातुः १।१।। अप्रत्ययः १।१।। प्रातिपदिकम् १।१।।

अर्थ–धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़कर अर्थवान् शब्दों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होती है।

विशेष–धातु का भी अर्थ होता है तथा प्रत्यय भी किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्त करते हैं। अर्थवत् के साथ अधातु और अप्रत्यय विशेषण जोड़कर धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त से भिन्न शब्दों की ही **प्रातिपदिक** संज्ञा हो, ऐसा सूत्र में कहा गया है। धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा न होने से प्रातिपदिक से विहित 'सु' आदि प्रत्यय भी इनसे नहीं होते।

प्रत्ययान्तों में कृदन्त और तद्धितान्त इसके अपवाद हैं जिसकी चर्चा अग्रिम सूत्र में की गई है।

११७. कृत्तद्धितसमासाश्च[1] १।२।४६

कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च तथा स्युः।

कृत्तद्धितसमासाः १।३।। च अ०।। **अनु०**—प्रातिपदिकम्।

अर्थ—कृदन्त, ('कृत' संज्ञक प्रत्यय अन्त वाले) तद्धितान्त ('तद्धित' संज्ञक प्रत्यय अन्त वाले) और समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होती है।

विशेष—पूर्व सूत्र में प्रत्यय और प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध 'अप्रत्ययः' पद के द्वारा किया गया है। इसलिए पूर्व सूत्र से प्रत्ययान्त होने के कारण कृत्प्रत्ययान्त तथा तद्धितप्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकती थी। जबकि आचार्य कृत्प्रत्ययान्त और तद्धितप्रत्ययान्त शब्दों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा करना चाहते हैं, जिससे 'प्रातिपदिक' से होने वाले स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति तथा अन्य कार्य कृदन्त और तद्धितान्त से भी हो सकें। सूत्र में पठित समास की तो अर्थवान् होने के कारण पूर्व सूत्र से ही 'प्रातिपदिक' संज्ञा प्राप्त थी। पुनः इसका प्रयोजन क्या है? भट्टोजिदीक्षित आदि विद्वानों ने समासग्रहण को नियम के लिए माना है। जहाँ शब्द-समुदाय की अर्थवान् होने पर भी प्रातिपदिक संज्ञा हो तो केवल समास की ही हो, वाक्य की नहीं। आशय यह है कि जहाँ अनेक पदों के समूह की प्रातिपदिक संज्ञा हो वहाँ केवल समास की ही हो, उसके अतिरिक्त वाक्यों की नहीं।

११८. प्रत्ययः ३।१।१

(आपञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम्)

प०वि०—प्रत्यय १।१।।

अर्थ—यह संज्ञा अधिकार सूत्र है पञ्चम अध्याय की परिसमाप्ति तक अधिकार जायेगा।

विशेष—अधिकार-सूत्र प्रायः अपने स्थान पर किसी विशेष अर्थ को अभिव्यक्त नहीं करते, अपितु बाद में आने वाले सूत्रों के साथ मिलकर उनके अर्थ को पूरा करते हैं। अधिकार भी एक प्रकार की अनुवृत्ति ही होती है जो कुछेक सूत्रों तक न जाकर अनेक पादों तथा अध्यायों तक जाती है।

---

१. सूत्र में कृत् और तद्धित कहने से 'येन विधिस्तदन्तस्य' परिभाषा के कारण कृदन्त और तद्धितान्त का ग्रहण किया जाता है, केवल कृत् और तद्धित का नहीं। वैसे भी कृत्, तद्धित इत्यादि प्रत्यय बिना प्रकृति के प्रयुक्त नहीं होते, इसलिए प्रकृति सहित प्रत्यय अर्थात् तदन्त का ही ग्रहण होता है।

११९. परश्च ३।१।२

(अयमपि तथा)

प०वि०–परः १।१।। च अ०।। **अनु०**–प्रत्ययः।

यह भी अधिकार सूत्र है। इसकी अनुवृत्ति भी पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक जायेगी।

अर्थ–प्रत्यय परे होता है। अर्थात् जिसकी 'प्रत्यय' संज्ञा की जाती है वह स्थान का निर्देश न किये जाने पर परे होता है।

१२०. ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४।१।१

(ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्चेत्यापञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारः)

प०वि०–ङ्याप्प्रातिपदिकात् ५।१।।

यह अधिकार सूत्र है। पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक इस सूत्र का अधिकार जाएगा। इस सूत्र का अपने स्थान पर केवल इतना ही अर्थ है-'ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक से उत्तर'। इतने मात्र से वाक्य आकाङ्क्षा बनी रहती है। इसलिए इस सूत्र की सार्थकता परवर्ती सूत्रों में अधिकार (अनुवृत्ति) के रूप में ही होती है।

इस सूत्र में **'ङी'** से **ङीप्**, **ङीष्** और **ङीन्** का तथा **'आप्'** से **चाप्**, **टाप्** और **डाप्** प्रत्ययों का ग्रहण होता है।

१२१. स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसांङ्योस्सुप्। ४।१।२

(ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः)

सु, औ, जस् इति प्रथमा। अम्, औट्, शस् इति द्वितीया। टा, भ्याम्, भिस् इति तृतीया। ङे, भ्याम्, भ्यस् इति चतुर्थी। ङसि, भ्याम्, भ्यस् इति पञ्चमी। ङस्, ओस्, आम् इति षष्ठी। ङि, ओस्, सुप् इति सप्तमी।

प०वि०–स्वौजसमौट्छ...........सुप् १।१।। **अनु०**–ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च।

अर्थ–ङ्यन्त (ङीप्, ङीष् और ङीन् प्रत्ययान्त) से, आबन्त (चाप्, टाप् और डाप् प्रत्ययान्त) से और प्रातिपदिक से परे **सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङसि, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस् और सुप् प्रत्यय होते हैं।**

विशेष–इन २१ प्रत्ययों के तीन-तीन के समूह को क्रमशः 'सु', 'औ', 'जस्' को **प्रथमा**, 'अम्', 'औट्', 'शस्' को **द्वितीया**, 'टा', 'भ्याम्', 'भिस्' को **तृतीया**, 'ङे', 'भ्याम्', 'भ्यस्' को **चतुर्थी**, 'ङसि', 'भ्याम्', 'भ्यस्' को **पञ्चमी**, 'ङस्', 'ओस्', 'आम्' को **षष्ठी** तथा 'ङि', 'ओस्', 'सुप्' को **सप्तमी** नामों से जाना जाता है।

१२२. सुपः १।४।१०३

सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकशः एकवचन-द्विवचन-बहुवचनसञ्ज्ञानि स्युः।

प०वि०—सुपः ६।१।। **अनु०**—त्रीणि-त्रीणि, एकवचनद्विवचनबहुवचनानि, एकशः।

अर्थ—'सुप्' अर्थात् सु, औ, जस् आदि २१ प्रत्ययों के तीन-तीन के समुदाय (प्रथमा, द्वितीया आदि) में एक-एक की क्रमशः 'एक वचन', 'द्वि वचन' और 'बहु वचन' संज्ञाएं होती हूैं।

विशेष—'सुप्' के विभक्ति तथा वचन विषयक विभाजन को सरलता पूर्वक हृदयङ्गम करने के लिए निम्न लिखित तालिका का बार-बार अवलोकन करना चाहिए:

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सु	औ	जस्
द्वितीया	अम्	औट्	शस्
तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्
चतुर्थी	ङे	भ्याम्	भ्यस्
पञ्चमी	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्
सप्तमी	ङि	ओस्	सुप्

१२३. द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२

द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः।

प०वि०—द्व्येकयोः ७।२।। द्विवचनैकवचने १।२।।

अर्थ—द्वित्व तथा एकत्व की विवक्षा में क्रमशः 'द्विवचन' तथा 'एकवचन' (संज्ञक प्रत्यय) होते हैं।

१२४. विरामोऽवसानम् १।४।११०

वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात्। रुत्वविसर्गौ-रामः।

प०वि०—विरामः १।१।। अवसानम् १।१।।

अर्थ—विराम अर्थात् वर्णों के अभाव की 'अवसान' संज्ञा होती है।

विशेष-काशिकाकार ने 'विराम' शब्द के दो अर्थ किये हैं—१. वर्णों का अत्यन्त अभाव (विरतिर्विरामः); २. शब्द अथवा वाक्य का अन्तिम वर्ण जिसके पश्चात् कोई दूसरा वर्ण न हो (विरम्यतेऽनेनेति वा विरामः)। इस प्रकार 'अवसान' संज्ञा को दो प्रकार से समझा जा सकता है—(क) किसी भी शब्द के अन्तिम वर्ण से आगे अभाव की 'अवसान' संज्ञा होती है। (ख) किसी भी शब्द के अन्तिम वर्ण की ही 'अवसान' संज्ञा होती है।

(राम)

रामः राम	'अर्थवदधातु०' से धातु, प्रत्यय तथा प्रत्ययान्त से भिन्न अर्थवान् शब्द 'राम' की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से 'स्वौजसमौट्छष्टा०' से 'राम' से 'सु' आदि २१. प्रत्यय (सुप्) प्राप्त हुए, 'विभक्तिश्च' से 'सुप्' के तीन-तीन के समूह की 'विभक्ति' (प्रथमादि) संज्ञा हुई, 'सुपः' से 'सुप्' के तीन-तीन के समुदाय में एक-एक की क्रमशः एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन संज्ञा होने पर 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' से प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा विभक्ति प्राप्त हुई, 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' से एकवचन की विवक्षा में एकवचन संज्ञक प्रत्यय 'सु' आया
राम सु	'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से उपदेश में अनुनासिक 'अच्' उकार की 'इत्' संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञक उकार का लोप हुआ
राम स्	'सुप्तिङन्तं पदम्' से सुबन्त 'राम+स्' की 'पद' संज्ञा होने से 'ससजुषो रुः' से सकारान्त पद को 'रु' आदेश प्राप्त हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' सकार के स्थान में 'रु' हुआ
राम रु	अनुबन्ध-लोप
राम र्	'विरामोऽवसानम्' से वर्णों के अत्यन्ताभाव रूप विराम की 'अवसान' संज्ञा होने से 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से अवसान में 'र्' के स्थान में विसर्ग आदेश होकर
रामः	रूप सिद्ध होता है।

१२५. सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ १।२।६४

एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि, तेषामेक एव शिष्यते।

प०वि०—सरूपाणाम् ६।३।। एकशेषः १।१।। एकविभक्तौ ७।१।।

अर्थ—एक विभक्ति (समान विभक्ति) परे रहते जो एक समान रूप वाले शब्द देखे जाते हैं उनमें से एक (शब्द) ही शेष रहता है।

अथवा—दो या दो से अधिक समान रूप वाले शब्दों के बाद एकसमान विभक्ति लगने पर उनमें से केवल एक शब्द ही शेष रहता है, अन्य सभी शब्द हट जाते हैं या उनका लोप हो जाता है।

विशेष—'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' सूत्र के अर्थ और उसकी प्रवृत्ति विषयक परम्परावादी मतविमर्शपूर्वक पाणिनि-सम्मत अर्थ और प्रक्रिया में उसकी प्रवृत्ति विषयक निर्णय—

परम्परावादी व्याख्या में 'एकविभक्तौ' पद में दिखाई देने वाला 'विभक्ति' शब्द सारूप्य का उपलक्षण माना जाता है, एकशेष में निमित्त नहीं। इसलिए विभक्ति की उत्पत्ति से पहले ही बिना किसी निमित्त के समान रूप वाले शब्दों में से एक शब्द शेष रहता है तथा अन्य निवृत्त हो जाते हैं। परम्परावादी आचार्यों का मत है कि यदि सुपों (सु, औ, जस् आदि) की उत्पत्ति से पहले एकशेष न किया जाए, तो प्रत्येक से विभक्ति की उत्पत्ति होने लगेगी तथा 'चार्थे द्वन्द्वः' से द्वन्द्व समास करके ही समास के अवयवभूत सुपों का 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से लुक् (निवारण) सम्भव हो सकेगा। इसके विपरीत सुपों की उत्पत्ति से पहले ही एकशेष हो जाने से 'द्वन्द्व' की प्राप्ति ही नहीं होगी। इस प्रकार सरूप शब्दों में से अवशिष्ट एक शब्द के द्वारा लुप्त होने वाले शब्दों के अर्थ का अभिधान हो जाने से द्विवचन संज्ञक 'औ' आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होकर 'रामौ', 'रामाः' आदि रूप सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं होती।[१]

परम्परावादी आचार्यगण **रामौ, रामाः** आदि की सिद्धि-प्रक्रिया में 'चार्थे द्वन्द्वः' से द्वन्द्व समास न करके अनिमित्तक एकशेष मानने में तीन हेतु देते हैं। उनका मन्तव्य है कि द्वन्द्व समास पहले करने पर तीन दोष आते हैं।

प्रथम आक्षेप—उनका मानना है कि यदि एकशेष से पहले 'द्वन्द्व' समास करते हैं, तो 'अश्वश्च अश्वश्चेति अश्वौ' यहाँ 'अश्व सु अश्व सु' इस स्थिति में 'चार्थे द्वन्द्वः' से इतरेतरयोग अर्थ में द्वन्द्व समास तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से प्रातिपदिक (समास) के अवयवभूत सुपों का लुक् करके समस्तपद 'अश्व-अश्व' से प्रथमा-विभक्ति का द्विवचन 'औ' आने पर एकशेष की अपेक्षा अन्तरङ्ग होने के कारण 'समासस्य' से अन्तोदात्त (समस्त पद के अन्तिम अच् को उदात्त) पहले हो जाएगा। तदनन्तर 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' से दो सरूप 'अश्व' शब्दों में से एक शेष रहेगा। यहाँ समस्या यह पैदा होती है कि यदि पूर्ववर्ती 'अश्व' शब्द को शेष रखा जाए, तो वह सर्वानुदात्त होगा और यदि उत्तरवर्ती 'अश्व' शब्द को शेष माना जाए, तो वह अन्तोदात्त होगा। इस प्रकार यहाँ अव्यवस्था बनी रहेगी।

---

१. एक विभक्तौ यानीति—विभक्तिः सारूप्ये उपलक्षणम्, न तु एकशेषे निमित्तम्। एवं चानिमित्तकत्वेनान्तरङ्गोऽयमेकशेषः सुबुत्पत्तेः प्रागेव प्रवर्तते। यद्येतन्नारभ्येत, तर्हि प्रत्येकं विभक्तिः स्याद् द्वन्द्वश्च प्रवर्तेत। आरब्धे त्वेकशेषेऽनेकसुबन्तनिरहाद् द्वन्द्वप्राप्तिरेव नास्तीति भावः। ननु सुबुत्पत्तेः प्रागेकशेषप्रवृत्तौ शिष्यमाणं यत्प्रातिपदिकं तदेकमेवार्थं बोधयतीति द्विवचनाद्युत्पत्तौ रामौ रामा इत्यादि न सिध्येत्। नैष दोषः, शिष्यमाणस्य लुप्यमानार्थभिधायित्वात्। (तत्त्व बो.)

द्वितीय आपेक्ष–'ऋक् च ऋक् चेति ऋचौ' की सिद्धि-प्रक्रिया में 'ऋच् सु ऋच् सु' यहाँ 'चार्थे द्वन्द्वः' से समास तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से सुपों का लुक् करने पर समस्तपद से उत्पन्न होने वाली 'औ' विभक्ति की अपेक्षा अन्तरङ्ग होने के कारण 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' से समासान्त 'अ' प्रत्यय पहले करना पड़ेगा। इससे, तदनन्तर प्रथमा विभक्ति द्विवचन में 'औ' आने से समस्यमान पदों और विभक्ति के मध्य 'अ' प्रत्यय आ जाने से अव्यवहित परे विभक्ति नहीं मिल पाएगी तथा एकविभक्तिनिमित्तक एकशेष भी नहीं हो सकेगा।

तृतीय आक्षेप–तृतीय आक्षेप यह है कि जब प्राणियों के अङ्गवाची शब्दों 'पादौ' 'पादाः' आदि में यदि पहले द्वन्द्व समास करके तदनन्तर एकशेष किया जाए, तो वहाँ 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' से प्राणियों के अङ्गवाची शब्दों के समास में एकवद्भाव की प्रसक्ति होने लगेगी तथा 'पादौ' और 'पादाः' इत्यादि रूप सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

ये तीन दोष हैं, जो द्वन्द्व समास करने की स्थिति में आते हैं। इनसे बचने के लिए विभक्ति को एकशेष में निमित्त न मानकर सरूप्य का उपलक्षण माना जाता है तथा विभक्ति की उत्पत्ति से पहले ही 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' से एकशेष करना न्यायसंगत माना जाता है। ऐसा सिद्धान्तकौमुदीकार, उनके टीकाकार वासुदेव दीक्षित आदि तथा पदमञ्जरीकार हरदत्त मिश्र और न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि आदि मानते हैं।

'सरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ' सूत्र का पाणिनि-सम्मत अर्थ और उसकी युक्तियुक्तता–प्रस्तुत सूत्र में 'एकविभक्तौ' पद में दिखाई देने वाला –'एक' शब्द 'समान' शब्द का पर्याय है। अतः सूत्रार्थ इस प्रकार किया जा सकता है–**'समान विभक्ति परे रहते समान रूप वाले शब्दों में से एक शेष रहता है।'** प्रस्तुत सूत्रार्थ पाणिनि की शास्त्रीय भाषा (Metalanguage) के अनुरूप प्रतीत होता है। 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' परिभाषा के द्वारा निर्दिष्ट सप्तमी विभक्ति का विशिष्ट अर्थ यहाँ सुसंगत होता है। काशिकाकार भी इसी मत से सहमत प्रतीत होते हैं।[१] उनके द्वारा प्रदत्त वृत्ति में (सूत्रार्थ में) समान विभक्ति (एकविभक्ति) को एकशेष में निमित्त माना गया है।

उपर्युक्त अर्थ को स्वीकार करने के पीछे तर्क यह है कि जब राम और लक्ष्मण को एक साथ कहने के लिए **रामश्च लक्ष्मणश्चेति रामलक्ष्मणौ** की सिद्धि-प्रक्रिया

---

१. समानं रूपमेषामिति सरूपाः। सरूपाणां शब्दानां एकविभक्तौ परतः एकशेषो भवित। एकः शिष्यते इतरे निवर्तन्ते। (काशिका–१.२.६४)

में 'राम सु लक्ष्मण सु' इस स्थिति में 'च' के इतरेतरयोग अर्थ में 'चार्थे द्वन्द्वः' से समास हो सकता है, तो 'राम' नाम वाले दो भिन्न व्यक्तियों को एक साथ कहने के लिए 'रामश्च रामश्चेति रामौ' कि सिद्धि-प्रक्रिया में, 'रामलक्ष्मणौ' के समान परिस्थिति में, 'राम सु राम सु' यहाँ 'चार्थे द्वन्द्वः' से 'च' के इतरेतरयोग अर्थ में समास-विधान क्यों नहीं किया जा सकता?

दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर एक समान परिस्थिति बनने पर दो भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं को स्वीकार करना पाणिनि के संरचना विधान के मूलभूत सिद्धान्त 'लाघव' के अनुरूप प्रतीत नहीं होता तथा इसमें दो भिन्न प्रकार की व्युत्पत्ति कल्पनारूप गौरव भी होता है। इसलिए हमारा यह मन्तव्य है कि 'रामलक्ष्मणौ' के समान 'रामौ' की सिद्धि-प्रक्रिया में पहले 'चार्थे द्वन्द्वः से समास तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से सुपों का लुक् होता है तथा उसके बाद 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा के बल से लुप्त सुपों को निमित्त मानकर 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार 'रामलक्ष्मणौ' और 'रामौ' आदि में सर्वत्र एकसमान प्रक्रिया स्वीकार करने से प्रक्रिया-लाघव भी होता है तथा 'एकविभक्तौ' पद में पर-सप्तमी मानने पर विभक्ति के एकशेष में निमित्त बन जाने से 'विभक्ति' शब्द को सारूप्य का उपलक्षण मानने जैसी क्लिष्ट कल्पना से बचा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त स्वाद्युत्पत्ति से पूर्व केवल सरूप प्रातिपदिकों का 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' से अनिमित्तक एकशेष कर देने पर 'रामश्च रामश्चेति रामौ' इस तथाकथित एकशेष वृत्ति के व्याख्यानभूत विग्रह वाक्य में 'च' के द्वारा प्रदर्शित 'इतरेतर योग' अर्थ की अभिव्यक्ति 'रामौ' पद से कैसे हो सकेगी, इस अतिरिक्त अनुत्तरित प्रश्न का उत्तर भी खोजना पड़ेगा। क्योंकि 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' सूत्र में 'चार्थे' की अनुवृत्ति सम्भव नहीं है। यदि यह कहा जाए कि पूर्ववर्ती सूत्र 'तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे' से 'द्वन्द्वे' पद की अनुवृत्ति लाकर उसमें विषय-सप्तमी मानकर 'द्वन्द्व समास का विषय उपस्थित होने पर' ऐसा अर्थ स्वीकार करने से 'च' के अर्थ 'इतरेतरयोग' में द्वन्द्व समास का विषय बनने पर 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' सूत्र की प्रवृत्ति हो जाएगी, तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण समास प्रकरण में 'सुप्', 'सुपा' और 'सह' पदों का अधिकार होने से द्वन्द्व समास का विषय सुप्

---

१. कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते। (परिभाषा)

विभक्ति सहित प्रथमान्त पदों के मध्य बनता है। विभक्ति की उत्पत्ति से पूर्व नहीं। अत: 'द्वन्द्व' समास का विषय बनने मात्र पर स्वाद्युत्पत्ति से पहले 'राम राम' इस स्थिति में 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' सूत्र से एकशेष होता है' ऐसा सूत्र का व्याख्यान सुनने में आकर्षक और सुविधा जनक तो लगता है, परन्तु पाणिनि के आशय के अनुरूप प्रतीत नहीं होता। यदि समानरूप वाले सुबन्त पदों के मध्य 'द्वन्द्व' समास से पहले समान विभक्ति परे रहते 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' से एकशेष करते हैं, तो अनेक 'राम' शब्दों में से अन्यों की निवृत्तिपूर्वक एक 'राम' शब्द तो शेष रह जाएगा, परन्तु उनके साथ विद्यमान प्रथमा विभक्ति के एकवचन संज्ञक 'सु' प्रत्ययों की निवृत्ति नहीं हो सकेगी। यदि ये कहें कि 'सु' विभक्ति सहित 'राम' की निवृत्ति हो जाएगी, तो वह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि 'सु' विभक्ति अपनी निवृत्ति का स्वयं निमित्त नहीं हो सकती। सिद्धान्तत: कार्यी को निमित्त नहीं माना जा सकता।[१] यदि यथाकथंचित् यह मान भी लिया जाए कि एक 'राम' शब्द को छोड़कर अन्य सभी विभक्ति सहित निवृत्त हो जाएंगे, तो भी अवशिष्ट 'राम' शब्द के साथ विद्यमान 'सु' विभक्ति को कैसे हटाया जाये, यह समस्या बनी रहेगी।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी कारणों के आधार पर निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' सूत्र में 'विभक्ति' सारूप्य का उपलक्षण न होकर एकशेष में निमित्त है। इसके अतिरिक्त आचार्य पाणिनि ने कहीं भी स्वकण्ठत: विभक्ति को सारूप्य का उपलक्षण नहीं कहा है और न ही उनके किसी विशिष्ट विधान से ऐसा संकेत मिलता है।

इसके विपरीत 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' सूत्र में 'द्वन्द्वे' पद की अनुवृत्ति लाने पर उसमें 'सत् सप्तमी' या 'भावलक्षणसप्तमी'[१] मानकर 'सरूपाणाम्०' सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है–**'द्वन्द्व समास होने पर सरूप शब्दों में से एकशेष रहता है, समान विभक्ति पर रहते।'**

जहाँ तक समास करने पर, परम्परावादी आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट दोषों और आक्षेपों का प्रश्न है, उनका समाधान कोई दुष्कर कार्य नहीं है।

प्रथम आक्षेप का समाधान–'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' सूत्र में 'द्वन्द्वे' पद की अनुवृत्ति होने के कारण 'द्वन्द्व' समास के अनन्तर ही एकशेष होना चाहिए, ऐसा सूत्राकार

१. 'यस्य च भावेनभावलक्षणम्'

का अभीष्ट प्रतीत होता है। समास होने पर एकशेष से भी पहले 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से सुपों का लुक् हो जाता है।[१] तदनन्तर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त प्रत्यय 'सु' विभक्तियों को निमित्त मानकर समस्तपद से उत्पन्न होने वाली विभक्ति प्रथमा के द्विवचन 'औ' की उत्पत्ति से पूर्व ही एक 'अश्व' शब्द शेष रहता है तथा अन्य निवृत्त हो जाते हैं। जहाँ तक 'अश्वश्च अश्वचेति अश्वौ' यहाँ अवशिष्ट 'अश्व' शब्द के स्वर सम्बन्धी प्रश्न है, उसके विषय में यह समाधान हो सकता है कि 'सरूपाणाम्' पद में निर्धारण अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। अनेकों में से एक का पृथक्-करण निर्धारण कहलाता है।[२] समास होने पर अनेक सरूप शब्दों में से एकशेष विधान ही इस बात का ज्ञापक है कि समास होने पर भी समस्यमान सरूप पदों के सरूपत्व और अनेकत्व का व्याघात नहीं होता तथा समस्यमान शब्द 'अश्व' अपने मूलरूप में ही रहते हैं। उन्हीं अपरिवर्तित स्वरूप वाले समास के घटकभूत अनेक 'अश्व' शब्दों में से एक 'अश्व' शब्द शेष रहता है। यह एकशेष समास के आश्रित स्वर विधान से पहले होता है। यदि 'समासस्य' से समस्त पद के अन्तिम अच् को उदात्त कर दिया जाए, तो समस्यमान पूर्ववर्ती 'अश्व' शब्द सर्वानुदात्त तथा उत्तरवर्ती अन्तिम 'अश्व' शब्द अन्तोदात्त हो जाएगा। इस प्रकार स्वर भिन्न होने से उनका सरूपत्व नहीं मिल पाएगा। अतः आचार्य द्वारा अनेक सरूप शब्दों में से एकशेष विधान ही इस विषय में ज्ञापक है कि सरूपशब्दों का 'द्वन्द्व' समास होने पर भी उनके स्वरूप में किसी प्रकार के परिवर्तन या विकार से पहले अर्थात् स्वरविधान या समासाश्रित प्रत्यय आदि की उत्पत्ति से पहले ही एकशेष हो जाता है तथा 'अश्व' शब्द का अपना मूल स्वर यथावत् बना रहता है।

द्वितीय आक्षेप का समाधान—'ऋक् च ऋक् चेति ऋचौ' आदि में 'ऋच् सु ऋच् सु' यहाँ 'चार्थे द्वन्द्वः' से समास तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से सुपों का लुक् होने पर समस्त पद से आने वाली विभक्ति=**प्रथमा विभक्ति के द्विवचन 'औ'** की अपेक्षा अन्तरङ्ग होने के कारण पहले 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' से 'अ' प्रत्यय करना पड़ेगा, तदनन्तर प्रथमा विभक्ति का द्विवचन संज्ञक प्रत्यय 'औ' आएगा तथा 'ऋच् ऋच् अ औ' इस स्थिति में समस्यमान पदों और विभक्ति 'औ' के मध्य 'अ' प्रत्यय का व्यवधान आने से विभक्ति परे नहीं मिलेगी तथा एकविभक्तिनिमित्तक एकशेष नहीं हो सकेगा। परम्परावादी आचार्यों का यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि एकशेष का निमित्त समस्त पदों से आने वाली 'औ'

---

१. सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलीयान्। (परिभाषा)
२. बहुषु एकस्य पृथक्-करणं निर्धारणम्।

विभक्ति नहीं है अपितु समस्यमान पदों से उत्तर विग्रहवाक्यस्थ 'सु' विभक्तियाँ हैं, जिनका 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से लुक् किया है। उन्हीं लुप्त 'सु' आदि को 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से निमित्त मानकर (परे मानकर) 'सरूपाणमेकशेष एकविभक्तौ' से एकशेष किया जाता है। यहाँ पूर्व पक्ष की तरफ से यह शंका हो सकती है कि समास की अन्तर्वर्तिनी विभक्तियों को निमित्त मानकर होने वाले एकशेष की अपेक्षा स्वर विधान अल्प अपेक्षा होने के कारण अन्तरङ्ग है। अतः वही पहले होना चाहिए।

इसका समाधान भी प्रथम आक्षेप के समाधान के समान ही है। अर्थात् 'सरूपाणाम्' पद में निर्दिष्ट निर्धारणार्थक षष्ठी विभक्ति के बहुवचन और 'द्वन्द्वे' पद की अनुवृत्ति से आचार्य का यह आशय (ज्ञापन) ज्ञापित होता है कि 'द्वन्द्व' समास होने पर भी, एकशेष करने के लिए, एकपदत्व और तदाश्रित सम्भावित स्वरविधान अर्थात् समस्त पद का अन्तोदात्तत्व अविवक्षित है। अतः इस ज्ञापक का आश्रय लेकर पहले एकशेष हो जाएगा तथा उसके बाद समासाश्रित कार्य स्वर-विधान और समासान्त प्रत्यय -विधान यथा-प्राप्त हो जाएंगे। ऐसा करने से 'रामलक्ष्मणौ' और 'रामौ' में दो भिन्न प्रक्रियाओं का आश्रय नहीं लेना पड़ेगा। अतः द्विधा व्युत्पत्ति-कल्पनारूप गौरव दोष से बचने के लिए हमने 'रामौ' और 'रामाः' आदि द्विवचन और बहुवचन शब्दों की सिद्धि-प्रक्रिया में द्वन्द्व समास के पश्चात् एकशेष को प्रदर्शित किया है। यही प्रक्रिया आचार्य पाणिनि को भी अभीष्ट है ऐसा प्रतीत होता है।

तृतीय आक्षेप का समाधान—परम्परावादी आचार्यों का एक आक्षेप यह है कि प्राणियों के अङ्गवाची शब्दों के समास में यदि 'द्वन्द्व' समास की प्रसक्ति होगी, तो वहाँ 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' से एकवद्भाव की प्रसक्ति होने लगेगी तथा 'पादौ' और 'पादाः' आदि रूप सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

इस आक्षेप का समाधान यह हो सकता है कि 'सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति' इससे विहित द्वन्द्व समास में वैकल्पिक एकवद्भाव को व्यवस्थित विभाषा माना जा सकता है।[१] इससे प्राणियों के समाङ्गवाचियों के 'द्वन्द्व' में एकवद्भाव नहीं होता। भिन्न अङ्गवाचियों के 'द्वन्द्व' समास में एकवद्भाव होता है। इस प्रकार की व्यवस्था मान लेने से 'पाणिपादम्' आदि भिन्न अङ्गवाची शब्दों के 'द्वन्द्व' समास में यथादृष्ट

१. व्यवस्थितविभाषयाऽपि कार्याणि क्रियन्ते। (परिभाषा)

एकवद्भाव भी हो जाएगा, और 'पादौ', 'पादा:' आदि में यथेष्ट द्विवचन और बहुवचन भी हो सकेंगे।

एक अन्य आपेक्ष और उसका समाधान—'वृक्षौ च वृक्षाश्चेति वृक्षा:' यहाँ 'वृक्ष औ वृक्ष जस्' इस स्थिति में 'चार्थे द्वन्द्व:' से समास होने पर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो: से 'औ' और 'जस्' का लुक् करने पर जब प्रत्ययलक्षण से समानविभक्ति को निमित्त मानकर एकशेष करते हैं, तो यह शंका की जाती है कि 'औ' और 'जस्' तो समान नहीं हैं, अत: समानविभक्ति को निमित्त मानकर होने वाला एकशेष यहाँ कैसे हो सकता है?

इस आक्षेप का समाधान यह है कि 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' सूत्र में एकविभक्ति अर्थात् समानविभक्ति को एकशेष में निमित्त माना गया है, सरूप विभक्ति को नहीं। यहाँ 'औ' और 'जस्' यद्यपि सरूप नहीं है, तथापि दोनों ही 'प्रथमा' संज्ञक हैं। प्रथमासंज्ञक विभक्ति के घटक होने से 'प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्ति:' सिद्धान्त की विद्यमानता में ये दोनों 'औ' और 'जस्' वचनभेद तथा स्वरूप भेद होने पर भी प्रथमा (विभक्ति) संज्ञक होते हैं। अत: समान-विभक्ति प्रथमा ('औ' और 'जस्') परे मिलने से 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' से एकशेष में कोई बाधा नहीं आती तथा 'वृक्षा:' रूप सिद्ध हो जाता है।

निष्कर्षत: सम्भावित आक्षेपों के निराकरण के पश्चात् कहा जा सकता है कि रामौ, रामा: आदि की सिद्धि प्रक्रिया में द्वन्द्व समास के बाद लुप्त विभक्तियों को निमित्त मानकर एकशेष होता है, अनिमित्तक द्वन्द्व का विषय उपस्थित होने मात्र पर बिना विभक्तियों के नहीं।

पुनरपि इस संशोधित संस्करण में परम्परा के आग्रह का सम्मान करते हुए 'रामौ' की सिद्धि-प्रक्रिया के 'द्वन्द्व' समास रहित अनिमित्तक एकशेष वाले प्रकार को भी दे दिया गया है।

१२६. प्रथमयो: पूर्वसवर्ण: ६।१।१०२

अक: प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश: स्यात्। इति प्राप्ते-

प०वि०—प्रथमयो: ६।२।। पूर्वसवर्ण: १।१।। **अनु०**—अक:, अचि।

अर्थ--'अक्' (अ, इ, उ, ऋ, लृ) से उत्तर प्रथमा और द्वितीया विभक्ति सम्बन्धी 'अच्' (स्वर) परे हो तो पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होता है।

इस सूत्र का अधिक स्पष्टीकरण अग्रिम सूत्र के उदाहरण में हो सकेगा।

१२७. नाऽऽदिचि ६।१।१०४

आदिचि न पूर्वसवर्णदीर्घः। वृद्धिरेचि-रामौ।

प०वि०--न अ०।। आत् ५।१।। इचि ७।१।। अनु०-पूर्वसवर्णः, दीर्घः, एकः, पूर्वपरयोः।

अर्थ-अवर्ण से उत्तर 'इच्' (इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर पूर्व वर्ण का सवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होता।

रामौ	दो राम (रामश्च रामश्चेति)
राम सु राम सु	'चार्थे द्वन्द्वः' से द्वन्द्व समास होकर 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से 'सुपो धातु०' से प्रातिपदिक के अवयव सुपों का लुक् हुआ
राम राम	'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' से एक विभक्ति (समान विभक्ति) 'सु' परे रहते समान रूपवाले दो 'राम' शब्दों में से एक शेष रहा तथा दूसरा लुप्त हो गया
राम	स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर पूर्ववत् 'प्रातिपदिकार्थ०' से प्रथमा विभक्ति और 'द्व्येकयो०' से द्विवचन की विवक्षा में 'औ' आया
राम औ	'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से 'अक्' (अवर्ण) से उत्तर प्रथमा सम्बन्धी अच् 'औ' परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ। यहाँ 'अ' से उत्तर प्रथमा सम्बन्धी अच् 'औ' परे है, जो 'इच्' प्रत्याहार के अन्तर्गत भी आता है, अतः अपवाद सूत्र 'नादिचि' से अवर्ण से इच्' परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ का

निषेध होने पर 'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर 'वृद्धि' एकादेश (आ, ऐ, और औ में से कोई एक आदेश) प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से अन्तरतम आदेश 'औ' होकर

रामौ — रूप सिद्ध होता है।

विशेष–परम्परा में स्वीकृत सिद्धान्तपक्षानुरूप द्वन्द्व समास किये बिना अनिमित्तक एकशेष वाली 'रामौ' की सिद्धि–प्रक्रिया आगे दी जा रही है–

रामौ — दो राम (रामाश्च रामश्चेति)

राम राम — 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' से एक (समान) विभक्ति सु आदि परे रहते समान रूप में देखे गए समान रूप वाले दो 'राम' शब्दों में से, बिना किसी निमित्त के 'द्वन्द्व' का विषय बनने मात्र पर, एकशेष रहा तथा दूसरा निवृत्त (लुप्त) हो गया।

राम — स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर पूर्ववत् 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग-परिमाणवचनमात्रे प्रथमा' से प्रथमा विभक्ति तथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनैक-वचने' से द्विवचन की विवक्षा में 'औ' आया।

राम औ — 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से 'अक्' (अवर्ण) से उत्तर प्रथमा–सम्बन्धी अच् 'औ' परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर पूर्णसवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ, यहाँ 'अ' से उत्तर प्रथमा–सम्बन्धी अच् 'औ' परे है, जो 'इच्' प्रत्याहार के अन्तर्गत भी आता है, अतः अपवाद सूत्र 'नादिचि' से अवर्ण से उत्तर 'इच्' (औ) परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध होने पर 'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से उत्तर 'एच्' परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर 'वृद्धि' एकादेश (**आ, ऐ** और **औ** में से कोई एक आदेश) प्राप्त हुआ। 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'अ' और 'औ' स्थानियों का अन्तरतम वृद्धि संज्ञक वर्ण 'औ' आदेश होकर

रामौ — रूप सिद्ध होता है।

१२८. बहुषु बहुवचनम् १।४।२१

बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात्।

प०वि०—बहुषु ७।१।। बहुवचनम्। १।१।।

अर्थ—बहुत्व की विवक्षा में 'बहुवचन' होता है। अर्थात् यदि दो से अधिक संख्या की विवक्षा हो तो 'बहुवचन' संज्ञक प्रत्यय होता है।

१२९. चुटू १।३।७

प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः।

प०वि०—चुटू १।२।। **अनु०**—प्रत्ययस्य, आदिः, इत्, उपदेशे।

अर्थ—उपदेश में प्रत्यय के आदि में आने वाले चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) और टवर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) 'इत्' संज्ञक होते हैं।

१३०. विभक्तिश्च १।४।१०४

सुप्तिङौ विभक्ति संज्ञौ स्तः।

प०वि०—विभक्तिः १।१।। च अ०।। **अनु०**—सुपः, तिङः, त्रीणि-त्रीणि।

अर्थ—'सुप्' और 'तिङ्' प्रत्ययों के तीन-तीन के समूह (समुदाय) विभक्ति संज्ञक होते हैं। अर्थात् **सु, औ, जस्** आदि २१ 'सुप्' प्रत्ययों की तथा **तिप्, तस्, झि** आदि १८ 'तिङ्' प्रत्ययों की 'विभक्ति' संज्ञा होती है।

१३१. न विभक्तौ तुस्माः १।३।४

विभक्तिस्थास्तवर्गसकारमकारा नेतः। इति सस्य नेत्वम्। रामाः।

प०वि०—न अ०।। विभक्तौ ७।१।। तुस्माः १।३।। **अनु०**—उपदेशे, इत्।

अर्थ—उपदेश में विभक्ति में स्थित तवर्ग, सकार और मकार की 'इत्' की संज्ञा नहीं होती।

रामाः	बहुत राम (रामश्च रामश्च रामश्चेति)
राम सु राम सु राम सु	'चार्थे द्वन्द्वः' से द्वन्द्व समास होने पर 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
राम राम राम	'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' से एकविभक्ति 'सु' परे रहते समान रूप वाले तीन 'राम' शब्दों में से एक शेष रहा तथा अन्य लुप्त हो गये
राम	यहाँ समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने के कारण स्वाद्युत्पत्ति के 'स्वौजसमौट्०' आदि सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' से प्रथमा-विभक्ति तथा 'बहुषु बहुवचनम्' से बहुवचन का प्रत्यय 'जस्' आया, जो 'विभक्तिश्च' से 'विभक्ति' संज्ञक भी है
राम जस्	'चुटू' से जकार की 'इत्' संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से लोप हुआ

राम अस्	'हलन्त्यम्' से उपदेश में अन्तिम 'हल्' सकार की 'इत्' संज्ञा प्राप्त हुई, परन्तु 'न विभक्तौ तुस्माः' से विभक्ति में स्थित सकार की 'इत्' संज्ञा का निषेध हो गया 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से 'अक्' (अ) से उत्तर प्रथमा सम्बन्धी 'अच्' (अ) परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश (आ) हुआ
रामास्	'सुप्तिङन्तं पदम्' से सुबन्त की 'पद' संज्ञा होने पर 'ससजुषो रुः' से सकारान्त पद के अन्तिम वर्ण सकार को 'रु' आदेश हुआ
रामा रु	अनुबन्ध-लोप, 'विरामोऽवसानम्' से 'अवसान' संज्ञा होने पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से अवसान में रेफ को विसर्ग होकर
रामाः	रूप सिद्ध होता है।

विशेष–इससे आगे जहाँ भी उदाहरणों में भी द्विवचन और बहुवचन के शब्दरूपों की सिद्धि-प्रक्रिया दिखाई जायेगी, वहाँ-वहाँ अनावश्यक विस्तार से बचने के लिए द्वन्द्वसमास विधायक सूत्र और उसके आश्रित कार्य तथा 'सरूपाणामेकशेष०' इत्यादि सूत्र न दिखाकर केवल मूलप्रातिपदिक से द्विवचन में 'औ' तथा बहुवचन में 'जस्' विभक्ति आदि लगने के कार्य दिखाये जायेंगे। इसलिए ऊपर बताये गये कार्य अन्य सिद्धियों में भी 'रामौ' और 'रामाः' के समान जानें।

१३२. एकवचनं सम्बुद्धिः २।३।४९

सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात्।

प०वि०–एकवचनम् १।१।। सम्बुद्धिः १।१।। **अनु०**–प्रथमा, सम्बोधने।

अर्थ–सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का एकवचन 'सम्बुद्धि' संज्ञक होता है।

यह सूत्र सम्बोधन के एकवचन में 'सु' की 'सम्बुद्धि' संज्ञा करता है। इसका प्रयोजन 'हे राम' इत्यादि उदाहरणों में स्पष्ट होगा।

१३३. यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।२३

यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्नङ्गं स्यात्।

प०वि०–यस्मात् ५।१।। प्रत्ययविधिः ।१।१।। तदादि १।१।। प्रत्यये ७।१।। अङ्गम् १।१।।

अर्थ–जिस प्रकृति से प्रत्यय का विधान किया है उस प्रकृति का आदि वर्ण आदि में है जिस शब्दस्वरूप के, उसकी प्रत्यय परे रहते 'अङ्ग' संज्ञा होती है।

विशेष–सूत्र में पठित 'तदादि' पद को समझने पर ही सूत्रार्थ स्पष्ट हो सकता है। **'तस्य आदि–तदादि, तदादि आदिर्यस्य सोऽपि तदादि'** यहाँ पहले षष्ठी-तत्पुरुष समास है, जिसमें 'तत्' से प्रकृति का ग्रहण होता है। इसलिए तस्य आदि='तदादि' का

अर्थ होगा 'प्रकृति का आदि वर्ण।' पुनः मध्यपदलोपी बहुव्रीहि समास किया गया है—(तदादि आदिर्यस्य) प्रकृति का आदि वर्ण आदि में है जिस प्रकृति के उस आदि वर्ण सहित वह प्रकृति (तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि) 'तदादि' पद से गृहीत होती है।

१३४. एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ६।१।६९

एङन्ताद् ह्रस्वान्ताच्चाङ्गाद् हल्लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत्। हे राम! हे रामौ! हे रामाः

प०वि०—एङ्ह्रस्वात् ५।१।। सम्बुद्धेः ६।१।। **अनु०**—हल्, लोपः।

अर्थ—एङन्त (ए और ओ अन्त वाले) और ह्रस्वान्त अङ्ग से उत्तर सम्बुद्धि (सम्बोधन के एकवचन) के अवयव 'हल्' का लोप होता है। यथा—

हे राम!

हे राम	स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'सम्बोधने च'[१] से सम्बोधन अर्थात् अभिमुखीकरण में भी प्रथमा विभक्ति तथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' से एकत्व की विवक्षा में एकवचन संज्ञक 'सु' आया
हे राम सु	'एकवचनं सम्बुद्धिः' से सम्बोधन के एकवचन में होने वाले 'सु' की 'सम्बुद्धि' संज्ञा हुई, अनुबन्ध-लोप
हे राम स्	'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' से जिस 'राम' शब्द से 'सु' प्रत्यय का विधान किया है उस प्रकृति 'राम' का आदि वर्ण 'र्' आदि में है जिसके (राम के), उस 'राम' की 'सु' प्रत्यय परे रहते 'अङ्ग' संज्ञा होने पर 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' से ह्रस्वान्त अङ्ग 'राम' से परे सम्बुद्धि के हल् 'स्' का लोप होकर
हे राम!	रूप सिद्ध होता है।

हे रामौ! हे रामाः! की सिद्धि-प्रक्रिया सूत्र १२७ व १३१ की में दी गई 'रामौ' और 'रामाः' की सिद्धि-प्रक्रिया के समान जानें।

विशेष—हे रामौ! और हे **रामाः!** में केवल इतना ही विशेष होगा कि वहाँ प्रथमा विभक्ति, 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' सूत्र से न आकर 'सम्बोधने च' से आती है।

१३५. अमि पूर्वः ६।१।१०७

अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः। रामम्। रामौ।

प०वि०—अमि ७।१।। पूर्वः १।१।। **अनु०**—अकः, अचि, एकः, पूर्वपरयोः।

अर्थ—अक् (अ, इ, उ, ऋ, लृ) से उत्तर 'अम्' सम्बन्धी 'अच्' परे हो तो पूर्व और पर वर्ण के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है।

---

१. प्रातिपदिकार्थ के बिना सम्बोधन का प्रयोग नहीं होता, अतः प्रातिपदिकार्थ के साथ सम्बोधन अर्थ की अधिकता होने पर भी प्रथमा होती है,' यह इस सूत्र का अभिप्रायः है।

रामम्	(राम को)
राम	'अर्थवदधातुरप्रत्ययः०'[1] से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर, स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति तथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' से द्वितीया के एक-वचन में 'अम्' आया
राम अम्	यहाँ 'हलन्त्यम्' से मकार की इत्संज्ञा प्राप्त थी, जिसका 'न विभक्तौ तुस्माः' से निषेध हो गया। 'अमि पूर्वः' से 'अक्' (अ) से उत्तर अम् सम्बन्धी 'अच्' (अ) परे रहते पूर्व और पर वर्णों के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होकर
रामम्	रूप सिद्ध होता है।

विशेष–'राम+अम्' यहाँ **'अकः सवर्णे दीर्घः'** से दीर्घ एकादेश प्राप्त था, जिसे अपवाद होने के कारण **'अतो गुणे'** ने बाध लिया और पररूप एकादेश प्राप्त कराया, जिसे परत्व से तथा अपवाद होने के कारण बाधकर **'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः'** से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ, जिसे, अपवाद (विशेष विधान) होने के कारण, बाधकर 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होता है। इस प्रकार **'अमि पूर्वः'** उक्त तीनों सूत्रों का बाधक है।

रामौ–द्वितीया विभक्ति, द्विवचन में 'औट्' आने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'रामौ' (१२७) के समान जानें।

१३६. लशक्वतद्धिते १।३।८

तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या ल-श-कवर्गा इतः स्युः।

प०वि०–लशकु १।१।। अतद्धिते ७।१।। **अनु०**–प्रत्ययस्य, आदिः, इत्, उपदेशे।

अर्थ–तद्धित (प्रत्ययों) को छोड़कर उपदेश में प्रत्यय के आदि में लकार, शकार और कवर्ग (क्, ख्, ग्, घ् और ङ्) इत्संज्ञक होते हैं।

१३७. तस्माच्छसो नः पुंसि ६।१।१०३

पूर्वसवर्णदीर्घात् परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात् पुंसि।

प०वि०–तस्मात् ५।१।। शसः ६।१।। नः १।१।। पुंसि। ७।१।।

---

१. जहाँ भी 'रामः' आदि प्रथमाविभक्ति के एक-वचन में रूप सिद्ध करने होंगे, वहाँ 'अर्थवद-धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' से ही शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होगी। परन्तु जहाँ द्वि-वचन तथा बहु-वचन के शब्द रूप सिद्ध करने होंगे, वहाँ राम आदि अनेक शब्दों का समास तथा एकशेष आदि होने पर 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से ही प्रातिपदिक संज्ञा होती है। जैसा कि 'रामौ' तथा 'रामाः' आदि सिद्धियों में दिखाया गया है।

सूत्र में पठित 'तस्मात्' शब्द अष्टाध्यायी क्रम में अपने से पूर्ववर्ती सूत्र 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से विहित पूर्वसवर्ण दीर्घ का परामर्श (ग्रहण) कराता है।

अर्थ–पूर्वसवर्ण दीर्घ से उत्तर 'शस्' के (सकार के) स्थान पर नकारादेश होता है पुल्लिंग में।

'शस्' के स्थान पर विहित नकारादेश **'अलोऽन्त्यस्य'** परिभाषा से अन्तिम 'अल्' सकार के स्थान पर होता है।

१३८. अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२

अट् कवर्गः पवर्ग आङ् नुम् एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात् समानपदे। इति प्राप्ते–

प०वि०–अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये ७।१।। अपि अ०।। **अनु०**–रषाभ्याम्, नः, णः, समानपदे।

अर्थ–'अट्' प्रत्याहार में आने वाले वर्ण (अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्), कवर्ग (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्), पवर्ग (प्, फ्, ब्, भ्, म्), आङ् (आ) और नुम् (न्) इन सभी वर्णों का सम्मिलित अथवा अलग-अलग व्यवधान होने पर भी एकपद में 'र्' या 'ष्' से परे 'न्' के स्थान पर 'ण्' आदेश होता है।

विशेष–यह सूत्र **'रषाभ्यां णो नः समानपदे'** के क्षेत्र का विस्तार करता है। 'रषाभ्यां०' से रेफ और षकार से अव्यवहित उत्तरवर्त्ती नकार के स्थान ही णकार आदेश प्राप्त था, अन्य वर्णों के व्यवधान होने पर नहीं। प्रकृतसूत्र के द्वारा रेफ और षकार से उत्तर अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् के व्यवधान होने पर भी नकार के स्थान में णकार विधान कर दिया गया।

१३९. पदान्तस्य ८।४।३७

नस्य णो न। रामान्।

प०वि०–पदान्तस्य ६।१।। **अनु०**–रषाभ्याम्, नः, णः, न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि।

अर्थ–रेफ और षकार से उत्तर अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् का व्यवधान होने पर भी पदान्त में नकार के स्थान में णकार आदेश नहीं होता।

रामान्	रामों को (रामश्च रामश्च रामश्चेति रामाः, तान्)
राम	पूर्ववत् ('रामाः' (१३१) के समान) समासादि होकर, 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' से एक 'राम' शब्द शेष रहने पर स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर, 'कर्मणि द्वितीया' से अनभिहित कर्म में द्वितीया विभक्ति तथा 'बहुषु बहुवचनम्' से बहुवचन में 'शस्' आया

राम शस्	'हलन्त्यम्' से सकार की 'इत्' संज्ञा प्राप्त हुई, जिसका 'न विभक्तौ तुस्माः' से निषेध, 'लशक्वतद्धिते' से प्रत्यय के आदि में 'शकार' की 'इत्' संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से उसका लोप हुआ
राम अस्	'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से 'अक्' (अ) से उत्तर द्वितीया सम्बन्धी 'अच्' (अ) परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश 'आ' हुआ
रामास्	'तस्माच्छसो नः पुंसि' से पूर्वसवर्ण दीर्घ से उत्तर 'शस्' के सकार को नकार आदेश हुआ
रामान्	यहाँ 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्य०' से रेफ से उत्तर अटादि के व्यवधान होने पर भी नकार को णकारादेश प्राप्त हुआ। 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'रामान्' की 'पद' संज्ञा होने के कारण 'पदान्तस्य' से पदान्त नकार को णकारादेश का निषेध होकर
रामान्	रूप सिद्ध होता है।

१४०. टाङसिङसामिनात्स्याः ७।१।१२

अदन्तात् टादीनामिनादयः स्युः। णत्वम्-रामेण।

प०वि०–टाङसिङसाम् ६।३।। इनात्स्याः १।३।। **अनु०**–अतः, अङ्गस्य।

अर्थ–अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) अङ्ग से उत्तर 'टा', 'ङसि' और 'ङस्' के स्थान में (क्रमशः) 'इन', 'आत्' और 'स्य' आदेश होते हैं।

रामेण	(राम के द्वारा)
राम	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से अनभिहित 'कर्त्ता' या 'करण' में तृतीया विभक्ति तथा 'द्व्येकयोर्द्वि०' से एकवचन की विवक्षा में 'टा' आया
राम टा	'यस्मात्प्रत्ययविधि०' से 'टा' प्रत्यय परे रहते 'राम' की 'अङ्ग' संज्ञा है और वह अकारान्त भी है। अतः 'टाङसिङसामिनात्स्याः' से 'टा' को 'इन' आदेश हुआ, 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' से अनेक 'अल्' वाला आदेश सम्पूर्ण 'टा' के स्थान में हुआ
राम इन	'आद् गुणः' से अवर्ण से 'अच्' परे रहते गुण एकादेश होने पर 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर
रामेण	रूप सिद्ध होता है।

१४१. सुपि च ७।३।१०२

यञादौ सुपि अतोऽङ्गस्य दीर्घः। रामाभ्याम्।

प०वि०–सुपि ७।१।। च अ०।। **अनु०**–अतः, अङ्गस्य, दीर्घः, यञि।

अर्थ—यञादि (यञ् आदि में है जिसके ऐसा) 'सुप्' प्रत्यय परे रहते अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) अङ्ग को दीर्घ होता है।

रामाभ्याम्	दो रामों के द्वारा (रामश्च रामश्चेति रामौ, ताभ्याम्)
राम	'रामाः' (१३१) की सिद्धि के समान समासादि सभी कार्य होकर 'सरूपाणामेकशेष०' आदि कार्य होने पर 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से अनभिहित कर्ता या करण में तृतीया विभक्ति तथा 'द्व्येकयोर्द्वि०' से द्विवचन में 'भ्याम्' आया
राम भ्याम्	यहाँ 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्त०' से 'भ्याम् परे रहते 'राम' की 'अङ्ग' संज्ञा होने से 'राम' अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) अङ्ग है तथा उससे परे 'भ्याम्' यञादि 'सुप्' है, अतः 'सुपि च' से यञादि 'सुप्' परे रहते अदन्त अङ्ग को दीर्घ होकर
रामाभ्याम्	रूप सिद्ध होता है।

१४२. अतो भिस ऐस् ७।१।९

४५–'अनेकाल् शित्सर्वस्य'। रामैः।

प०वि०—अतः ५।१।। भिसः ६।१।। ऐस् १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य।

अर्थ--अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) अङ्ग से उत्तर 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' आदेश होता है।

विशेषः—अनेकाल् होन के कारण 'ऐस्' आदेश 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण 'भिस्' के स्थान पर होता है।

रामैः	रामों के द्वारा (रामश्च रामश्च रामश्चेति रामाः, तैः) 'रामाः' (१३१) के समान समासादि कार्य होकर एकशेषादि होने पर 'स्वाद्युत्पत्ति' के सभी सूत्र लगकर 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से अनभिहित कर्त्ता या करण में तृतीया विभक्ति तथा 'बहुषु बहुवचनम्' से बहुवचन में 'भिस्' आया
राम भिस्	'अतो भिस ऐस्' से ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से उत्तर 'भिस्' को 'ऐस्' आदेश हुआ
राम ऐस्	'हलन्त्यम्' से 'ऐस्' के सकार की 'इत्' संज्ञा प्राप्त हुई। 'न विभक्तौ तुस्माः' से सकार की 'इत्' संज्ञा का निषेध होने पर 'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' (ऐ) परे रहते वृद्धि एकादेश, 'रामः' (१२४) के समान सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर
रामैः	रूप सिद्ध होता है।

१४३. ङेर्यः ७।१।१३

अतोऽङ्गात् परस्य ङेर्यादेशः।

प०वि०–ङेः ६।१।। यः १।१।। **अनु०**–अतः, अङ्गस्य।

अर्थ–अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) अङ्ग के उत्तर 'ङे' के स्थान में 'य' आदेश होता है।

१४४. स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १।१।५६

आदेशः स्थानिवत् स्यात्, न तु स्थान्यलाश्रयविधौ। इति स्थानिवत्त्वात् १४१-'सुपि च' इति दीर्घः। रामाय। रामाभ्याम्।

प०वि०–स्थानिवत् अ०।। आदेशः १।१।। अनल्विधौ ७।१।।

यह अतिदेश सूत्र है।

अर्थ– आदेश स्थानी के समान होता है, अल्विधि को छोड़कर।

विशेष–जिसके स्थान पर विधान किया जाता है उसे **'स्थानी'** और जो कुछ विधान किया जाता है उसे **'आदेश'** कहा जाता है। 'स्थानी' तथा 'आदेश' दोनों भिन्न होते हैं। 'स्थानी' की अपनी अलग विशेषताएँ और धर्म हो सकते हैं और 'आदेश' के अपने अलग। इसलिए 'स्थानी' को निमित्त मानकर होने वाले कार्य 'आदेश' होने के बाद नहीं हो सकते। प्रकृत सूत्र का पूर्वार्द्ध **'स्थानीवदादेशः'** व्यवस्था करता है कि 'आदेश' को ही 'स्थानी' के समान (स्थानीवत्) मान लिया जाए। इससे 'स्थानी' को निमित्त मानकर होने वाले कार्य, 'आदेश' होनं के पश्चात् 'स्थानी' (निमित्त) के न रहने पर भी, हो सकेंगे। सूत्र का उत्तरार्द्ध **'अनल्विधौ'** पद इसके क्षेत्र को सीमित करता है। अर्थात् स्थानी रूप 'अल्' के आश्रित विधि में 'आदेश' को स्थानिवत् नहीं माना जाता।

'अल्विधिः' शब्द एक समस्त पद है, जिसका विग्रह चार प्रकार से हो सकता है–१. अला विधिः (तृतीया तत्पुरुष), २. अलः विधिः (पञ्चमी तत्पुरुष), ३. अलः विधिः (षष्ठी तत्पुरुष), 4. अलि विधिः (सप्तमी तत्पुरुष)। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा-**आदेश स्थानीवत् होता है, अल्विधि को छोड़कर, अर्थात् स्थानीरूप अल् के द्वारा, स्थानीरूप अल् से उत्तर, स्थानीरूप अल् के स्थान में और स्थानीरूप अल् परे रहते पूर्व में विधि करनी हो तो 'आदेश' स्थानीवत् नहीं होता।**

रामाय	(राम के लिए)
राम ङे	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'चतुर्थी सम्प्रदाने' से 'सम्प्रदान' कारक में चतुर्थी विभक्ति तथा 'द्व्येकयो०' से एकवचन की विवक्षा में 'ङे' आने पर 'ङेर्यः' से ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से उत्तर 'ङे' के स्थान में 'य' आदेश हुआ
राम य	यहाँ 'ङे' के स्थान में होने वाला 'य' आदेश 'सुप्' नहीं है। 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' परिभाषा से आदेश (य) को स्थानी (ङे) के समान माना जाता है। अर्थात् 'ङे' जैसे 'सुप्' था वैसे

	ही 'य' भी 'सुप्' माना जाता है। ऐसा मानने पर 'सुपि च' से यञादि 'सुप्' परे रहते अदन्त अङ्ग को दीर्घ होकर
रामाय	रूप सिद्ध होता है।

रामाभ्याम्–'राम+भ्याम्' में चतुर्थी द्विवचन का 'भ्याम्' यञादि भी है तथा 'सुप्' भी, अतः 'सुपि च' से दीर्घ होकर '**रामाभ्याम्**' सिद्ध होता है।

१४५. बहुवचने झल्येत् ७।३।१०३

झलादौ बहुवचने सुपि अतोऽङ्गस्यैकारः। रामेभ्यः। सुपि किं?पचध्वम्।

प०वि०–बहुवचने ७।१।। झलि ७।१।। एत् १।१।। **अनु०**–अतः, अङ्गस्य, सुपि।

अर्थ–झलादि बहुवचन 'सुप्' परे रहते अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) अङ्ग को एकारादेश होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश अन्तिम वर्ण 'अकार' के स्थान पर ही होगा।

रामेभ्यः	रामों के लिए (रामश्च रामश्च रामश्चेति रामाः, तेभ्यः)
राम भ्यस्	पूर्ववत् ('रामाः', १३१ के समान) समास तथा एकशेष आदि सभी कार्य होकर 'चतुर्थी सम्प्रदाने' से अनभिहित सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति तथा 'बहुषु बहुवचनम्' से बहुवचन में 'भ्यस्' आने पर 'बहुवचने झल्येत्' से बहुवचन संज्ञक झलादि 'सुप्' (भ्यस्) प्रत्यय परे रहते अदन्त अङ्ग को एकारादेश हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम वर्ण अकार को एकार हुआ
रामे भ्यस्	'रामः' (१२४) के समान सकार को 'ससजुषो रुः' से रुत्व और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः से रेफ को विसर्ग होकर
रामेभ्यः	रूप सिद्ध होता है।

सुपि किम्–सूत्र में 'सुपि' की अनुवृत्ति का प्रयोजन यह है कि जहाँ बहुवचन का झलादि 'तिङ्' प्रत्यय परे होगा, वहाँ यह सूत्र कार्य नहीं करेगा। **जैसे**–'पच+ध्वम्' यहाँ 'ध्वम्' मध्यम पुरुष, बहुवचन का 'तिङ्' प्रत्यय झलादि भी है। यदि 'सुपि' की अनुवृत्ति नहीं लाते तो यहाँ भी अदन्त अङ्ग को एकारादेश होकर 'पचेध्वम्' अनिष्ट रूप बनता। 'सुपि' कहने से 'ध्वम्' के 'सुप्' न होने से यहाँ 'बहुवचने झल्येत्' सूत्र नहीं लगता।

१४६. वाऽवसाने ८।४।५६

अवसाने झलां चरो वा। रामात्, रामाद्। रामाभ्याम्। रामेभ्यः। रामस्य।

प०वि०–वा अ०।। अवसाने ७।१।। **अनु०**–झलाम्, चर्।

अर्थ–अवसान में झलों (वर्गों को प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण और श्, ष्, स्, ह्) के स्थान में विकल्प से 'चर्' (च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष् और स्) आदेश होते हैं।

रामात् (राम से)

राम ङसि — पूर्ववत् (**रामः** १२४ के समान) स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'अपादाने पञ्चमी' से पञ्चमी विभक्ति तथा 'द्व्येकयो०' से एकवचन में 'ङसि' आने पर 'यस्मात्प्रत्ययविधि०' से 'ङसि' परे रहते 'राम' की 'अङ्ग' संज्ञा हुई। इसलिए 'टाङसिङसामिनात्स्याः' से अदन्त अङ्ग से उत्तर 'ङसि' के स्थान पर 'आत्' आदेश हुआ

राम आत् — 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ

रामात् — 'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में 'झल्' तकार को 'जश्' दकार आदेश हुआ

रामाद् — 'विरामोऽवसानम्' से वर्णों के अत्यन्त अभाव अथवा अन्तिम वर्ण की 'अवसान' संज्ञा होने पर 'वाऽवसाने' से अवसान में झलों को विकल्प से 'चर्' आदेश अर्थात् 'द्' को 'त्' होने पर

रामात् — रूप सिद्ध होता है।

रामाद्—'चर्' आदेश न होने पर 'रामाद्' ही रहता है।

रामाभ्याम्, रामेभ्यः—पञ्चमी के द्विवचन में 'रामाभ्याम्' तथा बहुवचन में 'रामेभ्यः' चतुर्थी के द्विवचन तथा बहुवचन के समान सिद्ध होंगे। केवल विभक्ति-विधायक सूत्र **'अपादाने पञ्चमी'** भिन्न होगा।

रामस्य (राम का)

राम ङस् — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति तथा 'द्व्येकयो०' से एकवचन में 'ङस्' आकर 'यस्मात्प्रत्ययविधि०' से 'अङ्ग' संज्ञा होने पर 'टाङसिङसामिनात्स्याः' से अदन्त अङ्ग से उत्तर 'ङस्' को 'स्य' आदेश हुआ

राम स्य — संहिता होने पर

रामस्य — रूप सिद्ध होता है।

१४७. ओसि च ७।३।१०४

अतोऽङ्गस्यैकारः। रामयोः।

प०वि०—ओसि ७।१।। च अ०।। **अनु०**—अतः, अङ्गस्य, एत्।

अर्थ—'ओस्' (षष्ठी और सप्तमी विभक्ति का द्विवचन) परे रहते अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) अङ्ग को एकारादेश होता है।

रामयोः दो रामों का (रामश्च रामश्चेति रामौ, तयोः)

राम ओस् — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति तथा 'द्व्येकयो०'

से द्विवचन में 'ओस्' आने पर 'ओसि च' से 'ओस्' परे रहते अदन्त अङ्ग को एकारादेश प्राप्त हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' अकार के स्थान में एकार हुआ

राम् ए ओस् — 'एचोऽयवायावः' से 'अच्' (ओ) परे रहते, 'एच्' (ए) के स्थान में, 'अय्' आदेश हुआ

राम् अय् ओस् — पूर्ववत् सकार के स्थान में रुत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश होकर रूप सिद्ध होता है।

रामयोः

१४८. ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४

ह्रस्वान्ताद् नद्यन्ताद् आबन्ताच्चाङ्गात् परस्यामो नुडागमः।

प०वि०—ह्रस्वनद्यापः ५।१।। नुट् १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, आमि।

अर्थ—ह्रस्वान्त, आबन्त तथा नद्यन्त अङ्ग से परे 'आम्' को 'नुट्' आगम होता है। 'टित्' होने के कारण 'नुट्' आगम 'आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से 'आम्' का आद्यवयव बनेगा।

विशेष—'आबन्त' शब्द वे होते हैं जिनके अन्त में 'चाप्', 'टाप्' तथा 'डाप्' प्रत्यय आते हैं। इन तीनों प्रत्ययों में अनुबन्ध-लोप के बाद 'आप्' शेष रहता है। अतः ये आबन्त शब्द कहलाते हैं। 'नदी' एक परिभाषिक (संज्ञा) शब्द है। दीर्घ ईकारान्त और ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिंग शब्द 'नदी' संज्ञक होते हैं।[1]

१४९. नामि ६।४।३

अजन्तस्याङ्गस्य दीर्घः। रामाणाम्। रामे। रामयोः। एत्वे कृते–

प०वि०—नामि ७।१।। **अनु०**—दीर्घः, अचः, अङ्गस्य।

अर्थ—'नाम्' (नुट् आगम सहित आम्) परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है।

रामाणाम् — रामों का (रामश्च रामश्च रामश्चेति रामाः, तेषाम्)

राम आम् — 'रामाः' (१३१) के समान समास तथा एकशेष आदि होकर षष्ठी-बहुवचन में 'आम्' आने पर 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से ह्रस्वान्त अङ्ग (राम) से उत्तर 'आम्' को 'नुट्' आगम हुआ, 'टित्' होने के कारण 'नुट्' आगम 'आद्यन्तौ०' से 'आम्' का आद्यवयव बना

राम नुट् आम् — अनुबन्ध-लोप

राम न् आम् — 'नामि' से 'नाम्' परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ हुआ

---

१. यू स्त्र्याख्यौ नदी।

रामा नाम् — 'अट्कुप्वाङ्०' से रेफ से उत्तर 'अट्' आदि का व्यवधान होने पर भी नकार को णकार होकर

रामाणाम् — रूप सिद्ध होता है।

रामे — (राम में)

राम ङि — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'सप्तम्यधिकरणे च' से अधिकरण में सप्तमी विभक्ति तथा 'द्व्येकयो०' से एकवचन में 'ङि' आया, अनुबन्ध-लोप

राम इ — 'आद् गुणः' से अवर्ण से 'अच्' (इ) परे रहते पूर्व और पर को गुण एकादेश (ए) होकर

रामे — रूप सिद्ध होता है।

रामयोः—'राम+ओस्' में 'ओस्' प्रत्यय सप्तमी-द्विवचन में आया है। शेष कार्य षष्ठी-द्विवचन 'रामयोः' (१४७) के समान जानें।

१५०. आदेशप्रत्यययोः ८।३।५९

इण्कुभ्यां परस्यापदान्तस्य आदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः। ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः। रामेषु। एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः।

प०वि०—आदेशप्रत्यययोः ६।२।। **अनु०**—सः, अपदान्तस्य, मूर्धन्यः, इण्कोः।

अर्थ—'इण्' (इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्) और कवर्ग (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) से परे अपदान्त आदेशरूप सकार एवं प्रत्यय के अवयवभूत सकार के स्थान में मूर्धन्य (ष्) आदेश होता है।

सकार का आभ्यन्तर प्रयत्न 'ईषद्विवृत' है अतः 'स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा के कारण अन्तरतम मूर्धन्य वर्ण ईषद्विवृत 'ष्' ही सकार के स्थान पर आदेश होगा।

रामेषु — रामों में (रामश्च रामश्च रामश्चेति रामाः, तेषु)

राम सुप् — 'रामाः' (१३१) के समान समास तथा एकशेष आदि होकर 'सप्तम्यधिकरणे च' से अधिकरण कारक में सप्तमी-विभक्ति तथा 'बहुषु०' से बहुवचन में 'सुप्' आया, अनुबन्ध-लोप

राम सु — 'बहुवचने झल्येत्' से बहुवचन संज्ञक झलादि सुप् प्रत्यय 'सुप्' परे रहते अदन्त अङ्ग को एकार हुआ

रामे सु — 'आदेशप्रत्यययोः' से 'इण्' (ए) से परे प्रत्यय के अवयव अपदान्त सकार को मूर्धन्य आदेश प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से षकार आदेश होकर

रामेषु — रूप सिद्ध होता है।

'राम' शब्द के सभी विभक्तियों में सभी रूपों की सिद्धि-प्रक्रिया के समान 'कृष्ण' आदि अन्य अदन्त रूपों की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

१५१. सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२७

सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम।

(ग० सू०) पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्।

(ग० सू०) स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्।

(ग० सू०) अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः।

त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्।

प०वि०—सर्वादीनि १।३।। सर्वनामानि १।३।।

अर्थ—सर्वादिगण में पढ़े हुए सर्व, विश्व, उभ आदि शब्द 'सर्वनाम' संज्ञक होते हैं।

सर्वादिगण में तीन गण-सूत्र भी पढ़े हैं जो किन्हीं विशेष अर्थों में ही कुछ शब्दों की 'सर्वनाम' संज्ञा का विधान करते हैं।

(ग० सू०)-**पूर्वपरावरदक्षि०-अर्थ**—'पूर्व', 'पर', 'अवर', 'दक्षिण', 'उत्तर', 'अपर' तथा 'अधर' ये सात शब्द व्यवस्था में तथा असंज्ञा अर्थ में 'सर्वनाम' संज्ञक होते हैं।

(ग० सू०) **स्वमज्ञाति०—अर्थ**—ज्ञाति (बान्धव) तथा धन अर्थ से भिन्न अर्थ के वाचक 'स्वम्' (स्व) शब्द की 'सर्वनाम' संज्ञा होती है।

(ग० सू०) **अन्तरं बहि०—अर्थ**—बहियोंग (बाहर का) और उपसंव्यान (अधीनस्थ) अर्थ में 'अन्तर' शब्द 'सर्वनाम' संज्ञक होता है।

सर्वादिगण में पठित शब्द जिनकी 'सर्वनाम' हुई वे इस प्रकार हैं—सर्व (सब), विश्व (सब), उभ (दो), उभय (दो का समूह), डतर (१), डतम (२), अन्य (दूसरा), अन्यतर (दो में से एक), इतर (अन्य), त्वत् (अन्य), त्व (अन्य), नेम (आधा), सम (सब), सिम (सब), (इनके अतिरिक्त (ग० सू०)१ पूर्व (पहला), पर (दूसरा), अवर (पश्चिम), दक्षिण (दक्षिण दिशा), उत्तर (उत्तर दिशा), अपर (दूसरा), अधर (नीचा) ये सात शब्द व्यवस्था और असंज्ञा में **सर्वनाम** संज्ञक होते हैं। (ग० सू०) २ 'ज्ञाति' तथा 'धन' अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थों में 'स्व'-शब्द की सर्वनाम-संज्ञा होती है। (ग० सू०) ३- बर्हियोग और उपसंव्यान अर्थ में 'अन्तर' शब्द सर्वनाम-संज्ञक होता है। (अवशिष्ट शब्द) त्यद् (वह), तद् (वह), यद् (जो), एतद् (यह), इदम् (यह), अदस् (वह), एक (एक), द्वि (दो), युष्मद् (तुम), अस्मद् (मैं), भवतु (आप) तथा किम् (कौन) शब्द भी **सर्वनाम** संज्ञक होते हैं।

१५२. जसः शी ७।१।१७

अदन्तात् सर्वनाम्नो जसः शी स्यात्। अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः। सर्वे।

प०वि०–जसः ६।१। शी १।१।। **अनु०**–अतः, अङ्गस्य, सर्वनाम्नः।

अर्थ–अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) सर्वनाम अङ्ग से उत्तर 'जस्' के स्थान पर 'शी' आदेश होता है।

विशेष–वरदराज ने 'शी' को अनेकाल् मानकर उसे सम्पूर्ण 'जस्' के स्थान में (सर्वादेश) माना है। यहाँ एक स्वाभाविक शंका ये होती है कि 'शकार' अनुबन्ध होने के कारण 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' परिभाषा से 'शी' आदेश एकाल् ही माना जाना चाहिए। इसलिए 'शित्' धर्म सर्वादेश का हेतु है, ऐसा कहना चाहिए। इस शंका का समाधान यह है कि 'शी' के शकार की 'इत्' संज्ञा तो 'जस्' के स्थान पर आदेश होने के बाद स्थानीवद्भाव से प्रत्ययत्व धर्म आने पर होती है। इसलिए आदेश होते समय 'शी' न तो 'शित्' है और न ही 'एकाल्'। यही कारण है कि वरदराज ने 'अनेकाल्त्व' को सर्वादेश का हेतु माना है, 'शित्' धर्म को नहीं।

सर्वे	सब (बहुवचन)
सर्व जस्	'रामाः' (१३१) के समान समास तथा एकशेष आदि होने पर 'सर्व' (प्रातिपदिक) से पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा- बहुवचन में 'जस्' आया। 'सर्व' शब्द सर्वादिगण में पठित होने से 'सर्वादीनि सर्वनामानि' से 'सर्वनाम' संज्ञक होने से 'जसः शी' से अदन्त सर्वनाम से उत्तर 'जस्' के स्थान में 'शी' आदेश हुआ, 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण 'जस्' के स्थान में 'शी' हुआ
सर्व शी	अनुबन्ध-लोप
सर्व ई	'आद् गुणः' से अवर्ण से 'अच्' परे रहते गुण एकादेश होकर
सर्वे	रूप सिद्ध होता है।

१५३. सर्वनाम्नः स्मै ७।१।१४

अतः सर्वनाम्नो ङेः स्मै। सर्वस्मै।

प०वि०–सर्वनाम्नः ५।१।। स्मै १।१।। **अनु०**–ङे, अतः, अङ्गस्य।

अर्थ–अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) सर्वनाम अङ्ग से उत्तर 'ङे' के स्थान पर 'स्मै' आदेश होता है।

सर्वस्मै	(सब के लिए)
सर्व ङे	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, चतुर्थी विभक्ति एकवचन में 'ङे' आया, 'सर्वादीनि सर्व०' से 'सर्व' शब्द की 'सर्वनाम' संज्ञा होने के कारण 'सर्वनाम्नः स्मै' से अदन्त सर्वनाम से उत्तर 'ङे' स्थान में 'स्मै' आदेश हुआ, 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' से अनेकाल् होने के कारण सम्पूर्ण 'ङे' के स्थान पर 'स्मै' आदेश हुआ

सर्व स्मै	संहिता होकर
सर्वस्मै	रूप सिद्ध होता है।

१५४. ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ७।१।१५

अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः। सर्वस्मात्।

प०वि०–ङसिङ्योः ६।२।। स्मात्स्मिनौ १।२।। **अनु०**–अतः, अङ्गस्य, सर्वनाम्नः।

अर्थ–अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) सर्वनाम अङ्ग से उत्तर 'ङसि' और 'ङि' के स्थान पर क्रमशः 'स्मात्' और 'स्मिन्' आदेश होते हैं।

सर्वस्मात्	(सबसे)
सर्व ङसि	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, पञ्चमी विभक्ति, एकवचन में 'ङसि' आया, 'सर्वादीनि सर्व०' से 'सर्व' शब्द की 'सर्वनाम' संज्ञा होने से 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' से 'ङसि' के स्थान पर 'स्मात्' आदेश हुआ
सर्व स्मात्	संहिता होने पर
सर्वस्मात्	रूप सिद्ध होता है।

१५५. आमि सर्वनाम्नः सुट् ७।१।५२

अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः। एत्वषत्वे-सर्वेषाम्। सर्वस्मिन्। शेषं रामवत्। एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः।

उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः। उभौ २। उभाभ्याम् ३। उभयोः २। तस्येह पाठोऽकजर्थः। उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति। डतर-डतमौ प्रत्ययौ। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' इति तदन्ता ग्राह्याः। नेम इत्यर्धे।

समः सर्वपर्यायः, तुल्यपर्यायस्तु न, 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इति निर्देशात्।

प०वि०–आमि ७।१।। सर्वनाम्नः ५।१।। सुट् १।१।। **अनु०**–आत्, अङ्गस्य।

अर्थ–अवर्णान्त सर्वनाम अङ्ग से उत्तर विहित 'आम्' को 'सुट्' आगम होता है।

'सुट्' आगम 'टित्' होने के कारण **'आद्यन्तौ टकितौ'** से 'आम्' का आद्यवयव बनता है।

सर्वेषाम्	(सबों का)
सर्व आम्	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, षष्ठी-बहुवचन में 'आम्' आने पर 'सर्वादीनि सर्व०' से 'सर्व' की 'सर्वनाम' संज्ञा होने से 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' से सर्वनाम से उत्तर 'आम्' को 'सुट्' आगम हुआ, अनुबन्ध-लोप
सर्व स् आम्	'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' (परि०) से 'सुट्' आगम को 'आम्' का गुणीभूत (अवयव) मान लेने पर 'बहुवचने

झल्येत्' से झलादि बहु वचन संज्ञक 'सुप्' परे रहते अदन्त अङ्ग को एत्व और 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकारादेश होकर

सर्वेषाम् रूप सिद्ध होता है।

'सर्व' शब्द के अवशिष्ट रूप 'राम' शब्द के समान होते हैं। इसी प्रकार ह्रस्व अकारान्त 'विश्व' आदि शब्दों के रूप भी सिद्ध होते हैं।

'उभ' शब्द नित्य द्विवचनान्त है। उसके सभी विभक्तियों में केवल द्विवचन के ही रूप बनते हैं, एकवचन और बहुवचन के नहीं। **'उभय'** शब्द का सर्वादिगण में पाठ का प्रयोजन 'अकच्' प्रत्यय का विधान है। जिससे 'उभकौ' इत्यादि रूप सिद्ध हो सकते हैं। 'उभय' शब्द का द्विवचन रूप नहीं होता, क्योंकि 'उभय' शब्द दो संख्यकों का अवयव है 'उभौ अवयवौ यस्य सः उभयः'।

'डतर' और 'डतम' प्रत्ययों का सर्वादिगण में पाठ है परन्तु केवल 'डतर' और 'डतम' प्रत्ययों का बिना प्रकृति के प्रयोग असम्भव होने के कारण 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा के बल से 'डतर' और 'डतम' प्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण होता है।

'सम' शब्द सर्वादिगण में 'सर्व' का पर्यायवाची लिया जाता है, 'तुल्य' का पर्यायवाची नहीं। यह बात 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' सूत्र में 'समानाम्' शब्द के निर्देश से ज्ञापित होती है। आचार्य (पाणिनि) ने यदि सर्वादिगण में 'तुल्य' के पर्यायवाची 'सम' का पाठ किया होता तो उक्त सूत्र में पठित 'समानाम्' के स्थान पर 'सुट्' आगम सहित 'समेषाम्' पद का प्रयोग किया होता।

१५६. पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् १।१।३४

एतेषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनाम संज्ञा गणसूत्रात् सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात्। पूर्वे, पूर्वाः। असंज्ञायाम् किम्?उत्तराः कुरवः। स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था। व्यवस्थायां किम्?दक्षिणा गाथकाः, कुशला इत्यर्थः।

प०वि०–पूर्वपरा.........धराणि १।३।। व्यवस्थायाम् ७।१।। असंज्ञायाम् ७।१।।
अनु०–सर्वनामानि, विभाषा, जसि।

अर्थ–'पूर्व', 'पर', 'अवर', 'दक्षिण', 'उत्तर', 'अपर' और 'अधर' शब्दों की व्यवस्था और असंज्ञा अर्थ में सर्वत्र गण–सूत्र से नित्य प्राप्त 'सर्वनाम' संज्ञा 'जस्' में विकल्प से होती है।

पूर्वे

पूर्व जस् पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्रथमा विभक्ति, बहु व० में 'जस्' हुआ, सर्वादिगण में पढ़े हुए गण–सूत्र 'पूर्वपरावर०' से 'पूर्व' शब्द की संज्ञा-भिन्न व्यवस्था अर्थ में नित्य 'सर्वनाम' संज्ञा प्राप्त

थी, जिसका प्रकृत सूत्र 'पूर्वपरावर०' (अ० १।१।३४) से 'जस्' परे रहते विकल्प कर दिया गया। 'सर्वनाम' संज्ञा पक्ष में 'जस्' के स्थान पर 'जसः शी' से 'शी' आदेश हुआ

अनुबन्ध-लोप

पूर्व शी

पूर्व ई — 'आद् गुणः' से अवर्ण से 'अच्' (ई) परे रहते गुण एकादेश (ए) होकर

पूर्वे — रूप सिद्ध होता है।

सर्वनाम संज्ञा अभाव पक्ष में—

पूर्वाः—'पूर्व+अस्' इस स्थिति में जब 'जस्' परे रहते 'पूर्वपरावर०' सूत्र से 'पूर्व' की 'सर्वनाम' संज्ञा नहीं हुई तो 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'पूर्वाः' रूप सिद्ध होता है।

असंज्ञायम् किम—सूत्र में 'असंज्ञायाम्' पद का प्रयोजन यह है कि जहाँ 'पूर्व' आदि शब्द संज्ञावाचक हैं वहाँ यह सूत्र विकल्प से 'सर्वनाम' संज्ञा का विधान नहीं करता, जैसे-'उत्तराः कुरवः' में 'उत्तर' शब्द **'उत्तर दिशा'** का वाचक होने के कारण संज्ञा शब्द है, इसीलिए 'जस्' विभक्ति परे रहते 'सर्वनाम' संज्ञा (विकल्प से) नहीं होगी। 'सर्वनाम' संज्ञा के अभाव में 'जस्' के स्थान पर 'शी' इत्यादि आदेश भी नहीं हो सकेंगे, इसलिए 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ आदेश होकर 'उत्तराः' रूप ही सिद्ध होगा।

'व्यवस्था' शब्द को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–**'स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था'** अर्थात् पूर्वादि शब्दों के अभिधेय अर्थ से अपेक्षित अवधि के नियम को 'व्यवस्था' कहा जाता है।

व्यवस्थायाम् किम्—सूत्र में 'व्यवस्थायाम्' पद का प्रयोजन यह है कि व्यवस्था से भिन्न अर्थ में पूर्वादि शब्दों की 'जस्' परे रहते 'सर्वनाम' संज्ञा न हो। जिससे 'दक्षिणा गाथकाः' इत्यादि में 'जस्' के स्थान में 'शी' आदेश न हो सके।

१५७. स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् १।२।३५

ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा। स्वे, स्वाः= आत्मीयाः आत्मन इति वा। ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः-ज्ञातयोऽर्था वा।

प०वि०—स्वम् १।१।। अज्ञातिधनाख्यायाम् ७।१।। **अनु०**—सर्वनामानि, विभाषा, जसि।

अर्थ—'जस्' परे रहते ज्ञाति और धन से भिन्न अर्थ में 'स्व' शब्द की विकल्प से 'सर्वनाम' संज्ञा होती है।

'स्व' शब्द की ज्ञाति और धन अर्थ में **'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्'** (**१५१**) 'गण-सूत्र' से नित्य ही 'सर्वनाम' संज्ञा प्राप्त थी, जिसका 'जस्' विभक्ति में विकल्प किया गया है।

प्रकृत सूत्र से आत्मीय अर्थ में 'स्व' शब्द की 'जस्' परे रहते विकल्प से 'सर्वनाम' संज्ञा प्राप्त होती है, जिससे 'जस्' को 'शी' आदेश होने पर **'स्वे'** तथा अभाव पक्ष में **'स्वाः'** रूप बनते हैं।

'ज्ञाति' और 'धन' के अर्थ में जब 'स्व' शब्द होगा तो उसकी 'सर्वनाम' संज्ञा नहीं होगी, अतः 'स्वाः' रूप ही बनेगा।

१५८. अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः १।१।३६

बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा। अन्तरे अन्तराः वा गृहाः–बाह्या इत्यर्थः। अन्तरे अन्तराः वा शाटकाः–परिधानीया इत्यर्थः।

प०वि०–अन्तरम् १।१। बहिर्योगोपसंव्यानयोः ७।२।। **अनु०**–सर्वनामानि, विभाषा, जसि।

अर्थ–'बाह्य' और 'परिधानीय' अर्थ में 'अन्तर' शब्द की 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः' (१५१) गणसूत्र से नित्य प्राप्त 'सर्वनाम' संज्ञा 'जस्' परे रहते विकल्प से होती है।

अन्तरे, अन्तराः–'अन्तर' शब्द की 'बाह्य' अर्थ में 'जस्' परे रहते विकल्प से 'सर्वनाम' संज्ञा होती है। सर्वनाम संज्ञा होने पर 'जशः शी' से 'जस्' के स्थान पर 'शी' तथा 'आद् गुणः' से गुण होकर 'अन्तरे' तथा सर्वनाम संज्ञा अभाव पक्ष में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ, सकार के स्थान में रुत्व और रेफ के स्थान में विसर्ग होकर 'अन्तराः' रूप बनता है।

ज्ञाति और धन के अर्थ में 'अन्तर' शब्द की 'सर्वनाम' संज्ञा नहीं होती, अतः इन दोनों अर्थों में 'जस्' विभक्ति परे रहते 'अन्तराः' रूप ही बनता है।

१५९. पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ७।१।१६

एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः। पूर्वस्मात्, पूर्वात्। पूर्वस्मिन्, पूर्वे। एवं परादीनामपि। शेषं सर्ववत्।

प०वि०–पूर्वादिभ्यः ५।३।। नवभ्यः ५।३।। वा अ०।। **अनु०**–ङसिङ्योः, स्मात्स्मिनौ।

अर्थ–'पूर्व' आदि नौ (९) शब्दों से परे 'ङसि' और 'ङि' के स्थान में विकल्प से 'स्मात्' और 'स्मिन्' आदेश होते हैं।

सूत्र में संकेतित 'पूर्व' आदि ९ शब्द, सर्वादिगण में पठित 'पूर्व' आदि नौ शब्दों के लिए संकेतित है। जो इस प्रकार हैं–**पूर्व, पर, अवर, अधर, उत्तर, दक्षिण, अपर, स्व** और **अन्तर।**

पूर्वस्मात्, पूर्वात्–'पूर्व' शब्द सर्वादि–गण में पठित होने से 'सर्वनाम' संज्ञक है, इसलिए 'पूर्व+ङसि' इस स्थिति में 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' से 'ङसि' के स्थान नित्य 'स्मात्' आदेश प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से विकल्प कर दिया गया। इस प्रकार 'ङसि' को 'स्मात्' आदेश होकर 'पूर्वस्मात्' तथा अभाव पक्ष में 'टाङसिङसामि०' से 'ङसि' के स्थान में 'आत्' आदेश होकर 'पूर्वात्' रूप सिद्ध होते हैं।

पूर्वस्मिन्, पूर्वे—इसी प्रकार सप्तमी विभक्ति, एकवचन में 'ङि' आने पर इसी सूत्र से विकल्प से 'स्मिन्' आदेश होता है। 'स्मिन्' पक्ष में 'पूर्वस्मिन्' तथा अभाव पक्ष में 'आद् गुणः' से गुण होकर 'पूर्वे' रूप सिद्ध होते हैं।

'पूर्व' शब्द की तरह ही 'पर', 'अवर' आदि नौ शब्दों से उत्तर 'ङसि' और 'ङि' को विकल्प से 'स्मात्' और 'स्मिन्' आदेश होने पर **परस्मात्, परात्, परस्मिन्** और **परे** आदि की सिद्धि-प्रक्रिया जानें। अवशिष्ट रूप सर्ववत् समझें।

१६०. प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च १।१।३३

ऐते जसि उक्तसंज्ञाः वा स्युः। प्रथमे, प्रथमाः। तयः प्रत्ययः-द्वितये, द्वितयाः। शेषं रामवत्। नेमे, नेमाः, शेषं सर्ववत्।। (वा०) तीयस्य ङित्सु वा। द्वितीयस्मै, द्वितीयायेत्यादि। एवं तृतीयः। निर्जरः।

प०वि०—प्रथमचरमतयाल्पार्ध...नेमाः १।३।। च अ०।। **अनु०**—विभाषा, जसि, सर्वनामानि।

अर्थ—'प्रथम', 'चरम', 'तय', 'अल्प', 'अर्ध', 'कतिपय' और 'नेम' शब्दों की 'जस्' परे रहते विकल्प से 'सर्वनाम' संज्ञा होती है।

प्रथमे

प्रथम जस्	पूर्ववत् स्वाद्युत्पति, प्र० वि०, बहु व० में 'जस्' आया, 'सर्वादीनि सर्वनामानि' से 'प्रथम' शब्द की 'सर्वनाम' संज्ञा प्राप्त नहीं थी, जिसका 'प्रथमचरम०' से 'जस्' परे रहते विकल्प से विधान कर दिया। 'सर्वनाम' संज्ञा पक्ष में 'जसः शी' से 'जस्' को 'शी' आदेश हुआ
	अनुबन्ध-लोप, 'आद् गुणः' से गुण एकादेश होकर
प्रथम शी	
प्रथमे	रूप सिद्ध होता है।

प्रथमाः—'सर्वनाम' संज्ञा—अभाव पक्ष में 'प्रथम+अस्' यहाँ 'प्रथमयोः पूर्व०' से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश, सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर 'प्रथमाः' रूप सिद्ध होता है।

सूत्र में पठित 'तय' से 'तयप्' प्रत्ययान्त 'द्वितय' आदि शब्दों का ग्रहण होता है। 'तयप्' प्रत्ययान्त की इस सूत्र से 'जस्' परे रहते विकल्प से 'सर्वनाम' संज्ञा होती है। 'सर्वनाम' संज्ञा पक्ष में 'द्वितय' शब्द से 'जस्' परे रहते 'प्रथमे' के समान 'द्वितये' तथा अभाव पक्ष में 'द्वितयाः' रूप बनते हैं। इसी प्रकार 'नेमे' तथा 'नेमाः' शब्द भी प्रथमा-बहुवचन में क्रमशः 'सर्वनाम' संज्ञा पक्ष में तथा अभाव पक्ष में सिद्ध होते हैं।

विशेष—सूत्र में परिगणित शब्दों में केवल 'नेम' शब्द ही ऐसा है जिसकी 'सर्वादीनि सर्वनामानि' से नित्य 'सर्वनाम' संज्ञा प्राप्त थी, जिसका प्राप्ति में विकल्प किया गया है।

अतः इसे **प्राप्त विभाषा** कहा जा सकता है। अन्य शब्दों की अप्राप्ति में 'सर्वनाम' संज्ञा का विकल्प कहा गया है। इसलिए 'नेम' के अतिरिक्त शेष सभी **अप्राप्त विभाषा** के उदाहरण कहे जा सकते हैं। 'नेम' के अतिरिक्त सभी शब्दों की 'जस्' के अतिरिक्त सभी विभक्तियों में सिद्धि-प्रक्रिया 'राम' के समान जानें।

(वा०) तीयस्य ङित्सु वा—अर्थ—ङित् प्रत्यय परे रहते 'तीय' प्रत्ययान्त शब्दों की विकल्प से 'सर्वनाम' संज्ञा होती है।

'तीय' प्रत्ययान्त 'द्वितीय' और 'तृतीय' शब्दों की ङित् प्रत्यय 'ङे', 'ङसि' और 'ङस्' परे रहते विकल्प से 'सर्वनाम' संज्ञा हो जाती है।

द्वितीयस्मै	(दूसरे के लिए)
द्वितीय ङे	'द्वितीय' शब्द 'तीय' प्रत्ययान्त है, तथा चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में 'ङे' इससे परे है इसलिए 'तीयस्य ङित्सु वा' वार्तिक से ङित् परे रहते 'तीय' प्रत्ययान्त की विकल्प से 'सर्वनाम' संज्ञा होने पर 'सर्वनाम' संज्ञा पक्ष में 'सर्वनाम्नः स्मै' से 'ङे' के स्थान में 'स्मै' होकर
द्वितीयस्मै	रूप सिद्ध होता है

द्वितीयाय—'सर्वनाम' संज्ञा अभाव पक्ष में—'द्वितीय+ङे' यहाँ 'ङेर्यः' से 'ङे' के स्थान में 'य' आदेश तथा 'सुपि च' दीर्घ होकर 'रामाय' के समान 'द्वितीयाय' रूप सिद्ध होता है।

१६१. जराया जरसन्यतरस्याम् ७।२।१०१

अजादौ विभक्तौ।

(प०) पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च।

(प०) निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति।

(प०) एकदेशविकृतमनन्यवत्।

इति जरशब्दस्य जरस्–निर्जरसौ, निर्जरसः। पक्षे हलादौ च रामवत्। विश्वपाः॥

प०वि०—जरायाः ६।१॥ जरस् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ **अनु०**—अङ्गस्य, विभक्तौ, अचि।

अर्थ—अजादि विभक्ति परे रहते 'जरा' अङ्ग के स्थान पर विकल्प से 'जरस्' आदेश होता है।

इस सूत्र की वृत्ति के साथ तीन परिभाषाओं का उल्लेख किया गया है जिनका कार्य 'निर्जरसौ' इत्यादि उदाहरणों में स्पष्ट हो सकेगा। तीनों परिभाषाएँ तथा उनके अर्थ निम्न प्रकार से हैं—

(प०) पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च—अर्थ—पद ('पदस्य' ८.१.१६) और

६.४.१) के अधिकार में जिसके स्थान पर जो कार्य कहा गया है, वह उसके तथा तदन्त के (वह अन्त में है जिसके, उसके) स्थान में होता है।

(प०) निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति–अर्थ–आदेश हमेशा निर्दिश्यमान के स्थान में होते हैं। अर्थात् जिस स्थानी का उल्लेख करके कोई आदेश किया जाता है वह आदेश उस निर्दिष्ट स्थानी के स्थान पर ही होता है, उससे न्यून अथवा अधिक के स्थान पर नहीं।

(प०) एकदेशविकृतमनन्यवत्–अर्थ–अवयव के विकृत हो जाने पर भी अवयवी बदलता नहीं है, वही माना जाता है। **जैसे**–कुत्ते की पूँछ कट जाने पर भी कुत्ता, कुत्ता ही रहता है, वह कुछ और नहीं होता। इसी प्रकार किसी शब्द के अवयव में विकार आ जाने पर विकृत शब्द को अविकृत अर्थात् वही माना जाता है।

निर्जरसौ (वृद्धावस्था से बचे हुए दो व्यक्ति)

निर्जर औ — 'निर्जर' शब्द 'निर्गतः जरा यस्मात् सः' अथवा 'निष्क्रान्तो जरायाः इति' इस प्रकार समास होकर 'जरा' शब्द को ह्रस्व होकर बना है।

प्रथमा विभक्ति, द्विवचन में 'औ' आने पर 'जराया जरसन्यतरस्याम्' से अजादि विभक्ति 'औ' पर रहते 'जरा' को विकल्प से 'जरस्' आदेश प्राप्त हुआ। यहाँ 'निर्जर' शब्द होने के कारण 'जरा' शब्द को कहा गया 'जरस्' आदेश नहीं हो सकता। 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' परिभाषा कहती है कि 'पदस्य' के अधिकार में और 'अङ्गस्य' के अधिकार में जो कार्य होते हैं, वे निर्दिश्यमान तथा तदन्त दोनों को होते हैं, इसलिए 'जरा' अन्त वाले सम्पूर्ण 'निर्जर' शब्द को 'जरस्' आदेश प्राप्त होने लगा। तब 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इस परिभाषा से तदन्त समुदाय में भी 'आदेश', 'जराया जरसन्य०' सूत्र में निर्दिश्यमान 'स्थानी' को ही होता है। अब यहाँ एक अन्य समस्या यह हुई कि निर्दिश्यमान स्थानी 'जरा' है, जबकि जिसे आदेश कर रहे हैं उसका उपलब्ध वर्त्तमान स्वरूप 'जर' है। इस समस्या के समाधान के लिए 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' (परि०) का सहारा लिया गया, जिससे 'जरा' शब्द के आकार को ह्रस्व होकर 'जर' बनने पर भी उसे 'अनन्यवत्' अर्थात् 'जरा' ही मान लिया जाता है। इस प्रकार 'निर्जर' प्रकृति के 'जर' भाग के स्थान पर ही 'जरस्' आदेश विकल्प से होता है

निर्जरस् औ — संहिता होकर

निर्जरसौ — रूप सिद्ध होता है।

निर्जरसः—इसी प्रकार 'निर्जर+जस्' यहाँ भी अनुबन्ध-लोप, 'जराया जरस्०' से 'जरस्' आदेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'निर्जरसः' रूप सिद्ध होता है। शेष रूप 'राम' की तरह समझने चाहिए।

विश्वपाः—'विश्वपा' शब्द से प्रथमा विभक्ति, एक वचन में 'सु' आने पर 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर 'विश्वपाः' रूप सिद्ध होता है।

१६२. दीर्घाज्जसि च ६।१।१०५

दीर्घाज्जसि इचि च परे न पूर्वसवर्णदीर्घः। वृद्धिः—विश्वपौ। विश्वपाः। हे विश्वपाः। विश्वपाम्। विश्वपौ।

प०वि०—दीर्घात् ५।१।। जसि ७।१।। च अ०।। **अनु०**—पूर्वसवर्णः, न, इचि, एकः पूर्वपरयोः।

अर्थ—दीर्घ से 'जस्' और 'इच्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होता।

विश्वपौ	विश्वपाश्च विश्वपाश्चेति विश्वपौ (विश्व के दो पालक)
विश्वपा	'रामौ' (१२७) के समान समास, एकशेष और स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा विभक्ति, द्विवचन में 'औ' आया
विश्वपा औ	'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त था, जिसका 'दीर्घाज्जसि च' से दीर्घ (आ) से 'इच्' (औ) परे रहते निषेध हो गया, तब 'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' परे रहते वृद्धि एकादेश होकर
विश्वपौ	रूप सिद्ध होता है।
विश्वपाः	(विश्वपाश्च विश्वपाश्च विश्वपाश्चेति विश्वपाः)
विश्वपा जस्	पूर्ववत् समास, एकशेष, स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर प्रथमा के बहुवचन में 'जस्' आया, अनुबन्ध-लोप
विश्वपा अस्	'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का, 'दीर्घाज्जसि च' से दीर्घ से उत्तर 'जस्' परे रहते, निषेध होने पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश, सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर
विश्वपाः	रूप सिद्ध होता है।

हे विश्वपाः—सम्बोधन में 'सम्बोधन च' से प्रथमा विभक्ति आने पर एकवचन में 'सु' आकर 'विश्वपा+सु' इस स्थिति में रुत्व तथा विसर्ग होकर 'हे विश्वपाः' रूप सिद्ध होता है।

विश्वपाम् वश्वपा	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति तथा एकवचन में 'अम्' आया
विश्वपा अम्	'अमि पूर्व:' से 'अक्' से उत्तर 'अम्' सम्बन्धी 'अच्' परे रहते पूर्वरूप एकादेश होकर
विश्वपाम्	रूप सिद्ध होता है।

विश्वपौ—द्वितीया विभक्ति, द्विवचन में 'विश्वपा+औट्' यहाँ अनुबन्ध-लोप होने पर सिद्धि-प्रक्रिया प्रथमा विभक्ति, एकवचन में प्रदर्शित 'विश्वपौ' के समान जानें।

१६३. सुडनपुंसकस्य १।१।४३

स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य।

प०वि०—सुट् १।१।। अनपुंसकस्य ६।१।। **अनु०**—सर्वनामस्थानम्।

अर्थ—नपुंसकलिङ्ग से भिन्न (पुल्लिँङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में) 'सुट्' अर्थात् **सु, औ, जस्, अम्** और **औट्** इन पाँच प्रत्ययों की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होती है।

१६४. स्वादिष्वसर्वनामस्थाने १।४।१७

कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं पदं स्यात्।

प०वि०—स्वादिषु ७।३। असर्वनामस्थाने ७।१।। **अनु०**—पदम्।

अर्थ—सर्वनामस्थान—भिन्न 'सु' आदि प्रत्यय परे रहते ('सु' से लेकर 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त परे रहते) पूर्व शब्द समुदाय की 'पद' संज्ञा होती है।

विशेष—'स्वादिषु' इस निर्देश को अष्टाध्यायी क्रम से परिचय होने पर ही ठीक से समझा जा सकता है। 'स्वौजस्०' (४.१.२) से प्रारम्भ करके 'उरः प्रभृतिभ्यः कप्' (५.४.१५१) तक जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है वे सभी 'स्वादि' प्रत्यय कहलाते हैं। इस प्रकार चतुर्थ और पञ्चम अध्याय के सभी प्रत्यय 'स्वादि' के अन्तर्गत आते हैं।

१६५. यचि भम् १।४।१८

यादिषु अजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसञ्ज्ञं स्यात्।

प०वि०—यचि ७।१।। भम् १।१।। **अनु०**—स्वादिषु, असर्वनामस्थाने।

अर्थ—'सु' से आरम्भ करके 'कप्' पर्यन्त (सु-आदि) में जो 'सर्वनामस्थान' से भिन्न यकारादि और अजादि प्रत्यय, उनके (यकारादि और अजादि प्रत्यय के) परे रहते पूर्व समुदाय की 'भ' संज्ञा होती है।

विशेषः—'आकडारादेका संज्ञा' के अधिकार में होने से यह 'पद' संज्ञा का अपवाद है। जहाँ 'भ' संज्ञा होगी वहाँ 'पद' संज्ञा नहीं होगी।

१६६. आकडारादेका संज्ञा १।४।१

इत ऊर्ध्वं 'कडारा कर्मधारये' इत्यतः प्राक् एकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया, या पराऽनवकाशा च।

प०वि०–आकडारात् ५।१।। एका १।१।। संज्ञा १।१।।

अर्थ–इस सूत्र से आगे 'कडारा कर्मधारये' (२.२.३८) तक एक ही संज्ञा होती है। जहाँ एक ही शब्द की दो या दो से अधिक संज्ञा प्राप्त हो वहाँ अष्टाध्यायी-क्रम में जो परे हो अथवा अनवकाश हो वही होती है, अन्य नहीं। इस सूत्र का प्रयोजन तथा महत्त्व अष्टाध्यायी के सूत्र क्रम को जानने पर ही जाना जा सकता है। यथास्थान इस सूत्र को स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा।

१६७. आतो धातोः ६।४।१४०

आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः। अलोऽन्त्यस्य। विश्वपः। विश्वपा। विश्वपाभ्याम् इत्यादि। एवं शंखध्मादयः। धातोः किम्? हाहान्। हा हा। हाहै। हाहाः। हाहौः। हाहाम्। हाहे। इत्यादन्ताः। हरिः, हरी।

प०वि०–आतः ६।१।। धातोः ६।१।। **अनु०**–लोपः, भस्य, अङ्गस्य।

अर्थ–आकारान्त जो धातु तदन्त भसंज्ञक अङ्ग का लोप होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' से 'भ' संज्ञक अङ्ग के अन्तिम वर्ण (अल्) का लोप होगा, सम्पूर्ण अङ्ग का नहीं।

विश्वपः

विश्वपा शस्	द्वितीया-बहुवचवन में 'शस्' आने पर, अनुबन्ध-लोप हुआ
विश्वपा अस्	'यचि भम्' से स्वादि में सर्वनामस्थान-भिन्न अजादि प्रत्यय 'अस्' परे रहते 'विश्वपा' की भसंज्ञा हुई। 'विश्वपा' शब्द 'विश्व' उपपद में रहते 'पा' धातु से 'क्विप्' लगकर बना है, जिसमें 'पा' धातु[1] आकारान्त है इसलिए 'आतो धातोः' से आकरान्त धातु जिसके अन्त में है ऐसे भसंज्ञक अङ्ग का लोप हुआ। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से अन्तिम अल् 'आ' का लोप हुआ
विश्वप् अस्	'ससजुषो रुः' से सकार के स्थान में रुत्व तथा 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्ग होकर
विश्वपः	रूप सिद्ध होता है।
विश्वपा	स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'कर्तृकरणयो०' से

---

१. क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति।

	तृतीया-विभक्ति तथा 'द्वयेकयो०' से एकवचन की विवक्षा में 'टा' आया
विश्वपा टा	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से अजादि प्रत्यय 'टा' (आ) परे रहते 'भ' संज्ञा हुई
विश्वपा आ	यहाँ 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'आतो धातोः' से आकारान्त जो धातु, तदन्त भसंज्ञक अङ्ग का लोप प्राप्त हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम अल् आकार का लोप होकर
विश्वपा	रूप सिद्ध होता है।

'विश्वपा' के समान ही **'शंखध्मा'** आदि की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

धातोः किम्—सूत्र में **धातोः** पद का प्रयोजन यह कि 'हाहान्' इत्यादि में 'हाहा+शस्' यहाँ आकारान्त धातु न होने के कारण 'भ' संज्ञा आदि शर्तें पूरी करने पर भी प्रकृत सूत्र से आकार का लोप न हो, अपितु पूर्वसवर्ण दीर्घ तथा 'तस्माच्छसो नः पुंसि' से नकारादेश होकर 'हाहान्' इत्यादि रूप सिद्ध हो सकें।

हाहा, हाहै इत्यादि में भी सर्वत्र आकारान्त धातु न होने के कारण 'आतो धातोः' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती, अपितु **हाहा**-'हाहा+टा' में सवर्ण-दीर्घ, **हाहै**-'हाहा+ङे' में 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि, **हाहाः**-'हाहा+ङसि या ङस्' में 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ तथा सकार को विसर्ग, **हाहौः**-'हाहा+ओस्' में 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग, **हाहाम्**-'हाहा+आम्' में 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश तथा **हाहे**-'हाहा+ङि' में 'आद् गुणः' से गुण एकादेशादि कार्य होकर सभी रूप सिद्ध होते हैं।

हरिः	(विष्णु)
हरि	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्रथमा विभक्ति, एकवचन में 'सु' आया
हरि सु	अनुबन्ध-लोप, 'ससजुषो रुः' से सकार के स्थान में रुत्व तथा 'खरवसानयो० से रेफ को विसर्ग होकर
हरिः	रूप सिद्ध होता है।
हरी	(दो विष्णु)
हरि	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्रथमा-द्विवचन में 'औ' आया
हरि औ	'इको यणचि' से यणादेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से 'अक्' (इ) से उत्तर प्रथमा सम्बन्धी 'अच्' (औ) परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'इकार' का सवर्ण दीर्घ 'ईकार' होकर
हरी	रूप सिद्ध होता है।

१६८. जसि च ७।३।१०९

ह्रस्वान्तस्याऽङ्गस्य गुणः । हरयः।

प०वि०—जसि ७।१।। च अ०।। **अनु०**—ह्रस्वस्य, गुणः, अङ्गस्य।

अर्थ—'जस्' परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है।

हरयः (बहुत विष्णु)

हरि जस् — प्रथमा विभक्ति, बहुवचन में 'जस्' आने पर अनुबन्ध-लोप,

हरि अस् — 'यस्मात्प्रत्यय०' से 'हरि की 'अङ्ग' संज्ञा है तथा 'हरि' ह्रस्वान्त भी है अतः 'जसि च' से 'जस्' परे रहने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' इकार को एकार गुण हुआ

हरे अस् — 'एचोऽयवायावः' से 'अच्' (अ) परे रहते 'ए' के स्थान में अयादेश हुआ

हर् अय् अस् — सकार को रुत्व एवं रेफ को विसर्ग होकर

हरयः — रूप सिद्ध होता है।

१६९. ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८

सम्बुद्धौ। हे हरे! हरिम्। हरीन्।

प०वि०—ह्रस्वस्य ६।१।। गुणः १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, सम्बुद्धौ।

अर्थ—सम्बुद्धि (सम्बोधन का एकवचन प्रत्यय) परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है।

हे हरे

हे हरि — स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'सम्बोधने च' से प्रथमा विभक्ति तथा 'द्व्येकयोर्द्वि०' से एकवचन में 'सु' आया

हे हरि सु — अनुबन्ध-लोप, 'एकवचनं सम्बुद्धिः' से सम्बोधन के एकवचन 'सु' की 'सम्बुद्धि' संज्ञा होने पर 'ह्रस्वस्य गुणः' से 'सम्बुद्धि' परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग के 'इ' को गुण 'ए' हुआ

हे हरे स् — 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' से एङन्त से उत्तर सम्बुद्धि के 'हल्' सकार का लोप होकर

हे हरे — रूप सिद्ध होता है।

हरिम्—'हरि+अम्' इस स्थिति में 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'हरिम्' रूप सिद्ध होता है। **हरीन्** की सिद्धि-प्रक्रिया 'रामान्' (१३९) के समान ही जानें।

१७०. शेषो घ्यसखि १।४।७

शेष इति स्पष्टार्थम्। अनदीसञ्ज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञम् ।

प०वि०—शेषः १।१।। घि १।१।। असखि १।१।। **अनु०**—यू, ह्रस्वः।

अर्थ–'सखि' शब्द को छोड़कर 'नदी' संज्ञक से भिन्न जो ह्रस्व इकारान्त तथा ह्रस्व उकारान्त शब्द उनकी 'घि' संज्ञा होती है।

सूत्र में 'शेष' शब्द का ग्रहण स्पष्टता के लिए है। इस सूत्र से पूर्व 'नदी' संज्ञा का प्रकरण है, वहाँ **'यू स्त्र्याख्यौ नदी'** इत्यादि सूत्रों से जिन ह्रस्व इकारान्त तथा ह्रस्व उकारान्तों की 'नदी' संज्ञा नहीं की गई है, उन सभी का ग्रहण 'शेष' पद से होता है।

१७१. आङो नाऽस्त्रियाम् ७।३।१२०

घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम्। आङ् इति टासंज्ञा। हरिणा। हरिभ्याम्। हरिभिः।

प०वि०–आङः ६।१।। ना १।१।। अस्त्रियाम् ७।१।। **अनु०**–घेः, अङ्गस्य।

अर्थ–स्त्रीलिंग से भिन्न घिसंज्ञक अङ्ग से उत्तर 'आङ्' (तृतीया-एकवचन 'टा') के स्थान में 'ना' आदेश होता है।

सूत्र में निर्दिष्ट 'आङ्' पूर्व आचार्यों के द्वारा विहित 'टा' की संज्ञा है।

हरिणा

हरि टा	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति तृतीया-एकवचन में 'टा' आया, 'हरि' शब्द की 'शेषो घ्यसखि' से 'घि' संज्ञा होती है तथा यह शब्द पुल्लिंग में होता है। इसलिए 'आङो नाऽस्त्रियाम्' से स्त्रीलिंग से भिन्न 'घि' संज्ञक 'हरि' से परे 'टा' के स्थान पर 'ना' आदेश हुआ
हरि ना	'अट्कुप्वाङ्०' से रेफ से उत्तर 'अट्' आदि का व्यवधान होने पर भी नकार को णत्व होकर
हरिणा	सिद्ध होता है।

१७२. घेर्ङिति ७।३।१११।।

घिसंज्ञकस्य ङिति गुणः। हरये।

प०वि०–घेः ६।१।। ङिति ७।१।। **अनु०**–गुणः, सुपि, अङ्गस्य।

अर्थ–'घि' संज्ञक अङ्ग को ङित् 'सुप्' परे रहते गुण होता है।

हरये

हरि	स्वाद्युत्पत्ति, चतुर्थी विभक्ति, एकवचन में 'ङे' आया
हरि ङे	अनुबन्ध-लोप, 'शेषो घ्यसिख' से ह्रस्व इकारान्त 'हरि' की 'घि' संज्ञा है, तथा 'ङे' परे रहते 'यस्मात्प्रत्ययविधि०' से 'अङ्ग' संज्ञा भी है। इसलिए ङित् 'सुप्' (ङे) परे रहते 'घेर्ङिति' से 'घि' संज्ञक अङ्ग को 'ए' गुण हुआ
हरे ए	'एचोऽयवायावः' से 'अच्' (ए) परे रहते 'एच्' (पूर्ववर्ती 'ए') को 'अय्' आदेश हुआ
हर् अय् ए	संहिता होने पर
हरये	रूप सिद्ध होता है।

१७३. ङसिङसोश्च ६।१।११०

एङो ङसिङसोरति पूर्वरूपमेकादेशः। हरेः २। हर्योः। हरीणाम्।

प०वि०–ङसिङसोः ६।२।। च अ०।। **अनु०**–एङः, अति, पूर्वः, एकः, पूर्वपरयोः।

अर्थ–'एङ्' से उत्तर 'ङसि' और 'ङस्' का ह्रस्व अकार परे हो तो पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होता है।

हरेः	(यह पञ्चमी तथा षष्ठी के एकवचन का रूप है।)
हरि ङसि/ङस्	स्वाद्युत्पत्ति से पञ्चमी एकवचन में 'ङसि' तथा षष्ठी एकवचन में 'ङस्' आकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'अस्' शेष रहता है
हरि अस्	'शेषो घ्यसखि' से हरि की 'घि' संज्ञा होने से 'घेर्ङिति' से 'ङित्' (अस्) परे रहते इकार को गुण 'ए' हुआ
हरे अस्	'ङसिङसोश्च' से 'एङ्' से उत्तर 'ङसि' या 'ङस्' का ह्रस्व अकार परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हुआ
हरेस्	'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयोर्विस०' से रेफ को विसर्ग होकर
हरेः	रूप सिद्ध होता है।

हर्योः–'हरि' शब्द से षष्ठी और सप्तमी विभक्ति के द्विवचन में 'ओस्' आने पर 'हरि+ओस्'-यहाँ 'इको यणचि' से यणादेश होकर सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'हर्योः' सिद्ध होता है।

'हरीणाम्' की सिद्धि 'रामाणाम्' (१४९) के समान जानें।

१७४. अच्च घेः ७।३।११९

इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत्, घेरत्। हरौ। हर्योः। हरिषु। एवं कव्यादयः।

प०वि०–अत् १।१।। च अ०।। घेः ६।१।। **अनु०**–इदुद्भ्याम्, औत्, ङेः, अङ्गस्य।

अर्थ–ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त अङ्ग से उत्तर 'ङि' के स्थान पर 'औ' तथा 'घि' संज्ञक को (अन्तिम अल् के स्थान पर) ह्रस्व अकार आदेश होता है।

हरौ	
हरि	स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'सप्तम्यधिकरणे च' से सप्तमी विभक्ति और 'द्व्येकयोर्द्वि०' से एक वचन में 'ङि' आया
हरि ङि	'शेषो घ्यसखि' से 'हरि' की 'घि' संज्ञा होने से 'अच्च घेः' से ह्रस्व इकारान्त अङ्ग से उत्तर 'ङि' को 'औ' आदेश और 'घि' संज्ञक 'हरि' को 'अ' आदेश हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' इकार के स्थान में अकारादेश हुआ

हर् अ औ — 'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर वृद्धि एकादेश होकर

हरौ — रूप सिद्ध होता है।

'कवि' शब्द के रूप भी 'हरि' के समान ही जानें।

१७५. अनङ् सौ ६।२।९३

सख्युरङ्गस्यानङ्ङादेशोऽसम्बुद्धौ सौ।

प०वि०—अनङ् १।१।। सौ ७।१।। **अनु०**—सख्युः, असम्बुद्धौ, अङ्गस्य।

अर्थ—सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते 'सखि' अङ्ग को 'अनङ्' आदेश होता है। ङित् होने के कारण 'ङिच्च' से 'अनङ्' आदेश अन्तिम 'अल्' (इ) के स्थान में होता है।

१७६. अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा १।१।६५

अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः।

प०वि०—अलः ५।१।। अन्त्यात् ५।१।। पूर्वः १।१।। उपधा १।१।।

अर्थ—(समुदाय में) अन्तिम 'अल्' (वर्ण) से पूर्व वर्ण की 'उपधा' संज्ञा होती है।

१७७. सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ ६।४।८

नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने।

प०वि०—सर्वनामस्थाने ७।१।। च अ०।। असम्बुद्धौ ७।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, नः उपधायाः, दीर्घः।

अर्थ—सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' (नपुंसकभिन्न सुट्) परे रहते नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है।

१७८. अपृक्त एकाल्प्रत्ययः १।२।४१

एकाल्प्रत्ययो यः, सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात्।

प०वि०—अपृक्तः १।१।। एकाल् १।१।। प्रत्ययः १।१।।

अर्थ—एक 'अल्' (वर्ण) रूप प्रत्यय की 'अपृक्त' संज्ञा होती है।

१७९. हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् ६।१।६८

हलन्तात् परम्, दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परं 'सु-ति-सि' इत्येतद् अपृक्तं हल् लुप्यते।

प०वि०—हल्ङ्याब्भ्यः ५।३।। दीर्घात् ५।१।। सुतिस्यपृक्तम् १।१।। हल् १।१।। **अनु०**—लोपः अङ्गस्य।

अर्थ—हलन्त अङ्ग से उत्तर तथा ङ्यन्त और आबन्त जो दीर्घ अङ्ग, उनसे उत्तर 'सु', 'ति' और 'सि' के 'अपृक्त' संज्ञक हल् का लोप होता है।

विशेष—यहाँ **'ङ्यन्त'** से **ङीप्, ङीष् और ङीन्** प्रत्ययान्तों का तथा **'आबन्त'** से **चाप्, टाप्** और **डाप्** प्रत्ययान्तों का ग्रहण होता है।

१८०. न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७

प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः। सखा।

प०वि०—न (लुप्त षष्ठ्यन्त) ।। लोपः १।१।। प्रातिपदिकान्तस्य ६।१।। **अनु०**—पदस्य।

अर्थ—प्रातिपदिकसंज्ञक 'पद' के अन्त में विद्यमान नकार (न्) का लोप होता है।

सखा	(मित्र)
सखि	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्रथमा विभक्ति, एकवचन में 'सु' आया
सखि सु	'अनङ् सौ' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते 'सखि' को 'अनङ्' आदेश प्राप्त हुआ, जो 'ङिच्च' से अन्तिम 'अल्' (इ) के स्थान में हुआ
सख् अनङ् सु	अनुबन्ध-लोप
सख् अन् स्	'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि०' से 'सु' परे रहते 'सखन्' की 'अङ्ग' संज्ञा होने पर 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' (सु) परे रहते नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ आदेश प्राप्त हुआ। 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' से अन्तिम अल् नकार से पूर्व 'अ' की उपधा संज्ञा है, इसलिए अकार को दीर्घ 'आ' आदेश हुआ
सखान् स्	'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से एक 'अल्' रूप प्रत्यय 'स्' की 'अपृक्त' संज्ञा होने से 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'सु' के 'अपृक्त' हल् (स्) का लोप हुआ
सखान्	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से 'सु' प्रत्यय के लुप्त होने पर भी उसे निमित्त मानकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा हो ही जाती है, इसलिए 'सखान्' पद भी है तथा उसके अन्त में जो नकार है, वह प्रातिपदिक का अवयव भी है। इसलिए 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से प्रातिपदिकसंज्ञक पद के अन्तिम नकार का लोप होकर
सखा	रूप सिद्ध होता है।

१८१. सख्युरसम्बुद्धौ ७।१।९२

सख्युरङ्गात् परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत्।

प०वि०—सख्युः ५।१।। असम्बुद्धौ ७।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, सर्वनामस्थाने, णित्।

अर्थ—अङ्ग संज्ञक 'सखि' शब्द से उत्तर सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान 'णित्' के समान माना जाता है।

१८२. अचो ञ्णिति ७।२।११५

अजन्ताङ्गस्य वृद्धिः, ञिति णिति परे। सखायौ, सखायः। हे सखे। सखायम्। सखायौ, सखीन्। सख्या। सख्ये।

प०वि०—अचः ६।१।। ञ्णिति ७।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, वृद्धिः।

अर्थ—ञित् या णित् प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि होती है।

सखायौ

सखि	प्रथमा विभक्ति, द्वि वचन में 'औ' आने पर
सखि औ	'सुडनपुंसकस्य' से 'औ' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा, और 'यस्मात्प्रत्ययविधि०' से 'औ' परे रहते 'सखि' की 'अङ्ग' संज्ञा होने पर 'सख्युरसम्बुद्धौ' से 'सखि' अङ्ग से उत्तर सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' (औ) णित् हुआ, इसलिए 'अचो ञ्णिति' से णित् परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि, 'इ' के स्थान में 'ऐ' आदेश हुआ
सखै औ	'एचोऽयवायावः' से 'अच्' (औ) परे होने पर 'ऐ' के स्थान में 'आय्' आदेश हुआ
सख् आय् औ	संहिता होकर
सखायौ	रूप सिद्ध होता है।

सखायः—प्रथमा-बहुवचन में 'सखि+जस्' यहाँ पूर्ववत् 'सख्युरसम्बुद्धौ' से सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान 'जस्' के णित् के समान होने पर पूर्ववत् वृद्धि, 'आय्' आदेश तथा सकार को रुत्व और विसर्ग होकर 'सखायः' रूप सिद्ध होता है।

सखे—सम्बोधन के एकवचन (सम्बुद्धि) में 'सखि+सु' यहाँ 'ह्रस्वस्य गुणः' से सम्बुद्धि संज्ञक 'सु' परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होने पर 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' से सम्बुद्धि के हल् (स्) का लोप होकर (हे) 'सखे' रूप बनता है।

सखायम्—द्वितीया के एकवचन 'सखि+अम्' में पूर्ववत् 'सख्युरसम्बुद्धौ' से 'अम्' को णिद्वद् भाव, 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि (ऐ) तथा 'एचोऽयवायावः' से 'ऐ' के स्थान पर 'आय्' आदेश होकर 'सखायम्' सिद्ध होता है।

सखीन्—द्वितीया के बहुवचन में 'सखि+शस्' सभी कार्य 'रामान्' (१३९) के

समान होकर 'सखीन्' रूप सिद्ध होता है। यहाँ 'शस्' की तथा इसके आगे आने वाले 'सुप्' प्रत्ययों की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा न होने से णिद्वद् भाव नहीं होता। इसलिए वृद्धि आदि कार्य भी नहीं होते।

सख्या, सख्ये—तृतीया तथा चतुर्थी के एकवचन में क्रमशः 'सखि+टा' (आ), एवं 'सखि+ङे' (ए) यहाँ 'इको यणचि' से 'यण्' आदेश होकर 'सख्या' तथा 'सख्ये' रूप बनते हैं।

१८३. ख्यत्यात् परस्य ६।१।११२

'खि' 'ति' शब्दाभ्यां 'खी' 'ती' शब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उः। सख्युः।

प०वि०—ख्यत्यात् ५।१।। परस्य ६।१।। **अनु०**—अति, ङसिङसोः, उत्।

अर्थ—जिनको यणादेश किया गया है ऐसे 'खि' एवं 'ति' तथा दीर्घ 'खी' और 'ती' से उत्तर 'ङसि' और 'ङस्' के ह्रस्व अकार के स्थान में ह्रस्व उकार आदेश होता है।

सख्युः

सखि ङसि/ङस्	स्वाद्युत्पत्ति से पञ्चमी तथा षष्ठी विभक्ति के एकवचन में 'ङसि' एवं 'ङस्' आते हैं। अनुबन्ध-लोप होने पर दोनों का 'अस्' बचता है
सखि अस्	'इको यणचि' से 'अच्' परे रहते इकार को यणादेश 'य्' होने पर 'खि' को 'ख्य्' बना है
सख्य् अस्	'ख्यत्यात् परस्य' से 'ख्य्' से परे 'ङसि' एवं 'ङस्' के ह्रस्व अकार को 'उ' आदेश हुआ
सख्य् उस्	'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयोर्वि०' से रेफ को विसर्ग होकर
सख्युः	रूप सिद्ध होता है

१८४. औत् ७।३।११८

इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत्। सख्यौ। शेषं हरिवत्।

प०वि०—औत् १।१।। **अनु०**—इदुद्भ्याम्, ङेः, अङ्गस्य।

अर्थ—ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त अङ्ग से उत्तर 'ङि' को 'औ' आदेश होता है।

सख्यौ

सखि ङि	स्वाद्युत्पत्ति, 'सप्तम्यधिकरणे च' से अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति और 'द्व्येकयोर्द्वि०' से एकवचन में 'ङि' आने पर 'यस्मात्प्रत्ययविधि०' से 'सखि' की 'अङ्ग' संज्ञा होती है, तथा

	'सखि' इकारान्त भी है। अतः 'औत्' से ह्रस्व इकारान्त अङ्ग से उत्तर 'ङि' को 'औ' आदेश हुआ
सखि औ	'इको यणचि' से इकार को यणादेश 'य्' होकर
सख्यौ	रूप सिद्ध होता है।

'सखि' शब्द के अन्य विभक्तियों के रूपों की सिद्धि-प्रक्रिया 'हरि' शब्द के रूपों के समान ही होगी।

१८५. पतिः समास एव १।४।८

घिसंज्ञः। पत्या। पत्ये। पत्युः। पत्यौ। शेषं हरिवत्। समासे तु-भूपतये। कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः।

प०वि०—पतिः १।१।। समासे ७।१।। एव अ०।। **अनु०**—घि।

अर्थ—'पति' शब्द की समास में ही 'घि' संज्ञा होती है। अर्थात् समास से भिन्न स्थल में केवल 'पति' शब्द की 'घि' संज्ञा नहीं होती।

'पति' शब्द की 'शेषो घ्यसखि' से सर्वत्र 'घि' संज्ञा प्राप्त थी। अब प्रकृत सूत्र के द्वारा नियम किया गया है कि समास में ही 'पति' शब्द की 'घि' संज्ञा होगी, अन्यन्त्र नहीं। केवल 'पति' शब्द की 'घि' संज्ञा न होने के कारण इसके रूप तृतीया-एकवचन (टा) में तथा अन्य 'ङित्' विभक्तियों में 'सखि' के समान चलते है।

पत्या—'पति+टा' एवं **पत्ये**—'पति+ङे' में अनुबन्ध-लोप होने पर 'इको यणचि' से यणादेश होता है।

इसी प्रकार (**पत्युः**) में 'पति+ङसि/ङस्' अनुबन्ध-लोप एवं यणादेश होकर 'त्य्' बनने पर 'ख्यत्यात् परस्य' से 'ङसि' और 'ङस्' के अकार के स्थान में 'उकार' आदेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग आदि 'सख्युः'(१८३.) के समान होते हैं।

'पत्यौ' की सिद्धि 'सख्यौ' (१८४.) के समान ही होती है।

'पति' शब्द के शेष सभी रूप 'हरि' के समान जानें।

समास में तो 'पति' शब्द 'घि' संज्ञक होता ही है।

भूपतये	(राजा के लिए)
भूपति ङे	स्वाद्युत्पत्ति, चतुर्थी विभक्ति, एकवचन में 'ङे' आया, अनुबन्ध-लोप
भूपति ए	'पतिः समास एव' से समास में 'पति' शब्द की 'घि' संज्ञा होने से 'घेर्ङिति' से 'ङित्' पर रहते 'घि' संज्ञक को गुण हुआ
भूपते ए	'एचोऽयवा०' से 'ए' को 'अय्' आदेश होकर
भूपतये	रूप सिद्ध होता है।

'कति' शब्द नित्य बहुवचनान्त है इसलिए एकवचन और द्विवचन में इसके रूप नहीं होते।

१८६. बहुगणवतुडति संख्या १।१।२३

बहुगणशब्दौ वतुडत्यन्ताश्च संख्यासंज्ञकाः स्युः।

प०वि०—बहुगणवतुडति १।१।। संख्या १।१।।

अर्थ—**बहु** शब्द, **गण** शब्द, **वतु**प्रत्ययान्त शब्द और **डति**प्रत्ययान्त शब्द 'संख्या' संज्ञक होते हैं।

विशेष—सूत्र संख्या १८६ से लेकर १९१ तक के सूत्रों का कार्य 'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) के उदाहरण **'कति'** इत्यादि की सिद्धि-प्रक्रिया में स्पष्ट किया जाएगा, अतः वहीं पर देखें।

१८७. डति च १।१।२५

डत्यन्ता संख्या षट्संज्ञा स्यात्।

प०वि०—डति १।१।। च अ०।। **अनु०**—षट्।

अर्थ—'डति' प्रत्ययान्त संख्या की 'षट्' संज्ञा होती है।

१८८. षड्भ्यो लुक् ७।१।२२

जश्शसोः।

प०वि०—षड्भ्यः ५।३।। लुक् १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, जश्शसोः।

अर्थ—'षट्' संज्ञक अङ्ग (शब्द) से उत्तर 'जस्' और 'शस्' का लुक् होता है।

१८९. प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः १।१।६१

लुक्-श्लु-लुप्-शब्दैः कृतं प्रत्ययादर्शनं क्रमात् तत्तत्संज्ञः स्यात्।

प०वि०—प्रत्ययस्य ६।१।। लुक्श्लुलुपः १।३।। **अनु०**—अदर्शनम्।

अर्थ—लुक्, श्लु तथा लुप् शब्दों के द्वारा किया गया प्रत्यय का अदर्शन क्रमशः 'लुक्', 'श्लु' एवं 'लुप्' संज्ञक होता है।

१९०. प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् १।१।६२

प्रत्यये लुप्ते तदाश्रितं कार्यं स्यात्। इति 'जसि च' इति गुणे प्राप्ते—

प०वि०—प्रत्ययलोपे ७।१। प्रत्ययलक्षणम् १।१।।

सूत्र में पठित 'लक्षण' शब्द निमित्त का वाचक है।

अर्थ—प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी तदाश्रित अर्थात् लुप्त प्रत्यय को निमित्त मानकर होने वाले कार्य हो जाते हैं।

१९१. न लुमताऽङ्गस्य १।१।६३

लुमताशब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात्। कति २। कतिभिः। कतिभ्यः२।

कतीनाम्। कतिषु। युष्मदस्मदषट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः। त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। त्रयः। त्रीन्। त्रिभिः। त्रिभ्यः२।

प०वि०—न अ०।। लुमता ३।१।। अङ्गस्य ६।१।। **अनु०**—प्रत्ययलोपे, प्रत्ययलक्षणम्।

अर्थ—जहाँ 'लुमान्' शब्द अर्थात् 'लुक्', 'श्लु' और 'लुप्' शब्द (जिनमें 'लु' दिखाई देता है) से प्रत्यय का लोप हुआ हो, वहाँ उस (लुप्त प्रत्यय) को निमित्त मानकर 'अङ्ग' को होने वाले कार्य नहीं होते।

कति	(कितने)
कति जस्	'कति' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। स्वाद्युत्पत्ति, प्रथमा-बहुवचन में 'जस्' आया। 'कति' शब्द 'किम्+डति' से बना है। 'डति' प्रत्ययान्त 'कति' की 'बहुगणवतुडति संख्या' से 'संख्या' संज्ञा होती है। 'डति च' से डत्यन्त 'संख्या' की 'षट्' संज्ञा होने के कारण 'षड्भ्यो लुक्' से 'षट्' संज्ञक से उत्तर 'जस्' का 'लुक्' हुआ। 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' से प्रत्यय के अदर्शन (दिखाई न देने) की 'लुक्' आदि संज्ञाएँ होती हैं। इस प्रकार 'जस्' का 'लुक्' (अदर्शन) हुआ
कति	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त प्रत्यय को निमित्त मान कर भी कार्य हो जाते हैं, इसलिए 'जसि च' से लुप्त प्रत्यय 'जस्' को निमित्त मानकर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ। 'न लुमताऽङ्गस्य' से लुमान् शब्द 'लुक्' के द्वारा प्रत्यय का लोप होने पर लुप्त प्रत्यय 'जस्' को निमित्त मानकर अङ्ग को कार्य (यहाँ गुण) का निषेध हो गया, इस प्रकार
कति	रूप सिद्ध होता है।

कति—द्वितीया-बहुवचन 'कति+शस्' में भी सभी कार्य प्रथमा, बहुवचन के समान होकर 'षड्भ्यो लुक्' से 'शस्' का लुक् होने पर 'कति' रूप ही बनता है।

कतिभिः,कतिभ्यः—तृतीया-बहुवचन में 'कति+भिस्' में सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'कतिभिः' और चतुर्थी एवं पञ्चमी बहुवचन में 'भ्यस्' विभक्ति में 'कतिभ्यः' बनता है।

कतीनाम्—षष्ठी-बहुवचन में 'कति+आम्' यहाँ 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'नुट्' आगम तथा 'नामि' से दीर्घ होकर 'कतीनाम्' बनता है।

कतिषु—सप्तमी-बहुवचवन में 'कति+सु' यहाँ 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य (षकार) होकर 'कतिषु' बनता है।

'युष्मद्', 'अस्मद' और 'षट्' संज्ञक शब्दों के रूप तीनों लिंगों में एक समान रहते हैं।

'त्रि' शब्द नित्य बहुवचन में होता है, इसलिए इसके रूप सभी विभक्तियों में केवल बहुवचन में ही होते हैं।

त्रयः–प्रथमा-बहुवचन में 'त्रि+जस्' यहाँ अनुबन्ध-लोप, 'जसि च' से ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण (ए), 'एचोऽयवायावः' से 'ए' को 'अय्' आदेश तथा सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'त्रयः' सिद्ध होता है।

त्रीन्–द्वितीया-बहुवचन में 'त्रि+शस्', अनुबन्ध-लोप, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ, 'तस्माच्छसो नः पुंसि' से 'शस्' के सकार को नकार आदेश होकर 'त्रीन्' रूप बनता है।

त्रिभिः तथा **त्रिभ्यः**–'त्रि' शब्द से तृतीया-बहुवचन तथा चतुर्थी और पञ्चमी-बहुवचन में क्रमशः 'भिस्' एवं 'भ्यस्' होकर सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

१९२. त्रेस्त्रयः ७।१।५३

त्रिशब्दस्य त्रयादेशः स्यादामि। त्रयाणाम्। त्रिषु। गौणत्वेऽपि प्रियत्रयाणाम्।

प०वि०–त्रे ६।१। त्रयः १।१।। **अनु०**–आमि, अङ्गस्य।

अर्थ–'त्रि' अङ्ग को 'त्रय' आदेश होता है, 'आम्' परे रहते।

त्रयाणाम्	(तीनों का)
त्रि आम्	स्वाद्युत्पत्ति पूर्ववत् 'षष्ठी शेषे' तथा 'बहुषु बहुवचनम्' आदि सूत्र लगकर षष्ठी-बहुवचन में 'आम्' आने पर 'त्रेस्त्रयः' से 'आम्' परे रहते 'त्रि' को 'त्रय' आदेश हुआ
त्रय आम्	'ह्रस्वनद्यापो०' से ह्रस्व से उत्तर 'आम्' को 'नुट्' आगम हुआ
त्रय नुट् आम्	अनुबन्ध-लोप
त्रय न् आम्	'नामि' से 'नाम्' परे रहते अजन्त अङ्ग को (अकार को) दीर्घ तथा 'अट्कुप्वाङ्०' से नकार को 'णत्व' होकर
त्रयाणाम्	रूप सिद्ध होता है।

गौणत्वेऽपि०–जहाँ 'त्रि' शब्द समस्तपद का अवयव बनकर गौण हो गया है, वहाँ भी 'त्रि' को 'आम्' परे रहते 'त्रय' आदेश हो जाता है, तथा **'प्रियत्रयाणाम्'** इत्यादि रूप ही बनते हैं। ग्रन्थकार का आशय यह है कि **'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च ग्रहणम्'** इस परिभाषा से अङ्गाधिकार में होने के कारण तदन्त (त्रि अन्त वाले) 'प्रियत्रि' आदि में भी 'नाम्' परे रहते 'त्रि' को 'त्रय' आदेश हो ही जाता है।

१९३. त्यदादीनामः ७।२।१०२

एषामकारो विभक्तौ। द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः। द्वौ २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २। पाति लोकमिति पपीः=सूर्यः। दीर्घाज्जसि च–पप्यौ २। पप्यः। हे पपीः। पपीम्। पपीन्।

पप्या। पपीभ्याम् ३। पपीभिः। पप्ये। पपीभ्यः २। पप्यः २। पप्योः। दीर्घत्वान्न नुट्-पप्याम्। सवर्णदीर्घः-पपी। पप्योः। पपीषु। एवं वातप्रम्यादयः।

बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी।

प०वि०—त्यदादीनाम् ६।१।। अः १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, विभक्तौ।

अर्थ—विभक्ति परे रहते त्यदादि शब्दों (अङ्ग) को 'अ' आदेश होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से अन्तिम अल् के स्थान में 'अ' होता है, सम्पूर्ण शब्द के स्थान में नहीं।

यहाँ त्यदादि से 'त्यद्' से लेकर 'द्वि' पर्यन्त शब्दों का ही ग्रहण इष्ट है।[1] इसलिए प्रकृत सूत्र से अकार अन्तादेश केवल त्यदादि में पठित आठ शब्दों को ही होता है।

'द्वि' शब्द दो का वाचक होने से नित्य द्विवचनान्त है।

द्वौ (दो)

द्वि औ — प्रथमा-द्विवचन में 'औ' विभक्ति परे रहते 'त्यदादीनामः' से 'द्वि' के 'इ' को 'अ' आदेश हुआ

द्व औ — 'प्रथमयोः पूर्व०' से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'नादिचि' से निषेध होने पर 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश होकर

द्वौ — रूप सिद्ध होता है।

द्वाभ्याम्— 'द्वि+भ्याम्' यहाँ तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी का द्विवचन 'भ्याम्' परे रहते 'त्यदादीनामः' से अकार अन्तादेश आदेश होने पर 'सुपि च' से यञादि 'सुप्' परे रहते अदन्त अङ्ग को दीर्घ होकर 'द्वाभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

द्वयोः—'द्वि+ओस्' यहाँ षष्ठी और सप्तमी का द्विवचन 'ओस्' परे रहते पूर्ववत् 'त्यदादीनामः' से अकार आदेश होने पर 'ओसि च' से 'ओस्' परे रहते अदन्त अङ्ग को एकारादेश तथा 'एचोऽयवायावः' से 'ए' को 'अय्' होने पर सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'द्वयोः' रूप सिद्ध होता है।

पपीः—(संसार का पालक) की सिद्धि 'रामः' के समान जानें। ङ्यन्त न होने से 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' का लोप नहीं होता।

पप्यौ

पपी औ — प्रथमा-द्विवचवन में 'औ' परे रहते 'प्रथमयोः पूर्व०' से पूर्व

---

१. त्यदादि से केवल आठ शब्द-त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक और द्वि का ही ग्रहण होता है।

	सवर्ण दीर्घ प्राप्त था, जिसका 'दीर्घाज्जसि च' से दीर्घ 'ई' से 'इच्' (औ) परे रहते निषेध हो गया 'इको यणचि' से यणादेश 'ई' के स्थान में 'य्' होकर
पप्यौ	रूप सिद्ध होता है।

पप्य:–'पपी+जस्' पूर्ववत् 'दीर्घाज्जसि च' से दीर्घ (ई) से 'जस्' परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घत्व का निषेध तथा 'इको यणचि' से यणादेश होकर 'पप्य:' सिद्ध होता है।

पपीम्–'पपी+अम्' यहाँ 'अमि पूर्व:' आदि होकर 'रामम्' के समान सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

पपीन्–'पपी+शस्' यहाँ द्वितीया, बहुवचन में सिद्धि-प्रक्रिया 'रामान्' (१३९) के समान जानें।

पप्या, पपीभ्याम्, पपीभि:, पप्ये, पपीभ्य:, पप्यो: में कुछ भी विशेष नहीं है।

पप्याम्–'पपी+आम्' षष्ठी-बहुवचन में, 'पपी' शब्द दीर्घान्त होने के कारण, 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'आम्' को 'नुट्' नहीं होता। यणादेश होकर 'पप्याम्' रूप सिद्ध होता है।

पपी–सप्तमी-एकवचन में 'पपी+ङि' यहाँ 'अक: सवर्णे दीर्घ:' से दीर्घ होकर 'पपी' सिद्ध होता है।

बहुश्रेयसी	(बहुत भाग्यशाली स्त्रियों वाला पुरुष) 'बह्व्य: श्रेयस्य: (स्त्रिय:) यस्य, स:' बहुव्रीहि समास होकर बना यह शब्द 'उगितश्च' से 'ङीप्' प्रत्ययान्त है।
बहुश्रेयसी सु	समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया। अनुबन्ध-लोप
बहुश्रेयसी स्	'अपृक्त एकाल्प्रत्यय:' से 'स्' की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से ङ्यन्त से उत्तर 'सु' के अपृक्तसंज्ञक हल् (सकार) का लोप होकर
बहुश्रेयसी	सिद्ध होता है।

१९४. यू स्त्र्याख्यौ नदी १।४।३

ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदी संज्ञौ: स्त:।

(वा०) प्रथमलिङ्गग्रहणं च।

पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थ:।

प०वि०–यू १।२।। स्त्र्याख्यौ १।२।। नदी १।१।।

अर्थ–दीर्घ ईकारान्त और ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्दों की 'नदी' संज्ञा होती है।

(वा०) प्रथम लिङ्गग्रहणं च–अर्थ– यदि कोई शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग है, और बाद में समस्तपद का अवयव आदि बनने पर उसका लिंग परिवर्तन हो जाता है तो पूर्वलिङ्ग के आधार पर उस शब्द का लिंग पूर्व वाला (स्त्रीलिंग) ही स्वीकार कर लिया जाता है। इसी आधार पर पूर्व में स्त्रीवाचक ईकारान्त शब्द की समास आदि में उपसर्जन (गौण) हो जाने पर भी समस्तपद की 'नदी संज्ञा हो जाती है।

जैसे–'श्रेयसी' शब्द स्त्रीलिंग का है, परन्तु 'बहुश्रेयसी' शब्द में बहुव्रीहि समास-(बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य सः) अन्यपद प्रधान होने के कारण पुल्लिग शब्द है। उक्त वार्तिक से समस्त पद का लिंग समास से पूर्व के समान स्त्रीलिंग मान लिया जाता है। इसीलिए 'बहुश्रेयसी' शब्द की 'नदी' संज्ञा होने पर 'नदी' संज्ञा के आश्रय से होने वाले कार्य भी हो जाते हैं।

१९५. अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ७।३।१०७

सम्बुद्धौ। हे बहुश्रेयसि।

प०वि०–अम्बार्थनद्योः ६।२।। ह्रस्वः १।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, सम्बुद्धौ।

अर्थ–'सम्बुद्धि' (सम्बोधन का एकवचन 'सु') परे रहते अम्बार्थक एवं 'नदी' संज्ञक अङ्ग को ह्रस्व होता है।

हे बहुश्रेयसि!

हे बहुश्रेयसी सु	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'सम्बोधने च' से सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति तथा 'द्वयेकयो०' से एकवचन में 'सु' आया, जिसकी 'एकवचनं सम्बुद्धिः' से 'सम्बुद्धि' संज्ञा है। 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' वार्तिक से 'बहुश्रेयसी' शब्द का लिङ्ग भी 'श्रेयसी' शब्द के समान स्त्रीलिंग ही होगा तथा 'यूस्त्र्याख्यौ नदी' से उसकी 'नदी' संज्ञा हो जाएगी। इसलिए 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' से 'सम्बुद्धि' परे रहते 'नदी' संज्ञक को ह्रस्व हुआ
हे बहुश्रेयसि सु	अनुबन्ध-लोप
हे बहुश्रेयसि स्	'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' से ह्रस्वान्त अङ्ग से उत्तर सम्बुद्धि के हल् सकार का लोप होकर
हे बहुश्रेयसि	रूप सिद्ध होता है।

१९६. आण्नद्याः ७।३।११२

नद्यन्तात् परेषां ङितामाडागमः।

प०वि०–आट् १।१।। नद्याः ५।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, ङिति।

अर्थ–नद्यन्त अङ्ग से (नदी संज्ञक शब्द जिसके अन्त में हों ऐसे अङ्ग से) उत्तर ङित् प्रत्यय को 'आट्' आगम होता है।

१९७. आटश्च ६।१।९०

आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः। बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः २। नद्यन्तत्वान्नुट्-बहुश्रेयसीनाम्।

प०वि०—आटः ५।१। च अ०।। **अनु०**—अचि, एकः, पूर्वपरयोः, वृद्धिः।

अर्थ—'आट्' से उत्तर 'अच्' (स्वर) परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है।

बहुश्रेयस्यै

बहुश्रेयसी ङे	स्वाद्युत्पत्ति पूर्ववत् 'चतुर्थी सम्प्रदाने' से चतुर्थी विभक्ति, 'द्व्येकयो०' से एकवचन में 'ङे' आया। अनुबन्ध-लोप, 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' वार्तिक से 'बहुश्रेयसी' का लिङ्ग 'स्त्रीलिङ्ग' मान लिया जाने से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' से 'बहुश्रेयसी' की 'नदी' संज्ञा होने पर 'आण्नद्याः' से 'नदी' संज्ञक से उत्तर 'ङित्' को 'आट्' आगम हुआ
बहुश्रेयसी आट् ए	अनुबन्ध-लोप, 'आटश्च' से 'आट्' से उत्तर 'अच्' (ए) परे रहते वृद्धि एकादेश 'ऐ' हुआ
बहुश्रेयसी ऐ	'इको यणचि' से 'अच्' (ऐ) परे रहते ईकार के स्थान पर 'यण्' (यकार) आदेश हुआ
बहुश्रेयस्य् ऐ	संहिता होने पर
बहुश्रेयस्यै	रूप सिद्ध होता है।

बहुश्रेयस्याः—पञ्चमी, षष्ठी एकवचन में 'ङसि' और 'ङस्' का 'अस्' शेष रहता है। 'बहुश्रेयसी+अस्' यहाँ 'बहुश्रेयसी' की पूर्ववत् 'नदी' संज्ञा होने पर 'आण्नद्याः' से 'अस्' को 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से पूर्ववत् वृद्धि एकादेश 'आ', ईकार को यणादेश (य्) तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'बहुश्रेयस्याः' रूप सिद्ध होता है।

बहुश्रेयसीनाम्

बहुश्रेयसी आम्	षष्ठी, बहुवचन में 'आम्' आने पर 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' वार्तिक के कारण समास से पूर्व का लिंग ही समस्त पद का लिंग (स्त्रीलिंग) होने से 'बहुश्रेयसी' की 'यूस्त्र्याख्यौ नदी' से 'नदी' संज्ञा होती है, अतः 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से नद्यन्त से परे 'आम्' को 'नुट्' आगम हुआ
बहुश्रेयसी नुट् आम्	अनुबन्ध-लोप होकर संहिता होने पर
बहुश्रेयसीनाम्	रूप सिद्ध होता है।

१९८. ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६

नद्यन्ताद्, आबन्ताद्, 'नी' शब्दाच्च परस्य ङेराम्। बहुश्रेयस्याम्। शेषं पपीवत्। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। अतिलक्ष्मीः। शेषं बहुश्रेयसीवत्।

प०वि०–ङेः ६।१।। आम् १।१।। नद्याम्नीभ्यः ५।३।। **अनु०**–अङ्गस्य।

अर्थ–नद्यन्त, आबन्त तथा 'नी' अङ्ग से उत्तर 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश होता है।

बहुश्रेयस्याम्

बहुश्रेयसी ङि	सप्तमी–एकवचन में 'ङि' आया, 'यूस्त्र्याख्यौ नदी' से 'नदी' संज्ञा होने से 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से 'ङि' को 'आम्' आदेश हुआ
बहुश्रेयसी आम्	'आण्नद्याः' से नदीसंज्ञक से उत्तर स्थानीवद्भाव से ङित् 'आम्' को 'आट्' आगम हुआ
बहुश्रेयसी आट् आम्	अनुबन्ध-लोप, 'आटश्च' से 'आट्' से उत्तर अच् परे रहते वृद्धि एकादेश हुआ
बहुश्रेयसी आ म्	'इको यणचि' से यणादेश होकर
बहुश्रेयस्याम्	रूप सिद्ध होता है।

'अतिलक्ष्मीः' शब्द प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर रुत्व और विसर्ग होने पर 'रामः' के समान सिद्ध होता है। ङ्यन्त न होने से 'सु' का हल्ङ्यादि लोप नहीं होता।

'अतिलक्ष्मी' शब्द के अन्य विभक्तियों में रूप 'बहुश्रेयसी' के समान जानें।

१९९. अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७

श्नुप्रत्ययान्तस्य, इवर्णोवर्णान्तस्य धातोः, भ्रू इत्यस्य च अङ्गस्य इयङुवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। इति प्राप्ते–

प०वि०–अचि ७।१।। श्नुधातुभ्रुवाम् ६।३।। य्वोः ६।२।। इयङुवङौ १।२।। **अनु०**–अङ्गस्य।

अर्थ–अजादि प्रत्यय परे रहते श्नुप्रत्ययान्त को, इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु को तथा 'भ्रू' अङ्ग को 'इयङ्' और 'उवङ्' आदेश होते हैं।

विशेष–'स्थानेऽन्तरतमः' से इकार के स्थान पर 'इयङ्' और उकार के स्थान पर 'उवङ्' आदेश होते हैं। 'इयङ्' और 'उवङ्' ङित् होने के कारण 'ङिच्च' से अङ्ग के अन्त्य इकार और उकार के स्थान पर ही होते हैं।

२००. एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६।४।८२

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णः, तदन्तो यो धातुः, तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्याद् अजादौ प्रत्यये परे। प्रध्यौ। प्रध्यम्। प्रध्यः। प्रध्यि। शेषं

पपीवत्। एवं ग्रामणीः। ङौ तु-ग्रामण्याम्। अनेकाचः किम्?नीः, नियौ, नियः। अमि शसि च परत्वादियङ्-नियम्, नियः। ङेराम्-नियाम्। असंयोगपूर्वस्य किम्?सुश्रियौ, यवक्रियौ।

प०वि०—एः ६।१।। अनेकाचः ६।१।। असंयोगपूर्वस्य ६।१।। **अनु०**—यण्, अचि, धातोः, अङ्गस्य।

अर्थ—धातु का अवयव संयोग पूर्व में नहीं है जिसके, ऐसा जो इवर्ण, तदन्त (इवर्णान्त) अनेकाच् अङ्ग को, अजादि प्रत्यय परे रहते 'यण्' आदेश होता है।

प्रध्यौ[1]

प्रधी औ	यहाँ 'प्रधी' में 'धी' इवर्णान्त धातु है इसलिए 'अचि श्नुधातुभ्रु०' से अजादि प्रत्यय परे रहते इवर्णान्त धातु को 'इयङ्' आदेश प्राप्त हुआ, जिसे बाधकर 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' से संयोग पूर्व में नहीं है, जिसके ऐसा इवर्ण, तदन्त धातु (धी), तथा वह धातु जिसके अन्त में है ऐसा अङ्ग (प्रधी), उसे 'अच्' परे रहते 'यण्' आदेश हुआ
प्रध्य् औ	संहिता होने पर
प्रध्यौ	रूप सिद्ध होता है।

प्रध्यम्—'प्रधी+अम्', **प्रध्यः**—'प्रधी+जश्/शस्', **प्रध्यि**—'प्रधी+ङि' में सर्वत्र अजादि प्रत्यय परे रहते 'एरनेकाचोऽसं०' से यणादेश ही होता है।

'प्रधी' के अन्य विभक्तियों के रूप 'पपी' (१९३.) के समान जानें।

ग्रामण्याम्—'ग्रामणी+ङि' में 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से 'ङि' को 'आम्' आदेश तथा 'एरनेकाचोऽसं०' से यणादेश होकर 'ग्रामण्याम्' सिद्ध होता है।

अनेकाचः किम्—सूत्र में **अनेकाचः** कहने का प्रयोजन यह है कि जहाँ अनेकाच् अङ्ग नहीं है, अर्थात् एकाच् है, वहाँ यणादेश न हो। **जैसे**—क्विबन्त 'नी' शब्द से अजादि प्रत्यय परे रहते 'यण्' नहीं होता, अपितु 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' सूत्र से 'इयङ्' आदेश होता है।

नियौ—'नी+औ', **नियः**, —'नी+जस्/शस्', **नियम्**—'नी+अम्' में सर्वत्र 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से 'इयङ्' होकर ये सभी रूप सिद्ध होते हैं।

नियाम्—'नी+ङि' यहाँ पहले 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से 'नी' से उत्तर 'ङि' को 'आम्' आदेश होगा, तत्पश्चात् 'अचि श्नुधातु०' से 'इयङ्' होकर 'नियाम्' रूप बनता है।

---

१. **'प्रधी=प्रध्यायति इति'**—'प्र' पूर्वक 'ध्यै' धातु को 'आदेच उपदेशे०' से आत्व, 'ध्यायतेः सम्प्रसारणं च' से क्विप् और सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप और 'हलः' से दीर्घ होकर 'प्रधी' बनता है।

असंयोगपूर्वस्य किम्—सूत्र में **असंयोगपूर्वस्य** कहने का प्रयोजन यह है कि जहाँ धातु का अवयव संयोग पूर्व में होगा, वहाँ 'एरनेकाचो०' सूत्र से यणादेश न हो। **जैसे**—'सुश्री+औ' तथा 'यवक्री+औ' दोनों में ईकार से पूर्व धातु का संयोग क्रमशः श्र् (श्+र्) तथा 'क्र्' (क्+र्) होने से 'एरनेकाचोऽसंयोग०' से यणादेश नहीं होता। अपितु 'अचि श्नुधातु०' से 'इयङ्' होकर 'सुश्रियौ' तथा 'यवक्रियौ' रूप बनते हैं।

२०१. गतिश्च १।४।६०

प्रादयः क्रियायोगे गतिसञ्ज्ञाः स्युः।

(वा०) गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते-शुद्धिधियौ।

प०वि०—गतिः १।१।। च अ०।। **अनु०**—प्रादयः, क्रियायोगे।

अर्थ—'प्र' आदि शब्दों की क्रिया के योग में 'गति' संज्ञा भी होती है।

प्रादि—गणपाठ में 'प्र' आदि गण मे बाईस शब्दों का परिगणन किया गया है, जो इस प्रकार हैं—प्र, परा, अप्, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि और उप।

(वा०) गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते—यह वार्तिक 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' का अपवाद है।

अर्थ—'गति' संज्ञक **(प्रादि)** से भिन्न और कारक से भिन्न उपपद में रहते इवर्णान्त धातु को अजादि प्रत्यय परे रहते यणादेश नहीं होता। जैसे—

शुद्धधियौ (शुद्ध का ध्यान करने वाले दो व्यक्ति)

शुद्धधी औ — यहाँ 'शुद्धधी' शब्द 'शुद्धा धीर्यस्य सः' इस प्रकार समास होकर बना है। इसलिए इसका पूर्वपद 'शुद्ध' न तो 'गति' संज्ञक है, और न ही 'कारक', अतः 'एरनेकाचोऽसं०' से प्राप्त यणादेश का 'गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते' इस वार्तिक से निषेध होने पर 'अचि श्नुधातु०' से 'इयङ्' आदेश, 'ङिच्च' से अन्तिम 'अल्' इकार से स्थान में हुआ

शुद्धध् इयङ् औ — अनुबन्ध-लोप

शुद्धध् इय् औ — संहिता होने पर

शुद्धधियौ — रूप सिद्ध होता है।

२०२. न भूसुधियोः ६।४।८५

एतयोरचि सुपि यण् न। सुधियौ, सुधियः इत्यादि। सुखिमिच्छतीति-सुखीः। सुतमिच्छतीति-सुतीः। सुख्यौ। सुत्यौ। सुख्युः। सुत्युः। शेषं प्रधीवत्। शम्भुर्हरिवत्। एवं भान्वादयः।

प०वि०—न अ०।। भूसुधियोः ६।२।। **अनु०**—अङ्गस्य, सुपि, अचि, यण्।

अर्थ—अजादि 'सुप्' (प्रत्यय) परे रहते 'भू' और 'सुधी' अङ्ग को 'यण्' आदेश नहीं होता।

सुधियौ

सुधी औ	प्रथमा-विभक्ति, द्विवचन में 'औ' आने पर 'एरनेकचोऽसंयोगपूर्वस्य' से यणादेश प्राप्त था, 'न भूसुधियोः' से अजादि सुप् 'औ' परे रहते 'सुधी' को यणादेश का निषेध हो गया। अतः 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वो०' से इकार को 'इयङ्' आदेश हुआ
सुध् इयङ् औ	अनुबन्ध-लोप होकर
सुधियौ	रूप सिद्ध होता है।

सुधियः—इसी प्रकार 'सुधी+जस्' में भी 'न भूसुधियोः' से यणादेश का निषेध होने पर 'अचि श्नु०' से 'इयङ्' होकर सकार को रुत्व और विसर्ग होने पर 'सुधियः' सिद्ध होता है।

सुख्यौ, सुत्यौ—'सुखी+औ' तथा 'सुती+औ' में 'एरनेकाचो०' से यणादेश होकर 'सुख्यौ' तथा 'सुत्यौ' सिद्ध होते हैं।

सुख्युः, सुत्युः—'सुखी+ङस्/ङसि' तथा 'सुती+ङस्/ङसि' में 'एरनेकाचो०' से यणादेश होने पर 'ख्यत्यात्परस्य' से 'ख्य्' तथा 'त्य्' से परे 'ङसि' और 'ङस्' के अकार को उकार आदेश होकर सकार को रुत्व और विसर्ग होने पर 'सुख्युः' और 'सुत्युः' सिद्ध होते हैं।

'सुखी' और 'सुती' के शेष रूप 'प्रधी' के रूपों के समान जानें।

'शम्भु' तथा **'भानु'** के रूप 'हरि' के समान ही जानें।

२०३. तृज्वत् क्रोष्टुः ७।१।९५

असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने 'क्रोष्टृ' शब्दः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः।

प०वि०—तृज्वत् अ०।। क्रोष्टुः १।१।। **अनु०**—सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धौ, अङ्गस्य।

अर्थ—सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते 'क्रोष्टु' अङ्ग (शब्द) को 'तृच्' प्रत्ययान्त के समान (क्रोष्टृ) आदेश होता है।

विशेषः—'क्रोष्टुः' शब्द को तृजन्त के समान आदेश अर्थकृत सादृश्य के कारण 'क्रुष्' धातु का तृजन्त रूप 'क्रोष्टृ' होता है।

२०४. ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ७।३।११०

ऋतोऽङ्गस्य गुणो ङौ सर्वनामस्थाने च। इति प्राप्ते-

प०वि०—ऋतः ६।१।। ङिसर्वनामस्थानयोः ६।२।। **अनु०**—अङ्गस्य, गुणः।

अर्थ—'ङि' और 'सर्वनामस्थान' संज्ञक प्रत्यय (नपुंसक-भिन्न 'सुट्' अर्थात् सु, औ, जस्, अम्, औट्) परे रहते ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग को 'गुण' होता है।

२०५. ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसां च ७।१।९४

ऋदन्तानाम् उशनसादीनां चानङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ।

प०वि०—ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसाम् ६।३।। च अ०।। **अनु०**—अङ्गस्य, अनङ्, सौ, असम्बुद्धौ।

अर्थ—ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग को, 'उशनस्', 'पुरुदंशस्' और 'अनेहस्' अङ्गों को सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते 'अनङ्' आदेश होता है।

'ङित्' होने के कारण 'अनङ्' आदेश 'ङिच्च' से अन्तिम 'अल्' (वर्ण) के स्थान पर होता है।

२०६. अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम् ६।४।११

अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः। क्रोष्टारम्, क्रोष्टून् ।

प०वि०—अप्तृन्तृच्....प्रशास्तृणाम् ६।३।। **अनु०**—उपधायाः, सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धौ, अङ्गस्य, दीर्घः।

अर्थ—सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते अप्, तृन्प्रत्ययान्त, तृच्प्रत्ययान्त, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ और और प्रशास्तृ अङ्गों की उपधा को दीर्घ होता है।

क्रोष्टा	(गीदड़)
क्रोष्टु सु	प्रथमा विभक्ति के एकवचन में आने वाले नपुसंक-भिन्न 'सु' की 'सुडनपुंसकस्य' से 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होती है, इसलिए 'तृज्वत् क्रोष्टुः' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते 'क्रोष्टु' शब्द को तृज्वत् अर्थात् तृच्प्रत्ययान्त 'कोष्टृ' आदेश हुआ
क्रोष्टृ सु	यहाँ 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' से 'सर्वनामस्थान' संज्ञक 'सु' परे रहते ऋकारान्त अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ, जिसे बाधकर 'ऋदुशनसपुरुदंशोऽनेहसां च' से सम्बुद्धि भिन्न 'सु' परे रहते ऋकारान्त अङ्ग को 'अनङ्' आदेश हुआ
क्रोष्ट् अनङ् सु	अनुबन्ध-लोप, 'अप्तृन्तृच०' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे होने पर 'तृच्' प्रत्ययान्त 'क्रोष्टन्' शब्द की उपधा 'अ' को दीर्घ 'आ' हुआ
क्रोष्ट् आन् स्	'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से एक 'अल्' रूप प्रत्यय 'स्' की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'अपृक्त' संज्ञक 'हल्' (स्) का लोप हुआ

क्रोष्ट् आन् — 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप होकर
क्रोष्टा — रूप सिद्ध होता है।

क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः, क्रोष्टारम् में 'क्रोष्टु' शब्द से परे क्रमशः 'औ', 'जस्' और 'अम्' विभक्तियों की 'सुडनपुंसकस्य' से 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'तृज्वत्क्रोष्टुः' से पूर्ववत् तृज्वद्भाव से 'क्रोष्टृ' आदेश, 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते ऋकारान्त अङ्ग को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' को 'अर्' आदेश होने पर 'अप्तृन्तृच्०' से उपधा-दीर्घ आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

२०७. विभाषा तृतीयादिष्वचि ७।१।९७

अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत्। क्रोष्ट्रा, क्रोष्ट्रे।

प०वि०—विभाषा १।१।। तृतीयादिषु ७।३।। अचि ७।१।। **अनु०**—तृज्वत्, क्रोष्टुः।

अर्थ—तृतीयादि विभक्तियों में अजादि 'टा' (आ) 'ङे' (ए), 'ङसि' (अस्), आदि विभक्तियाँ परे होने पर 'कोष्टु' शब्द को विकल्प से तृज्वत् अर्थात् 'क्रोष्टृ' आदेश होता है।

क्रोष्ट्रा

क्रोष्टु टा — तृतीया विभक्ति, एकवचन में 'टा' आने पर अनुबन्ध-लोप हुआ
क्रोष्टु आ — 'विभाषा तृतीयादिषु०' से 'क्रोष्टु' को अजादि तृतीयादि विभक्ति 'टा' परे रहते विकल्प से तृज्वत् आदेश 'क्रोष्टृ' हुआ
क्रोष्टृ आ — 'इको यणचि' से यणादेश 'ऋ' के स्थान में 'र्' होकर
कोष्ट्रा — रूप सिद्ध होता है।

जिस पक्ष में 'कोष्टृ' आदेश नहीं होगा वहाँ 'क्रोष्टु' की सर्वत्र घिसंज्ञा होकर **क्रोष्टुना, क्रोष्टवे**, आदि रूप 'गुरु' के रूपों के समान होंगे।

क्रोष्ट्रे—इसी प्रकार 'कोष्टु+ङे' में तृतीयादि अजादि विभक्ति 'ङे' (ए) परे रहते विकल्प से 'क्रोष्टृ' आदेश होने पर 'इको यणचि' से यणादेश होकर **क्रोष्ट्रे** रूप सिद्ध होता है।

२०८. ऋत उत् ६।१।१११

ऋतो ङसि-ङसोरति उद् एकादेशः। रपरः।

प०वि०—ऋतः ५।१।। उत् १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, एकः, पूर्वपरयोः, ङसिङसोः, अति।

अर्थ—ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग से उत्तर 'ङसि' और 'ङस्' का ह्रस्व अकार परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर ह्रस्व उकार एकादेश होता है।

ऋकार के स्थान में होने वाला उकार 'अण्' प्रत्याहार में आता है, इसलिए 'उरण् रपरः' से रपर भी हो जायेगा।

२०९. रात्सस्य ८।२।२४

रेफात् संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य। रस्य विसर्गः-क्रोष्टुः, क्रोष्ट्रोः।

(वा०) नुम्-अचि-र-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन।

क्रोष्टूनाम्, क्रोष्टरि। पक्षे हलादौ च शम्भुवत्।

हूहूः। हूहौ। हूहः। हूहून् इत्यादि। अतिचमूशब्दे तु नदीकार्यं विशेषः। हे अतिचमु। अतिचम्वै। अतिचम्वाः। अतिचमूनाम्। अतिचम्वाम्। खलपूः।

प०वि०–रात् ५।१।। सस्य ६।१।। **अनु०**–संयोगान्तस्य, लोपः, पदस्य।

अर्थ–संयोगान्त पद के रेफ से उत्तर सकार का ही लोप होता है, अन्य का नहीं।

पूर्वसूत्र **'संयोगान्तस्य लोपः'** से संयोगान्त पद का लोप सिद्ध था, पुनः रेफ से उत्तर संयोगान्त सकार का लोप-विधान नियमार्थ है। रेफ से उत्तर यदि संयोगान्त का लोप हो तो सकार का ही हो, अन्य का नहीं।

क्रोष्टुः

क्रोष्टु ङसि/ङस्	पञ्चमी और षष्ठी विभक्ति, एक वचन में 'ङस्' और 'ङसि' का अनुबन्ध-लोप होने पर 'अस्' ही बचता है।
क्रोष्टु अस्	'विभाषा तृतीयादिष्वचि' से तृतीयादि में अजादि विभक्ति 'अस्' परे रहते 'क्रोष्टु' शब्द को विकल्प से 'क्रोष्टृ' आदेश हुआ
क्रोष्टृ अस्	'ऋत उत्' से ह्रस्व ऋकार से उत्तर 'ङसि' और 'ङस्' का ह्रस्व अकार परे रहते पूर्व और पर के स्थाने में ह्रस्व उकार एकादेश, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'उर्' हुआ
क्रोष्टुर् स्	'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'रात्सस्य' से रेफ से उत्तर संयोगान्त पद के सकार का लोप हुआ
क्रोष्टुर्	'विरामोऽवसानम्' से 'अवसान' संज्ञा होने पर 'खरवसान-योर्विसर्जनीयः' से अवसान में रेफ को विसर्गादेश होकर
क्रोष्टुः	रूप सिद्ध होता है।

क्रोष्ट्रोः–'क्रोष्टु+ओस्' यहाँ 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' से तृतीया आदि अजादि विभक्ति परे रहते 'क्रोष्टु' को 'कोष्टृ' होकर 'कोष्टृ+ओस्' इस स्थिति में 'इको यणचि' से यणादेश होने पर 'क्रोष्ट्रोस्' सकार के स्थान में रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर **क्रोष्ट्रोः** रूप सिद्ध होता है।

(वा०) नुम् अचि-र तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन–

अर्थ–'इकोऽचि विभक्तौ' (७.१.७३) से प्राप्त होने वाले 'नुम्', 'अचि र ऋतः' (७.२.१००) से प्राप्त अच् परे रहते रेफादेश और 'तृज्वत्क्रोष्टुः' (७.१.९५) से प्राप्त होने वाले तृज्वद्भाव की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से 'ह्रस्वनद्यापो नुट् (७.१.५४) से प्राप्त 'नुट्' आगम पहले होता है।

क्रोष्टूनाम्

क्रोष्टु आम्	षष्ठी विभक्ति, बहुवचन में 'आम्' परे रहते यहाँ 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' से अजादि विभक्ति परे रहते विकल्प से तृज्वद्भाव तथा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'आम्' को 'नुट्' आगम एक साथ प्राप्त हुए। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' से परत्व से तृज्वद्भाव प्राप्त हुआ। जिसका (वा०) 'नुम्-अचि-र-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' से पूर्व विप्रतिषेध से बाध होने पर 'ह्रस्वनद्यापो०' से 'आम्' को 'नुट्' आगम हो गया
क्रोष्टु नुट् आम्	अनुबन्ध-लोप
क्रोष्टु नाम्	'नामि' से 'नाम्' परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ होकर
क्रोष्टूनाम्	रूप सिद्ध होता है।

क्रोष्टरि–'क्रोष्टु+ङि (इ)' यहाँ 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' से विकल्प से 'कोष्टृ' आदेश होने पर 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' से 'ङि' परे रहते ऋकारान्त अङ्ग को गुण होकर 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'क्रोष्टरि' रूप सिद्ध होता है।

अजादि विभक्ति में तृज्वद्भाव के अभाव पक्ष में और हलादि विभक्ति परे रहते 'क्रोष्टु' शब्द के रूप 'शम्भु' के रूपों के समान होंगे।

हूहूः–'हूहू' शब्द से प्रथमा-एकवचन में 'सु' आने पर सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'हूहूः' रूप सिद्ध होता है।

हूह्वौ (दो गन्धर्व)–'हूहू+औ और **हूह्वः**–'हू हू+जस्' में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त था, जिसका 'दीर्घाज्जसि च' से निषेध होने पर 'इको यणचि' से यणादेश 'ऊ' के स्थान में 'व्' होकर **'हूह्वौ'** और **'हूह्वः'** रूप सिद्ध होते हैं।

हूहून्–'हूहू+शस्' यहाँ भी 'रामान्' (१३९) के समान पूर्वसवर्ण दीर्घ तथा 'तस्माच्छसो नः पुंसि' आदि कार्य होकर 'हूहून्' रूप सिद्ध होता है।

हे अतिचमु–'अतिचमू' (सेना का अतिक्रमण करने वाला)–शब्द समस्तपद के रूप में पुंल्लिग होने पर भी 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' वार्तिक से पूर्वलिङ्ग के आधार पर उसे स्त्रीलिङ्ग मानकर उसकी 'नदी' संज्ञा हो जाती है इसलिए 'अतिचमू+सु' यहाँ सम्बुद्धि के एकवचन में 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' से 'नदी' संज्ञक 'अतिचमू' को ह्रस्व होने पर 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' से ह्रस्व से परे सम्बुद्धि का लोप होकर 'हे अतिचमु!' रूप सिद्ध होता है।

अतिचम्वै–'अतिचमू+ङे' यहाँ 'आण्नद्याः' से 'नदी' संज्ञक से परे ङित् को 'आट्' आगम होने पर 'आटश्च' से वृद्धि और 'इको यणचि' से यणादेश होकर–'बहुश्रेयस्यै' (१९७) के समान 'अतिचम्वै' रूप सिद्ध होता है।

अतिचम्वाः–'अतिचमू+अस्'–पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'ङसि' और

'ङस्' का 'अस्' शेष बचता है। 'आण्नद्याः' से नदी संज्ञक से उत्तर ङित् (अस्) को 'आट्' आगम, 'आटश्च' से वृद्धि, 'इको यणचि' से यणादेश तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'अतिचम्वाः' रूप सिद्ध हुआ।

अतिचमूनाम्–'अतिमचमू+आम्' यहाँ षष्ठी विभक्ति, बहुवचन में 'आम्' आने पर 'ह्रस्वनद्यापो०' से नदी संज्ञक से उत्तर 'आम्' को 'नुट्' का आगम होकर 'अतिचमूनाम्' रूप सिद्ध होता है।

अतिचम्वाम्–'अतिचमू' से सप्तमी-एकवचन में 'ङि', 'प्रथम लिङ्गग्रहणं च' वार्तिक से पूर्वलिङ्ग के आधार पर 'अतिचमू' का लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग होने से 'यूस्त्र्याख्यौ नदी' से 'नदी' संज्ञा, 'ङेराम्नद्याम्०' से 'नदी' संज्ञक से उत्तर 'ङि' को 'आम्' ओदश, 'आण्नद्याः' से 'नदी' संज्ञक से उत्तर ङित् 'आम्' को 'आट्' आगम, 'आटश्च' से वृद्धि और 'इको यणचि' से यणादेश होकर 'अतिचम्वाम्' रूप सिद्ध होता है।

खलपूः– खलं पुनातीति, 'खल' उपपद में रहते 'पूञ्'=पवने धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' से 'क्विप् प्रत्यय आने पर निष्पन्न 'खलपू' प्रातिपदिक से प्रथमा-एकवचन में 'सु' आकर सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'खलपूः' रूप सिद्ध होता है।

२१०. ओः सुपि ६।४।८३

धात्वयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णः, तदन्तो यो धातुः, तदन्त-स्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्याद् अचि सुपि। खलप्वौ। खलप्वः। एवं सुल्वादयः। स्वभूः, स्वभुवौ, स्वभुवः। वर्षाभूः।

प०वि०–ओः ६।१।। सुपि ७।१।। **अनु०**–अनेकाचः, असंयोगपूर्वस्य, अचि, यण्, अङ्गस्य।

अर्थ–धातु का अवयव जो संयोग, वह पूर्व में नहीं है जिस उवर्ण के, तदन्त (उवर्णान्त) अनेकाच् अङ्ग को अजादि 'सुप्' परे रहते यणादेश होता है।

खलप्वौ–(खलिहान को शुद्ध करने वाले दो व्यक्ति) 'खलपू+औ' यहाँ 'ओः सुपि' से धातु का अवयव संयोग पूर्व में नहीं है जिसके ऐसा उकार, तदन्त (उकारान्त) धातु, तदन्त (उवर्णान्त) अङ्ग से परे अजादि 'सुप्' (औ) आने पर यणादेश 'ऊ' को 'व्' होकर 'खलप्वौ' रूप सिद्ध होता है।

खलप्वः–'खलपू+जस् (अस्)' यहाँ 'ओः सुपि' से अजादि 'सुप्' परे रहते पूर्ववत् यणादेश होकर 'खलप्वः' रूप सिद्ध होता है

स्वभूः–'स्वभू+सु' यहाँ 'सु' के स्थान में रुत्व एवं विसर्गादेश होकर 'स्वभूः' रूप बना।

स्वभुवौ (स्वयं उत्पन्न होने वाले दो)
स्वभू औ — यहाँ 'ओः सुपि' से अजादि सुप् परे रहते यणादेश प्राप्त था, जिसका 'न भूसुधियोः' से निषेध हो गया और 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से 'ऊ' को उवङादेश हुआ

स्वभ् उवङ् औ　　अनुबन्ध-लोप होकर
स्वभुवौ　　रूप सिद्ध होता है।

स्वभुवः—इसी प्रकार 'स्वभू' शब्द से 'जस्' परे रहते 'स्वभू + अस्' यहाँ 'ओः सुपि' से प्राप्त यणादेश का 'न भूसुधियोः' से निषेध होने पर 'अचि श्नुधातु०' से 'ऊ' को 'उवङ्' आदेश, सकार रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'स्वभुवः' रूप सिद्ध होता है।

२११. वर्षाभ्वश्च ६।४।८४

अस्य यण् स्याद् अचि सुपि। वर्षाभ्वौ इत्यादि।

(वा०) दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः। दृन्भ्वौ। एवं करभूः। धाता। हे धातः। धातारौ। धातारः।

(वा०) ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्।

धातृणाम्। एवं नप्त्रादयः। नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्। तेनेह न—पिता, पितरौ, पितरः। पितरम्। शेषं धातृवत्। एवं जामात्रादयः। ना। नरौ।

प०वि०—वर्षाभ्वः ६।१।। च अ०।। **अनु०**—अङ्गस्य, सुपि, अचि, यण्।

अर्थ—'वर्षाभू' अङ्ग को अजादि 'सुप्' परे रहते यणादेश होता है।

वर्षाभ्वौ　　(मेंढक, वर्षा में उत्पन्न होने वाले दो जीव)
वर्षाभू औ　　यहाँ 'ओः सुपि' से धातु का अवयव संयोग पूर्व में नहीं है जिसके ऐसा जो उवर्ण, तदन्त अनेकाच् अङ्ग (वर्षाभू) को अजादि सुप् 'औ' परे रहते यणादेश प्राप्त था, जिसका 'न भूसुधियोः' से अजादि 'सुप्' परे रहते 'भू' अन्त वाले अङ्ग को यणादेश का निषेध होने लगा, तब उसे बाधकर 'वर्षाभ्वश्च' से 'वर्षाभू' अङ्ग को अजादि 'सुप्' (औ) परे रहते यणादेश ('ऊ' को 'व्') होने पर
वर्षाभ्वौ　　रूप सिद्ध होता है।

(वा०) दृन्करपुनःपूर्वस्य०—**अर्थ**—अजादि 'सुप्' परे रहते 'दृन्', 'कर्', और 'पुनर्' पूर्वक 'भू' अङ्ग को यणादेश होता है।

दृन्भ्वौ—'दृन्भू+औ' यहाँ 'दृन्करपुनः०' वार्तिक से अजादि सुप् 'औ' परे रहते 'दृन्भू' को यणादेश होकर 'दृन्भ्वौ' रूप बनता है।

धाता—'धातृ+सु' यहाँ 'ऋदुशनस्०' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते ऋकारान्त को 'अनङ्' आदेश, 'अप्तृन्तृच्०' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते तृजन्त की उपधा को दीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार-लोप और 'न लोपः प्राति०' से नकार-लोप होकर 'धाता' रूप सिद्ध होता है।

	(हे ब्रह्मा!)
हे धातः	
धातृ सु	सम्बोधन के एकवचन में 'सु' आया, 'सुडनपुंसकस्य' से 'सु' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा, 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते ऋकारान्त अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' को 'अर्' गुण हुआ
धातर् सु	अनुबन्ध-लोप
धातर् स्	'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से सकार की 'अपृक्त' संज्ञा तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'सु' के 'अपृक्त' संज्ञक 'स्' का लोप होकर अवसान में रेफ को 'खरवसानयोः०' से विसर्ग होने पर
हे धातः	रूप सिद्ध होता है।

धातारौ, धातारः आदि रूप 'क्रोष्टु' शब्द को तृजन्त 'क्रोष्टृ' बनने पर 'क्रोष्टारौ', आदि के समान जानें।

(वा०) ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्—**अर्थ**—ऋवर्ण से उत्तर अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् का व्यवधान होने पर भी और बिना किसी व्यवधान के भी नकार के स्थान में णकार आदेश होता है।

धातॄणाम्

धातृ नुट् आम्	षष्ठी-बहुवचन में 'आम्', 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से ह्रस्वान्त से उत्तर 'आम्' को 'नुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप इत्यादि होने पर 'नामि' से दीर्घ हुआ
धातॄ नाम्	'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से ऋवर्ण से उत्तर नकार को णकार होकर
धातॄणाम्	रूप सिद्ध होता है।

'धातृ' शब्द के समान ही 'नप्तृ' के रूप भी सिद्ध होते हैं।

नप्त्रादिग्रहणमिति—'अप्तृन्तृच्०' सूत्र में 'तृन्' और 'तृच्' के ग्रहण से ही 'नप्तृ', 'नेष्टृ' आदि शब्द भी गृहीत हो जाते हैं पुनः उनका स्वतन्त्र पाठ करने का प्रयोजन यह है कि उणादि से सिद्ध होने वाले तृजन्त और तृन्नन्त शब्दों की उपधा को यदि दीर्घ हो तो केवल सूत्र में पठित 'नप्तृ', 'नेष्टृ' आदि को ही हो, अन्य को नहीं। ऐसा नियम बनाने के लिए 'नप्तृ' आदि का सूत्र में पाठ किया है। **(तेनेह न)** इसलिए **पितरौ, पितरः** इत्यादि में 'अप्तृन्तृच्स्वसृ०' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते उपधा को दीर्घ नहीं होता।

पिता

पितृ सु	प्रथमा विभक्ति, एक वचन में 'सु' आने पर 'ऋदुशनस्०' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते ऋकार को 'अनङ्' आदेश हुआ

पित् अनङ् सु	अनुबन्ध-लोप
पित् अन् स्	'सर्वनामस्थाने चाऽसंबुद्धौ' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते नकारान्त की उपधा को दीर्घ हुआ
पितान् स्	'अपृक्त एकाल०' से सकार की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'सु' के अपृक्त संज्ञक सकार का लोप हुआ
पितान्	'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप होकर
पिता	रूप सिद्ध होता है।

पितरौ, पितरः और पितरम् में 'पितृ' शब्द से क्रमशः 'औ', 'जस्' और 'अम्' परे रहते 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर उक्त सभी रूप सिद्ध होते हैं।

'पितृ' शब्द के शेष रूप 'धातृ' के रूपों के समान जानें। इसी प्रकार **'जामातृ'** के रूप में भी 'धातृ' के रूपों के समान जानें।

'नृ' शब्द से **'ना', 'नरौ'** आदि शब्द भी 'पिता', 'पितरौ' आदि के समान सिद्ध होते हैं।

२१२. नृ च ६।४।६

अस्य नामि वा दीर्घः। नृणाम्, नृणाम्।

प०वि०—नृ लुप्तषष्ठी।। च अ०।। **अनु०**—नामि, दीर्घः, उभयथा, अङ्गस्य।

अर्थ—'नाम्' परे रहते 'नृ' अङ्ग को विकल्प से दीर्घ होता है।

नृणाम्/नृणाम्

नृ नुट् आम्	षष्ठी-बहुवचन में 'आम्', 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से ह्रस्व से उत्तर 'आम्' को 'नुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
नृ नाम्	यहाँ 'नामि' से 'नाम्' परे रहते अजन्त अङ्ग को नित्य दीर्घ प्राप्त था, जिसे बाधकर 'नृ च' से 'नृ' अङ्ग को 'नाम्' परे रहते विकल्प से दीर्घ होने पर
नृणाम्/नृणाम्	दो रूप सिद्ध होते हैं।

२१३. गोतो णित् ७।१।९०

ओकाराद् विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वद्। गौः, गावौ, गावः।

प०वि०—गोतः ५।१।। णित् १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, सर्वनामस्थाने।

अर्थ—ओकारान्त 'गो' शब्द (अङ्ग) से परे सर्वनामस्थान विभक्ति णित्वत् होती है।

गौः (गाय)

गो सु — यहाँ 'सुडनपुंसकस्य' से 'सु' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा है, इसलिए 'गोतो णित्' से 'गो' शब्द से परे सर्वनामस्थान विभक्ति 'सु' के णित्वत् होने पर 'अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि हुई

गौ सु — अनुबन्ध-लोप, 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयोर्विस०' से अवसान में रेफ को विसर्ग होकर

गौः — रूप सिद्ध होता है

गावौ, गावः—'गो' शब्द से 'औ' तथा 'जस्' विभक्ति परे रहते 'गोतो णित्' से णिद्वद्भाव, 'अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय परे अजन्त अङ्ग को वृद्धि 'औ' तथा 'एचोऽयवायावः' से 'औ' को 'आव्' आदेश आदि कार्य होकर 'गावौ' और 'गावः' रूप सिद्ध होते हैं।

२१४. औतोऽम्शसोः ६।१।९३

ओतोऽम्शसोरचि आकार एकादेशः। गाम्, गावौ, गाः। गवा। गवे। गोः२ इत्यादि।

प०वि०—आ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः।। ओतः ५।१।। अम्शसोः ७।२।। **अनु०**—अचि, एकः, पूर्वपरयोः।

अर्थ—ओकारान्त शब्द से उत्तर 'अम्' और 'शस्' का 'अच्' परे हो तो पूर्व और पर के स्थान पर आकार एकादेश होता है।

गाम्

गो अम् — द्वितीया-एक वचन में 'अम्' आने पर 'औतोऽम्शसौः' से ओकारान्त शब्द से 'अम्' परे रहते पूर्व और पर (वर्ण) के स्थान पर आकारादेश होकर

गाम् — रूप सिद्ध होता है।

गावौ—द्वितीया-द्विवचन में 'गो+औ' यहाँ गोतो णित्' से 'औ' को णिद्वद्भाव होने पर 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि और 'एचोऽयवायावः' से 'आव्' आदेश होकर 'गावौ' रूप सिद्ध होता है।

गाः—'गो+शस् (अस्)' पूर्ववत् 'औतोऽम्शसोः' से ओकारान्त से 'शस्' परे रहते आकार एकादेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्गादि कार्य होकर 'गाः' रूप बनता है।

गवा, गवे—तृतीया और चतुर्थी के एकवचन में क्रमशः 'गो+टा (आ)' और 'गो+ङे (ए)' इस स्थिति में 'एचोऽयवा०' से 'ओ' को अवादेश होकर क्रमशः 'गवा' और 'गवे' रूप सिद्ध होते हैं।

गोः—पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'गो+ङसि/ङस्' इस स्थिति में अनुबन्ध-लोप

होने पर 'ङसिङसोश्च' से 'एङ्' से उत्तर 'ङसि' और 'ङस्' का अकार परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश, सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर 'गोः' रूप सिद्ध होता है।

२१५. रायो हलि ७।२।८५

अस्याऽऽकारादेशो हलि विभक्तौ। राः, रायौ, रायः। राभ्याम्। ग्लौः, ग्लावौ, ग्लावः। ग्लौभ्याम् इत्यादि।

।। इत्यजन्ताः पुँल्लिङ्गाः।।

प०वि०–रायः ६।१।। हलि ७।१।। **अनु०**–आ, विभक्तौ, अङ्गस्य।

अर्थ–हलादि विभक्ति पर रहते 'रै' अङ्ग को आकार आदेश होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से अन्तिम 'अल्' के स्थान में होता है।

राः	(धन)
रै सु	प्रथमा-विभक्ति, एकवचन में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप
रै स्	'रायो हलि' से हलादि विभक्ति 'सु' परे रहते 'रै' को आकारादेश, 'अलोऽन्त्यस्य' से 'ऐ' के स्थान में 'आ' हुआ
रा स्	'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयोर्वि०' से रेफ को विसर्ग होकर
राः	रूप सिद्ध होता है।

रायौ, रायः–'रै + औ' और 'रै + ज़स् (अस्)' यहाँ अजादि विभक्तियों में सर्वत्र 'एचोऽयवायावः' से 'ऐ' के स्थान में आय्' आदेश होकर 'रायौ' और 'रायः' रूप सिद्ध होते हैं।

राभ्याम्–'रै+भ्याम्' यहाँ हलादि विभक्तियों में सर्वत्र 'रायो हलि' से आकार आदेश होकर 'राभ्याम्' आदि रूप सिद्ध होते हैं।

ग्लौः–'ग्लौ+सु'–(चन्द्रमा) अनुबन्ध-लोप, सकार को रुत्व एवं रेफ को विसर्ग होकर 'ग्लौः' रूप सिद्ध होता है।

ग्लावौ, ग्लावः–अजादि विभक्तियों में सर्वत्र 'एचोऽयवायावः' से 'औ' को 'आव्' आदेश होकर 'ग्लावौ' और 'ग्लावः' रूप सिद्ध होते हैं।

।। अजन्त पुल्लिँङ्ग प्रकरण समाप्त ।।

अथ अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

रमा (लक्ष्मी)

२१६. औङ आपः ७।१।१८

आबन्तादङ्गात् परस्य औङः शी स्यात्। 'औङ्' इति औकारविभक्तेः संज्ञा। रमे। रमाः।

प०वि०–औङः ६।१। आपः ५।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, शी।

अर्थ–आबन्त (टाप्, चाप् और डाप् अन्त वाले) अङ्ग से उत्तर 'औ' और 'औट्' को 'शी' आदेश होता है। 'औङ्' यह पूर्वाचार्यों के द्वारा 'औ' तथा 'औट्' की संज्ञा की गई है।

रमा

रमा सु	'रामः' (१२४) के समान 'अर्थवदधातु०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर स्वाद्युत्पत्ति होकर 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' से 'प्रथमा विभक्ति और 'द्व्येकयोर्द्विवचनैक०' से एकवचन में 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप हुआ
रमा स्	'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से सकार की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' से आबन्त 'रमा' से उत्तर 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर
रमा	रूप सिद्ध होता है।
रमे	(रमा च रमा चेति)
रमा औ	'रामौ' (१२७) के समान 'चार्थे द्वन्द्वः' से समास, 'सुपो धातुप्राति०' से सुपों का लुक्, 'सरूपाणामेकशेष०' से 'रमा' शेष रहने पर स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्रथमा विभक्ति, द्विवचन में 'औ' आने पर 'औङ आपः' से आबन्त 'रमा' से उत्तर 'औ' को 'शी' आदेश हुआ
रमा शी	अनुबन्ध-लोप

रमा ई — यहाँ 'प्रथमयो: पूर्वसवर्ण:' से पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त था, जिसका 'नादिचि' से अवर्ण से 'इच्' (ई) परे रहते निषेध होने पर 'आद् गुण:' से अवर्ण से 'अच्' (ई) परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर गुण एकादेश 'ए' होकर

रमे — रूप सिद्ध होत: है।

रमा:–'रमा+जस् (अस्)' यहाँ 'प्रथमयो: पूर्वसवर्ण:' से प्राप्त पूर्णसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' से निषेध होने पर 'अक: सवर्ण०' से दीर्घ, तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'रमा:' रूप सिद्ध होता है।

२१७. सम्बुद्धौ च ७।३।१०६

आप एकार: स्यात् सम्बुद्धौ। 'एङ्ह्रस्वात्'–इति सम्बुद्धिलोप:। हे रमे, हे रमे, हे रमा:। रमाम्, रमे, रमा:।

प०वि०–सम्बुद्धौ ७।१।। च अ०।। **अनु०**–अङ्गस्य, आप:, एत्।

अर्थ–'सम्बुद्धि' (सम्बोधन का एकवचन) परे होने पर आबन्त अङ्ग को एकार आदेश हो।

'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' के स्थान में एकार आदेश होता है।

हे रमे

रमा सु — सम्बोधन के एकवचन में 'सु' आने पर उसकी 'एकवचनं सम्बुद्धि:' से 'सम्बुद्धि' संज्ञा हुई। 'सम्बुद्धौ च' से 'सम्बुद्धि' परे रहते आबन्त अङ्ग को एकारादेश, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' (आ) के स्थान में हुआ

रमे सु — अनुबन्ध-लोप

रमे स् — 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धे:' से एङन्त अङ्ग (रमे) से उत्तर सम्बुद्धि के 'हल्' (स्) का लोप होकर

रमे — रूप सिद्ध होता है।

रमे–सम्बोधन के द्विवचन में 'रमा+औ' यहाँ 'औङ आप:' से 'औ' को 'शी' आदेश होकर अनुबन्ध-लोप तथा 'आद् गुण:' से गुणादि होकर 'हे रमे' बनता है।

हे रमा:, रमा:–सम्बोधन-प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में 'रमा+जस्/शस् (अस्)' यहाँ 'प्रथमयो: पूर्वसवर्ण:' से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' से निषेध होने पर 'अक: सवर्णे दीर्घ:' से दीर्घ एकादेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'रमा:' सिद्ध होता है।

रमाम्–'रमा+अम्' यहाँ 'प्रथमयो: पूर्व०' से पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त था, जिसे बाध

कर 'अमि पूर्वः' से 'अक्' से उत्तर अम्-सम्बन्धी 'अच्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप 'आ' एकादेश होकर 'रमाम्' रूप सिद्ध होता है।

२१८. आङि चापः ७।३।१०५

आङि ओसि चाप एकारः। रमया, रमाभ्याम्, रमाभिः।

प०वि०–आङि ७।१।। च अ०।। आपः ६।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, ओसि, एत्।

अर्थ–'आङ्' (टा) तथा 'ओस्' परे रहते आबन्त अङ्ग को एकार आदेश होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' को एकार आदेश होगा।

रमया

रमा टा (आ)	'रामेण' (१४०) के समान तृतीयाविभक्ति, एकवचन में 'टा' आने पर 'आङि चापः' से 'टा' (आङ्) परे रहते आबन्त अङ्ग 'रमा' के आकार को एकार आदेश हुआ
रमे आ	'एचोऽयवायावः' से 'अच्' परे रहते एकार को अयादेश होकर
रमया	रूप सिद्ध होता है।

रमाभ्याम्, रमाभिः–'रमा' शब्द से तृतीया, द्विवचन और बहुवचन में क्रमशः 'भ्याम्' और 'भिस्' आने पर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

विशेष–सूत्र में पठित 'आङ्' पूर्व आचार्यों द्वारा विहित 'टा' (तृतीया एकवचन) की संज्ञा है।

२१९. याडापः ७।३।११३

आपो ङितो याट्। वृद्धिः। रमायै, रमाभ्याम्, रमाभ्यः। रमायाः २। रमयोः २। रमाणाम्। रमायाम्, रमासु। एवं दुर्गाम्बिकादयः।

प०वि०–याट् १।१।। आपः ५।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, ङिति।

अर्थ–आबन्त अङ्ग से उत्तर ङित् विभक्तियों को 'याट्' आगम होता है।

रमायै

रमा ङे	चतुर्थी-विभक्ति, एकवचन में 'ङे' आने पर, अनुबन्ध-लोप
रमा ए	'याडापः' से आबन्त अङ्ग (रमा) से उत्तर ङित् 'ए' को 'याट्' का आगम हुआ, 'आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से टिदागम आदि में हुआ
रमा याट् ए	अनुबन्ध-लोप
रमा या ए	'वृद्धिरेचि' से अवर्ण (आ) से 'एच्' (ए) परे रहते वृद्धि एकादेश 'ऐ' होकर
रमायै	रूप सिद्ध होता है।

रमाभ्याम्, रमाभ्यः—'रमा' शब्द से चतुर्थी और पञ्चमी विभक्ति के द्विवचन में 'भ्याम्' और बहुवचन में 'भ्यस्' आने पर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

रमायाः

रमा ङसि/ङस्	पञ्चमी, षष्ठी के एकवचन में अनुबन्ध-लोप होने पर 'याडापः' से आबन्त अङ्ग से उत्तर ङित् विभक्ति 'अस्' को 'याट्' आगम हुआ
रमा याट् अस्	अनुबन्ध-लोप
रमा या अस्	'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घादेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
रमायाः	रूप सिद्ध होता है।

रमयोः

रमा ओस्	षष्ठी और सप्तमी विभक्ति के द्विवचन में 'ओस्' आने पर 'आङि चापः' से 'ओस्' विभक्ति परे होने पर आबन्त अङ्ग के आकार को एकार आदेश हुआ
रमे ओस्	'एचोऽयवायावः' से 'ए' को अयादेश, 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ को विसर्ग होकर
रमयोः	रूप सिद्ध होता है।

रमाणाम्—षष्ठी-बहुवचन में 'रमा+आम्' यहाँ 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से आबन्त से उत्तर 'आम्' को **नुट्** आगम और 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर 'रमाणाम्' रूप सिद्ध होता है।

रमायाम्—सप्तमी-एकवचन में 'रमा+ङि (इ)' यहाँ 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से आबन्त 'रमा' से उत्तर 'ङि' को 'आम्' आदेश और स्थानीवद्भाव से 'आम्' के ङित् होने से 'याडापः' से आबन्त से उत्तर ङित् 'आम्' को 'याट्' आगम होकर 'रमायाम्' रूप सिद्ध होता है।

रमासु—सप्तमी-बहुवचन में 'सुप्' आने पर 'रमासु' सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'दुर्गा'** और **'अम्बिका'** आदि आकारान्त स्त्रीलिङ्ग के शब्दों की सिद्धि-प्रक्रिया 'रमा' के समान जानें।

२२०. सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ७।३।११४

आबन्तात् सर्वनाम्नो ङितः स्याट् स्याद, आपश्च ह्रस्वः। सर्वस्यै। सर्वस्याः२। सर्वासाम्। सर्वस्याम्। शेषं रमावत्।

प०वि०—सर्वनाम्नः ५।१।। स्याट् १।१।। ह्रस्वः १।१।। च अ०।। **अनु०**—अङ्गस्य, आपः, ङिति।

अर्थ–आबन्त सर्वनाम अङ्ग से उत्तर ङित् विभक्तियों (ङे, ङसि, ङस् और ङि) को 'स्याट्' आगम होता है तथा 'आबन्त' को ह्रस्व होता है।

सर्वस्यै (सब के लिए) (स्त्री०)

सर्वा ङे (ए) चतुर्थी विभक्ति, एकवचन में 'ङे', अनुबन्ध-लोप, 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' से आबन्त सर्वनाम से उत्तर ङित् (ङे) को 'स्याट्' आगम तथा 'आप्' को ह्रस्व हुआ, 'आद्यन्तौ टकितौ' से स्याडागम, 'टित्' होने से, 'ङे' के आदि में हुआ

सर्व स्याट् ए अनुबन्ध-लोप तथा 'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' परे रहते वृद्धि एकादेश होकर

सर्वस्यै रूप सिद्ध होता है।

सर्वस्याः–पञ्चमी और षष्ठी विभक्ति में भी सर्वनाम शब्द 'सर्वा' से ङित् विभक्ति क्रमशः 'ङसि' और 'ङस्' (अस्) परे रहते 'सर्वनाम्नःस्याड्०' से 'स्याट्' आगम और 'आप्' को ह्रस्व होने पर 'सर्व+स्याट्+अस्' यहाँ अनुबन्ध-लोप, सवर्णदीर्घादेश तथा सकार को रुत्व और विसर्गादि कार्य होकर 'सर्वस्याः' रूप सिद्ध होता है।

सर्वासाम्–षष्ठी बहुवचन में 'सर्वा+आम्' यहाँ 'आमि सर्वानाम्नः सुट्' से सर्वनाम से उत्तर 'आम्' को 'सुट्' आगम हुआ, 'सर्वा+सुट्+आम्' अनुबन्ध-लोप होकर 'सर्वासाम्' रूप सिद्ध होता है।

सर्वस्याम्–'सर्वा+ङि (इ)' यहाँ ङित् परे रहते पूर्ववत् 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' से स्याडागम तथा 'आबन्त' को ह्रस्व होने पर 'सर्व+स्याट्+इ' इस स्थिति में 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से आबन्त से उत्तर 'ङि' को 'आम्' आदेश और 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश होकर 'सर्वस्याम्' रूप सिद्ध होता है।

'सर्वा' शब्द के शेष विभक्तियों में रूप 'रमा' के समान जानें।

२२१. विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ १।१।२८

सर्वनामता वा। उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै। तीयस्येति वा सर्वनाम संज्ञा। द्वितीयस्यै, द्वितीयायै। एवं तृतीया। 'अम्बार्थे'ति ह्रस्वः-हे अम्ब! हे अक्क! हे अल्ल! जरा, जरसौ इत्यादि। पक्षे हलादौ च रमावत्। गोपा विश्वपावत्। मतीः। मत्या।

प०वि०–विभाषा १।१।। दिक्समासे ७।१।। बहुव्रीहौ ७।१।। **अनु०**–सर्वादीनि, सर्वनामानि।

अर्थ–दिशावाचकों के बहुव्रीहि समास में सर्वादिगण में पठित शब्दों की विकल्प से 'सर्वनाम' संज्ञा होती है।

उत्तरपूर्वस्यै 'उत्तरं पूर्वा यस्याः सा उत्तरपूर्वा, तस्यै-उत्तरपूर्वस्यै' (ईशान कोण के लिए)

उत्तरपूर्वा ङे (ए) — चतुर्थी-एकवचन में 'ङे', अनुबन्ध-लोप, 'उत्तरपूर्वा' शब्द 'दिङ्नामान्यन्तराले' से दिशा वाचियों का बहुव्रीहि समास होकर बना है इसलिए 'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' से विकल्प से 'सर्वनाम' संज्ञा होने से 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' से ङित् को 'स्याट्' आगम तथा 'आप्' को ह्रस्व हुआ

उत्तरपूर्व स्याट् ए — अनुबन्ध-लोप

उत्तरपूर्वस्या ए — 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि 'ऐ' एकादेश होकर

उत्तरपूर्वस्यै — रूप सिद्ध हुआ।

उत्तरपूर्वायै—सर्वनामसंज्ञा-अभाव पक्ष में 'याडापः' से 'ङित्' को 'याट्' आगम तथा 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि होकर 'उत्तरपूर्वायै' रूप बनता है।

'तीयस्य ङित्सु वा' वार्तिक (१६०) से ङित् प्रत्यय परे होने पर 'तीय' प्रत्ययान्त भी विकल्प से 'सर्वनाम' संज्ञक होते हैं। 'द्वितीया' तथा 'तृतीया' शब्द 'तीय' प्रत्ययान्त हैं, इसलिए उनकी भी विकल्प से 'सर्वनाम' संज्ञा है।

द्वितीयस्यै—ङित् विभक्तियों में सर्वनाम संज्ञा पक्ष में 'द्वितीया+ङे' यहाँ 'सर्वनाम्नः स्याड्०' से स्याडागम तथा 'आप्' को ह्रस्व होकर पूर्ववत् वृद्धि आदि कार्य होकर 'द्वितीयस्यै' रूप बनता है।

सर्वनामसंज्ञा-अभाव पक्ष में 'याडापः' से 'याट्' आगम होकर 'रमायै' (२१९) के समान **'द्वितीयायै'** और **'तृतीयायै'** रूप बनेंगे।

हे अम्ब! हे अक्क! हे अल्ल! इत्यादि में 'अम्बा', 'अक्का' और 'अल्ला' से सम्बोधन एकवचन का 'सु' परे रहते 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' से 'सम्बुद्धि' परे रहते 'अम्बा' अर्थ वाले शब्दों को ह्रस्व तथा 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' से 'सम्बुद्धि' का लोप होकर उक्त सभी रूप होते हैं

जरसौ, जरसः—अजादि विभक्तियों में 'जराया जरसन्यतरस्याम्' से 'जरा' शब्द को विकल्प से 'जरस्' आदेश होकर 'जरसौ' और 'जरसः' इत्यादि बनते हैं।

'जरस्' आदेश अभाव पक्ष में तथा हलादि विभक्तियों में 'जरा' शब्द के रूप 'रमा' के समान बनेंगे।

'गोपा' के शब्दरूप 'विश्वपा' के समान सिद्ध होंगे। सिद्धि-प्रक्रिया के लिए 'आतो धातोः' (१६७) के उदाहरणों को देखें।

मतीः — (बुद्धियों को)

मति शस् — द्वितीया विभक्ति, बहुवचन में 'शस्', अनुबन्ध-लोप, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से 'अक्' से उत्तर द्वितीया सम्बन्धी अच् (अ) परे रहते पूर्व (इ) और पर (अ) के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ (ई) एकादेश हुआ

मतीस्	सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर
मतीः	रूप सिद्ध होता है।

मत्या–'मति+टा (आ)' यहाँ 'इको यणचि' से यणादेश होकर 'मत्या' रूप सिद्ध होता है।

२२२. ङिति ह्रस्वश्च १।४।६

इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ, ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसञ्ज्ञौ स्तः ङिति। मत्यै, मतये। मत्याः २ । मतेः २।

प०वि०–ङिति ७।१।। ह्रस्व १।१।। च अ०।। **अनु०**–यू, स्त्र्याख्यौ, नदी, इयङुवङ्स्थानौ, अस्त्री, वा।

अर्थ–'स्त्री' शब्द से भिन्न 'इयङ्' या 'उवङ्' के स्थानी नित्य स्त्रीलिङ्ग वाले ईकारान्त, ऊकारान्त तथा ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्दों की ङित् विभक्तियों (ङे, ङसि, ङस् और ङि) में विकल्प से 'नदी' संज्ञा होती है।

मत्यै

मति ङे (ए)	चतुर्थी विभक्ति, एकवचन में 'ङे', अनुबन्ध-लोप, 'ङिति ह्रस्वश्च' से स्त्रीलिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त 'मति' की 'ङित्' परे रहते विकल्प से 'नदी' संज्ञा हुई। 'आण्नद्याः' से 'नदी' संज्ञक से उत्तर ङित् (ए) को 'आट्' आगम हुआ
मति आट् ए	अनुबन्ध-लोप, 'आटश्च' से 'आट्' से उत्तर 'अच्' (ए) परे रहते वृद्धि एकादेश (ऐ) हुआ
मति ऐ	'इको यणचि' से यणादेश होकर
मत्यै	रूप सिद्ध होता है।

मतये–'नदी' संज्ञा अभाव पक्ष में 'मति + ङे (ए)' यहाँ 'मति' शब्द की 'शेषो घ्यसखि' से 'घि' संज्ञा, 'घेर्ङिति' से घिसंज्ञक को गुण और 'एचोऽयवायावः' से अयादेश होकर 'मतये' रूप सिद्ध होता है।

मत्याः–'मति+ङसि/ङस् (अस्)' यहाँ 'ङिति ह्रस्वश्च' से विकल्प से 'नदी' संज्ञा होने पर 'आण्नद्याः' से ङित् को आडागम, 'आटश्च' से वृद्धि एकादेश, 'इको यणचि' से यणादेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग आदेश होकर 'मत्याः' रूप सिद्ध होता है।

मतेः–'नदी' संज्ञा अभाव पक्ष में 'शेषो घ्यसखि' से 'मति' की 'घि' संज्ञा होने पर 'घेर्ङिति' से गुण, 'ङसिङसोश्च' से 'एङ्' से 'ङसि' और 'ङस्' का ह्रस्व अकार परे होने पर पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप 'ए' एकादेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'मतेः' रूप सिद्ध होता है।

२२३. इदुद्भ्याम् ७।३।११७

इदुद्भ्यां नदीसंज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम्। मत्याम्, मतौ। शेषं हरिवत्। एवं बुद्ध्यादयः।

प०वि०–इदुद्भ्याम् ५।२।। **अनु०**–अङ्गस्य, नदी, ङेः, आम्।

अर्थ–'नदी' संज्ञक ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त अङ्ग से उत्तर 'ङि' को 'आम्' आदेश होता है।

मत्याम्

मति ङि	सप्तमी विभक्ति, एकवचन में 'ङि', अनुबन्ध-लोप, 'ङिति ह्रस्वश्च' से ङित् परे रहते 'मति' की विकल्प से 'नदी' संज्ञा होकर 'इदुद्भ्याम्' से 'नदी' संज्ञक ह्रस्व इकारान्त 'मति' से उत्तर 'ङि' को 'आम्' आदेश हुआ
मति आम्	इको यणचि' से यणादेश आदेश होकर
मत्याम्	रूप सिद्ध हुआ।

मतौ–'नदी' संज्ञा के अभाव में 'शेषो घ्यसखि' से 'घि' संज्ञा होने पर 'मति+ङि' यहाँ 'अच्च घेः' सूत्र से घिसंज्ञक की अकार अन्तादेश तथा 'ङि' को 'औ' आदेश होने पर 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि होकर 'मतौ' रूप सिद्ध होता है।

'मति' शब्द के शेष रूप 'हरि' के समान सिद्ध होंगे।

'मति' के समान ही 'बुद्धि' आदि शब्दों की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

२२४. त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ७।२।९९

स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ।

प०वि०–त्रिचतुरोः ६।२।। स्त्रियाम् ७।१।। तिसृचतसृ १।१।। **अनु०**–विभक्तौ।

अर्थ–विभक्ति परे रहते स्त्रीलिङ्ग में 'त्रि' और 'चतुर्' शब्द को क्रमशः 'तिसृ' और 'चतसृ' आदेश होते हैं।

२२५. अचि र ऋतः ७।२।१००

तिसृचतसृ एतयोर्ऋकारस्य रेफादेशः स्यादचि। गुण-दीर्घोत्त्वानाम् अपवादः। तिस्रः। चतस्रः। तिसृभिः। चतसृभिः। आमि नुट्।

प०वि०–अचि ७।१।। र १।१।। ऋतः ६।१।। **अनु०**–तिसृचतसृ।

अर्थ–'तिसृ' और 'चतसृ' के ऋकार को रेफादेश होता है 'अच्' परे रहते।

यह सूत्र 'ऋतो ङि०' से प्राप्त गुण का, 'प्रथमयोः पूर्व०' से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का और 'ऋत उत्' से प्राप्त 'उत्व' का अपवाद है।

तिस्रः	(तीन स्त्री)
त्रि जस्	प्रथमा विभक्ति, बहुवचन में 'जस्', अनुबन्ध-लोप, 'त्रिचतुरोः स्त्रियां०' से विभक्ति परे रहते स्त्रीलिङ्ग में 'त्रि' को 'तिसृ' आदेश हुआ
तिसृ अस्	'सुडनपुंसकस्य' से 'जस्' (अस्) की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने से 'ऋतो ङि सर्वनाम०' से ऋदन्त अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ, जिसे बाधकर अपवाद होने के कारण 'अचि र ऋतः' से अजादि विभक्ति 'अस्' परे रहते 'तिसृ' के ऋकार को रेफादेश हुआ
तिस्र् अस्	'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर
तिस्रः	रूप सिद्ध होता है।

चतस्रः–'चतुर्+जस् (अस्)' यहाँ 'चतुर्' शब्द को स्त्रीत्व की विवक्षा में विभक्ति परे रहते 'चतसृ' आदेश होने पर 'चतसृ + अस्' यहाँ 'प्रथमयोः पूर्व०' से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ को बाधकर 'अचि र ऋतः' से ऋकार को रेफ आदेश तथा अन्य कार्य 'तिस्रः' के समान होकर 'चतस्रः' रूप सिद्ध होता है।

२२६. न तिसृचतसृ ६।४।४

एतयोर्नामि दीर्घो न। तिसृणाम्। तिसृषु। द्वे। द्वे। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वयोः। द्वयोः। गौरी। गौर्यौ। गौर्यः। हे गौरि! गौर्यै इत्यादि। एवं नद्यादयः। लक्ष्मीः। शेषं गौरीवत्। एवं तरीतन्त्र्यादयः। स्त्री। हे स्त्रि!

प०वि०– न अ०।। तिसृचतसृ लुप्तषष्ठ्यन्त।। **अनु०**– नामि, अङ्गस्य, दीर्घः।

अर्थ–'तिसृ' और 'चतसृ' अङ्ग को 'नाम्' परे रहते दीर्घ नहीं होता।

तिसृणाम्	
त्रि आम्	षष्ठी विभक्ति, बहुवचन में 'आम्' आने पर 'त्रिचतुरोः स्त्रियां०' से 'त्रि' को स्त्रीलिंग में 'तिसृ' आदेश हुआ
तिसृ आम्	'ह्रस्वनद्यापो०' से ह्रस्वान्त अङ्ग से उत्तर 'आम्' को 'नुट्' आगम हुआ
तिसृ नुट् आम्	अनुबन्ध-लोप
तिसृ नाम्	यहाँ 'नामि' से 'नाम्' परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ प्राप्त हुआ जिसका 'न तिसृचतसृ' से निषेध हुआ तथा 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से नकार को णत्व होकर
तिसृणाम्	रूप सिद्ध होता है।

चतसृणाम्–इसी प्रकार 'चतसृणाम्' की प्रक्रिया भी जानें।

द्वे

द्वि औ	प्रथमा विभक्ति, द्विवचन में 'औ' आने पर 'त्यदादि' गण में पठित होने के कारण विभक्ति परे रहते 'द्वि' शब्द को 'त्यदानीनाम:' से अकार अन्तादेश हुआ
द्व् अ औ	'अजाद्यतष्टाप्' से अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' आया
द्व टाप् औ	अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ
द्वा औ	'औङ आपः' से आबन्त से उत्तर 'औ' को 'शी' आदेश हुआ
द्वा शी	अनुबन्ध-लोप, 'आद् गुणः' से अवर्ण से 'अच्' परे रहते गुण एकादेश होकर
द्वे	रूप सिद्ध होता है।

द्वाभ्याम्–'द्वि+भ्याम्' यहाँ 'त्यदादीनामः' से अकार अन्तादेश, 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' और 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश होकर 'द्वाभ्याम्' सिद्ध होता है।

द्वयोः–षष्ठी, सप्तमी विभक्ति, द्विवचन में 'द्वि+ओस्' यहाँ पूर्ववत् 'त्यदादीनामः' से अकारादेश तथा 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' एवं दीर्घादि होने पर 'द्वा+ओस्' यहाँ 'आङि चापः' से 'ओस्' परे रहते आबन्त को एकारादेश होकर 'द्वे+ओस्' बनने पर 'एचोऽय०' से अयादेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'द्वयोः' रूप सिद्ध होता है।

गौरी (पार्वती)

गौरी सु	प्रथमा विभक्ति, एकवचन में 'सु', अनुबन्ध-लोप
गौरी स्	'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से सकार की 'अपृक्त' संज्ञा हुई। 'गौरी' शब्द 'ङीष्' प्रत्ययान्त है, अतः 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से ङ्यन्त से उत्तर 'सु' के 'अपृक्त' सकार का लोप होकर
गौरी	रूप सिद्ध होता है।

गौर्यौ, गौर्यः–'गौरी+औ' और 'गौरी+अस् (जस्)' यहाँ 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' से निषेध होने पर 'इको यणचि' से यणादेश, सकार को रुत्व एवं रेफ को विसर्ग होकर क्रमशः 'गौर्यौ' और 'गौर्यः' रूप सिद्ध होते हैं।

हे गौरि

गौरी सु	सम्बोधन के एकवचन में 'सु' प्रत्यय की 'एकवचनं सम्बुद्धिः' से 'सम्बुद्धि' संज्ञा होने से, 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' से नदी संज्ञक 'गौरी' को सम्बुद्धि परे रहते ह्रस्वादेश हुआ, अनुबन्ध-लोप
गौरि स्	'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' से ह्रस्वान्त अङ्ग से उत्तर सम्बुद्धि के 'हल्' सकार का लोप होने पर
गौरि	रूप सिद्ध होता है।

गौर्यै–गौरी+ए (ङे) 'यहाँ 'यूस्त्र्याख्यौ०' से 'नदी' संज्ञा, 'आण्नद्याः' से 'ङे' को 'आट्' आगम, 'आटश्च' से वृद्धि एकादेश और 'इको यणचि' से यणादेश होकर 'गौर्यै' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'नदी'** शब्द के रूप भी 'गौरी' के समान जानें।

(लक्ष्मी)

लक्ष्मीः

लक्ष्मी सु — प्रथमा-एकवचन में 'सु', अनुबन्ध-लोप, 'लक्ष्मी' शब्द ङ्यन्त न होने से 'सु' का 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से लोप नहीं होता अपितु सकार को रुत्व और विसर्गादि होकर

लक्ष्मीः — रूप सिद्ध होता है।

'लक्ष्मी' शब्द के शेष सभी विभक्तियों के रूप 'गौरी' के समान समझने चाहिए। इसी प्रकार **'तरी'** (नौका) और **'तन्त्री'** (वीणा) आदि शब्दों के रूप भी समझने चाहिएं।

'स्त्री' शब्द के रूप प्रथमा-एकवचन में भी 'गौरी' के समान जानें।

२२७. स्त्रियाः ६।४।७९

अस्येयङ् स्याद् अजादौ प्रत्यये परे। स्त्रियौ। स्त्रियः।

प०वि०–स्त्रियाः ६।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, इयङ्, अचि।

अर्थ–अजादि प्रत्यय परे रहते 'स्त्री' शब्द (अङ्ग) को 'इयङ्' आदेश होता है।

स्त्रियौ

स्त्री औ — प्रथमा विभक्ति, द्विवचन में 'औ' आने पर 'स्त्रियाः' से 'स्त्री' शब्द को अजादि प्रत्यय परे रहते इयङादेश प्राप्त हुआ, जो 'ङिच्च' से अन्तिम 'अल्' ईकार के स्थान में हुआ

स्त्र् इयङ् औ — अनुबन्ध-लोप होकर संहिता होने पर

स्त्रियौ — रूप सिद्ध होता है।

स्त्रियः–इसी प्रकार 'स्त्री' शब्द से प्रथमा-बहुवचन में 'जस्' परे रहते 'स्त्रियः' की सिद्धि-प्रक्रिया भी समझें।

२२८. वाऽम्शसोः ६।४।८०

अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा स्यात्। स्त्रियम्, स्त्रीम्। स्त्रियः, स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्रियै। स्त्रियाः। परत्वान्नुट्-स्त्रीणाम्। स्त्रीषु। श्रीः। श्रियौ। श्रियः।

प०वि०–वा अ०।। अम्शसोः ७।२।। **अनु०**–स्त्रियाः, इयङ्।

अर्थ–'अम्' और 'शस्' परे रहते 'स्त्री' शब्द को विकल्प से 'इयङ्' आदेश होता है।

स्त्रियम्–'स्त्री+अम्' यहाँ 'स्त्रियाः' से अजादि प्रत्यय परे रहते 'स्त्रि' शब्द को

नित्य 'इयङ्' आदेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'वाऽम्शसोः' से 'अम्' परे रहते विकल्प कर दिया गया। अनुबन्ध-लोपादि होकर 'स्त्रियम्' रूप सिद्ध हुआ।

स्त्रीम्

स्त्री अम्	जब 'वाऽम्शसोः' से 'अम्' परे रहते 'स्त्रि' शब्द को वैकल्पिक 'इयङ्' आदेश नहीं हुआ तो 'अमि पूर्वः' से 'अम्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप 'ई' एकादेश होकर
स्त्रीम्	रूप सिद्ध होता है।

स्त्रियः–इसी प्रकार 'स्त्री+शस् (अस्)' यहाँ 'वाऽम्शसोः' से इकार को विल्प से 'इयङ्' होने पर सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'स्त्रियः' रूप बनता है।

स्त्रीः–इयङभाव पक्ष में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'स्त्रीः' रूप सिद्ध होता है।

स्त्रिया, स्त्रियै, स्त्रियाः–'स्त्री' शब्द से 'टा', 'ङे', 'ङसि' या 'ङस्' परे रहते 'स्त्रियाः' सूत्र से 'इयङ्' आदेश, 'आण्नद्याः' से ङित् विभक्तियों को 'आट्' आगम, 'आटश्च' से वृद्धि आदि होकर उक्त तीनों रूप सिद्ध होते हैं।

स्त्रीणाम्

स्त्री आम्	षष्ठी विभक्ति, बहुवचन में 'आम्', 'स्त्रियाः' से पूर्ववत् 'इयङ्' आदेश प्राप्त था, जिसे बाधकर परत्व से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'नदी' संज्ञक से उत्तर 'आम्' को 'नुट्' आगम हुआ
स्त्री नुट् आम्	अनुबन्ध-लोप
स्त्री न् आम्	'अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णत्व होकर
स्त्रीणाम्	रूप सिद्ध होता है।

श्रीः–'श्री' शब्द के ङ्यन्त न होने से 'सु' का लोप नहीं होता, अतः सकार के स्थान में 'ससजुषो रुः' से रुत्व और विसर्गादि होकर 'श्रीः' रूप सिद्ध होता है।

श्रियौ–(लक्ष्मी) 'श्री' शब्द दीर्घ ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द है जो क्विबन्त होने से 'धातु' संज्ञक भी है, अतः 'श्री+औ' इस स्थिति में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से प्राप्त दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि०' से निषेध होने पर 'इको यणचि' से 'यण्' आदेश प्राप्त हुआ, जिसे बाधकर 'अचि श्नु०' से 'श्री' के ईकार को इयङादेश होकर 'श्रियौ' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'जस्' आने पर 'श्रियः' की सिद्धि भी जानें।

२२९. नेयङुवङ्स्थानावस्त्री १।४।४

इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदी संज्ञौ न स्तः, न तु स्त्री। हे श्रीः। श्रियै, श्रिये। श्रियाः२। श्रियः२।

प०वि०–न अ०।। इयङुवङ्स्थानौ। १।२।। अस्त्री १।१।। **अनु०**–यू, नदी।

अर्थ–'स्त्री' शब्द को छोड़कर जो इयङ्-उवङ्स्थानी अर्थात् जिनके स्थान में 'इयङ्' और 'उवङ्' आदेश होते हैं, ऐसे दीर्घ ईकार तथा ऊकार, उनकी 'नदी' संज्ञा नहीं होती।

हे श्रीः

श्री सु	सम्बोधन-प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'सु' आया, जिसकी 'एकवचनं सम्बुद्धिः' से 'सम्बुद्धि' संज्ञा है। यहाँ 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' से 'इयङ्' स्थानी, नित्य स्त्रीलिङ्ग 'श्री' के ईकार की 'नदी' संज्ञा का निषेध होने से 'नदी' संज्ञा के अभाव में 'अम्बार्थनद्यो०' से ह्रस्व भी नहीं हुआ। अनुबन्ध-लोप
श्री स्	'ससजुषो रुः' से सकारान्त पद के सकार को रुत्व, अनुबन्ध-लोप
श्री र्	'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से अवसान में रेफ को विसर्ग होकर
श्रीः	रूप सिद्ध होता है।

श्रियै, श्रिये–'श्री+ङे (ए)' यहाँ 'ङिति ह्रस्वश्च' से इयङ्स्थानी दीर्घ 'ईकार' की विकल्प से 'नदी' संज्ञा होने पर 'आण्नद्याः' से ङित् को 'आट्' आगम, 'आटश्च' से वृद्धि तथा 'अचि श्नुधातुभ्रु०' से 'इयङ्' होकर 'श्रियैः' तथा 'नदी' संज्ञा के अभाव पक्ष में 'आट्' नहीं होता, केवल 'इयङ्' आदेश होकर 'श्रिये' रूप सिद्ध होते हैं।

श्रियाः, श्रियः–पञ्चमी एवं षष्ठी विभक्ति में 'श्री+ङसि/ङस् (अस्)' यहाँ 'ङिति ह्रस्वश्च' से विकल्प से 'नदी' संज्ञा होकर पूर्ववत् 'आण्नद्याः' से 'आट्' आगम, 'आटश्च' से वृद्धि, 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से 'इयङ्', सकार को रुत्व एवं रेफ को विसर्ग होने पर 'श्रियाः' तथा 'नदी' संज्ञा के अभाव में 'श्रियः' रूप सिद्ध होते हैं।

२३०. वाऽऽमि १।४।५

इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तः, न तु स्त्री। श्रीणाम्, श्रियाम्। श्रियि, श्रियाम्। धेनुर्मतिवत्।

प०वि०–वा अ०।। आमि ७।१।। **अनु०**–यू, स्त्र्याख्यौ, नदी, इयङुवङ्स्थानौ, अस्त्री।

अर्थ–'स्त्री' शब्द को छोड़कर, जिनके स्थान पर 'इयङ्' और 'उवङ्' होते हैं ऐसे नित्य स्त्रीलिंग वाची दीर्घ ईकार और ऊकार की, 'आम्' परे रहते, विकल्प से 'नदी' संज्ञा होती है।

श्रीणाम्

श्री आम्	यहाँ 'श्री' इयङ्स्थानी है इसीलिए 'वाऽऽमि' से 'आम्' परे रहते विकल्प से 'नदी' संज्ञा हुई, 'नदी' संज्ञा होने के कारण 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से नद्यन्त से उत्तर 'आम्' को 'नुट्' आगम हुआ

श्री नुट् आम् — अनुबन्ध-लोप, 'अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णत्व होकर रूप सिद्ध होता है।

श्रीणाम्

श्रियाम्–'श्री+आम्' यहाँ 'नदी' संज्ञा अभाव पक्ष में 'अचि श्नुधातु०' से इयङादेश होकर 'श्रियाम्' रूप सिद्ध होता है।

श्रियाम्

श्री ङि (इ) — सप्तमी विभक्ति, एकवचन में 'ङि', अनुबन्ध-लोप, 'ङिति ह्रस्वश्च' से 'श्री' की विकल्प से 'नदी' संज्ञा होने पर 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से 'नदी' संज्ञक से उत्तर 'ङि' को 'आम्' आदेश हुआ

श्री आम् — स्थानीवाद् भाव से 'आम्' के ङित् होने पर 'आण्नद्याः' से 'आम्' को 'आट्' आगम, अनुबन्ध-लोप और 'आटश्च' से वृद्धि एकादेश होने पर 'अचि श्नुधातु०' से ईकार को 'इयङ्' आदेश होकर रूप सिद्ध होता है।

श्रियाम्

श्रियि–'नदी' संज्ञा के अभाव पक्ष में 'ङि' को 'आम्' नहीं हुआ तो इयङादेश होकर 'श्रियि' रूप सिद्ध हुआ।

'धेनु' शब्द के रूप 'मति' के समान जानें।

२३१. स्त्रियां च ७।१।९६

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद् रूपं लभते।

प०वि०–स्त्रियाम् ७।१।। च अ०।। **अनु०**–तृज्वत्, क्रोष्टुः।

अर्थ–स्त्रीलिङ्गवाची 'क्रोष्टु' शब्द तृजन्त के समान रूप वाला (क्रोष्टृ) होता है।

२३२. ऋन्नेभ्यो ङीप् ४।१।५

ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियाम् ङीप्। क्रोष्ट्री गौरीवत्। भ्रूः श्रीवत्। स्वयंभूः पुंवत्।

प०वि०–ऋन्नेभ्यः ५।३।। ङीप् १।१।। **अनु०**–स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च।

अर्थ–ह्रस्व ऋकारान्त और नकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है।

क्रोष्ट्री — (गीदड़ी)

क्रोष्टु — 'स्त्रियाम् च' से स्त्रीवाची 'क्रोष्टु' शब्द को तृजन्त के समान 'क्रोष्टृ' आदेश हुआ

क्रोष्टृ — 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से ऋकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय हुआ

क्रोष्टृ ङीप् — अनुबन्ध-लोप, 'इको यणचि' से यणादेश 'ऋ' को 'र्' हुआ
क्रोष्ट्री — स्वाद्युत्पत्ति से प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया
क्रोष्ट्री सु — अनुबन्ध-लोप, 'गौरी' (२२६) के समान 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त 'स्' का लोप होकर
क्रोष्ट्री — रूप सिद्ध होता है।

'भू' शब्द के रूप 'श्री' के समान जानने चाहिए।

'स्वयंभू' शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग न होने से उसकी 'नदी' संज्ञा नहीं होती तथा 'नदी' संज्ञक को प्राप्त होने वाले कार्य भी प्राप्त नहीं होते।

२३३. न षट्स्वस्रादिभ्यः ४।१।१०

ङीप्टापौ न स्तः।

स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादयः उदाहृताः॥

स्वसा, स्वसारौ। माता पितृवत्। शसि-मातृः। द्यौर्गोवत्। राः पुंवत्। नौर्ग्लौवत्।

॥ इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

प०वि०—न अ०॥ षट्स्वस्रादिभ्यः ५।३॥ **अनु०**—ङीप्, टाप्।

अर्थ—'षट्' संज्ञक तथा 'स्वसृ' आदि शब्दों से 'ङीप्' एवं 'टाप्' नहीं होते।

'स्वसृ' आदि शब्द सात हैं—**'स्वसृ, तिसृ, चतसृ, ननान्दृ, दुहितृ, यातृ** और **मातृ'।**

स्वसा — (बहन)
स्वसृ सु — यहाँ 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से स्त्रीत्व की विवक्षा में ह्रस्व ऋकारान्त प्रातिपदिक 'स्वसृ' से 'ङीप्' प्रत्यय प्राप्त था किन्तु 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' से 'स्वसृ' आदि शब्दों से 'ङीप्' का निषेध हो गया, अतः 'ऋदुशनसपुरुदंशोऽनेहसां च' से 'सु' परे रहते ऋकारान्त को 'अनङ्' आदेश हुआ
स्वस् अनङ् सु — अनुबन्ध-लोप
स्वस् अन् स् — 'सुडनपुंसकस्य' से 'सु' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'अप्तृन्तृच०' से सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते 'स्वसृ' की उपधा को दीर्घ हुआ
स्वस् आन् स् — 'अपृक्त एकाल्०' से सकार की 'अपृक्त' संज्ञा तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के 'अपृक्त' संज्ञक सकार का लोप हुआ
स्वस् आन् — 'न लोपः प्रातिपदिका०' से नकारान्त प्रातिपदिक पद के नकार का लोप होकर
स्वसा — रूप सिद्ध होता है।

स्वसारौ–'स्वसृ+औ' यहाँ 'ऋतो ङि सर्वनाम०' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते ऋकारान्त को 'गुण' हुआ, 'उरण् रपरः' से रपर् होकर 'अर्' गुण होने पर 'अप्तृन्तृच्०' से उपधा दीर्घ होकर 'स्वसारौ' रूप सिद्ध होता है।

'मातृ' शब्द के रूप 'पितृ' (२११) शब्द के समान और 'द्यौ' शब्द के रूप 'गो' (२१३) के समान जानें।

मातॄः–'मातृ' के शब्द से 'शस्' परे रहते 'मातृ+अस् (शस्)' यहाँ 'प्रथमयोः पूर्वसर्वणः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ 'ॠ' एकादेश तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'मातॄः' सिद्ध होता है।

अजन्त स्त्रीलिङ्ग में ऐकारान्त **'रै'** के रूप 'रायो हलि' से आत्त्व होने पर पुँल्लिङ्ग के समान ही चलते हैं। कुछ शब्द औकारान्त स्त्रीलिङ्ग में होते हैं **जैसे**– 'नौ' इत्यादि, उनके रूप 'ग्लौ' के समान सिद्ध होंगे।

॥ अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण समाप्त ॥

अथ अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

२३४. अतोऽम् ७।१।२४॥

अतोऽङ्गात् क्लीबाद् स्वमोरम्। अमि पूर्वः–ज्ञानम्। 'एङ्ह्रस्वात्०' इति हल्लोपः–हे ज्ञान!

प०वि०–अतः ५।१॥ अम् १।१॥ **अनु०**–अङ्गस्य, स्वमोः, नपुंसकात्।

अर्थ–ह्रस्व अकारान्त नपुंसकलिङ्ग से उत्तर 'सु' और 'अम्' के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है।

ज्ञानम्	(ज्ञान)
ज्ञान सु	प्रथमा विभक्ति, एक वचन में 'सु' आने पर 'स्वमोर्नपुंसकात्' से नपुंसक अङ्ग से उत्तर 'सु' का लुक् प्राप्त हुआ जिसे बाधकर अपवाद होने के कारण 'अतोऽम्' से ह्रस्व अकारान्त नपुंसक लिङ्ग शब्द 'ज्ञान' से उत्तर 'सु' के स्थान पर 'अम्' आदेश हुआ
ज्ञान अम्	'अमि पूर्वः' से 'अक्' से उत्तर 'अम्' सम्बन्धी 'अच्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होकर
ज्ञानम्	रूप सिद्ध होता है।
हे ज्ञान!	
ज्ञान सु	'सम्बोधने च' से सम्बोधन में प्रथमा तथा एकवचन में 'सु' आया। 'एकवचनं सम्बुद्धिः' से सम्बोधन के एकवचन में प्राप्त 'सु' की 'सम्बुद्धि' संज्ञा हुई। पूर्ववत् 'स्वमोर्नपुंसकात्' से प्राप्त 'सु' के लुक् को बाधकर 'अतोऽम्' से ह्रस्व अकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्द 'ज्ञान' से उत्तर 'सु' के स्थान पर 'अम्' आदेश हुआ
ज्ञान अम्	'अमि पूर्वः' से पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हुआ
ज्ञानम्	यहाँ 'अन्तादिवच्च' से एकादेश रूप ह्रस्व अकार को पूर्व का अन्तवत् मान लिया जायेगा अतः 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' से ह्रस्वान्त अङ्ग से उत्तर सम्बुद्धि के 'हल्' मकार का लोप होकर
हे ज्ञान !	रूप सिद्ध होता है।

२३५. नपुंसकाच्च ७।१।१९

क्लीबाद् औङ: शी स्यात्। भसञ्ज्ञायाम्–

प०वि०–नपुंसकात् ५।१।। च अ०।। **अनु०**–औङ:, शी, अङ्गस्य।

अर्थ–नपुंसक अङ्ग से उत्तर 'औङ' अर्थात् 'औ' और 'औट्' के स्थान पर 'शी' आदेश होता है।

२३६. यस्येति च ६।४।१४८

ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोप:। इत्यलोपे प्राप्ते–(वा०) औङ: श्यां प्रतिषेधो वाच्य:। ज्ञाने।

प०वि०–यस्य ६।१।। ईति ७।१।। च अ०।। **अनु०**–भस्य, अङ्गस्य, लोप:, तद्धिते।

अर्थ–ईकार और तद्धित परे रहते भसंज्ञक अङ्ग के इवर्ण और अवर्ण का लोप होता है।

(वा०) औङ: श्यां प्रतिषेधो वाच्य:–अर्थ–'औङ्' के स्थान पर होने वाला 'शी' आदेश परे हो तो 'यस्येति च' से प्राप्त होने वाला लोप नहीं होता।

ज्ञाने

ज्ञान औ	द्वितीया विभक्ति, एकवचन में 'औ' आने पर 'नपुंसकाच्च' से नपुंसकलिङ्ग से उत्तर 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप
ज्ञान ई	'यचि भम्' से स्वादि में अजादि प्रत्यय परे रहते पूर्व की भसंज्ञा होने पर 'यस्येति च' से ईकार परे रहते 'भ' संज्ञक अङ्ग (ज्ञान) के अकार का लोप प्राप्त हुआ, जिसका (वा०)–'औङ: श्यां प्रतिषेधो वाच्य:' से (लोप का) निषेध होने पर 'आद् गुण:' से गुण 'ए' एकादेश होकर
ज्ञाने	रूप सिद्ध होता है।

२३७. जश्शसो: शि: ७।१।२०।

क्लीबादनयो: शि: स्यात्।

प०वि०–जश्शसो: ६।२।। शि: १।१। **अनु०**–अङ्गस्य नपुंसकात्।

अर्थ–नपुंसक अङ्ग से उत्तर 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर 'शि' आदेश होता है।

२३८. शि सर्वनामस्थानम् १।४।४२

शि इत्येतद् उक्तसंज्ञ स्यात्।

प०वि०–शि १।१।। सर्वनामस्थानम् १।१।।

अर्थ–'शि' सर्वनामस्थान संज्ञक होता है। अर्थात् 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर जो 'शि' आदेश होता है, उसकी 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होती है।

२३९. नपुंसकस्य झलचः ७।१।७२

झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य 'नुम्' स्यात् सर्वनामस्थाने।

प०वि०–नपुंसकस्य ६।१।। झलचः ६।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, नुम्, सर्वनामस्थाने।

अर्थ–'सर्वनामस्थान' संज्ञक प्रत्यय परे रहते झलन्त और अजन्त नपुंसक अङ्ग को 'नुम्' आगम होता है।

२४०. मिदचोऽन्त्यात्परः १।१।४७

अचां मध्ये योऽन्त्यः, तस्मात् परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्। उपधादीर्घः-ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। एवं धनवनफलादयः।

प०वि०–मित् १।१।। अचः ५।१।। अन्त्यात् ५।१।। परः १।१।।

अर्थ–'मित्' आगम जिस समुदाय को होता है वह उस समुदाय के अचों में जो अन्तिम 'अच्', उससे परे होता है।

यह परिभाषा सूत्र है।

ज्ञानानि

ज्ञान जस्	प्रथमा विभक्ति, बहुवचन में 'जस्' आने पर 'जश्शसोः शिः' से नपुंसक अङ्ग से उत्तर 'जस्' को 'शि' आदेश हुआ
ज्ञान शि	अनुबन्ध-लोप, 'शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'नपुंसकस्य झलचः' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते अजन्त नपुंसक अङ्ग को नुमागम, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से 'नुम्' अन्तिम 'अच्' से परे हुआ
ज्ञा न नुम् इ	अनुबन्ध-लोप
ज्ञा न न् इ	'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते नकारान्त की उपधा को दीर्घ होकर
ज्ञानानि	रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप अकारान्त पुल्लिंग 'राम' के समान ही जानें।

इसी प्रकार **'धन'**, **'वन'**, **'फल'** आदि शब्दों के रूपों की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

२४१. अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ७।१।२५

एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्ड् आदेशः स्यात्।

प०वि०—अद्ड् १।१।। डतरादिभ्यः ५।३।। पञ्चभ्यः ५।१।। **अनु०**—स्वमोः, नपुंसकात्।

अर्थ—नपुंसकलिङ्ग में विद्यमान 'डतर' आदि पाँच शब्दों से उत्तर 'सु' और 'अम्' के स्थान पर 'अद्ड्' आदेश होता है।

अनेकाल् होने के कारण 'अद्ड्' आदेश 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है।

डतरादि—'डतर' आदि पाँच में 'डतर' और 'डतम' प्रत्यय हैं, अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से 'डतर' और 'डतम' प्रत्ययान्त शब्दों को लिया जाता है। शेष तीन क्रमशः **'अन्य'**, **'अन्यतर'** और **'इतर'** शब्द हैं।

२४२. टेः ६।४।१४३

डिति भस्य टेर्लोपः। कतरत्, कतरद्। कतराणि। हे कतरत्। शेषं पुंवत्। एवं कतमत्, इतरत्, अन्यत्, अन्यतरत्। अन्यतमस्य तु अन्यतममित्येव। (वा०) एकतरात् प्रतिषेधो वक्तव्यः। एकतरम्।

प०वि०—टेः ६।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, भस्य, लोपः, डिति।

अर्थ—डित् परे रहते भसंज्ञक अङ्ग के 'टि' भाग का लोप होता है।

कतरत्, कतरद्	(कौन सा)
कतर सु	यहाँ 'कतर' शब्द 'डतर्' प्रत्ययान्त है, अतः 'अद्ड् डतरादिभ्यः०' से 'डतर' प्रत्ययान्त 'कतर' शब्द से परे 'सु' को 'अद्ड्' आदेश हुआ
कतर अद्ड्	अनुबन्ध-लोप
कतर अद्	'यचि भम्' से अजादि प्रत्यय परे होने पर 'कतर' की भसंज्ञा हुई, 'अद्ड्' डित् है इसीलिए 'टेः' से डित् परे रहते भसंज्ञक के टिभाग (अ) का लोप हुआ
कतर् अद्	'वाऽवसाने' से अवसान में झलों को विकल्प से चरादेश होकर
कतरत्/कतरद्	रूप सिद्ध होते हैं।

'ज्ञानानि' (२४०) के समान 'कतराणि' तथा 'कतरत्' के समान ही 'हे कतरत्' भी जानें।

शेष रूपों की सिद्धि-प्रक्रिया पुंल्लिग 'राम' शब्द के समान जानें।

इसी प्रकार 'कतरत्' के समान **कतमत्, इतरत्, अन्यतरत्** भी जानें।

अन्यतमम्—'अन्यतम' शब्द 'डतम' प्रत्ययान्त नहीं, अपितु अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। इसीलिए 'अन्यतम' से उत्तर 'सु' और 'अम्' को 'अद्ड्' नहीं होता, अपितु 'अतोऽम्' से 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश आदि कार्य 'ज्ञानम्' (२३४) के समान होकर 'अन्यतमम्' ही बनता है।

(वा०) एकतरात् प्रतिषेधो वक्तव्यः—**अर्थ**—'डतर' प्रत्ययान्त 'एकतर' से उत्तर 'सु' और 'अम्' को अद्डादेश का प्रतिषेध करना चाहिए।

एकतरम्—'एकतर+सु' यहाँ 'अद्ड् डतरादिभ्यः०' से प्राप्त 'अद्ड्' आदेश का 'एकातरात् प्रतिषेधो०' वार्तिक से प्रतिषेध होने पर 'अतोऽम्' से 'सु' के स्थान पर अमादेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'एकतरम्' रूप सिद्ध होता है।

२४३. ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १।२।४७

अजन्तस्येत्येव। श्रीपम् ज्ञानवत्। द्वे २। त्रीणि २।

प०वि०—ह्रस्वः १।१।। नपुंसके ७।१।। प्रातिपदिकस्य ६।१।।

अर्थ—नपुंसकलिङ्ग में अजन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है।

श्रीपम्—'श्रीपा+सु' इस स्थिति में 'ह्रस्वो नपुंसके प्राति०' से नपुंसक लिङ्ग में अजन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व होकर 'श्रीप' बनने पर अन्य सभी कार्य 'ज्ञानम्' (२३४) के समान होते हैं।

द्वे

द्वि औ	प्रथमा विभक्ति, द्विवचन में 'औ' आने पर 'त्यदादीनामः' से विभक्ति परे रहते इकार को अकारादेश हुआ
द्व अ औ	'नपुंसकाच्च' से नपुंसक अङ्ग से उत्तर 'औ' के स्थान में 'शी' आदेश हुआ
द्व अ शी	अनुबन्ध-लोप
द्व अ ई	'आद् गुणः' से गुण एकादेश होकर
द्वे	रूप सिद्ध होता है।

त्रीणि—'त्रि+जश्/शस्' यहाँ 'जश्शसोः शिः' से 'शि' आदेश, 'शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने के कारण 'नपुंसकस्य झलचः' से सर्वनामस्थानसंज्ञक 'शि' परे रहते अजन्त नपुंसक को 'नुम्' आगम, 'सर्वनामस्थाने चा०' से नकारान्त की उपधा को दीर्घ तथा 'अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णत्व होकर 'त्रीणि' रूप सिद्ध होता है।

२४४. स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३

लुक् स्यात्। वारि।

प०वि०—स्वमोः ६।२।। नपुंसकात् ५।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, लुक्।

अर्थ—नपुंसक अङ्ग से उत्तर 'सु' और 'अम्' का लुक् होता है।

वारि (जल)—'वारि सु/अम्' यहाँ 'वारि' शब्द नपुंसकलिङ्ग में है इसीलिए 'स्वमोर्नपुंसकात्' से नपुंसक से उत्तर 'सु' और 'अम्' का लुक् होने पर 'वारि' रूप सिद्ध होता है।

२४५. इकोऽचि विभक्तौ ७।१।७३

इगन्तस्य क्लीबस्य नुम् अचि विभक्तौ। वारिणी। वारीणि।

'न लुमता-' इत्यस्यानित्यत्वात् पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः-हे वारे, हे वारि। आङो ना०-वारिणा। 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते (वा०) वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन। वारिणे। वारिणः२। वारिणोः२। 'नुमचिर' इति नुट्-वारीणाम्। वारिणि। हलादौ हरिवत्।

प०वि०—इकः ६।१।। अचि ७।१।। विभक्तौ ७।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, नुपंसकस्य, नुम्।

अर्थ—अजादि विभक्ति परे रहते इगन्त नपुंसक अङ्ग को 'नुम्' आगम होता है।

वारिणी

वारि औ	प्रथमा विभक्ति, द्विवचन में 'औ' आने पर 'नपुंसकाच्च' से 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश हुआ
वारि शी	अनुबन्ध-लोप, 'इकोऽचि विभक्तौ' से इगन्त नपुंसक को अजादि विभक्ति परे रहते नुमागम हुआ
वारि नुम् ई	अनुबन्ध-लोप
वारि न् ई	'अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णत्व होकर
वारिणी	रूप सिद्ध होता है।

वारीणि—'वारि+जश् (अस्)' यहाँ 'जश्शसोः शिः' से 'जश्' को 'शि' आदेश, पूर्ववत् 'इकोऽचि विभक्तौ' से नुमागम, अनुबन्ध-लोप, 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से नकारान्त की उपधा को दीर्घ तथा 'अट्कुप्वाङ्० से नकार को णत्व होकर 'वारीणि' रूप सिद्ध होता है।

हे वारे, वारि—सम्बोधन के एकवचन में 'वारि+सु' यहाँ 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' का लुक् होने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'सम्बुद्धि' (सु) को निमित्त मानकर 'ह्रस्वस्य गुणः' से ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ। 'न लुमताऽङ्गस्य' से प्रत्यय-लक्षण कार्य (गुण) का निषेध होने लगा; इसी स्थिति को स्पष्ट करते हुए लघुसिद्धान्तकौमुदीकार कहते हैं 'न लुमता०' यह परिभाषा अनित्य है, इसलिए 'लुमान्' (लुक्) के द्वारा लुप्त प्रत्यय को निमित्त मानकर भी 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण हो जायेगा। गुण पक्ष में 'वारे' और गुणाभाव पक्ष में 'वारि' रूप सिद्ध होते हैं।

वारिणा—'वारि+टा (आ)' यहाँ 'शेषो घ्यसखि' से 'वारि' की 'घि' संज्ञा होने से 'आङो नाऽस्त्रियाम्' से 'घि' संज्ञक से उत्तर 'टा' को 'ना' आदेश तथा 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर 'वारिणा' रूप सिद्ध होता है।

वारिणे—'वारि+ङे (ए)' यहाँ 'घेर्ङिति' से गुण तथा 'इकोऽचि विभक्तौ' से अजादि विभक्ति परे रहते 'नुम्' प्राप्त होता है। इस स्थिति में परत्व से 'घेर्ङिति' से प्राप्त

होने वाले गुण को बाधकर (वा०) 'वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भा०' से पूर्वविप्रतिषेध से 'नुम्' का विधान कर दिया गया, अतः 'इकोऽचि विभक्तौ' से 'नुम्' और 'अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णत्व होकर 'वारिणे' रूप बनता है। इसी प्रकार **'वारिणः'**, **'वारिणोः'** भी समझने चाहिए।

वारीणाम्

वारि आम्	षष्ठी विभक्ति, बहुवचन में 'आम्' आने पर 'इकोऽचि विभक्तौ' से 'नुम्' प्राप्त था, जिसे बाधकर 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रति०' के द्वारा पूर्वविप्रतिषेध से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्०' से 'नुट्' आगम हुआ
वारि नुट् आम्	अनुबन्ध-लोप, 'नामि' से इकार को दीर्घ ईकार आदेश तथा 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर
वारीणाम्	रूप सिद्ध होता है।

वारिणि—'वारि+ङि (इ)' में 'इकोऽचि विभक्तौ' से नुमागम तथा 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर 'वारिणि' रूप सिद्ध होता है।

हलादि विभक्तियों में इकारान्त नपुंसकलिङ्ग के रूप 'हरि' शब्द के समान जानें।

२४६. अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ७।१।७५

एषामनङ् स्यात् टादावचि।

प०वि०—अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् ६।३। अनङ् १।१। उदात्तः १।१। **अनु०**—तृतीयादिषु, अचि, अङ्गस्य।

अर्थ—तृतीयादि अजादि विभक्ति परे रहते 'अस्थि', 'अधि', 'सक्थि' और 'अक्षि' अङ्ग को 'अनङ्' आदेश होता है और वह उदात्त भी होता है।

ङित् होने के कारण 'अनङ्' आदेश **'ङिच्च'** से अन्तिम 'अल्' के स्थान पर होता है।

२४७. अल्लोपोऽनः ६।४।१३४

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-यजादि-स्वादिपरो योऽन्, तस्याऽकारस्य लोपः। दध्ना। दध्ने। दध्नः २। दध्नोः २।

प०वि०—अत् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देश।। लोपः १।१।। अनः ६।१।। **अनु०**—भस्य, अङ्गस्य।

अर्थ—अन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग के ह्रस्व अकार का लोप होता है।

दध्ना	(दही से)
दधि टा	तृतीया विभक्ति, एकवचन में 'टा' आने पर 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णा०' से तृतीया आदि अजादि विभक्ति (टा) परे रहते

	'दधि' को 'अनङ्' आदेश, 'ङिच्च' से 'अनङ्' आदेश अन्तिम अल् 'इ' के स्थान में हुआ
दध् अनङ् टा	अनुबन्ध-लोप
दध् अन् आ	'यचि भम्' से 'आ' परे रहते 'दधन्' की भसंज्ञा होने पर 'अल्लोपोऽनः' से अन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग के ह्रस्व अकार का लोप होकर
दध्ना	रूप सिद्ध होता है

इसी प्रकार चतुर्थी विभक्ति एकवचन में 'ङे' आने पर **दध्ने**, पञ्चमी तथा षष्ठी विभक्ति के एक वचन में 'ङसि' और 'ङस्' आने पर **दध्नः** और षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति, द्विवचन में 'ओस्' आने पर **दध्नोः** रूप भी जानें।

२४८. विभाषा ङिश्योः ६।४।१३६

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-यजादि-स्वादिपरो योऽन्, तस्याऽकारस्य लोपो वा स्यात् ङिश्योः परयोः। दध्नि, दधनि। शेषं वारिवत्। एवम् अस्थिसक्थ्यक्षि। सुधि। सुधिनी। सुधीनि। हे सुधे! हे सुधि!

प०वि०—विभाषा १।१।। ङिश्योः ७।२।। **अनु०**—अल्लोपः, अनः, भस्य, अङ्गस्य।

विशेष—सूत्र में 'भस्य' पद की अनुवृत्ति से वरदराज ने वृत्ति में 'भ' संज्ञक के स्थान पर उसके आशय को 'असर्वनामस्थान-यजादि-स्वादिपरो' के द्वारा स्पष्ट किया है।

अर्थ—'ङि' और 'शी' परे रहते 'अन्' अन्त वाले भसंज्ञक अङ्ग के ह्रस्व अकार का विकल्प से लोप होता है।

दध्नि/दधनि

दधि ङि	सप्तमी-एकवचन में 'ङि' आने पर अनुबन्ध-लोप, 'अस्थि-दधि सक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' से अजादि विभक्ति परे रहते 'दधि' को 'अनङ्' आदेश हुआ
द ध् अनङ् इ	अनुबन्ध-लोप
द धन् इ	'यचि भम्' से 'इ' परे रहते 'दधन्' भसंज्ञक है, अतः 'विभाषा ङिश्योः' से 'ङि' परे रहते अन्नन्त भसंज्ञक के अकार का विकल्प से लोप होकर
दध्नि/दधनि	दो रूप सिद्ध होते हैं।

'अस्थि', 'सक्थि' और 'अक्षि' के रूप भी 'दधि' के समान ही जानें।

सुधि—'सुधी' शब्द से प्रथमा-एकवचन में 'सु' आने पर 'ह्रस्वो नपुं०' से ह्रस्व तथा 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' का लुक् होकर 'सुधि' बनता है।

सुधिनी—'सुधी' से उत्तर प्रथमा एवं द्वितीया के द्विवचन में 'औ' और 'औट्' को 'नपुंसकाच्च' से 'शी' आदेश, 'इकोऽचि०' से 'नुम्' तथा पूर्ववत् 'ह्रस्वो नपुंसके०' से ह्रस्व होकर 'सुधिनी' बनता है।

सुधीनि—'सुधी' से उत्तर बहुवचन में 'जस्' और 'शस्' में 'वारीणि' (१४५) के समान दीर्घ आदि होकर 'सुधीनि' आदि सिद्ध होते हैं।

हे सुधे, हे सुधि—'हे सुधी+सु' यहाँ 'ह्रस्वो नपुंसके० से ह्रस्व, 'स्वमोर्नपुंसकात्' से सम्बोधन एकवचन 'सु' का लुक् होने पर 'न लुमताङ्गस्य' को अनित्य मानकर 'ह्रस्वस्य गुण:' से गुण होने पर 'हे सुधे' तथा गुण न होने पर 'हे सुधि' रूप सिद्ध होंगे।

२४९. तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य ७।१।७४

प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कम् इगन्तम् क्लीबं पुंवद् वा टादावचि। सुधिया, सुधिनेत्यादि। मधु, मधुनी, मधूनि। सुलु, सुलुनी, सुलूनि। सुल्वा, सुलुना। धातृ, धातृणी, धातृणि। हे धातः, हे धातृ! धात्रा, धातृणा। धातृणाम्। एवं ज्ञात्रादयः।

प०वि०—तृतीयादिषु ७।१।। भाषितपुंस्कम् १।१।। पुंवद् १।१।। गालवस्य ६।१।।
अनु०—इकः, अचि, विभक्तौ, अङ्गस्य, नपुंस्कस्य।

अर्थ—तृतीया-आदि अजादि विभक्ति परे रहते भाषितपुंस्क नपुंसकलिंग[1] वाले इगन्त अङ्ग को **गालव आचार्य** के मत में (अर्थात् विकल्प से) पुंवद्भाव होता है।

सुधिया

सुधी टा	तृतीया विभक्ति, एकवचन में 'टा', अनुबन्ध लोप, 'सुधी' शब्द भाषितपुंस्क नपुंसक है इसलिए 'तृतीयादिषु भाषित०' से तृतीया आदि अजादि विभक्ति 'टा' परे रहते, विकल्प से पुंवद्भाव हुआ। पुंवद्भाव पक्ष में 'नुम्' आगम प्राप्त न होने से 'एरनेकाचोऽसंयोग०' से प्राप्त यणादेश का 'न भूसुधियोः' से निषेध होने पर 'अचि श्नुधातु०' से 'इयङ्' आदेश हुआ
सु ध् इयङ् आ	अनुबन्ध-लोप होकर
सुधिया	रूप सिद्ध होता है।
सुधिना	(बुद्धिमान् से)

---

१. अर्थ में रहने वाले जिस धर्म को लेकर उस अर्थ के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह धर्म उस शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त (प्रवृत्तिनिमित्त) होता है। जैसे—एक मनुष्य के लिए 'पुरुष' शब्द तथा दूसरे के लिए 'स्त्री' शब्द का प्रयोग उन मनुष्यों में रहने वाले धर्म क्रमशः 'पुरुषत्व' तथा 'स्त्रीत्व' के कारण होता है। ये ही धर्म पुरुष तथा स्त्री शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त (धर्म) हैं। यदि कोई शब्द किसी विशिष्ट धर्म के कारण पुँल्लिंग में प्रयुक्त हुआ है, उसी धर्म के कारण नपुंसकलिंग में भी प्रयुक्त हो रहा हो, तो वह 'भाषितपुंस्क नपुंसक' शब्द कहलाता है।

सुधी टा	अनुबन्ध-लोप, 'तृतीयादिषु०' से तृतीया आदि अजादि विभक्ति परे रहते वैकल्पिक पुंवद्भाव न होने पर 'ह्रस्वो नपुं०' से ह्रस्व तथा 'इकोऽचि०' से 'नुम्' आगम हुआ
सुधि नुम् आ	अनुबन्ध-लोप होने पर संहिता होकर
सुधिना	रूप सिद्ध होता है।

उकारान्त नपुंसकलिंग शब्द 'मधु' एवं 'सुलु' आदि के रूप 'वारि' के समान-**मधु, मधुनी, मधूनि** तथा **सुलु, सुलुनी, सुलूनि** आदि चलते हैं।

'सुलु' (सुन्दर कटाई करने वाला) शब्द भाषितपुंस्क है इसलिए तृतीया आदि अजादि विभक्तियों में विकल्प से पुंवद्भाव होगा।

सुल्वा, सुलुना--'सुलु + टा' यहाँ 'तृतीयादिषु भाषित:०' से वैकल्पिक पुंवद्भाव पक्ष में 'इकोऽचि०' से 'नुम्' न होने से 'ओः सुपि' से धातु का अवयव संयोग पूर्व में न होने पर उवर्णान्त अनेकाच् अङ्ग को अजादि 'सुप्' (टा=आ) परे रहते 'यण्' आदेश होकर 'सुल्वा' और पुंवद्भाव न होने पर 'ओः सुपि' से प्राप्त यणादेश को परत्व से बाधकर 'इकोऽचि विभक्तौ' से 'नुम्' आगम होकर 'सुलुना' रूप सिद्ध होते हैं।

'धातृ' शब्द ऋकारान्त नपुंसक है अत: **धातृ, धातृणी, धातृणि** की सिद्धि-प्रक्रिया 'वारि', 'वारिणी', 'वारीणि' (२४४, २४५) के समान ही जानें।

'धातृ' (ब्रह्मा) शब्द भाषितपुंस्क नपुंसक है इसलिए प्रकृत सूत्र से तृतीया आदि अजादि विभक्तियों में विकल्प से पुंवद्भाव होकर **धात्रा** तथा **धातृणा** दो रूप बनेंगे।

हे धात:/हे धातृ—सम्बोधन के एकवचन में 'हे धातृ+सु' यहाँ 'स्वमोर्नपुंस्कात्' से 'सु' का लुक् होने पर 'न लुमताङ्गस्य' को अनित्य मानकर एक बार 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर तथा रेफ को विसर्ग होने पर 'हे धातः' और गुण न होने पर 'हे धातृ' रूप सिद्ध होंगे।

धातृणाम्	(ब्रह्माओं का)
धातृ आम्	षष्ठी विभक्ति, एकवचन में 'आम्' आने पर 'इकोऽचि०' से 'नुम्' प्राप्त था जिसका 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट्०' से बाध होकर 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'आम्' को 'नुट्' आगम हुआ
धातृ नुट् आम्	अनुबन्ध-लोप, 'नामि' से 'नाम्' परे रहते अजन्त अङ्ग (ऋ) को दीर्घ हुआ
धातॄ नाम्	'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से णत्व होकर
धातॄणाम्	रूप सिद्ध होता है।

'ज्ञातृ' आदि के रूप भी 'धातृ' के समान सिद्ध होते हैं।

२५०. एच इग्घ्रस्वादेशे १।१।४८

आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु मध्ये एच इगेव स्यात्। प्रद्यु, प्रद्युनी, प्रद्यूनि। प्रद्युनेत्यादि। प्ररि, प्ररिणी, प्ररीणि। प्ररिणा। एकदेशविकृतमनन्यवत्-प्रराभ्याम्। सुनु, सुनुनी, सुनूनि। सुनुनेत्यादि।

॥ इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः॥

प०वि०–एचः ६।१।। इक् १।१।। ह्रस्वादेशे ७।१।।

अर्थ–'एच्' (ए, ओ, ऐ, औ) के स्थान में ह्रस्व आदेश करने पर 'इक्' (इ, उ, ऋ, लृ) ही ह्रस्व होते हैं।

'एच्' (ए, ओ, ऐ, औ) के ह्रस्व भेद नहीं होते इसलिए ह्रस्व विधान करने पर उनके स्थान में ह्रस्व 'इक्' (इ, उ, ऋ, लृ) आदेश होते हैं।

प्रद्यु (खिला हुआ दिन)

प्रद्यो सु — यह नपुंसकलिंग शब्द है अतः 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' से ह्रस्व आदेश प्राप्त हुआ। 'ओ' का ह्रस्व भेद नहीं होता, इसलिए 'एच इग्घ्रस्वादेशे' से 'एच्' के स्थान में ह्रस्व 'इक्' ही आदेश प्राप्त होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ओ' के स्थान में 'उ' आदेश हुआ

प्रद्यु सु — 'स्वमोर्नपुंस्कात्' से नपुंसक से उत्तर 'सु' का लुक् होकर

प्रद्यु — रूप सिद्ध होता है।

अन्य सभी विभक्तियों के **प्रद्युनी, प्रद्यूनि, प्रद्युना** आदि रूप 'वारिणी' आदि (२४५) के समान जानें। ऐकारान्त 'प्रै' शब्द के रूप 'प्रद्यो' के समान ही होंगे। जैसे–

प्ररि (धनवान् कुल)

प्रै सु — 'ह्रस्वो नपुंसके०' से ह्रस्व प्राप्त होने पर, 'ऐ' के ह्रस्व भेद न होने के कारण, 'एच इग्घ्रस्वादेशे' से 'ऐ' (एच्) के स्थान में 'इक्' ह्रस्व प्राप्त हुए, 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ऐ' का अन्तरतम 'इ' आदेश हुआ

प्ररि सु — 'स्वमोर्नपुंस्कात्' से नपुंसक अङ्ग से उत्तर 'सु' का लुक् होकर

प्ररि — रूप सिद्ध होता है।

प्ररिणी–'प्रै+औ' यहाँ 'ह्रस्वो नपुंसके०' से ह्रस्व, 'एच इग्घ्रस्वा०' से 'ऐ' के स्थान में 'इ' आदेश, 'नपुंसकाच्च' से 'औ' को 'शी' आदेश, 'इकोऽचि विभक्तौ' से 'नुम्' और 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर 'प्ररिणी' रूप सिद्ध होता है।

प्ररीणि–'प्रै+जस्/शस्' यहाँ 'ह्रस्वो नपुंसके०' से ह्रस्व, ('ऐ' के स्थान पर

'इ') आदेश 'जश्शसोः शिः' से 'जस्' और 'शस्' को 'शि' आदेश, 'इकोऽचि०' से 'नुम्' आगम, 'सर्वनामस्थाने चा०' से नकारान्त की उपधा को दीर्घ और 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर 'प्रीणि' रूप सिद्ध होता है।

प्राभ्याम्

प्रै भ्याम् — पूर्ववत् 'ह्रस्वो नपुंस्के०' से ह्रस्व प्राप्त हुआ, 'एच इग्घ्रस्वादेशे' से 'एच्' के स्थान में 'इक्' ह्रस्व, 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ऐ' के स्थान पर 'इ' आदेश हुआ

प्र र् इ भ्याम् — यहाँ 'सुपि च' से यञादि सुप् परे रहते दीर्घ प्राप्त था जिसे बाधकर 'रायो हलि' से हलादि विभक्ति परे रहते 'रै' शब्द को आकार अन्त आदेश होता है। यहाँ यह शंका स्वाभाविक है कि 'रै' को आकार आदेश का विधान किया गया है 'प्रर्+इ' को नहीं, इसलिए यहाँ 'रायो हलि' से 'आत्व' कैसे हो सकता है? इसी के समाधान के लिए– 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' परिभाषा का उल्लेख किया गया है। जिसका आशय है कि 'रै' के एकदेश 'ऐ' में 'विकार' आ जाने पर भी उसे 'अनन्यवत्' अर्थात् 'रै' ही माना जायेगा, अतः 'रायो हलि' से 'इ' को 'आ' आदेश होकर

प्राभ्याम् — रूप सिद्ध होता है।

'सुनौ' (सुन्दर है नौका जिसकी) शब्द औकारान्त नपुंसक है, इसलिए 'प्रद्यो' के समान ह्रस्व आदि कार्य होकर–**सुनु, सुनुनी, सुनूनि** आदि रूप सिद्ध होंगे।

॥ अजन्त नपुंसकलिङ्गप्रकरण समाप्त ॥

अथ हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्

२५१. हो ढः ८।२।३१

हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते वा। लिट्, लिड्। लिहौ। लिहः। लिड्भ्याम्। लिट्त्सु, लिट्सु।

प०वि०—हः ६।१।। ढः१।१।। **अनु०**—पदस्य, झलि, अन्ते।

अर्थ—'झल्' (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण, श्, ष्, स् और ह्) परे रहते अथवा पदान्त में 'ह्' के स्थान में 'ढ्' आदेश होता है।

लिट्/लिड्	(चाटने वाला)
लिह् सु	'लिह्=आस्वादने' धातु से 'क्विप् च' से 'क्विप्' प्रत्यय आने पर उसका सर्वापहारी लोप होकर 'लिह्' क्विबन्त प्रातिपदिक बनता है। उससे प्रथमा विभक्ति, एकवचन में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप हुआ
लिह् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' से सकार का लोप हुआ, 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से 'सु' का लोप होने पर भी, लुप्त 'सु' को निमित्त मान कर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'लिह्' की 'पद' संज्ञा होने पर 'हो ढः' से पदान्त 'ह्' को 'ढ्' आदेश हुआ
लिढ्	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त 'झल्' (ढ्) को 'जश्' (ड्) आदेश हुआ
लिड्	'वाऽवसाने' से अवसान में झलों को विकल्प से 'चर्' होते हैं इसलिए 'ड्' को विकल्प से 'ट्' आदेश होकर
लिट्, लिड्	दो रूप सिद्ध होते हैं।
लिड्भ्याम्	
लिह् भ्याम्	तृतीया विभक्ति, द्विवचन में 'भ्याम्' आने पर 'हो ढः' से झल् 'भ्' परे रहते 'ह्' को 'ढ्' हुआ, 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से 'भ्याम्' परे रहते 'लिह्' की पद संज्ञा है
लिढ् भ्याम्	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में झलों को 'जश्' होते हैं, अतः 'ढ्' को 'ड्' आदेश होकर
लिड्भ्याम्	रूप सिद्ध होता है।

लिट्त्सु

लिह् सुप्	सप्तमी-बहुवचन में 'सुप्', अनुबन्ध-लोप, 'हो ढः' से 'झल्' (स्) परे रहते 'ह्' को 'ढ्' आदेश हुआ
लिढ् सु	'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से 'लिढ्' की 'पद' संज्ञा होने पर 'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में 'ढ्' को 'ड्' आदेश हुआ
लिड् सु	'ड: सि धुट्' से डकार से उत्तर सकार को विकल्प से 'धुट्' आगम हुआ
लिड् धुट् सु	अनुबन्ध-लोप
लिड् ध् सु	'खरि च' से 'खर्' (स्) परे रहते धकार को तकार आदेश हुआ
लिड् त् सु	पुनः 'खरि च' से तकार परे रहते डकार को टकार आदेश होकर
लिट्त्सु	रूप सिद्ध होता है।

लिट्सु—'धुट्' अभाव पक्ष में 'लिड्+सु' यहाँ 'खरि च' से डकार को टकार होकर 'लिट्सु' रूप सिद्ध होता है।

२५२. दादेर्धातोर्घः ८।२।३२

झलि पदान्ते चोपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः।

प०वि०—दादेः ६।१।। धातोः ६।१।। घः १।१।। **अनु०**—पदस्य, झलि, हः, अन्ते।

अर्थ—उपदेश में जो दकारादि धातु, उसी के हकार को, पदान्त में अथवा 'झल्' पर रहते, घकार आदेश होता है।

२५३. एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ८।२।३७

धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष् स्यात्, से ध्वे पदान्ते च। धुक्, धुग्। दुहौ। दुहः। धुग्भ्याम्। धुक्षु।

प०वि०—एकाचः ६।१।। बशः ६।१।। भष् १।१।। झषन्तस्य ६।१।। स्ध्वोः ७।२।। **अनु०**—पदस्य, धातोः, अन्ते।

अर्थ—धातु का अवयव जो झषन्त एकाच्, उसके अवयव 'बश्' (ब्, ग्, ड्, द्) को 'भष्' (भ्, घ्, ढ्, ध्) आदेश होता है सकार या 'ध्व' परे रहते अथवा पदान्त में।

दुह्—'दुह प्रपूरणे' धातु से कर्त्ता अर्थ में 'क्विप् च' से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर उसका सर्वापहारी लोप होकर कृदन्त 'दुह्' प्रातिपदिक बनता है।

धुक्/धुग्	दूहने वाला (ग्वाला)
दुह् सु	क्विबन्त 'दुह्' प्रातिपदिक से प्रथमा-एकवचन में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप हुआ

दुह् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से हलन्त से उत्तर 'सु' के अपृक्त सकार का लोप हुआ
दुह्	'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा, 'दादेर्धातोर्घः' से दकारादि धातु के हकार को पदान्त में घकार हुआ
दुघ्	'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' से धातु के अवयव झषन्त एकाच् (समुदाय) के 'बश्' (द्) के स्थान में 'भष्' (ध्) आदेश हुआ, पदान्त में
धुघ्	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में 'घ्' को 'ग्' हुआ
धुग्	'वाऽवसाने' से अवसान में झलों को विकल्प 'चर्' होकर
धुक्/धुग्	रूप सिद्ध होते हैं।

दुहौ, दुहः—'दुह्' से 'औ' और 'जस्' परे रहते 'पद' संज्ञा न होने से घत्व नहीं होता, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

धुग्भ्याम्

दुह् भ्याम्	तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी विभक्ति का द्विवचन 'भ्याम्' परे रहते, 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से 'दुह्' की 'पद' संज्ञा हो जाती है, इसलिए 'दादेर्धातोर्घः' से पदान्त में दकारादि धातु के हकार को घकार आदेश हुआ
दुघ् भ्याम्	'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' से पूर्ववत् 'द्' को 'ध्' हुआ
धुघ् भ्याम्	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में से 'घ्' को 'ग्' आदेश होकर
धुग्भ्याम्	रूप सिद्ध होता है

धुक्षु—सप्तमी-बहुवचन में 'दुह्+सुप्' यहाँ पूर्ववत् 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा, 'दादेर्धातोर्घः' से 'ह्' को 'घ्' आदेश, 'एकाचो बशो भष्०' से 'द्' को 'ध्' आदेश, झलां जशोऽन्ते' से घ् को 'ग्' आदेश होने पर प्रथमा-एकवचन में 'सु' आने पर 'खरि च' से 'ग् को 'क्' आदेश तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से 'स्' को मूर्धन्य 'ष्' होकर 'धुक्षु' रूप सिद्ध होता है।

२५४. वा द्रुह्-मुह्-ष्णुह्-ष्णिहाम् ८।२।३३

एषां हस्य वा घो झलि पदान्ते च। ध्रुक्, ध्रुग, ध्रुट्, ध्रुड्। द्रुहौ। द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु ध्रुट्सु। एवं मुक् मुग्। इत्यादि।

प०वि०—वा अ०।। द्रुह् मुहष्णुहष्णिहाम् ६।३।। **अनु०**—पदस्य, झलि; अन्ते, हः, घः।

अर्थ—पदान्त में या 'झल्' परे रहते 'द्रुह्', 'मुह्', 'ष्णुह्' तथा 'ष्णिह्' के हकार को विकल्प से घकार आदेश होता है। पक्ष में 'हो ढः' से 'ढ्' होगा।

ध्रुक्/ध्रुग्	(द्रोही)
द्रुह् सु	क्विबन्त 'द्रुह्' प्रातिपदिक से प्रथमा-एकवचन में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार-लोप हुआ
द्रुह्	यहाँ 'दादेर्धातोर्घः' से दकारादि धातु के पदान्त 'ह्' को नित्य 'घ्' आदेश प्राप्त था जिसे बाधकर 'वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्' से 'द्रुह्' के हकार को विकल्प से घकार आदेश हुआ
द्रुघ्	'एकाचो बशो०' से 'द्' को 'ध्' तथा 'झलां जशोऽन्ते' से 'घ्' को 'ग्' आदेश हुआ
ध्रुग्	'वाऽवासाने' से अवसान में झलों को विकल्प से 'चर्' आदेश होकर
ध्रुक्/ध्रुग्	रूप सिद्ध होते हैं।

ध्रुट्/ध्रुड्—जब 'वा द्रुहमुह०' से घत्व नहीं होगा तो 'हो ढः' से ढत्व तथा अन्य कार्य 'ध्रुग्' के समान होकर 'झलां जशो०' से 'ढ्' को 'ड्' तथा 'वाऽवसाने से विकल्प से 'ट्' होकर 'ध्रुट्' तथा 'ध्रुड्' रूप सिद्ध होते हैं।

द्रुहौ तथा **द्रुहः** में 'द्रुह्' से 'औ' और 'जस्' परे रहते पद संज्ञा न होने से 'वा द्रुहमुह०' से घत्व तथा 'हो ढः' से ढत्व नहीं होता।

ध्रुग्भ्याम् एवं **ध्रुड्भ्याम्** —'द्रुह् + भ्याम्' इस स्थिति में 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होकर 'वा द्रुहमुह०' से विकल्प से हकार को घत्व होने पर अन्य कार्य 'ध्रुग्' के समान तथा 'हो ढः' से 'ढत्व' होने पर 'ध्रुट्' के समान होते हैं।

ध्रुक्षु—'द्रुह+सुप्' में 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने पर 'वा द्रुहमुहष्णुहष्णिह०' से हकार को घत्व आदि कार्य 'धुक्षु' (२५३) के समान जानें।

ध्रुट्त्सु/ध्रुट्सु—द्रुह+सुप्' यहाँ 'हो ढः' से ढत्व पक्ष में 'झलां जशोऽन्ते' से 'ढ' को 'ड्' होने पर 'डः सि धुट्' से विकल्प से 'धुट्' आगम होकर 'खरि च' से 'ध्' को 'त्' और 'ड्' को 'ट्' होकर 'ध्रुट्त्सु' तथा 'धुट्' न होने पर 'ध्रुट्सु' रूप सिद्ध होते हैं।

मुक्/मुग्—'मुह+सु' में 'ध्रुक्/ध्रुग्' के समान 'सु' का लोप होने पर 'वा द्रुहमुह०' से वैकल्पिक घत्व, 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व 'घ्' को 'ग्', 'वाऽवसाने' से चर्त्व 'ग्' को 'क्' आदि कार्य होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

२५५. धात्वादेः षः सः ६।१।६४

स्नुक्, स्नुग्, स्नुट्, स्नुड्। एवं स्निक् इत्यादि। विश्ववाट्, विश्ववाड्। विश्ववाहौ। विश्ववाहः। विश्ववाहम्। विश्ववाहौ।

प०वि०—धात्वादेः ६।१।। षः ६।१। सः १।१।।

अर्थ—धातु के आदि षकार के स्थान पर सकार होता है।

स्नुक्/स्नुग्, स्नुट्/स्नुड् (वमनकर्त्ता) 'भूवादयो धातवः' से 'वा' की तरह क्रिया-वाचक तथा 'भू' आदि में है जिसके ऐसे 'ष्णुह्' की 'धातु' संज्ञा होने पर 'धात्वादेः षः सः' से धातु के आदि में षकार को सकार होने पर 'क्विप् च' से 'क्विप्' प्रत्यय आकर उसका सर्वापहारी लोप होकर 'स्नुह्' क्विबन्त प्रातिपादिक बनता है। यहाँ निमित्त 'ष्' के न रहने पर नैमित्तिक 'ण्' भी नहीं रहा अर्थात् अपने मूल रूप 'न्' में परिवर्तित हो गया।[1] 'स्नुह्+सु' यहाँ अन्य सभी कार्य **धुक्, धुग्** तथा **धुट्, धुड्** (२५४) के समान होकर **स्नुक्, स्नुग्** और **स्नुट्, स्नुड्** रूप सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार 'ष्णिह्' के 'ष्' को 'धात्वदेः षः सः' आदि सभी कार्य पूर्ववत् होकर 'स्निक्' आदि रूप सिद्ध होते हैं।

विश्ववाट्, विश्ववाड् (ब्रह्माण्ड का नेता) 'विश्ववाह्'-शब्द (विश्वं वहति इति) 'विश्व' पूर्वक 'वह्' धातु से 'वहश्च' सूत्र से 'ण्वि' प्रत्यय होने पर उसका सम्पूर्ण लोप होकर बना है। प्रथमा एकवचन में-'सु' आने पर 'सु' का हल्ङ्यादि लोप तथा 'हो ढः' आदि सभी कार्य 'लिट्/लिड्' (२५१)के समान जानें।

२५६. इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४५

यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात्।

प०वि०—इक् १।१।। यणः ६।१।। सम्प्रसारणम् १।१।।

अर्थ—'यण्' (य्, व्, र्, ल्) के स्थान पर विधीयमान (विहित) 'इक्' (इ, उ, ऋ, लृ) की 'सम्प्रसारण' संज्ञा होती है।

२५७. वाह ऊठ् ६।४।१३२

भस्य वाहः सम्प्रसारणम् ऊठ्।

प०वि०—वाहः ६।१।। ऊठ् १।१।। **अनु०**—भस्य, सम्प्रसारणम्।

अर्थ—भसंज्ञक 'वाह्' के स्थान पर सम्प्रसारण संज्ञक 'ऊठ्' आदेश होता है। 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'व्' के स्थान पर 'ऊठ्' होगा।

२५८. सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८

सम्प्रसारणादचि पूर्वरूपमेकादेशः। वृद्धिः-विश्वौहः इत्यादि।

प०वि०—सम्प्रसारणात् ५।१।। च अ०।। **अनु०**—पूर्वः, अचि, एकः, पूर्वपरयोः।

अर्थ—सम्प्रसारण से 'अच्' (स्वर) परे रहते पूर्व और पर (वर्ण) के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होता है।

विश्वौहः

विश्ववाह् शस्	द्वितीया-बहुवचन में 'शस्' आने पर अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से भसंज्ञा होने पर 'वाहः ऊठ्' से भसंज्ञक 'वाह्' को

---

१. निमित्तापाये नैमित्तकस्याप्यपायः।

	'ऊठ्' सम्प्रसारण अर्थात् 'वाह्' के 'व्' के स्थान पर 'ऊठ्' आदेश हुआ
विश्व ऊठ् आह् अस्	अनुबन्ध-लोप
विश्व ऊ आह् अस्	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण (ऊ) से 'अच्' (आ) परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप (ऊ) एकादेश हुआ
विश्व ऊह् अस्	'एत्येधत्यूठ्सु' से अवर्ण से 'ऊठ्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धि 'औ' एकादेश हुआ
विश्वौह् अस्	'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयोर्वि०' से रेफ को विसर्ग आदेश होकर
विश्वौहः	रूप सिद्ध होता है।

२५९. चतुरनडुहोरामुदात्तः ७।१।९८

अनयोराम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे।

प०वि०—चतुरनडुहोः ६।२।। आम् १।१।। उदात्तः १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, सर्वनामस्थाने।

अर्थ—'सर्वनामस्थान' संज्ञक प्रत्यय परे रहते 'चतुर्' और 'अनडुह्' अङ्ग को 'आम्' आगम होता है और वह उदात्त होता है।

'मिदचोऽन्त्यात्०' से मित् होने से 'आम्' आगम 'चतुर्' और 'अनडुह्' के अन्तिम अच् से परे होगा।

२६०. सावनडुहः ७।१।८२

अस्य नुम् स्यात् सौ परे। अनड्वान्।

प०वि०—सौ ७।१।। अनडुहः ६।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, नुम्।

अर्थ—'सु' परे रहते 'अनडुह्' अङ्ग को 'नुम्' आगम होता है।

अनड्वान्	(बैल)
अनडुह् सु	'सुडनपुंसकस्य' से 'सु' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा है, इसलिए 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते 'अनडुह्' को 'आम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से 'उ' के बाद हुआ
अनडु आम् ह् स्	अनुबन्ध-लोप, 'इको यणचि' से 'इक्' (उ) को 'यण्' (व्) हुआ
अनड्वाह् स्	'सावनडुहः' से 'सु' परे रहते 'अनडुह्' को 'नुम्' आगम, 'मिदचो०' से अन्तिम 'अच्' से परे हुआ
अनड्वा नुम् ह् स्	अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप

अनड्वान् ह् — 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद का लोप प्राप्त हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' हकार का लोप होकर

अनड्वान् — रूप सिद्ध होता है।

२६१. अम् सम्बुद्धौ। ७।१।९९

चतुरनडुहोरम् स्यात् सम्बुद्धौ। हे अनड्वन्! हे अनड्वाहौ! हे अनड्वाहः! अनडुहः। अनडुहा।

प०वि०—अम् १।१।। सम्बुद्धौ ७।१।। **अनु०**—चतुरनडुहोः, अङ्गस्य।

अर्थ—'सम्बुद्धि' (सम्बोधन-प्रथमा के एकवचन में 'सु') परे रहते 'चतुर्' तथा 'अनडुह्' अङ्ग को 'अम्' आगम होता है।

हे अनड्वन्—सम्बोधन-प्रथमा के एकवचन में 'सु' आने पर 'अनडुह्+सु' यहाँ 'अम् सम्बुद्धौ' से 'अम्' आगम होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'अनड्वान्' के समान जानें।

अनड्वाहौ तथा **अनड्वाहः** में 'औ' और 'जस्' परे रहते 'चतुरनडुहोराम्०' से सर्वनामस्थान परे रहते 'अनडुह्' को 'आम्' आगम तथा 'इको यणचि' से उकार को यणादेश आदि होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

अनडुहः—'अनडुह्+शस्' यहाँ 'शस्' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा नहीं है इसलिए 'चतुरनडु०' से 'आम्' भी नहीं होगा, तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'अनडुहः' रूप सिद्ध होगा।

इसी प्रकार तृतीया विभक्ति, एकवचन में 'अनडुह्+टा'=**अनडुहा** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

२६२. वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ८।२।७२

सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते। अनडुद्भ्याम् इत्यादि। सान्तेति किम्,?विद्वान्। पदान्तेति किम्?स्रस्तम्, ध्वस्तम्।

प०वि०—वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम् ६।३।। दः १।१।। **अनु०**—पदस्य, सः, अन्ते।

अर्थ—'वसु' प्रत्ययान्त सकारान्त पद को, 'स्रंसु', 'ध्वंसु' और 'अनडुह्' पदों को दकार (द्) आदेश होता है।

दकार आदेश 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम वर्ण के स्थान पर होता है।

अनडुद्भ्याम्

अनडुह् भ्याम् — तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी विभक्ति के द्विवचन में 'भ्याम्' आने पर 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से 'भ्याम्' परे रहते 'अनडुह्' की 'पद' संज्ञा होती है। अतः 'वसुस्रंसुध्वंसु०' से पदान्त में 'अनडुह्' के अन्तिम अल् 'ह् को 'द्' आदेश होकर

अनडुद्भ्याम् — रूप सिद्ध होता है।

सान्तेति किम्—सूत्र में 'सः' की अनुवृत्ति का प्रयोजन यह है कि 'विद्वान्' शब्द 'वसु' प्रत्ययान्त है तथा पद भी है, यदि 'वसुस्रंसु०' सूत्र में 'सकारान्त' न कहकर केवल 'वसु' प्रत्ययान्त को 'द्' आदेश विधान किया जाता तो 'विद्वान्' के 'नकार' को भी 'द्' आदेश होने लगता, जो कि इष्ट नहीं है।

पदान्तेति किम्—पदान्त में 'द्' विधान का प्रयोजन यह है कि 'स्रस्तम्' तथा 'ध्वस्तम्' में 'स्रंसु' और 'ध्वंसु' धातु से 'क्त' प्रत्यय होने पर 'पद' संज्ञा के अभाव में दकार आदेश नहीं होता।

२६३. सहेः साडः सः ८।३।५६

साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। तुराषाट्, तुराषाड्। तुरासाहौ। तुरासाहः। तुराषाड्भ्याम् इत्यादि।

प०वि०—सहेः ६।१।। साडः ६।१।। सः ६।१।। **अनु०**—मूर्धन्यः।

अर्थ—'सह्' का 'साड्' रूप बनने पर उसके सकार के स्थान पर मूर्धन्यादेश होता है।

तुरासाह्—तुरं (वेगवन्तम्) साहयति=अभिभवति इति। 'तुर' कर्म उपपद में रहते णिजन्त 'षह मर्षणे' धातु से 'क्विप् च' से 'क्विप्' प्रत्यय, 'उपपदमतिङ् से समास तथा 'अन्येषामपि दृश्यते' से 'तुर' के अकार को दीर्घ होकर 'तुरासाह्' क्विबन्त प्रातिपदिक बनता है।

तुराषाट्/तुराषाड्	(इन्द्र)
तुरासाह् सु	प्रथमा-एकवचन में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप
तुरासाह् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से हलन्त से उत्तर अपृक्तसंज्ञक सकार का लोप हुआ
तुरासाह	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'सु' को निमित्त मान कर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'हो ढः' से पदान्त हकार को ढकारादेश हुआ
तुरासाढ्	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त 'झल्' (ढ्) को 'जश्' (ड्) आदेश हुआ
तुरासाड्	'सह्' को 'साड्' बनने पर 'सहेः साडः षः' से सकार के स्थान में मूर्धन्यादेश हुआ
तुराषाड्	'वाऽवसाने' से अवसान में 'झल्' को विकल्प से 'चर्' आदेश होकर
तुराषाट्/तुराषाड्	रूप सिद्ध होते हैं।

तुरासाहौ, तुरासाहः में पद संज्ञा के अभाव में 'हो ढः' इत्यादि कार्य नहीं होते, इसलिए 'साह' को 'साड्' भी नहीं बनता तथा 'सहेः साडः सः' से मूर्धन्यादेश भी नहीं होता।

तुराषाड्भ्याम्–'तुरासाह्+भ्याम्' इस स्थिति में 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने पर 'हो ढः' से ढत्व, 'झलां जशोऽन्ते:' से डत्व तथा 'सहेः साडः सः' से सकार को मूर्धन्यादेश होकर 'तुराषाड्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

२६४. दिव औत् ७।१।८४

'दिव्' इति प्रातिपदिकस्य 'औत्' स्यात् सौ। सुद्यौः। सुदिवौ।

प०वि०–दिवः ६।१।। औत् १।१।। **अनु०**–सौ, अङ्गस्य।

अर्थ–'सु' परे रहते 'दिव्' अङ्ग को औकारादेश होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' वकार के स्थान में 'औ' होता है।

सुद्यौः	(स्वच्छ आकाश)
सुदिव् सु	प्रथमा-विभक्ति, एकवचन में 'सु' आने पर 'दिव औत्' से 'सु' परे रहते 'दिव्' के वकार को 'औ' आदेश हुआ
सु दि औ सु	'इको यणचि' से यणादेश 'इ' को 'य्' हुआ
सु द्य् औ सु	अनुबन्ध-लोप, सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्गादेश होकर
सुद्यौः	रूप सिद्ध होता है।

सुदिवौ–'सुदिव्' से प्रथमा-द्विवचन में 'औ' परे होने पर 'सुदिवौ' रूप बनता है।

२६५. दिव उत् ६।१।१३१

दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते। सुद्युभ्याम् इत्यादि। चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः २।

प०वि०– दिवः ६।१।। उत् १।१।। **अनु०**–पदान्तात्।

अर्थ–पदान्त में 'दिव्' को ह्रस्व 'उकार आदेश' होता है।

सुद्युभ्याम्	
सुदिव् भ्याम्	तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी विभक्तियों के द्विवचन में 'भ्याम्' आने पर 'स्वादिष्वसर्वनाम०' से सर्वनामस्थान-भिन्न 'सु' आदि प्रत्यय 'भ्याम्' परे रहते 'सुदिव्' की 'पद' संज्ञा होने पर 'दिव उत्' से 'दिव्' के अन्तिम 'अल्' वकार को उकारादेश हुआ
सु दि उ भ्याम्	'इको यणचि' से यणादेश 'इ' को 'य्' होकर
सुद्युभ्याम्	रूप सिद्ध होता है।
चत्वारः	(चार)
चतुर् जस्	प्रथमा विभक्ति, बहुवचन में 'जस्', अनुबन्ध-लोप, 'सुडनपुंसकस्य' से 'जस्' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा, 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते 'चतुर्' को 'आम्' आगम, 'मिदचोन्त्यात्परः' से उकार के पश्चात् हुआ
चतु आम् र् अस्	अनुबन्ध-लोप, 'इको यणचि' से यणादेश 'उ' को 'व्' हुआ

चत्वार् अस्	'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्गादेश होकर
चत्वारः	रूप सिद्ध होता है।

चतुरः, चतुर्भिः, चतुर्भ्यः में 'चतुर्' शब्द से क्रमशः 'शस्', 'भिस्' और 'भ्यस्' परे रहते 'सर्वनामस्थान' संज्ञा न होने से 'आम्' आगम नहीं होता तथा संहिता होकर सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होने पर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

२६६. षट्चतुर्भ्यश्च ७।१।५५

एभ्य आमो नुडागमः।

प०वि०—षट्चतुर्भ्यः ५।३।। च अ०।। **अनु०**—अङ्गस्य, नुट्, आमि ।

अर्थ—षट्संज्ञक तथा 'चतुर्' अङ्ग से उत्तर 'आम्' को 'नुट्' आगम होता है।

२६७. रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१

रेफषकाराभ्याम् परस्य नस्य णः स्यादेकपदे इतिवृत्तिः '-अचो रहाभ्यां द्वे'(६०)-चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम् ।

प०वि०—रषाभ्याम् ५।२।। नः ६।१।। णः १।१।। समानपदे ७।१।।

अर्थ—एकपद में विद्यमान रेफ तथा षकार से (अव्यवहित) उत्तर 'न्' के स्थान में 'ण्' आदेश होता है।

चतुर्ण्णाम्

चतुर् आम्	षष्ठी विभक्ति, बहुवचन में 'आम्' आने पर 'षट्चतुर्भ्यश्च' से चतुर् शब्द से उत्तर 'आम्' को 'नुट्' आगम हुआ
चतुर् नुट् आम्	अनुबन्ध-लोप
चतुर् न् आम्	'रषाभ्यां नो णः समानपदे' से रेफ से उत्तर 'न्' को 'ण्' हुआ
चतुर् ण् आम्	'अचो रहाभ्यां द्वे' से 'अच्' (उकार) से उत्तर जो रेफ, उससे परे 'यर्' (ण्) को विकल्प से द्वित्व होने पर
चतुर्ण्णाम्	रूप सिद्ध होता है।

द्वित्व न होने पर 'चतुर्णाम्' ही रहता है।

२६८. रोः सुपि८।३।१६

रोरेव विसर्गः सुपि। षत्वम्। षस्य द्वित्वे प्राप्ते—

प०वि०—रोः ६।१।। सुपि ७।१।। **अनु०**—रः, विसर्जनीयः ।

अर्थ—सुप् (सप्तमी-बहुवचन) परे रहते 'रु' के रेफ को ही विसर्ग होता है, अन्य रेफ को नहीं।

२६९. शरोऽचि ८।४।४९

अचि परे शरो न द्वे स्तः। चतुर्षु।

प०वि०–शरः ६।१।। अचि ७।१।। **अनु०**–न, द्वे।

अर्थ–'अच्' (स्वर) परे रहते 'शर्' (श्, ष् और स्) को द्वित्त्व नहीं होता।

चतुर्षु–'चतुर्+सुप्' यहाँ 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्ग आदेश प्राप्त हुआ जिसका 'रोः सुपि' नियम से निषेध होने पर 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्यादेश होने पर 'अचो रहाभ्यां द्वे' से 'ष्' को द्वित्व प्राप्त था, जिसका ('शर्' (ष्) को 'अच्' परे रहते द्वित्व का) 'शरोऽचि' से निषेध होकर 'चतुर्षु' रूप सिद्ध होता है।

२७०. मो नो धातोः ८।२।६४

धातोर्मस्य नः स्यात् पदान्ते। प्रशान्।

प०वि०–मः ६।१।। नः।।१।। धातोः ६।१।। **अनु०**–पदस्य, अन्ते।

अर्थ–पदान्त में स्थित धातु के मकार के स्थान पर नकार आदेश होता है।

प्रशान्	(शान्त पुरुष)
प्रशाम् सु	'प्र' पूर्वक 'शम्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय, 'क्विप्' का सर्वापहारी लोप और 'अनुनासिकस्य क्वि०' से उपधा-दीर्घ होकर 'प्रशाम्' कृदन्त प्रातिपदिक बनने पर प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया, अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से 'सु' के अपृक्तसंज्ञक सकार का लोप हुआ
प्रशाम्	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त प्रत्यय (सु) को निमित्त मानकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'प्रशाम्' पदसंज्ञक है। अतः 'मो नो धातोः' से पदान्त में धातु के मकार को नकारादेश हुआ
प्रशान्	यहाँ 'न लोपः प्रातिपदिका०' से 'न्' का लोप नहीं होता क्योंकि 'पूर्वत्रासिद्धम्' से त्रिपादी में पर सूत्र होने के कारण 'मो नो धातोः' (८.२.६४) सूत्र 'न लोपः०' (८.२.७) की दृष्टि में असिद्ध हो जाने से उसे पदान्त में मकार ही दिखाई देता है नकार नहीं, इस प्रकार
प्रशान्	रूप सिद्ध होता है।

२७१. किमः कः ७।२।१०३

किमः कः स्याद् विभक्तौ। कः, कौ, के इत्यादि। शेषं सर्ववत्।

प०वि०–किमः ६।१।। कः १।१।। **अनु०**–विभक्तौ।

अर्थ–विभक्ति परे रहते 'किम्' के स्थान पर 'क' आदेश होता है। 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' से 'क' आदेश अनेकाल् होने के कारण सम्पूर्ण 'किम्' के स्थान पर होता है।

कः	(कौन)
किम् सु	प्रथमा-एकवचन में 'सु' आने पर 'किमः कः' से विभक्ति परे

	रहते 'किम्' को 'क' आदेश, 'अनेकाल्शित्०' से अनेकाल् होने के कारण 'क' आदेश सम्पूर्ण 'किम्' के स्थान पर हुआ
क सु	अनुबन्ध-लोप, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
कः	रूप सिद्ध होता है।

कौ-'किम्+औ' यहाँ 'किमः कः' से 'क' आदेश, 'प्रथमयोः पूर्व०' से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'नादिचि' से निषेध होने पर 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि होकर 'कौ' रूप सिद्ध होता है।

के-'किम्+जस्' यहाँ 'किमः कः' से पूर्ववत् 'क' आदेश होने पर 'जशः शी' से 'जश्' को 'शी' तथा 'प्रथमयोः पूर्व०' से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'नादिचि' से निषेध होने पर 'आद् गुणः' से गुण होकर 'के' रूप सिद्ध होता है।

२७२. इदमो मः ७।२।१०८

सौ। त्यदाद्यत्वापवादः।

प०वि०-इदमः ६।१।। मः १।१।। **अनु०**-सौ।

अर्थ-'सु' परे रहते 'इदम्' को मकारादेश होता है।

यह सूत्र 'त्यदादीनामः' का अपवाद है। 'अलोऽन्त्यस्य' से मकारादेश अन्तिम 'अल्' मकार के स्थान पर ही होता है।

२७३ इदोऽय् पुंसि ७।२।१११

इदम इदोऽय् स्यात् सौ पुंसि। सोर्लोपः। अयम्। त्यदाद्यत्वे-

प०वि०-इदः ६।१।। अय् १।१।। पुंसि ७।१।। **अनु०**-इदमः, सौ।

अर्थ-पुल्लिँङ्ग में 'सु' परे रहते 'इदम्' के 'इद्' भाग को 'अय्' आदेश होता है।

अयम्	(यह)
इदम् सु	त्यदादिगण में पठित होने के कारण 'इदम्' को 'त्यदादीनामः' से अकारादेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'इदमो मः' से 'सु' परे रहते इदम् के 'म्' को मकारादेश हुआ। 'इदोऽय् पुंसि' से पुल्लिग में 'सु' परे रहते 'इद्' भाग को 'अय्' आदेश हुआ
अय् अम् सु	अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर
अयम्	रूप सिद्ध होता है।

२७४. अतो गुणे ६।१।९७

अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः।

प०वि०-अतः ५।१।। गुणे ७।१।। **अनु०**-अपदान्तात्, एकः, पूर्वपरयोः, पररूपम्।

अर्थ–अपदान्त ह्रस्व अकार से गुण (अ, ए, ओ) परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

२७५. दश्च ७।२।१०९

इदमो दस्य मः स्याद् विभक्तौ। इमौ, इमे। त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः।

प०वि०–दः ६।१।। च अ०।। **अनु०**–इदमः, मः, विभक्तौ।

अर्थ–विभक्ति परे रहते 'इदम्' के दकार को मकारादेश होता है।

इमौ (ये दो)

इदम् औ — प्रथमा-द्विवचन में 'औ' आने पर 'त्यदादीनामः' से मकार के स्थान पर अकारादेश हुआ

इद अ औ — 'अतो गुणे' से अपदान्त ह्रस्व अकार से उत्तर गुण पर रहते पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एकादेश हुआ

इद औ — 'दश्च' से विभक्ति परे रहते 'इदम्' के दकार को मकारादेश हुआ

इम औ — 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त था, जिसका 'नादिचि' से निषेध होने पर 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश होकर

इमौ — रूप सिद्ध होता है।

इमे–'इदम्+जस्' में सभी कार्य 'इमौ' के समान होकर 'इम + जस्' इस स्थिति में 'सर्वादीनि सर्वनामानि' से 'इम' की 'सर्वनाम' संज्ञा होने पर 'जसः शी' से 'जस्' को 'शी' आदेश तथा 'आद् गुणः' से गुण होकर 'इमे' रूप सिद्ध होता है।

त्यदादि शब्दों में सम्बोधन नहीं होता, इसीलिए उसके रूप नहीं दिखाए जाते।

२७६. अनाऽऽप्यकः ७।२।११२

अककारस्येदम इदोऽन् आपि विभक्तौ। आब् इति प्रत्याहारः। अनेन।

प०वि०–अन १।१।। आपि ७।१।। अकः ६।१।। **अनु०**–इदमः, इदः, विभक्तौ।

अर्थ–'आप्' अर्थात् तृतीया-एकवचन 'टा' से लेकर 'सुप्' पर्यन्त प्रत्यय परे रहते ककार रहित 'इदम्' शब्द के अवयव 'इद्' के स्थान में 'अन्' आदेश होता है।

सूत्र में 'आप्' से प्रत्याहार का ग्रहण है जो 'टा' के 'आ' से लेकर 'सुप्' के 'प्' तक बनता है।

अनेन (इसके द्वारा)

इदम् टा — तृतीया-एकवचन में 'टा' आने पर 'त्यदादीनामः से 'इदम्' के 'म्' को अकारादेश होकर 'अतो गुणे' से पररूप हुआ

इद टा — 'अनाप्यकः' से 'टा' परे रहते ककार रहित 'इदम्' के 'इद्' भाग को 'अन्' आदेश हुआ

अन् अ टा — 'टाङसिङसामिनात्स्याः' से 'टा' को 'इन' आदेश हुआ

अन इन — 'आद् गुणः' से गुण 'ए' एकादेश होकर

अनेन — रूप सिद्ध होता है।

२७७. हलि लोपः ७।२।२३

(प०)–अककारस्येदम इदो लोप आपि हलादौ। (प०) नाऽनर्थकेऽलोन्त्य-विधिरनभ्यासविकारे।

प०वि०–हलि ७।१। लोपः १।१।। **अनु०**–आपि, विभक्तौ, अकः, इदमः, इदः।

अर्थ–हलादि 'आप्' अर्थात् तृतीयादि हलादि विभक्ति परे रहते ककार रहित 'इदम्' के 'इद्' भाग का लोप होता है।

नाऽनर्थकेऽलो०–अर्थ०–अभ्यास के विकार को छोड़कर अनर्थक (वर्ण–समुदाय) में 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

२७८. आद्यन्तवदेकस्मिन् १।१।२१

एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव स्यात्। 'सुपि च' इति दीर्घः–आभ्याम्।

प०वि०–आद्यन्तवत् अ०।। एकस्मिन् ७।१।।

'आदि' और 'अन्त' शब्द सापेक्ष शब्द हैं क्योंकि पर की अपेक्षा से 'आदि' तथा पूर्व की अपेक्षा से 'अन्त' शब्द का व्यवहार होता है। इसीलिए ऐसा शब्द जिसके पूर्व में अथवा पर में कुछ नहीं है, उसमें 'आदि' और 'अन्त' शब्द का व्यवहार नहीं हो सकता था। प्रस्तुत परिभाषा 'आद्यन्तवदे०' इसी प्रकार के स्थलों में 'आदि' और 'अन्त' का व्यवहार हो सके इसका विधान करती है।

अर्थ–एक में ही आदि और अन्त को विधीयमान कार्य हो जाते हैं।

आभ्याम्	(इन दो के द्वारा)
इदम् भ्याम्	तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी विभक्ति के द्विवचन में 'भ्याम्' आने पर 'त्यदादीनामः' से मकार के स्थान में अकारादेश हुआ
इद अ भ्याम्	'अतो गुणे' से अपदान्त ह्रस्व अकार से उत्तर गुण परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एकादेश हुआ
इद भ्याम्	'हलि लोपः' से तृतीया–आदि हलादि विभक्ति 'भ्याम्' परे रहते 'इदम्' के 'इद्' भाग का लोप प्राप्त हुआ। 'अलोऽन्त्यस्य' से 'इद्' के अन्तिम 'अल्' दकार का लोप होने लगा, तब 'नाऽनर्थकेऽलोन्त्यविधिः' से अभ्यास विकार को छोड़कर अनर्थक समुदाय 'इद्' में 'अलोऽन्त्यस्य' का निषेध हो गया, इसीलिए सम्पूर्ण 'इद्' का लोप हुआ
अ भ्याम्	'सुपि च' से यञादि 'सुप्' परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है। प्रस्तुत स्थिति में 'अ' को अजन्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'अन्त' तो किसी आदि की अपेक्षा से हो सकता है। इसीलिए 'आद्यन्तवदे०' से आचार्य ने एक में ही आदि और अन्त के समान

व्यवहार करने का विधान कर दिया। इस प्रकार 'अ' को अजन्त मानकर दीर्घ होने पर

आभ्याम् रूप सिद्ध होता है।

२७९ नेदमदसोरकोः ७।१।११

अककारयोरिदसोर्भिस ऐस् न। एभि। अस्मै एभ्यः २। अस्मात् अस्य।

प० वि०– न अ०।। इदमदसोः ६।२।। अकोः ६।२।। अनु०– भिसः, ऐस्।

अर्थ– ककार रहित 'इदम्' और 'अदस्' सम्बन्धी 'भिस्' के स्थान पर ऐस् आदेश नहीं होता।

यह सूत्र 'अतो भिस् ऐस् का अपवाद है।

एभिः

इदम् भिस्	तृतीया.–बहुवचन में 'भिस्' आने पर 'त्यादादीनामः' में मकार को अत्व और 'अतो गुणे' से पररूप ऐकादेश हुआ
इद भिस्	'हलि लोपः' से तृतीयादि हलादि विभक्ति 'भिस्' पर रहते 'इद' भाग को लोप हुआ
अ भिस्	'अतो भिस् ऐस्' से अदन्त से उत्तर 'भिस्' को 'ऐसे' आदेश प्राप्त था। परन्तु 'नेदमदसोरकोः' से ककार रहित 'इदम्' से उत्तर 'भिस्' के साथ में 'ऐस्' आदेश का निषेध हो गया। 'बहवचने झल्येत्' से बहुवचन झलादि 'सुप्' परे रहते अकार के साथ में एकार आदेश हुआ।
ए भिस्	'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर
एभिः	रूप सिद्ध होता है।

अस्मै, अस्मात्, अस्य और **अस्मिन्** में सर्वनाम संज्ञक 'इदम्' से उत्तर क्रमशः 'ङे', 'ङसि', 'ङस्' और 'ङि' के स्थान में क्रमशः 'स्मै', 'स्मात्', 'स्य' और 'स्मिन्' आदेश होने पर 'त्यदादीनामः' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'हलि लोपः' से 'इद्' भाग का लोप आदि कार्य होकर **अस्मै, अस्मात्, अस्य** और **अस्मिन्** रूप सिद्ध होते हैं।

अनयोः

इदम् ओस्	षष्ठी और सप्तमी–द्विवचन में 'ओस' अनाऽऽप्यकः' से तृतीयादि विभक्ति परे रहते 'इदम्' के 'इद्' भाग को 'अन्' आदेश हुआ
अन् अ ओस्	'ओसि च' से 'ओस्' परे रहते अकारान्त अङ्ग को एकार आदेश हुआ
अन् ए ओस्	'एचोऽयवायावः' से 'ए' के स्थान में अयादेश, सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर
अनयोः	रूप सिद्ध होता है।

एभ्यः, एषाम् और **एषु** की सिद्धि–प्रक्रिया 'एभिः' के समान जानें।

२८०. द्वितीयाटौस्स्वेनः २।४।२४

इदमेतदोरन्वादेशे। किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः। यथा-अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापय। अनयोः पवित्रं कुलं, एनयोः प्रभूतं स्वम्-इति। एनम्, एनौ, एनान्। एनेन। एनयोः २। राजा।

प०वि०—द्वितीयाटौस्सु ७।३। एनः १।१।। **अनु०**—एतदः, इदमः, अन्वादेशे, अनुदात्तः।

अर्थ—द्वितीया विभक्ति अर्थात् 'अम्', 'औट्', 'शस्'; 'टा' और 'ओस्' विभक्ति परे होने पर अन्वादेश में 'इदम्' तथा 'एतद्' शब्द को 'एन' आदेश होता है।

'एन' आदेश अनेकाल होने के कारण 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण 'इदम्' और 'एतद्' के स्थान पर होता है।

अन्वादेश—किसी कार्य के विधान के लिए जिसका ग्रहण किया गया हो उसका अन्य कार्य विधान के लिए पुनः ग्रहण करना 'अन्वादेश' कहलाता है। यथा—'अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापय' (इसने व्याकरण पढ़ा है, इसे वेद पढ़ाइये) 'अनयोः पवित्रं कुलम् एनयोः प्रभूतं स्वम्-इति'। (इन दोनों का पवित्र कुल है, इन दोनों के पास बहुत धन है)। यहाँ जिसे प्रथम वाक्य में **अधीतव्याकरण** कहा गया है, उसे ही 'छन्द' पढाने के लिए कहा गया है, यही 'अन्वादेश' कहलाता है।

एनम्

इदम् अम्	द्वितीया-एकवचन में 'अम्' आने पर 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' से अन्वादेश में द्वितीया (अम्) परे रहते 'इदम्' को 'एन' आदेश हुआ
एन अम्	'अमि पूर्वः' से 'अक्' से उत्तर 'अम्' सम्बन्धी 'अच्' परे रहते पूर्वरूप एकादेश होकर
एनम्	रूप सिद्ध होता है।

एनौ, एनान्, एनेन और एनयोः में 'इदम्' या 'एतद्' शब्द से क्रमशः 'औट्', 'शस्', 'टा' तथा 'ओस्' परे रहते 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' से 'इदम्' और 'एतद्' को 'एन' आदेश होने पर अन्य सभी कार्य अकारान्त शब्दों के समान जानें।

राजा	(राजा)
राजन् सु	प्रथमा-एकवचन में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप, 'सर्वनामस्थाने चा०' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते नान्त की उपधा को दीर्घ हुआ
राजान् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप तथा 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप होकर
राजा	रूप सिद्ध होता है।

२८१. न ङि सम्बुद्ध्योः ८।२।८

नस्य लोपो न ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन्!

(वा०) ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः। ब्रह्मनिष्ठः। राजानौ, राजानः। राज्ञः।

प०वि०—न अ० ।। ङिसम्बुद्ध्योः ७।२।। **अनु०**—नः, लोपः।

अर्थ—यदि 'ङि' अथवा सम्बुद्धि (सम्बोधन का एकवचन) परे हो तो नकार का लोप नहीं होता।

यह सूत्र 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' का अपवाद है।

हे राजन्—'राजन्+सु' यहाँ 'सु' के सकार का 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से लोप होने पर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप प्राप्त होता है, परन्तु सम्बोधन के एकवचन में 'सु' की 'एकवचनं सम्बुद्धिः' से 'सम्बुद्धि' संज्ञा होती है इसलिए जिसका (नकार-लोप का) 'न ङिसम्बुद्ध्योः' से 'सम्बुद्धि' परे रहते निषेध होकर 'हे राजन्' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः—अर्थ—उत्तरपद परे है जिसके, ऐसा 'ङि' परे होने पर 'न ङिसम्बुद्ध्योः' सूत्र से प्राप्त होने वाले नकार के लोप के निषेध का निषेध कहना चाहिए।

आशय यह है कि–इस स्थिति में 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप हो ही जाता है।

ब्रह्मनिष्ठः—(ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सः) 'ब्रह्मन् ङि निष्ठा सु' में 'अनेकमन्यपदार्थे' से समास तथा 'सुपो धातुप्रा०' से विभक्ति का लुक् होने पर 'न ङिसम्बुद्ध्योः' से 'ङि' परे रहते नकार-लोप का निषेध प्राप्त हुआ, जिसका 'ङावुत्तरपदे०' वार्तिक से उत्तरपदपरक 'ङि' परे रहते निषेध होने पर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार लोप होकर 'ब्रह्मनिष्ठा' रूप बनने पर 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से ह्रस्व होकर 'सु' विभक्ति आने पर 'ब्रह्मनिष्ठः' रूप सिद्ध होता है।

राजानौ, राजानः—'राजन्' शब्द से 'औ' और 'जस्' परे रहते 'सर्वनामस्थाने०' से नान्त की उपधा को दीर्घादि कार्य होकर 'राजानौ' और 'राजानः' रूप सिद्ध होते हैं।

राज्ञः

राजन् शस्	द्वितीया-बहुवचन में 'शस्' आने पर अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से अजादि प्रत्यय परे रहते 'राजन्' की भसंज्ञा, 'अल्लोपोऽनः' से अन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग के ह्रस्व अकार का लोप हुआ
राज्न् अस्	'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व अर्थात् 'न्' को 'ञ्' हुआ
राज्ञ् अस्	'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर
राज्ञः	रूप सिद्ध होता है।

२८२. नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति ८।२।२

सुब्विधौ स्वरविधौ सञ्ज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्र 'राजाश्वः' इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वाद्-आत्वम्, एत्वम्, ऐस्त्वं च न। राजभ्याम्, राजभिः, राजभ्यः २। राजनि, राज्ञि। राजसु।

यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः।

प०वि०—नलोपः १।१।। सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु ७।३।। कृति ७।१।। **अनु०**—असिद्धः।

अर्थ—सुप्-सम्बन्धी विधि, स्वरविधि, संज्ञाविधि तथा 'कृत्' प्रत्यय परे रहते तुग्विधि के विषय में ही नकार का लोप असिद्ध रहता है। अन्यत्र (इन विधियों के अतिरिक्त विधियों में) असिद्ध नहीं होता।

राजभ्याम्, राजभिः, राजभ्यः—'राज+भ्याम्/भिस्/भ्यस्' यहाँ 'न लोपः प्रातिपदिका०' से होने वाला नकार का लोप त्रिपादी का कार्य होने से, 'सुपि च' तथा 'बहुवचने झल्येत्' की दृष्टि में 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' से स्वतः ही असिद्ध था, पुनः 'न लोपः सुप्स्वर०' इत्यादि सूत्र से सुप् विधि तथा स्वरादि विधियों में नकार लोप के असिद्धत्व का विधान करके आचार्य नियम बनाना चाहते हैं कि नकार का लोप इन्हीं विधियों में असिद्ध रहता है, अन्य विधियों में नहीं।[1] इस प्रकार सुप्-विधि ('सुप्' परे रहते दीर्घ और एत्व विधि) में नकार-लोप असिद्ध हो जाने से अकारान्त अङ्ग नहीं मिलता इसलिए दीर्घ तथा एत्व आदि कार्य भी नहीं होते।

राज्ञि, राजनि—'राजन्+ङि (इ)' यहाँ 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'अल्लोपोऽनः' से अन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग के ह्रस्व अकार का नित्य लोप प्राप्त हुआ, जिसे बाधकर 'विभाषा ङिश्योः' से 'ङि' परे रहते विकल्प से अकार-लोप हुआ। अकार-लोप होने पर 'स्तोः श्चुना०' से 'न्' को 'ञ्' होकर 'राज्ञि' और अकार-लोप न होने पर 'राजनि' रूप सिद्ध होते हैं।

यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः की सिद्धि-प्रक्रिया 'राजा', 'राजानौ', 'राजानः' (२८०, २८१) के समान जानें।

२८३. न संयोगाद् वमन्तात् ६।४।१३७

वमन्तसंयोगाद् अनोऽकारस्य लोपो न। यज्वनः। यज्वना। यज्वभ्याम्। ब्रह्मणः। ब्रह्मणा।

प०वि०—न अ०।। संयोगात् ५।१।। वमन्तात् ५।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, भस्य, अल्लोपः, अनः।

अर्थ—वकारान्त और मकारान्त संयोग से उत्तर 'अन्' अन्त वाले भसंज्ञक के अकार का लोप नहीं होता।

---

१. सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः।

यज्वनः	(यजमानों को)
यज्वन् शस्	द्वितीया-बहुवचन में 'शस्' आने पर अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से अजादि प्रत्यय परे रहते 'यज्वन्' की भसंज्ञा होने पर 'अल्लोपोऽनः' से अन्नन्त 'भ' संज्ञक के अकार का लोप प्राप्त हुआ, जिसका 'न संयोगाद् वमन्तात्' से वकारान्त संयोग से उत्तर 'अन्' के अकार के लोप का निषेध हो गया
यज्वनस्	'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर
यज्वनः	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **यज्वना**–'यज्वन्+आ (टा)' में भी 'न संयोगाद्०' से अकार के लोप का निषेध होता है। **यज्वभ्याम्** –'यज्वन्+भ्याम्' यहाँ 'न लोपः प्रति०' से नकार का लोप होने पर 'सुपि च' से दीर्घ प्राप्त था, 'न लोपः सुप्स्वरसंज्ञा०' से सुप्-विधि (सुप् परे रहते दीर्घ विधि) में से नकार-लोप असिद्ध होने के कारण अजन्त अङ्ग नहीं मिलता तथा 'सुपि च' से दीर्घ भी नहीं होता।

ब्रह्मणः, ब्रह्मणा–'ब्रह्मन्+शस्' एवं 'ब्रह्मन्+टा' में 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'अल्लोपोऽनः' से अकार-लोप प्राप्त हुआ, 'न संयोगाद्०' से मकारान्त संयोग से उत्तर 'अन्' के अकार के लोप का निषेध होकर, 'यज्वनः' और 'यज्वना' के समान, 'ब्रह्मणः' और 'ब्रह्मणा' रूप सिद्ध होते हैं।

२८४. इन्-हन्-पूषार्यम्णां शौ ६।४।१२

एषां शावेवोपधाया दीर्घो नाऽन्यत्र। इति निषेधे प्राप्ते–

प०वि०–इन्-हन्-पूषार्यम्णाम् ६।३।। शौ ७।१।। **अनु०**–दीर्घः, उपधायाः, अङ्गस्य।

अर्थ–'इन्' प्रत्ययान्त, 'हन्', 'पूषन्' तथा 'अर्यमन्' अङ्गों की 'उपधा' को 'शि' परे रहते ही दीर्घ होता है।

यह नियम सूत्र है। 'शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने के कारण 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से 'शि' परे रहते उपधा दीर्घ-सिद्ध ही है। अतः 'शि' परे रहते पुनः प्रकृत सूत्र से उपधा को दीर्घ-विधान नियम करता है कि 'इन्-हन्०' आदि अङ्गों की उपधा को यदि दीर्घ हो तो केवल 'शि' परे रहते ही हो, अन्यत्र नहीं।

२८५. सौ च ६।४।१३

इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सौ। वृत्रहा। हे वृत्रहन्!

प०वि०–सौ ७।१।। च अ०।। **अनु०**–इन्हन्पूषार्यम्णाम्, दीर्घः, उपधायाः, असम्बुद्धौ, अङ्गस्य।

अर्थ–सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते इन्नन्त अङ्ग, 'हन्', 'पूषन्' तथा 'अर्यमन्' अङ्गों की उपधा को दीर्घ होता है।

वृत्रहन्–'वृत्र' उपपद में रहते 'हन्' धातु से 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' से क्विप्' प्रत्यय, उसका सर्वापहारी लोप और 'उपपदमतिङ्' से समास होकर 'वृत्रहन्' प्रातिपदिक बनता है।

वृत्रहा	(वृत्रं हतवान् इति)
वृत्रहन् सु	प्रथमा-एकवचन में 'सु' की 'सुडनपुंसकस्य' से 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से नान्त की उपधा को दीर्घ प्राप्त था जिसका 'इन्हन्पूषा०' नियम से निषेध हो गया। इसलिए 'सौ च' से 'हन्' अङ्ग की उपधा को सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते दीर्घ हुआ
वृत्र हान् सु	अनुबन्ध लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप तथा 'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप होकर
वृत्रहा	सिद्ध होता है।

हे वृत्रहन्–'सम्बुद्धि' संज्ञक 'सु' परे रहते उपधा को दीर्घ न होने के कारण 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार लोप होने पर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार-लोप प्राप्त हुआ, 'न ङिसम्बुद्ध्योः' से सम्बुद्धि परे रहते नकार के लोप का निषेध होकर 'हे वृत्रहन्' सिद्ध होता है।

२८६. एकाजुत्तरपदे णः ८।४।१२

एकाज् उत्तरपदं यस्य, तस्मिन् समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य णः। वृत्रहणौ।

प०वि०–एकाजुत्तरपदे ७।१।। णः १।१।। **अनु०**–रषाभ्याम्, नः, पूर्वपदात्, प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु, च।

अर्थ–एक 'अच्' उत्तरपद में है जिसके, ऐसा जो समास, उसके पूर्वपद में विद्यमान रेफ और षकार से उत्तर प्रातिपदिक के अन्तिम नकार, 'नुम्' के नकार तथा विभक्ति में स्थित नकार को णकार आदेश होता है।

वृत्रहणौ

वृत्रहन् औ	यहाँ समास में दो स्वतन्त्र पद होने के कारण समान पद के अभाव में 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व प्राप्त नहीं था, इसीलिए 'एकाजुत्तरपदे णः' से एकाच् उत्तरपद वाले समास में पूर्वपद 'वृत्र' में विद्यमान रेफ से परे 'हन्' प्रातिपदिक के अन्तिम नकार को णकार होकर
वृत्रहणौ	रूप सिद्ध होता है।

२८७. हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७।३।५४

ञिति णिति प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्त्वम्। वृत्रघ्नः। इत्यादि। एवम्-शार्ङ्गिन्, यशस्विन्, अर्यमन्, पूषन्।

प०वि०—हः ६।१।। हन्तेः ६।१।। ञ्णिन्नेषु ७।३।। **अनु०**—कुः, अङ्गस्य।

अर्थ—ञित्, णित् प्रत्यय और नकार परे रहते अङ्गसंज्ञक 'हन्' धातु के 'ह्' को कवर्गादेश (घ्) होता है।

वृत्रघ्नः

वृत्रहन् शस्	द्वितीया-बहुवचन में 'शस्' आने पर अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से भसंज्ञा होने से 'अल्लोपोऽनः' से भसंज्ञक अन्नन्त अङ्ग के 'अ' का लोप हुआ
वृत्रह्न् अस्	'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' से नकार परे रहते 'ह्' को कवर्गादेश, 'स्थानेऽन्तरतमः' से संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण हकार के स्थान में संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण घकारादेश हुआ
वृत्रघ्न् अस्	सकार के स्थान में रुत्व तथा विसर्ग होकर
वृत्रघ्नः	रूप सिद्ध होता है।

'शार्ङ्गिन्' (इन्नन्त), 'यशस्विन्' (इन्नन्त), 'अर्यमन्' और 'पूषन्' आदि शब्दों के रूप इसी तरह समझे जायें।

२८८. मघवा बहुलम् ६।४।१२८

'मघवन्' शब्दस्य वा तृ इत्यन्तादेशः। ऋ इत्।

प०वि०—मघवा[1] १।१।। बहुलम् १।१।। **अनु०**—तृ, अङ्गस्य।

अर्थ—'मघवन्' अङ्ग को बहुल करके (विकल्प से) 'तृ' आदेश होता है।

'तृ' में ऋकार इत्संज्ञक अर्थात् अनुनासिक है। इसलिए 'अलोऽन्त्यस्य' से 'न्' के स्थान में 'त्' आदेश होता है।

२८९. उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७।१।७०

अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे। मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः। हे मघवन्। मघवद्भ्याम्। तृत्वाभावे-मघवा। सुटि राजवत्।

प०वि०—उगिदचाम् ६।३।। सर्वनामस्थाने ७।१।। अधातोः ६।१।। **अनु०**—नुम्, अङ्गस्य।

अर्थ—'सर्वनामस्थान' (सु, औ, जस्, अम्, औट्) परे रहते धातु-भिन्न 'उगित्' (जिसमें 'उ', 'ऋ' या 'लृ' इत् संज्ञक हो) को और न-लोपी (जिसके नकार का लोप हुआ है ऐसी) 'अञ्चु' धातु को 'नुम्' आगम होता है।

---

१. यहाँ षष्ठ्यर्थ में प्रथमा का प्रयोग किया गया है।

मघवान्	(इन्द्र)
मघवन् सु	'मघवा बहुलम्' से 'मघवन्' अङ्ग के अन्तिम 'अल्' नकार को 'तृ' आदेश हुआ
मघवतृ सु	'ऋ' की 'उपदेशेऽज०' से इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से उसका लोप हुआ
मघवत् सु	'सुडनपुंसकस्य' से 'सु' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने के कारण 'उगिदचां सर्वनाम०' से उगित् अङ्ग को सर्वनामस्थान परे रहते 'नुम्' आगम हुआ। 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से अन्तिम अच् से परे 'नुम्' हुआ
मघव नुम् त् सु	अनुबन्ध-लोप
मघवन्त् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से हलन्त से उत्तर 'सु' के 'अपृक्त' संज्ञक 'स्' का लोप, 'संयोगान्तस्य लोपः' से तकार का लोप तथा 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'सु' को निमित्त मानकर 'सर्वनामस्थाने०' से नकारान्त की उपधा को दीर्घ होकर
मघवान्	रूप सिद्ध होता है।

'मघवन्तौ', **'मघवन्तः'** और **'हे मघवन्!'** में सभी जगह 'मघवा बहुलम्' से 'मघवन्' को 'तृ' आदेश तथा 'उगिदचां सर्वनाम०' से नुमादि कार्य होते हैं।

मघवद्भ्याम्–'मघवन्+भ्याम्' यहाँ 'मघवा बहुलम्' से 'तृ' अन्तादेश, 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा और 'झलां जशोऽन्ते' से 'त्' का 'द्' होकर 'मघवद्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

जब 'मघवन्' शब्द को 'मघवा बहुलम्' से 'तृ' आदेश नहीं होगा तो उसके रूप 'सुट्' (सु, औ, जस्, अम्, औट्) परे रहते 'राजन्' के समान जानने चाहिए।

२९०. श्वयुमघोनामतद्धिते ६।४।१३३

अन्नन्तानां भानामेषामतद्धिते संप्रसारणम्। मघोनः। मघवभ्याम्। एवं– श्वन्, युवन्।

प०वि०–श्वयुमघोनाम् ६।३।। अतद्धिते ७।१।। **अनु०**–अनः, भस्य, सम्प्रसारणम्, अङ्गस्य।

अर्थ–'श्वन्', 'युवन्' और 'मघवन्' अन्नन्त भसंज्ञक अङ्गों को तद्धित-भिन्न प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण होता है

मघोनः

मघवन् शस्	द्वितीया-बहुवचन में 'शस्', अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से भसंज्ञा, 'श्वयुमघोनामद्धिते' से अन्नन्त 'भ' संज्ञक अङ्ग 'मघवन्' को 'सम्प्रसारण' हुआ। 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से 'यण्' (व्) के स्थान में 'इक्' (उ) सम्प्रसारण हुआ

मघ उ अन् अस्	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण (उ) से 'अच्' (अ) परे रहते सम्प्रसारण और 'अच्' को पूर्वरूप एकादेश हुआ
मघउ न् अस्	'आद् गुणः' से गुण, सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर
मघोनः	रूप सिद्ध होता है।

मघवभ्याम्–'मघवन्+भ्याम्' जब 'मघवा बहुलम्' से 'तृ' अन्तादेश नहीं होगा तब 'स्वादिष्वसर्व०' से पदसंज्ञा 'न लोपः प्रातिपदिका०' से नकार-लोप होने पर 'सुपि च' से दीर्घ प्राप्त था, जो 'न लोपः सुप्स्वर०' से सुप् परे रहते दीर्घ विधि में नकार-लोप के असिद्ध होने पर नहीं होता। इस प्रकार 'मघवभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'श्वन्' और 'युवन्' शब्दों के रूप भी जानें।

२९१. न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ६।१।३७

सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात्। इति यकारस्य नेत्वम्। अत एव ज्ञापकाद् अन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम्। यूनः। यूना। युवभ्याम् इत्यादि।

प०वि०–न अ०।। सम्प्रसारणे ७।१।। सम्प्रसारणम् १।१।।

अर्थ–संप्रसारण परे रहते पूर्व 'यण्' को सम्प्रसारण नहीं होता।

विशेष–सम्प्रसारण परे रहते पूर्व 'यण्' को सम्प्रसारण का निषेध करने से यह ज्ञापित होता है कि 'युवन्' आदि पदों में जहाँ अनेक 'यण्' होते हैं वहाँ बाद वाले 'यण्' को पहले सम्प्रसारण होता है तत्पश्चात् पूर्व 'यण्' को।

यूनः	(युवाओं को)
युवन् शस्	द्वितीया-बहुवचन में 'शस्', अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से भसंज्ञा होने पर 'श्वयुमघोना०' से अन्नन्त भसंज्ञक 'युवन्' के वकार को सम्प्रसारण हुआ, 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से वकार के स्थान में उकार सम्प्रसारण हुआ
यु उ अन् अस्	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण से उत्तर 'अच्' परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर पूर्वरूप 'उ' एकादेश हुआ
यु उ न् अस्	'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ
यू न् अस्	यहाँ पुनः 'श्वयुमघोना०' से यकार को सम्प्रसारण प्राप्त था, जिसका 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' से निषेध हो गया तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
यूनः	रूप सिद्ध होता है।

यूना–इसी प्रकार तृतीया-एकवचन में 'टा' आने पर 'यूना' की सिद्धि भी जाननी चाहिए।

युवभ्याम्–'युवन्+भ्याम्' में भसंज्ञा न होने के कारण सम्प्रसारण नहीं होता तथा 'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप होकर 'युवभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

२९२. अर्वणस्त्रसावनञः ६।४।१२७

नञा रहितस्य 'अर्वन्' इत्यस्याङ्गस्य 'तृ' इत्यन्तादेशो न तु सौ। अर्वन्तौ। अर्वन्तः। अर्वद्भ्याम् इत्यादि।

प०वि०—अर्वण: ६।१।। तृ १।१।। असौ ७।१।। अनञ: ६।१।। **अनु०**—अङ्गस्य।

अर्थ—नञ् रहित 'अर्वन्' अङ्ग को 'तृ' अन्तादेश होता है, किन्तु 'सु' परे रहते नहीं होता।

अर्वन्तौ	(दो घोड़े)
अर्वन् औ	प्रथमा-द्विवचन में 'औ' आने पर 'अर्वन्' की 'अङ्ग' संज्ञा होने से 'अर्वणस्त्रसावनञ:' से नञ्रहित 'अर्वन्' अङ्ग को 'तृ' अन्तादेश हुआ
अर्वतृ औ	'उपदेशेऽज०' से 'ऋ' की इत्संज्ञा होने पर 'तस्य लोप:' से 'ऋ' का लोप हुआ
अर्वत् औ	'सुडनपुंसकस्य' से 'औ' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'उगिदचां सर्वनाम०' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते उगिदन्त को 'नुम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्०' से अन्तिम 'अच्' से परे हुआ
अर्व नुम् त् औ	अनुबन्ध-लोप
अर्व न् त् औ	'नश्चापदान्तस्य झलि' से 'झल्' (त्) परे रहते अपदान्त नकार को अनुस्वार आदेश हुआ
अर्वंत् औ	'अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण:' से 'यय्' (तकार) परे रहते अनुस्वार को परसवर्ण आदेश 'न्' होकर
अर्वन्तौ	रूप सिद्ध होता है।

अर्वन्तः—'अर्वन्' से 'जस्' आने पर 'अवर्णस्त्रसावनञ:' से 'तृ' अन्तादेश, 'उगिदचां सर्व०' से 'नुम्' आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'अर्वन्त:' सिद्ध होता है।

अर्वद्भ्याम्—'अर्वन्+भ्याम्' पूर्ववत् 'अर्वणस्त्रसावनञ:' से 'अर्वन्' अङ्ग को 'तृ' अन्तादेश होने पर 'झलां जशोऽन्ते' से 'त्' को 'द्' होकर 'अर्वद्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

२९३. पथिमथ्यृभुक्षामात् ७।१।८५

एषामाकारोऽन्तादेशः सौ परे।

प०वि०—पथिमथ्यृभुक्षाम् ६।३।। आत् १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, सौ।

अनु०—'सु' विभक्ति परे रहते 'पथिन्', 'मथिन्' और 'ऋभुक्षिन्' अङ्ग को आकार अन्तादेश होता है।

२९४. इतोऽत् सर्वनामस्थाने ७।१।८६

पथ्यादेरिकारस्य अकारः स्यात् सर्वनामस्थाने परे।

प०वि०–इतः ६।१।। अत् १।१।। सर्वनामस्थाने ७।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, पथिमथ्यृभुक्षाम्।

अर्थ–'सर्वनामस्थान' (सु, औ, जस्, अम्, औट्) परे रहते 'पथिन्', 'मथिन्' और 'ऋभुक्षिन्' अङ्गों के ह्रस्व इकार को ह्रस्व अकार आदेश होता है।

२९५. थोन्थः ७।१।८७

पथिमथोस्थस्य न्थाऽऽदेशः सर्वनामस्थाने। पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः।

प०वि०–थः ६।१।। न्थः १।१।। **अनु०**–पथिमथोः[1], सर्वनामस्थाने।

अर्थ–'सर्वनामस्थान' परे रहते 'पथिन्' और 'मथिन्' के 'थ्' को 'न्थ्' आदेश होता है।

पन्थाः	(रास्ता)
पथिन् सु	प्रथमा-एकवचन में 'सु' आने पर 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' से 'सु' विभक्ति परे रहते 'पथिन्' को आकार अन्तादेश हुआ
पथि आ सु	'सुडनपुंसकस्य' से 'सु' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से सर्वनामस्थान 'सु' परे रहते 'पथिन्' के ह्रस्व इकार के स्थान पर ह्रस्व अकार आदेश हुआ
पथ् अ आ सु	'थोन्थः' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते 'पथिन्' के 'थ्' को 'न्थ्' आदेश हुआ
पन्थ् अ आ सु	अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हुआ
पन्था स्	सकार को रुत्व तथा विसर्गादेश होकर
पन्थाः	रूप सिद्ध होता है।

पन्थानौ, पन्थानः– 'पथिन्' शब्द से 'औ' और 'जस्' (सर्वनामस्थान) परे रहते 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' से 'न्' को 'आ' आदेश, 'इतोऽत्सर्व०' से 'पथिन्' के इकार को अकार आदेश तथा 'थोन्थः' से 'थ्' को 'न्थ्' आदेश होकर क्रमशः 'पन्थानौ' और 'पन्थानः' रूप सिद्ध होते हैं।

२९६. भस्य टेर्लोपः ७।१।८८

भस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः। पथः। पथा। पथिभ्याम्। एवं–मथिन्। ऋभुक्षिन्।

प०वि०–भस्य ६।१।। टेः ६।१।। लोपः १।१।। **अनु०**–पथिमथ्यृभुक्षाम्, अङ्गस्य।

अर्थ–भसंज्ञक 'पथिन्', 'मथिन्' और 'ऋभुक्षिन्' अङ्गों के 'टि' भाग का लोप होता है।

पथः	
पथिन् शस्	द्वितीया-बहुवचन में 'शस्', अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से अजादि

१. 'ऋभुक्षन्' शब्द में थकार न होने के कारण उसकी अनुवृत्ति नहीं आती।

	प्रत्यय परे रहते 'पथिन्' की भसंज्ञा हुई तथा 'भस्य टेर्लोपः' से भसंज्ञक 'पथिन्' अङ्ग के 'टि' भाग (इन्) का लोप हुआ
पथ् अस्	सकार को रुत्व तथा विसर्गादेश होकर
पथः	रूप सिद्ध होता है।

पथा–'पथिन+टा' यहाँ भी 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा और 'भस्य टेर्लोपः' से 'टि' भाग (इन्) का लोप होकर 'पथा' रूप सिद्ध होता है।

पथिभ्याम्–'पथिन्+भ्याम्' में भसंज्ञा न होने से 'टि' भाग भी लोप नहीं होता, अतः 'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप होकर 'पथिभ्याम्' रूप बनता है।

इसी प्रकार 'मथिन्' और 'ऋभुक्षिन्' शब्दों के रूपों की सिद्धि–प्रक्रिया भी जानें।

२९७. ष्णान्ता षट् १।१।२४

षान्ता नान्ता च संख्या षट्संज्ञा स्यात्। 'पञ्चन्' शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। पञ्च। पञ्च। पञ्चभिः। पञ्चभ्यः २। नुट्–

प०वि०–ष्णान्ता १।१।। षट् १।१।। **अनु०**–संख्या।

अर्थ–षकारान्त और नकारान्त संख्यावाची शब्दों की 'षट्' संज्ञा होती है।

पञ्च शब्द नित्य बहुवचनान्त है, इसलिए इसके सभी विभक्तियों में केवल बहुवचन में ही रूप चलते हैं।

पञ्च	(पाँच)
पञ्चन् जस्/शस्	प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में क्रमश 'जस्' और 'शस्' आने पर संख्यावाचक नकारान्त 'पञ्चन्' शब्द की 'ष्णान्ता षट्' से 'षट्' संज्ञा होने से 'षड्भ्यो लुक्' से षट्संज्ञक से उत्तर 'जस्' और 'शस्' का लुक् हुआ
पञ्चन्	प्रत्ययलक्षण से लुप्त 'जस्' और 'शस्' को निमित्त मानकर 'सुप्तिङन्तं०' से 'पद' संज्ञा होने पर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप होकर
पञ्च	रूप सिद्ध होता है।

पञ्चभिः तथा **पञ्चभ्यः** में 'पञ्चन्' शब्द से 'भिस्' तथा 'भ्यस्' विभक्ति परे रहते 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने पर 'न लोपः प्राति०' से नकार–लोप, 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व और रेफ को 'खरवसानयोः०' से विसर्ग होकर 'पञ्चभिः' और 'पञ्चभ्यः' रूप बनते हैं।

२९८. नोपधायाः ६।४।७

नान्तस्योपधाया दीर्घो नामि। पञ्चानाम्। पञ्चसु।

प०वि०–नोपधायाः ६।१।। **अनु०**–दीर्घः, नामि, अङ्गस्य।

अर्थ–'नाम्' परे रहते नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है।

पञ्चानाम्	(पाँचों का)
पञ्चन् आम्	षष्ठी-बहुवचन में 'आम्', 'ष्णान्ता षट्' से नकारान्त संख्या की 'षट्' संज्ञा तथा 'षट्चतुर्भ्यश्च' से 'षट्' संज्ञक से उत्तर 'आम्' को 'नुट्' आगम हुआ
पञ्चन् नुट् आम्	अनुबन्ध-लोप
पञ्चन् नाम्	'नोपधायाः' से 'नाम्' परे रहते नकारान्त 'पञ्चन्' की उपधा अकार को दीर्घ हुआ
पञ्चान् नाम्	'स्वादिष्वसर्व०' से 'पञ्चन्' की 'पद' संज्ञा होने पर 'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप होकर
पञ्चानाम्	रूप सिद्ध होता है।

पञ्चसु–'पञ्चन्+सुप्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने पर 'न लोपः प्राति०' से नकार-लोप होकर 'पञ्चसु' रूप सिद्ध होता है।

२९९. अष्टन आ विभक्तौ ७।२।८४

अष्टन आत्वं वा स्याद् हलादौ विभक्तौ।

प०वि०–अष्टनः ६।१।। आ १।१।। विभक्तौ ७।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, हलि।

अर्थ–हलादि विभक्ति परे रहते 'अष्टन्' अङ्ग को विकल्प से 'आ' आदेश होता है।[1]

'अलोऽन्त्यस्य' से यह आदेश अन्तिम 'अल्' के स्थान पर होता है।

३००. अष्टाभ्य औश् ७।१।२१

कृताकाराद् अष्टनः परयोर्जश्शसोरौश् स्यात्। 'अष्टभ्यः' इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति। अष्टौ। अष्टौ। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः। अष्टानाम्। अष्टासु। आत्वाभावे–अष्ट पञ्चवत्।

प०वि०–अष्टाभ्यः ५।३।। औश् १।१।। **अनु०**–जश्शसोः, अङ्गस्य।

अर्थ–आकार अन्तादेश किये हुए 'अष्टन्' अङ्ग से उत्तर 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर 'औश्' आदेश होता है।

'औश्' आदेश 'शित्' होने के कारण 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' सम्पूर्ण 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर होता है।

'अष्टभ्य' इति वक्तव्ये०–इस कथन का आशय यह है कि 'अष्टन्' शब्द को 'अष्टन आ विभक्तौ' से हलादि विभक्ति परे रहने पर ही आकार अन्तादेश होता है, अजादि विभक्तियों (जस् और शस्) में नहीं, इसलिए प्रकृत सूत्र से आकार आदेश करने के बाद 'अष्टन्' से उत्तर 'जस्' और 'शस्' को 'औस्' आदेश कैसे हो सकता है? इस

---

१. 'अष्टन्' को आकारदेश 'अष्टनो दीर्घात्' सूत्र में दीर्घग्रहण सामर्थ्य से वैकल्पिक माना जाता है।

शंका का समाधान यह है कि यदि 'अष्टन्' को आकार अन्तादेश के बिना ही 'जस्' और 'शस्' को 'ओस्' आदेश अभीष्ट होता तो 'अष्टभ्य:' निर्देश ही करते, 'अष्टाभ्य:' नहीं। इसलिए सूत्र में 'अष्टाभ्य:' निर्देश ही ज्ञापक है कि हलादि विभक्ति न होने पर भी 'जस्' और 'शस्' विभक्ति परे रहते 'अष्टन्' को आकार आदेश होता है।

अष्टौ	(आठ)
अष्टन् जस्/शस्	प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में क्रमश: 'जस्' और 'शस्' आने पर 'अष्टाभ्य औश्' निर्देश के ज्ञापक से 'जस्' और 'शस्' विभक्ति परे रहते 'अष्टन्' शब्द के 'न्' को आकारादेश हुआ
अष्ट आ जस्/शस्	'अक: सवर्णे दीर्घ:' से दीर्घ एकादेश हुआ
अष्टा जस्/शस्	'अष्टाभ्य: औश्' से, 'आ' आदेश करने पर, 'अष्टा' से परे 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर 'औश्' आदेश हुआ
अष्टा औश्	अनुबन्ध-लोप, 'प्रथमयो: पूर्व०' से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश का 'नादिचि' से निषेध होने पर 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश होकर
अष्टौ	रूप सिद्ध होता है।

अष्टाभि:, अष्टाभ्य:, अष्टासु में सर्वत्र 'अष्टन आ विभक्तौ' से आत्त्व होकर उक्त सभी रूप सिद्ध होते हैं।

अष्टानाम्–'अष्टन्' शब्द से 'आम्' परे रहते 'ष्णान्ता षट्' से षट्संज्ञा तथा 'षट्चतुर्भ्यश्च' से 'आम्' को 'नुट्' आगम होने पर 'आम्' के हलादि (नाम्) बन जाने पर 'अष्टन आ विभक्तौ' से आत्व होकर **अष्टानाम्** सिद्ध होता है।

आत्वाभाव पक्ष में 'अष्टन्' शब्द के रूप 'पञ्चन्' के समान जानें।

३०१. ऋत्विग्-दधृक्-स्रग्-दिग्-उष्णिग्-अञ्चु-युजि-क्रुञ्चां च ३।२।५९

एभ्य: क्विन् स्यात्, अञ्चे: सुप्युपपदे। युजिक्रुञ्चो: केवलयो:। क्रुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते। कनावितौ।

प०वि०–ऋत्विग्दधृक्...क्रुञ्चाम् ६।३।। च अ०।। **अनु०**–धातो:, प्रत्यय:, परश्च, क्विन्।

अर्थ–'ऋत्विज्', 'दधृष्', 'स्रज्', 'दिश्' और 'उष्णिह्' ये पाँच शब्द 'क्विन्' प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं तथा 'अञ्चु', 'युजि' और 'क्रुञ्च्' धातुओं से भी 'क्विन्' प्रत्यय होता है।

विशेष–यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'अञ्चु' धातु से सुबन्त उपपद रहते ही 'क्विन्' प्रत्यय होता है। 'युज्' और 'क्रुञ्च्' धातुओं से उपपद रहित से ही 'क्विन्' प्रत्यय किया

जाता है। 'क्रुञ्च्' धातु के नकार का लोप 'अनिदितां हल०' से प्राप्त था, जो निपातन से नहीं हुआ।

'क्विन्' प्रत्यय में नकार, ककार और इकार इत्संज्ञक हैं। वकार की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'वेरपृक्तस्य' से उसका लोप होता है।

३०२. कृदतिङ् ३।१।९३

अत्र धात्वधिकारे तिङ्-भिन्नः प्रत्ययः कृत्सञ्ज्ञः स्यात्।

प०वि०–कृत् १।१।। अतिङ् १।१।। **अनु०**–तत्र, धातोः, प्रत्ययः।

अर्थ–इस 'धातु' (३.१.९१) के अधिकार में विहित तिङ् से भिन्न प्रत्ययों की 'कृत्' संज्ञा होती है।

३०३. वेरपृक्तस्य ६।१।६७

अपृक्तस्य वस्य लोपः।

प०वि०–वेः ६।१।। अपृक्तस्य ६।१।। **अनु०**–लोपः।

अर्थ–'अपृक्त' संज्ञक 'व्' का लोप होता है।

विशेष–'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से एक अल् रूप प्रत्यय की 'अपृक्त' संज्ञा होती है।

३०४. क्विन्प्रत्ययस्य कुः ८।२।६२

क्विन् प्रत्ययो यस्मात् तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते। अस्यासिद्धत्वात् 'चोः कुः' इति कुत्वम्। ऋत्विक्, ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विग्भ्याम्।

प०वि०–क्विन्प्रत्ययस्य ६।१।। कुः १।१।। **अनु०**–पदस्य, अन्ते।

अर्थ–'क्विन्' प्रत्यय जिससे विहित है, उसे पदान्त में कवर्ग अन्तादेश होता है।

ऋत्विक्/ऋत्विग्	(पुरोहित)
ऋत्विज् सु	यहाँ 'ऋत्विज्' शब्द 'ऋतु' उपपद रहते 'यज्' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय होकर यकार को 'सम्प्रसारण' इकार, 'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप, उकार को यणादेश वकार तथा 'क्विन्' का सर्वापहारी लोप होने पर बना है। इसलिए क्विन् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से प्रथमा-एकवचन 'सु' आया, अनुबन्ध-लोप
ऋत्विज् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप हुआ
ऋत्विज्	प्रत्ययलक्षण से लुप्त 'सु' को निमित्त मानकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से 'क्विन्' प्रत्ययान्त को कवर्ग अन्तादेश, 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ज्' को 'ग्' हुआ। 'वाऽवसाने' से अवसान में 'झल्' (ग्) को विकल्प से 'चर्' (क्) होकर
ऋत्विक्/ऋत्विग्	दो रूप सिद्ध होते हैं

ऋत्विजौ–'ऋत्विज्+औ' यहाँ 'ऋत्विज्' की 'पद' संज्ञा न होने से कुत्व नहीं होता।

ऋत्विग्भ्याम्–'ऋत्विज्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से 'पद' संज्ञा होने से 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से 'क्विन्' प्रत्ययान्त को कवर्गादेश होकर 'ऋत्विग्भ्याम्' सिद्ध होता है।

३०५. युजेरसमासे ७।१।७१

युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्याद् असमासे। सुलोपः। संयोगान्तलोपः। कुत्वेन नस्य ङः-युङ्। अनुस्वारपरसवर्णौ-युञ्जौ। युजा। युग्भ्याम्।

प०वि०–युजेः ६।१।। असमासे ७।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, नुम्, सर्वनामस्थाने।

अर्थ–समास को छोड़कर 'युज्' धातु को 'सर्वनामस्थान' परे रहते 'नुम्' आगम होता है।

युज्– (युनक्तीति) 'युज्' धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' से 'क्विन्' प्रत्यय होकर उसका सर्वापहारी लोप होने पर 'युज्' कृदन्त प्रातिपदिक बनता है।

युङ्	(योगी)
युज् सु	'युजेरसमासे' से सर्वनामस्थान (सु) परे रहते 'क्विन्' प्रत्ययान्त 'युज्' को 'नुम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से अन्तिम अच् उकार से परे हुआ
यु नुम् ज् सु	अनुबन्ध-लोप
यु न्ज् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त 'ज्' का लोप हुआ
युन्	'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से क्विन् प्रत्ययान्त को पदान्त में कवर्गादेश 'न्' को 'ङ्' होकर
युङ्	रूप सिद्ध होता है।

युञ्जौ –'युज्+औ' पूर्ववत् 'युजेरसमासे' से 'नुम्' आगम, 'नश्चापदान्तस्य०' से 'न्' को अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार को परसवर्णादेश होकर 'युञ्जौ' रूप सिद्ध होता है। यहाँ पदान्त न होने के कारण कुत्व नहीं होता।

युजा--'युज्+टा' संहिता होकर 'युजा' सिद्ध होता है।

युग्भ्याम्–'युज्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने के कारण 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से क्विन् प्रत्ययान्त 'युज्' को कवर्ग अन्तादेश होकर 'युग्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

३०६. चोः कुः ८।२।३०

चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च। सुयुक्, सुयुग्। सुयुजौ। सुयुग्भ्याम्। खन्। खञ्जौ। खन्भ्याम्।

प०वि०–चोः ६।१।। कुः १।१।। **अनु०**–झलि, अन्ते, पदस्य।

अर्थ–पदान्त में अथवा 'झल्' (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण और श, ष, स, ह) परे रहते चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) के स्थान में कवर्ग आदेश होता है।

सुयुज्–'सु' उपपद पूर्वक 'युज्' से 'सत्सूद्विषद्रुहदुहयुज०' से 'क्विप्', 'क्विप्' का सर्वापहारी लोप तथा 'उपपदमतिङ्' से समास होकर '**सुयुज्**' क्विबन्त प्रातिपदिक बनता है।

सुयुक्/सुयुग्	(अच्छी प्रकार जोड़ने वाला)
सुयुज् सु	प्रथमा विभक्ति, एकवचन में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से सकार का लोप हुआ
सुयुज्	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'सु' को निमित्त मानकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'चोः कुः' से पदान्त में चवर्ग के स्थान में कवर्गादेश, 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ज्' के स्थान में 'ग्' आदेश हुआ
सुयुग्	'वाऽवसाने' से अवसान में विकल्प से 'चर्' आदेश होकर
सुयुक्/सुयुग्	दो रूप सिद्ध होते हैं।

सुयुजौ–'सुयुज्+औ' यहाँ पद संज्ञा न होने से 'चोः कुः' की प्रवृत्ति नहीं होती।

सुयुग्भ्याम्–'सुयुज्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने के कारण 'चोः कुः' से कुत्व होकर **सुयुग्भ्याम्** रूप सिद्ध होता है।

खञ्ज्–(खञ्जतीति) 'खजि गतिवैकल्ये' धातु से अनुबन्ध-लोप होने पर 'इदितो नुम्०' से 'नुम्' आगम, 'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि०' से पर सवर्ण ञकार होने पर 'खञ्ज्' धातु से 'क्विप् च' से 'क्विप्' प्रत्यय होकर उसका सर्वापहारी लोप होकर 'खञ्ज्' कृदन्त प्रातिपदिक बनता है।

खन्	(लंगड़ा)
खञ्ज् सु	क्विबन्त 'खञ्ज्' से प्रथमा-एकवचन में 'सु', अनुबन्ध-लोप तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से सकार का लोप हुआ
खञ्ज्	'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद के अन्तिम 'अल्' वर्ण 'ज्' का लोप होने पर जकार के निमित्त से बना हुआ ञकार अपने मूलरूप नकार में ही स्थापित हो जायेगा।[1] इस प्रकार
खन्	रूप सिद्ध होता है।

---
१. निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः।

खन्भ्याम्–'खञ्ज्+भ्याम्' में 'स्वादिष्वसर्व०' से 'भ्याम्' परे रहते खञ्ज् की 'पद' संज्ञा, 'संयोगान्तस्य लोपः' से जकार का लोप होकर 'ञ्' अपनी श्चुत्व सन्धि-जन्य परिवर्तन से पूर्व की स्थिति 'न्' में स्थापित जायेगा, इस प्रकार 'खन्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

३०७. व्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज-यज-राज-भ्राज-च्छशां षः ८।२।३६

व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्याज् झलि पदान्ते च। जश्त्व-चर्त्वे-राट्, राड्। राजौ। राजः। राड्भ्याम्। एवम्-विभ्राट्, देवेट्, विश्वसृट्।

(वा०) परौ व्रजेः षः पदन्ते। परावुपपदे व्रजेः क्विप् स्याद् दीर्घश्च, पदान्ते षत्वमपि। परिव्राट्। परिव्राजौ।

प०वि०–व्रश्चभ्रस्जसृज...छशाम्। ६।३।। षः १।१।। **अनु०**–झलि, अन्ते, पदस्य।

अर्थ–'झल्' (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण और श्, ष् ,स्, ह्) परे रहते या पदान्त में व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज्, मृज्, यज्, राज् और भ्राज् धातुओं को तथा छकारान्त और शकारान्त शब्दों को षकारादेश होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' से यह आदेश अन्तिम 'अल्' के स्थान में होगा।

राट्/राड्	(सूर्य, प्रकाशित होने वाला, राजा)
राज् सु	'राज्' शब्द 'राजृ दीप्तौ' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय लगकर उसका सर्वापहारी लोप होने पर बना है। 'क्विप्' प्रत्ययान्त शब्द का धातुत्व भी स्वीकार किया जाता है। प्रथमा-एकवचन में 'सु', अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से सकार का लोप हुआ
राज्	'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयज-राजभ्राजच्छशां षः' से पदान्त में 'राज्' के अन्तिम 'ज्' को 'ष्' आदेश हुआ
राष्	'झलां जशोऽन्ते' से 'ष्' के स्थान में 'जश्', मूर्धन्य 'ड्' आदेश हुआ
राड्	'वाऽवसाने' से अवसान में विकल्प से 'चर्' आदेश होकर
राट्/राड्	रूप सिद्ध होते हैं।

राड्भ्याम्–'राज्+भ्याम्' यहाँ 'राज्' की 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'राड्' के समान जानें।

विभ्राट्–विपूर्वक 'भ्राजृ दीप्तौ' धातु से बने क्विबन्त 'विभ्राज्' शब्द से 'विभ्राट्' की सिद्धि 'राट्' के समान ही जाननी चाहिए।

'देव' पूर्वक 'यज्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय लगकर सम्प्रसारणादि कार्य होकर बने **देवेज्** शब्द से 'देवेट्' तथा **विश्वसृज्** शब्द से 'विश्वसृट्' आदि की सिद्धि-प्रक्रिया भी 'राट्' के समान जाननी चाहिए।

(वा०) परौ व्रजेः षः पदान्ते–अर्थ–'परि' उपपद में रहते 'व्रज्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय, उपधा को दीर्घ तथा पदान्त में षकार अन्तादेश भी होता है।

परिव्राट् (संन्यासी)–'परिव्राज्+सु' यहाँ 'सु' का हल्ङ्यादि लोप होने पर पदान्त में 'परौ व्रजेः षः पदान्ते' से 'ज्' को 'ष्' आदेश, 'झलां जशोऽन्ते' से डत्व तथा 'वाऽवसाने' से अवसान में 'ड्' को विकल्प से 'ट्' होकर 'परिव्राट्' रूप सिद्ध होता है।

३०८. विश्वस्य वसुराटोः ६।३।१२७

विश्वशब्दस्य दीर्घोऽन्तादेशः स्याद् वसौ राट्शब्दे च परे। विश्वाराट्, विश्वाराड्। विश्वाराजौ। विश्वाराड्भ्याम्।

प०वि०–विश्वस्य ६।१।। वसुराटोः ७।२।। **अनु०**–दीर्घः।

अर्थ–'वसु' और 'राट्' शब्द परे रहते 'विश्व' शब्द को दीर्घ अन्तादेश होता है।

विश्वराज्– 'विश्व' उपपद में रहते 'राज्' धातु से 'सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदछिदजिनिराजामुपसर्गेऽपि क्विप्' से 'क्विप्', 'क्विप्' का सर्वापहारी लोप और 'उपपदमतिङ्' से समास होकर 'विश्वराज्' शब्द बनता है।

विश्वाराट्/विश्वाराड् (सूर्य)

विश्वराज् सु	क्विबन्त 'विश्वराज्' शब्द से प्रथमा-एक वचन में 'सु', अनुबन्ध-लोप
विश्वराज् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर सकार का लोप हुआ
विश्वराज्	'व्रश्चभ्रस्जसृजमृज०' से पदान्त में 'ज्' को 'ष्' हुआ
विश्वराष्	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में 'ष्' को 'ड्' आदेश हुआ
विश्वराड्	'विश्वस्य वसुराटोः' से 'राट्' अथवा 'राड्' परे रहते 'विश्व' को दीर्घ अन्तादेश हुआ
विश्वाराड्	'वाऽवसाने' से अवसान में 'ड्' को विकल्प से 'चर्' आदेश (ट्) होकर
विश्वाराड्/विश्वाराट्	रूप सिद्ध होते हैं।

विश्वराजौ–'विश्वराज्+औ' यहाँ 'राट्' न बनने के कारण 'विश्व' को दीर्घ अन्तादेश नहीं होता।

विश्वाराड्भ्याम्–'विश्वराज्+भ्याम्' में व्रश्चभ्रस्जसृज० से पदान्त में 'राज्' के 'ज्' को 'ष्' आदेश, 'झलां जशोऽन्ते' से डत्व होने पर 'विश्वस्य वसुराटोः' से 'विश्व' को दीर्घ अन्तादेश होकर 'विश्वाराड्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

३०९. स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८।२।२९

पदान्ते झलि च यः संयोगस्तदाद्योः स्कोर्लोपः। भृट्, भृड्। सस्य श्चुत्वेन शः। 'झलां जश् झशि' इति शस्य जः। भृज्जौ। भृड्भ्याम्। त्यदाद्यत्वम्, पररूपत्वम्।

प०वि०–स्कोः ६।२।। संयोगाद्योः ६।२।। अन्ते ७।१।। च अ०।। **अनु०**–झलि, लोपः, पदस्य।

अर्थ–पदान्त में अथवा 'झल्' परे रहते संयोग के आदि सकार और ककार का लोप होता है।

भृट्/भृड्	(भड़भूजा)
भृस्ज् सु	'भृस्ज्' शब्द 'भ्रस्ज्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होने पर उसका सर्वापहारी लोप, 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से सम्प्रसारण 'र्' को 'ऋ' तथा 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप होकर बना है। प्रथमा-एकवचन में 'सु', अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से अपृक्त सकार का लोप हुआ
भृस्ज्	'हलोऽनन्तराः संयोगः' से सकार और जकार का संयोग है, इसीलिए, 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से पदान्त में संयोग के आदि सकार का लोप हुआ
भृज्	'व्रश्चभ्रस्जसृजमृज०' से पदान्त में 'भ्रस्ज्' को षकार अन्तादेश हुआ
भृष्	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में षकार को डकार आदेश हुआ
भृड्	'वाऽवसाने' से विकल्प से चरादेश 'ड्' को 'ट्' होकर
भृट/भृड्	रूप सिद्ध होते हैं।
भृज्जौ	
भृस्ज् औ	प्रथमा-द्विवचन में 'औ' आने पर 'स्तोः श्चुना श्चुः' से चवर्ग (ज्) के योग में सकार को शकारादेश हुआ
भृश्ज् औ	'झलां जश् झशि' से 'झश्' (ज्) परे रहते 'झल्' (श्) के स्थान में 'जश्' (ज्) आदेश होने पर संहिता होकर
भृज्जौ	रूप सिद्ध होता है।

भृड्भ्याम् –'भृस्ज्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'भृस्ज्' की 'पद' संज्ञा होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'भृड्' के समान ही जानें।

३१०. तदोः सः सावनन्त्ययोः ७।२।१०६

त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात् सौ। स्यः, त्यौ, त्ये। सः, तौ, ते। यः, यौ, ये। एषः, एतौ, एते, एतम्। अन्वादेशे-एनम्, एनौ, एनान्, एनेन, एनयोः।

प०वि०–तदोः ६।२।। सः १।१।। सौ ७।१।। अनन्त्ययोः ६।२।। **अनु०**–त्यदादीनामः।

अर्थ– 'सु' परे रहते त्यदादि गण में पठित शब्दों के अनन्त्य तकार एवं दकार को सकारादेश होता है।

स्यः	(वह)
त्यद् सु	'त्यदादीनामः' से विभक्ति परे रहते 'त्यद्' के दकार को अकारादेश हुआ
त्य अ सु	'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होने पर 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' से 'सु' परे रहते 'त्यद्' के तकार के स्थान में सकारादेश हुआ
स्य सु	अनुबन्ध-लोप, सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर
स्यः	रूप सिद्ध होता है।

त्यौ–'त्यद्+औ' में 'त्यदादीनामः' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि-एकादेश होकर 'त्यौ' सिद्ध होता है।

त्ये–'त्यद्+जस्' यहाँ 'त्यदादीनामः' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप, 'जशः शी' से अदन्त सर्वनाम से उत्तर 'जस्' को 'शी' तथा 'आद् गुणः' से गुण होकर 'त्ये' रूप सिद्ध होता है।

सः, तौ, ते की सिद्धि-प्रक्रिया 'तद्' शब्द से 'सु', 'औ' और 'जस्' आने पर क्रमशः 'स्यः', 'त्यौ' और 'त्ये' के समान ही जानें।

यः, यौ, ये में 'यद्' शब्द से क्रमशः 'सु', 'औ' और 'जस्' विभक्तियाँ परे रहते 'त्यदादीनामः' से अत्व तथा 'अतो गुणे' से पररूप आदि कार्य 'स्यः', 'त्यौ', 'त्ये' के समान होते हैं।

'एतद्' शब्द से **एषः, एतौ, एते** और **एतम्** की सिद्धि-प्रक्रिया भी इसी प्रकार जानें।

एनम्	(इसको)
एतद् अम्	'द्वितीयाटौस्स्वेनः' से अन्वादेश में द्वितीया विभक्ति अर्थात् 'अम्' परे रहते 'एतद्' के स्थान पर 'एन' आदेश होता है 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण 'एतद्' के स्थान में 'एन' आदेश हुआ
एन अम्	'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
एनम्	रूप सिद्ध होता है।

एनौ, एनान्, एनेन और **एनयोः** मे भी 'एतद्' शब्द से क्रमशः 'औट्', 'शस्', 'टा' और 'ओस्' परे रहते 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' से 'एतद्' को 'एन' आदेश होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया अकारान्त शब्दों के समान जाननी चाहिए।

३११. ङे प्रथमयोरम् ७।१।१८

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः स्यात्।

प०वि०–ङे लुप्तषष्ठ्यन्त।। प्रथमयो: ६।२।। अम् १।१।। **अनु०**– अङ्गस्य, युष्मदस्मद्भ्याम्।

अर्थ–'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' अङ्ग से उत्तर 'ङे' तथा प्रथमा और द्वितीया विभक्ति को 'अम्' आदेश होता है।

'अम्' आदेश अनेकाल् होने के कारण 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में होता है।

३१२. त्वाऽहौ सौ ७।२।९४

अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहौ आदेशौ स्तः।

प०वि०–त्वाऽहौ १।२।। सौ ७।१।। **अनु०**–युष्मदस्मदो:, मपर्यन्तस्य, अङ्गस्य।

अर्थ–'सु' विभक्ति परे रहते 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' अङ्ग के मपर्यन्त भाग अर्थात् 'युष्म्' और 'अस्म्' को क्रमश: 'त्व' और 'अह' आदेश होते हैं।

३१२. शेषे लोपः ७।२।९०

एतयोष्टिलोपः। त्वम्। अहम्।

प०वि०–शेषे ७।१।। लोप: १।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, विभक्तौ।

जिन विभक्तियों में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' को यकार तथा आकार आदेश नहीं कहा गया है[१], वह यहाँ 'शेष' शब्द से अभिप्रेत है।

अर्थ–शेष विभक्ति परे रहने पर 'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्ग के 'टि' भाग 'अद्' का लोप होता है। अर्थात् प्रथमा, चतुर्थी, पञ्चमी और षष्ठी विभक्ति के एकवचन तथा द्विवचन संज्ञक प्रत्यय परे रहते 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के 'टि' भाग 'अद्' का लोप होता है।

त्वम्	(तुम)
युष्मद् सु	प्रथमा-एकवचन में 'सु', 'ङे प्रथमयोरम्' से 'युष्मद्' से उत्तर प्रथमा 'सु' को 'अम्' आदेश हुआ
युष्मद् अम्	स्थानीवद्भाव से 'अम्' को 'सु' मान लेने पर 'त्वाहौ सौ' से 'सु' विभक्ति परे रहते 'युष्मद्' शब्द के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' को 'त्व' आदेश हुआ
त्व अद् अम्	'शेषे लोप:' से आत्व तथा यत्व के निमित्त से भिन्न विभक्ति परे रहते 'युष्मद्' के 'टि' भाग 'अद्' का लोप हुआ
त्व अम्	'अमि पूर्व:' से पूर्वरूप एकादेश होकर
त्वम्	रूप सिद्ध होता है।

---

१. 'युष्मद्' और 'अस्मद्' को जहाँ आकारादेश और यकारादेश नहीं होता वह शेष कहा जाता है 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (३२१) से हलादि विभक्ति परे रहते आकारादेश तथा 'योऽचि (३२०) से अजादि विभक्ति परे रहते यकारादेश होता है।

अहम्–'अस्मद्+सु' में प्रथमा विभक्ति परे रहते 'ङे प्रथमयोरम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश, 'त्वाहौ सौ' से 'सु' विभक्ति परे रहते 'अस्मद्' के मपर्यन्त 'अस्म्' को 'अह' आदेश, 'शेषे लोपः' से 'टि' भाग 'अद्' का लोप, तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'अहम्' रूप सिद्ध होता है।

३१४. युवाऽऽवौ द्विवचने ७।२।९२

द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ।

प०वि०–युवाऽऽवौ १।२।। द्विवचने ७।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, विभक्तौ, युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य।

अर्थ–विभक्ति परे रहते द्वित्वकथन में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्ग के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' और 'अस्म्' के स्थान पर क्रमशः 'युव' और 'आव' आदेश होते हैं।

३१५. प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ७।२।८८

औङ्येतयोरात्वं लोके। युवाम्। आवाम्।

प०वि०–प्रथमायाः ६।१।। च अ०।। द्विवचने ७।१।। भाषायाम् ७।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, आ, युष्मदस्मदोः।

अर्थ–प्रथमा विभक्ति का द्विवचन प्रत्यय (औ) परे रहते भी भाषा (लोक) में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्ग को आकारादेश होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से आकारादेश अन्त्य 'अल्' दकार के स्थान में होता है।

युवाम्	(तुम दो)
युष्मद् औ	प्रथमा–द्विवचन में 'औ' आने पर 'ङे प्रथमयोरम्' से 'युष्मद्' से उत्तर प्रथमा विभक्ति 'औ' को 'अम्' आदेश हुआ
युष्मद् अम्	'युवाऽऽवौ द्विवचने' से द्वित्व कथन में 'युष्मद्' शब्द के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' को 'युव' आदेश हुआ
युव अ द् अम्	'अतो गुणे' से पररूप तथा 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' से प्रथमा विभक्ति का द्विवचन परे रहते 'द्' को आकारादेश हुआ
युव आ अम्	'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ
युवा अम्	'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
युवाम्	रूप सिद्ध होता है।

आवाम्–'अस्मद्+औ' में भी 'ङेप्रथमयोरम्' से 'औ' को अमादेश, 'युवाऽऽवौ द्वि०' से 'अस्मद्' के 'म्' पर्यन्त भाग को 'आव' आदेश, 'प्रथमायाश्च द्विवचने०' से अन्त्य 'द्' को आकार आदेश, 'अकः सवर्णे०' से सवर्णदीर्घत्व तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर **आवाम्** रूप सिद्ध होता है।

३१६. यूयवयौ जसि ७।२।९३

अनयोर्मपर्यन्तस्य। यूयम्। वयम्।

प०वि०—यूयवयौ १।२।। जसि ७।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य।

अर्थ—'जस्' विभक्ति परे रहते 'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्ग के मपर्यन्त भाग (युष्म् तथा अस्म्) के स्थान पर क्रमशः 'यूय' और 'वय' आदेश होते हैं।

यूयम्	(तुम सब)
युष्मद् जस्	प्रथमा-बहुवचन में 'जस्' आने पर 'ङे प्रथमयोरम्' से पूर्ववत् 'जस्' को 'अम्' आदेश हुआ
युष्मद् अम्	स्थानीवाद् भाव से 'अम्' को 'जस्' मानकर 'युयवयौ जसि' से 'जस्' परे रहते 'युष्मद्' के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' को 'यूय' आदेश हुआ
यूय अद् अम्	'शेषे लोपः' से युष्मद् अङ्ग के 'टि' भाग 'अद्' का लोप हुआ
यूय अम्	'अमि पूर्वः' से 'अक्' से उत्तर 'अम्' सम्बन्धी 'अच्' परे रहते पूर्वरूप एकादेश होकर
यूयम्	जस् रूप सिद्ध होता है।

वयम्—'अस्मद् + जस्' यहाँ 'ङे प्रथमयोः०' से 'जस्' विभक्ति को 'अम्' आदेश, पूर्ववत् 'यूयवयौ जसि' से 'अस्मद्' के मपर्यन्त भाग 'अस्म्' को 'वय' आदेश, 'शेषे लोपः' से 'टि' भाग 'अद्' का लोप, और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप होकर 'वयम्' रूप सिद्ध होता है।

३१७. त्वमावेकवचने ७।२।९७

एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ।

प०वि०—त्वमौ १।२।। एकवचने ७।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य, विभक्तौ।

अर्थ—विभक्ति परे रहते एकत्व कथन में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्ग के मपर्यन्त भाग अर्थात् 'युष्म्' और 'अस्म्' को क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होते हैं।

३१८. द्वितीयायां च ७।२।८७

अनयोरात् स्यात्। त्वाम्। माम्।

प०वि०—द्वितीयायाम् ७।१।। च अ० ।। **अनु०**—आ, अङ्गस्य, युष्मदस्मदोः।

अर्थ—द्वितीया विभक्ति परे रहते 'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्ग को आकार अन्तादेश होता है।

त्वाम्	(तुम को)
युष्मद् अम्	द्वितीया-एकवचन में 'अम्' आने पर 'त्वमावेकचने' से विभक्ति परे रहते एकत्व कथन में 'युष्मद्' के मपर्यन्त 'युष्म्' को 'त्व' आदेश हुआ

त्व अद् अम्	'द्वितीयायां च' से द्वितीया विभक्ति परे रहते 'युष्मद्' अङ्ग के अन्त्य 'अल्' दकार के स्थान पर आकार आदेश हुआ
त्व अ आ अम्	'अतो गुणे' से ह्रस्व अकार से गुण परे रहते पररूप एकादेश हुआ
त्व आ अम्	'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
त्वाम्	रूप सिद्ध होता है।

माम्—इसी प्रकार 'अस्मद्' शब्द से 'अम्' विभक्ति परे रहते 'त्वमावेकवचने' से 'अस्मद्' के मपर्यन्त को 'म' आदेश, 'द्वितीयायां च' से दकार को आकारादेश, 'अतो गुणे' से पररूप, 'अकःसवर्णे०' से दीर्घत्व तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'माम्' रूप सिद्ध होता है।

३१९. शसो न ७।१।२९

आभ्यां शसो न स्यात्। अमोऽपवादः। आदेः परस्य। संयोगान्तलोपः। युष्मान्। अस्मान्।

प०वि०—शसः ६।१।। न लुप्तप्रथमान्त **अनु०**—अम्, युष्मदस्मद्भ्याम्, अङ्गस्य।

अर्थ—'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्ग से उत्तर 'शस्' (अस्) के स्थान में नकारादेश होता है।

'आदेः परस्य' परिभाषा से नकारादेश 'शस्' (अस्) के आदि वर्ण अकार के स्थान में होता है।

'ङे प्रथमयोरम्' से प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति को अमादेश प्राप्त था जिसका प्रकृत सूत्र अपवाद है।

युष्मान्	(तुम सबको)
युष्मद् शस्	द्वितीया-बहुवचन में 'शस्', अनुबन्ध-लोप, 'शसो न' से युष्मद् अङ्ग से उत्तर 'शस्' के स्थान में नकार आदेश प्राप्त हुआ, 'आदेः परस्य' से 'शस्' (अस्) के आदि 'अ' को 'न्' आदेश हुआ
युष्मद् न्स्	'द्वितीयायां च' से द्वितीया विभक्ति परे रहते 'युष्मद्' के अन्तिम अल् 'द्' को आकारादेश हुआ
युष्म आ न्स्	'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद के अन्तिम 'अल्' सकार का लोप होकर
युष्मान्	रूप सिद्ध होता है।

अस्मान्—'अस्मद्+शस्' की सिद्धि-प्रक्रिया भी इसी प्रकार जानें।

३२०. योऽचि ७।२।८९

अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः। त्वया। मया।

प०वि०—यः १।१।। अचि ७।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, युष्मदस्मदोः, अनादेशे, विभक्तौ।

अर्थ–आदेश रहित अजादि विभक्ति परे रहते दोनों अर्थात् 'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्गों को यकार आदेश होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' से 'य्' आदेश अन्तिम अल् के स्थान में होता है।

त्वया	(तुम्हारे द्वारा)
युष्मद् टा	तृतीया-एकवचन में 'टा', अनुबन्ध-लोप, 'त्वमावकेवचने' से विभक्ति परे रहते एकत्व-कथन में 'युष्मद्' के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' को 'त्व' आदेश हुआ
त्व अद् आ	'योऽचि' से आदेश रहित अजादि विभक्ति 'टा' (आ) परे रहते 'युष्मद्' के अन्त्य अल् 'द्' को यकारादेश हुआ
त्व अय् आ	'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हुआ
त्वय् आ	संहिता होकर
त्वया	रूप सिद्ध होता है।

मया–'अस्मद्' शब्द से 'आ' (टा) विभक्ति परे रहते 'त्वमावेकवचने' से 'अस्म्' को 'म' आदेश, 'योऽचि' से अन्त्य 'अल्' दकार को यकारादेश तथा 'अतो गुणे' से पररूप होकर 'मया' रूप सिद्ध होता है।

३२१. युष्मदस्मदोरनादेशे ७।२।८६

अनयोरात् स्याद् अनादेशे हलादौ विभक्तौ। युवाभ्याम्। आवाभ्याम्।

प०वि०–युष्मदस्मदोः ६।२॥ अनादेशे ७।१॥ **अनु०**–अङ्गस्य, आ, विभक्तौ, हलि।

अर्थ–आदेश रहित हलादि विभक्ति परे रहते 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' अङ्गों को आकारादेश होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से अन्तिम 'अल्' दकार के स्थान में आकार आदेश होता है।

युवाभ्याम्	
युष्मद् भ्याम्	तृतीया, चतुर्थी या पञ्चमी विभक्ति के द्विवचन में 'भ्याम्' आने पर 'युवाऽऽवौ द्विवचने' से द्वित्व कथन में 'युष्मद्' के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' को 'युव' आदेश हुआ
युव अद् भ्याम्	'युष्मदस्मदोरनादेशे' से आदेश रहित हलादि विभक्ति 'भ्याम्' परे रहते 'युष्मद्' के अन्तिम वर्ण दकार को आकारादेश हुआ
युव अ आ भ्याम्	'अतो गुणे' से पररूप तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ होकर
युवाभ्याम्	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'अस्मद्' शब्द से 'भ्याम्' परे रहते 'अष्म्' को 'आव' आदि होने पर **आवाभ्याम्** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

३२२. तुभ्यमह्यौ ङयि ७।२।९५

अनयोर्मपर्यन्तस्य। टिलोपः। तुभ्यम्। मह्यम्।

प०वि०—तुभ्यमह्यौ। १।२।। ङयि ७।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य।

अर्थ—'ङे' विभक्ति परे रहते 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' अङ्ग के मपर्यन्त भाग को क्रमशः 'तुभ्य' और 'मह्य' आदेश होता है।

तुभ्यम्	(तुम्हारे लिए)
युष्मद् ङे	चतुर्थी-एकवचन में 'ङे', 'ङे प्रथमयोरम्' से 'युष्मद्' से उत्तर 'ङे' को 'अम्' आदेश हुआ
युष्मद् अम्	स्थानीवद्भाव से 'अम्' को 'ङे' मानकर 'तुभ्यमह्यौ ङयि' से 'ङे' विभक्ति परे रहते 'युष्मद्' के मपर्यन्त भाग को 'तुभ्य' आदेश हुआ
तुभ्य अद् अम्	'शेषे लोपः' से यत्व और आत्व के निमित्त से भिन्न विभक्ति परे रहते 'युष्मद्' के 'टि' भाग (अद्) का लोप होने पर 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
तुभ्यम्	रूप सिद्ध होता है।

मह्यम्—इसी प्रकार 'अस्मद्' को 'ङि' विभक्ति परे रहते 'तुभ्यमह्यौ ङयि' से 'मह्य' आदेश तथा 'ङे प्रथमयोरम्' से 'ङे' को 'अम्' होने पर 'मह्य+अद्+अम्' इस स्थिति में 'शेषे लोपः' से 'अद्' भाग का लोप तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप होकर 'मह्यम्' रूप सिद्ध होता है।

३२३. भ्यसोऽभ्यम् ७।१।३०

आभ्यां परस्य। युष्मभ्यम्। अस्मभ्यम्।

प०वि०—भ्यसः ६।१।। भ्यम् १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, युष्मदस्मद्भ्याम्।

अर्थ—'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्ग से उत्तर 'भ्यस्' के स्थान पर 'भ्यम्' अथवा 'अभ्यम्' आदेश होता है।

विशेषः—इस सूत्र की व्याख्या में 'भ्यम्' अथवा 'अभ्यम्' दोनों ही आदेश स्वीकार किये जा सकते हैं। चूंकि वरदराज ने 'शेषे लोपः' सूत्र में 'टि' भाग का लोप माना है इसलिए यहाँ उसके साथ संगति बैठाने के लिए **'अभ्यम्'** आदेश ही सुसंगत होता है।

युष्मभ्यम्	
युष्मद् भ्यस्	चतुर्थी और पञ्चमी बहुवचन में 'भ्यस्', 'भ्यसोऽभ्यम्' से 'युष्मद्' अङ्ग से उत्तर 'भ्यस्' के स्थान में 'अभ्यम्' आदेश हुआ
युष्मद् अभ्यम्	'शेषे लोपः' से 'युष्मद्' के 'टि' भाग 'अद्' का लोप होकर
युष्मभ्यम्	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'अस्मद्' शब्द से **अस्मभ्यम्** की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

२२४. एकवचनस्य च ७।१।३२

आभ्यां ङसेरत्। त्वत्। मत्।

प०वि०–एकवचनस्य ६।१।। च अ०।। **अनु०**–अङ्गस्य, युष्मदस्मद्भ्यां, पञ्चम्याः, अत्।

अर्थ–'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्ग से उत्तर पञ्चमी-एकवचन 'ङसि' को 'अत्' आदेश होता है।

त्वत्	(तुम से)
युष्मद् ङसि	पञ्चमी-एकवचन में 'ङसि', 'एकवचनस्य च' से 'युष्मद्' से उत्तर पञ्चमी के एकवचन 'ङसि' के स्थान में 'अत्' आदेश हुआ
युष्मद् अत्	'त्वमावेकवचने' से एकवचन परे रहते 'युष्मद्' के 'युष्म्' भाग को 'त्व' आदेश हुआ
त्व अद् अत्	'शेषे लोपः' से 'युष्मद्' के 'टि' भाग का लोप हुआ
त्व अत्	'अतो गुणे' से वकार से उत्तरवर्त्ती अकार तथा 'अत्' के अकार के स्थान पर पररूप एकादेश होकर
त्वत्	रूप सिद्ध होता है।

मत्–'अस्मद्' शब्द से पञ्चमी-एकवचन में 'ङसि' के स्थान में 'एकवचनस्य च' से 'अत्' आदेश होने पर शेष कार्य 'त्वत्' के समान होकर 'मत्' रूप सिद्ध होता है।

२२५. पञ्चम्या अत् ७।१।३१

आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् स्यात्। युष्मत्। अस्मत्।

प०वि०–पञ्चम्याः ६।१।। अत् १।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, युष्मदस्मद्भ्याम्, भ्यसः।

अर्थ–'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्ग से उत्तर पञ्चमी सम्बन्धी 'भ्यस्' के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है।

युष्मत	(तुम सब से)
युष्मद् भ्यस	पञ्चमी-बहुवचन में 'भ्यस्', 'पञ्चम्या अत्' से 'युष्मद्' से उत्तर पञ्चमी सम्बन्धी 'भ्यस्' के स्थान में 'अत्' आदेश हुआ
युष्मद् अत्	'शेषे लोपः' से 'युष्मद्' के 'टि' भाग 'अद्' का लोप होकर
युष्मत्	रूप सिद्ध होता है।

'युष्मत्' के समान ही '**अस्मत्**' की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

२२६. तवममौ ङसि ७।२।९६

अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि।

प०वि०—तवममौ १।२।। ङसि ७।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य।

अर्थ—'ङस्' परे रहते 'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्ग के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' और 'अस्म्' को क्रमशः 'तव' और 'मम' आदेश होते हैं।

३२७. युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ७।१।२७

तव। मम। युवयोः। आवयोः।

प०वि०—युष्मदस्मद्भ्याम् ५।२।। ङसः ६।१।। अश् १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य।

अर्थ—'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्ग से उत्तर 'ङस्' के स्थान में 'अश्' आदेश होता है।

तव	(तुम्हारा)
युष्मद् ङस्	षष्ठी-एकवचन में 'ङस्', 'तवममौ ङसि' से 'ङस्' परे रहते 'युष्मद्' के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' को 'तव' आदेश हुआ
तव अद् ङस्	'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से 'युष्मद्' से उत्तर 'ङस्' को 'अश्' आदेश हुआ
तव अद् अश्	अनुबन्ध-लोप, 'शेषे लोपः' से 'अद्' भाग का लोप होने पर अकारों के मध्य 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर
तव	रूप सिद्ध होता है।

मम—'अस्मद्+ङस्' की सिद्धि-प्रक्रिया भी 'तव' के समान जानें।

युवयोः	(तुम दोनों का)
युष्मद् ओस्	षष्ठी और सप्तमी द्विवचन में 'ओस्', 'युवाऽऽवौ द्विवचने' से द्विवचन संज्ञक प्रत्यय 'ओस् परे' रहते 'युष्मद्' के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' को 'युव' आदेश हुआ
युव अद् ओस्	'योऽचि' से आदेश रहित अजादि विभक्ति परे रहते 'युष्मद्' के दकार को यकारादेश हुआ
युव अय् ओस्	'अतो गुणे' से पररूप, सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर
युवयोः	रूप सिद्ध होता है।

आवयोः—इसी प्रकार 'अस्मद्' शब्द से 'ओस्' परे रहते 'आवयोः' की सिद्धि-प्रक्रिया जाननी चाहिए।

३२८. साम आकम् ७।१।३३

आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात्। युष्माकम्। अस्माकम्। त्वयि। मयि। युवयोः। आवयोः। युष्मासु। अस्मासु।

प०वि०—सामः ६।१।। आकम् १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, युष्मदस्मद्भ्याम्।

अर्थ—'युष्मद्' और 'अस्मद्' अङ्ग से उत्तर 'साम्' के स्थान पर 'आकम्' आदेश होता है।

विशेष—सूत्र में 'साम्' के स्थान में किया गया 'आकम्' आदेश वस्तुतः 'आम्' के स्थान में ही होता है। 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' से होने वाले भावी 'सुट्' आगम को ध्यान में रखकर यह आदेश किया गया है। भावी 'सुट्' आगम की कल्पना करके 'आम्' को 'साम्' मान कर उसके स्थान में 'आकम्' आदेश किया जाता है ऐसा करने से पुनः 'सुट्' आगम नहीं होता।

युष्माकम्	(तुम सब का)
युष्मद् आम्	षष्ठी-विभक्ति, एकवचन में 'आम्' आने पर 'साम आकम्' से भावी 'सुट्' सहित 'आम्' के स्थान में 'आकम्' आदेश हुआ
युष्मद् आकम्	'शेषे लोपः' से 'युष्मद्' के 'टि' भाग 'अद्' का लोप होकर
युष्माकम्	रूप सिद्ध होता है।

'युष्माकम्' के समान ही **अस्माकम्** की सिद्धि-प्रक्रिया भी जाननी चाहिए।

त्वयि	(तुम में)
युष्मद् ङि	सप्तमी-एकवचन में 'ङि', अनुबन्ध-लोप
युष्मद् इ	'त्वमावेकवचने' से 'युष्मद्' के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' को 'त्व' आदेश हुआ
त्व अद् इ	'योऽचि' से आदेश रहित अजादि विभक्ति 'ङि' (इ) परे रहते 'युष्मद्' को यकारादेश, 'अलोऽन्त्यस्य' से दकार के स्थान में यकारादेश हुआ
त्व अय् इ	'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर
त्वयि	रूप सिद्ध होता है।

'त्वयि' के समान ही **मयि** की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

युवयोः और **आवयोः** की सिद्धि-प्रक्रिया सूत्र (३२७) में देखें।

युष्मासु	(तुम सब में)
युष्मद् सुप्	सप्तमी-बहुवचन में 'सुप्', अनुबन्ध-लोप, 'युष्मदस्मदोरनादेशे' से आदेश रहित हलादि विभक्ति परे रहते 'युष्मद्' को आकार अन्तादेश हुआ
युष्म आ सु	'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ होकर संहिता होने पर
युष्मासु	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **अस्मासु** की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

३२९. युष्मदस्मदोः षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ८।१।२०

पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वान्नावौ इत्यादेशौ स्तः।

प०वि०—युष्मदस्मदोः ६।२।। षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोः ६।२।। वान्नावौ १।२।।

अनु०—पदस्य, पदात्, अनुदात्तम्, अपादादौ।

अर्थ—पद से परे किन्तु पाद (श्लोक या ऋचा के चरण) के आदि में न रहने वाले षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया से युक्त 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों को क्रमशः 'वाम्' तथा 'नौ' आदेश होते हैं, और वे 'अनुदात्त' भी होते हैं।

३३०. बहुवचनस्य वस्नसौ ८।१।२१

उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः।

प०वि०—बहुवचनस्य ६।१।। वस्नसौ। १।२।। **अनु०**—पदस्य, पदात्, अनुदात्तम्, अपादादौ, युष्मदस्मदोः, षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोः।

अर्थ—पद से उत्तर किन्तु पाद (चरण) के आदि में न रहने वाले, षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया के बहुवचन से युक्त, 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' शब्दों को क्रमशः 'वस्' और 'नस्' आदेश होते हैं, और ये 'अनुदात्त' भी होते हैं।

३३१. तेमयावेकवचनस्य ८।१।२२

उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः।

प०वि०—तेमयौ १।२।। एकवचनस्य ६।१।। **अनु०**—पदस्य, पदात्, अनुदात्तम्, अपादादौ, युष्मदस्मदोः, षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः।

अर्थ—पद से उत्तर किन्तु पाद (चरण) के आदि में न रहने वाले षष्ठी और चतुर्थी के एकवचन से युक्त 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' के स्थान में क्रमशः 'ते' और 'मे' आदेश होते हैं, और वे 'अनुदात्त' भी होते हैं।

३३२. त्वामौ द्वितीयायाः ८।१।२३

द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा इत्यादेशौ स्तः।

श्रीशस्त्वाऽवतु माऽपीह, दत्तात् ते मेऽपि शर्म सः।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः, पातु वामपि नौ विभुः।।१।।
सुखं वां नौ ददात्वीशः, पतिर्वामपि नौ हरिः।
सोऽव्याद् वो नः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः स नः।।२।।

(वा०) समानवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः।

एकतिङ् वाक्यम्। तेनेह न—ओदनं पच, तव भविष्यति। इह तु स्यादेव—शालीनां ते ओदनं दास्यामि।

(वा०) एते वांनावादयोऽनन्वादेशे वा वक्तव्याः।

अन्वादेशे तु नित्यं स्युः। (अनन्वादेशे) धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता इव भक्तोऽस्ति वा। (अन्वादेशे) तस्मै ते नमः।

सुपात्, सुपाद्। सुपादौ।

प०वि०—त्वामौ १।२।। द्वितीयायाः ६।१।। **अनु०**—पदस्य, पदात्, अनुदात्तम्, अपादादौ, युष्मदस्मदोः, एकवचनस्य।

अर्थ—पद से उत्तर किन्तु **पाद** (चरण) के आदि में न रहने वाले द्वितीया के एकवचनान्त 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' के स्थान पर क्रमशः 'त्वा' और 'मा' आदेश होते हैं।

'अनेकाल्शित्सर्वस्य'—परिभाषा के कारण 'त्वा' और 'मा' आदेश सम्पूर्ण 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के स्थान में होते हैं।

श्लोकार्थः—लक्ष्मीपति विष्णु तुझे तथा मुझे बचायें। वह तेरे लिए तथा मेरे लिए कल्याण को दें। वे तेरे तथा मेरे स्वामी हैं। सर्व व्यापक हरि तुम दोनों की रक्षा करें। १॥

भगवान् तुम दोनों के लिए और हम दोनों के लिए सुख देवें। श्री विष्णु तुम दोनों के तथा हम दोनों के स्वामी हैं, वह तुम सबकी तथा हम सबकी रक्षा करें। वह तुम सबके लिए तथा हम सबके लिए कल्याण देवें। वे तुम सबके तथा हम सबके सेवनीय हैं।२॥

प्रस्तुत दोनों श्लोकों में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के जिन–जिन विभक्तियों के रूपों के स्थान में, पद से उत्तर अपादादि में जो–जो आदेश किए गए हैं उन सबके उदाहरण दिखाए गए हैं। उन्हें रेखांकित किया गया है। प्रथम श्लोक में रेखांकित शब्द क्रमशः 'त्वा' और 'मा' का प्रयोग 'त्वाम्' और 'माम्' के स्थान में, 'ते' और 'मे' का प्रयोग 'तुभ्यम्' और 'मह्यम्' के लिए, 'ते' और 'मे' का प्रयोग 'तव' और 'मम' के लिए 'वाम्' और 'नौ' का प्रयोग 'युवाम्' और 'आवाम्' के लिए किया गया है।

द्वितीय श्लोक के प्रथम चरण में 'वाम्' और 'नौ' का प्रयोग 'युवाभ्याम्' और 'आवाभ्याम्' (चतुर्थी–द्विवचन) के लिए; द्वितीय चरण में 'वाम्' और 'नौ' का प्रयोग 'युवयोः' तथा 'आवयोः' (षष्ठी–द्विवचन) के लिए, तृतीय तथा चतुर्थ चरण में 'वः' और 'नः' का प्रयोग क्रमशः 'युस्मान्' और 'अस्मान्' (द्वितीया–बहुवचन), 'युष्मभ्यम्' तथा 'अस्मभ्यम्' (चतुर्थी–बहुवचन) और 'युष्माकम्' तथा 'अस्माकम्' (षष्ठी बहुवचन) के लिए किया गया है।

(वा०) समान वाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः—**अर्थ**—'युष्मद्' और 'अस्मद्' के स्थान पर होने वाले आदेश (वाम्, नौ आदि) एक वाक्य में ही होते हैं।

एकतिङ् वाक्यम्—जिसमें एक तिङन्त पद (क्रिया पद) रहता है, वह वाक्य कहलाता है। **यथा**—'ओदनं पच, तव भविष्यति' में 'पच' पद से उत्तर 'तव' को 'ते' आदेश नहीं होता, क्योंकि ये एक वाक्य में नहीं हैं। जबकि 'शालीनां ते ओदनं दास्यामि' में एक वाक्य में पद से उत्तर अपादादि में 'तुभ्यम्' के स्थान पर 'ते' आदेश हो जाता है।

(वा०) एते वांनावादयोऽनन्वादेशे वा वक्तव्याः—**अर्थ**—अन्वादेश न होने पर पूर्वोक्त 'वाम्' और 'नौ' आदि आदेश विकल्प से होते हैं।

यथा—'धाता ते भक्तोऽस्ति' में अन्वादेश नहीं है, क्योंकि इसकी चर्चा पहले–पहल की जा रही है। अतः प्रस्तुत वार्त्तिक से वैकल्पिक 'ते' आदेश होने के कारण दूसरे पक्ष में 'धाता तव भक्तोऽस्ति' वाक्य भी बनेगा। अन्वादेश में ये आदेश नित्य होते हैं। उदाहरण के लिए 'तस्मै ते नमः' में अन्वादेश होने के कारण 'तुभ्यम्' के स्थान पर 'ते' आदेश नित्य होता है।

सुपाद्—'शोभनौ पादौ यस्य सः' बहुव्रीहि समास होकर 'संख्या सुपूर्वस्य' से समासान्त में 'पाद' के अन्तिम 'अल्' अकार का लोप होने पर 'सुपात्' सिद्ध होता है।

सुपात्/सुपाद् की विस्तृत सिद्धि-प्रक्रिया (९७४) सूत्र में देखें।

३३३. पादः पत् ६।४।१३०

पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः स्यात्। सुपदः। सुपदा। सुपाद्भ्याम्।

अग्निमत्, अग्निमद्। अग्निमथौ। अग्निमथः।

प०वि०—पादः ६।१।। पत् १।१।। **अनु०**—भस्य, अङ्गस्य।

अर्थ—'पाद्' शब्दान्त भसंज्ञक अङ्ग के अवयव 'पाद्' को 'पत्' आदेश होता है।

अनेकाल् होने के कारण 'पत्' आदेश सम्पूर्ण 'पाद्' अङ्ग के स्थान पर होता है।

सुपदः

सुपाद् शस्	द्वितीया-बहुवचन में 'शस्', अनुबध-लोप, 'यचि भम्' से अजादि प्रत्यय परे रहते 'सुपाद्' की भसंज्ञा होने से 'पादः पत्' से भसंज्ञक पाद् अन्त वाले अङ्ग के अवयव 'पाद्' को 'पत्' आदेश हुआ
सुपत् अस्	'स्वादिष्वसर्वनाम०' से 'सुपत्' की सर्वनामस्थान-भिन्न स्वादि प्रत्यय परे रहते 'पद' संज्ञा होने पर 'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में तकार को दकार हुआ
सुपद् अस्	'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्ग होकर
सुपदः	रूप सिद्ध होता है।

सुपदा—तृतीया विभक्ति एकवचन में 'टा' आने पर 'सुपदः' के समान ही **सुपदा** की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

सुपाद्भ्याम्—'सुपाद्+भ्याम्' यहाँ 'भ संज्ञा' नहीं होने के कारण 'पाद्' को 'पत्' आदेश नहीं होता।

अग्निमथ्—'अग्नि' उपपद में रहते 'मन्थ्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय, 'क्विप्' का सर्वापहारी लोप, 'अनिदितां हलः०' से उपधा नकार का लोप तथा 'उपपदमतिङ्' से समास होकर 'अग्निमथ्' शब्द बनता है।

अग्निमत्/अग्निमद्	(अग्निं मथ्नाति इति)
अग्निमथ् सु	प्रथमा-एकवचन में 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप हुआ
अग्निमथ्	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में झलों को 'जश्' आदेश होते हैं। 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'थ्' के स्थान में 'द्' हुआ

अग्निमद् — 'वाऽवसाने' से अवसान में 'झल्' (द्) को विकल्प से 'चर्' (त्) आदेश होकर

अग्निमत्/अग्निमद् — रूप सिद्ध होते हैं।

अग्निमथौ अग्निमथः, इत्यादि में 'औ' और 'जस्' परे रहते 'पद' संज्ञा न होने से 'थ्' को 'द्' नहीं होता, इस प्रकार संहिता होने पर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

३३४. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४

हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः किति ङिति। नुम्। संयोगान्तस्य लोपः। नस्य कुत्वेन ङः—प्राङ्:, प्राञ्चौ, प्राञ्चः।

प०वि०—अनिदिताम् ६।१।। हलः ६।१।। उपधायाः ६।१।। क्ङिति ७।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, नलोपः।

अर्थ—जिसका इकार इत्संज्ञक नहीं है ऐसे हलन्त अङ्ग की उपधा के नकार का लोप होता है, कित् और ङित् प्रत्यय परे रहते।

प्राङ्	(पूर्व दिशा)
प्र अञ्च् क्विन्	'प्र' पूर्वक 'अञ्च्' धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' से 'क्विन्' प्रत्यय आने पर 'हलन्त्यम्' से नकार की, 'उपदेशेऽज०' से इकार की और 'लशक्वतद्धिते' से ककार की 'इत्' संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से उनका लोप हुआ, 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से वकार की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'वेरपृक्तस्य' से 'व्' का लोप हुआ
प्र अञ्च्	लुप्त 'क्विन्' कित् प्रत्यय को निमित्त मानकर 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' से अनिदित् हलन्त अङ्ग की उपधा नकार का लोप हुआ
प्र अ च्	'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ
प्राच्	कृदन्त की 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया
प्राच् सु	अनुबन्ध-लोप, 'उगिदचां सर्वनाम०' से सर्वनामस्थान विभक्ति 'सु' परे रहते 'अञ्चु' धातु के 'अच्' रूप को 'नुम्' आगम हुआ, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से अन्तिम अच् के पश्चात् 'नुम्' हुआ
प्रा नुम् च् स्	अनुबन्ध-लोप
प्रान्च् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से सकार का लोप हुआ
प्रान्च्	'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद के अन्तिम अल् 'च्' का लोप हुआ
प्रान्	'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से क्विन् प्रत्ययान्त को पदान्त में कवर्ग अन्तादेश, 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'न्' के स्थान में 'ङ्' होकर
प्राङ्	रूप सिद्ध होता है।

प्राञ्चौ और **प्राञ्चः** की सिद्धि प्रक्रिया 'युञ्जौ' और 'युञ्जः' (३०५) के समान जानें।

३३५. अचः ६।४।१३८

लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य लोपः स्यात्।

प०वि०—अचः ६।१।। **अनु०**—भस्य, अल्लोपः, अङ्गस्य।

अर्थ—भसंज्ञक लुप्त नकार वाले 'अञ्चु' अङ्ग के ह्रस्व अकार का लोप होता है।

३३६. चौ ६।३।१३८

लुप्ताकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात्। प्राचः। प्राचा। प्राग्भ्याम्। प्रत्यङ्, प्रत्यञ्चौ। प्रतीचः। प्रत्यग्भ्याम्। उदङ्, उदञ्चौ।

प०वि०—चौ ७।१।। **अनु०**—पूर्वस्य, दीर्घः, अणः।

अर्थ—लुप्त अकार तथा लुप्त नकार वाली 'अञ्चु' धातु परे रहते पूर्व में विद्यमान 'अण्' (अ, इ, उ) को दीर्घ होता है।

प्राचः

प्र अच् शस्	पूर्ववत् 'अनिदितां हलः०' से नकार का लोप होकर बने 'क्विन्' प्रत्ययान्त शब्द 'प्र+अच्' से द्वितीया-बहुवचन में 'शस्', अनुबन्ध -लोप, 'यचि भम्' से भसंज्ञा होने पर 'अचः' से लुप्त नकार वाली 'अञ्चु' धातु सम्बन्धी भसंज्ञक अङ्ग के अकार का लोप हुआ
प्र च् अस्	'चौ' से लुप्त-नकार तथा लुप्त-अकार वाले 'अञ्चु' का 'च्' परे रहते पूर्व में विद्यमान 'अण्' (प्र के अकार) को दीर्घ हुआ
प्राच् अस्	सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर
प्राचः	रूप सिद्ध होता है।

प्राचा—तृतीया एकवचन में 'प्राचा' की सिद्धि-प्रक्रिया 'प्राचः' के समान ही जानें।

प्राग्भ्याम्—'प्र+अच्+भ्याम्' यहाँ भसंज्ञा न होने के कारण 'अचः' से अकार का लोप तथा 'चौ' से 'अण्' को दीर्घ नहीं होता। 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने के कारण 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से 'च्' को 'क्' तथा 'झलां जशोऽन्ते' से 'क्' को 'ग्' होकर 'प्राग्भ्याम्' रूप बनता है।

'प्रति' उपसर्ग पूर्वक 'अञ्च्' से 'क्विन्' होकर 'प्रत्यञ्च्' बनने पर **प्रत्यङ्, प्रत्यञ्चौ, प्रतीचः** और **प्रत्यग्भ्याम्** तथा 'उद्' पूर्वक 'अञ्चु' से 'उदञ्च्' बनने पर **उदङ्, उदञ्चौ** आदि की सिद्धि-प्रक्रिया 'प्राङ्', 'प्राञ्चौ', 'प्राचः', 'प्राचा' आदि के समान जानें।

३३७. उद ईत् ६।४।१३९

उच्छब्दात्परस्य लुप्तनकाराञ्चतेर्भस्याकारस्य ईत्। उदीचः। उदीचा। उदग्भ्याम्।

प०वि०—उदः ५।१।। ईत् १।१।। **अनु०**—भस्य, अचः, अत्, अङ्गस्य।

अर्थ—'उद्' से उत्तर लुप्त नकार वाली 'अञ्चु' धातु के भसंज्ञक अङ्ग के अकार के स्थान पर ईकार आदेश होता है।

उदीचः	(उत्तर दिशा)
उद् अच् शस्	'उद्' पूर्वक 'अञ्च' से 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिग०' से 'क्विन्' प्रत्यय होकर 'अनिदितां हलः०' से नकार लोप होकर सम्पन्न 'उदच्' से द्वितीया-बहुवचन में 'शस्', अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'उद ईत्' से 'उद्' से उत्तर नलोप-युक्त भसंज्ञक 'अञ्चु' धातु के अकार को ईकारादेश हुआ
उद् ईच् अस्	सकार को रुत्व तथा विसर्गादेश होकर
उदीचः	रूप सिद्ध होता है।

उदीचा—'उद् अच्+टा (आ)' यहाँ 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा और 'उद ईत्' से अकार को ईकार आदेश होकर 'उदीचा' सिद्ध होता है।

उदग्भ्याम्—'उदच्+भ्याम्' भसंज्ञा न होने से 'अञ्चु' के अकार को ईत्व नहीं होता। 'स्वादिष्वसर्वनाम०' से 'पद' संज्ञा होने के कारण 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से 'च्' को 'क्' तथा 'झलां जशोऽन्ते' से 'क्' को 'ग्' होकर 'उदग्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

३३८. समः समि ६।३।९३

वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ। सम्यङ्। सम्यञ्चौ। समीचः। सम्यग्भ्याम्।

प०वि०—समः ६।१।। समि ७।१।। **अनु०**—अञ्चतौ, वप्रत्यये।

अर्थ—'व' प्रत्ययान्त अर्थात् 'क्विन्' आदि प्रत्ययान्त 'अञ्चु' धातु परे रहते 'सम्' के स्थान में 'समि' आदेश होता है।

सम्यङ्—'सम्+अच्+सु' यहाँ 'क्विन्' प्रत्ययान्त 'अच्' परे रहते 'समः समि' से 'सम्' को 'समि' आदेश। होने पर 'समि+अच्+सु' इस स्थिति में 'इको यणचि' से यणादेश तथा अन्य 'नुम्' आदि कार्य 'प्राङ्' (३३४) के समान होकर 'सम्यङ्' रूप सिद्ध होता है।

'सम्' को 'समि' आदेश होने पर **सम्यञ्चौ** की सिद्धि-प्रक्रिया 'युञ्जौ' (३०५) के समान जानें।

३३९. सहस्य सध्रिः ६।३।९५

तथा। सध्र्यङ्।

प०वि०—सहस्य ६।१।। सध्रिः १।१। **अनु०**—अञ्चतौ, वप्रत्यये।

अर्थ–लुप्त 'व' प्रत्ययान्त ('क्विन्' आदि प्रत्ययान्त) 'अञ्चु' धातु परे रहते 'सह' के स्थान पर 'सध्रि' आदेश होता है।

सध्र्यङ्– 'सह+अच्+सु यहाँ 'क्विन्' प्रत्ययान्त 'अञ्चु' (अच्) परे रहते 'सहस्य सध्रिः' से 'सह' को 'सध्रि' होने पर 'सध्रि+अच्+स्' इस स्थिति में 'इको यणचि' से यणादेश तथा अन्य 'नुम्' आदि कार्य 'प्राङ्' (३३४.) के समान जानें।

३४०. तिरसस्तिर्यलोपे ६।३।९४

अलुप्ताकारेऽञ्चतौ वप्रत्ययान्ते तिरसस्तिर्यादेशः। तिर्यङ्। तिर्यञ्चौ। तिर्यञ्चः। तिर्यग्भ्याम्।

प०वि०–तिरसः ६।१।। तिरि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः।। अलोपे ७।१।। **अनु०**–अञ्चतौ, वप्रत्यये।

अर्थ–जिसके अकार का लोप नहीं हुआ है, ऐसी वप्रत्ययान्त अर्थात् 'क्विन्' प्रत्ययान्त 'अञ्चु' धातु परे रहते 'तिरस्' के स्थान पर 'तिरि' आदेश होता है।

'अनेकाल्शित्सर्वस्य' से अनेकाल् होने के कारण 'तिरि' आदेश सम्पूर्ण 'तिरस्' के स्थान में होता है।

विशेष–'अञ्चु' के अकार का लोप 'शस्' आदि अजादि विभक्तियों में भसंज्ञा होने के कारण 'अचः' से होता है। इसलिए 'तिरस्' को 'तिरि' आदेश अजादि विभक्तियों में नहीं होता, केवल हलादि विभक्तियों में होता है।

तिर्यङ्	(तिर्यग्योनि, पशु-पक्षी आदि)
तिरस् अच् सु	'तिरस्' पूर्वक 'अञ्चु' धातु से 'क्विन्' उसका सर्वापहारी लोप, 'अनिदितां हल०' से नकार-लोप होने पर प्रथमा-एकवचन में 'सु', अनुबन्ध-लोप और 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप हुआ
तिरस् अच्	यहाँ 'अच्' में 'अञ्चु' के अकार का लोप नहीं हुआ है तथा यह 'क्विन्' प्रत्ययान्त भी है इसलिए 'तिरसस्तिर्यलोपे' से 'अच्' परे रहते 'तिरस्' को 'तिरि' आदेश हुआ
तिरि अच्	'इको यणचि' से यणादेश 'इ' को 'य्' हुआ
तिर्यच्	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'सु' को निमित्त मानकर 'उगिदचां सर्वनाम०' से 'नुम्' आगम, अनुबन्ध-लोप
तिर्य न् च्	'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद के अन्तिम 'अल्' चकार का लोप हुआ
तिर्यन्	'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से क्विन् प्रत्ययान्त को कवर्गादेश अर्थात् 'न्' को 'ङ्' होकर
तिर्यङ्	रूप सिद्ध होता है।

तिर्यग्भ्याम्–'तिरस् अच्+भ्याम्' यहाँ 'तिरसस्तिर्यलोपे' से 'तिरस्' को 'तिरि' आदेश और यणादेश होकर 'तिर्यच्+भ्याम्' बनने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'प्राग्भ्याम्' (३३६) के समान जानें।

तिर्यञ्चौ, तिर्यञ्चः इत्यादि की सिद्धि-प्रक्रिया में 'तिरस्' को 'तिरि' आदेश होकर शेष सभी कार्य 'युञ्जौ' और 'युञ्जः' (३०५) के समान जानें।

३४१. नाञ्चेः पूजायाम् ६।४।३०

पूजार्थस्याऽञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न। प्राङ्। प्राञ्चौ। नलोपाभावाद् 'अ' लोपो न-प्राञ्चः। प्राङ्भ्याम्। प्राङ्क्षु। एवं पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः। क्रुङ्। क्रुञ्चौ। क्रुङ्भ्याम्। पयोमुक्, पयोमुग्। पयोमुचौ। पयोमुग्भ्याम्। उगित्त्वान्नुम्।

प०वि०–न अ०।। अञ्चेः ६।१।। पूजायाम् ७।१।। **अनु०**–उपधायाः, नलोपः।

अर्थ–पूजा अर्थ में 'अञ्चु' धातु की उपधा नकार का लोप नहीं होता।

प्राङ्	(पूजा)
प्र अञ्च् क्विन्	'प्र' पूर्वक पूजार्थक 'अञ्चु' धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' से 'क्विन्' प्रत्यय, 'क्विन्' का सर्वापहारी लोप होने पर 'अनिदितां हल०' से उपधा नकार को लोप प्राप्त था, जिसका 'नाञ्चेः पूजायाम्' से अञ्चु धातु के पूजार्थक होने से निषेध हो गया। इस प्रकार 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश होने पर क्विन्नन्त प्रातिपदिक 'प्राञ्च्' से प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया
प्राञ्च् सु	अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप हुआ
प्राञ्च्	यहाँ नकार का लोप न होने से 'उगिदचां सर्वनाम०' से 'अञ्चु' को 'नुम्' नहीं होता। 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद का लोप प्राप्त हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से चकार का लोप हुआ
प्रान्	'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से 'क्विन्' प्रत्ययान्त को कवर्गादेश 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'न्' के स्थान पर 'ङ्' होकर
प्राङ्	रूप सिद्ध होता है।

प्राञ्चौ–'प्राञ्च्+औ' यहाँ 'नाञ्चेः पूजायाम्' नकार के लोप का निषेध होने पर संहिता होकर 'प्राञ्चौ' रूप सिद्ध होता है।

प्राङ्भ्याम्–'प्राञ्च्+भ्याम्' यहाँ 'नाञ्चेः पूजायाम्' से नकार के लोप का निषेध होने पर 'भ्याम्' परे रहते 'प्राञ्च्' की 'स्वादिष्वसर्वनाम०' से 'पद' संज्ञा, 'संयोगान्तस्य लोपः' से चकार का लोप और 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से 'न्' को 'ङ्' होकर 'प्राङ्भ्याम्' यह रूप सिद्ध होता है।

प्राङ्क्षु	
प्राञ्च् सुप्	सप्तमी-एकवचन में 'सुप्', अनुबन्ध-लोप, यहाँ 'नाञ्चेः पूजायाम्'

	से नकार-लोप का निषेध हुआ। 'स्वादिष्वसर्वनाम०' से 'प्राञ्च्' की 'पद' संज्ञा होती है।
प्राञ्च् सु	'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद के अन्तिम 'अल्' (चकार) का लोप हुआ
प्रान् सु	चुत्व के निमित्त 'च्' के न रहने पर नैमित्तिक (कार्य) 'ञ्' भी अपने मूल रूप 'न्' में आ गया। 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से 'क्विन्' प्रत्ययान्त को कवर्गादेश अर्थात् 'न्' को 'ङ्' आदेश हुआ
प्राङ् सु	'ङणोः कुक् टुक् शरि' से 'शर्' परे रहते ङकार को 'कुक्' आगम हुआ
प्राङ् कुक् सु	अनुबन्ध-लोप
प्राङ् क् सु	'आदेशप्रत्यययोः' से कवर्ग से उत्तर प्रत्यय के सकार को मूर्धन्य (षकार) होकर
प्राङ्क्षु=प्राङ्क्षु	रूप सिद्ध होता है।

प्रत्यङ्—इसी प्रकार पूजार्थक 'प्रति+अञ्चु' से प्रथमा आदि विभक्तियों में 'प्रत्यङ्' आदि रूप भी जानने चाहिए।

पाणिनि के 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिग०' सूत्र में 'क्रुञ्च्' शब्द 'क्विन्' प्रत्ययान्त निपातन है। जिसके '**क्रुञ्च्+सु**' यहाँ 'प्राङ्' के समान सुलोप, पद संज्ञा, संयोगान्त-लोप, तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से कुत्व होकर **क्रुङ्** तथा 'औ' और 'जस्' विभक्ति में **क्रुञ्चौ, क्रुञ्चः** आदि रूप सिद्ध होते हैं।

पयोमुक्, पयोमुग्—'पयोमुच्' शब्द 'पयो मुञ्चति' इति क्विबन्त रूप है इसलिए 'पयोमुच्+सु' यहाँ हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप, 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व, 'चोः कुः' से कुत्व, 'वाऽवसाने' से विकल्प से 'चर्' होकर 'पयोमुक्' और 'पयोमुग्' रूप बनते हैं।

पयोमुग्भ्याम्—'पयोमुच्+भ्याम्' आदि हलादि विभक्तियों में 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा, 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व होने पर 'चोः कुः' से कुत्व होकर **पयोमुग्भ्याम्** आदि रूप सिद्ध होते हैं।

३४२. सान्तमहतः संयोगस्य ६।४।१०

सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारः, तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। महान्, महान्तौ, महान्तः। हे महन्। महद्भ्याम्।

प०वि०—सान्त लुप्तषष्ठ्यन्त।। महतः ६।१।। संयोगस्य ६।१।। **अनु०**—सर्वनामस्थाने, च, असम्बुद्धौ, न, उपधायाः, दीर्घः, अङ्गस्य।

अर्थ—सकारान्त संयोग का और महत् अङ्ग का जो नकार, उसकी उपधा को दीर्घ होता है, सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते।

महान्	(महान्)
महत् सु	उणादि सूत्र 'वर्तमाने पृषन्महद्०' (२४१) से निपातित शतृवत् अतिदिष्ट 'महत्' से प्रथमा-एकवचन में 'सु', अनुबन्ध-लोप, 'सुडनपुंसकस्य' से 'सुट्' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'उगिदचां सर्वनामस्थाने०' से 'नुम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्पर:' से अन्तिम 'अच्' से परे 'नुम्' आगम हुआ
मह नुम् त् स्	अनुबन्ध-लोप
मह न् त् स्	'सान्तमहत: संयोगस्य' से 'महत्' का जो नकार उसकी उपधा को दीर्घ हुआ, सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते
महान्त् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से हलन्त से उत्तर 'अपृक्त' सकार का लोप तथा 'संयोगान्तस्य लोप:' से संयोगान्त पद के अन्तिम 'अल्' तकार का लोप होने पर
महान्	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'महत्' शब्द से 'औ' और 'जस्' विभक्ति परे रहते **महान्तौ** और **महान्त:** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

हे महन् की सिद्धि भी 'महान्' के समान ही होती है, केवल सम्बोधन के एकवचन में 'सु' की 'सम्बुद्धि' संज्ञा होने से 'सान्तमहत: संयोगस्य' से 'महत्' के नकार की उपधा को दीर्घ नहीं होता।

महद्भ्याम्–'महत्+भ्याम्' में 'भ्याम्' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा न होने से 'उगिचां०' से नुमागम नहीं होता। 'स्वादिष्वसर्व०' से 'भ्याम्' परे रहते 'महत्' की 'पद' संज्ञा होने से 'झलां जशोऽन्ते' से 'त्' को 'द्' होकर 'महद्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

३४३. अत्वसन्तस्य चाऽधातो: ६।४।१४

अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो धातुभिन्नासन्तस्य चाऽसम्बुद्धौ सौ परे। धीमान्, धीमन्तौ, धीमन्त:। हे धीमन्। शसादौ महद्वत्। भातेर्डवतु:। डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोप:। भवान्, भवन्तौ, भवन्त:। शत्रन्तस्य भवन्।

प०वि०–अत्वसन्तस्य ६।१।। च अ०।। अधातो: ६।१।। **अनु०**–उपधाया:, सौ, दीर्घ:, अङ्गस्य।

अर्थ–'अतु' अन्त वाले अङ्ग की तथा धातु-भिन्न असन्त ('अस्' अन्त वाले) अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो होता है, सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते।

धीमान्	(बुद्धिमान्)
धीमत् सु	'मतुप्' प्रत्ययान्त होने से 'धीमत्' शब्द अत्वन्त है, इसलिए प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप, 'अत्वसन्तस्य चाऽधातो:' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते उपधा को दीर्घ हुआ

धीमात् स्	'सुडनपुंस्कस्य' से 'सु' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'उगिदचां सर्वनाम०' से नुमागम हुआ, अनुबन्ध-लोप
धीमा न् त् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' से तकार लोप होकर संहिता होने पर
धीमान्	रूप सिद्ध होता है।

धीमन्तौ, धीमन्तः में 'धीमत्' शब्द से 'औ' और 'जस्' विभक्ति परे रहते 'उगिदचां सर्वनाम०' से नुमागम होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

'शस्' आदि विभक्ति परे रहते 'धीमत्' के रूप 'महत्' के समान जानें।

'भवत्' शब्द 'भा' धातु से 'डवतुप्' (अवत्) प्रत्यय लगकर बना है 'डवतुप्' के डित् होने से डित्त्व सामर्थ्य से बिना 'भ' संज्ञा के 'भा' धातु के टिभाग 'आ' का लोप हो जाता है।

भवान्, भवन्तौ, भवन्तः—की सिद्धि-प्रक्रिया 'धीमान्', 'धीमन्तौ' और 'धीमन्तः' के समान जानें।

भवन्—'भा' धातु से 'शतृ' प्रत्ययान्त रूप भी 'भवत्' बनता है, जिसके प्रथमा एकवचन में 'सु' विभक्ति परे रहते 'अतु' प्रत्ययान्त न होने से उपधा को दीर्घ नहीं होता, शेष सभी कार्य 'भवान्' के समान होकर 'भवन्' रूप सिद्ध होता है।

३४४. उभे अभ्यस्तम् ६।१।५

षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसञ्ज्ञे स्तः।

प०वि०—उभे १।२।। अभ्यस्तम् १।१।। **अनु०**—द्वे।

अर्थ—(छठे अध्याय में) जिसे द्वित्व कहा गया है उन दोनों की समुदित रूप से 'अभ्यस्त' संज्ञा होती है।

३४५. नाऽभ्यस्ताच्छतुः ७।१।७८

अभ्यस्तात् परस्य शतुर्नुम् न स्यात्। ददत्, ददद्। ददतौ। ददतः।

प०वि०—न अ०।। अभ्यस्तात् ५।१।। शतुः ६।१।। **अनु०**—नुम्, अङ्गस्य।

अर्थ—'अभ्यस्त' अङ्ग से उत्तर 'शतृ' को 'नुम्' आगम नहीं होता।

ददत्/ददद्	(देता हुआ)
ददत् सु	'दा' धातु से 'शतृ' प्रत्यय लगकर, 'श्लौ' से द्वित्व आदि होकर 'ददत्' बना है, इसलिए 'उगिदचां०' से 'नुम्' आगम प्राप्त था, परन्तु 'दा दा+अत्' में 'उभे अभ्यस्तम्' से 'अभ्यस्त' संज्ञा होने के कारण 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से 'अभ्यस्त' से उत्तर 'शतृ' को 'नुम्' का निषेध हो गया। अनुबन्ध-लोप
	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त 'स्' का लोप हुआ
ददत् स्	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में 'त्' को 'द' हुआ
ददत्	

ददद् 'वाऽवसाने' से अवसान में झलों को विकल्प से 'चर्' होकर
ददत्/ददद् रूप सिद्ध होते हैं।

ददतौ तथा **ददतः** में 'ददत्' शब्द से 'औ' और 'जस्' परे रहते 'ददत्' की पद संज्ञा नहीं होती, अतः जश्त्व भी नहीं होता।

३४६. जक्षित्यादयः षट् ६।१।६

षड् धातवोऽन्ये जक्षतिश्च सप्तम एतेऽभ्यस्तसञ्ज्ञाः स्युः। जक्षत्, जक्षतौ, जक्षतः। एवं जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत्, चकासत्। गुप्, गुब्,। गुपौ। गुपः। गुब्भ्याम्।।

प०वि०—जक्षित्यादयः १।३।। षट् १।१।। **अनु०**—अभ्यस्तम्।

अर्थ—'जक्ष्' तथा जक्ष् के पश्चात् आने वाली छः धातुओं[1] की 'अभ्यस्त' संज्ञा होती है।

जक्षत्/जक्षद् (खाता हुआ)
जक्षत् सु भ्वादि गणपठित 'जक्ष्' से 'लट्' के स्थान में 'शतृ' (प्रत्यय) आदेश होकर बना 'जक्षत्' शब्द 'उगित्' है, इसलिए 'उगिदचां०' से 'सर्वनामस्थान' संज्ञक 'सु' परे रहते 'नुम्' आगम प्राप्त हुआ, परन्तु 'जक्षित्यादयः षट्' से 'जक्ष्' आदि धातुओं की 'अभ्यस्त' संज्ञा होने से 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से 'अभ्यस्त' से उत्तर 'शतृ' को 'नुम्' का निषेध हो गया, अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'सु' के अपृक्त सकार का लोप हुआ
जक्षत् 'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में 'झल्' के स्थान में 'जश्' अर्थात् 'त्' को 'द्' हुआ
जक्षद् 'वाऽवसाने' से विकल्प से 'चर्त्व' होकर
जक्षत्/जक्षद् रूप सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार 'जागृ', 'दरिद्रा', 'शासु' और 'चकासृ' धातुओं की 'जक्षित्यादयः षट्' से 'अभ्यस्त' संज्ञा होने से 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से सर्वत्र 'नुम्' आगम का निषेध होकर **जाग्रत्, दरिद्रत, शासत्** और **चकासत्** रूपों की सिद्धि-प्रक्रिया जाननी चाहिए।

गुप्, गुब्—पकारान्त 'गुप्' शब्द 'गुप्+क्विप्' से बना है। 'गुप्+स् (सु)' यहाँ 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप होने पर जश्त्व तथा विकल्प से चर्त्व होकर 'गुप्' और 'गुब्' की सिद्धि-प्रक्रिया जाननी चाहिये।

३४७. त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ३।२।६०

त्यदादिषूपपदेषु अज्ञानार्थाद् दृशेः कञ् स्याच्चात् क्विन्।

---

१. जक्षि-जागृ-दरिद्रा-शास्-दीधीङ्-वेवीङ्-चकास्तथा।
अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः।।

प०वि०—त्यदादिषु ७।३।। दृशः ५।१।। अनालोचने ७।१।। कञ् १।१।। च अ०।। **अनु०**—क्विन्।

अर्थ—त्यदादि गण में पठित 'त्यद्' आदि शब्द उपपद में रहते अज्ञानार्थक 'दृश्' धातु से 'कञ्' प्रत्यय होता है और 'क्विन्' भी।

३४८. आ सर्वनाम्नः ६।३।९१

सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्-दृश-वतुषु। तादृक्, तादृग्। तादृशौ। तादृशः। तादृग्भ्याम्। 'व्रश्च'-इति षः। जश्त्वचर्त्वे-विट्, विड्। विशौ। विशः। विड्भ्याम्।

प०वि०—आ १।१।। सर्वनाम्नः ६।१।। **अनु०**—दृग्-दृशवतुषु।

अर्थ—दृग्, दृश और वतु परे रहते सर्वनाम शब्दों को आकार अन्तादेश होता है।

तादृक्/तादृग्	'स इव पश्यति', (वैसा)
तद् सु दृश् क्विन्	'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने०' से 'तद्' उपपद में रहते 'दृश्' से 'क्विन्' प्रत्यय, 'क्विन्' का सर्वापहारी लोप 'उपपदमतिङ्' से समास और सुब्लुक् आदि कार्य होने पर
तद् दृश्	यहाँ 'आ सर्वनाम्नः' से 'दृश्' परे रहते सर्वनाम शब्द 'तद्' को आकार अन्तादेश हुआ
त आ दृश्	'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हुआ
तादृश्	'क्विन्' प्रत्ययान्त की 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया
तादृश् सु	अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप हुआ
तादृश्	प्रत्ययलक्षण से लुप्त 'सु' को निमित्त मानकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराज०' से शकारान्त पद को षकार अन्तादेश हुआ
तादृष्	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में 'ष्' को 'ड्' आदेश हुआ
तादृड्	'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से 'क्विन्' प्रत्ययान्त को पदान्त में कवर्गादेश, 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ड्' के स्थान में 'ग्' हुआ
तादृग्	'वाऽवसाने' से अवसान में झलों को विकल्प से 'चर्' होकर
तादृक्/तादृग्	रूप सिद्ध होते हैं।

तादृशौ, तादृशः—'तद्' उपपद में रहते 'दृश्' धातु से 'त्यदादिषु दृशः०' से 'क्विन्' प्रत्यय, 'क्विन्' का सर्वापहारी लोप, 'आ सर्वनाम्नः' से 'तद्' को आकार अन्तादेश और दीर्घ आदि होकर 'तादृश्' बनने पर प्रथमा-द्विवचन और बहुवचन में क्रमशः 'औ' और 'जस्' आने पर 'तादृशौ' और 'तादृशः' रूप सिद्ध होते हैं।

तादृग्भ्याम्—'तादृश्+भ्याम्' में 'स्वादिष्वसर्व०' से 'भ्याम्' परे रहते 'तादृश्' की 'पद' संज्ञा होने के कारण षत्व, डत्व और कुत्वादि कार्य 'तादृग्' के समान जानें।

विट्/विड्–(वैश्य) क्विबन्त 'विश्' शब्द से उत्तर प्रथमा विभक्ति के एकवचन 'सु' के सकार का 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से लोप होकर 'व्रश्चभ्रस्ज०' से शकार के स्थान में मूर्धन्य षकार, 'झलां जशोऽन्ते' से 'ष्' को 'ड्' तथा 'वाऽवसाने' से 'ड्' को विकल्प से 'ट्' होकर 'विट्' और 'विड्' रूप सिद्ध होते हैं।

विड्भ्याम्–'विश्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्व०' से 'विश्' की 'पद' संज्ञा होने से 'विड्' के समान ही शकार को षकारादेश तथा जशत्वादि कार्य होते हैं।

३४९. नशेर्वा ८।२।६३

नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा पदान्ते। नक्, नग्, नट्, नड्। नशौ। नशः। नग्भ्याम्, नड्भ्याम्।

प०वि०–नशेः ६।१।। वा अ०।। **अनु०**–पदस्य, अन्ते, कुः।

अर्थ–पदान्त में 'नश्' को विकल्प से कवर्ग (अन्तादेश) होता है।

नक्/नग्	(नश्वर)
नश् सु	क्विबन्त 'नश्' शब्द से प्रथमा-एकवचन में 'सु' के सकार का 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से लोप हुआ
नश्	त्रिपादी में पर सूत्र होने के कारण 'नशेर्वा' (८.२.६३.) सूत्र 'व्रश्चभ्रस्जसृज०' (८.२.३६.) की दृष्टि में 'पूर्वत्रासिद्धम्' से असिद्ध होता है, अतः पहले 'व्रश्चभ्रस्ज०' से पदान्त में शकार को षकारादेश हुआ
नष्	'झलां जशोऽन्ते' से जशत्व होकर 'ष्' को 'ड्' आदेश हुआ
नड्	'नशेर्वा' से पदान्त में 'नश्' को कवर्गान्तादेश विकल्प से हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ड्' के स्थाने 'ग्' हुआ
नग्	'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व अर्थात् 'ग्' को 'क्' होकर
नग्/नक्	दो रूप सिद्ध होते हैं।

नट्/नड्–जब 'नशेर्वा' से कवर्गादेश नहीं हुआ तो 'वाऽवसाने' से 'ड्' को विकल्प से चर्त्व 'ट्' होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

नग्भ्याम् और **नड्भ्याम्** में 'नश्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्व०' से 'नश्' की 'पद' संज्ञा होने से सभी कार्य 'नग्' और 'नड्' के समान जानने चाहिए।

३५०. स्पृशोऽनुदके क्विन् ३।२।५८

अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन्। घृतस्पृक्, घृतस्पृग्। घृतस्पृशौ। घृतस्पृशः। दधृक्, दधृग्। दधृषौ। दधृषः। दधृग्भ्याम्। रत्नमुट्, रत्नमुड्। रत्नमुषौ। रत्नमुड्भ्याम्। षट्, षड्। षड्भिः। षड्भ्यः २। षण्णाम्। षट्सु। रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' इति रुत्वम्।

प०वि०—स्पृशः ५।१।। अनुदके ७।१।। क्विन् १।१।। **अनु०**—सुपि।

अर्थ—उदक-भिन्न सुबन्त उपपद में रहते 'स्पृश्' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय होता है।

घृतस्पृक्/घृतस्पृग्	(घी को छूने वाला) घृतं स्पृशति इति
घृत अम् स्पृश्	'स्पृशोऽनुदके क्विन्' से उदक-भिन्न सुबन्त उपपद में रहते 'स्पृश्' से 'क्विन्' प्रत्यय हुआ
घृत ङस् स्पृश् क्विन्	'क्विन्' का सर्वापहारी लोप होने पर
घृत ङस् स्पृश्	'उपपदमतिङ्' से उपपद का अतिङन्त के साथ समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
घृत स्पृश्	स्वाद्युत्पत्ति से प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया
घृत स्पृश् सु	अनुबन्ध-लोप होने पर हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'सु' के 'अपृक्त' संज्ञक सकार लोप हुआ
घृत स्पृश्	'व्रश्चभ्रस्ज०' से षत्व, 'झलां जशो०' से डत्व, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से कुत्व 'ड्' को 'ग्' आदेश और 'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व आदि कार्य 'तादृक्' (३४५) के समान होकर
घृतस्पृक्/घृतस्पृग्	रूप सिद्ध होते हैं।

पाणिनि ने 'ऋत्विग् दधृक्०' सूत्र में 'धृष्' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय करके 'दधृष्' शब्द निपातन किया है।

दधृक्, दधृग्। दधृषौ। दधृषः—इनकी सिद्धि-प्रक्रिया में जश्त्व, कुत्व (क्विन् प्रत्ययस्य कुः) और विकल्प से चर्त्वादि कार्य पूर्ववत् जानें।

रत्नमुट्, रत्नमुड्—'रत्नमुष्' शब्द क्विबन्त है। इससे परे 'सु' आदि विभक्ति का लोप होने पर जश्त्व, चर्त्वादि कार्य तादृग्वत् (३४८) जानने चाहिएं।

षट्/षड्	(छः)
षष् जस्	प्रथमा-बहुवचन में 'जस्', 'ष्णान्ता षट्' से षकारान्त संख्या की 'षट्' संज्ञा होने के कारण 'षड्भ्यो लुक्' से षट्संज्ञक से उत्तर 'जस्' का लुक् हुआ
षष्	'पद' संज्ञा होने पर पूर्ववत् 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व 'ष्' को 'ड्' तथा 'वाऽवसाने' से अवसान में विकल्प से चर्त्व 'ड्' को 'ट्' होकर
षट्/षड्	रूप सिद्ध होते हैं।

षड्भिः, षड्भ्यः इत्यादि में 'भिस्' और 'भ्यस्' परे रहते 'स्वादिष्वसर्व०' से 'षष्' की 'पद' संज्ञा होने के कारण 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्वादि कार्य जानने चाहिए।

षण्णाम्

षष् आम्	'ष्णान्ता षट्' से 'षट्' संज्ञा होने के कारण 'षट्चतुर्भ्य०' से षट्संज्ञक से उत्तर 'आम्' को 'नुट्' आगम हुआ
षष् नुट् आम्	अनुबन्ध-लोप
षष् नाम्	'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने से 'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में 'ष्' को 'ड्' हुआ
षड् नाम्	'अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णकार आदेश हुआ
षड् णाम्	'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' से अनुनासिकादि प्रत्यय परे रहते 'यर्' के स्थान में नित्य ही अनुनासिक आदेश, 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ड्' को 'ण्' होकर
षण्णाम्	रूप सिद्ध होता है।

रुत्वं प्रति०–'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) सूत्र त्रिपादी में पर सूत्र होने के कारण 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) की दृष्टि में असिद्ध होता है, इसलिए मूर्धन्यादेश को बाधकर रुत्व ही पहले होगा।

३५१. र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ८।२।७६

रेफवान्तयोरुपधाया इको दीर्घः स्यात् पदान्ते। पिपठीः। पिपठिषौ। पिपठीर्भ्याम्।

प०वि०–र्वोः ६।२।। उपधायाः ६।१।। दीर्घः १।१।। इकः ६।१।। **अनु०**–पदस्य, अन्ते, धातोः।

अर्थ–पदान्त में रेफान्त तथा वकारान्त धातु की उपधा 'इक्' को दीर्घ होता है।

पिपठीः	(पढ़ने की इच्छा वाला)
पिपठिष् सु	'पठ्' धातु से 'सन्' प्रत्यय करने पर इडागम द्वित्त्वादि कार्य तथा 'आदेशप्रत्यययोः से सकार को षत्व होकर 'पिपठिष' धातु बनता है जिससे 'क्विप् च' से 'क्विप्' प्रत्यय लाकर उसका सर्वापहारी लोप, 'क्विप्' को निमित्त मानकर 'अतो लोपः' से 'पिपठिष' के अकार का लोप करने पर 'पिपठिष्' कृदन्त प्रातिपदिक बनता है, जिससे यहाँ प्रथमा एकवचन में 'सु' प्रत्यय आया है। अनुबन्ध –लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से सकार का लोप हुआ
पिपठिष्	'ससजुषो रुः' से सकारान्त पद के स्थान में 'रु' आदेश होता है, परन्तु यहाँ तो 'पिपठिष्' षकारान्त पद है इसलिए इस सूत्र के लिए अपेक्षित परिस्थिति का अभाव है। 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' से त्रिपादी में परसूत्र होने के कारण 'आदेशप्रत्यययोः (८.३.५९)' सूत्र 'ससजुषो रुः (८.२.६६.)' की दृष्टि में असिद्ध हो जाता है अतः षकारान्त पद को ही सकारान्त मानकर उसको 'रु' आदेश हो जाता है
पिपठि रु	अनुबन्ध-लोप

पिपठिर् — 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से यहाँ लुप्त 'सु' को निमित्त मानकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा भी है और 'धातु'[1] संज्ञा भी, अतः 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' से रेफान्त धातु की उपधा 'इक्' को पदान्त में दीर्घ हुआ

पिपठीर् — 'विरामोऽवसानम्' से 'अवसान' संज्ञा तथा 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर

पिपठीः — रूप सिद्ध होता है।

पिपठिषौ—पूर्ववत् सन्नन्त 'पिपठिष' धातु से निष्पन्न क्विबन्त 'पिपठिष्' प्रातिपदिक से 'औ' परे रहते 'पद' संज्ञा न होने से 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' से दीर्घ न होने पर 'पिपठिषौ' रूप सिद्ध होता है।

पिपठीर्भ्याम् में 'भ्याम्' परे रहते 'पिपठिष्' की 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने से सभी कार्य 'पिपठीः' के समान जानें।

३५२. नुम्-विसर्जनीय-शर्-व्यवायेऽपि ८।३।५८

एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः-पिपठीष्षु। पिपठीःषु। चिकीः। चिकीर्षौ। चिकीर्भ्याम्। चिकीर्षु। विद्वान्। विद्वांसौ। हे विद्वन्।

प०वि०—नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये ७।१।। अपि अ०।। **अनु०**—मूर्धन्यः, सः, इण्कोः।

अर्थ—'इण्' तथा कवर्ग से उत्तर, 'नुम्', विसर्जनीय तथा 'शर्' (श्, ष्, स्) का व्यवधान होने पर भी सकार को मूर्धन्यादेश (ष्) होता है।

पिपठीःषु

पिपठिष् सुप् — 'सन्' प्रत्ययान्त 'पिपठिष' धातु से क्विबन्त पिपठिष्' प्रातिपदिक बनने पर सप्तमी बहुवचन में 'सुप्' आया, अनुबन्ध-लोप, 'स्वादिष्वसर्व०' से 'सुप्' परे रहते 'पिपठिष्' की 'पद' संज्ञा होने पर 'ससजुषो रुः' से सकार के स्थान में 'रु' आदेश हो जाता है। क्योंकि 'आदेशप्रत्यययोः' से किया गया मूर्धन्यादेश त्रिपादी में पर सूत्र का कार्य होने के कारण 'ससजुषो रुः' की दृष्टि में असिद्ध होता है। अनुबन्ध-लोप

पिपठिर् सु — 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' से रेफान्त पद की उपधा 'इक्' को दीर्घ हुआ

पिपठीर् सु — 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'खर्' (सकार) परे रहते रेफ को विसर्गादेश हुआ

पिपठीः सु — 'विसर्जनीयस्य सः' से 'खर्' परे रहते विसर्ग के स्थान में

---

१. क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति।

सकारादेश प्राप्त हुआ, जिसे बाधकर 'वा शरि' से 'शर्' परे रहते विसर्ग को विकल्प से विसर्गादेश हुआ

पिपठीः सु — 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' से 'इण्' से उत्तर विसर्ग का व्यवधान होने पर भी सकार को मूर्धन्यादेश होकर

पिपठीःषु — रूप सिद्ध होता है।

पिपठिष्षु–जिस पक्ष में 'वा शरि' से विसर्ग नहीं होगा तो 'विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग को सकारादेश होने पर 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्यादेश तथा 'ष्टुना ष्टुः' से 'सु' के सकार को ष्टुत्व (षकार) होकर 'पिपठीष्षु' रूप बनता है।

चिकीः — (करने की इच्छा वाला)

चिकीर्ष् सु — 'कृ' धातु से सन्नन्त 'चिकीर्ष' धातु बनने पर 'क्विप् च' से 'क्विप्' प्रत्यय, उसका सर्वापहारी लोप, 'अतो लोपः' से अकार का लोप तथा स्वाद्युत्पत्ति से प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया अनुबन्ध-लोप होने पर सकार का हल्ङ्यादि लोप हुआ

चिकीर्ष् — 'संयोगान्तस्य लोपः' से 'ष्' का लोप प्राप्त था जिसका 'रात्सस्य' नियम से निषेध प्राप्त हुआ, क्योंकि 'रात्सस्य' से रेफ से उत्तर संयोगान्त सकार का ही लोप होता है। परन्तु यहाँ 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' के कारण 'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र 'रात्सस्य' की दृष्टि में असिद्ध हो जाता है इसलिए रेफ से उत्तर संयोगान्त सकार ही मान लिया जाता है तथा उसका लोप भी हो जाता है

चिकीर् — 'खरवसानयोः०' से अवसान में रेफ को विसर्ग होकर

चिकीः — रूप सिद्ध होता है।

चिकीर्षौ–'चिकीर्ष्+औ' में संयोगान्त 'पद' न मिलने के कारण सकार का लोप नहीं होता।

चिकीर्भ्याम् एवं **चिकीर्षु** में 'भ्याम्' और 'सु' (सुप्) पर रहते 'स्वादिष्वसर्व०' से 'चिकीर्ष्' की 'पद' संज्ञा होने से 'रात्सस्य' से सकार का लोपादि कार्य 'चिकीः' के समान जानें।

विद्वान् — (विद्वान्)

विद्वस् — अदादि में पठित 'विद्' से 'वर्तमाने लट्' से 'लट्' आने पर 'लटः शतृशान०' से 'लट्' के स्थान में 'शतृ' आदेश, 'शतृ' को 'विदेः शतुर्वसुः' से 'वस्' आदेश, 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से 'शप्' का लुक् होकर बना 'विद्वस्' शब्द 'शतृ' प्रत्ययान्त कृदन्त है। स्वाद्युत्पत्ति के सभी कार्य होकर प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया

विद्वस् सु	अनुबन्ध-लोप, 'सुडनपुंस्कस्य' से 'सुट्' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने से, 'उगिदचां सर्वनामस्थाने०' से उगिदन्त को 'नुम' आगम हुआ
विद्व नुम् स् स्	अनुबन्ध-लोप
विद्व न् स् स्	'सान्तमहतः संयोगस्य' से सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान (सु) परे रहते सकारान्त संयोग के नकार की उपधा (अ) को दीर्घ (आ) हुआ
विद्वा न् स् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर अपृक्त सकार का लोप हुआ
विद्वान् स्	'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद के अन्त्य 'अल्' (स्) का लोप हुआ
विद्वान्	'नलोपः प्राति०' से नकार का लोप प्राप्त हुआ, 'पूर्वत्रासिद्धम्' के कारण 'न लोपः प्राति०' (८.२.७.) की दृष्टि में 'संयोगान्तस्य०' (८.२.२३.) के असिद्ध हो जाने से नकारान्त पद नहीं मिलता इसलिए 'न लोप०' से नकार का लोप नहीं होता। इस प्रकार रूप सिद्ध होता है।
विद्वान्	

विद्वांसौ—'विद्वस्+औ' यहाँ 'विद्वान्' के समान 'उगिदचां०' से 'नुम्', 'सान्तमहतः०' से नकार की उपधा को दीर्घ होने पर 'नश्चापदान्तस्य झलि' से 'न्' को अनुस्वार होकर 'विद्वांसौ' बनता है।

हे विद्वन्—'हे विद्वस्+सु' यहाँ सम्बोधन के एकवचन में 'सु' की 'एकवचनं सम्बुद्धिः' से 'सम्बुद्धि' संज्ञा होने के कारण 'सान्तमहतः०' से उपधा को दीर्घ नहीं होता, शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'विद्वान्' के समान ही जानें।

३५३. वसोः सम्प्रसारणम् ६।४।१३१

वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणं स्यात्। विदुषः। 'वसुस्रंसु०' इति दः-विद्वद्भ्याम्।

प०वि०—वसोः ६।१।। सम्प्रसारणम् १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, भस्य।

अर्थ—'वसु' प्रत्यान्त भसंज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण होता है। अर्थात् 'वसु' प्रत्ययान्त के 'यण्' के स्थान पर 'इक्' होता है।[1]

विदुषः

विद्वस् शस्	द्वितीय-बहुवचन में 'शस्', अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से स्वादि प्रत्ययों में अजादि प्रत्यय 'अस्' परे रहते 'विद्वस्' की 'भ' संज्ञा होने से 'वसोः सम्प्रसारणम्' के वस्वन्त भसंज्ञक को सम्प्रसारण. 'यण्' (व्) के स्थान में 'इक्' (उ) हुआ

---

१. इग्यणः सम्प्रसारणम्, अ० १।१।५५

विद् उ अस् अस्	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण उकार से 'अच्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हुआ
विद् उस् अस्	'ससजुषो रुः' से 'शस्' के 'स्' को 'रु' आदेश हुआ
विदुस रु	अनुबन्ध-लोप होने पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से अवसान में रेफ को विसर्ग होकर
विदुषः	रूप सिद्ध होता है।

विद्वद्भ्याम्–'विद्वस्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने के कारण 'वसुस्रंसुध्वंसु०' से वस्वन्त पद 'विद्वस्' को 'द्' अन्तादेश ('स्' को 'द्') होकर 'विद्वद्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

३५४. पुंसोऽसुङ् ७।१।८९

सर्वनामस्थाने विवक्षितेऽसुङ् स्यात्। पुमान्। हे पुमन्। पुमांसौ। पुंसः। पुम्भ्याम्। पुंसु।

'ऋदुशसनस्०' इत्यनङ्–उशना, उशनसौ।

(वा०) अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः।

हे उशन, हे उशनन्, हे उशनः! हे उशनसौ! उशनोभ्याम्, उशनस्सु।

अनेहा। अनेहसौ। हे अनेहः!

वेधाः। वेधसौ। हे वेधः! वेधोभ्याम्।

प०वि०–पुसः ६।१।। असुङ् १।१।। **अनु०** सर्वनामस्थाने[1]।

अर्थ–'सर्वनामस्थान' (नपुंसक-भिन्न सु, औ, जस्, अम्, औट्) की विवक्षा में 'पुंस्' के स्थान पर 'असुङ्' आदेश होता है।

पुमान्	(पुरुष)
पुंस्	यहाँ प्रथमा विभक्ति, एक व० में 'सर्वनामस्थान' (सु) की विवक्षा होने पर 'सु' की उत्पत्ति से पूर्व ही 'पुंसोऽसुङ्' से 'पुंस्' को 'असुङ्' आदेश, 'ङित्' होने के कारण 'ङिच्च' से अन्तिम अल् 'स्' के स्थान में हुआ
पुम् असुङ्	अनुस्वार का निमित्त 'स्' हट जाने पर[2] अनुस्वार अपनी पूर्व-स्थिति 'म्' में आ गया, अनुबन्ध-लोप तथा स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आया

---

१. 'सर्वनामस्थाने' इस पद में 'पर-सप्तमी' नहीं है, अपितु 'भावसप्तमी' या 'विषय सप्तमी' है। इसका आशय यह है कि 'सर्वनामस्थान' की उत्पत्ति से पूर्व ही, 'पुंस्' को 'असुङ्' होता है। 'भाव-सप्तमी' मानने का विशेष फल समास-स्वर के सन्दर्भ में होता है। विस्तार-भय से जिसकी चर्चा नहीं की जा रही है

२. 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः'।

पुम् अस् सु	अनुबन्ध-लोप, 'असुङ् के उकार की 'इत्' संज्ञा होने से 'उदिगचां०' से उगित् को 'नुम्' आगम
पुम् अ नुम् स् स्	अनुबन्ध-लोप
पुम् अ न् स् स्	'सान्तमहत:०' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' (सु) परे रहते सकारान्त संयोग के नकार की उपधा को दीर्घ हुआ
पुमान् स् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्तसंज्ञक 'स्' का लोप और 'संयोगान्तस्य०' से संयोगान्त पद के अन्तिम अल् 'स्' का लोप होकर
पुमान्	रूप सिद्ध होता है।

हे पुमन्–यहाँ सम्बोधन के एक वचन में 'सु' की 'एकवचनं सम्बुद्धि:' से 'सम्बुद्धि' संज्ञा होने के कारण 'सान्महत०' से दीर्घ नहीं होता। शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'पुमान्' के समान जानें।

पुमांसौ–'पुमान्' के समान 'पुंस्' को 'असुङ्' आदेश, 'औ' विभक्ति परे रहते 'नुम्' आगम, 'सान्तमहत:०' से नकार की उपधा दीर्घ होने पर 'पुमान् स्+औ' इस स्थिति में 'नश्चापदान्तस्य०' से 'न्' को अनुस्वार आदेश होकर 'पुमांसौ' रूप सिद्ध होता है।

पुंस:	(पुरुषों को)
पुंस् अस् (शस्)	द्वितीया, बहु व० में 'शस्' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा न होने के कारण 'असुङ्' नहीं होता। 'ससजुषो रु:' से सकारान्त पद के अन्तिम 'अल्' (स्) को 'रु' आदेश हुआ
पुं स् अरु	अनुबन्ध-लोप, 'खरवसानयो०' से 'र्' को विसर्ग होकर
पुंस:	रूप सिद्ध होता है।

पुम्भ्याम्–'पुंस्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने से 'संयोगान्तस्य लोप:' से सकार का लोप होने पर अनुस्वार अपनी पूर्व स्थिति 'म्' में परिवर्तित हुआ, 'पुम्+भ्याम्' इस स्थिति में 'मोऽनुस्वार:' से मकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य०' से अनुस्वार को परसवर्ण होने पर 'पुम्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

पुंसु–'पुम्स्+सु (सुप्)' में संयोगान्त-लोप तथा 'म्' को अनुस्वार होकर 'पुंसु' रूप सिद्ध होता है।

उशना	(शुक्राचार्य)
उशनस् सु	प्रथमा-एकवचन में 'सु', अनुवन्ध-लोप, 'ऋदुशनस्पुरु०' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते 'उशनस्' को 'अनङ्' आदेश, 'ङिच्च से 'स्' के स्थान में हुआ
उशन अनङ् स्	अनुबन्ध-लोप, 'अतो गुणे' से अपदान्त अकार से गुण परे रहते पररूप एकादेश हुआ

उशनन् स्	'सर्वनामस्थाने चा०' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते नान्त की उपधा को दीर्घ हुआ
उशनान् स्	'हल्ङ्‌ब्भ्यो०' से 'स्' का तथा 'नलोपः प्राति०' से 'न्' का लोप होकर
उशना	रूप सिद्ध होता है।

(वा०) **अस्य सम्बुद्धौ०-अर्थ**-सम्बुद्धि (सम्बोधन में प्रथमा-एकवचन) परे रहते 'उशनस्' को विकल्प से 'अनङ्' होता है तथा नकार का लोप भी विकल्प से होता है।

हे उशन!	(हे शुक्राचार्यः)
हे उशन्स् सु (स्)	सम्बोधन के एकवचन में 'सु', अनुबन्ध-लोप, 'सम्बुद्धि' परे रहते 'अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः' से विकल्प से 'उशनस्' के सकार को 'अनङ्' आदेश तथा 'न्' का विकल्प से लोप हुआ
हे उशन अनङ् स्	अनुबन्ध-लोप तथा 'अनङ्' के 'न्' का लोप होने पर
हे उशन अ स्	'अतो गुणे' से पररूप एकादेश और 'एङ्ह्रस्वात्०' से 'सम्बुद्धि' का लोप होकर
हे उशन	रूप सिद्ध होता है।

हे उशनन्!—नकार-लोप के न होने पर 'हे उशनन्+स्' यहाँ 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप होकर 'हे उशनन्' सिद्ध होता है।

हे उशनः—'हे उशनस्+स्' यहाँ 'अनङ्' न होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप होने पर पदान्त 'स्' को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'हे उशनः' सिद्ध होता है।

उशनोभ्याम्—'उशनस्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा, 'ससजुषो रुः' से 'स्' को 'रु' तथा 'हशि च' से 'रु' को उत्व होने पर 'आद् गुणः' से गुण होकर 'उशनोभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

'अनेहस्' प्रातिपदिक के विभिन्न विभक्तियों में **'अनेहा', 'अनेहसौ'** और **'हे अनेहः!'** की सिद्धि-प्रक्रिया 'उशना', 'उशनसौ' और 'हे उशनः' के समान जानें।

वेधाः—'वेधस्+स् (सु)' यहाँ 'अत्वसन्तस्य०' से उपधा को दीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप, 'ससजुषो०' से रुत्व तथा 'खरवसानयोः०' से विसर्ग होकर 'वेधाः' सिद्ध होता है।

अन्य **'वेधसौ', 'हे वेधः'** तथा **'वेधोभ्याम्'** की सिद्धि-प्रक्रिया क्रमशः 'उशनसौ', 'हे उशनः' तथा 'उशनोभ्याम्' के समान ही जानें।

३५५. अदस औ सुलोपश्च ७।२।१०७

अदस औत् स्यात् सौ परे, सुलोपश्च। 'तदोः सः०' इति सः-असौ। त्यदाद्यत्वम्। पररूपत्वम्। वृद्धिः।

प०वि०–अदसः ६।१।। औ १।१। सुलोपः १।१।। च अ०।। अनु०–अङ्गस्य, सौ।

अर्थः–'सु' परे रहते 'अदस्' अङ्ग को 'औ' अन्त्यादेश तथा 'सु' का लोप होता है।

असौ	(वह)
अदस् सु	प्रथमा-एकवचन में 'सु' आने पर 'त्यदादीनामः' से प्राप्त अत्व को बाधकर 'अदस औ सुलोपश्च' से 'अदस्' के 'स्' को 'औ' आदेश और 'सु' का लोप हो गया
अद औ	'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश तथा प्रत्ययलक्षण से लुप्त 'सु' को निमित्त मान कर 'तदोः सः साव०' से 'द्' को 'स्' आदेश होने पर
असौ	रूप सिद्ध होता है।

३५६. अदसोऽसेर्दादु दो मः ८।२।८०

अदसोऽसान्तस्य दात् परस्य उदूतौ, दस्य मश्च। आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उः, दीर्घस्य ऊः। अमू। जसः शी। गुणः।

प०वि०–अदसः ६।१।। असेः ६।१।। दात् ५।१।। उ (लुप्त-प्रथमा)।। दः ६।१।। मः १।१।।

अर्थः–असकारान्त 'अदस्' के दकार से उत्तरवर्ती वर्ण को उकार ('ऊ' या 'उ') तथा 'द्' के स्थान पर 'म्' आदेश होते हैं।

'स्थानेऽन्तरतमः' से ह्रस्व के स्थान पर ह्रस्व 'उकार' तथा दीर्घ के स्थान पर दीर्घ 'ऊकार' होते हैं।

अमू	(वे दो)
अदस् औ	प्रथमा-द्विवचन में 'औ', 'त्यदादीनामः' से विभक्ति परे रहते 'अदस्' को अकार अन्त्यादेश हुआ
अद अ औ	'अतो गुणे' से पर रूप एकादेश तथा 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश हुआ
अदौ	'अदसोऽसेर्दादु दो मः' से 'द्' से उत्तरवर्ती वर्ण 'औ' को 'ऊ' तथा 'द्' को 'म्' होकर
अमू	रूप सिद्ध होता है।

३५७. एत ईद् बहुवचने ८।२।८१

अदसो दात् परस्य ईद्, दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी। पूर्वत्रासिद्धिमिति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्वे कृते। घिसञ्ज्ञायां 'ना' भावः।

प०वि०–एतः ६।१।। ईद् १।१।। बहुवचने ७।१।। अनु०–अदसः, दात्, दः, मः।

अर्थः–बहुवचन में 'अदस्' के दकार से परे एकार को ईकार तथा 'द्' को 'म्' आदेश होते हैं।

विशेष:–यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'पूर्वत्रासिद्धम्' के कारण सपादसप्ताध्यायी के कार्य, 'त्यदादीनामः', 'अतो गुणे' आदि पहले तथा त्रिपादी के कार्य 'अदसोऽसेर्दादु०' इत्यादि बाद में होते हैं।

अमी	(वे सब)
अदस् जस्	प्रथमा-बहुवचन में 'जस्', 'त्यदादीनामः' से विभक्ति परे रहते अन्तिम अल् को अत्व तथा 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हुआ
अद जस्	'जसः शी' से अदन्त सर्वनाम से उत्तर 'जस्' को 'शी' हुआ, अनुबन्ध-लोप
अद ई	'आद् गुणः' से अवर्ण से 'अच्' (ई) परे रहते गुण एकादेश हुआ
अदे	'एत ईद् बहुवचने' से बहुवचन की विवक्षा में अदस् के दकार से उत्तरवर्ती 'ए' के स्थान में 'ई' तथा 'द्' को 'म्' आदेश होकर
अमी	रूप सिद्ध होता है।

अमुम्–प्र० वि०, द्वि० व० में 'अदस्+अम्' पूर्ववत् 'त्यादीनामः' से अकार अन्तादेश तथा 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होने पर 'अद+अम्' इस स्थिति में 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप और 'अदसोऽसेर्दादु०' से असकारान्त 'अदस्' के 'द्' से परे 'अ' को 'उ' तथा 'द्' को 'म्' आदेश होकर 'अमुम्' सिद्ध होता है।

अमून्–'अदस्+अस् (शस्)' यहाँ 'त्यदादीनामः' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्व सवर्णदीर्घ एकादेश होने पर 'अदास्' यहाँ 'तस्माच्छशो०' से पूर्वसवर्ण दीर्घ से उत्तर 'स्' को 'न्' होने पर 'अदसोऽसे०' से 'आ' को 'ऊ' तथा 'द्' को 'म्' होकर 'अमून्' सिद्ध होता है।

३५८. न मु ने ८।२।३

'ना' भावे कर्त्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्धः। अमुना। अमूभ्याम् अमीभिः। अमुस्मै। अमीभ्यः। अमुष्मात्। अमुस्य। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमीषु।

॥ इति हलन्ताः पुल्लिङ्गाः॥

प०वि०–न अ०॥ मु लुप्त-प्रथमा॥ ने ७।१॥ **अनु०**–असिद्धम्।

अर्थः–'ना' के विषय में या 'ना' परे रहते 'मु' भाव अर्थात् मकार तथा उकार आदेश असिद्ध नहीं होते।

अमुना	(उसके द्वारा)
अदस् टा	तृतीया विभक्ति, एक व० में 'टा' आने पर पूर्ववत् 'त्यदादीनामः' से अत्व तथा 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हुआ
अद टा	यहाँ 'अदसोऽसेर्दादु०' के असिद्ध प्रकरण का होने के कारण उसे बाधकर 'टाङसिङसाम्०' से 'टा' को 'इन' आदेश प्राप्त हुआ

परन्तु 'न मुने' सूत्र के आरम्भ सामर्थ्य से वह नहीं होता इसलिए 'अदसोऽसेर्दा०' से 'द्' को 'म्' तथा 'अ' को 'उ' हुआ

अमु टा — यहाँ उकारान्त की 'शेषो घ्यसखि' से 'घि' संज्ञा होने के कारण 'आङो नाऽस्त्रियाम्' से 'आङ्' अर्थात् 'टा' को 'ना' आदेश प्राप्त होने लगा। 'पूर्वत्रासिद्धम्' के कारण 'आङो ना०' (७.२. १२०) की दृष्टि में 'अदसोऽसे०' (८.२.८०) असिद्ध रहता है। इस प्रकार उकार के असिद्ध होने से 'घि' संज्ञा नहीं हो पाएगी तथा 'घि' संज्ञा न होने पर 'आङो ना०' से 'टा' को 'ना' भी नहीं हो सकेगा। प्रस्तुत परिस्थिति में 'आ' के स्थान पर 'ना' आदेश आचार्य को इष्ट है, इसलिए 'न मु ने' से 'ना' आदेश करने के विषय में 'मु' भाव सिद्ध ही रहता है अर्थात् 'अदसोऽसे०' सूत्र से होने वाला 'द्' को 'म्' तथा 'द्' से उत्तरवर्ती वर्ण को 'उ' सिद्ध ही रहते हैं। मत्व और उत्व के सिद्ध रहने से 'घि' संज्ञा हो जाने पर 'आङो ना०' से 'टा' को 'ना' आदेश होकर

अमुना — रूप सिद्ध होता है।

अमूभ्याम्–'अदस्+भ्याम्' यहाँ 'त्यदादी०' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'सुपि च' से दीर्घ होकर 'अदा+भ्याम्' इस स्थिति में 'अदसोऽसेर्दा०' से 'आ' को 'ऊ' तथा 'द्' को 'म्' होकर 'अमूभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

अमीभिः–'अदस्+भिस्' पूर्ववत् 'त्यदादीनामः' से अत्व एवं 'अतो गुणे' पररूप होने पर 'अद+भिस्' यहाँ 'अतो भिस ऐस्' प्राप्त हुआ जिसका 'नेदमदसोरकोः' से निषेध होने पर 'बहुवचने झल्येत्' से एत्व होने पर 'अदे+भिस्' यहाँ 'एत ईद् बहु०' से अदस् के 'द्' को 'म्' तथा 'ए' को 'ई' होने पर 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्ग होकर 'अमीभिः' रूप सिद्ध होता है।

'अमीभ्यः', **'अमीषाम्'** तथा **'अमीषु'** में 'अमीभिः' के समान 'बहुवचने झल्येत्' से एत्व होने पर 'एत ईद् बहुवचने' से ईत्व तथा 'द्' को 'म्' इत्यादि कार्य होते हैं।

'अमुष्मै', **'अमुष्मात्'**, **'अमुष्मिन्'** और **'अमुष्य'** में सर्वत्र 'त्यदादीनामः' से अत्व तथा 'अतो गुणे' से पररूप होने पर क्रमशः 'सर्वनाम्नः स्मै' से 'ङे' को 'स्मै', 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' से 'ङसि' को 'स्मात्', 'ङि' को 'स्मिन्' तथा 'टाङसिङसाम्०' से 'ङस्' को 'स्य' होने पर 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' से 'द्' को 'म्' तथा 'अ' को 'उ' होने पर 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य आदेश होकर उक्त सभी रूप सिद्ध होते हैं।

॥ हलन्त पुँल्लिङ्गप्रकरण समाप्त ॥

अथ हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

३५९. नहो धः ८।२।३४

नहो हस्य धः स्याद् झलि पदान्ते च।

प०वि०—नहः६।१।। धः १।१।। **अनु०**—हः, झलि, पदस्य, अन्ते।

अर्थः—पदान्त में या 'झल्' (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण, श्, ष, स् और ह्) परे रहते 'नह्' धातु के 'ह्' को 'ध्' आदेश होता है।

३६०. नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ ६।३।११६

क्विबन्तेषु पूर्वपदस्य दीर्घः। उपानत्, उपानद्। उपानहौ। उपानत्सु। क्विन्नन्तत्वात् कुत्वेन घः—उष्णिक्, उष्णिहौ। उष्णिग्भ्याम्। द्यौः, दिवौ, दिवः। द्युभ्याम्। गीः, गिरौ, गिरः। एवम्–पूः। चतस्रः। चतसृणाम्। का, के, काः—सर्वावत्।

प०वि०—नहिवृति......तनिषु ७।३।। क्वौ ७।१।। **अनु०**—पूर्वस्य, दीर्घः।

अर्थः—क्विबन्त 'नह्', 'वृत्', 'वृष्', 'व्यध्', 'रुच्', 'सह्' और 'तन्' धातु उत्तरपद में रहते पूर्व पद को दीर्घ होता है।

उपानत्/उपानद् (जूता)

उपानह् — 'उप+नह्+क्विप्' यहाँ 'क्विप्' का सर्वापहारी लोप तथा 'नहिवृतिवृषि०' से क्विबन्त परे रहते पूर्व पद को दीर्घ होकर 'उपानह्' बनता है

उपानह् सु — प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप, 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'सु' को निमित्त मान कर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'नहो धः' से पदान्त में 'नह्' के 'ह्' को 'ध्' आदेश हुआ

उपानध् — 'झलां जशोऽन्ते' से 'ध्' को 'द्' होने पर 'वाऽवसाने' से अवसान में विकल्प से 'चर्' (त्) होकर

उपानत्/उपानद् — रूप सिद्ध होते हैं।

उपानहौ— 'उपानह्+औ' यहाँ 'पद' संज्ञा न होने से 'नहो धः' से 'ह्' को 'ध्' नहीं होता।

उपानत्सु–'उपानह्+सु (सुप्)' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने से 'ह्' को 'नहो धः' से 'ध्' तथा 'खरि च' से 'ध्' को 'त्' होने पर उक्त रूप सिद्ध होता है।

उष्णिक्	(वैदिक छन्द का नाम)
उष्णिह् सु	यहाँ 'उष्णिह्' शब्द 'उत्' पूर्वक् 'स्निह' धातु से 'क्विन्' प्रत्ययान्त निपातन है। प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध-लोप और 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप हुआ
उष्णिह्	'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से 'क्विन्' प्रत्ययान्त को कुत्व अर्थात् 'ह्' को 'घ्' हुआ
उष्णिघ्	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त 'झल्' को 'जश्' अर्थात् 'घ्' को 'ग्' हुआ
उष्णिग्	'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व होकर
उष्णिक्	रूप सिद्ध होता है।

उष्णिहौ–'उष्णिह्+औ' की सिद्धि-प्रक्रिया 'उपानहौ' के समान जाने।

उष्णिग्भ्याम्–'उष्णिह्+भ्याम्' यहाँ 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से 'ह्' को 'घ्' तथा 'झलां जशोऽन्ते' से 'घ्' को 'ग्' होकर यह रूप सिद्ध होता है।

द्यौः	(आकाश)
दिव् सु	प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'दिव औत्' से 'सु' परे रहते 'दिव्' के 'व्' को 'औ' आदेश हुआ
दि औ स्	'इको यणचि' से 'अच्' परे रहते 'इ' को 'य्' आदेश हुआ
द् य् औ स्	'ससजुषो रुः' से रुत्व तथा 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्ग होकर
द्यौः	रूप सिद्ध होता है।

दिवौ, दिवः–'दिव्' शब्द से क्रमशः 'औ' और 'जस्' विभक्तियों में दोनों रूप बनते हैं।

द्युभ्याम्–'दिव्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने पर 'दिव उत्' से पदान्त में 'दिव्' के 'व्' को 'उ' आदेश होने पर 'इको यणचि' से 'इ' को 'य्' होकर 'द्युभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

गीः	(वाणी)
गिर् सु	प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध-लोप तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप हुआ
गिर्	'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' से पदान्त में रेफान्त की उपधा 'इक्' को दीर्घ हुआ
गीर्	'खरवसानयोः०' से 'र्' को अवसान में विसर्ग होकर
गीः	रूप सिद्ध होता है।

पू:—'पुर्+सु' यहाँ सिद्धि-प्रक्रिया 'गी:' के समान ही जानें।

चतस्त्र:	चार (स्त्रीलिङ्ग)
चतुर् जस्	प्र० वि०, बहु व० में 'जस्', अनुबन्ध-लोप तथा 'त्रिचतुरो: स्त्रियां तिसृचतसृ' से स्त्रीलिंग में विभक्ति परे रहते 'चतुर्' को 'चतसृ' आदेश हुआ
चतसृ अस्	यहाँ 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयो:' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते उकारान्त अङ्ग को गुण प्राप्त था, जिसे बाधकर 'अचि र ऋत:' से 'अच्' परे रहते 'चतसृ' के 'ऋ' को 'र्' आदेश हुआ
चतस् र् अस्	'ससजुषो रु:' से सकार को रुत्व और रेफ को 'खरवसानयो०' से विसर्ग होकर
चतस्त्र:	रूप सिद्ध होता है।
चतसृणाम्	
चतुर् आम्	षष्ठी वि०, बहु व० में 'आम्', 'त्रिचतुरो स्त्रियां०' से 'चतुर्' को 'चतसृ' आदेश होने पर 'षट्चतुर्भ्यश्च' से 'चतुर्' से उत्तर 'आम्' को 'नुट्' आगम हुआ
चतसृ नुट् आम्	अनुबन्ध-लोप होने पर 'नामि' से दीर्घ प्राप्त था, जिसका 'न तिसृचतसृ' से निषेध हो गया, 'ऋवर्णान्नस्य णत्वम् वाच्यम्' से णत्व होकर
चतसृणाम्	रूप सिद्ध होता है।
का	(कौन स्त्री)
किम् सु	प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध-लोप, 'किम: क:' से स्त्रीलिंग में विभक्ति परे रहते 'किम्' को 'क' आदेश हुआ
क स्	'अजाद्यतष्टाप्' से अदन्त प्रातिपदिक 'क' से स्त्रीलिंग में 'टाप्' हुआ
क टाप् स्	अनुबन्ध-लोप, 'अक: सवर्णे दीर्घ:' से दीर्घ एकादेश हुआ
का स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से आबन्त दीर्घ से उत्तर 'सु' के 'अपृक्त' संज्ञक 'स्' का लोप होकर
का	रूप सिद्ध होता है।
के	कौन (दो स्त्री)
किम् औ	पूर्ववत् प्र० वि०, द्वि व० में 'औ' परे रहते 'किम: क:' से 'किम्' को 'क' आदेश, 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' तथा 'अक: सवर्णे दीर्घ:' से दीर्घ एकादेश हुआ
का औ	'औङ आप:' से आबन्त से उत्तर 'औ' को 'शी' आदेश हुआ

का शी	अनुबन्ध-लोप, 'प्रथमयोः पूर्व०' से पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त हुआ जिसका 'नादिचि' से निषेध होने पर 'आद् गुणः' से गुण होकर
के	रूप सिद्ध होता है।

काः—'किम्' शब्द से 'जस्' परे रहते पूर्ववत् 'का' बनने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'रमाः' (२१६) के समान जानें।

'किम्' शब्द के स्त्रीलिङ्ग में शेष सभी विभक्तियों के रूप 'सर्वा' के समान जानें।

३६१. यः सौ ७।२।११०

इदमो दस्य यः। इयम्। त्यदाद्यत्वम्, पररूपत्वम्। टाप्। 'दश्च' (२७५) इति मः–इमे, इमाः। इमाम्। अनया। हलि लोपः(२७७)–आभ्याम्, आभिः। अस्यै। अस्याः। अनयोः। आसाम्। अस्याम्। आसु। त्यदाद्यत्वम्, टाप्। स्या। त्ये। त्याः। एवम् तद्, एतद्। वाक्, वाग्। वाचौ। वाग्भ्याम्। वाक्षु।

प०वि०—यः १।१।, सौ ७।१।। **अनु०**—इदमः, दः।

अर्थः—'सु' परे रहते 'इदम्' के 'द्' को 'य्' आदेश होता है।

इयम्	(यह स्त्री)
इदम् सु	प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध-लोप, 'यः सौ' से 'सु' परे रहते 'इदम्' के 'द्' को 'य्' हुआ
इयम् स्	'त्यदादीनामः' से अत्व की प्राप्ति को बाधकर 'इदमो मः' से 'सु' परे रहते 'इदम्' के 'म्' को 'म्' आदेश हुआ
इयम् स्	'स्' का हल्ङ्यादि लोप होने पर
इयम्	रूप सिद्ध होता है।
इमे	(ये दो स्त्रियां)
इदम् औ	प्र० वि०, द्वि व० में 'औ' परे रहते 'त्यदादीनामः' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' प्रत्यय आया
इद टाप् औ	अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ एकादेश तथा 'दश्च' से विभक्ति परे रहते इदम् के 'द्' को को 'म्' हुआ
इमा औ	'औङ आपः' से आबन्त से उत्तर 'औ' को 'शी' हुआ
इमा शी	अनुबन्ध-लोप, 'आद् गुणः' से गुण होकर
इमे	रूप सिद्ध होता है।
इमाः	(ये सब स्त्रियां)
इदम् जस्	प्र० वि०, बहु व० में 'जस्', पूर्ववत् 'त्यदादीनामः' से अकार अन्त्यादेश, 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' हुआ

इद टाप् जस्	अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ तथा 'दश्च' से विभक्ति परे रहते इदम् के 'द्' को 'म्' हुआ
इमा अस्	'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' से निषेध होने पर 'अकः सवर्णे० से दीर्घ तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
इमाः	रूप सिद्ध होता है।

इमाम्–'इदम्+अम्' पूर्ववत् 'त्यदादीनामः' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप, अजाद्यतष्टाप् से 'टाप्' और 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ होकर 'इमा' बनने पर 'इमा+अम्' यहाँ 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'इमाम्' सिद्ध होता है।

अनया	(इस स्त्री के द्वारा)
इदम् टा	तृतीया वि०, एक व० में 'टा' आने पर 'त्यदादीनामः' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' हुआ
इद टाप् टा	अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हुआ
इदा आ	'अनाप्यकः' से 'आप्' प्रत्याहारस्थ 'टा' विभक्ति परे रहते 'इद्' भाग को 'अन्' आदेश हुआ
अन् आ आ	'आङि चापः' से 'आङ्' अर्थात् 'टा' परे रहते आबन्त को 'ए' हुआ
अन् ए आ	'एचोऽयवायावः' से 'ए' को 'अय्' होकर
अनया	रूप सिद्ध होता है।
आभ्याम्	(इन दोनों से)
इदम् भ्याम्	पूर्ववत् 'त्यदादीनामः' से अकार अन्त्यादेश, 'अतो गुणे' से पररूप, 'अजाद्यत०' से 'टाप्' तथा 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश होकर 'इदा' बना
इदा भ्याम्	'हलि लोपः' से हलादि विभक्ति परे रहते ककार रहित 'इदम्' के 'इद्' भाग का लोप होकर
आभ्याम्	रूप सिद्ध होता है।

आभिः–'इदम्+भिस्' सभी कार्य 'आभ्याम्' के समान होकर 'स्' को 'रु' तथा रेफ को विसर्ग होने पर 'आभिः' रूप सिद्ध होता है।

अस्यै	इस (स्त्री) के लिए
इदम् ङे	चतुर्थी वि०, एक व० में 'ङे' परे रहते पूर्ववत् 'त्यदादी०' से अकार अन्त्यादेश, 'अतो गुणे' से पररूप और 'अजाद्यत०' से 'टाप्' हुआ
इद टाप् ङे	अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश हुआ

इदा ए	'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' से आबन्त सर्वनाम से परे ङित् को 'स्याट्' आगम तथा आबन्त ('आ') को ह्रस्व हुआ
इद स्याट् ए	अनुबन्ध-लोप, 'हलि लोपः' से हलादि विभक्ति परे रहते 'इदम्' के 'इद्' भाग का लोप हुआ
अ स्या ए	'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' परे रहते वृद्धि एकादेश होकर
अस्यै	रूप सिद्ध होता है।

अस्याः–'इदम्+अस् (ङसि/ङस्)' त्यदाद्यत्व, 'अतो गुणे' से पररूप, 'टाप्', 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ, 'सर्वनाम्नः स्याट्०' से 'स्याट्' और 'हलि लोपः से 'इद्' का लोप होने पर 'अस्या+अस्' यहाँ 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ, 'स्' को 'रु' और रेफ को विसर्ग होकर 'अस्याः' रूप सिद्ध होता है।

अनयोः	(इन (स्त्रीलिङ्ग) दोनों का)
इदम् ओस्	षष्ठी, सप्तमी द्वि व० में 'ओस्', पूर्ववत् त्यदाद्यत्व, 'अतो गुणे' से पररूप, 'टाप्' तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ हुआ
इदा ओस्	'अनाप्यकः' से 'आप्' प्रत्याहारस्थ 'ओस्' परे रहते 'इद्' को 'अन्' हुआ
अन् आ ओस्	'आङि चापः' से 'ओस्' परे रहते 'आ' को 'ए' हुआ
अने ओस्	'एचोऽय०' से अयादेश, सकार को रुत्व एवं रेफ को विसर्ग होकर
अनयोः	रूप सिद्ध होता है।

आसाम्–'इदम्+आम्', पूर्ववत् 'इदा+आम्' बनने पर 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' से 'सुट्' आगम होने पर 'हलि लोपः' से 'इद्' भाग का लोप होकर 'आसाम्' सिद्ध होता है।

अस्याम्–'इदम्+ङि' पूर्ववत् 'इदा+ङि' बनने पर 'ङेराम्नद्या०' से 'ङि' को 'आम्' आदेश, 'सर्वनाम्नः स्याड्०' से ङित् को 'स्याट्' आगम तथा आबन्त 'इदा' के 'आ' को ह्रस्व होकर 'इद स्या+आम्' यहाँ 'हलि लोपः' से 'इद्' का लोप और 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

आसु–'इदम्+सुप्' पूवर्वत् 'त्यदादीनामः', 'अतो गुणे', 'अजाद्यतष्टाप्', 'हलि लोपः' आदि होकर 'आसु' सिद्ध होता है।

स्या	(वह स्त्री)
त्यद् सु	प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध-लोप, 'त्यदादीनामः' से अकार अन्त्यादेश, 'अतो गुणे से पररूप, 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' आदि पूर्ववत् होकर
त्या स्	'तदो सः सावनन्त्ययोः' से 'सु' परे रहते 'त्' को 'स्' हुआ
स्या स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होने पर
स्या	रूप सिद्ध होता है।

त्ये	(वे दो स्त्रियां)
त्यद् औ	प्र० वि०, द्वि व० में 'औ', पूर्ववत् 'त्यदादीनाम': से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप, 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' तथा 'अक:सवर्णे०' से दीर्घ आदि कार्य होने पर
त्या औ	'औङ आप:' से आबन्त से उत्तर 'औ' को 'शी' आदेश, अनुबन्ध –लोप, 'प्रथमयो:०' से पूर्वसवर्ण दीर्घ की प्राप्ति का 'नादिचि' से निषेध हुआ
त्या ई	'आद् गुण:' से गुण एकादेश होकर
त्ये	रूप सिद्ध होता है।

त्या:–'त्यद्+अस् (जस्)' पूर्ववत् 'त्या+अस्' बनने पर 'प्रथमयो: पूर्व०' से पूर्वसवर्ण दीर्घ तथा 'स्' को रुत्व एवं विसर्ग होते हैं।

'तद्' और 'एतद्' के सभी विभक्तियों के रूपों की सिद्धि–प्रक्रिया 'त्यद्' के समान जानें।

वाक्/वाग्	(वाणी)
वाच् सु	प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध–लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप हुआ
वाच्	'चो: कु:' से पदान्त में चवर्ग को कवर्ग हुआ
वाक्	'झलां जशोऽन्ते' से 'क्' को 'ग्' तथा 'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व होकर
वाक्/वाग्	रूप सिद्ध होते हैं।

वाचौ–'वाच्+औ' पदान्त न होने के कारण कुत्व नहीं होता।

वाग्भ्याम्–'वाच्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने से 'चो:कु:' से 'च्' को 'क्' तथा 'झलां जशोऽन्ते' से 'क्' को 'ग्' होकर 'वाग्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

वाक्षु–'वाच्+ सुप्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने पर 'चो: कु:' से पदान्त चवर्ग को कुत्व और 'आदेशप्रत्यययो:' से षत्व होकर 'वाक्षु' रूप सिद्ध होता है।

'अप्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है।

आप:–'अप्+अस् (जस्)' यहाँ 'अप्तृन्तृच्स्वसृ०' से सम्बुद्धि–भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते 'अप्' की उपधा को दीर्घ, 'स्' को 'रु' और रेफ को विसर्ग होकर 'आप:' रूप सिद्ध होता है।

अप:–'अप+अस् (शस्)' यहाँ 'शस्' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा न होने से उपधा को दीर्घ नहीं होता।

३६२. अपो भि: ७।४।४८

अपस्तकारो भादौ प्रत्यये। अद्भि:। अद्भ्य: २। अपाम्। अप्सु। दिक्, दिग्। दिश:। दिग्भ्याम्। 'त्यदादिषु'० (३४७)-इति दृशे: क्विन्विधानाद् अन्यत्रापि कुत्वम्-दृक्, दृग्। दृशौ। दृग्भ्याम्। त्विट्। त्विषौ। त्विड्भ्याम्। 'ससजुषो रु:' इति रुत्वम्-सजू:। सजुषौ। सजूर्भ्याम्। आशी:। आशिषौ। आशीर्भ्याम्। असौ। उत्वमत्वे-अमू, अमू:। अमुया। अमूभि:। अमुष्यै। अमूभ्य:। अमुष्या:। अमुयो:। अमूषाम्। अमुष्याम्। अमूषु।।

प०वि०–अप: ६।१।। भि ७।१।। **अनु०**–त:, अङ्गस्य।

अर्थ:–भकारादि प्रत्यय परे रहते 'अप्' अङ्ग के अन्तिम 'अल्' को तकारादेश होता है।

अद्भि:	(जल के द्वारा)
अप् भिस्	तृतीया-बहु व० में 'भिस्' आने पर 'यस्मात्प्रत्ययविधि०' से प्रत्यय परे रहते 'अप्' की 'अङ्ग' संज्ञा है, इसलिए 'अपो भि:' से भादि प्रत्यय 'भिस्' परे रहते 'अप्' अङ्ग के 'प्' को 'त्' हुआ
अत् भिस्	'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने पर 'झलां जशोऽन्ते' से 'त्' को 'द्', ससजुषो रु: से 'स्' को 'रु' और 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्ग होकर
अद्भि:	रूप सिद्ध होता है।

अद्भ्य: की सिद्धि-प्रक्रिया चतुर्थी तथा पञ्चमी विभक्ति, बहु व० में 'भ्यस्' आने पर 'अद्भि:' के समान जानें।

अपाम् तथा **अप्सु** में भकारादि प्रत्यय न होने के कारण 'प्' को 'त्' नहीं होता।

दिक्/दिग्	(दिशा)
दिश् सु	प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप और 'व्रश्चभ्रस्जसृ०' से शकारान्त पद को 'ष्' हुआ
दिष्	'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'झलां जशोऽन्ते' से 'ष्' को 'ड्' हुआ
दिड्	'दिश्' शब्द क्विन्नन्त है अत: 'क्विन्प्रत्ययस्य कु:' से पदान्त में 'ड्' को 'ग्' हुआ
दिग्	'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व 'ग्' को 'क्' होकर
दिक्/दिग्	दो रूप सिद्ध होते हैं।

दिग्भ्याम् की सिद्धि-प्रक्रिया 'दिग्' के समान जानें।

दिश:–'दिश्+जस्' यहाँ सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'दिश:' रूप सिद्ध होता है।

दिग्भ्याम्–'दिश्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से शकारान्त को 'ष्' आदेश, 'झलां जशोऽन्ते' से 'ष्' को 'ड्' और 'क्विन्प्रत्ययस्य कु:' से कवर्गादेश 'ड्' को 'ग्' होकर 'दिग्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

दृक्, दृग्–'दृश्' शब्द यद्यपि क्विबन्त है, तथापि इसे 'क्विन्प्रत्ययस्य कु:' से कुत्व हो जाता है। इसका कारण यह है कि 'क्विन्प्रत्यय:' शब्द में बहुव्रीहि समास 'क्विन् प्रत्ययो यस्य स:' माना है। इसका आशय यह है कि 'क्विन्' प्रत्यय, यद्यपि यहाँ नहीं है तथापि उसको भी कुत्व हो जाता है। शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'दिक्' आदि के समान जानें।

दृग्भ्याम्–'दृश्+भ्याम्' की सिद्धि-प्रक्रिया 'दिग्भ्याम्' के समान जानें।

त्विट्/त्विड्	(दीप्ति)
त्विष् सु	प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप और 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'ष्' को 'ड्' हुआ। क्विन्नन्त न होने से यहाँ कुत्व नहीं होता।
त्विड्	'वाऽवसाने' से विकल्प से 'चर्' अर्थात् 'ड्' को 'ट्' होकर
त्विट्/त्विड्	दो रूप सिद्ध होते हैं।

त्विड्भ्याम्–'त्विष्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा, 'व्रश्चभ्रस्ज० से 'ष्' को 'ड्' होकर "त्विड्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

सजू:	(साथ में प्रीति करने वाला)
सजुष् सु	प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप होने पर 'ससजुषो रु:' से 'सजुष्' पद के अन्तिम 'अल्' 'ष्' को 'रु' आदेश हुआ
सजु रु	अनुबन्ध-लोप, 'र्वोरुपधाया दीर्घ इक:' से रेफ की उपधा उकार को दीर्घ तथा 'खरवसानयो:०' से रेफ को विसर्ग होकर
सजू:	रूप सिद्ध होता है।

सजुषौ–'सजुष्+औ' यहाँ 'सजुष्' की 'पद' संज्ञा न होने से रुत्व नहीं होता।
सजूर्भ्याम्–यहाँ 'भ्याम्' परे रहते 'सजुष्' की 'स्वादिष्व०' से 'पद' संज्ञा होती है। इसलिए रुत्व एवम् उपधा-दीर्घ आदि कार्य होते हैं।

आशिष्–'आङ्' पूर्वक 'शास्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर 'आशास: क्वावुपसंख्यानम्' वार्तिक से उपधा को इत्व तथा 'शासिवसिघसीनां च' से 'स्' को 'ष्' होकर 'आशिष्' बनता है।

आशी:	(आशीर्वाद)
आशिष् सु	प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध-लोप और 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप हुआ
आशिष्	'ससजुषो रु:' से 'आशिष्' के 'ष्' को 'स्' मानकर 'रु' आदेश

	हो जाता है, क्योंकि 'शासिवसि०' (८.३.६०) त्रिपादी में परे होने के कारण 'ससजुषो०' (८.२.६६) की दृष्टि में 'पूर्वत्राद्धिम्' के कारण असिद्ध हो जाता है।
आशि रु	अनुबन्ध-लोप, 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' से रेफान्त की उपधा इकार को दीर्घ तथा 'खरवसानयो०' से अवसान में रेफ को विसर्ग होकर
आशीः	रूप सिद्ध होता है।

आशिषौ—'आशिष्+औ' यहाँ 'पद' संज्ञा न होने से 'रु' नहीं होता।

आशीर्भ्याम्—'आशिष्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने पर 'रुत्व' तथा उपधा-दीर्घत्व आदि 'आशीः' के समान जानें।

स्त्रीलिंग में **असौ** की सिद्धि-प्रक्रिया पुल्लिग 'असौ' (३५५) के समान जानें।

अमू	(वे दो)
अदस् औ	प्र० वि०, द्वि व० में 'औ' आने पर 'त्यदादीनामः' से अत्व और 'अतो गुणे' से पररूप हुआ
अद औ	'अजाद्यतष्टाप्' से अदन्त से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' आया
अद टाप् औ	अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हुआ
अदा औ	'औङ आपः' से आबन्त से उत्तर 'औ' को 'शी' आदेश
अदा शी	अनुबन्ध-लोप होने पर 'आद् गुणः' से गुण एकादेश हुआ
अदे	'अदसोऽसेर्दादु दो मः' से 'द्' को 'म्' तथा दकार से उत्तर 'ए' को 'ऊ' आदेश होकर
अमू	रूप सिद्ध होता है।

विशेषः—'अदस्' के सभी रूपों में ('असौ' को छोड़कर) 'त्यदादीनामः', से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप, 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ होकर **'अदा+विभक्ति'** यह स्थिति बनती है।

अमूः	(वे सब)
अदस् जस्	प्र० वि०, बहु व० में 'जस्' आने पर उपर्युक्त प्रकार से 'त्यदादीनामः' आदि होकर 'अदा' बनने पर
अदा अस्	'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' से निषेध होने पर 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश हुआ
अदास्	'अदसोऽसे०' से पूर्ववत् 'द्' को 'म्' तथा 'आ' को 'ऊ' हुआ
अमूस्	'ससजुषो रुः' से 'स्' को 'रु' तथा रेफ को विसर्ग होकर
अमूः	रूप सिद्ध होता है।

अमुया	(उसके द्वारा)
अदस् टा	तृतीया वि०, एक व० में 'टा', अनुबन्ध-लोप होकर पूर्ववत् 'अदा' बनने पर
अदा आ	'आङि चाप:' से 'आङ्' अर्थात् 'टा' परे रहते आबन्त को 'ए' हुआ
अदे आ	'एचोऽयवायाव:' से 'ए' को 'अय्' आदेश हुआ
अदय् आ	'अदसोऽसेर्दादु०' से 'द्' को 'म्' तथा 'अ' को 'उ' होकर
अमुया	रूप सिद्ध होता है।
अमूभि:	(उन सबके द्वारा)
अदस् भिस्	तृतीया वि०, बहु व० में 'भिस्', अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् 'त्यदादीनाम:' आदि सभी कार्य होकर
अदा भिस्	'अदसोऽसेर्दादु०' से मत्व तथा 'आ' को ऊत्व होने पर 'स्' को 'रु' एवं रेफ को विसर्ग होकर
अमूभि:	सिद्ध होता है।
अमुष्यै	(उसके लिए)
अदस् ए (ङे)	चतुर्थी वि०, एक व० में 'ङे', अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् 'त्यदादीनाम:' तथा टाबादि कार्य होकर 'अदा' बनने पर
अदा ए	'सर्वनाम्न: स्याड्ढ्रस्वश्च' से सर्वनाम से उत्तर ङित् 'ए' को 'स्याट्' आगम तथा 'आ' को ह्रस्व हुआ
अद स्याट् ए	अनुबन्ध-लोप, 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश तथा 'अदसोऽसे०' से 'अदस्' के 'द्' को 'म्' तथा दकार से उत्तर 'अ' को 'उ' हुआ
अमुस्यै	'आदेशप्रत्यययो:' से सकार को मूर्धन्यादेश होकर
अमुष्यै	रूप सिद्ध होता है।

अमूभ्य:–'अदस्+भ्यस्' की सिद्धि-प्रक्रिया 'अमूभि:' के समान तथा **अमुयो:**–'अदस्+ओस्' की सिद्धि-प्रक्रिया 'अमुया' के समान जानें।

अमुष्या:– 'अदस्+ङस्/ङसि' यहाँ रुत्त्व तथा विसर्ग के अतिरिक्त शेष कार्य 'अमुष्यै' के समान जानें।

अमूषाम्–'अदस्+आम्' में 'त्यदादी०' से अत्व तथा टाबादि कार्य होने पर 'आम्' को 'आमि सर्वनाम्न: सुट्' से 'सुट्' आगम, 'अदसोऽसे०' से 'द्' को 'म्' तथा 'आ' को 'ऊ' आदेश और 'आदेशप्रत्यययो:' से सकार को मूर्धन्यादेश होकर 'अमूषाम्' रूप सिद्ध होता है।

अमुष्याम्	(उसमें)
अदस् ङि	सप्तमी वि०, एक व० में 'ङि' आने पर पूर्ववत् अत्व तथा टाबादि कार्य होकर 'अदा' बनने पर
अदा ङि	'ङेराम् नद्याम्नीभ्य:' से आबन्त से उत्तर 'ङि' को 'आम्' हुआ
अदा आम्	'सर्वनाम्न: स्याड्ढ्र०' से स्याडागम तथा 'आ' को ह्रस्व हुआ
अद स्याट् आम्	अनुबन्ध-लोप, 'अदसोऽसे०' से 'द्' को 'म्' तथा 'अ' को 'उ' आदेश और 'आदेशप्रत्यययो:' से 'स्' को 'ष्' होकर रूप सिद्ध होता है।
अमुष्याम्	

अमूषु–'अदस्+सुप्' में अत्व, टाप्, ऊत्व, मत्व तथा षत्व आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

।। हलन्तस्त्रीलिङ्ग-प्रकरण समाप्त।।

अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

स्वमोर्लुक्। दत्वम्-स्वनडुत्, स्वनडुद्। स्वनडुही। 'चतुरनडुहो:०'-इत्याम्। स्वनड्वांहि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। वा:, वारी वारि। वार्भ्याम्। चत्वारि। किम्, के, कानि। इदम्, इमे, इमानि।

(वा०) अन्वादेशे नपुंसके एनद् वक्तव्य:। एनत्, एनद्। एने। एनानि। एनेन। एनयो:। अह:। विभाषा ङिश्यो:-अह्नी, अहनी। अहानि।

हलन्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के पश्चात् हलन्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों पर विचार किया जा रहा है। नपुंसकलिङ्ग में सामान्यरूप से 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र से 'सु' और 'अम्' का लुक् हो जाता है।

सर्वप्रथम 'स्वनडुह्' शब्द के रूपों की सिद्धि-प्रक्रिया पर विचार किया जा रहा है। 'अनुडुह्' शब्द पुल्लिग में होता है तथापि समास में (शोभना: अनड्वाह: यस्य, तत् स्वनुडत्) 'स्वनडुह्' नपुंसक लिङ्ग में बदल जाता है।

स्वनडुत्/स्वनडुद् (अच्छे बैल वाला घर)

स्वनडुह् स् (सु) — प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध-लोप, हल्ङ्यादि लोप को बाधकर परत्व से 'स्वमोर्नपुंसकात्' से नपुसक अङ्ग से उत्तर 'सु' का 'लुक्' हुआ

स्वनडुह् — 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'सु' को निमित्त मानकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां द:' से पदान्त में 'ह्' को 'द्' हुआ

स्वनडुद् — 'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व 'द्' को 'त्' होकर

स्वनडुद्/स्वनडुत् — दो रूप सिद्ध होते हैं।

स्वनडुही

स्वनडुह् औ — प्र० वि०, द्वि व० में 'औ', 'नपुंसकाच्च' से नपुंसक अङ्ग से उत्तर 'औ' को 'शी' आदेश हुआ

स्वनडुह् शी — अनुबन्ध-लोप तथा संहिता होकर

स्वनडुही — रूप सिद्ध होता है।

स्वनड्वांहि

स्वनडुह् अस् (जस्)	प्र० वि०, बहु व० में 'जस्', 'जश्शसो: शि:' से नपुंसक अङ्ग से उत्तर 'जस्' को 'शि' आदेश, अनुबन्ध-लोप
स्वनडुह् इ	'शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने के कारण 'चतुरनडुहोरामुदात्त:' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते 'अनडुह्' को 'आम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्पर:' से उकार से परे 'आम्' हुआ
स्वनडु आम् ह् इ	अनुबन्ध-लोप
स्वनडु आ ह् इ	'नपुंसकस्य झलच:' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते झलन्त नपुंसकलिङ्ग को 'नुम्' आगम हुआ
स्वनडुआ नुम् ह् इ	अनुबन्ध-लोप, 'इको यणचि' से यणादेश 'उ' को 'व्' हुआ
स्वनड्वान् ह् इ	'नश्चापदान्तस्य झलि' से नकार को अनुस्वार होकर
स्वनड्वांहि	रूप सिद्ध होता है।

'स्वनडुह्' के शेष रूप पुल्लिङ्ग के समान जानें।

वा:–(जल) 'वार्+स् (सु)'–'स्वमोर्नपुंसकात्' से नपुंसक से उन्तर 'सु' का लुक् हुआ, 'खरवसानयोर्विसर्जनीय:' से रेफ को विसर्ग होकर 'वा:' रूप सिद्ध होता है।

वारी–'वार्+औ' यहाँ 'नपुंसकाच्च' से 'औ' को 'शी' (ई) होकर 'वारी' रूप सिद्ध होता है।

वारि–'वार्+जस्' यहाँ 'जश्शसो: शि:' से 'शि' (इ) होकर 'वारि' सिद्ध होता है।

चत्वारि	(चार)
चतुर् जस्	प्र० वि०, बहु व० में 'जस्' आने पर 'जश्शसो: शि:' से 'जस्' को 'शि' हुआ,
चतुर् शि	अनुबन्ध-लोप, 'शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने के कारण 'चतुरनडुहोरामुदात्त:' से 'चतुर्' शब्द को, 'सर्वनामस्थान' परे रहते, 'आम्' आगम हुआ
चतु आम् र् इ	अनुबन्ध-लोप तथा 'इको यणचि' से यणादेश होकर
चत्वारि	रूप सिद्ध होता है।

किम्–'किम्+सु' में 'स्वमोर्नपुं०' से 'सु' का लुक् होकर 'किम्' सिद्ध होता है।

के–'किम्+औ' यहाँ 'किम: क:' से विभक्ति परे रहते 'किम्' को 'क' आदेश तथा 'नपुंसकाच्च' से 'औ' को 'शी' (ई) होने पर 'आद् गुण:' से गुण होकर 'के' रूप सिद्ध होता है।

कानि	(कौन)
किम् जस्	प्र० वि०, बहु व० में 'जस्', 'किम: क:' से विभक्ति परे रहते 'किम्' को 'क' आदेश तथा 'जश्शसो: शि:' से नपुंसक अङ्ग से उत्तर 'जस्' के स्थान में 'शि' आदेश हुआ

क शि	अनुबन्ध-लोप, 'नपुंसकस्य झलचः' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते अजन्त नपुंसक को नुमागम हुआ
क नुम् इ	अनुबन्ध-लोप, 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते नकारान्त की उपधा को दीर्घ होकर
कानि	रूप सिद्ध होता है।

इदम्–'इदम्+सु' यहाँ 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' का लुक् होकर 'इदम्' रूप सिद्ध होता है।

इमे

इदम् औ	प्र० वि०, द्वि व० में 'औ', 'त्यदादीनामः' से 'म्' को 'अ' आदेश और 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हुआ
इद औ	'नपुंसकाच्च' से 'औ' के स्थान में 'शी' आदेश हुआ
इद शी	अनुबन्ध-लोप, 'आद् गुणः' से गुण तथा 'दश्च' से विभक्ति परे रहते 'इदम्' के 'द्' को 'म्' आदेश होकर
इमे	रूप सिद्ध होता है।
इमानि	(ये सब)
इदम् जस्	प्र० वि०, बहु व० में 'जस्', 'जश्शसोः शिः' से 'जस्' को 'शि',अनुबन्ध-लोप, 'त्यदादीनामः' से अत्व और 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हुआ
इद इ	'शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'नपुंसकस्य झलचः' से अजन्त नपुंसक को 'नुम्' तथा 'सर्वनामस्थाने०' से नकारान्त की उपधा को दीर्घ हुआ
इदा नि	'दश्च' से विभक्ति परे रहते 'इदम्' के 'द्' को 'म्' होकर
इमानि	रूप सिद्ध होता है।

(वा०) अन्वादेशे० – अर्थ०–अन्वादेश में नपुंसकलिङ्ग में 'इदम्' और 'एतद्' के स्थान पर 'एनत्' आदेश होते हैं। यह आदेश भाष्यकार के मतानुसार 'अम्' परे रहते ही जानना चाहिए।

एनद्/एनत्

इदम् अम्	द्वि० वि०, एक व० में 'अम्' आने पर 'स्वमोर्नपुंसकात्' से नपुंसक अङ्ग से उत्तर 'अम्' का लुक् हुआ
इदम्	'अन्वादेशे नपुंसके एनद् वक्तव्यः' (वा०) से 'इदम्' को 'एनत्' आदेश हुआ
एनत्	'झलां जशोऽन्ते०' से 'त्' को 'द्' तथा 'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व होकर
एनद्/एनत्	दो रूप सिद्ध होते हैं।

एने, एनानि, एनेन, एनयोः में 'इदम्' को 'द्वितीया टौस्स्वेन' से अन्वादेश में 'एनत्' आदेश करने पर 'त्यदादीनामः' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप होकर 'एन' बनने पर अन्य विभक्ति कार्य 'ज्ञाने' और 'ज्ञानानि' आदि के समान ही जाने।

अहः (दिन)–'अहन्+सु' यहाँ 'स्वमोर्नपुं०' से 'सु' का लुक्, 'अहन्' से पदान्त में 'अहन्' के नकार को 'रु' और रेफ को विसर्ग होने पर 'अहः' सिद्ध होता है।

अह्नी/अहनी–'अहन्+औ' यहाँ 'नपुंसकाच्च' से 'औ' की 'शी' आदेश होने पर 'विभाषा ङिश्योः' से 'शी' परे रहते अन्नन्त भंसज्ञक अङ्ग के अकार का विकल्प से लोप होकर 'अह्नी' और लोपाभाव पक्ष में 'अहनी' रूप सिद्ध होते हैं।

अहानि–'अहन्+शि (जस्)' यहाँ 'शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा और 'सर्वनामस्थाने०' से उपधा-दीर्घ होकर 'अहानि' रूप सिद्ध होता है।

३६३ अहन् ८।२।६८

अहन् इत्यस्य रुः पदान्ते। अहोभ्याम्। दण्डि। (वा०) सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः। हे दण्डिन्! हे दण्डि! दण्डिनी। दण्डीनि। दण्डिना। दण्डिभ्याम्। सुपथि। टेर्लोपः–सुपथी। सुपन्थानि। ऊर्क्, ऊर्ग्। ऊर्जी। ऊन्र्जि। नरजानां संयोगः। तत्। ते। तानि। यत्। ये। यानि। एतत्। एते। एतानि। गवाक्। गोची। गवाञ्चि। पुनस्तद्वत्। गोचा। गवाग्भ्याम्। शकृत्, शकृती, शकृन्ति। ददत्, ददती।

प०वि०–अहन् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः।। **अनु०**–अन्ते, पदस्य।

अर्थ–पदान्त में 'अहन्' के 'न्' को 'रु' आदेश होता है।

अहोभ्याम्

अहन् भ्याम्	तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी, द्वि व० में 'भ्याम्' आने पर 'स्वादिष्वसर्व०' से 'भ्याम्' परे रहते 'अहन्' की पद संज्ञा होने से 'अहन्' से पदान्त 'न्' को 'रु' आदेश हुआ
अह रु भ्याम्	अनुबन्ध-लोप
अहर् भ्याम्	'हशि च' से 'हश्' परे रहते अप्लुत ह्रस्व अकार से उत्तर 'र्' के स्थान में 'उ' आदेश और 'आद् गुणः' से गुण एकादेश होकर
अहोभ्याम्	रूप सिद्ध होता है।
दण्डि	(दण्ड धारण करने वाला कुल)
दण्डिन् सु	प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'स्वमोर्नपुं०' से नपुंसक अङ्ग से उत्तर 'सु' का लुक् तथा 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप होकर
दण्डि	रूप सिद्ध होता है।

हे दण्डिन्!, हे दण्डि!

हे दण्डिन् सु	सम्बोधन-प्रथमा के एक व० में 'सु' आने पर 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' का लुक् हुआ
हे दण्डिन्	'नलोपः प्राति०' से नकार का लोप प्राप्त था, जिसे बाधकर (वा०) 'सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः' से सम्बुद्धि परे रहते नपुंसकलिंग में नकार का विकल्प से लोप होकर
हे दण्डिन्/हे दण्डि	दो रूप सिद्ध होते हैं।

दण्डिनी–'दण्डिन्+औ' यहाँ 'नपुंसकाच्च' से 'औ' को 'शी' (ई) होकर 'दण्डिनी' यह रूप सिद्ध होता है।

दण्डीनि की सिद्धि-प्रक्रिया 'अहानि' (३६२) के समान जानें।

दण्डिभ्याम्– 'दण्डिन्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'दण्डिन्' की 'पद' संज्ञा होने के कारण 'न लोपः प्राति०' से नकार-लोप होकर 'दण्डिभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

सुपथि (सुमार्गगामी)–'सुपथिन्+सु' की सिद्धि-प्रक्रिया 'दण्डि' के समान जानें।

सुपथी

सुपथिन् औ	प्र० वि०, द्वि व० में 'औ', 'नपुंसकाच्च' से 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश हुआ
सुपथिन् शी	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से भसंज्ञा तथा 'भस्य टेर्लोपः' से भसंज्ञक के टिभाग 'इन्' का लोप हुआ
सुपथ् ई	संहिता होकर
सुपथी	रूप सिद्ध होता है।

सुपन्थानि

सुपथिन् शि (जस्)	'जश्शसोः शिः' से 'जस्' को 'शि' आदेश, अनुबन्ध-लोप, 'शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'इतोऽत्सर्वनाम०' से 'सुपथिन्' के इकार के स्थान में अकारादेश हुआ
सुपथन् इ	'थो न्थः' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते 'पथिन्' के थकार के स्थान में 'न्थ्' आदेश हुआ
सुपन्थ्अन् इ	'सर्वनामस्थाने चा०' से नकारान्त की उपधा को दीर्घ होकर
सुपन्थानि	रूप सिद्ध होता है।

ऊर्क्/ऊर्ग् (बलवान्)

ऊर्ज् सु	प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध-लोप, 'सु' का 'स्वमोर्नपुंस्कात्' से लोप और 'चोः कुः' से पदान्त 'ज्' को 'ग्' हुआ

ऊर्ग् — 'वाऽवसाने' से विकल्प से 'ग्' को 'क्' होकर
ऊर्ग्/ऊर्क् — दो रूप सिद्ध होते हैं।

ऊर्जी–'ऊर्ज्+औ' यहाँ 'नपुंसकाच्च' से 'औ' के स्थान में 'शी' (ई) होकर 'ऊर्जी' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्न्जि–'ऊर्ज्+शि (जस्)' यहाँ 'जश्शसोः शिः' से 'जस्' को 'शि' आदेश, 'शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा और 'नपुसंकस्य झलचः' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते झलन्त नपुंसक अंग को 'नुम्' आगम होकर 'ऊर्न्जि' रूप सिद्ध होता है।

तत् — (वह)
तद् सु — प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'स्वमोर्नपुंसकात्' से नपुंसक अङ्ग से उत्तर 'सु' का लुक् हुआ
तद् — 'वाऽवसाने' से अवसान में विकल्प से 'द्' को 'त्' होकर
तत् — रूप सिद्ध होता है।

ते–(वे दोनों) 'तद्+औ' यहाँ 'त्यदादीनामः' से अकारादेश, 'अतो गुणे' से पररूप, 'नपुंसकाच्च' से 'औ' के स्थान में 'शी' (ई) तथा 'आद् गुणः' से गुण होकर 'ते' रूप सिद्ध होता है।

तानि–'तद्+शि (जस्)' यहाँ 'त्यदादीनामः' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप, 'नपुंसकस्य झलचः' से नुमागम, 'सर्वनामस्थाने चा०' से उपधा को दीर्घ होकर 'तानि' रूप सिद्ध होता है।

यत्, ये, यानि, एतत्, एते, एतानि की सिद्धि-प्रक्रिया 'तत्', 'ते', 'तानि' के समान जानें।

गवाक् — (गाम् अञ्चति, गाय की पूजा करता है) (गाय के पीछे चलने वाला कुल आदि)
गो ङस् अञ्च् क्विन् — यहाँ 'ऋत्विग्दधृक्० से 'क्विन्', 'उपपदमतिङ्' से समास, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति लुक्, 'क्विन्' प्रत्यय का सर्वापहारी लोप, लुप्त 'क्विन्' को निमित्त मानकर 'अनिदितां हल०' से 'ञ्' का लोप हुआ
गो अच् — 'अवङ् स्फोटायनस्य' से 'अच्' परे रहते 'गो' के 'ओ' को विकल्प से 'अवङ्' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप
ग् अव अच् — 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घत्व, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
गवाच् सु — 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' का लुक् होने पर 'झलां जशोऽन्ते' से 'च्' को 'ज्' तथा 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से क्विन्-प्रत्ययान्त पद को कवर्गादेश हुआ

गवाग्	'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व होकर
गवाक्	रूप सिद्ध होता है।
गोची	
गो अच् शी (औ)	पूर्ववत् 'आनिदितां हल०' से 'ञ्' का लोप आदि होने पर 'नपुंसकाच्च' से 'औ' को 'शी' आदेश हुआ
गो अच् शी	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से भसंज्ञा तथा 'अचः' से लुप्त नकार वाले भसञ्ज्ञक 'अञ्चु' धातु के अकार का लोप होकर
गोची	रूप सिद्ध होता है।
गवाञ्चि	
गो अञ्च् शि (जस्)	पूर्ववत् 'गो' पूर्वक क्विन्नन्त 'अञ्चू' से 'जस्', 'अनिदितां हल०' से 'ञ्' का लोप आदि होने पर 'जशशसोः शिः' से 'जस्' को 'शि' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप
गो अच् इ	'उगिदचां सर्व०' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते 'नुम्' आगम हुआ
गो अ नुम् च् इ	अनुबन्ध-लोप, 'अवङ् स्फोटा०' से 'अच्' परे रहते 'गो' को 'अवङ्' आदेश हुआ
ग् अवङ् अ न् च् इ	अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ तथा 'नश्चापदान्तस्य०' से 'न्' को अनुस्वार हुआ
गवां च् इ	'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्ण 'ञ्' होकर
गवाञ्चि	रूप सिद्ध होता है।

गोचा–'गो+अञ्च्+आ (टा)' यहाँ 'अनिदितां०' से 'ञ्' का लोप, 'अचः' से 'अ' का लोप होकर 'गोचा' रूप सिद्ध होता है

गवाग्भ्याम्– 'गो+अञ्च्+भ्याम्' यहाँ 'अनिदितां०' से 'ञ्' का लोप, 'अवङ् स्फोटायनस्य' से अवङादेश, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ, 'झलां जशो०' से 'च्' को 'ज्' तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से कवर्गादेश होकर 'गवाग्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

शकृत् (मल)–'शकृत्+सु' यहाँ 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' का लुक्, 'झलां जशो०' से 'त्' को 'द्' तथा 'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व होकर 'शकृत्' रूप सिद्ध होता है।

शकृती–'शकृत्+औ' यहाँ 'नपुंसकाच्च' से 'औ' को 'शी' होकर 'शकृती' रूप सिद्ध होता है।

शकृन्ति–'शकृत्+शि (जस्)' यहाँ 'शि सर्वनामस्थानम्' से सर्वनामस्थान संज्ञा, 'नपुंसकस्य झलचः' से 'नुम्' आगम, 'नश्चापदान्तस्य झलि' से 'न्' को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्णादेश 'न्' होकर 'शकृन्ति' रूप सिद्ध होता है।

ददत्, ददती की सिद्धि-प्रक्रिया 'शकृत् और शकृती' के समान जानें।

३६४. वा नपुंसकस्य ७।१।७९

अभ्यस्तात् परो यः शता, तदन्तस्य क्लीबस्य वा नुम् सर्वनामस्थाने। ददन्ति। ददति। तुदत्।

प०वि०–वा अ०।। नपुंसकास्य ६।१।। **अनु०**–अभ्यस्तात्, शतुः, नुम्, अङ्गस्य, सर्वनामस्थाने।

अर्थः–'अभ्यस्त' संज्ञक से उत्तर जो, शतृप्रत्यय, तदन्त नपुंसक अङ्ग को 'सर्वनामस्थान' परे रहते विकल्प से 'नुम्' आगम होता है।

ददन्ति/ददति	(देता हुआ आदि)
ददत्	'ददत्' शब्द 'दा' धातु से 'शतृ' प्रत्यय, 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', जुहोत्यादिभ्यः०' से 'शप्' को 'श्लु' आदेश, 'श्लौ' से द्वित्व, 'उभे अभ्यस्तम्' से 'ददा' की 'अभ्यस्त' संज्ञा और 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' से ङित सार्वधातुक 'शतृ' परे रहते 'अभ्यस्त' संज्ञक के आकार का लोप होकर बना है
ददत् शि (जस्)	प्र० वि०, बहु व० में 'जस्', 'जश्शसोः शिः' से 'जस्' को 'शि' आदेश, 'शि सर्वनाम०' से 'शि' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने से 'वा नपुंसकस्य' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते अभ्यस्त संज्ञक से उत्तर जो शतृप्रत्यय, तदन्त को विकल्प से नुमागम हुआ
दद नुम् त् इ	अनुबन्ध-लोप होने पर 'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार और 'अनुस्वास्य०' से परसवर्ण (नकार) होकर
ददन्ति/ददति	दो रूप सिद्ध होते हैं।

तुदत् की सिद्धि-प्रक्रिया 'शकृत्' के समान जानें।

३६५. आच्छीनद्योर्नुम् ७।१।८०

अवर्णान्ताद् अङ्गात् परो यः शतुरवयवः, तदन्तस्य अङ्गस्य नुम् वा शीनद्योः। तुदन्ती, तुदती। तुदन्ति।

प०वि०–आत् ५।१।। शीनद्योः ७।२।। नुम् १।१।। **अनु०**–शतुः, वा, अङ्गस्य।

अर्थः–अवर्णान्त अङ्ग से परे जो शतृ प्रत्यय, तदन्त अर्थात् उस शतृ प्रत्ययान्त अङ्ग को 'नुम्' आगम होता है, 'शी' अथवा 'नदी' संज्ञक परे रहते।

तुदन्ती/तुदती– (कष्ट देते हुए) 'तुदत्+शी (औ)' यहाँ 'तुदत्' शब्द 'शतृ' प्रत्ययान्त है, इसलिए 'शी' परे रहते 'आच्छीनद्यो०' से विकल्प से नुमागम हुआ, अनुबन्ध-लोप, 'तुदन्त्+ई' यहाँ नकार को अनुस्वार और अनुस्वार को परसवर्ण होकर 'तुदन्ती' तथा 'नुम्' अभाव पक्ष में 'तुदती' रूप सिद्ध होते हैं।

तुदन्ति–'तुदत्+शि (जस्)' यहाँ 'शि' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने के कारण 'उगिदचां सर्वनाम०' से उगिदन्त को 'नुम्' आगम होकर 'तुदन्ति' रूप सिद्ध होता है।

३६६. शप्श्यनोर्नित्यम् ७।१।८१

शप्श्यनोरात् परो यः शतुरवयवः, तदन्तस्य नित्यं नुम् शीनद्योः। पचन्ती। पचन्ति। दीव्यत्। दीव्यन्ती। दीव्यन्ति। धनुः। धनुषी। 'सान्त०' इति दीर्घः, 'नुम्विसर्जनीय०' इति षः-धनूंषि। धनुषा। धनुर्भ्याम्। एवम् चक्षुर्हविरादयः। पयः, पयसी, पयांसि। पयसा। पयोभ्याम्। सुपुम्, सुपुंसी, सुपुमांसि। अदः। विभक्तिकार्यम्, उत्वमत्वे-अमू, अमूनि। शेषं पुवंत्।

॥ इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः॥

इति षड्लिङ्गाः।

प० वि०—शप्श्यनोः ६।२।। नित्यम् १।१।। **अनु०**—शीनद्योः, शतुः, नुम्।

अर्थः—'शप्' और 'श्यन्' प्रत्यय के अकार से परे जो 'शतृ' प्रत्यय, उसको 'शी' और 'नदी' संज्ञक परे रहते, 'नुम्' आगम होता है

पचत् (पकाती हुई)—'पच्' धातु से 'लट्' के स्थान पर, 'लटः शतृशानचाव०' से 'शतृ' आदेश और 'कर्तरि शप्' से 'शप्' होने पर 'पचत्' बनता है।

पचन्ती

पचत् औ	प्र० वि०, द्वि व० में 'औ', 'नपुंसकाच्च' से 'औ' के स्थान में 'शी' आदेश हुआ
पचत् शी	अनुबन्ध-लोप, 'शप्श्यनोर्नित्यम्' से 'शी' परे रहते 'शप्' के अकार से उत्तर 'शतृ' को 'नुम्' आगम हुआ
पच नुम् त् ई	अनुबन्ध-लोप, 'नश्चापदान्तस्य झलि' से नकार को अनुस्वार आदेश हुआ
पचं ती	'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार को पर सवर्ण नकार होकर
पचन्ती	रूप सिद्ध होता है।

पचन्ति—'पचत्+शि (जस्)' यहाँ 'शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा होने से 'उगिदचां सर्वनाम०' से नुमागम, अनुबन्ध-लोप तथा पूर्ववत् अनुस्वारादि कार्य होकर 'पचन्ति' बनता है।

दीव्यत् की सिद्धि 'तुदत्' के समान जानें।

दीव्यन्ती, दीव्यन्ति की सिद्धि-प्रक्रिया क्रमशः 'पचन्ती' और 'पचन्ति' के समान जानें।

धनुष्—'धन्' धातु से औणादिक 'उस्' प्रत्यय करने पर 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'धनुष्' शब्द बना है।

धनुः

धनुष् सु	प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' का लुक् हुआ
धनुष्	चूंकि 'आदेशप्रत्यययो:' (८।३।५९) त्रिपादी में 'ससजुषो रु:' (८।२।६६) से परे है इसलिए 'पूर्वत्रासिद्धम्' से षत्व के असिद्ध हो जाने पर 'धनुष्' को सकारान्त पद मानकर 'स्' के स्थान में 'ससजुषो रु:' से 'रु' आदेश हुआ
धनुरु	अनुबन्ध-लोप तथा 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्ग होकर
धनु:	रूप सिद्ध होता है।

धनुषी– 'धनुष्+औ' यहाँ 'नपुंसकाच्च' से 'औ' को 'शी' आदेश होकर 'धनुषी रूप सिद्ध होता है।

धनूंषि

धनुष् शि (जस्)	प्र० वि०, बहु व० में 'जस्', 'जश्शसो: शि:' से 'जस्' को 'शि' आदेश, 'नपुंसकस्य झलच:' से 'नुम्' आगम होने पर अनुबन्ध-लोप हुआ
धनु न् ष् इ	'शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा, 'पूर्वत्रासिद्धम्' सें सान्तमहत:०' (३४२) की दृष्टि में षत्व के असिद्ध होने से सकारान्त संयोग मिल जाता है इसलिए 'सान्तमहत: संयोगस्य' से संबुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते सकारान्त संयोग के अवयव नकार की उपधा को दीर्घ हुआ
धनू न् ष् इ	'नश्चापदान्तस्य झलि' से नकार को अनुस्वार होकर
धनूंषि	रूप सिद्ध होता है।

धनुर्भ्याम्– 'धनुष्+भ्याम्' यहाँ 'भ्याम्' परे रहते 'स्वादिष्वसर्वनाम०' से 'धनुष्' की 'पद' संज्ञा, 'पूर्वत्रासिद्धम्' से षकार के असिद्ध होने से सकारान्त पद को 'ससजुषो रु:' से 'रु' होकर 'धनुर्भ्याम्' सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **चक्षुष्** और **हविस्** के रूपों की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

पय:, पयसी, पयांसि की सिद्धि-प्रक्रिया 'पयस्' शब्द से प्र० वि०, एक व०, द्वि व० और बहु व० में क्रमश: 'सु', 'औ' और 'जस्' आने पर 'धनु:', 'धनुषी' और 'धनूंषि' के समान जानें।

पयोभ्याम्–'पयस्+भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा, 'ससजुषो०' से रुत्व, 'हशि च' से उत्त्व तथा 'आद् गुण:' से गुण होकर 'पयोभ्याम्' सिद्ध होता है।

सुपुम् (अच्छे पुरुष वाला कुल)

सुपुंस् सु — प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' का लुक् तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' से सकार का लोप हुआ निमित्त के हट जाने पर अनुस्वार अपनी पूर्व अवस्था 'म्' में परिवर्तित होकर

सुपुम् — रूप सिद्ध होता है।

सुपुंसी—'सुपुंस्+औ' यहाँ 'नपुंस्काच्च' से 'औ' को 'शी' आदेश होने पर अनुबन्ध-लोप होकर 'सुपुंसी' रूप सिद्ध होता है।

सुपुमांसि— 'सुपुम्+शि (जस्)' की सिद्धि-प्रक्रिया 'धनूंषि' के समान जानें।

अदः — (वह)

अदस् सु — प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' का लुक् हुआ

अदस् — 'ससजुषो रुः' से 'स्' को 'रु' और 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग आदि कार्य होकर

अदः — रूप सिद्ध होता है।

अमू की सिद्धि-प्रक्रिया 'अदसोऽसे०' (३५६) की व्याख्या में देखें।

अमूनि

अदस् शि (जस्) — प्र० वि०, बहु व० में 'जस्' आने पर 'जश्शसोः शिः' से 'जस्' को 'शि' आदेश, अनुबन्ध-लोप, 'त्यदादीनामः' से अत्व और 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हुआ

अद इ — 'शि' सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने से 'नपुंसकस्य झलचः' से नुमागम, अनुबन्ध-लोप

अद न् इ — 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से सम्बुद्धि भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते नकारान्त की उपधा को दीर्घ हुआ

अदान् इ — 'अदसोऽसेर्दादु०' से 'अदस्' के 'द्' को 'म्' तथा दकार से उत्तर 'आ' को 'ऊ' आदेश होकर

अमूनि — सिद्ध होता है।

'अदस्' शब्द के शेष रूपों की सिद्धि-प्रक्रिया पुल्लिंग के समान जानें।

॥ हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरण समाप्त ॥

॥ षड्लिङ्ग समाप्त ॥

अथ अव्ययप्रकरणम्

३६७. स्वरादिनिपातमव्ययम् १।१।३७

स्वरादयो निपाताश्चाव्ययसञ्ज्ञाः स्युः।

प० वि०–स्वरादिनिपातम् १।१।। अव्ययम् १।१।।

***स्वरादयः**

यह सञ्ज्ञासूत्र है।

अर्थः--स्वर् आदि गण में पठित शब्द और निपात अव्यय-संज्ञक होते हैं। स्वरादि गण 'गणपाठ' में तथा निपात 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१.४.५६) सूत्र के अधिकार के अन्तर्गत पढ़े गये हैं।

१. स्वर् २. अन्तर् ३. प्रातर् ४. पुनर् ५. सनुतर् ६. उच्चैस् ७. नीचैस् ८. शनैस् ९. ऋधक् १०. ऋते ११. युगपत् १२. आरात् १३. पृथक् १४. ह्यस् १५. श्वस् १६. दिवा १७. रात्रौ १८. सायम् १९. चिरम् २०. मनाक् २१. ईषत् २२. जोषम् २३. तूष्णीम् २४. बहिस् २५. अवस् २६. अधस् २७. समया २८. निकषा २९. स्वयम् ३०. वृथा ३१. नक्तम् ३२. न ३३. नञ् ३४. हेतौ ३५. इद्धा ३६. अद्धा ३७. सामि ३८. वत् ३९. ब्राह्मणवत् ४०. क्षत्रियवत् ४१. सना ४२. सनत् ४३. सनात् ४४. उपधा ४५. तिरस् ४६. अन्तरा ४७. अन्तरेण ४८. ज्योक् ४९. कम् ५०. शम् ५१. सहसा ५२. बिना ५३. नाना ५४. स्वस्ति ५५. स्वधा ५६. अलम् ५७. वषट् ५८. श्रौषट् ५९. वौषट् ६०. अन्यत् ६१. अस्ति ६२. उपांशु ६३. क्षमा ६४. विहायसा ६५. दोषा ६६. मृषा ६७. मिथ्या ६८. मुधा ६९. पुरा ७०. मिथो ७१. मिथस् ७२. प्रायस् ७३. मुहुस् ७४. प्रवाहुकम् ७५. प्रवाहिका ७६ आर्यहलम् ७७. अभीक्ष्णम् ७८. साकम् ७९. सार्धम् ८० नमस् ८१. हिरुक् ८२. धिक् ८३. अथ ८४. अम् ८५. आम् ८६. प्रताम् ८७. प्रशान् ८८. मा ८९. माङ् आकृतिगणोऽयम्।

१. स्वर् (स्वर्ग, परलोक), २. अन्तर् (मध्य), ३. प्रातर् (प्रातःकाल), ४. पुनर् (फिर), ५. सनुतर् (छिपना), ६. उच्चैस् (ऊँचा) ७. नीचैस् (नीचा), ८. शनैस् (धीरे), ९. ऋधक् (सत्य), १०. ऋते (बिना, बगैर), ११. युगपत् (एक साथ), १२. आरात् (दूर, समीप), १३. पृथक् (अलग), १४. ह्यस् (कल, बीता हुआ), १५. श्वस् (कल, आने वाला), १६. दिवा (दिन), १७. रात्रौ (रात), १८. सायम् (सायंकाल), १९. चिरम् (देर

तक), २०. मनाक् (थोड़ा), २१. ईषत् (थोड़ा), २२. जोषम् (चुपचाप), २३. तूष्णीम् (मौन), २४. बहिस् (बाहर), २५. अवस् (बाहर), २६. अधस् (नीचे), २७. समया (समीप), २८. निकषा (समीप), २९. स्वयम् (अपने आप), ३०. वृथा (व्यर्थ), ३१. नक्तम् (रात), ३२. न (नहीं), ३३. नञ् (नहीं), ३४. हेतौ (कारण), ३५. इद्धा (स्पष्ट), ३६. अद्धा (सत्य, साक्षात्, प्रत्यक्ष), ३७. सामि (आधा, निन्दित), ३८. वत् (समान), ३९. ब्राह्मणवत् (ब्राह्मण के समान), ४०. क्षत्रियवत् (क्षत्रिय के समान), ४१. सना (नित्य, हमेशा), ४२. सनत् (नित्य, हमेशाा), ४३. सनात् (नित्य हमेशाा), ४४. उपधा (भेद), ४५. तिरस् (तिरछा, अपमान करना, छिपना), ४६. अन्तरा (मध्य, बिना), ४७. अन्तरेण (बिना), ४८. ज्योक् (शीघ्र), ४९. कम् (सुख, जल, मूर्धा, निन्दा), ५०. शम् (सुख, शान्ति), ५१. सहसा (अचानक, अकस्मात्), ५२. बिना (बिना,), ५३. नाना (अनेक), ५४. स्वस्ति (कल्याण, मङ्गल), ५५. स्वधा (पितृदान), ५६. अलम् (भूषण, पर्याप्त, निषेध), ५७. वषट् (देवताओं को हवि देना), ५८. श्रौषट् (देवताओं को हवि देना), ५९. वौषट् (देवताओं को हवि देना), ६०. अन्यत् (भिन्न, अन्य. इतर), ६१. अस्ति (है), ६२. उपांशु (एकान्त), ६३. क्षमा (क्षमां), ६४. विहायसा (आकाश), ६५. दोषा (रात), ६६. मृषा (झूठ, मिथ्या, असत्य), ६७. मिथ्या (झूठ), ६८. मुधा (व्यर्थ), ६९. पुरा (पहले), ७०. मिथो (एकान्त, परस्पर), ७१. मिथस् (एकान्त), ७२. प्रायस् (बहुधा), ७३. मुहुस् (बार-बार), ७४. प्रवाहुकम् (समानकाल, शीघ्र), ७५. प्रवाहिका (समान काल, शीघ्र), ७६ आर्यहलम् (बलात्कार), ७७. अभीक्ष्णम् (निरन्तर, पुनः-पुनः), ७८. साकम् (साथ), ७९. सार्धम् (साथ), ८० नमस् (प्रणाम), ८१. हिरुक (रोकना, छोड़ना), ८२. धिक् (धिक्कार), ८३. अथ (प्रारम्भ, अनन्तर), ८४. अम् (शीघ्र), ८५. आम् (स्वीकार करना), ८६. प्रताम् (ग्लानि), ८७. प्रशान् (समान), ८८. मा (मत), ८९. माङ् (मत)। आकृतिगणोऽयम्।

***चादयो निपाताः—**

१. च २. वा ३. ह ४. अह ५. एव ६. एवम् ७. नूनम् ८. शश्वत् ९. युगपत् १० भूयस् ११. कूपत् १२. सूपत् १३. कुवित् १४. नेत् १५. चेत् १६. चण् १७. यत्र १८. कच्चित् १९. नह २०. हन्त २१. माकिः २२. माकिम् २३. नाकिः २४. नकिम् २५. माङ् २६. नञ् २७. यावत् २८. तावत् २९. त्वै ३०. न्वै ३१. द्वै ३२. रै ३३. श्रौषट् ३४. वौषट् ३५. स्वाहा ३६. स्वधा ३७. वषट् ३८. तुम् ३९. तथाहि ४०. खलु ४१. किल ४२. अथो ४३. अथ ४४. सुष्ठु ४५. स्म ४६. आदह

***(ग० सू०) उपसर्ग-विभक्ति-स्वर-प्रतिरूपकाश्च।**

४७. अवदत्तम्, ४८. अहंयु, ४९. अस्तिक्षीरा, ५०. अ, ५१. आ, ५२. इ, ५३. ई ५४. उ ५५. ऊ ५६. ए ५७. ऐ ५८. ओ ५९. औ ६०. पशु ६१. शुकम् ६२. यथा, कथा च ६३. पाट् ६४. प्याट् ६५. अङ्ग ६६. है ६७. हे ६८. भोः ६९. अये ७०. द्य ७१. विषु ७२. एकपदे ७३. युत् ७४. आतः। चादिरप्याकृतिगणः।

१. च (और, समुच्चय), २. वा (अथवा, विकल्प), ३. ह (प्रसिद्धि, पाद पूर्ति), ४. अह (पूजा, स्पष्टता), ५. एव (ही, अवधारण), ६. एवम् (इस प्रकार, ऐसा, निश्चय), ७. नूनम् (निश्चय ही), ८. शश्वत् (निरन्तर), ९. युगपत् (एक साथ), १० भूयस् (फिर, पुनः), ११. कूपत् (प्रश्न, प्रशंसा), १२. सूपत् (प्रश्न, प्रशंसा), १३. कुवित् (बहुत), १४. नेत् (शङ्का), १५. चेत् (यदि), १६. चण् (यदि), १७. यत्र (जहाँ), १८. कच्चित् (इष्टप्रश्न), १९. नह् (निषेधपूर्वक आरम्भ), २०. हन्त (विषाद, हर्ष, वाक्यारम्भ), २१. माकिः (मत, निषेध), २२. माकिम् (निषेध), २३. नाकिः (निषेध), २४. नकिम् (निषेध), २५. माङ् (निषेध), २६. नञ् (नहीं), २७. यावत् (जब तक जितना), २८. तावत् (तब तक, उतना), २९. त्वै (वितर्क), ३०. न्वै (वितर्क), ३१. द्वै (वितर्क), ३२. रै (दान, अनादर), ३३. श्रौषट् (हविर्दान), ३४. वौषट् (हविर्दान), ३५. स्वाहा (हविर्दान, देवदान), ३६. स्वधा (पितृदान), ३७. वषट् (हविर्दान), ३८. तुम् (तुम, तू, तू कह कर अनादर करना), ३९. तथाहि (जैसाकि, निदर्शन), ४०. खलु (निश्चय, निषेध), ४१. किल (निश्चय ही, सम्भावना, अलीक कथन, ऐतिह्य बात कहने में), ४२. अथो (प्रारम्भ, समुच्चय), ४३. अथ (मंगलार्थक, प्रारम्भ), ४४. सुष्ठु (सुन्दर, अच्छा), ४५. स्म (भूतकाल), ४६. आदह (हिंसा, उपक्रम, निन्दा),

(ग० सू०) उपसर्गेति–अर्थः–उपसर्ग–प्रतिरूपक, विभक्ति–प्रतिरूपक और स्वर–प्रतिरूपक भी चादिगण के अन्तर्गत हैं अर्थात् वे भी **निपात** संज्ञक होते हैं।

जो उपसर्ग तो न हों किन्तु उपसर्ग के समान प्रतीत हों, उन्हें 'उपसर्गप्रतिरूपक' कहते हैं। इसी प्रकार विभक्ति के समान प्रतीत होने वाले निपात 'विभक्ति–प्रतिरूपक' कहलाते हैं। निपात होने से इनकी भी 'अव्यय' संज्ञा होगी। यथा–'अवदत्तम्' में 'अव' उपसर्ग–सदृश है, अतः निपात होने से वह अव्यय–संज्ञक होगा। यदि वह उपसर्ग होता, तो 'अच उपसर्गात्तः' (७.४.४७) से घुसंज्ञक 'दा' को तकार अन्तादेश होकर 'अवत्तम्' रूप बनता 'अवदत्तम्' नहीं। विभक्ति प्रतिरूपक के उदाहरण 'अहंयु' में 'अहम्' शब्द 'अस्मद्' प्रातिपदिक के प्रथमा के एकवचन के समान प्रतीत होता है, अतः अव्यय होने के कारण 'अहंशुभयोर्युस्' (५.२.१४०) से 'युस्' प्रत्यय होकर 'अहंयु' रूप बनता है। इसी प्रकार 'अ', 'आ' आदि स्वर–प्रतिरूपक भी 'अव्यय' हैं।

५४. उ (सम्बोधन, वितर्क), ५५. ऊ (सम्बोधन), ५६. ए (सम्बोधन), ५७. ऐ (सम्बोधन), ५८. ओ (सम्बोधन), ५९. औ (सम्बोधन), ६०. पशु (भली भाँति, ठीक तरह), ६१. शुकम् (तत्काल, शीघ्र), ६२. यथा, कथा च (तिरस्कार, अनादर), ६३. पाट् (सम्बोधन), ६४. प्याट् (सम्बोधन), ६५. अङ्ग (सम्बोधन), ६६. है (सम्बोधन), ६७. हे (सम्बोधन), ६८. भोः (सम्बोधन), ६९. अये (सम्बोधन), ७०. द्य (पादपूर्ति, हिंसा), ७१. विषु (नाना, साम्य), ७२. एकपदे (शीघ्र), ७३. युत् (निन्दा, कुत्सा), ७४. आतः (इसलिए भी)। चादिरप्याकृतिगणः।

३६८. तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः १।२।३८

यस्मात्सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते, स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात्। परिगणनं कर्त्तव्यम्।

तसिलादयः प्राक्पाशपः। शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः। अम्। आम्। कृत्वोऽर्थाः।

तसि–वती। ना–नाञौ। एतदन्तमव्ययम्। अत इत्यादि।

प० वि०–तद्धितः १।१ ।। च अ०।। असर्वविभक्तिः १।१।। **अनु०**-अव्ययम्। **अर्थः**–जिससे सभी विभक्तियाँ उत्पन्न नहीं होती, ऐसे तद्धित प्रत्ययान्त के रूप सभी विभक्तियों में नहीं बनते हैं, उस तद्धित-प्रत्ययान्त शब्द की 'अव्यय' संज्ञा होती है।

सामान्यतः सभी प्रातिपदिकों के तीन वचनों (एक व०, द्वि व० और बहु व०) और सातों विभक्तियों में रूप चलते हैं। जिन तद्धितान्त शब्दों के रूप सभी विभक्तियों में नहीं चलते, उनकी 'अव्यय' संज्ञा होती है। यथा–'यतः' शब्द के अन्त में 'तसिल्' तद्धित-प्रत्यय है, अतः इसके रूप भी सभी विभक्तियों में नहीं चलते। इसलिए प्रकृत सूत्र से 'यतः' शब्द की 'अव्यय' संज्ञा होती है। इसी प्रकार 'यत्र' आदि अन्य तद्धित-प्रत्ययान्त शब्द (जिनके रूप सभी विभक्तियों में नहीं चलते) भी 'अव्यय' संज्ञक होते हैं।

असर्वविभक्ति-तद्धित, जिनके रूप सभी विभक्तियों में नहीं चलते, निम्नलिखित हैं–

(क) 'तसिल्' से लेकर 'पाशप्' से पूर्व तक सारे प्रत्यय–१. तसिल्, २. त्रल्, ३. ह, ४. अत्, ५. दा, ६. हिल्, ७. दानीम्, ८. धुना, ९. द्यस् आदि, १०. थाल्, ११. थमु, १२. था, १३. अस्तानि, १४. अतसुच्, १५. रिल्, १६. आति, १७. अ, आ, १८. आति, १९. एनप्, २०. आच्, २१. आहि, २२. असि, २३. धा, २४. ध्यमुञ्, २५. धमुञ्, २६. एधाच्,

(ख) 'शस्' से लेकर समासान्तों से पूर्व तक सभी प्रत्यय–२७. शस्, २८. तसि, २९. च्वि, ३०. साति, ३१. त्रा, ३२. डाच्,

(ग)– ३३. अम्, ३४. आम्,

(घ) 'कृत्वसुच्' और उसके अर्थ में आने वाले प्रत्यय–३५. कृत्वसुच्, ३६. सुच्, ३७. धा,

(ङ)– ३८. तसि, ३९. वति, ४०. ना और ४१. नाञ्।

३६९. कृन् मेजन्तः १।१।३९

कृद् यो मान्त एजन्तश्च, तदन्तमव्ययं स्यात्। स्मारं स्मारम्। जीवसे। पिबध्यै।

प० वि०– कृत् १।१ ।। मेजन्तः १।१ ।। **अनु०** अव्ययम्।

अर्थः–कृत् प्रत्यय जो मकारान्त और एजन्त (ए, ओ, ऐ और औ अन्त वाले) तदन्त की 'अव्यय' संज्ञा होती है।

मकारान्त कृत्–'णमुल्', 'कमुल्', 'खमुञ्' तथा 'तुमुन्' और एजन्त कृत्-प्रत्ययों

में 'से', 'सेन्', 'असे', 'असेन्' और 'शध्यै' आदि आते हैं। इस प्रकार ये मकारान्त और एजन्त प्रत्यय जिन शब्दों के अन्त में आते हैं, उनकी 'अव्यय' संज्ञा होती है। **यथा**—'स्मारं स्मारम्' में 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' से कृत्-संज्ञक मकारान्त 'णमुल्' प्रत्यय हुआ है। अतः तदन्त 'स्मारं स्मारम्' की 'अव्यय' संज्ञा होती है। इसी प्रकार 'तुमर्थे से सेनसे०' से 'कृत्' संज्ञक 'से' प्रत्ययान्त 'जीवसे' और 'शध्यै' प्रत्ययान्त 'पिबध्यै' इत्यादि अव्यय-संज्ञक होते हैं।

३७०. क्त्वा-तोसुन्-कसुनः १।१।४०

एतदन्तमव्ययम्। कृत्वा। उदेतोः। विसृपः।

प० वि०— क्त्वातोसुन्कसुनः १।३।। **अनु०**—अव्ययम्।

अर्थः— क्त्वा-प्रत्ययान्त, तोसुन्-प्रत्ययान्त और कसुन्-प्रत्ययान्त शब्द 'अव्यय' संज्ञक होते हैं। **यथा**—क्त्वा-प्रत्ययान्त 'कृत्वा', तोसुन्-प्रत्ययान्त 'उदेतोः' और कसुन्-प्रत्ययान्त 'विसृपः' अव्ययसंज्ञक होंगे।

३७१. अव्ययीभावश्च। १।१।४१

अधिहरि।

प० वि०— अव्ययीभावः १।१।। च अ०।। **अनु०**—अव्ययम्।

अर्थः—अव्ययीभाव समास की 'अव्यय' संज्ञा होती है।

यथा—'अधिहरि' में 'अव्ययं विभक्ति०' सूत्र से अव्ययीभाव समास हुआ है। अतः इसकी 'अव्यय' संज्ञा होगी।

३७२. अव्ययादाप्सुपः २।४।८२

अव्ययाद् विहितस्यापः सुपश्च लुक्। तत्र शालायाम्।

(अव्ययलक्षणम्)

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।।

(भागुरिमतम्)

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा।।

वगाहः, अवगाहः। पिधानम्, अपिधानम्।

इत्यव्ययानि।

[इति पूर्वार्द्धम्]

प० वि०—**अव्ययात् ५।१।। आप्सुपः ६।१।। अनु०**— लुक्।

अर्थः—अव्यय से उत्तर आप् (चाप्, टाप्, डाप्) तथा सुप् (सु, औ, जस् आदि) प्रत्ययों का लुक् अर्थात् अदर्शन होता है। यथा 'तत्र शालायाम्' यहाँ 'तत्र' शब्द तद्धित संज्ञक

त्रल्प्रत्ययान्त है। 'शाला' इस स्त्रीलिङ्ग का विशेषण होने से 'तत्र' शब्द से 'टाप्' प्रत्यय होता है, किन्तु 'त्रल्' प्रत्यान्त की अव्यय संज्ञा होने से प्रकृत सूत्र से अव्यय से उत्तर 'टाप्' के 'आप्' का लुक् हो जाता है। अतः 'तत्र' ही रहता है।

विशेषः–वरदाराज ने अव्यय का लक्षण निरूपित करने हेतु 'सदृशम् त्रिषु०' इत्यादि कारिका तथा हलन्त शब्दों के विषय में **भागुरि** आचार्य के मत का उल्लेख किया है जिनका अर्थ इस प्रकार है–

अव्ययलक्षण–जो शब्द तीनों लिङ्गों में, सभी विभक्तियों में और सभी वचनों में एक समान रहते हैं अर्थात् बदलते नहीं हैं उन्हे 'अव्यय' कहा जाता है।

वष्टि इति–श्री भागुरि आचार्य 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के (आदि) अकार का लोप चाहते हैं तथा स्त्री बोधक हलन्त शब्दों से 'आप्' प्रत्यय विधान करना चाहते हैं। पाणिनि का मत न होने के कारण ये आदेश विकल्प से होंगे। 'अव' और 'अपि' के अकार लोप के उदाहरण 'वगाहः' (गोता) और 'पिधानम्' (ढकना) शब्दों में मिलते हैं। लोपाभावपक्ष में 'अवगाहः' और 'अपिधानम्' रूप बनेंगे। इसी प्रकार हलन्त शब्दों में 'आप्' प्रत्यय के उदाहरण 'निशा', 'वाचा', 'दिशा' आदि में मिलते हैं। अभावपक्ष में 'निश्', 'वाच्', 'दिश्' आदि रूप होंगे।

॥ अव्ययप्रकरण समाप्त॥

[पूर्वार्द्ध समाप्त]

अथ तिङन्तप्रकरणम्

[उत्तरार्धम्]

भ्वादिर्गणः

लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ्। एषु पञ्चमो लकारश्छन्दोमात्रगोचरः।

लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ् प्रत्यय लकार नाम से जाने जाते हैं। इन लट्, लिट् आदि प्रत्ययों के 'ट्' तथा 'ङ्' की 'हलन्त्यम्' से और 'अ', 'इ', 'उ' इत्यादि स्वरों की 'उपदेशेऽज०' से इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से उनका लोप हो जाता है। इन सभी प्रत्ययों का केवल 'ल्' मात्र शेष बचता है, इसलिए इन्हें लकार कहा जाता है। इन दश लकारों में पञ्चम लकार 'लेट्' का प्रयोग केवल वैदिक संस्कृत में दिखाई देता है। शेष नौ लकार वेद तथा वेद के अतिरिक्त संस्कृत भाषा में प्रयुक्त होते हैं।

उपर्युक्त दश लकार या तो किसी काल (Tense) विशेष के वाचक हैं, या क्रिया की किसी विशेष अवस्था (Moods) को अभिव्यक्त करते हैं।

३७३. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः ३।४।६९

लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्त्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्त्तरि च

प० वि०—लः १।१।। कर्मणि ७।१।। च अ०।। भावे ७।१।। च अ०।। अकर्मकेभ्यः ५।३।। **अनु०**—कर्त्तरि, धातोः, कर्त्तरि।

अर्थः—लकार (लट्, लिट्, लुट् आदि) सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्त्ता में तथा अकर्मक धातुओं से भाव और कर्त्ता में होते हैं।

विशेषः—सकर्मक और **अकर्मक** क्रियाओं की पहचान के लिए दो तथ्यों को आधार बनाया जा सकता है। १. सकर्मक तथा अकर्मक की शास्त्रीय परिभाषायें, २. अर्थ के आधार पर धातुओं की पहचान करना। इन दोनों आधारों के अतिरिक्त पहचान, जो कि अत्यन्त सरल भी है, निम्नलिखित प्रकार से हो सकती है।

सकर्मक—कर्त्ता से युक्त क्रियापद को जब 'किम्' (क्या) की अपेक्षा रहती है तो उसे 'सकर्मक' कहा जाता है। जैसे—'बालकः पठति' इस वाक्य के उच्चारण करने पर 'पठति' क्रिया किसी पठनीय विषय की अपेक्षा रखती है। इस आकांक्षा की अभिव्यक्ति

'किम् पठति' कहकर की जाती है। जिसका उत्तर 'पुस्तकं पठति' इत्यादि कहकर दिया जा सकता है। इस प्रकार की क्रिया 'सकर्मक' कहलाती है।

अकर्मक—इसी प्रकार कुछ ऐसी क्रियाएं भी हैं जिनको अपने स्वरूप लाभ के लिए किसी अन्य पद की अपेक्षा नहीं रहती। इस प्रकार की धातुओं में 'किम्' आदि के द्वारा प्रश्न अपेक्षित नहीं रहता। जैसे-'बालकः शेते' इत्यादि में शयन क्रिया का कर्त्ता बालक है जिसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति इस वाक्य से हो रही है। इस प्रकार की क्रियाएं 'अकर्मक' कही जाती हैं।

हिन्दी भाषा में सकर्मक और अकर्मक की पहचान के लिए 'किसको' या 'क्या' जोड़कर क्रिया की सकर्मकता और अकर्मकता को जाना जा सकता है। ऐसी क्रियाएं जिनके साथ 'क्या' और 'किसको' जोड़कर बनाये गये प्रश्न का उत्तर सम्भव हो वह 'सकर्मक' और जहाँ उत्तर सम्भव न हो वह 'अकर्मक' क्रिया होती है।

अकर्मक धातुओं के अर्थों का परिगणन एक कारिका में किया गया है जो इस प्रकार है–

लज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणम्, वृद्धि-क्षय-भय-जीवित-मरणम्।
शयन-क्रीडा-रुचि दीप्त्यर्थं, धातुगणं तमकर्मकमाहुः॥

अर्थात्—लजाना, होना, बैठना या टिकना, जागना, बढ़ना, ह्रास होना, डरना, जीना, मरना, सोना, खेलना, भाना (रुचिकर लगना) और चमकना अर्थ वाली धातुएं 'अकर्मक' कहलाती हैं, इनसे भिन्न-अर्थ वाली धातुएं 'सकर्मक' कहलाती हैं।

३७४. वर्त्तमाने लट् ३।२।१२३

वर्त्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात्। अटावितौ। उच्चारणसामर्थ्यात् लस्य नेत्त्वम्। भू सत्तायाम्। कर्तृविवक्षायां भू ल् इति स्थिते–

प०वि०—वर्त्तमाने ७।१।। लट् १।१।। **अनु०**—धातोः, प्रत्ययः, परश्च।

अर्थः—वर्त्तमान काल में होने वाली क्रिया को अभिव्यक्त करने वाली धातु से 'लट्' प्रत्यय होता है।

टकार की 'हलन्त्यम्' से और अकार की 'उपदेशेऽजनु०' से इत्संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से इत् संज्ञक वर्णों का लोप हो जाता है। लकार (ल्) की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा प्राप्त है, परन्तु उच्चारण-सामर्थ्य से उसकी इत्संज्ञा नहीं होती है। उच्चारण-सामर्थ्य से अभिप्राय यह है कि आचार्य ने 'तिप्तस्झि०' सूत्र से लकार के स्थान में 'तिप्', 'तस्' आदि प्रत्ययों का विधान किया है। यदि 'ल्' की 'इत्' संज्ञा होने लगे तो 'ल्' के स्थान में 'तिप्' आदि प्रत्ययों का विधान व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए 'ल्' के स्थान में 'तिप्तस्झि०' का विधान ही इस का ज्ञापक है कि 'लट्' आदि में 'ल्' की 'इत्' संज्ञा तथा लोप नहीं होता।

सत्तार्थक 'भू' धातु से कर्तृत्व की विवक्षा में 'लट्' प्रत्यय आता है जिसके 'ट्' और 'अ' की इत्संज्ञा होकर उनका लोप होने से 'ल्' शेष बचता है।

विशेषः—उपर्युक्त दोनों सूत्र तथा आगे आने वाले सूत्रों का कार्य 'भवति' की सिद्धि-प्रक्रिया में क्रियात्मक रूप में स्पष्ट हो सकेगा। इसलिए वहाँ 'भवति' की सिद्धि को ध्यान से पढ़कर आत्मसात् करने का प्रयास करें। तिबाद्युत्पत्ति की प्रक्रिया सम्पूर्ण तिङन्त में 'भवति' के समान ही होती है, इसलिये आगे आने वाले, 'भवति' के अतिरिक्त सभी, उदाहरणों में आवश्यक रूप से प्रवृत्त होने वाले एक-दो सूत्रों को ही दिखाया जायेगा, तिबाद्युत्पत्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया को नहीं।

३७५. तिप्तस्झि-सिप्थस्थ-मिब्वस्मस्-तातांझ-थासाथांध्वमिड्-वहिमहिङ् ३।४।७८

एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः।

प०वि०—तिप्तस्झि-सिप्थस्थ....महिङ् १।१।। **अनु०**—धातोः, लस्य।

अर्थः—धातु से उत्तर 'ल्' के स्थान में तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि और महिङ् ये अट्ठारह आदेश होते हैं।

३७६. लः परस्मैपदम् १।४।९९

लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः।

प०वि०—लः ६।१।। परस्मैपदम् १।१।। **अनु०**—धातोः।

अर्थः—धातु से उत्तर 'ल्' के स्थान में होने वाले आदेश (तिप्, तस्, झि आदि) 'परस्मैपद' संज्ञक होते हैं।

यह उत्सर्ग सूत्र है। इसमें लादेशों की सामान्य रूप से 'परस्मैपद' संज्ञा की गई है।

३७७. तङानावात्मनेपदम् १।४।१००

तङ्प्रत्याहारः शानच्-कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः। पूर्वसंज्ञाऽपवादः।

प०वि०—तङानौ १।२।। आत्मनेपदम् १।१।। **अनु०**—धातोः, लः।

अर्थः—लकार के स्थान में होने वाले 'तङ्' अर्थात् 'त', 'आताम्', 'झ', 'थास्, 'आथाम्', 'ध्वम्', 'इट्', 'वहि' और 'महिङ्' इन नौ प्रत्ययों की और 'आन' अर्थात् 'शानच्' और 'कानच्' प्रत्ययों की 'आत्मनेपद' संज्ञा होती है।

यह पूर्वसूत्र का अपवाद है, इसलिए आत्मनेपद के विषय अर्थात् 'तङ्' और 'आन' को छोड़कर जो लादेश शेष रहते हैं उनकी ही 'परस्मैपद' संज्ञा होती है।

३७८. अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १।३।१२

अनुदात्तेतो ङितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात्।

प०वि०—अनुदात्तङितः ५।१।। आत्मनेपदम् १।१।। **अनु०**—धातोः, लः।

अर्थः—जिनका अनुदात्त 'इत्' संज्ञक है उनसे तथा 'ङित्' धातुओं से उत्तर 'आत्मनेपद' होता है, अर्थात् 'ल्' के स्थान में आत्मनेपद संज्ञक 'त', 'आताम्', 'झ', 'थास्', 'आथाम्', 'ध्वम्', 'इट्', 'वहि' और 'महिङ्' प्रत्यय होते हैं।

३७९. स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १।३।७२

स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले।

प०वि०—स्वरितञितः ५।१।। कर्त्रभिप्राये ७।१।। क्रियाफले ७।१।।

अनु०—आत्मनेपदम्, लः, धातोः।

अर्थः—स्वरितेत् तथा ञित् धातुओं से उत्तर लकार के स्थान में आत्मनेपद संज्ञक (त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि और महिङ्) प्रत्यय होते हैं यदि उस क्रिया का फल कर्तृगामी हो तो।

विशेषः—स्वरितेत् और ञित् धातुओं से आत्मनेपद तभी होते हैं, जब क्रिया का फल कर्त्ता को मिल रहा हो। **यथा**—'पच्' धातु स्वरितेत् है, यदि कोई व्यक्ति अपने लिए भोजन पकाता है तो वहाँ आत्मनेपद होगा। जैसे–'पाचकः स्वस्मै पचते'। जब पकाने की क्रिया का फल (भोजन) दूसरों के लिए हो तो परस्मैपद होता है–'पाचकः पचति'।

३८०. शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम् १।३।७८

आत्मनेपदनिमित्तहीनाद् धातोः कर्त्तरि परस्मैपदं स्यात्।

प०वि०—शेषात् ५।१।। कर्त्तरि ७।१।। परस्मैपदम् १।१।। **अनु०**—धातोः।

अर्थः—आत्मनेपद के निमित्त से रहित धातुओं को शेष कहा गया है इसलिए आत्मनेपद के निमित्त अनुदात्तेत् और ङित् आदि से रहित धातुओं से कर्तृवाच्य में 'परस्मैपद' संज्ञक 'तिप्' आदि नौ प्रत्यय होते हैं।

३८१. तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः १।४।१०१

तिङ उभयोः पदयोस्त्रयस्त्रिकाः क्रमात् एतत्संज्ञाः स्युः।

प०वि०—तिङः १।१।। त्रीणि १।३।। त्रीणि १।३।। प्रथममध्यमोत्तमाः १।३।। **अनु०**—परस्मैपदम्, आत्मनेपदम्।

अर्थः—'तिङ्' अर्थात् 'तिप्तस्झि०' आदि परस्मैपद और आत्मनेपद संज्ञक अट्ठारह प्रत्ययों में से तीन-तीन के समुदाय की क्रमशः 'प्रथम', 'मध्यम' और 'उत्तम' संज्ञाएं होती हैं।

विशेषः—इन्हीं को सामान्यतः **प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष** और **उत्तम पुरुष** के रूप में जाना जाता है।

३८२. तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः १।४।१०२

लब्धप्रथमादिसञ्ज्ञानि तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रत्येकमेकवचनादिसंज्ञानि स्युः।

प०वि०—तानि १।३।। एकवचन....बहुवचनानि १।३।। एकशः अ०।।

अनु०—तिङस्त्रीणि, त्रीणि।

अर्थः—जिनकी प्रथम, मध्यम और उत्तम संज्ञायें की गई हैं, उनके तीन-तीन के समुदायों में से एक-एक की क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहु वचन संज्ञाएं होती हैं।

जैसे–परस्मैपद, प्रथम पुरुष में 'तिप्' एक वचन, 'तस्' द्वि वचन और 'झि' बहु वचन संज्ञक होते हैं। इसी प्रकार आत्मनेपद, प्रथम पुरुष में 'त' एक वचन, 'आताम्' द्वि वचन और 'झ' बहु वचन संज्ञक होते हैं। इसी प्रकार मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष के त्रिकों के विषय में भी जानना चाहिए।

३८३. युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः। १।४।१०५

तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च मध्यमः।

प०वि०–युष्मदि ७।१।। उपपदे ७।१।। समानाधिकरणे ७।१।। स्थानिनि ७।१।। अपि अ०।। मध्यमः १।१।।

अर्थः–तिङ् के वाच्य कारक का वाचक 'युष्मद्' प्रयुक्त होने पर अथवा प्रयुक्त न होने पर भी धातु से 'मध्यम-पुरुष' (संज्ञक प्रत्यय) होते हैं।

वृत्ति में **तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि**–इस पद में बताया गया है कि जिस कर्त्ता अथवा कर्म कारक को कहने के लिए 'तिङ्' अर्थात् लकार का प्रयोग किया गया है, उसी कारक को कहने के लिए यदि 'युष्मद्' का प्रयोग किया जाये या 'युष्मद्' का प्रयोग न होकर केवल मात्र उसके अर्थ की आकांक्षा या प्रतीति हो तो धातु से 'मध्यम पुरुष' होता है।

३८४. अस्मद्युत्तमः १।४।१०७

तथाभूतेऽस्मद्युत्तमः।

प०वि०–अस्मदि ७।१।। उत्तमः १।१।। **अनु०**–उपपदे, समानाधिकरणे, स्थानिन्यपि।

अर्थ–तिङ् के वाच्य कारक का वाचक 'अस्मद्' प्रयुक्त होने पर अथवा उसके अर्थ की आकाङ्क्षा या प्रतीति मात्र होने पर अर्थात् 'अस्मद्' शब्द के प्रयुक्त न होने पर भी धातु से 'उत्तम पुरुष' होता है।

३८५. शेषे प्रथमः १।४।१०८

मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात्।

प०वि०–शेषे ७।१।। प्रथमः १।१।। **अनु०**–उपपदे, समानाधिकरणे, स्थानिन्यपि।

अर्थः–तिङ् के वाच्य कारक का वाचक शेष अर्थात् 'अस्मद्' और 'युष्मद्' से भिन्न कोई भी पद प्रयुक्त होने पर अथवा प्रयुक्त न होने पर उनके अर्थ की आकाङ्क्षा मात्र होने पर भी धातु से 'प्रथम पुरुष' होता है।

३८६. तिङ् शित् सार्वधातुकम् ३।४।११३

तिङः शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः।

प०वि०–तिङ् १।१।। शित् १।१।। सार्वधातुकम् १।१।। **अनु०**–धातोः।

अर्थः–धातु से विहित 'तिङ्' और 'शित्' प्रत्ययों की 'सार्वधातुक' संज्ञा होती है।

३८७. कर्त्तरि शप् ३।१।६८

कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप्।

प०वि०—कर्त्तरि ७।१।। शप् १।१।। **अनु०**—सार्वधातुके, धातोः।

अर्थ—कर्त्तावाची सार्वधातुक परे होने पर धातु से 'शप्' प्रत्यय होता है।

विशेषः—'शप्' प्रत्यय के 'प्' की 'हलन्त्यम्' से और प्रत्यय के आदि शकार की 'लशक्वतद्धिते' से 'इत्' संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञकों का लोप होकर 'अ' शेष रहता है।

३८८. सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयोः ७।३।८४

अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः। अवादेशः। भवति। भवतः।

प०वि०—सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।२।। **अनु०**—गुणः, अङ्गस्य।

अर्थः—सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक परे रहते इगन्त अर्थात् इ, उ, ऋ, लृ अन्त-वाले अङ्ग के स्थान पर गुण आदेश होता है।

विशेषः—'भवति' की सिद्धि-प्रक्रिया में प्रदर्शित तिबाद्युत्पत्ति तिङन्त और प्रक्रिया के सभी रूपों में एक समान होती है, इसलिए तिङन्त की एक सिद्धि-प्रक्रिया में तिबाद्युत्पत्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया का उल्लेख करने के पश्चात् अन्य उदाहरणों में पूर्ववत् कहकर केवल एक-दो परिवर्तनशील महत्त्वपूर्ण सूत्रों का उल्लेख मात्र किया जाएगा।

भवति

भू	(सत्तायाम्) 'भूवादयो धातवः' से 'वा' की तरह क्रियावाचक 'भू' आदि शब्दों की 'धातु' संज्ञा होने पर 'वर्तमाने लट्' से वर्तमान में होने वाली क्रिया-वाचक धातु से 'लट्' प्रत्यय हुआ
भू लट्	अनुबन्ध-लोप, 'लः कर्मणि च भावे०' से लकार अकर्मक 'भू' धातु से कर्त्ता में आया
भू ल्	'तिप्तस्झि....महिङ्' से लकार के स्थान में **तिप्, तस्, झि** आदि अट्ठारह आदेश प्राप्त हुए, 'लः परस्मैपदम्' से लकार के स्थान में आने वाले 'तिप्तस्झि०' आदि की 'परस्मैपद' संज्ञा हुई। 'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्' से आत्मनेपद के निमित्त से भिन्न धातु से उत्तर कर्त्तृवाच्य में विहित लकार के स्थान में परस्मैपद संज्ञक 'तिप्' आदि नौ प्रत्यय प्राप्त हुए, 'तिङस्त्रीणित्रीणि०' से तिङ् के तीन-तीन के समुदाय की क्रमशः प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष संज्ञा हुई। 'तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' से प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष संज्ञा को प्राप्त हुए तिप्, तस्, झि आदि तीन-तीन के समूह में से एक-एक की क्रमशः एक- वचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा हुई। 'शेषे प्रथमः' से 'मध्यम' और 'उत्तम' पुरुष के निमित्त 'युष्मद्' और 'अस्मद्' से भिन्न पद उपपद में रहते धातु से 'प्रथम पुरुष' संज्ञक **तिप्, तस्** और **झि**

	प्राप्त होने पर 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' से एकत्व की विवक्षा में एक-वचन संज्ञक प्रत्यय 'तिप्' आया
भू तिप्	'हलन्त्यम्' से 'प्' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञक 'प्' का लोप, 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' से 'तिप्' की, 'तिङ्' होने के कारण, 'सार्वधातुक' संज्ञा होने से 'कर्त्तरि शप्' से कर्तृवाची 'सार्वधातुक' परे रहते 'शप्' प्रत्यय हुआ
भू शप् ति	अनुबन्ध-लोप, शित् होने के कारण 'शप्' की सार्वधातुक संज्ञा होने से 'सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयोः' से सार्वधातुक प्रत्यय 'शप्' परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ऊ' के स्थान में सदृशतम गुण 'ओ' हुआ
भो अ ति	'एचोऽयवायावः' से 'अच्' परे रहते 'ओ' के स्थान पर अवादेश हुआ
भव् अ ति	संहिता होने पर
भवति	रूप सिद्ध होता है।

भवतः

भू	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'वर्तमाने लट्' से 'लट्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप
भू ल्	पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति होकर 'शेषे प्रथमः' से प्रथम-पुरुष तथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनैक०' से द्विवचन की विवक्षा में द्विवचन संज्ञक 'तस्' आया
भू तस्	'हलन्त्यम्' से सकार की इत्संज्ञा प्राप्त थी, जिसका 'न विभक्तौ तुस्माः' से निषेध हो गया[1]। पूर्ववत् 'शप्', गुण, अवादेश होने पर 'ससजुषो रुः' से सकारान्त पद के सकार को रुत्व, अनुबन्ध -लोप तथा 'खरवसानयोः०' से अवसान में रेफ को विसर्गादेश होकर
भवतः	रूप सिद्ध होता है।

३८९. झोऽन्तः ७।१।३

प्रत्ययाऽवयवस्य झस्याऽन्तादेशः। अतो गुणे-भवन्ति। भवसि, भवथः, भवथ।

प०वि०–झः ६।१।। अन्तः १।१।। **अनु०**–प्रत्यय।

अर्थः–प्रत्यय के अवयव 'झ्' के स्थान में 'अन्त्' आदेश होता है।

---

१. 'विभक्तिश्च' सूत्र में 'तिङः' पद की अनुवृत्ति होने से **तिप्, तस्, झि** आदि की भी 'विभक्ति' संज्ञा होती है।

भवन्ति

भू ल् (लट्) पूर्ववत् 'लट्', तिबाद्युत्पत्ति, 'शेषे प्रथमः' से प्र० पु० तथा बहुषु बहुवचनम्' से बहुत्व की विवक्षा में 'झि' आया

भू झि 'झोऽन्तः' से प्रत्यय के अवयव 'झ्' के स्थान में अन्तादेश हुआ

भू अन्ति पूर्ववत् 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण एवं 'एचोऽयवा०' से अवादेश हुआ

भव अन्ति 'अतो गुणे' से अपदान्त अकार से गुण परे रहते पररूप एकादेश होकर

भवन्ति रूप सिद्ध होता है।

भवसि– 'भू+ल् (लट्)'–तिबाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'युष्मद्युपपदे समाना०' से मध्यम पुरुष तथा एकत्व की विवक्षा में 'द्व्येकयो०' से 'सिप्' आया, अनुबन्ध-लोप, भवति के समान 'शप्', गुण और अवादेश होकर 'भवसि' रूप सिद्ध होता है।

भवथः एवं भवथ में मध्यम पुरुष द्विवचन तथा बहुवचन की विवक्षा में क्रमशः 'थस्' और 'थ' प्रत्यय, पूर्ववत् 'शप्', गुण, अवादेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्गादेश होकर 'भवथः' और 'भवथ' रूप सिद्ध होते हैं।

३९०. अतो दीर्घो यञि ७।३।१०१

अतोऽङ्गस्य दीर्घो यञादौ सार्वधातुके। भवामि, भवावः, भवामः। स भवति, तौ भवतः, ते भवन्ति। त्वं भवसि, युवां भवथः, यूयं भवथ। अहं भवामि, आवां भवावः, वयं भवामः।

प०वि०–अतः ६।१।। दीर्घः १।१।। यञि ७।१।। **अनु०**–सार्वधातुके अङ्गस्य।

अर्थः–यञादि सार्वधातुक (य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ् वर्ण जिसके आदि में हो ऐसा सार्वधातुक प्रत्यय) परे होने पर अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) अङ्ग को दीर्घ आदेश होता है।

भवामि

भू ल् (लट्) पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति होकर 'अस्मद्युत्तमः' से उत्तम पुरुष तथा एकत्व की विवक्षा में 'द्व्येकयो०' से 'मिप्' आया, अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् 'शप्', गुण, अवादेश होकर

भव मि 'अतो दीर्घो यञि' से यञादि सार्वधातुक प्रत्यय 'मिप्' परे रहते अदन्त अङ्ग 'भव' को दीर्घ होकर

भवामि रूप सिद्ध होता है।

भवावः–'भू', लट्, उत्तम पुरुष, द्वि वचन में 'भू+वस्' यहाँ पूर्ववत् 'शप्', गुण

और अवादेश होकर 'भव+वस्' बनने पर 'अतो दीर्घो०' से दीर्घ, सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'भवावः' रूप सिद्ध होता है।

भवामः—'भू', लट्, उ० पु०, बहु व० में 'भू+मस्' आगे की प्रक्रिया 'भवावः' के समान जानें।

३९१. परोक्षे लिट् ३।२।११५

भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् स्यात्। लस्य तिबादयः।

प०वि०—परोक्षे ७।१।। लिट् १।१।। **अनु०**—अनद्यतने, भूते, धातोः।

अर्थः—अनद्यतन (आज न होने वाले) परोक्ष भूतकाल में होने वाली क्रिया की वाचक धातु से 'लिट्' प्रत्यय होता है।

विशेषः—सूत्र ३९१ से ३९९ तक के कार्य आगे 'बभूव' (३९९) की सिद्धि-प्रक्रिया में स्पष्ट किये जाएंगे।

३९२. परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः ३।४।८२

लिटस्तिबादीनां नवानां णलादयः स्युः। 'भू अ' इति स्थिते—

प०वि०—परस्मैपदानाम् ६।३।। णलतु...वमाः १।३।। **अनु०**—लिटः।

अर्थः—लिट् के स्थान पर होने वाले परस्मैपदसंज्ञक **तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्** और **मस्** प्रत्ययों के स्थान पर क्रमशः **णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ, णल्, व** और **म** आदेश होते हैं।

'भू' धातु से 'लिट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और प्रकृत सूत्र से 'तिप्' को 'णल्' आदेश होने पर अनुबन्ध-लोप होकर 'भू+अ' यह स्थिति बनती है।

३९३. भुवो वुग् लुङ्लिटोः ६।४।८८

भुवो वुगागमः स्यात् लुङ्लिटोरचि।

प०वि०—भुवः ६।१।। वुक् १।१।। लुङ्लिटोः ७।२।। **अनु०**—अचि, अङ्गस्य।

अर्थः—अजादि 'लुङ्' और अजादि 'लिट्' परे रहते 'भू' अङ्ग को 'वुक्' आगम होता है।

३९४. लिटि धातोरनभ्यासस्य ६।१।८

लिटि परे अनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, आदिभूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य। 'भूव् भूव् अ' इति स्थिते—

प०वि०—लिटि ७।१।। धातोः ६।१।। अनभ्यासस्य ६।१।। **अनु०**—एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य।

अर्थः—अभ्यास रहित धातु के प्रथम एकाच् (समुदाय) को और धातु यदि अजादि हो तो आदिभूत अच् से परे द्वितीय एकाच् (समुदाय) को 'लिट्' परे रहते द्वित्व होता है।

'वुक्' आगम सहित 'भू' को लिट् परे रहते द्वित्व होकर 'भूव् भूव्+अ' यह स्थिति बनती है।

३९५. पूर्वोऽभ्यासः ६।१।४

अत्र ये द्वे विहिते, तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञः स्यात्।

प०वि०—पूर्वः १।१।। अभ्यासः १।१।। **अनु०**—द्वे।

अर्थः—इस प्रकरण में 'लिटि धातोरन०' आदि सूत्रों के द्वारा जिसे द्वित्व कहा गया है, उन दोनों में जो पूर्व है उसकी 'अभ्यास' संज्ञा होती है।

३९६. हलादिः शेषः ७।४।६०

अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यते, अन्ये हलो लुप्यन्ते। इति वलोपः।

प०वि०—हलादिः १।१।। शेषः १।१।। **अनु०**—अभ्यासस्य।

अर्थः—अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहता है, अर्थात् अभ्यास में जो आदि 'हल्' नहीं होते उनका लोप हो जाता है।

३९७. ह्रस्वः ७।४।५९

अभ्यासस्याचो ह्रस्वः स्यात्।

प०वि०—ह्रस्वः १।१।। **अनु०**—अभ्यासस्य।

अर्थः—अभ्यास के 'अच्' (स्वर) को ह्रस्व होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के कारण यह ह्रस्व अभ्यास के अन्तिम 'अच्' को होता है।

३९८. भवतेरः ७।४।७३

भवतेरभ्यासस्योकारस्य अ स्याल्लिटि।

प०वि०—भवते ६।१। अः १।१।। **अनु०**—लिटि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य।

अर्थः—'भू' (अङ्ग) के अभ्यास के उकार को 'अ' आदेश होता है, 'लिट्' परे रहते।

३९९. अभ्यासे चर्च ८।४।५४

अभ्यासे झलां चरः स्युः जशश्च। झलां जशः, खयां चर इति विवेकः। बभूव, बभूवतुः, बभूवुः।

प०वि०—अभ्यासे ७।१।। चर् १।१।। च अ०।। **अनु०**—झलां, जश्।

अर्थः—अभ्यास में झलों के स्थान में 'चर्' और 'जश्' आदेश होते हैं।

यहाँ 'खय्' अर्थात् ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प् के स्थान में 'चर्' अर्थात् च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स् आदेश होते हैं, तथा शेष 'झश्' अर्थात् झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड् और द् के स्थान में 'जश्' अर्थात् ज्, ब्, ग्, ड्, द् आदेश होते हैं।

बभूव

भू	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'परोक्षे लिट्' से अनद्यतन परोक्ष भूत में होने वाली क्रिया-वाचक धातु से 'लिट्' हुआ, 'लः कर्मणि०' से लकार कर्त्ता में आया
भू लिट्	अनुबन्ध-लोप, 'भवति' (३८८) के समान तिबाद्युत्पत्ति होकर प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
भू तिप्	'परस्मैपदानां णलतुस०' से लिट्-स्थानी परस्मैपद 'तिप्' के स्थान पर 'णल्' हुआ
भू णल्	अनुबन्ध-लोप, 'णल्' (अ) अजादि है इसलिए 'भुवो वुक्०' से अजादि 'लिट्' परे रहते 'भू' अङ्ग को 'वुक्' आगम हुआ
भू वुक् अ	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'लिट्' परे रहते अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच् समुदाय 'भूव्' को द्वित्व हुआ
भूव् भूव् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से पूर्व वाले 'भूव्' की 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा और अन्यों का लोप हो गया
भू भूव् अ	'ह्रस्वः' से अभ्यास के अन्तिम 'अच्' (ऊ) को ह्रस्व 'उ' हुआ
भु भूव् अ	'भवतेरः' से 'लिट्' परे रहते 'भू' धातु के अभ्यास के उकार को 'अ' आदेश हुआ
भ भूव् अ	'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में झलों को 'चर्' और 'जश्' होते हैं, यहाँ 'भ्' को 'जश्' आदेश 'ब्' होने पर
बभूव	रूप सिद्ध होता है।

बभूवतुः, बभूवुः—'भू' धातु से लिट्-स्थानी 'तस्' तथा 'झि' के स्थान पर क्रमशः 'अतुस्' और 'उस्' होकर अन्य सभी कार्य 'बभूव' के समान होने पर 'ससजुषो रुः' से 'स्' को 'रु' और 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

४००. लिट् च ३।४।११५

लिडादेशस्तिङ् आर्धधातुकसंज्ञः स्यात्।

प०वि०—लिट् लुप्तषष्ठ्यन्त।। च अ०।। **अनु०**—तिङ्, आर्धधातुकम्।

अर्थः—'लिट्' के स्थान में होने वाले 'तिङ्' आदेश 'आर्धधातुक' संज्ञक होते हैं।

४०२. आर्धधातुकस्येड् वलादेः ७।२।३५

वलादेरार्धधातुकस्येडागमः स्यात्। बभूविथ, बभूवथुः, बभूव, बभूव, बभूविव, बभूविम।

प०वि०—आर्धधातुकस्य ६।१।। इट् १।१।। वलादेः ६।१।।

अर्थः—वलादि (वल् है आदि में जिसके ऐसे) आर्धधातुक को 'इट्' आगम होता है।

'आद्यन्तौ टकितौ' से 'इट्' आगम आर्धधातुक का आद्यवयव बनता है।

बभूविथ

भू लिट्	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्', पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति, 'युष्मद्युपपदे समानाधि०' से मध्यम पुरुष तथा 'द्व्येकयो०' से एकत्व की विवक्षा में 'सिप्' आया
भू सिप्	'परस्मैपदानां णलतुस्०' से 'सिप्' को 'थल्' आदेश हुआ
भू थल्	अनुबन्ध-लोप, 'लिट् च' से 'थल्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने से 'आर्धधातुकस्येड्०' से वलादि आर्धधातुक को 'इट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
भू इ थ	पूर्ववत् 'भुवो वुक् लुङ्लिटोः' से अजादि लिट् परे रहते 'भू' को 'वुक्' आगम, 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'ह्रस्वः' से अभ्यास में ह्रस्व, 'भवतेरः' से उकार को अकार और 'अभ्यासे चर्च' से 'भ्' को 'ब्' होकर
बभूविथ	रूप सिद्ध होता है।

बभूवथुः—'भू', लिट्, म० पु०, द्वि व० में 'थस्' आने पर 'भू+थस्' यहाँ 'थस्' के स्थान पर 'अथुस्' होकर शेष सभी कार्य 'बभुवतुः' के समान होते हैं।

बभूव—'भू' धातु से लिट्, म० पु०, बहु व० में 'भू+थ' यहाँ 'परस्मैपदानां०' से 'थ' को 'अ' तथा उ० पु०, एक व० में 'भू+मिप्' यहाँ 'मिप्' को 'णल्' (अ) होकर सिद्धि-प्रक्रिया 'बभूव' प्र०पु०, एक व० के समान होकर दोनों का 'बभूव' रूप सिद्ध होता है।

बभूविव एवं **बभूविम** में क्रमश 'वस्' और मस् को 'परस्मैपदानां०' से 'व' तथा 'म' आदेश होने पर इडागम तथा 'वुक्' आदि कार्य 'बभूविथ' के समान जानें।

४०२. अनद्यतने लुट् ३।३।१५

भविष्यत्यनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुट्।

प०वि०—अनद्यतने ७।१।। लुट् १।१।। **अनु०**—भविष्यति।

अर्थः—अनद्यतन (जो आज का नहीं है ऐसे) भविष्यत् अर्थ में होने वाली क्रिया-वाचक धातु से 'लुट्' प्रत्यय होता है।

४०३. स्यतासी लृलुटोः ३।१।३३

धातोः स्यतासी एतौ प्रत्ययौ स्तः, लृलुटोः परतः। शबाद्यपवादः। 'लृ' इति लृङ्लृटोर्ग्रहणम्।

प०वि०—स्यतासी १।२।। लृलुटोः ७।२।। **अनु०**—धातोः, प्रत्ययः।

अर्थः—'लृ' अर्थात् 'लृङ्' और 'लृट्' परे रहते धातु से 'स्य' प्रत्यय तथा 'लुट्' परे रहते 'तासि' प्रत्यय होता है।

यह सूत्र 'कर्तरि शप्' आदि का अपवाद है। यहाँ 'लृलुटोः' में 'लृ' से 'लृङ्' तथा 'लृट्' दोनों का ग्रहण होता है।

४०४. आर्धधातुकं शेषः ३।४।११४

तिङ्शिद्भ्योऽन्यः 'धातोः' इति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात्। इट्।

प०वि०—आर्धधातुकम् १।१।। शेषः १।१।। **अनु०**—धातोः।

अर्थः—धातु से विहित 'तिङ्' और शित् से भिन्न प्रत्ययों की 'आर्धधातुक' संज्ञा होती है।

विशेषः—सूत्र में पठित 'शेषः' पद 'सार्वधातुक' अर्थात् 'तिङ्' और शित् से भिन्न प्रत्ययों का ग्राहक है।

४०५. लुटः प्रथमस्य डारौरसः २।४।८५

डा, रौ, रस्-एते क्रमात् स्युः। डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः। भविता।

प०वि०—लुटः ६।१।। प्रथमस्य ६।१।। डारौरसः १।३।।

अर्थः—'लुट्' के स्थान में आने वाले प्रथम पुरुष अर्थात् परस्मैपद में 'तिप्', 'तस्', 'झि' के स्थान में और आत्मनेपद में 'त', 'आताम्', 'झ' के स्थान में क्रमशः 'डा', 'रौ' और 'रस्' आदेश होते हैं।

डित्त्वसामर्थ्याद्०—सूत्र में 'डा' को डित् करने का प्रयोजन है कि बिना 'भ' संज्ञा के ही 'डित्' परे रहते 'टि' भाग का लोप हो जाए।

भविता

भू	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'अनद्यतने लुट्' से अनद्यतन भविष्यत् अर्थ में 'लुट्' प्रत्यय हुआ
भू लुट्	अनुबन्ध-लोप, 'भवति' के समान तिबाद्युत्पत्ति होकर प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया, अनुबन्ध-लोप
भू ति	'स्यतासी लृलुटोः' से 'लुट्' परे रहते धातु से 'तासि' प्रत्यय
भू तासि ति	अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकं शेषः' से धातु से विहित 'तास्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने से 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम हुआ
भू इट् तास् ति	अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से आर्धधातुक 'तास्' परे रहते इगन्त 'भू' अङ्ग को 'गुण' हुआ
भो इ तास् ति	'एचोऽयवायावः' से 'ओ' को 'अव्' आदेश हुआ
भव् इ तास् ति	'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' से 'तिप्' को 'डा' आदेश हुआ
भवि तास् डा	अनुबन्ध-लोप

भवितास् आ	'डित्वसामर्थ्याद् अभस्यापि टेर्लोपः' से 'डा' में 'ड्' इत् संज्ञक होने से बिना 'भ' संज्ञा के भी 'टि' भाग का लोप प्राप्त हुआ, 'अचोऽन्त्यादि टि' से 'आस्' की 'टि' संज्ञा होने से 'आस्' का लोप होकर
भविता	रूप सिद्ध होता है।

४०६. तासस्त्योर्लोपः ७।४।५०

तासेरस्तेश्च लोपः स्यात् सादौ प्रत्यये परे।

प०वि०—तासस्त्योः ६।२।। लोपः १।१।। **अनु०**—सि।

अर्थः—सकारादि प्रत्यय (जिसके आदि में सकार हो, ऐसा प्रत्यय) परे रहते 'तास्' और 'अस्' धातु का लोप होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से 'तास्' और 'अस्' के अन्तिम अल् 'स्' का लोप होता है।

४०७. रि च ७।४।५१

रादौ प्रत्यये तथा। भवितारौ, भवितारः। भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ। भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः।

प०वि०—रि ७।१।। च अ०।। **अनु०**—तासस्त्योः, लोपः।

अर्थः—रेफादि प्रत्यय परे रहते 'तास्' और 'अस्' के अन्तिम 'अल्' सकार का लोप होता है।

भवितारौ—'भू' धातु से लुट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' आने पर 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा 'एचोऽयवायावः' से अवादेश होकर 'भव्+इ+तास्+तस्' इस स्थिति में 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तस्' को 'रौ' आदेश होने पर 'रि च' से रेफ आदि प्रत्यय परे रहते 'तास्' के सकार का लोप होकर 'भवितारौ' सिद्ध होता है।

भवितारः—यहाँ 'झि' के स्थान में 'रस्' होकर सकार को रुत्व एवं विसर्ग होते हैं। शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'भवितारौ' के समान जानें।

भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ—'भू' धातु से लुट्, म० पु० में 'सिप्', 'थस्' और 'थ' परे रहते 'स्यतासी०' से 'तास्', इडागम, गुण तथा अवादेश आदि कार्य पूर्ववत् होकर उक्त तीनों रूप सिद्ध होते हैं।

४०८. लृट् शेषे च ३।३।१३

भविष्यदर्थाद् धातोर्लृट्, क्रियार्थायां क्रियायां सत्याम्, असत्याम् च। स्यः, इट्। भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति। भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ। भविष्यामि, भविष्यावः, भविष्यामः।

प०वि०—लृट् १।१।। शेषे ७।१।। च अ०।। **अनु०**—धातोः, भविष्यति।

अर्थः—भविष्यत् काल में होने वाली क्रिया-वाचक धातु से 'लृट्' प्रत्यय होता है, चाहे क्रियार्थ क्रिया विद्यमान हो या विद्यमान न हो।

क्रियार्थ क्रिया—जब एक क्रिया के लिए दूसरी क्रिया की जाती है तो उसे क्रियार्थ क्रिया कहा जाता है। **जैसे**–'पठितुं विद्यालयं गमिष्यति' यहाँ गमन क्रिया पढ़ने के लिए होगी इसलिए भविष्यत् काल में होने वाली क्रिया-वाचक धातु से 'लृट्' प्रत्यय हुआ।

भविष्यति

भू	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'लृट् शेषे च' से भविष्यत् काल में होने वाली क्रिया-वाचक धातु से 'लृट्' हुआ
भू लृट्	'स्यतासी लृलुटोः' से लृट् परे रहते धातु से 'स्य' प्रत्यय, 'आर्धधातुकं शेषः' से 'स्य' की 'आर्धधातुक' संज्ञा तथा 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से 'स्य' को 'इट्' आगम हुआ
भू इट् स्य ति	अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण 'ऊ' को 'ओ' तथा 'एचोऽयवायावः' से अवादेश हुआ
भव् इ स्य ति	'आदेशप्रत्यययोः' से 'इण्' से उत्तर प्रत्यय के सकार को मूर्धन्यादेश होकर
भविष्यति	रूप सिद्ध होता है।

भविष्यतः, भविष्यन्ति–'भू', लृट्, प्र० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'तस्' और 'झि' आने पर 'तस्' के 'स्' को रुत्व और रेफ को विसर्ग तथा 'झोऽन्तः' से 'झ्' को अन्तादेश होकर शेष सभी कार्य 'भविष्यति' के समान जानें।

भविष्यसि, भविष्यथः भविष्यथ–'भू', लृट्, म० पु०, एक व०, द्वि व० और बहु व० में क्रमशः 'सिप्', 'थस्' और 'थ' आने पर 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'एचोऽयवायावः' से 'ओ' को 'अव्' आदेश और 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होने पर 'थस्' के सकार को रुत्व और विसर्ग होकर क्रमशः 'भविष्यसि', 'भविष्यथः' और 'भविष्यथ' रूप सिद्ध होते हैं।

भविष्यामि, भविष्यावः भविष्यामः–'भू', लृट्, उ० पु० में 'मिप्', 'वस्' और 'मस्' आने पर पूर्ववत् 'भविष्य+मि', 'भविष्य+वस्' और 'भविष्य+मस्' बनने पर सर्वत्र 'अतो दीर्घो यञि' से 'यञ्' आदि सार्वधातुक परे रहते अदन्त अङ्ग को दीर्घ होने पर 'भविष्यामि, 'भविष्यावः' और 'भविष्यामः' रूप सिद्ध होते हैं।

४०९. लोट् च ३।३।१६२

विध्याद्यर्थेषु धातोर्लोट् स्यात्।

प०वि०—लोट् १।१।। च अ०।। **अनु०**—विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु, धातोः।

अर्थः–विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न और प्रार्थना अर्थ में धातु से 'लोट्' प्रत्यय होता है।

उपर्युक्त अर्थों में कोई भी किसी का पर्यायवाची नहीं है। इनके सूक्ष्म भेद को जानने के लिए अर्थों को आगे स्पष्ट किया जा रहा है–

१. **विधि**–प्रेरणा देना, नौकर आदि निम्न कोटि के व्यक्ति को (किसी काम पर) लगाना।

२. **निमन्त्रण**–नियुक्त करना, अवश्य कर्त्तव्य श्राद्धनिमित्तक भोजन इत्यादि के लिए दौहित्र इत्यादि को बुलाना।

३. **आमन्त्रण**–किसी कार्य-विशेष (उत्सव आदि) के अवसर पर बुलाना, परन्तु आना या न आना उस व्यक्ति की इच्छा पर छोड़ना।

४. **अधीष्ट**–किसी को कार्य में सत्कार करते हुए लगाना। यथा–'भवान् मम पुत्रम् अध्यापयतु' (आप मेरे पुत्र को पढ़ाइए)।

५. **संप्रश्न**–कार्य करने के लिए उसकी कर्त्तव्यता या अकर्त्तव्यता के विषय में विचार-विमर्श करना। **जैसे**–'किं भो व्याकरणमधीयीय, उत वेदम्' क्या मुझे व्याकरण पढ़ना चाहिए, या वेद?

६. **प्रार्थना**–किसी से कोई पदार्थ अपने लिए मांगना अर्थात् याचना करना।

४१०. आशिषि लिङ्लोटौ ३।३।१७३

आशिष्यपि लिङ्लोटौ स्तः। आशीः अप्राप्तेष्टप्राप्तीच्छा।

प०वि०–आशिषि ७।१।। लिङ्लोटौ १।२।। **अनु०**–धातोः।

अर्थः–आशीर्वाद अर्थ में धातु से 'लिङ्' और 'लोट्' प्रत्यय होते हैं। आशीर्वाद का अर्थ है–'अप्राप्त इष्ट की इच्छा'।

४११. एरुः ३।४।८६

लोट इकारस्य उः। भवतु।

प० वि०–एः ६।।१।।उः१।१।। **अनु०**–लोट

अर्थ–लोट्-सम्बन्धी इकार के स्थान पर उकार आदेश होता है।

भवतु

भू	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'लोट् च' से विधि, निमन्त्रण आदि अर्थों में धातु से 'लोट्' प्रत्यय हुआ
भू ल्	अनुबन्ध-लोप, 'भवति' के समान तिबाद्युत्पत्ति होकर प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'सार्वधातुका०' से गुण 'ऊ' के स्थान में 'ओ' तथा 'एचोऽयवायावः' से 'ओ' के स्थान में 'अव्' आदेश हुआ
भव् अ ति	'एरुः' से लोट्-सम्बन्धी इकार के स्थान में उकारादेश होकर
भवतु	**रूप सिद्ध होता है।**

४१२. तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् ७।१।३५

आशिषि तुह्योस्तातङ् वा। परत्वात् सर्वादेशः-भवतात्।

प०वि०—तुह्योः ६।२।। तातङ् १।१।। आशिषि ७।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।।

अर्थः—आशीर्वाद अर्थ में 'तु' और 'हि' के स्थान में विकल्प से 'तातङ्' आदेश होता है।

परत्वात् सर्वादेशः—'तातङ्' आदेश ङित् होने के कारण 'ङिच्च' से अन्तिम 'अल् के स्थान में प्राप्त था, जिसे परत्व से बाधकर अनेकाल् होने के कारण 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' से 'तातङ्' आदेश सम्पूर्ण 'तु' और 'हि' के स्थान पर होता है।

भवतात्—'भू' धातु से जब आशीर्वाद अर्थ में 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लोट्' होकर प्र० पु०, एक व० में 'भवतु' बनने पर 'तुह्योस्तातङाशिष्य०' से 'तु' के स्थान में विकल्प से 'तातङ्' आदेश, 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' से सम्पूर्ण 'तु' के स्थान में 'तातङ्' हुआ, अनुबन्ध-लोप होने पर 'झलां जशो०' से 'त्' को 'द्' तथा 'वाऽवसाने' से विकल्प 'चर्' आदेश 'द्' को 'त्' होकर 'भवतात्' रूप सिद्ध होता है।

४१३. लोटो लङ्वत् ३।४।८५

लोटस्तामादयः सलोपश्च।

प०वि०—लोटः ६।१।। लङ्वत् अ०।।

अर्थः—'लङ्' के स्थान में होने वाले कार्यों के समान 'लोट्' के स्थान में भी कार्य होते हैं।

'लोट्' को 'लङ्' के समान मान लेने पर 'लङ्' के ङित् होने के कारण 'तस्थस्थमिपां०' सूत्र से ङित् लकार सम्बन्धी 'तस्', 'थस्', 'थ' और 'मिप्' के स्थान में होने वाले 'ताम्', 'तम्', 'त' और 'अम्' आदेश 'लोट्' के स्थान में भी होते हैं। 'लङ्' के समान ही 'नित्यं ङितः' से 'लोट्' लकार में भी सकार का लोप होता है।

४१४. तस्थस्थमिपां तांतंतामः ३।४।१०१

ङितश्चतुर्णां तामादयः क्रमात् स्युः। भवताम्, भवन्तु।

प०वि०—तस्थस्थमिपाम् ६।३।। तांतंतामः १।३।। **अनु०**—ङितः।

अर्थः—ङित् लकार (लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ्) सम्बन्धी 'तस्', 'थस्', 'थ' और 'मिप्' के स्थान पर क्रमशः 'ताम्', 'तम्, 'त' और 'अम्' आदेश होते हैं।

भवताम्

भू	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'लोट् च' से 'लोट्' लकार, अनुबन्ध-लोप
भू ल्	तिबाद्युत्पत्ति, 'शेषे प्रथमः' से प्र० पु०, 'द्व्येकयोर्द्विवचनै०' से द्वि व० में 'तस्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, और 'एचोऽयवा०' से अवादेश हुआ

भव् अ तस्	'लोटो लङ्वत्' से 'लोट्' लकार को 'लङ्' के समान माना जाता है अतः 'लङ्' के ङित् धर्म को मानकर 'तस्थस्थ०' से 'तस्' के स्थान में 'ताम्' आदेश होकर
भवताम्	रूप सिद्ध होता है।

भवन्तु–'भू' धातु से 'लोट्', प्र० पु०, बहु व० में 'झि' आने पर सभी कार्य 'भवन्ति' (३८९.) के समान होकर 'एरुः' से इकार को उकारादेश हाने पर 'भवन्तु' रूप सिद्ध होता है।

४१५. सेर्ह्यपिच्च ३।४।८७

लोटः सेर्हिः, सोऽपिच्च।

प०वि०—सेः ६।१।। हि १।१।। अपित् १।१।। च अ०।। **अनु०**—लोटः।

अर्थः—लोट्-सम्बन्धी 'सि' के स्थान पर 'हि' आदेश होता है, और वह 'अपित्' होता है।

विशेष—'सि' के स्थान में 'हि' आदेश को अपित् करने का प्रयोजन, 'जुहुधि' इत्यादि में 'सार्वधातुकमपित्' से 'हि' को ङित्वत् अतिदेश होने पर, 'क्ङिति च' से गुण का निषेध करना है, जिसे यथास्थान स्पष्ट किया जाएगा।

४१६. अतो हेः ६।४।१०५

अतः परस्य हेर्लुक्। भव, भवतात्। भवतम्, भवत।

प०वि०—अतः ५।१।। हेः ६।१।। **अनु०**—लुक्, अङ्गस्य।

अर्थः—ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से उत्तर 'हि' का लुक् होता है।

भव, भवतात्–'भू' धातु से लोट्, म०पु०, एक व० में 'सिप्', 'शप्', गुण, अवादेश होने पर 'भव्+अ+सि' यहाँ 'सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' के स्थान में 'हि' आदेश हुआ 'भव+हि' जब 'तुह्योस्तातङ्०' से 'तातङ्' नहीं हुआ तो 'अतो हेः' से ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से उत्तर 'हि' का लुक् होकर 'भव' और 'तातङ्' पक्ष में 'भवतात्' रूप सिद्ध होते हैं।

भवतम्–लोट्, म० पु०, द्वि व० में 'भू+शप्+थस्' यहाँ 'लोटो लङ्वत्' से 'लोट्' को 'लङ्' के समान मानने पर 'तस्थस्थमिपां०' से 'थस्' के स्थान में 'तम्' आदेश करने पर 'भवताम्' (४१४) के समान ही 'भवतम्' रूप सिद्ध होता है।

भवत--लोट्, म०पु०, बहु व० में 'थ' के स्थान पर 'तस्थस्थ०' से 'त' आदेश होने पर शेष प्रक्रिया 'भवताम्' के समान ही जानें।

४१७. मेर्निः ३।४।८९

लोटो मेर्निः स्यात्।

प० वि०—मेः ६।१।। **निः**—१।१।। **अनु०**—लोटः।

अर्थः—लोट् के 'मि' के स्थान पर 'नि' आदेश होता है।

अनेकाल् होने के कारण 'नि' आदेश, 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' से, सम्पूर्ण 'मि' के स्थान पर होता है।

४१८. आडुत्तमस्य पिच्च ३।४।९२

लोडुत्तमस्याट् स्यात् पिच्च। भवानि। हिन्योरुत्वं न, इत्वोच्चारणसामर्थ्यात्।

प०वि०–आट् १।१।। उत्तमस्य ६।१।। पित् १।१।। च अ०।। **अनु०**–लोटः।

अर्थः–'लोट्' के उत्तम पुरुष को 'आट्' आगम होता है और वह 'पित्' होता है।

'आट्' टित् होने के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' से उत्तम पुरुष का आद्यवयव बनता है।

भवानि

भू	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा और 'लोट् च' से 'विधि' आदि अर्थों में 'लोट्' लकार हुआ
भू लोट्	अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति, 'अस्मद्युत्तमः' से उ० पु०, 'द्व्येकयो०' से एक व० में 'मिप्', 'शप्', गुण तथा अवादेश होने पर
भव मि	'मेर्निः' से 'लोट्' सम्बन्धी 'मि' को 'नि' आदेश हुआ
भव नि	'आडुत्तमस्य पिच्च' से लोट् सम्बन्धी उत्तम पुरुष को आडागम हुआ, अनुबन्ध-लोप
भव आ नि	'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हुआ
भवा नि	यहाँ 'एरुः' से लोट् सम्बन्धी 'इ' को 'उ' आदेश होना चाहिए था, परन्तु 'नि' विधान सामर्थ्य से इकार के स्थान में उकारादेश नहीं होने से
भवानि	रूप सिद्ध होता है

४१९. ते प्राग् धातोः १।४।८०

ते गत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः।

प०वि०–ते १।३।। प्राग् अ०।। धातोः ५।१।। **अनु०**–उपसर्गाः, गतिः।

अर्थः–वे उपसर्ग और गतिसंज्ञक (प्र, परा, अप, सम् आदि) धातु से पूर्व प्रयुक्त होते हैं।

४२०. आनि लोट् ८।४।१६

उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्य लोडादेशस्य आनीत्यस्य नस्य णः स्यात्। प्रभवाणि।

(वा०) दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः। दुःस्थितिः। दुर्भवानि।

(वा०) अन्तः शब्दस्याऽङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्। अन्तर्भवाणि।

प०वि०—आनि लुप्तषष्ठी।। लोट् लुप्तषष्ठी।। अनु०—उपसर्गाद्, रषाभ्यां नो णः।।

अर्थः— उपसर्गस्थ णत्व के निमित्त रेफ और षकार से उत्तर लोट्- सम्बन्धी 'आनि' के नकार के स्थान पर णकारादेश होता है।

प्रभवाणि—'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'भू' धातु से लोट्, उ० पु०, एक व० में पूर्ववत् 'भवानि' बनने पर 'प्र+भवानि' यहाँ 'आनि लोट्' से उपसर्गस्थ रेफ से उत्तर 'लोट्' सम्बन्धी 'आनि' के नकार को णकारादेश होकर 'प्रभवाणि' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः—अर्थ—षत्व और णत्व के विषय में 'दुर्' के उपसर्गत्व का निषेध कहना चाहिए।

दुःस्थितिः—'दुर्+स्थितिः' यहाँ 'उपसर्गात्सुनोति०' से उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर 'स्था' धातु के सकार को मूर्धन्यादेश प्राप्त था, परन्तु (वा०)'दुरः षत्वणत्वयो०' से षत्व करने के विषय में 'दुर्' के उपसर्गत्व (उपसर्ग संज्ञा) का निषेध कर दिया गया, इसलिए उपसर्गस्थ निमित्त न मिलने के कारण सकार को मूर्धन्यादेश नहीं होने से 'दुः स्थितिः' सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **दुर्भवानि** में 'दुर्+भवानि' यहाँ 'आनि लोट्' से णत्व प्राप्त था जो 'दुरः षत्वणत्यो०' इत्यादि वार्त्तिक के द्वारा 'दुर्' के उपसर्गत्व का निषेध होने के कारण नहीं होता।

(वा०) अन्तः शब्दस्या०—अर्थ—'अङ्' प्रत्यय के विधान में, किविधि और णत्व के विषय में 'अन्तर्' शब्द को उपसर्ग मानना चाहिए अर्थात् उक्त विधियों में 'अन्तर्' की 'उपसर्ग' संज्ञा होती है।

अन्तर्भवाणि—'अन्तर्+भवानि' यहाँ 'प्र'—आदि में पठित न होने के कारण 'अन्तर्' शब्द की उपसर्ग संज्ञा नहीं थी, इसीलिए 'आनि लोट्' से णत्व भी नहीं हो सकता था। अतः प्रकृत (वा०) 'अन्तः शब्दस्याऽङ्०' से णत्व विधि करने के लिए 'अन्तर्' को उपसर्ग मान लेने पर 'आनि लोट्' से उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर 'आनि' के नकार को णकार होकर 'अन्तर्भवाणि' रूप सिद्ध होता है।

४२१. नित्यं ङितः ३।४।९९

सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः। 'अलोऽन्त्यस्य' इति सलोपः—भवाव, भवाम।

प०वि०—नित्यम् २।१।। ङितः ६।१।। **अनु०**—लोपः, सः उत्तमस्य, लस्य।

अर्थः—ङित् लकारों (लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ्) के सकारान्त उत्तम पुरुष का नित्य लोप होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' से यह लोप अन्तिम 'अल्' सकार का ही होता है।

भवाव, भवाम में 'भू' धातु से लोट् के स्थान में क्रमशः 'वस्' और 'मस्' करने पर 'लोटो लङ्वत्' के द्वारा 'लोट्' को 'लङ्' के समान मानने से 'नित्यं ङितः' से

ङित्सम्बन्धी सकार का लोप हो जाता है। शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'भवानि' (४१८) के समान जानें।

४२२. अनद्यतने लङ् ३।२।१११

अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् स्यात्।

प०वि०—अनद्यतने ७।१।। लङ् १।१।। **अनु०**—भूते, धातोः।

अर्थः—अनद्यतन भूतकाल में होने वाली क्रिया-वाचक धातु से 'लङ्' प्रत्यय होता है।

४२३. लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ६।४।७१

एष्वङ्गस्याऽट् स्यात्।

प०वि०—लुङ्लङ्लृङ्क्षु ७।३।। अट् १।१।। उदात्तः १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य।

अर्थः—लुङ्, लङ् और लृङ् परे रहते अङ्ग को 'अट्' आगम होता है और वह उदात्त होता है।

'अट्' आगम 'आद्यन्तौ टकितौ' से अङ्ग का आद्यवयव बनता है।

४२४. इतश्च ३।४।१००

ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत्, तदन्तस्य लोपः।

अभवत्, अभवताम्, अभवन्। अभवः, अभवतम्, अभवत। अभवम्, अभवाव, अभवाम।

प०वि०—इतः ६।१।। च अ०।। **अनु०**—लोपः, परस्मैपदेषु, ङितः, लस्य।

अर्थः—ङित् लकार के स्थान पर जो (सम्बन्धी) इकारान्त परस्मैपद , तदन्त का लोप होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' इकार का लोप होता है।

अभवत्

भू	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'अनद्यतने लङ्' से अनद्यतन भूतकाल में होने वाली क्रिया वाचक धातु से 'लङ्' प्रत्यय हुआ, अनुबन्ध-लोप
भू ल् (लङ्)	पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
भू तिप्	'हलन्त्यम्' से 'प्' की 'इत्' संज्ञा, 'तस्य लोपः' से उसका लोप तथा 'इतश्च' से परस्मैपद में ङित् सम्बन्धी इकार का लोप हुआ
भू त्	पूर्ववत् 'शप्', गुण तथा अवादेश होने पर
भव् अ त्	'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से 'लङ्' परे रहते अङ्ग को अडागम हुआ

अट् भवत्	अनुबन्ध-लोप, संहिता होने पर
अभवत्	रूप सिद्ध होता है।

अभवताम्–'भू', लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' के स्थान में 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश तथा अन्य सभी कार्य 'अभवत्' के समान जानें।

अभवन्–'भू', लङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'अट्+भू+शप्+झि' यहाँ 'इतश्च' से इकार का लोप, 'झोऽन्तः' सें'झ्' को अन्तादेश, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'एचोऽयवायावः' से अवादेश होकर 'अभवन्त्' बनने पर 'संयोगान्तस्य लोपः' से 'त्' का लोप होकर 'अभवन्' रूप सिद्ध होता है।

अभवः–'भू', लङ्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' आकर 'अभवत्' के समान सभी कार्य होकर 'अभवतस्' बनने पर सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'अभवः' रूप सिद्ध होता है।

अभवतम्, अभवत–'भू', लङ्, म० पु०, द्वि० व० तथा बहु व० में 'थस्' और 'थ' के स्थान में 'तस्थस्थ०' से 'तम्' और 'त' आदेश हाने पर शेष प्रक्रिया 'अभवत्' के समान जानें।

अभवम्–'भू', लङ्, उ० पु०, एक० व० में 'मिप्' के स्थान में 'तस्थस्थमिपां०' से 'अम्' आदेश, पूर्ववत् 'शप्', गुण और 'अव्' आदेश होने पर 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'अभवम्' रूप सिद्ध होता है।

अभवाव

भू	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'अनद्यतने लङ्' से 'लङ्', अनुबन्ध-लोप
भू ल् (लङ्)	पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति, 'अस्मद्युत्तमः' से उ० पु०, 'द्व्येकयोर्द्वि०' से द्विवचन की विवक्षा में 'वस्' आया
भू वस्	'नित्यं ङितः' से ङित् लकार सम्बन्धी सकार का लोप हुआ
भू व	पूर्ववत् 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा 'एचोऽयवा०' से अवादेश हुआ
भव व	'अतो दीर्घो यञि' से यञादि सार्वधातुक परे रहते अदन्त अंग को दीर्घ और 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अभवाव	रूप सिद्ध होता है।

अभवाम–'भू', लङ्, उ० पु०, बहु व० में 'अभवाम' की सिद्धि-प्रक्रिया भी 'अभवाव' के समान जानें।

४२५. विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्[1] ३।३।१६१

एष्वर्थेषु धातोर्लिङ्।

प०वि०—विधिनिमन्त्रणा.......प्रार्थनेषु ७।३।। लिङ् १।१।। **अनु०**—धातोः।

अर्थः—विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न और प्रार्थना अर्थों में धातु से 'लिङ्' होता है।

४२६. यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ३।४।१०३

लिङः परस्मैपदानां यासुडागमः, उदात्तो ङिच्च।

प०वि०—यासुट् १।१।। परस्मैपदेषु ७।३।। उदात्तः १।१।। ङित् २।१।। च अ०।। **अनु०**—लिङः।

अर्थः—धातु से उत्तर 'लिङ्' के स्थान में जो परस्मैपद संज्ञक 'तिप्' आदि नौ प्रत्यय उनको 'यासुट्' आगम होता है, वह उदात्त और 'ङित्' भी होता है।

'आद्यन्तौ टकितौ' से टित् होने के कारण 'यासुट्' आगम 'लिङ्' का आदि अवयव बनता है।

४२७. लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ७।२।७९

सार्वधातुकलिङोऽनन्त्यस्य सस्य लोपः। इति प्राप्ते—

प०वि०—लिङः ६।१।। सलोपः १।१।। अनन्त्यस्य ६।१।। **अनु०**—सार्वधातुके।

अर्थः—सार्वधातुक 'लिङ्' के अनन्त्य (जो अन्त में न हो ऐसे) सकार का लोप होता है।

४२८. अतो येयः ७।२।८०

अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य 'यास्' इत्यस्य इय्। गुणः।

प०वि०—अतः ५।१।। याः ६।१।। इयः १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, सार्वधातुके।

अर्थः—ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से उत्तर सार्वधातुक के अवयव 'यास्' को 'इय्' आदेश होता है।

४२९. लोपो व्योर्वलि ६।१।६६

वलि वकारयकारयोर्लोपः। भवेत्, भवेताम्।

प०वि०—लोपः १।१।। व्योः ६।२।। वलि ७।१।।

अर्थः—'वल्' अर्थात् यकार को छोड़कर कोई भी व्यञ्जन परे रहते, वकार और यकार का लोप होता है।

भवेत्

भू	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणा०' से विध्यादि अर्थों में धातु से 'लिङ्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप

---

१. विधि आदि शब्दों के अर्थों को जानने के लिए देखें 'लोट् च' (४०९)।

भू ल् (लिङ्)	पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति[१], प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
भू तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से ङित् लकार सम्बन्धी इकार का लोप, 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा 'एचोऽयवा०' से अवादेश हुआ
भव् अ त्	'यासुट् परस्मैपदेषु०' से लिङ्स्थानीय परस्मैपद संज्ञक 'तिप्' (त्) को 'यासुट्' आगम तथा 'सुट् तिथोः' से लिङ् सम्बन्धी तकार को 'सुट्' आगम हुआ, अनुबन्ध-लोप
भव् अ यास् स् त्	'अतो येयः' से ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से उत्तर सार्वधातुक के अवयव 'यास्' को 'इय्' आदेश और 'लिङः सलोपो०' से सार्वधातुक 'लिङ्' के अनन्त्य सकार का लोप हुआ
भव इय् त्	'आद् गुणः' से अवर्ण से अच् परे रहते गुण तथा 'लोपो व्योर्वलि' से 'वल्' परे रहते यकार का लोप होकर
भवेत्	रूप सिद्ध होता है।

भवेताम्–'भू', विधिलिङ्, प्र०पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश होने पर शेष प्रक्रिया 'भवेत्' के समान जानें।

४३०. झेर्जुस् ३।४।१०८

लिङो झेर्जुस् स्यात्। भवेयुः। भवेः, भवेतम्, भवेत। भवेयम्, भवेव, भवेम।

प०वि०–झेः ६।१।। जुस् १।१।। **अनु०**–लिङः।

अर्थः–लिङ् के स्थान में होने वाले 'झि' के स्थान में 'जुस्' आदेश होता है।

भवेयुः

भू	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'विधिनिमन्त्रणा०' से 'लिङ्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र०पु०, बहु व० में 'झि' आया
भू झि	'झेर्जुस्' से लिङ् के 'झि' के स्थान में 'जुस्' आदेश, अनुबन्ध-लोप तथा 'कर्तरि शप्' से कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते 'शप्' हुआ
भू शप् उस्	अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् 'सार्वधातुकार्ध०' से 'ऊ' को गुण 'ओ' तथा 'एचोऽयवा०' से 'ओ' को अवादेश हुआ
भव् अ अस्	'यासुट् परस्मैपदेषु०' से 'यासुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
भव् अ यास् उस्	'अतो येयः' से ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से उत्तर सार्वधातुक के अवयव 'यास्' को 'इय्' आदेश हुआ
भव् अ इय् उस्	'आद् गुणः' से गुण तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
भवेयुः	रूप सिद्ध होता है।

---

१. देखें 'भवति' की सिद्धि-प्रक्रिया (३८८)।

भवे:–'भू', विधिलिङ्, म० पु०, एक व० में 'भू+यास्+अ+सिप्' में 'भवेत्' के समान सभी कार्य हाने पर सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर 'भवे:' सिद्ध होता है।

'भवेतम्', **'भवेत'**, **'भवेयम्'**, **'भवेव'**, **'भवेम'** में हलादि विभक्तियों में 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप आदि होकर सिद्धि-प्रक्रिया 'भवेत्' के समान तथा अजादि विभक्तियों में 'भवेयु:' के समान जानें।

४३१. लिङाशिषि ३।४।११६

आशिषि लिङस्तिङ् आर्धधातुकसंज्ञः स्यात्।

प०वि०–लिङ् लुप्तषष्ठी।। आशिषि ७।१।। **अनु०**–तिङ्, आर्धधातुकम्।

अर्थः–आशीर्वाद अर्थ में जो 'लिङ्', उसके स्थान में जो 'तिङ्' आदेश, उनकी 'आर्धधातुक' संज्ञा होती है।

४३२. किदाशिषि ३।४।१०४

आशिषि लिङो यासुट् कित्। 'स्कोः संयोगाद्योः' इति सलोपः।

प०वि०–कित् १।१।। आशिषि ७।१।। **अनु०**–लिङः, यासुट्।

अर्थः–आशीर्वाद अर्थ में जो 'लिङ्' लकार उसको होने वाला 'यासुट्' आगम 'कित्' होता है।

४३३. क्ङिति च १।१।५

गित्-कित्-ङिन्निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्तः। भूयात्, भूयास्ताम्, भुयासुः। भूयाः, भूयास्तम्, भूयास्त। भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म।

प०वि०–क्ङिति ७।१।। च अ०।। **अनु०**–इको गुणवृद्धी, न।

अर्थः–'गित्', 'कित्' और 'ङित्' प्रत्यय को निमित्त मानकर 'इक्' (इ, उ, ऋ, लृ) के स्थान में होने वाले गुण और वृद्धि नहीं होते।

भूयात्

भू	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में धातु से 'लिङ्' आया
भू ल् (लिङ्)	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, प्र०पु०,एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप तथा 'इतश्च' से इकार का लोप हुआ
भू त्	'लिङाशिषि' से आशीर्वाद अर्थ में लिङ्स्थानीय 'तिङ्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने से 'शप्' नहीं होता। 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से 'यासुट्' आगम तथा 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप, 'कदाशिषि' से 'यासुट्' कित् हुआ
भू यास् स् त्	'सार्वधातुकार्ध०' से आर्धधातुक परे रहते इगन्त अङ्ग 'भू' को गुण प्राप्त था, 'क्ङिति च' से 'कित्' को निमित्त मानकर होने

वाले गुण का निषेध हो गया, 'लिङः सलोपो०' से यहाँ 'स्' का लोप नहीं होता क्योंकि 'लिङाशिषि' से आशीर्वाद में 'लिङ्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होती है। 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से संयोग के आदि सकारों का पदान्त में लोप होकर

भूयात् रूप सिद्ध होता है।

भूयास्ताम्–'भू' धातु से 'आशिषि लिङ्लोटौ' से लिङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' के स्थान में 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश होने पर 'भूयास्+ताम्' यहाँ पदान्त में संयोग न होने से संयोग के आदि सकार का लोप नहीं होता, शेष प्रक्रिया 'भूयात्' के समान जानें।

भूयासुः–'भू', आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'झेर्जुस्' से लिङ् सम्बन्धी 'झि' को 'जुस्' आदेश होने पर 'भू+उस्' यहाँ 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से 'यासुट्' आगम, 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व और रेफ को 'खरवसानयोः०' से विसर्ग होकर 'भूयासुः' रूप सिद्ध होता है।

भूयाः–'भू', आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', म० पु०, एक व० में 'सिप्' आने पर 'भूयात्' के समान 'यासुट्', 'स्कोः संयोगाद्यो०' से सकार–लोप, 'सिप्' के सकार को 'ससजुषो रुः' से रुत्व और 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर 'भूयाः' रूप सिद्ध होता है।

भूयास्तम्, भूयास्त, भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म–'भू' धातु से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्' के स्थान में क्रमशः 'थस्', 'थ', मिप्', 'वस्' और 'मस्' आने पर 'तस्थस्थमिपां०' से 'थस्', 'थ' और मिप्' के स्थान पर क्रमशः 'तम्', 'त' और 'अम्' आदेश, 'नित्यं ङितः' से ङित् लकार के उत्तम पुरुष 'वस्' और 'मस्' के अन्तिम सकार का लोप और 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्' आगम होकर उक्त सभी रूप सिद्ध होते हैं।

४३४. लुङ् ३।२।११०

भूतार्थे धातोर्लुङ् स्यात्।

प०वि०–लुङ् १।१।। **अनु०**–धातोः, भूते।

अर्थः–भूतकाल में होने वाली क्रिया की वाचक धातु से 'लुङ्' प्रत्यय होता है।

विशेष–यहाँ अद्यतन, अनद्यतन या परोक्ष का उल्लेख न होने से सामान्य भूतकाल की विवक्षा में धातु से 'लुङ्' होता है।

४३५. माङि लुङ् ३।३।१७५

सर्वलकारापवादः।

प०वि०–माङि ७।१।। लुङ् १।१।। **अनु०**–धातोः।

अर्थः– 'माङ्' उपपद में रहते धातु से 'लुङ्' होता है।

यह सब लकारों का अपवाद है। किसी भी लकार का अर्थ विवक्षित होने पर 'माङ्' उपपद रहने पर धातु से 'लुङ्' ही होता है।

४३६. स्मोत्तरे लङ् च ३।३।१७६

स्मोत्तरे माङि लङ् स्यात्, चात् लुङ्।

प०वि०— स्मोत्तरे ७।१।। लङ् १।१।। च अ०।। **अनु०**—धातोः, माङि, लुङ्।

अर्थ—'स्म' जिसके उत्तर में हो ऐसा 'माङ्' उपपद में रहते धातु से 'लङ्' होता है और 'लुङ्' भी होता है।

४३७. च्लि लुङि ३।१।४३

शबाद्यपवादः।

प०वि०—च्लि १।१।। लुङि ७।१।। **अनु०**—धातोः।

अर्थः—'लुङ्' परे रहते धातु से 'च्लि' प्रत्यय होता है।

यह सूत्र 'शप्' आदि का अपवाद है।

४३८. च्लेः सिच् ३।१।४४

इचावितौ।

प०वि०—च्लेः ६।१।। सिच् १।१।।

अर्थ—'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' आदेश होता है।

'सिच्' के चकार और इकार इत्संज्ञक हैं इसलिए 'सिच्' का सकार शेष बचता है।

४३९. गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु २।४।७७

एभ्यः सिचो लुक् स्यात्। 'गा पौ' इह इणादेश-पिबती गृह्येते।

प०वि०—गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः ५।३।। सिचः ६।१।। परस्मैपदेषु ७।३।।

अनु०—लुक्।

अर्थ— 'गा' ('इण्' के स्थान में होने वाला 'गा' आदेश) 'स्था', घुसंज्ञक ('दा' और 'धा') धातु, 'पा' तथा 'भू' से उत्तर 'सिच्' का 'लुक्' होता है, परस्मैपद प्रत्यय परे रहते।

सूत्र में 'गा' तथा 'पा' से 'इण्' के स्थान में होने वाले 'गा' आदेश तथा 'पा पाने' भ्वादि धातु का ग्रहण किया जाता है।

४४०. भूसुवोस्तिङि ७।३।८८

भू सु एतयोः सार्वधातुके तिङि परे गुणो न। अभूत्, अभूताम्, अभूवन्। अभूः, अभूतम्, अभूत। अभूवम्, अभूव, अभूम।

प०वि०—भूसुवोः ६।२।। तिङि ७।१।। **अनु०**—गुणः, न, सार्वधातुके।

अर्थः—सार्वधातुक 'तिङ्' परे रहते 'भू' और 'सु' अङ्ग को गुण नहीं होता।

अभूत्

भू	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'लुङ्' से भूत अर्थ में धातु से 'लुङ्' हुआ, अनुबन्ध-लोप

भू ल् (लुङ्)	तिबाद्युत्पत्ति, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्' आया
भू तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'च्लि लुङि' से लुङ् परे रहते धातु से 'च्लि' प्रत्यय हुआ
भू च्लि त्	'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' आदेश हुआ
भू सिच् त्	'गातिस्थाघुपाभूभ्यः०' से परस्मैपद परे रहते 'भू' धातु से उत्तर 'सिच्' का 'लुक्' हुआ
भू त्	'तिप्' को निमित्त मानकर 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण प्राप्त हुआ, जिसका 'भूसुवोस्तिङि' से सार्वधातुक 'तिङ्' परे रहते निषेध हो गया। 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम तथा अनुबन्ध-लोप होकर
अभूत्	रूप सिद्ध होता है।

अभूताम्–'भू', लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' के स्थान पर 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश होने पर पूर्ववत् 'च्लि', 'सिच्', सिच् का लुक् तथा अडागम आदि कार्य होकर 'अभूताम्' रूप सिद्ध होता है।

अभूवन्

भू	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'लुङ्' से भूत अर्थ में धातु से 'लुङ्' प्रत्यय, पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति, प्र०पु०, बहु व० में 'झि' आया
भू झि	'इतश्च' से इकार-लोप और 'झोऽन्त' से 'झ्' को अन्तादेश हुआ
भू अन्त्	'भुवो वुग् लुङ्लिटोः' से अजादि 'लुङ्' परे रहते 'भू' को 'वुक्' आगम हुआ
भू वुक् अन्त्	अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् 'च्लि', 'सिच्', सिज्लुक्, और 'अट्' आदि होने पर
अ भूव् अन्त्	इस स्थिति में 'भुवो वुग्०' (६.४.८८) से 'वुक्' आगम आभीय कार्य होने के कारण 'असिद्धवदत्राभात्' से 'अचि श्नुधातु०' (६.४.७७) की दृष्टि में असिद्ध होने लगता है अतः 'वुक्' को असिद्ध मानकर 'उवङ्' आदेश प्राप्त हुआ, जो 'वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ' से 'वुक्' आगम, 'उवङ्' करते हुए सिद्ध ही मान लिया जाता है। 'वुक्' को सिद्ध मान लेने से धातु के उकार से 'अच्' परे नहीं मिल पाता और 'उवङ्' आदेश नहीं होता।
अ भू व् अन्त्	'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद के अन्तिम 'अल्' (तकार) का लोप होकर
अभूवन्	रूप सिद्ध होता है।

अभूः, अभूतम्, अभूत, अभूवम्, अभूव, अभूम की सिद्धि–प्रक्रिया लुङ् स्थानीय 'तस्', 'थस्', 'थ', मिप्' को 'तस्थस्थमिपां०' से क्रमशः 'ताम्', 'तम्', 'त', 'अम्' आदेश होने पर अजादि प्रत्ययों में 'अभूवन्' के समान और हलादि प्रत्ययों में 'अभूत्' के समान जानें।

४४१. न माङ्योगे ६।४।७४

अडाटौ न स्तः। मा भवान् भूत्। मा स्म भवत्। मा स्म भूत्।

प०वि०–न अ०।। माङ्योगे ७।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, अट्, आट्, लुङ्लङ्लृङ्क्षु।

अर्थः–'माङ्' के योग में लुङ्, लङ् और लृङ् परे रहते 'अङ्ग' को 'अट्' और 'आट्' आगम नहीं होते।

मा भवान् भूत, मा स्म भवत् और **मा स्म भूत्** इन उदाहरणों में **भूत्** तथा **भवत्** में 'मा' का योग होने के कारण 'न माङ्योगे' से अडागम नहीं होता। शेष सिद्धि–प्रक्रिया 'अभूत्' और 'अभवत्' के समान जाननी चाहिए।

४४२. लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ३।३।१३९

हेतुहेतुमद्भावादि लिङ् निमित्तम्, तत्र भविष्यत्यर्थे लृङ् स्यात्, क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम्। अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन्। अभविष्यः, अभविष्यतम्, अभविष्यत। अभविष्यम्, अभविष्याव, अभविष्याम। 'सुवृष्टिश्चेद् अभविष्यत् तथा सुभिक्षमभविष्यत्' इत्यादि ज्ञेयम्। अत सातत्यगमने। अतति।

प०वि०–लिङ्निमित्ते। ७।१।। लृङ् १।१।। क्रियातिपत्तौ ७।१।। **अनु०**–धातोः, भविष्यति।

अर्थः–लिङ् के निमित्त अर्थात् हेतु और हेतुमद्भाव के होने पर क्रिया की असिद्धि गम्यमान हो तो भविष्यत् काल में धातु से 'लृङ्' प्रत्यय होता है।

विशेषः–इस सूत्र में 'लिङ्निमित्त' शब्द से हेतुहेतुमद्भाव का ग्रहण होता है। 'हेतु' का अर्थ है 'कारण' और 'हेतुमत्' का अर्थ है 'कारणवाला' अर्थात् 'फल'। इसे समझने के लिए प्रस्तुत उदाहरण देखें– **'कृष्णं नमेत् चेत् सुखं यायात्'** (कृष्ण को नमस्कार करेगा तो सुख प्राप्त करेगा) इस वाक्य में 'नमन' क्रिया, सुख–पाना क्रिया का हेतु है तथा सुख–पाना, 'नमन' क्रिया का फल। इसलिए इन दोनों में 'हेतु' और 'हेतुमद्भाव' सम्बन्ध होने से 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' सूत्र से 'लिङ्' लकार विकल्प से होता है। जब 'हेतु हेतुमद्भाव' गम्यमान हो और क्रिया की निष्पन्नता न हो तो भविष्यदर्थ में 'लृङ्' होता है। जैसे–'सुवृष्टिश्चेत् अभविष्यत् सुभिक्षमभविष्यत्'। यदि अच्छी वृष्टि होगी तो सुकाल होगा।

अभविष्यत्

भू	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' से 'लिङ्' के निमित्त होने पर तथा क्रिया की असिद्धि गम्यमान होने पर भविष्यत् काल में 'लृङ्' हुआ

भू लृङ्	अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्' आया
भू तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'स्यतासी लृलुटोः' से 'लृङ्' परे रहते धातु से 'स्य' प्रत्यय हुआ
भू स्य त्	'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, अवादेश और षत्व आदि 'भविष्यति' के समान होकर
भविष्यत्	'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से अडागम तथा अनुबन्ध-लोप होकर
अभविष्यत्	रूप सिद्ध होता है।

अभविष्यताम्, अभविष्यतम्, अभविष्यत और अभविष्यम्–'भू', धातु से 'लृङ्' लकार में 'तस्', 'थस्', 'थ' और 'मिप्' के स्थान में 'तस्थस्थमिपां०' से क्रमशः 'ताम्', 'तम्', 'त' और 'अम्' आदेश होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'अभविष्यत्' के समान जानें।

अभविष्यन्–'भू', धातु से 'लृङ्' लकार में 'झि' आने पर 'इतश्च' से इकार का लोप 'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' से तकार का लोप होने पर शेष सभी कार्य 'अभविष्यत्' के समान होकर 'अभविष्यन्' सिद्ध होता है।

अभविष्याव, और **अभविष्याम** में 'वस्' और 'मस्' के सकार का 'नित्यं ङितः' से लोप, 'अतो दीर्घो यञि' से दीर्घादेश तथा शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'अभविष्यत्' के समान जानें।

अतति–'अत्' (सातत्यगमने) धातु से 'वर्तमाने लट्' से 'लट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' तथा 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्' होकर 'अतति' सिद्ध होता है।

४४३. अत आदेः ७।४।७०

अभ्यासस्याऽऽदेरतो दीर्घः स्यात्। आत, आततुः, आतुः। आतिथ, आतथुः, आत। आत, आतिव, आतिम। आतिता। अतिष्यति। अततु।

प०वि०–अतः ६।१।। आदेः ६।१।। **अनु०**–अभ्यासस्य, दीर्घः, लिटि।

अर्थः–'लिट्' परे रहते अभ्यास के आदि ह्रस्व अकार के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है।

आत

अत्	'भूवादयो धातव': से 'धातु' संज्ञा, 'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' आया
अत् लिट्	अनुबन्ध-लोप, 'तिबाद्युत्पत्ति', प्र०पु०, एक व० मे 'तिप्' आया
अत् तिप्	'परस्मैपदानां णलतुस्०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश हुआ
अत् णल्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातोरन०' से अनभ्यास अजादि धातु के द्वितीय एकाच् समुदाय को द्वित्व प्राप्त हुआ, द्वितीय एकाच् न होने के कारण 'व्यपदेशिवद्भाव एकस्मिन्' से प्रथम एकाच्

	समुदाय में ही द्वितीय एकाच् का व्यवहार हो जाने से 'अत्' को द्वित्व हुआ
अत् अत् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से पूर्व समुदाय 'अत्' की 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास में अनादि 'हल्' लुप्त हुआ
अ अत् अ	'अत आदेः' से अभ्यास के आदि ह्रस्व अकार को लिट् परे रहते दीर्घ तथा 'अकः सवर्णे०' से सवर्ण दीर्घ एकादेश होकर
आत	रूप सिद्ध होता है।

आततुः, आतुः–'अत्' धातु से लिट्, प्र० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में क्रमशः 'तस्' और 'झि' के स्थान पर 'परस्मैपदानां०' से यथासंख्य 'अतुस्' और 'उस्' आदेश होने पर पूर्ववत् द्वित्व और अभ्यास-कार्य होकर 'अत आदेः' से अभ्यास के आदि ह्रस्व अकार को दीर्घ एकादेश तथा सवर्णदीर्घ करने पर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

आतिथ, आतथुः, आत, आत, आतिव, आतिम–'अत्', लिट्, म० पु० और उ० पु० में क्रमशः 'सिप्', 'थस्', 'थ', 'मिप्', 'वस्' और 'मस्' आने पर 'परस्मैपदानां०' से क्रमशः 'थल्', 'अथुस्', 'अ', 'णल्', 'व' और 'म' आदेश होने पर वलादि आर्धधातुक 'थल्', 'व' और 'म' को 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से 'इट्' आगम होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'आत' के समान जानें।

अतिता–'अत्' धातु से 'लुट्', प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी लृलुटोः' से 'तासि' प्रत्यय, इडागम, 'तिप्' के स्थान में 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' से 'डा' आदेश, अनुबन्ध-लोप होकर 'अत्+इ+तास्+आ' यहाँ 'भविता' के समान डित्करण सामर्थ्य से टि 'आस्' का लोप होकर 'अतिता' रूप सिद्ध होता है।

अतिष्यति– 'अत्' धातु से 'लृट्', 'तिप्', 'स्य', 'इट्' तथा सकार को मूर्धन्य 'ष्' आदि सभी कार्य 'भविष्यति' (४०८) के समान होने पर 'अतिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

अततु– 'अत्' धातु से 'लोट्' के स्थान में 'तिप्' आने पर 'शप्', 'ति' के इकार को 'एरुः' से उकारादेश होकर 'अततु' रूप सिद्ध होता है।

४४४. आडजादीनाम् ६।४।७२

अजादेरङ्गस्याऽऽट् लुङ्लङ्लृङ्क्षु। आतत्, अतेत्। अत्यात्, अत्यास्ताम्। लुङि सिचि इडागमे कृते–

प०वि०–आट् १।१।। अजादीनाम् ६।३।। **अनु०**–लुङ्लङ्लृङ्क्षु, अङ्गस्य।

अर्थः–अजादि अङ्ग को 'लुङ्', 'लङ्' या 'लृङ्' परे रहते 'आट्' आगम होता है।

आतत्–'अत्' धातु से 'लङ्', प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप होकर 'अत्+अ+त्' इस स्थिति में 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्'

आगम प्राप्त था, किन्तु 'अत्' के अजादि होने से 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि एकादेश होकर 'आतत्' रूप सिद्ध होता है।

अतेत्– 'अत्' धातु से 'विधिनिमन्त्रणा०' से 'लिङ्', प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'यासुट्', सुट्, 'अतो येयः' से 'यास्' को 'इय्' तथा 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप होने पर 'अत्+अ+इय्+त्' इस स्थिति में 'आद् गुणः' से गुण तथा 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप होकर 'भवेत्' (४२९) के समान 'अतेत्' जानें।

अत्यात्–'अत्' धातु से 'आशिषि लिङ्लोटौ से लिङ्, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप तथा 'इतश्च' से इकार-लोप होकर 'अत्+यास्+स्+त्' यहाँ 'स्कोः संयोगाद्यो०' से दोनों सकारों का लोप होकर 'अत्यात्' रूप सिद्ध होता है

अत्यास्ताम्–'अत्' धातु से 'आशिर्लिङ्', प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'तस्' को 'ताम्' आदि कार्य 'भूयास्ताम्' (४३३.) के समान होकर 'अत्यास्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

४४५. अस्तिसिचोऽपृक्ते ७।३।९६

विद्यमानात् सिचोऽस्तेश्च परस्यापृक्तस्य हल ईडागमः स्यात्।

प०वि०–अस्तिसिचः ५।१।। अपृक्ते ७।१।। **अनु०**–हलि, ईट्।

अर्थ:–विद्यमान अर्थात् जो लुप्त नहीं हुआ है, ऐसे 'सिच्' और 'अस्' धातु से उत्तर 'अपृक्त' संज्ञक 'हल्' को 'ईट्' आगम होता है।

४४६. इट ईटि ८।२।२८

इटः परस्य सस्य लोपः स्यात् ईटि परे।

(वा०) सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः। आतीत्। आतिष्टाम्।

प०वि०–इटः ५।१।। ईटि ७।१।। **अनु०**–लोपः, सस्य।

अर्थ:–'इट्' से उत्तर सकार का लोप होता है 'ईट्' परे रहते।

आतीत्

अत्	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'लुङ्', प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप और 'इतश्च' से इकार-लोप हुआ
अत् त्	'च्लि लुङि' से लुङ् परे रहते धातु से 'च्लि' आया
अत् च्लि त्	'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश हुआ
अत् सिच् त्	अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
अत् इ स् त्	'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' से 'त्' की 'अपृक्त' संज्ञा होने से 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से सिच् से उत्तर 'अपृक्त' को 'ईट्' आगम हुआ, अनुबन्ध-लोप

अत् इ स् ई त्	'वदव्रजहलन्तस्याच:' से परस्मैपदपरक 'सिच्' परे रहते हलन्त अङ्ग के 'अच्' को वृद्धि प्राप्त हुई, जिसका 'नेटि' से इडादि 'सिच्' परे रहते निषेध हो गया। 'इट ईटि' से 'इट्' से उत्तर सकार का लोप हुआ 'ईट्' परे रहते
अत् इ ई त्	'इट ईटि' (८.२.२८) त्रिपादी का होने के कारण 'पूर्वत्रासिद्धम्' से 'अक: सवर्णे दीर्घ:' (६.१.१०१) की दृष्टि में असिद्ध होने से सकार का व्यवधान होने के कारण सवर्ण दीर्घ नहीं हो सकता था। परन्तु 'सिज्लोप एकदेशे सिद्धो वक्तव्य:' वार्तिक से दीर्घ एकादेश के विषय में 'सिच्' का लोप सिद्ध मान लिए जाने से 'अक: सवर्णे दीर्घ:' से दीर्घ एकादेश हुआ
अतीत्	'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से 'आट्' से उत्तर अच् परे रहते वृद्धि एकादेश होकर
आतीत्	रूप सिद्ध होता है।

आतिष्टाम्

अत् इट् सिच् ताम्	लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश, पूर्ववत् 'सिच्' और इडागम होने पर अनुबन्ध-लोप
अत् इ स् ताम्	'आदेशप्रत्यययो:' से सकार को मूर्धन्यादेश तथा 'ष्टुना ष्टु:' से ष्टुत्व 'त्' को 'ट्' हुआ
अतिष्टाम्	पूर्ववत् 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम और 'आटश्च' से 'आट्' से उत्तर अच् परे रहते वृद्धि एकादेश होकर
आतिष्टाम्	रूप सिद्ध होता है।

४४७. सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ३।४।१०९

सिचोऽभ्यस्ताद् विदेश्च परस्य ङित्सम्बन्धिनो झेर्जुस्। आतिषु:। आती:, आतिष्टम्, आतिष्ट। आतिषम्, आतिष्व, आतिष्म। आतिष्यत्। षिध गत्याम्।३।

प०वि०—सिजभ्यस्तविदिभ्य: ५।३।। च अ०।। **अनु०**—ङित:, लस्य, झेर्जुस्।

अर्थ:—'सिच्', 'अभ्यस्त' संज्ञक और 'विद्' से उत्तर ङित् लकार सम्बन्धी 'झि' को 'जुस्' आदेश होता है।

आतिषु:—लुङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'सिच्' और 'इट्' आगम होने पर 'अत्+इट्+सिच्+झि' इस स्थिति में 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से 'सिच्' से उत्तर 'झि' को 'जुस्' आदेश होने पर अनुबन्ध-लोप, षत्व, सकार को रुत्व, रेफ को विसर्ग, 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'आतिषु:' रूप सिद्ध होता है।

आतिष्यत्

अत्	'लिङ्निमित्ते०' से 'लृङ्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप तथा 'इतश्च' से इकार-लोप हुआ

अत् त् (तिप्)	'स्यतासी लृलुटोः' से 'स्य' तथा 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, अनुबन्ध-लोप
अत् इ स्य त्	'आदेशप्रत्यययोः' से 'इ' से उत्तर प्रत्यय के सकार को मूर्धन्य षकार, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' और 'आटश्च' से वृद्धि एकादेश होकर
आतिष्यत्	रूप सिद्ध होता है।

४४८. ह्रस्वं लघु १।४।१०

प०वि०—ह्रस्वम् १।१।। लघु १।१।।

अर्थः—ह्रस्व की 'लघु' संज्ञा होती है। अर्थात् एक मात्रिक अ, इ, उ इत्यादि स्वरों की 'लघु' संज्ञा होती है।

४४९. संयोगे गुरु १।४।११

संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसञ्ज्ञं स्यात्।

प०वि०—संयोगे ७।१।। गुरु १।१।। **अनु०**—ह्रस्वम्।

अर्थः—संयोग परे रहते ह्रस्व की 'गुरु' संज्ञा होती है।

४५०. दीर्घं च १।४।१२

गुरु स्यात्।

प०वि०—दीर्घम् १।१।। च अ०।। **अनु०**—गुरु।

अर्थः—दीर्घ स्वर की भी 'गुरु' संज्ञा होती है।

४५१. पुगन्तलघूपधस्य च ७।३।८६

पुगन्तस्य लघूपधस्य चाङ्गस्येको गुणः सार्वधातुकार्धधातुकयोः। 'धात्वादेः०' इति सः। सेधति। षत्वम्-सिषेध।

प०वि०—पुगन्तलघूपधस्य ६।१।। च अ०।। **अनु०**—गुणः, सार्वधातुकार्धधातुकयोः, अङ्गस्य।

अर्थः—सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते पुगन्त (जिसके अन्त में पुक् हो) और लघूपध (जिसकी उपधा लघु हो ऐसे) अङ्ग के 'इक्' के स्थान में 'गुण' होता है।

सेधति

षिध्	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'धात्वादेः षः सः' से धातु के आदि षकार को सकारादेश हुआ
सिध्	'वर्तमाने लट्' से 'लट्', पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप

सिध् ति	'कर्तरि शप्' से कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते धातु से 'शप्', अनुबन्ध-लोप
सिध् अ ति	'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' से 'शप्' की सार्वधातुक संज्ञा होने से 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघु उपधा वाले अङ्ग के 'इक्' (इ) को गुण 'ए' होकर
सेधति	रूप सिद्ध होता है।

सिषेध

सिध् लिट्	'परोक्षे लिट्' से परोक्ष भूतकाल में 'लिट्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
सिध् अ (णल्)	यहाँ 'पुगन्तलघू०' से गुण प्राप्त था, जिसका 'द्विर्वचनेऽचि' से द्विर्वचन-निमित्तक अजादि प्रत्यय परे रहते 'अच्' के स्थान में होने वाले आदेश (गुण) का द्विर्वचन करने के विषय में निषेध हो गया, 'लिटि धातोरन०' से 'लिट्' परे रहते अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व हुआ
सिध् सिध् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
सि सिध् अ	'लिट् च' से 'लिट्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य षकार होकर
सिषेध	रूप सिद्ध होता है।

४५२. असंयोगाल्लिट् कित् १।२।५

असंयोगात् परोऽपित् लिट् कित् स्यात्। सिषिधतुः, सिषिधुः। सिषेधिथ, सिषिधथुः, सिषिध। सिषेध, सिषिधिव, सिषिधिम। सेधिता। सेधिष्यति। सेधतु। असेधत्। सेधेत्। सिध्यात्। असेधीत्। असेधिष्यत्। एवम्-चिती संज्ञाने ।४। शुच शोके ।५। गद व्यक्तायां वाचि। ६। गदति।

प०वि०—असंयोगात् ५।१।। लिट् १।१।। कित् १।१।। **अनु०**—अपित्।

अर्थः—असंयोग से उत्तर अपित् (पित् से भिन्न) लिट् 'कित्' होता है।

सिषिधतुः—'सिध्' धातु से 'लिट्' के स्थान में 'तस्' तथा 'परस्मैपदानां०' से 'तस्' के स्थान पर 'अतुस्' करने पर 'सिध्+अतुस्' यहाँ 'अतुस्' के अपित् होने के कारण 'असंयोगाल्लिट् कित्' से कित् होने पर 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध, सकार को रूत्व और रेफ को विसर्ग होकर शेष कार्य 'सिषेध' के समान जानें।

सिषिधुः–'सिध्', लिट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' को 'परस्मैपदानां०' से 'उस्' आदेश होने पर शेष सभी कार्य 'सिषिधतुः' के समान जानें।

सिषेधिथ में 'सिप्' के स्थान में थलादेश स्थानीवाद्भाव से 'पित्' होने से गुण का निषेध नहीं होता तथा 'लिट् च' से 'आर्धधातुक' संज्ञा होने के कारण 'थल्' को 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम होकर शेष प्रक्रिया 'सिषेध' के समान जानें।

सिषिधथुः–'सिध्', लिट्, म० पु०, द्वि व० में 'थस्' को 'परस्मैपदानां०' से 'अथुस्' आदेश होने पर सभी कार्य 'सिषिधतुः' के समान जानें।

सिषिध–'सिध्', लिट्, म० पु०, बहु व० में 'थ' को 'परस्मैपदानां०' से 'अ' आदेश होने पर शेष सिद्धि–प्रकिया पूर्ववत् जानें।

सिषेध–'सिध्', लिट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश होने पर सिद्धि–प्रकिया प्र० पु०, एक व० के समान जानें।

सिषिधिव तथा सिषिधिम–'सिध्', लिट्, उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'वस्' और 'मस्' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से क्रमशः 'व' और 'म' आदेश होने पर 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम होकर शेष कार्य पूर्ववत् जानें।

सेधिता–'सिध्' धातु से 'लुट्' के स्थान में 'तिप्' तथा 'तिप्' के स्थान में 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्', डित्सामर्थ्य से 'टि' भाग का लोप और 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण होकर 'सेधिता' रूप सिद्ध होता है।

सेधिष्यति–'सिध्' धातु से 'लृट्' लकार, प्र०पु०,एक व० में 'भविष्यति' के समान 'तिप्', 'स्य' तथा 'इट्' आगम होने पर 'पुगन्तलघूपस्य०' से गुण तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'सेधिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

सेधतु–'सिध्' धातु से 'लोट्' लकार में 'तिप्', 'शप्', गुणादि कार्य होकर 'सेधति' रूप बनने पर 'एरुः' से लोट्–सम्बन्धी इकार को उकार होकर 'सेधतु' सिद्ध होता है।

असेधत्–'सिध्' धातु से 'अनद्यतने लङ्' से 'लङ्', 'तिप्', 'शप्', लघूपध गुण तथा 'अट्' आगम होकर 'असेधत्' रूप सिद्ध होता है।

सेधेत्–'सिध्' धातु से 'विधिनिमन्त्रणा०' से 'लिङ्', 'तिप्', 'शप्', 'यासुट्' और 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' होने पर 'सिध्+अ+यास्+स्+त्' यहाँ 'अतो येयः' से 'यास्' को 'इय्', 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से सकार–लोप, शप् परे रहते 'सिध्' के इकार को लघूपध गुण, 'आद् गुणः' से 'शप्' के अकार तथा इकार के स्थान में गुण (ए) तथा 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप होकर 'सेधेत्' सिद्ध होता है।

सिध्यात्–'सिध्', 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र०पु०,एक व० में 'तिप्', 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्' और 'सुट् तिथोः' से लिङ् सम्बन्धी तकार को 'सुट्' आगम होने पर 'सिध्+यास्+स्+त्' यहाँ 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से संयोगादि

सकारों का लोप होकर 'सिध्यात्' रूप बनता है। 'किदाशिषि' से 'यासुट्' के कित् होने से लघूपध गुण नहीं होता।

असेधीत्–'सिध्', लुङ्, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'सिच्', 'आर्धधातुकस्येड्० से 'इट्' और 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'ईट्' होने पर 'सिध्+इ+स्+ई+त्' यहाँ 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से वृद्धि प्राप्त थी, जिसका 'नेटि' से निषेध होने पर 'इट ईटि' से सकार का लोप, 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ होने पर 'पुगन्तलघू०' से 'गुण' तथा 'अट्' आगम होकर 'असेधीत्' सिद्ध होता है।

असेधिष्यत्–'सिध्' धातु से 'लिङ्निमित्तेलृङ्०' से 'लृङ्', तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'पुगन्तलघू०' से गुण, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व और 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से 'अट्' आगम होने पर 'असेधिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

'सिध्' धातु के रूपों के समान ही **'चिती'=संज्ञाने** तथा **'शुच'=शोके** के तिङन्तों की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

गदति–'गद्' व्यक्तवाक् अर्थ वाली धातु से 'लट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्' आदि कार्य 'अतति' के समान होकर 'गदति' रूप सिद्ध होता है।

४५३. नेर्गद-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्राति-प्साति-वपति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु च ८।४।१७।

उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्य नेर्नस्य णो गदादिषु परेषु। प्रणिगदति।

प०वि०–नेः ६।१।। गद-नद-प-पद-........देग्धिषु ७।३।। च अ०।।

अनु०–रषाभ्यां नो णः; उपसर्गाद्।

अर्थः–'गद्' आदि सत्रह धातुओं ('गद्'–स्पष्ट बोलना, 'नद्' –अस्पष्ट बोलना, 'पत्'–गिरना, 'पद्'–चलना, घुसंज्ञक 'दा', 'धा' आदि, 'मा'–मापना या शब्द करना, 'षो'–नाश करना, 'हन्'–मारना या गमन करना, 'या'–जाना, 'वा'– हवा का चलना, 'द्रा'– भागना या चलना, 'प्सा'–खाना, 'वप्'–बीज बोना, 'वह्'–ले जाना, 'शम्'–शान्त होना, 'चि'– चुनना या इकट्ठा करना, 'दिह्'–लीपना) में से कोई भी धातु परे होने पर उपसर्गस्थ रेफ और षकार से उत्तर 'नि' के नकार के स्थान पर णकार आदेश होता है।

प्रणिगदति–यहाँ 'प्र' उपसर्ग में रेफ से उत्तर 'नि' के पश्चात् 'गद्' धातु है अतः 'नेर्गद-नद-पत०' से 'नि' के नकार को णकार होकर 'प्रणिगदति' रूप सिद्ध होता है।

४५४. कुहोश्चुः ७।४।६२

अभ्यासकवर्गहकारयोश्चवर्गादेशः।

प०वि०–कुहोः ६।२।। चुः १।१।। **अनु०**–अभ्यासस्य।

अर्थः–अभ्यास में कवर्ग (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) और हकार के स्थान पर चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) आदेश होते हैं।

४५५. अत उपधायाः ७।२।११६

उपधाया अतो वृद्धिः स्याद् ञिति णिति च प्रत्यये परे। जगाद, जगदतुः, जगदुः। जगदिथ, जगदथुः, जगद।

प०वि०–अतः ६।१।। उपधायाः ६।१।। **अनु०**–वृद्धिः, ञ्णिति, अङ्गस्य।

अर्थः–ञित् और णित् प्रत्यय परे रहते अङ्ग की उपधा के ह्रस्व अकार को वृद्धि होती है।

जगाद

गद्	'परोक्षे लिट्' से परोक्ष भूतकाल में होने वाली क्रिया वाचक धातु से 'लिट्', पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति, 'लिट्' के स्थान में 'तिप्' और 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश हुआ
गद् णल्	अनुबन्ध-लोप, 'अत उपधायाः' से 'णित्' प्रत्यय परे रहते वृद्धि प्राप्त हुई, जिसका 'द्विर्वचनेऽचि' से द्विर्वचन का निमित्त अजादि प्रत्यय परे रहते द्विर्वचन करने के विषय में निषेध होने पर 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा और 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि हल् शेष रहा
ग गद् अ	'कुहोश्चुः' से अभ्यास में कवर्ग (ग्) के स्थान में चवर्गादेश (ज्) हुआ
ज गद् अ	'अत उपधायाः' से णित् प्रत्यय (णल्) परे रहते उपधा के अकार को वृद्धि होकर
जगाद	रूप सिद्ध होता है।

जगदतुः– 'गद्', लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'परस्मैपदानां०' से 'तस्' को 'अतुस्' आदेश, 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से आदि हल् शेष, 'कुहोश्चुः' से 'ग्' को 'ज्' आदेश, 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ को विसर्ग होकर 'जगदतुः' सिद्ध होता है।

जगदुः, जगदिथ, जगदथुः और **जगद**–'गद्' धातु से 'लिट्' लकार में 'झि', 'सिप्', 'थस्' और 'थ' को 'परस्मैपदाना०' से क्रमशः 'उस्', 'थल्', 'अथुस्' और 'अ' आदेश होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'जगदतुः' के समान जानें।

विशेषः–'जगदिथ' में 'थल्' को 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से 'इट्' आगम होता है।

४५६. णलुत्तमो वा ७।१।९१

उत्तमो णल् वा णित् स्यात्। जगाद-जगद। जगदिव। जगदिम। गदिता। गदिष्यति। गदतु। अगदत्। गदेत्। गद्यात्।

प०वि०–णल् १।१।। उत्तमः १।१।। वा अ०।। **अनु०**–णित्।

अर्थः—उत्तम पुरुष में ('मिप्' के स्थान में होने वाला) 'णल्' विकल्प से 'णित्' होता है।

जगाद, जगद— 'गद्', लिट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' होने पर 'णलुत्तमो वा' से 'णल्' विकल्प से 'णित्' होता है। णित् पक्ष में पूर्ववत् 'जगाद' और णित्-अभाव पक्ष में 'अत उपधायाः' से वृद्धि न होने पर शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'जगद' सिद्ध होते हैं।

जगदिव, जगदिम में 'वस्' तथा 'मस्' के स्थान पर 'व' और 'म' आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, द्वित्व तथा अभ्यासादि कार्य पूर्ववत् जानें।

गदिता, गदिष्यति इत्यादि की सिद्धि-प्रक्रिया 'अतिता', अतिष्यति इत्यादि (४४३) के समान जानें।

४५७. अतो हलादेर्लघोः ७।२।७

हलादेर्लघोरकारस्य वृद्धिर्वा इडादौ परस्मैपदे सिचि। अगदीत्, अगादीत्। अगदिष्यत्। णद अव्यक्ते शब्दे।७।

प०वि०—अतः ६।१।। हलादेः ६।१।। लघोः ६।१।। **अनु०**—सिचि, वृद्धिः, परस्मैपदेषु, इटि, अङ्गस्य, विभाषा।

अर्थः—हलादि अङ्ग के लघु अकार को विकल्प से वृद्धि होती है, परस्मैपदपरक इडादि 'सिच्' परे रहते।

अगादीत्

गद्	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'लुङ्' से 'लुङ्' आया
गद् लुङ्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप और 'इतश्च' से 'ङित्' सम्बन्धी इकार का लोप हुआ
गद् त्	'च्लि लुङि' से 'च्लि' प्रत्यय, 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम तथा 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से ईडागम हुआ, अनुबन्ध-लोप
गद् इ स् ई त्	'अतो हलादेर्लघोः' से हलादि अङ्ग के लघु अकार को इडादि 'सिच्' परे रहते विकल्प से वृद्धि हुई, 'इट ईटि' से 'इट्' से उत्तर सकार का लोप हुआ 'ईट्' परे रहते और 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ
गादीत्	'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अगादीत्	रूप सिद्ध होता है।

वृद्धि-अभाव पक्ष में **अगदीत्** ही बनता है।

'अगदिष्यत्'-की सिद्धि-प्रक्रिया लृङ् लकार में 'अभविष्यत्' (४४२) के समान जानें।

४५८. णो नः ६।१।६५

धात्वादेर्णस्य नः। णोपदेशास्तु-अनर्द-नाटि-नाथ्-नाध्-नन्द-नक्क- नृ-नृतः।

प०वि०—णः ६।१।। नः १।१।। **अनु०**—धात्वादेः।

अर्थः—धातु के आदि णकार को नकार आदेश होता है।

णोपदेशास्तु—पाणिनीय धातु पाठ में **नर्द, नट, नाथृ, नाधृ, टुनदि, नक्क, नृ** और **नृती** धातुएं ही नकारादि उपदिष्ट हैं इसके अतिरिक्त सभी धातुएं णकारादि उपदिष्ट जाननी चाहिएं।

४५९. उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ८।४।१४

उपसर्गस्थाद् निमित्तात् परस्य णोपदेशस्य धातोर्नस्य णः। प्रणदति। प्रणिनदति। ननाद।

प०वि०—उपसर्गात् ५।१।। असमासे ७।१।। अपि अ०।। णोपदेशस्य ६।१।।

अनु०—रषाभ्यां नो णः।

अर्थः—उपसर्ग में विद्यमान णत्व के निमित्तभूत रेफ और षकार से उत्तर असमास में भी णकारोपदेश वाली धातु के नकार को णकार होता है।

प्रणदति

प्र णद्	(अव्यक्ते शब्दे) 'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा और 'णो नः' से धातु के आदि के णकार को नकारादेश हुआ
प्र नद्	'वर्तमाने लट्' से 'लट्', 'कर्तरि शप्' से 'शप्' और तिबादि कार्य होकर 'नदति' बनने पर
प्र नदति	'उपसर्गाः क्रियायोगे' से 'प्र' आदि की क्रिया के योग में 'उपसर्ग' संज्ञा होने से 'उपसर्गाद् असमासेऽपि णोपदेशस्य' से णकारोपदेश धातु के नकार को उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर णकारादेश होकर
प्रणदति	रूप सिद्ध होता है।

प्रणिनदति— 'प्र' और 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'नद्' धातु से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'प्रणिगदति' (४५३) के समान ही 'प्रणिनदति' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

ननाद—'नद्' धातु से 'लिट्', 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान में 'णल्'(अ) होने पर 'नद्+अ' इस स्थिति में 'अत उपधायाः' से प्राप्त वृद्धि का 'द्विर्वचनेऽचि' से द्विर्वचन करने के विषय में निषेध होने पर 'लिटि धातो०' से द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा पुनः 'अत उपधायाः' से उपधा को वृद्धि होकर 'ननाद' सिद्ध होता है।

४६०. अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ६।४।१२०

लिण्निमित्तादेशादिकं न भवति यदङ्गं, तदवयवस्याऽसंयुक्तहल्मध्यस्थस्यात एत्वमभ्यासलोपश्च किति लिटि। नेदतुः, नेदुः।

प०वि०—अतः ६।१।। एकहल्मध्ये ७।१।। अनादेशादेः ६।१।। लिटि ७।१।।

अनु०—एत्, अभ्यासलोपः, क्ङिति, अङ्गस्य।

अर्थः—लिट् परे रहते अनादेशादि अङ्ग के एक अर्थात् असंयुक्त हलों के मध्य में विद्यमान जो ह्रस्व अकार उसको एकारादेश होता है तथा 'अभ्यास' का लोप भी होता है, कित् या ङित् 'लिट्' प्रत्यय परे रहते।

नेदतुः

नद्	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'परोक्षे लिट्' से 'लिट्', 'तिबाद्युत्पत्ति, प्र०पु०, द्वि व० में 'तस्' आया
नद् तस्	'तस्' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से 'अतुस्' आदेश हुआ
नद् अतुस्	'लिटि धातोः०' से 'लिट्' परे रहते 'नद्' को द्वित्व हुआ
नद् नद् अतुस्	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा और 'हलदिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
न नद् अतुस्	'असंयोगाल्लिट् कित्' से असंयोग से उत्तर अपित् लिट् (अतुस्) कित् होने से 'अत एकहल्मध्ये०' से अनादेशादि अङ्ग के असंयुक्त हलों के मध्य में स्थित ह्रस्व अकार को एकारादेश तथा अभ्यास का लोप हुआ, कित् 'लिट्' प्रत्यय परे रहते
नेद् अतुस्	'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
नेदतुः	रूप सिद्ध होता है।

नेदुः—'नद्', लिट्, प्र० पु०, बहु व० में 'नेदुः' की सिद्धि-प्रक्रिया 'झि' के स्थान में 'उस्' होने पर 'नेदतुः' के समान जानें।

४६१. थलि च सेटि ६।४।१२१

प्रागुक्तं स्यात्। नेदिथ, नेदथुः, नेद। ननाद, ननद। नेदिव, नेदिम। नदिता। नदिष्यति। नदतु। अनदत्। नदेत् नद्यात्। अनादीत्। टुनदि समृद्धौ।८।

प०वि०—थलि ७।१।। च अ०।। सेटि ७।१।। **अनु०**—अत एकहल्मध्ये अनादेशादेर्लिटि, एत्, अभ्यासलोपश्च, अङ्गस्य।

अर्थः—सेट् '**थल्**' परे रहते अनादेशादि अङ्ग के असंयुक्त हलों के मध्य विद्यमान ह्रस्व अकार को एकारादेश तथा 'अभ्यास' का लोप होता है।

नेदिथ—'नद्', लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'सिप्' को 'थल्' आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'लिटि धातोः०' से द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होने पर 'न+नद्+इथ' इस स्थिति में 'थलि च सेटि' से सेट् 'थल्' परे रहते अभ्यास

का लोप तथा दो असंयुक्त हलों के मध्य विद्यमान अकार को एकारादेश होकर 'नेदिथ' रूप सिद्ध होता है।

नेदथुः, नेद इत्यादि की सिद्धि-प्रक्रिया 'नेदतुः' (४६०) इत्यादि के समान जानें।

ननद—'नद्', लिट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' के स्थान में 'णल्' आदेश, 'णलुत्तमो वा' से 'णल्' विकल्प से 'णित्' होता है, अतः 'णित्' अभाव पक्ष में 'अत उपधायाः' से वृद्धि न होकर शेष प्रक्रिया 'ननाद' के समान जानें।

नेदिव और **नेदिम** में 'नद्', लिट्, उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'वस्' और 'मस्' को 'परस्मैपदानां०' से 'व' और 'म' आदेश होने पर 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व, 'अत एकल्मध्ये०' से अभ्यास का लोप तथा अकार को एकार आदेश पूर्ववत् जानें।

नदिता, नदिष्यति और **नदतु** की सिद्धि-प्रक्रिया 'अतिता', 'अतिष्यति' और 'अततु' (४४३) इत्यादि के समान जानें।

नदेत्—'नद्' धातु से 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रण०' से 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', 'अतो येयः' से 'यास्' को 'इय्' आदेश, 'लिङः सलोपो०' से सकार का लोप, 'आद् गुणः' से गुण तथा 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप होकर 'नदेत्' सिद्ध होता है।

नद्यात्—'नद्' से आशीर्वाद अर्थ में 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', 'तिप्', 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' तथा 'स्कोः संयोगाद्यो०' से दोनों सकारों का लोप होकर 'नद्यात्' सिद्ध होता है।

अनादीत्—'नद्', लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि' तथा 'च्लि' को 'सिच्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्', 'अस्तिसिचो०' से 'ईट्', 'अतो हलादेर्लघोः' से हलादि अङ्ग के लघु अकार को विकल्प से वृद्धि, 'इट ईटि' से सकार-लोप, 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश और 'अट्' आगम होकर 'अनादीत्' रूप सिद्ध होता है।

४६२. आदिर्ञिटुडवः १।३।५

उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः

प०वि०—आदिः १।१।। ञिटुडवः १।३।। **अनु०**—उपदेशे, इत्।

अर्थः—उपदेश में धातु के आदि में 'ञि', 'टु' और 'डु' की 'इत्' संज्ञा होती है।

४६३. इदितो नुम् धातोः ७।१।५८

नन्दति। ननन्द। नन्दिता। नन्दिष्यति। नन्दतु। अनन्दत्। नन्देत्। नन्द्यात्। अनन्दीत्। अनन्दिष्यत्। अर्च पूजायाम्। ९। अर्चति।

प०वि०—इदितः ६।१।। नुम् १।१।। धातोः ६।१।।

अर्थः—इदित् अर्थात् जिसका ह्रस्व इकार इत्संज्ञक हो ऐसी धातु को 'नुम्' आगम होता है।

नन्दति	
टुनदि	(समृद्धौ) 'आदिर्ञिटुडवः' से उपदेश में आदिभूत 'टु' की इत्संज्ञा, 'उपदेशेऽज०' से इकार की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से उनका लोप हुआ,
नद्	'भूवादयो धातवः' से 'नद्' की 'धातु' संज्ञा हुई
नद्	इकार की इत्संज्ञा होने से 'इदितो नुम् धातोः' से इदित् धातु को 'नुम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से अन्तिम 'अच्' अकार के पश्चात् हुआ, अनुबन्ध-लोप
न न् (नुम्) द्	पूर्ववत् 'वर्तमाने लट्' से 'लट्', 'तिप्', 'शप्' आदि होकर रूप सिद्ध होता है।
नन्दति	

ननन्द–'टुनदि', अनुबन्ध-लोप होने पर 'इदितो नुम् धातोः' से नुमागम होकर 'नन्द्' बनने पर 'लिट्', 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' एवं द्वित्व आदि कार्य होकर 'ननन्द' रूप सिद्ध होता है।

नन्दिता, नन्दिष्यति, नन्दतु, अनन्दत्, नन्देत्, नन्द्यात्, अनन्दीत् और अनन्दिष्यत् इत्यादि में 'टुनदि' धातु के इदित् होने से नुमागम होकर 'नन्द्' बनने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया **अतिता, अतिष्यति** इत्यादि (४४३) के समान जानें।

अर्चति–'अर्च् पूजायाम्' से 'लट्', 'शप', 'तिप्' इत्यादि कार्य होकर 'अर्चति' रूप सिद्ध होता है।

४६४. तस्मान्नुड् द्विहलः ७।४।७१

द्विहलो दीर्घीभूताद् अकारात् परस्य नुट् स्यात्। आनर्च, आनर्चतुः। अर्चिता। अर्चिष्यति। अर्चतु, आर्चत्। अर्चेत्। अर्च्यात्। आर्चीत्। आर्चिष्यत्। व्रज गतौ।१०। व्रजति। व्रजिता। व्रजिष्यति। व्रजतु। अव्रजत्। व्रजेत्। व्रज्यात्।

प०वि०–तस्मात् ५।१।। नुट् १।१।। द्विहलः ६।१।। **अनु०**–अङ्गस्य।

अर्थः–'अत आदेः' से धातु के अभ्यास के दीर्घीभूत आकार से उत्तर दो 'हल्' वाले अङ्ग को 'नुट्' आगम होता है।

विशेषः–प्रस्तुत प्रसंग में दीर्घीभूत आकार से 'अत आदेः' से विहित दीर्घ आकार अभिप्रेत है।

आनर्च	
अर्च्	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'परोक्षे लिट्' से 'लिट्', प्र०पु० एक व० में 'तिप्' और 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश हुआ
अर्च् णल्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को प्राप्त द्वित्व, व्यपदेशिवद्भाव से 'अर्च्' को हुआ

अर्च् अर्च् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा और 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का अकार शेष रहा
अ अर्च् अ	'अत आदेः' से लिट् परे रहते अभ्यास के आदि में ह्रस्व अकार को दीर्घ आदेश हुआ
आ अर्च् अ	'तस्मान्नुड् द्विहलः' से 'अत आदेः' से दीर्घ किये गये 'आ' से उत्तर दो हल् वाले अङ्ग को 'नुट्' आगम हुआ
आ नुट् अर्च् अ	अनुबन्ध-लोप होने पर
आनर्च	रूप सिद्ध होता है।

'आनर्च' के समान ही 'तस्' के स्थान में 'अतुस्' होने पर **'आनर्चतुः'** की सिद्धि जानें।

अर्चिता–'अर्च्', 'लुट्', 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' के स्थान में 'डा', डित् परे रहते टिभाग का लोप और 'तास्' को वलादि 'इट्' होकर 'अर्चिता' रूप सिद्ध होता है।

अर्चिष्यति–'अर्च्', 'लृट्', 'तिप्', 'स्य', 'इट्' आगम आदि होकर 'अर्चिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

अर्चतु–'अर्च्' धातु से 'लोट्', प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्' तथा इकार को 'एरुः' से उकार होकर 'अर्चतु' रूप सिद्ध होता है।

आर्चत्–'अर्च्' धातु से 'लङ्', प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'आडजादीनाम्' से आडागम और 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'आर्चत्' रूप बनता है।

अर्चेत्–'अर्च्' धातु से 'विधिनिमन्त्रणा०' से 'लिङ्', 'तिप्', अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'शप्', 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', 'अतो येयः' से 'यास्' को 'इय्', 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप, 'आद् गुणः' से गुण तथा 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप होकर 'अर्चेत्' रूप सिद्ध होता है।

अर्च्यात्–'अर्च्' धातु से 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', 'लिङाशिषि' से 'आर्धधातुक' संज्ञा होने से 'शप्' का अभाव, 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्' तथा 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' होने पर 'स्कोः संयोगाद्यो०' से सकारों का लोप होकर 'अर्च्यात्' रूप सिद्ध होता है।

आर्चीत्–'अर्च्', 'लुङ्', 'तिप्', 'सिच्', 'इट्' तथा ईडादि होने पर 'अर्च्+इ+स्+ई+त्' यहाँ 'इट ईटि' से सकार-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'आर्चीत्' रूप सिद्ध होता है।

आर्चिष्यत्–'अर्च्' धातु से 'लिङ्निमित्ते लृङ्०' से 'लृङ्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्', 'आडजादीनाम्' से 'आट्' तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'आर्चिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

व्रजति, व्रजिता, व्रजिष्यति–इत्यादि की सिद्धि-प्रक्रिया 'अतति', 'अतिता', 'अतिष्यति' (४४३-४४४) इत्यादि के समान जानें।

४६५. वदव्रजहलन्तस्याचः ७।२।३

एषामचो वृद्धिः सिचि परस्मैपदेषु। अव्राजीत्। अव्रजिष्यत्। कटे वर्षावरणयोः।११। कटति। चकाट, चकटतुः। कटिता। कटिष्यति। कटतु। अकटत्। कटेत्। कट्यात्।

प०वि०–वदव्रजहलन्तस्य ६।१।। अचः ६।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, सिचि, वृद्धिः, परस्मैपदेषु।

अर्थः–वद् (बोलना), **व्रज्** (जाना) तथा हलन्त अङ्गों के 'अच्' को वृद्धि होती है परस्मैपदपरक 'सिच्' परे रहते।

अव्राजीत्

व्रज्	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'लुङ्', अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप तथा 'इतश्च' से इकार-लोप हुआ
व्रज् त्	'च्लि लुङि' से 'च्लि' और 'च्लेः सिच्' से सिजादेश
व्रज् सिच् त्	अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम हुआ
व्रज् इट् स् त्	'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'ईट्', अनुबन्ध-लोप
व्रज् इ स् ई त्	'वदव्रजहलन्तस्याचः' से परस्मैपदपरक 'सिच्' परे रहते 'व्रज्' के 'अच्' को वृद्धि, 'इट ईटि' से सकार-लोप और 'अकः सवर्णे०' से दीर्घादेश हुआ
व्राज् ई त्	'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम तथा अनुबन्ध-लोप होकर
अव्राजीत्	रूप सिद्ध होता है।

अव्रजिष्यत्–की सिद्धि-प्रक्रिया 'अभविष्यत् (४४२)' के समान जानें।

कटति, चकाट, चकटतुः, कटिता, कटिष्यति, कटतु, अकटत्, कटेत् और **कट्यात्** की सिद्धि-प्रक्रिया 'गदति', 'जगाद', 'जगदतुः', 'गदिता' इत्यादि (४५३-४५६) के समान जानें।

४६६. ह्म्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्व्येदिताम् ७।२।५

हमयान्तस्य क्षणादेर्ण्यन्तस्य श्वयतेरेदितश्च वृद्धिर्नेडादौ सिचि। अकटीत्। अकटिष्यत्। गुपू रक्षणे।१२।

प०वि०–ह्म्यन्त-क्षण-श्वस....दिताम्। ६।३।। **अनु०**–सिचि, वृद्धिः, परस्मैपदेषु, नेटि, अङ्गस्य।

अर्थः–हकारान्त, मकारान्त और **यकारान्त** अङ्गों को **क्षण्, श्वस्, जागृ, णि, श्वि** तथा **एदित्** (जिसका एकार इत् हो ऐसे) अङ्गों को परस्मैपद-परक इडादि 'सिच्' परे रहते वृद्धि नहीं होती।

'कटे-वर्षावरणयोः'—उपदेशेऽज०' से 'ए' की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से एकार का लोप होने पर 'कट्' शेष बचता है।

अकटीत्—'कट्', पूर्ववत् 'लुङ्', 'तिप्', 'सिच्', 'इट्' तथा 'ईट्' होने पर 'कट्+इ+स्+ई+त्' यहाँ 'सिच्' को निमित्त मानकर 'अतो हलादेर्लघोः' से विकल्प से वृद्धि प्राप्त होने लगी, जिसका, 'कट्' धातु के एदित् होने से 'ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृ०' से इडादि 'सिच्' परे रहते निषेध होने पर 'इट ईटि' से सकार लोप तथा 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ होने पर 'कट् ई+त्' इस स्थिति में अडागम होकर 'अकटीत्' रूप सिद्ध होता है।

अकटिष्यत्—की सिद्धि-प्रक्रिया 'लृङ्' लकार में 'अभविष्यत्' (४४२) के समान जानें।

४६७. गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः ३।१।२८

एभ्यः 'आय' प्रत्ययः स्यात् स्वार्थे।

प०वि०—गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्यः ५।३।। आयः १।१।। **अनु०**—धातोः।

अर्थः—**गुप्** (रक्षा करना), **धूप्** (तपाना), **विच्छ्** (जाना) और **पण्** तथा **पन्** (स्तुति करना) धातुओं से स्वार्थ में **'आय'** प्रत्यय होता है।

४६८. सनाद्यन्ता धातवः ३।२।३२

सनादयः कमेर्णिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसंज्ञकाः। धातुत्वाल्लडादयः-गोपायति।

प०वि०—सनाद्यन्ताः १।३।। धातवः १।३।।

अर्थः—सनादि प्रत्यय अन्त में हैं जिनके उनकी 'धातु' संज्ञा होती है। धातुसंज्ञा होने के कारण इनसे 'लट्' आदि प्रत्यय हो जाते हैं।

विशेषः—अष्टाध्यायी में 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (३.१.५) से प्रारम्भ करके 'कमेर्णिङ्' (३.१.२१) पर्यन्त जिन 'सन्', 'क्यङ्', 'क्यच्' आदि प्रत्ययों का विधान किया गया है वे सनादि प्रत्यय कहलाते हैं।

गोपायति

गुप्	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्यः०' से स्वार्थ में 'आय' प्रत्यय हुआ
गुप् आय	'आर्धधातुकं शेषः' से 'आय' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने से 'पुगन्तलघू०' से लघूपध अङ्ग के 'इक्' को गुण हुआ
गोपाय	'आय' प्रत्यय सनादि में आता है इसलिए 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'आय' प्रत्ययान्त 'गोपाय' की 'धातु' संज्ञा होने से 'वर्तमाने लट्' से 'लट्' आया
गोपाय लट्	अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्' और 'अतो गुणे' से पररूप आदि होकर
गोपायति	रूप सिद्ध होता है।

४६९. आयादय आर्धधातुके वा। ३।१।३१

आर्धधातुकविवक्षायामायादयो वा स्युः।

(वा०) कास्यनेकाच आम् वक्तव्यो लिटि।

आस्कासोराम्विधानान्मस्य नेत्त्वम्।

प०वि०—आयादयः १।३।। आर्धधातुके ७।१।। वा अ०।। **अनु०**—धातोः।

अर्थः—आर्धधातुक की विवक्षा में धातु से आयादि अर्थात् **'आय'**, **'ईयङ्'** और **'णिङ्'** प्रत्यय विकल्प से होते हैं।

(वा०) **कास्यनेकाच०**—**अर्थ**—'कास्' धातु तथा अनेकाच् धातुओं से 'आम्' प्रत्यय का विधान करना चाहिए, लिट् परे रहते।

आस्कासोः०—'आस्' और 'कास्' को मकारान्त 'आम्' विधान का प्रयोजन यह है कि विधान सामर्थ्य से मकार की इत्संज्ञा नहीं होती। यदि मकार की इत्संज्ञा होने लगे तो 'कास्' के 'आ' तथा 'आम्' के 'आ' को सवर्णदीर्घ होकर 'आस्' रूप बनेगा जो कि बिना 'आम्' विधान के भी सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार 'आम्' विधान के व्यर्थ हो जाने से यह ज्ञापित होता है कि 'आम्' के मकार की इत्संज्ञा नहीं होती।

४७०. अतो लोपः ६।४।४८

आर्धधातुकोपदेशे यददन्तं तस्याऽतो लोप आर्धधातुके।

प०वि०—अतः ६।१।। लोपः १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, आर्धधातुके।

अर्थः—आर्धधातुक के विधान काल में जो ह्रस्व अकारान्त अङ्ग उसके अन्तिम ह्रस्व अकार का लोप होता है, आर्धधातुक परे रहते।

४७१. आमः २।४।८१

आमः परस्य लुक्।

प०वि०—आमः ५।१।। **अनु०**—लुक्।

अर्थः—'आम्' से उत्तर लुक् होता है।

४७२. कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ३।१।४०

आमन्तात् लिट्पराः कृभ्वस्तयोऽनुप्रयुज्यन्ते। तेषां द्वित्वादि।

प०वि०—कृञ् १।१।। च अ०।। अनुप्रयुज्यते (लट्, प्र०पु०, एक व०)।। लिटि ७।१।।

अर्थः—'आम्' प्रत्ययान्त से उत्तर लिट्परक 'कृञ्' अर्थात् **'कृ'**, **'भू'** और **'अस्'** का अनुप्रयोग होता है।

४७३. उरत् ७।४।६६

अभ्यासस्य ऋवर्णस्याऽत् स्यात्। रपरः। हलादिः शेषः (३९६) वृद्धिः-गोपायाञ्चकार। द्वित्वात् परत्वाद् यणि प्राप्ते—

प०वि०—उः ६।१॥ अत् १।१॥ **अनु०**-अभ्यासस्य।

अर्थः—अभ्यास के अवयव ऋवर्ण के स्थान में ह्रस्व अकार आदेश होता है।

'उरण् रपरः' की सहायता से 'रपर' होकर 'अर्' आदेश होता है।

गोपायाञ्चकार

गुप्	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'गुपूधूपविच्छि०' से स्वार्थ में 'आय' प्रत्यय हुआ
गुप् आय	'पुगन्तलघूपधस्य च' से आर्धधातुक प्रत्यय 'आय' परे रहते लघूपध अङ्ग के 'इक्' (उ) को गुण (ओ) हुआ
गोपाय	'सनाद्यन्ता धातवः' से 'आय' अन्त वाला होने से 'गोपाय' धातु संज्ञक है, अतः 'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' आया
गोपाय लिट्	'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' से 'आय' प्रत्ययान्त से 'लिट्' परे रहते 'आम्' प्रत्यय हुआ, 'अतो लोपः' से आर्धधातुक 'आम्' परे रहते 'गोपाय' के 'अ' का लोप हुआ
गोपाय् आम् लिट्	'आमः' से 'आम्' से उत्तर 'लिट्' का लुक् हुआ
गोपाय् आम्	'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' से आमन्त से लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग हुआ
गोपाय् आम् कृ लिट्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
गोपाय् आम् कृ तिप्	'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' हुआ
गोपाय् आम् कृ णल्	अनुबन्ध-लोप, 'अचो ञ्णिति' से 'ऋ' को वृद्धि प्राप्त थी, जिसका 'द्विर्वचनेऽचि' से द्विर्वचननिमित्तक अजादि प्रत्यय परे रहते द्विर्वचन करने के विषय में निषेध होने पर 'लिटि धातोरन०' से 'कृ' को द्वित्व हुआ
गोपाय् आम् कृ कृ अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा ,'उरत्' से अभ्यास में 'ऋ' के स्थान में ह्रस्व अकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
गोपायाम् कर् कृ अ	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि हल् 'क्' शेष, 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में कवर्ग को चवर्गादेश हुआ
गोपायाम् च कृ अ	'अचो ञ्णिति' से वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' को 'आर्' हुआ
गोपायाम् च कार् अ	'मोनुस्वारः' से पदान्त 'म्' को अनुस्वार हुआ
गोपायां चकार	'वा पदान्तस्य' से अनुस्वार को पदान्त में विकल्प से परसवर्ण आदेश होकर
गोपायाञ्चकार	रूप सिद्ध होता है।

४७४. द्विर्वचनेऽचि १।१।५९

द्वित्वनिमित्तेऽचि अच आदेशो न द्वित्वे कर्त्तव्ये। गोपायाञ्चक्रतुः। गोपायाञ्चक्रुः।

प०वि०–द्विर्वचने ७।१।। अचि ७।१।। **अनु०**–आदेशः, अचः, न।

अर्थः–द्विर्वचन का निमित्त अजादि प्रत्यय परे रहते 'अच्' के स्थान में आदेश नहीं होता, द्विर्वचन करने के विषय में।

गोपायाञ्चक्रतुः	पूर्ववत् 'गुप्' धातु से 'गुपूधूपवि०' से 'आय' प्रत्यय होने पर 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'लिट्', 'कास्प्रत्ययाद्०' से लिट् परे रहते 'आम्', 'अतो लोपः' से आर्धधातुक 'आम्' परे रहते 'गोपाय' के 'अ' का लोप, 'आमः' से 'लिट्' का लुक् तथा 'कृञ्चानु०' से लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग हुआ
गोपाय् आम् कृ लिट्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, प्र०पु०,द्वि व० में 'तस्' अपने पर 'परस्मैपदानां०' से 'तस्' की 'अतुस्' आदेश हुआ
गोपायाम् कृ अतुस्	यहाँ 'इको यणचि' से यणादेश प्राप्त था, जिसका 'द्विर्वचनेऽचि' से निषेध, 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' से ऋकार को ह्रस्व अकार, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में 'क्' को 'च्' आदेश हुआ
गोपायाम् च् अ कृ अतुस्	'इको यणचि' से यणादेश, 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व एवं 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ के स्थान में विसर्ग हुआ
गोपायाम् चक्रतुः	'मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्ण 'ञ्' आदेश होकर
गोपायाञ्चक्रतुः	रूप सिद्ध होता है।

गोपायाञ्चक्रुः–लिट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' के स्थान में 'उस्' आदेश होकर सिद्धि-प्रक्रिया 'गोपायाञ्चक्रतुः' के समान जानें।

४७५. एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७।२।१०

उपदेशे यो धातुरेकाजनुदात्तश्च तत आर्धधातुकस्येण् न।

"ऊद्-ॠदन्तैर्यौति-रु-क्ष्णु-शी-स्नु-नु-क्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभिः।
वृङ्-वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः।।"

कान्तेषु शक्लेकः। चान्तेषु पच्, मुच्, रिच्-वच्-विच्-सिचः षट्। छान्तेषु प्रच्छ्येकः। जान्तेषु त्यज्-निजिर्-भज्-भञ्ज्-भुज्-भ्रस्ज्-मस्ज्-यज्-युज्-रुज्-रञ्ज्-विजिर्-स्वञ्ज्-सञ्ज् सृजः पञ्चदश। दान्तेषु अद्-क्षुद्-खिद्-छिद्-तुद्-नुद्-पद्य-भिद्यति-विनद्-विन्द्-शद्-सद्- स्विद्य-स्कन्द्-हदः षोडश। धान्तेषु क्रुध, क्षुध्-बुध्-बन्ध्-युध्-रुध्-राध्-व्यध्-शुध्-साध्- सिध्या एकादश। नान्तेषु मन्यहनौ द्वौ। पान्तेषु-आप्-क्षुप्-क्षिप्-तप्-तिप्-तृप्य-दृप्य-लिप्- लुप्-वप्-शप्-स्वप्-सृपस्त्रयोदश। भान्तेषु यभ्-रभ्-लभस्त्रयः। मान्तेषु गम्-नम्-यम्- रमश्चत्वारः। शान्तेषु

क्रुश्-दंश्-दिश्- दृश्-मृश्-रिश्-रुश्-लिश्-विश्-स्पृशो दश। षान्तेषु कृष्-त्विष्-तुष्- द्विष्-दुष्-पुष्य-पिष्-विष्-शिष्-शुष्-श्लिष एकादश। सान्तेषु घस्-वसती द्वौ। हान्तेषु दह्-दिह्-दुह्-नह्-मिह्-रुह्-लिह्-वहोऽष्टौ। अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम्। (१०३)॥

गोपायाञ्चकर्थ, गोपायाञ्चक्रथुः, गोपायाञ्चक्र। गोपायाञ्चकार। गोपायाञ्चकर। गोपायाञ्चकृव, गोपायाञ्चकृम। गोपायाम्बभूव। गोपायामास। जुगोप, जुगुपतुः, जुगुपुः।

प०वि०—एकाचः ५।१॥ उपदेशे ७।१॥ अनुदात्तात् ५।१॥ **अनु०**—धातोः, नेट्।

अर्थ :—उपदेश में जो धातु एकाच् और अनुदात्त उससे उत्तर आर्धधातुक को 'इट्' आगम नहीं होता।

लघुसिद्धान्तकौमुदीकार ने एकाच् अनुदात्त धातुओं की गणना 'ऊद् ॠदन्तै०' इत्यादि से प्रारम्भ करके 'धातवस्त्र्यधिकं शतम्' के द्वारा की है, जिनका अर्थ निर्देशपूर्वक परिगणन इस प्रकार है–

अजन्त धातुएं–ऊकारान्त, ॠकारान्त और निम्नलिखित बारह धातुओं को छोड़कर शेष एकाच् अजन्त धातुएं अनुदात्त हैं–

१. यु (मिलना, अलग करना), २. रु (शब्द करना), ३. क्ष्णु (तेज करना), ४. शीङ् (सोना), ५. स्नु (चूना), ६. नु (स्तुति करना), ७. क्षु (शब्द करना), ८. श्वि (जाना, बढ़ना), ९. डीङ् (उड़ना), १०. श्रिञ् (सेवा करना), ११. वृङ् (सेवा करना) और १२. वृञ् (स्वीकार करना)।

हलन्त धातुएं–निम्नलिखित एकाच् हलन्त धातुएं अनुदात्त हैं–

ककारान्त–१. शक्लृ (समर्थ होना)।

चकारान्त–१. पच् (पकाना), २. मुच् (छोड़ना), ३. रिच् (विरेचन), ४. वच् (बोलना), ५. विच् (अलग होना) और ६. सिच् (क्षरण, सींचना)।

छकारान्त–१. प्रच्छ् (पूछना)।

जकारान्त–१. त्यज् (त्यागना), २. निजिर् (शुद्ध करना, बढ़ाना), ३. भज् (सेवा करना), ४. भञ्ज् (तोड़ना), ५. भुज् (पालन करना, खाना), ६. भ्रस्ज् (भूनना), ७. मस्ज् (शुद्ध करना, डुबकी लगाना), ८. यज् (यज्ञ करना), ९. युज् (जोड़ना), १०. रुज् (तोड़ना, रुग्ण करना), ११. रञ्ज् (रोग, रंगना), १२. विजिर् (अलग होना), १३. स्वञ्ज् (आलिङ्गन करना, गले मिलना), १४. सञ्ज् (मिलना) और १५. सृज् (छोड़ना)।

दकारान्त–१. अद् (खाना), २. क्षुद् (पीसना), ३. खिद् (दुःखी होना, खेद करना), ४. छिद् (टुकड़े करना), ५. तुद् (पीड़ा पहुँचाना), ६. नुद् (प्रेरित करना), ७. पद् (जाना), ८. भिद् (तोड़ना), ९. विद् (होना), १०. विन्द् (विचार करना), ११. विन्द् (प्राप्त करना), १२. शद् (नष्ट होना), १३. सद् (जाना आदि), १४. स्विद्य् (पसीना आना), १५. स्कन्द् (जाना, सुखाना) और १६. हद् (मल त्यागना)।

धकारान्त—१. क्रुध् (क्रोध करना), २. क्षुध् (भूख लगना), ३. बुध् (जानना), ४. बन्ध् (बांधना), ५. युध् (युद्ध करना), ६. रुध् (रोकना) ७. राध् (सिद्ध करना), ८. व्यध् (वेधना, मारना), ९. शुध् (शुद्ध होना), १०. साध् (सिद्ध करना) और ११. सिध् (सिद्ध होना)।

नकारान्त—१. मन् (मानना, जानना) और २. हन् (मारना, जाना)।

पकारान्त—१. आप् (प्राप्त करना), २. क्षुप् (स्पर्श करना), ३. क्षिप् (फेंकना), ४. तप् (तपस्या करना), ५. तिप् (टपकना), ६. तृप् (प्रसन्न करना या प्रसन्न होना), ७. दृप् (घमण्ड करना), ८. लिप् (लीपना), ९. लुप् (काटना, लोप करना), १०. वप् (बोना), ११. शप् (शाप देना), १२. स्वप् (सोना) और १३. सृप् (रेंगकर चलना, सरकना)।

भकारान्त—१. यभ् (मैथुन करना), २. रभ् (आरम्भ करना) और ३. लभ् (प्राप्त करना)।

मकारान्त—१. गम् (जाना), २. नम् (झुकना, अभिवादन करना), ३. यम् (शांत होना) और ४. रम् (रमण करना, खेलना)।

शकरान्त—१. क्रुश् (जोर से रोना), २. दंश् (काटना), ३. दिश् (दान करना), ४. दृश् (देखना), ५. मृश् (स्पर्श करना, मालूम करना), ६. रिश् (हिंसा करना), ७. रुश् (हिंसा करना), ८. लिश् (कम होना, घटना), ९. विश् (प्रवेश करना) और १०. स्पृश् (छूना)।

षकारान्त—१. कृष् (हल जोतना), २. त्विष् (चमकना), ३. तुष् (तृप्त होना), ४. द्विष् (द्वेष करना), ५. दुष् (दूषित होना), ६. पुष् (पुष्ट होना), ७. पिष् (पीसना), ८. विष् (सींचना), ९. शिष् (शेष रहना), १०. शुष् (सूखना) और ११. श्लिष् (आलिङ्गन करना, गले मिलना)।

सकारान्त—१. घस् (खाना, चरना) और २. वस् (रहना)।

हकारान्त—१. दह् (जलाना), २. दिह् (बढ़ना, वृद्धि होना), ३. दुह् (दुहना), ४. नह् (बांधना), ५. मिह् (सींचना), ६. रुह् (उत्पन्न होना, उगना), ७. लिह् (चाटना) और ८. वह् (ढोना, ले जाना)।

गोपायाञ्चकर्थ— पूर्ववत् 'गोपाय' धातु बनने पर लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' के स्थान पर 'परस्मैपदानां णलतुस्०' से जो 'थल्' आदेश वह वलादि आर्धधातुक है, अतः 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम प्राप्त हुआ, जिसका 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से निषेध होने पर द्वित्वादि सभी कार्य 'गोपायाञ्चक्रतुः' के समान होकर 'गोपायाम्+चकृथ' बनने पर 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'गोपायाञ्चकर्थ' सिद्ध होता है।

गोपायाञ्चक्रथुः, गोपायाञ्चक्र—'गोपाय' धातु बनने पर 'लिट्', म० पु०, द्वि व० और बहु व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'गोपायाञ्चक्रतुः' के समान जानें।

गोपायाञ्चकार–'गोपाय' धातु बनने पर लिट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' को 'णल्' आदेश होने पर सिद्धि पूर्ववत् जानें।

गोपायाञ्चकर–'णलुत्तमो वा' से उत्तम पुरुष में 'णल्' के णित् अभाव पक्ष में 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि न होने पर 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण होकर 'गोपायाञ्चकर' रूप सिद्ध होता है।

गोपायाञ्चकृव और गोपायाञ्चकृम–'गोपाय' धातु से लिट्, उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'वस्' और 'मस्' को 'परस्मैपदानां०' से 'व' और 'म' आदेश होने पर वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इडागम प्राप्त हुआ, जिसका 'एकाच उपदेशे०' से निषेध होने पर पूर्ववत् द्वित्वादि कार्य होकर 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'व' और 'म' के कित् होने के कारण 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

गोपायाम्बभूव–पूर्ववत् 'गोपायाम्+लिट्' इस स्थिति में 'आमः' से 'लिट्' का लुक् तथा 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' से लिट्परक 'भू' का अनुप्रयोग हुआ, पुनः तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्', 'तिप्' के स्थान में 'णल्', द्वित्व तथा अभ्यास कार्य 'बभूव' (३९९) के समान होने पर 'मोऽनुस्वारः' से 'म्' को अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्णादेश होकर 'गोपायाम्बभूव' रूप सिद्ध होता है।

गोपायामास–'गोपायाम्+लिट्' इस स्थिति में 'आमः' से 'लिट्' का लुक्, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' से लिट्परक 'अस्' का अनुप्रयोग, तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' तथा 'लिटि धातोरन०' द्वित्व होकर 'गोपायाम्+अस्+अस्+अ' इस स्थिति में अभ्यास–कार्य 'हलादिः शेषः' से अभ्यास में सकार–लोप, 'अत आदेः' से लिट् परे रहते अभ्यास के आदि ह्रस्व अकार को दीर्घ और 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश होकर 'आत' (४४३) के समान 'आस' बनकर 'गोपायामास' रूप सिद्ध होता है।

जुगोप

गुप्	'भूवादयो धातवः' से धातु 'संज्ञा', 'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' परोक्ष भूत अर्थ में होगा। 'लिट् च' से 'लिट्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने से 'आयादय आर्धधातुके वा' से आर्धधातुक के विषय में' आय' आदि प्रत्यय विकल्प से होते हैं। इसलिए वैकल्पिक 'आय' प्रत्यय के अभाव पक्ष में 'गुप्' धातु से 'लिट्' हुआ
गुप् लिट्	पूर्ववत् अनुबन्ध–लोप, तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' हुआ
गुप् णल्	अनुबन्ध–लोप, 'लिटि धातो०' से 'लिट्' परे रहते 'गुप्' को द्वित्व हुआ
गुप् गुप् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास संज्ञा', 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'कुहोश्चुः' से 'ग्' को 'ज्' आदेश हुआ

जुगुप् अ	'पुगन्तलघूपधस्य च' से 'उ' को गुण 'ओ' होकर
जुगोप	रूप सिद्ध होता है।

जुगुपतुः और **जुगुपुः** में 'आयादय आर्धधातुके वा' से वैकल्पिक 'आय' न होने पर 'लिट्' के स्थान में 'तस्' और 'झि' को 'परस्मैपदानां०' से 'अतुस्' और 'उस्' आदेश होकर 'जुगोप' के समान द्वित्वादि कार्य होने पर सकार को रुत्व और विसर्ग होकर 'जुगुपतुः' और 'जुगुपुः' सिद्ध होते हैं। यहाँ 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'अतुस्' और 'उस्' कित् होते हैं, अतः 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण नहीं होता।

४७६. स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा ७।२।४४

स्वरत्यादेरूदितश्च परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड् वा। जुगोपिथ, जुगोप्थ। गोपायिता, गोपिता, गोप्ता। गोपायिष्यति, गोपिष्यति, गोप्स्यति। गोपायतु। अगोपायत्। गोपायेत्। गोपाय्यात्, गुप्यात्। अगोपयीत्।

प०वि०–स्वरतिसूति....दितः ५।१।। वा अ०।। **अनु०**–आर्धधातुकस्येड् वलादेः। **अर्थः**–स्वरति (**स्वृ**-शब्दोपतापयोः), सूति (**षूङ्**-प्राणिगर्भविमोचने), सूयति (**षूङ्**-प्राणिप्रसवे), **धूञ्** (कम्पने) तथा **ऊदित्** धातुओं से उत्तर वलादि आर्धधातुक को विकल्प से **'इट्'** आगम होता है।

जुगोपिथ, जुगोप्थ–'गुपू' ऊदित् धातु से 'लिट्', 'लिट्' के स्थान में म०पु०, एक व० में 'सिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'सिप्' को 'थल्', पूर्ववत् 'लिटि धातोरन०' से द्वित्त्व, अभ्यास-कार्य, 'हलादिः शेषः' होकर 'गु+गुप्+थ' यहाँ 'कुहोश्चुः' से चवर्गादेश तथा 'ऊदित्' होने से 'स्वरतिसूतिसूयति०' से वलादि आर्धधातुक 'थल्' को विकल्प से इडागम होकर 'जुगोपिथ' तथा इडभाव पक्ष में 'जुगोप्थ' रूप सिद्ध होते है।

गोपायिता	'गुप्' धातु से पूर्ववत् 'गोपाय' बनने पर 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'अनद्यतने लुट्' से 'लुट्', तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्' आया
गोपाय तिप्	'स्यतासी लृलुटोः' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्,' आगम, 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' के स्थान में 'डा' आदेश हुआ
गोपाय इट् तास् डा	अनुबन्ध-लोप, 'अतो लोपः' से 'गोपाय' के अकार का लोप तथा 'डित्' सामर्थ्य से 'तास्' के टिभाग 'आस्' का लोप होने पर
गोपायिता	रूप सिद्ध होता हैं।

गोपिता–'आयादय आर्धधातुके वा' से आर्धधातुक के विषय में 'आय' न होने पर 'गुप्' धातु से 'लुट्', 'तिप्', 'तिप्' के स्थान में 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'गुप्' धातु ऊदित् होने के कारण 'स्वरतिसूतिसूयति०' से 'तास्' को विकल्प से इडागम तथा डित्सामर्थ्य से 'टि' का लोपादि कार्य पूर्ववत् होकर 'गोपिता' रूप सिद्ध होता है।

इट्-अभाव पक्ष में **'गोप्ता'** रूप सिद्ध होता है।

गोपायिष्यति–'गुप्' धातु से 'गुपूधूपविच्छि०' से 'आय' प्रत्यय होकर 'गोपाय' बनने पर 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा, 'लृट्', तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्', 'स्यतासी०' से लृट् परे रहते 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'अतो लोपः' से अकार-लोप तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्यादेश होकर 'गोपायिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

गोपिस्यति– आयाभाव पक्ष में 'गुप्' धातु से पूर्ववत् 'लृट्', 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य' होने पर ऊदित् होने के कारण 'स्वरतिसूतिसूयति०' से विकल्प से इडागम तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य 'ष्' होकर 'गोपिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

गोप्स्यति– इडभाव पक्ष में-'इण्' से उत्तर प्रत्यय का सकार नहीं मिलता इसीलिए मूर्धन्यादेश न होकर 'गोप्स्यति' रूप सिद्ध होता है।

गोपायतु–'गोपाय+लोट्' पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'एरुः' से इकार को उकार होकर 'गोपायतु' रूप सिद्ध होता है।

अगोपायत्– 'गोपाय+लङ्', 'तिप्', 'शप्', 'तिप्' के इकार का 'इतश्च' से लोप, 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर 'अगोपायत्' रूप सिद्ध होता है।

गोपायेत्–'गोपाय' धातु बनने पर 'विधिनिमन्त्रणा०' से 'लिङ्', 'तिप्', 'इतश्च' से इकार-लोप, 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से 'यासुट्' और 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' होने पर 'गोपाय+अ+यास्+स्+त्' यहाँ 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'अतो येयः' से 'यास्' को 'इय्', 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से सकार-लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप और 'आद् गुणः' से गुण होकर 'गोपायेत्' रूप सिद्ध होता है।

गोपाय्यात्–'गोपाय' धातु से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्' की 'लिङाशिषि' से आर्धधातुक संज्ञा होने से विकल्प से 'आय' होता है। 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', 'तिप्', 'इतश्च' से इकार का लोप, 'यासुट् परस्मै०' से यासुडागम तथा 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' होने पर 'गोपाय+यास्+स्+त्' यहाँ आर्धधातुक का अवयव होने के कारण 'यास्' को 'इय्' नहीं होता। 'अतो लोपः' से अकार का लोप तथा 'स्कोः संयोगाद्यो०' से दोनों सकारों का लोप होकर 'गोपाय्यात्' रूप सिद्ध होता है।

गुप्यात्–'आय' अभाव पक्ष में 'गुप्' धातु से पूर्ववत् 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', पूर्ववत् 'यासुट्', 'सुट्', 'स्कोः संयोगाद्योः०' से सकारों का लोप आदि कार्य होकर 'किदाशिषि' से 'आशीर्लिङ्' कित् होने के कारण लघूपध गुण का 'क्ङिति च' से निषेध होकर 'गुप्यात्' रूप सिद्ध होता है।

अगोपायीत्–आर्धधातुक 'सिच्' के विषय में 'गुपूधूपविच्छि०' से विकल्प से 'आय' होकर 'गोपाय' धातु बनता है। 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा, 'लुङ्', 'तिप्',

'इतश्च' से इकार-लोप, 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्', 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'ईट्', 'इट ईटि' से सकार-लोप, 'अतो लोपः' से अकार-लोप और 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घत्व होकर 'अगोपायीत्' रूप सिद्ध होता है।

४७७. नेटि ७।२।४

इडादौ सिचि हलन्तस्य वृद्धिर्न। अगोपीत्। अगौप्सीत्।

प० वि०—न अ०।। इटि ७।१।। **अनु०**—सिचि, वृद्धिः, परस्मैपदेषु, हलन्तस्य, अङ्गस्य।

अर्थः—परस्मैपद परे है जिससे, ऐसा इडादि 'सिच्' परे रहते हलन्त अङ्ग को वृद्धि नहीं होती।

अगोपीत्

गुप्	आयाभाव पक्ष में 'लुङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
गुप् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप और 'च्लि लुङि' से लुङ् परे रहते 'च्लि' प्रत्यय हुआ
गुप् च्लि त्	'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश हुआ
गुप् सिच् त्	अनुबन्ध-लोप 'स्वरतिसूतिसूयति०' से ऊदित् धातु 'गुप्' से विकल्प से इडागम और 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'त्' को 'ईट्' आगम हुआ, अनुबन्ध-लोप
गुप् इ स् ई त्	'वदव्रजहलन्तस्याचः' से हलन्त अङ्ग के अच् को वृद्धि प्राप्त थी, जिसका इडादि सिच् परे होने पर 'नेटि' से निषेध हो गया। 'पुगन्तलघूपधस्य०' से लघूपध अङ्ग के 'इक्' को गुण हुआ
गोप् इ स् ई त्	'इट ईटि' से सकार-लोप, 'अकः सवर्णे०' से सवर्णदीर्घ तथा अडागम होकर
अगोपीत्	रूप सिद्ध होता है।

अगौप्सीत्— 'गुप्+स्+ई+त्' यहाँ 'स्वरतिसूतिसूयति०' से वैकल्पिक इडागम न होने पर पर 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से परस्मैपदपरक 'सिच्' परे रहते हलन्त अङ्ग के 'अच्' को वृद्धि तथा अडागम होकर 'अगौप्सीत्' रूप सिद्ध होता है।

४७८. झलो झलि ८।२।२६

झलः परस्य सस्य लोपो झलि। अगौप्ताम्, अगौप्सुः। अगौप्सीः, अगौप्तम्, अगौप्त। अगौप्सम्, अगौप्स्व, अगौप्स्म। अगोपायिष्यत्, अगोपिष्यत्, अगौप्स्यत्। क्षि क्षये ।१३। क्षयति। चिक्षाय, चिक्षियतुः, चिक्षियुः। 'एकाच०'-इति निषेधे प्राप्ते—

प०वि०—झलः ५।१।। झलि ७।१।। **अनु०**—सस्य, लोपः।

अर्थः—'झल्' से उत्तर सकार का लोप होता है 'झल्' परे रहते।

अगौप्ताम्

गुप्	लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' आया
गुप् तस्	'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' आदेश, 'च्लि लुङि' से 'च्लि' तथा 'च्लेः सिच्' से 'सिच्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
गुप् स् ताम्	'स्वरतिसूतिसूयति०' से वैकल्पिक 'इट्' न होने पर 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से 'अच्' को वृद्धि, 'झलो झलि' से 'झल्' (प्) से उत्तर सकार का लोप हुआ 'झल्' (त्) परे रहते तथा अडागम होकर
अगौप्ताम्	रूप सिद्ध होता है।

अगौप्सुः–'गुप्+स् (सिच्)झि' यहाँ 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से 'सिच्' से उत्तर 'झि' को 'जुस्' होकर पूर्ववत् वृद्धि, अडागम, सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'अगौप्सुः' रूप सिद्ध होता है।

अगौप्सीः में 'सिप्' के सकार को रुत्व एवं विसर्ग होता है। शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'अगौप्सीत्' के समान जानें।

अगौप्तम् और **अगौप्त** में 'तस्थस्थमिपां०' से 'थस्' और 'थ' के स्थान पर क्रमशः 'तम्' और 'त' आदेश हाने पर शेष कार्य 'अगौप्ताम्' के समान जानें।

अगौप्सम्, अगौप्स्व, अगौप्स्म में क्रमशः 'मिप्' को अमादेश तथा 'वस्' और 'मस्' के सकार का 'नित्यं ङितः' से लोप होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

अगोपायिष्यत्–पूर्ववत् 'गोपाय्' बनने पर 'लिङ्निमित्ते लृङ्०' से 'लृङ्', तिबाद्युत्पत्ति, 'तिप्', 'इतश्च' से इकार का लोप तथा शेष सम्पूर्ण सिद्धि कार्य 'गोपायिष्यति' के समान होने पर 'अट्' आगम होकर 'अगोपायिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

अगोपिष्यत्, अगोप्स्यत्–'गुप्', आर्धधातुक के विषय में वैकल्पिक 'आय' न होने पर 'लृङ्', 'तिप्', 'स्य', 'स्वरतिसूतिसूयति०' से वैकल्पिक इडागम, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण, 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्यादेश, 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर 'अगोपिष्यत्' तथा इडभाव में 'अगोप्स्यत्' रूप सिद्ध होता है।

क्षयति–'क्षि', लट्, प्र० पु०, एक व० में तिप्', शप्, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण और अयादेश होकर 'क्षयति' रूप सिद्ध होता है।

चिक्षाय

क्षि	लिट्, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान में णलादेश हुआ
क्षि णल्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से 'लिट्' परे रहते 'क्षि' को द्वित्व हुआ

क्षि क्षि अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि हल् 'क्' शेष रहा
कि क्षि अ	'कुहोश्चुः' से 'क्' को 'च्' और 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि हुई
चि क्षै अ	'एचोयवायावः' से 'ऐ' को 'आय्' आदेश होकर
चिक्षाय	रूप सिद्ध होता है

चिक्षियतुः—'क्षि', लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'चिक्षाय' के समान द्वित्व, अभ्यास-कार्य, कुत्व, 'हलादिः शेषः' आदि होकर 'चि+क्षि+अतुस्' इस स्थिति में 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'अतुस्' के कित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होने पर 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से इवर्णान्त अङ्ग को 'अच्' परे रहते इयङादेश होने पर सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर 'चिक्षियतुः' रूप सिद्ध होता है।

चिक्षियुः—में 'झि' के स्थान में 'उस्' होने पर सभी कार्य 'चिक्षियतुः' के समान जानें।

४७९. कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवो लिटि ७।२।१३

क्रादिभ्य एव लिट इण् न स्याद्, अन्यस्मादनिटोऽपि स्यात्।

प०वि०—कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवः ५।१।। लिटि ७।१।। **अनु०**—न, इट्।

अर्थः—**कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु** और **श्रु** धातुओं से परे ही लिट् को इडागम नहीं होता, अन्य अनिट् धातुओं से उत्तर भी लिट् को इडागम होता है।

विशेषः—सूत्र में पठित 'कृ', 'सृ' और 'भृ' धातुओं को 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से और 'वृ' को 'श्र्युकः किति' से इडागम का पहले से ही निषेध प्राप्त था, पुनः 'लिट्' में 'इट्' का निषेध करके आचार्य यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि 'लिट्' को इडागम का निषेध सूत्र में पठित कृ, सृ, भृ, वृ, धातुओं से ही होता है अन्य से नहीं। **स्तु, द्रु, स्रु** और **श्रु** धातुओं से उत्तर वलादि लिट् 'थल्' में ऋतो भारद्वाजस्य' से प्राप्त वैकल्पिक 'इट्' का भी प्रतिषेध हो जाए, इसके लिए सूत्र में इन धातुओं का ग्रहण किया गया है।

४८०. अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम् ७।२।६१

उपदेशेऽजन्तो यो धातुस्तासौ नित्यानिट्, ततः परस्य थल इण् न।

प०वि०—अचः ५।१।। तास्वत् अ०।। थलि ७।१।। अनिटः ५।१।। नित्यम् १।१। **अनु०**—उपदेशे, तासि, इट्, न।

अर्थः—उपदेश[1] में जो धातु अजन्त, 'तास्' में नित्य अनिट्, उसको 'तास्' के समान ही 'थल्' में भी 'इट्' आगम नहीं होता।

४८१. उपदेशेऽत्वतः ७।१।६२

उपदेशेऽकारवतस्तासौ नित्यानिटः परस्य थल इण् न स्यात्।

प०वि०—उपदेशे ७।१।। अत्वतः ५।१।। **अनु०**—तास्वत् थल्यनिटो नित्यम्, इट्, न।

अर्थः—उपदेश में जो ह्रस्व अकारवाली धातु, 'तास्' में नित्य अनिट्, उससे उत्तर 'थल्' को 'इट्' आगम नहीं होता।

---

१. सिंहावलोकन न्याय से 'उपदेशेऽत्वतः' सूत्र से 'उपदेशे' पद की अनुवृत्ति आती है।

४८२. ऋतो भारद्वाजस्य ७।२।६३

तासौ नित्यानिट ऋदन्तादेव थलो नेड्, भारद्वाजस्य मते। तेन अन्यस्य स्यादेव। अयमत्र संग्रहः—

अजन्तोऽकारवान् वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम्।

ऋदन्त ईदृङ् नित्यानिट्, क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत्।।

चिक्षयिथ, चिक्षेथ। चिक्षियथुः। चिक्षिय। चिक्षाय, चिक्षय। चिक्षियिव। चिक्षियिम। क्षेता। क्षेष्यति। क्षयतु। अक्षयत्। क्षयेत्।

प०वि०—ऋतः ५।१।। भारद्वाजस्य ६।१।। **अनु०**—इट्, न, तासि, थलि, नित्यम्, अनिटः, धातोः।

अर्थ—भारद्वाज के मत में जो ह्रस्व ऋकारान्त धातु 'तास्' प्रत्यय परे रहते नित्य अनिट् हो उससे उत्तर 'थल्' को 'इट्' आगम नहीं होता। ऋकारान्त से भिन्न अन्य अजन्त तथा हलन्त धातुओं से उत्तर तो 'थल्' को भारद्वाज' के मत में अर्थात् विकल्प से इडागम हो ही जाता है।

जो धातु अजन्त या अकारवान् हो तथा 'तास्' परे रहते अनिट् हो तो 'थल्' में विकल्प से 'इट्' आगम होता है। यदि धातु ऋकारान्त हो और 'तास्' में नित्य अनिट् हो तो उससे परे 'थल्' को नित्य ही 'इट्' आगम नहीं होता।

चिक्षयिथ

क्षि	'लिट्', म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'सिप्' के स्थान में 'थल्' आदेश हुआ
क्षि थल्	'लिट् च' से 'थल्' आर्धधातुक है अतः क्रादिनियम 'कृसृभृवृस्तुद्रुस्रु०' सूत्र से इडागम प्राप्त हुआ, 'अचस्तास्वत्०' से उपदेश में जो अजन्त धातु, 'तास्' में नित्य अनिट् होने से 'थल्' परे रहते भी 'तास्' के समान अनिट् रहती है अर्थात् उससे उत्तर 'थल्' को इडागम का निषेध होने लगा तब, 'ऋतो भारद्वाजस्य' से 'तास्' में नित्य अनिट् ऋकारान्त धातुओं से परे ही 'थल्' को इडागम नहीं होता, अन्य धातुओं को तो हो ही जाता है, इस प्रकार भारद्वाज नियम से विकल्प से 'इट्' आगम हुआ
क्षि इ थ	'लिटि धातो०' से 'क्षि' को द्वित्त्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से अभ्यास संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि हल् शेष तथा 'कुहोश्चुः' से 'क्' को 'च्' हुआ
चि क्षि इ थ	'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'इ' को गुण 'ए' तथा 'एचोऽयवा०' से 'ए' को अयादेश होकर
चिक्षयिथ	रूप सिद्ध होता है।

इडभाव पक्ष में **'चिक्षेथ'** रूप ही रहेगा।

चिक्षियिथु:, चिक्षिय–'क्षि' धातु से लिट्, म० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'चिक्षियथु:' तथा 'चिक्षिय' की सिद्धि-प्रक्रिया 'चिक्षियतु:' के समान जानें।

चिक्षाय और चिक्षय–उ० पु० में 'मिप्' के स्थान पर 'परस्मैपदानां०' से 'णल्', 'णलुत्तमो वा' से विकल्प से णित् होने पर 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि होकर आयादेश तथा णिदभाव पक्ष में 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा अयादेश होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

चिक्षियिव, चिक्षियिम–'क्षि', लिट्, उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में क्रादि-नियम से 'व' और 'म' को इडागम, द्वित्व, अभ्यास कार्य, 'अचि श्नुधातु०' से इकार को इयङादेश आदि पूर्ववत् होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

क्षेता

क्षि	लुट्, तिबाद्युत्पत्ति, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्' आया
क्षि तिप्	'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' तथा 'स्यतासी०' से 'तास्' प्रत्यय हुआ
क्षि तास् डा	अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम की प्राप्ति, जिसका 'एकाच उपदेशेऽनु०' से निषेध हो गया। 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'स्थानेऽन्तर०' से 'ई' को 'ए' हुआ
क्षे तास् आ	डित्करण सामर्थ्य से टि भाग 'आस्' का लोप होकर
क्षेता	रूप सिद्ध होता है।

क्षेष्यति–'क्षि, 'लृट्', 'तिप्' तथा 'स्यतासी०' से 'स्य' होने पर 'क्षि+स्य+ति' यहाँ 'एकाच उपदेशेऽनु०' से 'इट्' का निषेध तथा 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'आदेशप्रत्यययो:' से सकार को मूर्धन्यादेश होकर 'क्षेष्यति' रूप सिद्ध होता है।

'क्षयतु' की सिद्धि-प्रक्रिया 'भवतु' के समान, 'अक्षयत्' की सिद्धि-प्रक्रिया 'अभवत्' और **'क्षयेत्'** की सिद्धि-प्रक्रिया 'भवेत्' के समान जानें।

४८३. अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७।४।२५

अजन्ताङ्गस्य दीर्घो यादौ प्रत्यये, न तु कृत्सार्वधातुकयो:। क्षीयात्।

प०वि०–अकृत्सार्वधातुकयो: ७।२।। दीर्घः १।१।। **अनु०**–यि, क्ङिति, अङ्गस्य।

अर्थः–**कृत्** और **सार्वधातुक** से भिन्न यकरादि प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है।

क्षीयात्

क्षि	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्' आया

क्षि लिङ्	तिबाद्युत्पत्ति, 'तिप्', 'यासुट् परस्मैपदेषु०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
क्षि यास् स् त्	'किदाशिषि' से 'यासुट्' के कित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध, 'लिङाशिषि' से 'लिङ्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने पर 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' से कृत् और सार्वधातुक से भिन्न यकारादि प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ हुआ
क्षी यास् स् त्	'स्कोः संयोगाद्यो०' से पदान्त में संयोगादि सकारों का लोप होकर
क्षीयात्	रूप सिद्ध होता है।

४८४. सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ७।२।१

इगन्तस्याङ्गस्य वृद्धिः स्यात् परस्मैपदे सिचि। अक्षैषीत्, अक्षेष्यत्। तप सन्तापे।१४। तपति। तताप, तेपतुः, तेपुः। तेपिथ, ततप्थ। तप्ता। तप्स्यति। तपतु। अतपत्। तपेत्। तप्यात्। अताप्सीत्, अताप्ताम्। अतप्स्यत्। क्रमु पादविक्षेपे। १५।

प०वि०—सिचि ७।१।। वृद्धिः १।१।। परस्मैपदेषु ७।१।। **अनु०**—अङ्गस्य।

अर्थः—परस्मैपदपरक **सिच्** परे रहते इगन्त अङ्ग को वृद्धि होती है।

अक्षैषीत्

क्षि	'लुङ्', तिबाद्युत्पत्ति, 'तिप्', अनुबन्ध-लोप और 'इतश्च' से इकार-लोप हुआ
क्षि त्	'च्लि लुङि' से 'च्लि' और 'च्लेः सिच्' से सिजादेश हुआ
क्षि सिच् त्	अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से अपृक्त 'त्' को 'ईट्' आगम तथा 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से परस्मैपदपरक 'सिच्' परे रहते इगन्त अङ्ग को वृद्धि हुई
क्षै स् ई त्	'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा अडागम होकर
अक्षैषीत्	रूप सिद्ध होता है।

'तप्' सन्तापे धातु से **तपति, तताप, तेपतुः, तेपुः, तेपिथ** और **ततप्थ** आदि सभी रूप 'नदति', 'ननाद', 'नेदतुः', 'नेदुः', 'नेदिथ' आदि (४५९, ४६०, ४६१) के समान जानें।

तेपिथ—'तप्' धातु से 'लिट्' लकार में 'सिप्' के स्थान पर 'थल्' होने पर क्रादि नियम ('कृसृभृवृस्तुद्रु०') से नित्य 'इट्' आगम प्राप्त था, 'उपदेशेऽत्वतः' से 'तप्' धातु के 'तास्' में नित्य अनिट् तथा अकारवान् होने से 'थल्' में भी 'इट्' आगम का निषेध होने लगा। जिसे पुनः बाधकर 'ऋतो भारद्वाजस्य' से भारद्वाज नियम से विकल्प से 'इट्' आगम होने पर 'थलि च सेटि' से सेट् 'थल्' परे रहते एत्व तथा अभ्यास-लोप आदि होकर **'तेपिथ'** रूप सिद्ध होता है।

तप्ता– 'तप्' धातु से 'अनद्यतने लुट्' से 'लुट्', 'स्यतासी०' से 'तास्' प्रत्यय, तिबाद्युत्पत्ति प्र०पु०, एक व० में 'तिप्' आने पर 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' के स्थान पर 'डा' आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'तास्' को इडागम प्राप्त हुआ, जिसका 'एकाच उपदेशे०' से निषेध हो गया। डित् परे रहते डित्करण सामर्थ्य से 'तास्' के टि भाग 'आस्' का लोप होकर 'तप्ता' रूप सिद्ध होता है।

तप्स्यति–'तप्' धातु से 'लृट् शेषे च' से 'लृट्', प्र०पु०, एक व० में 'तिप्' और 'स्यतासी०' से 'स्य' होने पर 'एकाच उपदेशे०' से इडागम का निषेध होकर 'तप्स्यति' सिद्ध होता है।

अताप्सीत्

तप्	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा और 'लुङ्' सूत्र में 'लुङ्' आया
तप् लुङ्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्, अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से ङित् सम्बन्धी इकार का लोप और 'च्लि लुङि' से 'च्लि' प्रत्यय आया
तप् च्लि त्	'च्लेःसिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' आदेश हुआ
तप् सिच् त्	अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'सिच्' से उत्तर अपृक्त संज्ञक 'त्' को 'ईट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
तप् स् ई त्	'वदव्रजहलन्तस्याचः' से परस्मैपदपरक 'सिच्' परे रहते हलन्त अङ्ग के 'अच्' को वृद्धि हुई
ताप्सीत्	'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से अडागम होकर
अताप्सीत्	रूप सिद्ध होता है।

४८५. वा भ्राश-भ्लाश-भ्रमु-क्रमु-क्लमु-त्रसि-त्रुटि-लषः ३।१।७०

एभ्यः श्यन् वा कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे। पक्षे-शप्।

प०वि०–वा अ०।। भ्राश-भ्लाश.......लषः ५।१।। **अनु०**–सार्वधातुके, कर्तरि, श्यन्।

अर्थः–कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते **'भ्राश्'** (चमकना), **'भ्लाश्'** (चमकना), **'भ्रम्'** (घूमना), **'क्रम्'** (चलना), **'क्लम्'** (खिन्न होना), **'त्रस्'** (भयभीत होना), **'त्रुट्'** (टूटना) तथा **'लष्'** (कामना करना) धातुओं से विकल्प से **'श्यन्'** प्रत्यय होता है।

जब 'श्यन्' न होगा तो सर्वत्र 'कर्तरि शप्' से 'शप्' होगा।

४८६. क्रमः परस्मैपदेषु ७।३।७६

क्रमो दीर्घः परस्मैपदे शिति। क्राम्यति, क्रामति। चक्राम। क्रमिता। क्रमिष्यति। क्राम्यतु, क्रामतु। अक्राम्यत्, अक्रामत्। क्राम्येत्, क्रामेत्। अक्रमीत्। अक्रमिष्यत्। पा पाने।१६।

प०वि०–क्रमः ६।१।। परस्मैपदेषु ७।३। **अनु०**–अङ्गस्य, दीर्घः, शिति।

अर्थः—परस्मैपद परे है जिससे ऐसा शित् प्रत्यय परे रहते '**क्रम्**' अङ्ग के 'अच्' को दीर्घ होता है।

क्राम्यति—'क्रम्' धातु से लट्, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमु०' से विकल्प से 'श्यन्' होने पर 'शित्' परे रहते 'क्रम्+य+ति' यहाँ 'क्रमः परस्मैपदेषु' से अकार को दीर्घ होकर 'क्राम्यति' रूप सिद्ध होता है।

क्रामति—श्यन्-अभाव पक्ष में 'कर्तरि शप्' से 'शप्' तथा 'क्रमः परस्मैपदेषु' से अकार को दीर्घ होकर 'क्रामति' रूप सिद्ध होता है।

चक्राम—'क्रम्' धातु से लिट्, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्' के स्थान पर 'परस्मैपदानां०' से 'णल्', द्वित्त्व तथा अभ्यासादि कार्य पूर्ववत् जानें।

क्रमिता तथा **क्रमिष्यति** की सिद्धि-प्रक्रिया 'भविता' और 'भविष्यति' के समान जानें।

क्राम्यतु, क्रामतु—क्रम्, लोट्, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', 'वा भ्राशभ्लाश०' से विकल्प से 'श्यन्' और 'शप्' होने पर 'क्रमः परस्मै०' से 'शित्' परे रहते दीर्घादि कार्य पूर्ववत् होने पर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

अक्राम्यत्, अक्रामत्—'क्रम्', लङ्, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', 'इतश्च' से इकार का लोप, 'वा भ्राशभ्लाश०' से विकल्प से 'श्यन्' और पक्ष में 'शप्', 'क्रमः परस्मैपदेषु' से दीर्घ तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

क्राम्येत्, क्रमेत्—'क्रम्', 'विधिनिमन्त्रणा०' से 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'वा भ्राशभ्लाश०' से विकल्प से 'श्यन्', 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', 'क्रमः परस्मैपदेषु' से शित् परे रहते 'क्रम्' के 'अ' को दीर्घ 'आ', 'अतो येयः से 'यास्' को 'इय्', 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप, 'आद् गुणः' से गुण और 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप होकर 'क्राम्येत्' और 'शप्' पक्ष में 'क्रामेत्' रूप सिद्ध होते हैं।

अक्रमीत्—'क्रम्', लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', सिच्', 'इट्' आगम होने पर 'अतो हलादेर्लघोः' से विकल्प से वृद्धि प्राप्त हुई, जिसका, 'ह्म्यन्तक्षण०' से मकारान्त को वृद्धि का निषेध और 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर 'अक्रमीत्' रूप सिद्ध होता है।

अक्रमिष्यत्—'क्रम्' से 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियाऽतिपत्तौ' से 'लृङ्', 'स्यतासी०' से 'स्य', लकार के स्थान में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से इडागम, 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षत्व तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर 'अक्रमिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

४८७. पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण-दृश्यर्ति-सर्ति-शद-सदां पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्च्छ-धौ-शीय-सीदाः ७।३।७८

पादीनां पिबादयः स्युरित्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे। पिबादेशोऽदन्तस्तेन न गुणः। पिबति।

प०वि०—पाघ्र....सदाम् ६।३।। पिब....सीदाः १।३।। **अनु०**—शिति।

अर्थः—शित् प्रत्यय परे रहते **'पा'** को **'पिब'**, **'घ्रा'** को **'जिघ्र'**, **'ध्मा'** को **'धम'**, **'स्था'** को **'तिष्ठ'**, **'म्ना'** को **'मन'**, **'दाण'** को **'यच्छ्'**, **'दृश्'** को **'पश्य'**, **'ऋ'** को **'ऋच्छ'**, **'सृ'** को **'धौ'**, **'शद्'** को **'शीय'** तथा **'सद्'** को **'सीद'** आदेश होते हैं।

'पा' को 'पिब' आदेश अकारान्त है, शेष सभी में अकार उच्चारणसौकर्य हेतु है। 'पिब' आदेश अकारान्त होने से 'पिबति' में लघूपध गुण नहीं होता।

पिबति

पा	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'वर्तमाने लट्' से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
पा तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'कर्तरि शप्' से 'शप्' आया
पा शप् ति	अनुबन्ध-लोप, 'पाघ्राध्मास्था०' से शित् परे रहते 'पा' को 'पिब' आदेश हुआ
पिब अ ति	'पिब' आदेश अकारान्त है अतः 'पुगन्तलघू०' से गुण नहीं होता, 'अतो गुणे' से अपदान्त अकार से गुण परे रहते पररूप एकादेश होकर
पिबति	रूप सिद्ध होता है।

४८८. आत औ णलः ७।१।३४

आदन्ताद् धातोर्णल औकारादेशः स्यात्। पपौ।

प०वि०—आतः ५।१।। औ १।१।। णलः ६।१।। **अनु०**—अङ्गस्य।

अर्थः—आकारान्त अङ्ग से उत्तर **'णल्'** के स्थान में **'औ'** आदेश होता है।

पपौ

पा	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्', प्र०पु०, एक व० में 'तिप्' आया
पा तिप्	'परस्मैपदानां णल०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश हुआ
पा णल्	'आत औ णलः' से आकारान्त अङ्ग से उत्तर 'णल्' को 'औ' आदेश हुआ
पा औ	'लिटि धातोरन०' से अनभ्यास धातु 'पा' को द्वित्व हुआ
पा पा औ	'पूर्वोभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व हुआ
प पा औ	'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' परे रहते वृद्धि एकादेश होकर
पपौ	रूप सिद्ध होता है।

४८९. आतो लोप इटि च ६।४।६४

अजाद्योरार्धधातुकयोः क्ङिदिटो परयोरातो लोपः स्यात्। पपतुः। पपुः। पपिथ, पपाथ। पपथुः। पप। पपौ। पपिव। पपिम। पाता। पास्यति। पिबतु। अपिबत्। पिबेत्।

प०वि०—आतः ६।१।। लोपः १।१।। इटि ७।१।। च अ०।। **अनु०**—अङ्गस्य, आर्धधातुके, अचि, क्ङिति।

अर्थः—इडादि आर्धधातुक या अजादि कित्-ङित् आर्धधातुक परे रहते आकारान्त अङ्ग का लोप होता है।[1]

पपतुः

पा	पूर्ववत् 'लिट्' के स्थान में 'तस्' तथा 'परमस्मैपदानां०' से 'तस्' को 'अतुस' हुआ
पा अतुस्	'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'अतुस्' के कित् होने से 'आतो लोप इटि च' से अजादि कित् आर्धधातुक 'अतुस्' परे रहते आकार का लोप प्राप्त हुआ, 'द्विर्वचनेऽचि' से द्विर्वचन के निमित्त अजादि प्रत्यय 'अतुस्' परे रहते प्राप्त होने वाले अजादेश लोप का द्विर्वचन के विषय में निषेध हो गया, अतः 'लिटि धातो०' से 'पा' को द्वित्व तथा 'ह्रस्वः' से अभ्यास को 'ह्रस्व' हुआ
प पा अतुस्	'आतो लोप इटि च' से अजादि कित् आर्धधातुक परे रहते 'आ' का लोप हुआ
प प् अतुस्	'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्ग होकर
पपतुः	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **पपुः** में 'झि' के स्थान पर 'उस्' होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

पपिथ, पपाथ—'पा', लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' के स्थान पर 'थल्' आदेश, 'ऋतो भारद्वाजस्य' के नियम से 'थल्' को विकल्प से इडागम, पूर्ववत् द्वित्वादि, 'आतो लोप इटि च' से 'आ' का लोप होने पर 'पपिथ' तथा इडभाव पक्ष में 'पपाथ' रूप सिद्ध होते हैं।

पपौ—'पा', लिट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' को भी 'णल्' होने पर 'आत औ णलः' आदि होकर 'पपौ' की सिद्धि-प्रक्रिया (४८८) पूर्ववत् जानें।

पपथुः—'पा', लिट्, म० पु०, द्वि० व० में 'थस्' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से 'अथुस्' आदेश होने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'पपतुः' के समान जानें।

---

१. यह सूत्र अङ्गाधिकार में है इसलिए यहाँ अकारान्त अङ्ग का लोप होता है, जो 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के बल से अन्तिम 'आ' का लोप करता है।

पप, पपिव, पपिम–'पा', लिट्, म० पु०, बहु व० में 'परस्मैपदानां०' से 'थ' को 'अ' आदेश तथा उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'वस्' और 'मस्' को क्रमशः 'व' और 'म' आदेश और 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'पपतुः' के समान जानें।

पाता–'पा', लुट्, प्र०पु०, एक व० में 'पाता' की सिद्धि-प्रक्रिया 'क्षेता' (४८२) के समान जानें।

पास्यति–'पा', लृट्, प्र० पु०, एक व० में तिप्, 'स्यतासी०' से 'स्य' आने पर 'पास्यति' रूप सिद्ध होता है।

पिबतु– 'पा' धातु से 'लोट् च' से 'लोट्' होकर 'पिबति' (४८७) के समान 'पिब' आदेश आदि होकर 'एरुः' से 'इ' को 'उ' होने पर 'पिबतु' सिद्ध होता है।

अपिबत्

पा	'अनद्यतने लङ्' से अनद्यतन भूत काल में 'लङ्' आया
पा लङ्	अनुबन्ध-लोप, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप और 'इतश्च' से 'इ' का लोप हुआ
पा त्	'कर्तरि शप्' से 'शप्', अनुबन्ध-लोप, 'पाघ्राध्मास्था०' से 'शित्' परे रहते 'पा' को 'पिब' आदेश हुआ
पिब अ त्	'अतो गुणे' से पररूप एकादेश तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर
अपिबत्	रूप सिद्ध होता है।

पिबेत्–'पा' धातु से 'विधिनिमन्त्रणा०' से 'लिङ्', तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्', 'कर्तरि शप्' से 'शप्', शित् परे रहते 'पाघ्राध्मास्था०' से 'पा' को 'पिब' आदेश, 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आने पर 'पिब+अ+यास्+स्+त्' इस स्थिति में 'अतो येयः' से 'यास्' को 'इय्', 'लिङः सलोपो०' से सकार का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप, 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'आद् गुणः' से गुण होकर 'पिबेत्' सिद्ध होता है।

४९०. एर्लिङि ६।४।६७

घुसंज्ञकानां मास्थादीनां च एत्वं स्यात् आर्धधातुके किति लिङि। पेयात्। 'गातिस्था-०' इति सिचो लुक्-अपात्। अपाताम्।

प०वि०–एः १।१।। लिङि ७।१।। **अनु०**–आर्धधातुके, घुमास्थागापाजहातिसाम्, किति।

अर्थः–'घुसंज्ञक ('**दा**', **धा**' आदि) धातुओं, **माङ्** (माने), **स्था** (गतिनिवृत्तौ), **गै** (शब्दे), **पा** (पाने), **ओहाक्** (त्यागे) तथा **सो** (अन्तकर्मणि) धातुओं के अन्तिम अल् को एकार आदेश होता है, आर्धधातुक संज्ञक कित् 'लिङ्' परे रहते।

१. 'दाधाघ्वदाप्' से 'दाप्' और 'दैप्' को छोड़कर 'दा' रूप वाली तथा 'धा' रूप वाली धातुओं की 'घु' संज्ञा होती है।

विशेषः–'लिङ्' केवल आशीर्वाद अर्थ में ही 'लिङाशिषि' से 'आर्धधातुक' संज्ञक तथा 'किदाशिषि' से 'कित्' होता है।

पेयात्

पा	'आशिषि लिङ्लोटौ' आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्' आया
पा लिङ्	अनुबन्ध-लोप, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्' आया
पा तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'यासुट् परस्मैपदेषु०' से 'यासुट्' और 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम हुआ। 'लिङाशिषि' से 'लिङ्' आर्धधातुक संज्ञक है। 'किदाशिषि' से 'यासुट्' कित् होता है, अनुबन्ध-लोप
पा यास् स् त्	'एर्लिङि' से कित् आर्धधातुक लिङ् परे रहते 'पा' के 'आ' को 'ए' आदेश हुआ
पे यास् स् त्	'हलोऽनन्तराः संयोगः' से 'संयोग' संज्ञा होने पर 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से पदान्त में संयोग के आदि सकारों का लोप होकर
पेयात्	रूप सिद्ध होता है।

अपात्–'पा' धातु से 'लुङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' का 'त्' परे रहते 'च्लि लुङि' से 'च्लि' तथा 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश, 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः०' से 'पा' धातु से उत्तर 'सिच्' का लुक् और 'लुङ्लुङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर 'अपात्' रूप सिद्ध होता है।

अपाताम्–'पा' धातु से 'लुङ्', प्र०पु०, द्वि व० में 'तस्', 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' आदेश होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'अपात्' के समान जानें।

४९१. आतः ३।४।११०

सिज्लुकि आदन्तादेव झेर्जुस्।

प०वि०–आतः ५।१।। **अनु०**–धातोः, झेर्जुस्, सिचः।

अर्थः–सिच् का लुक् होने पर उससे उत्तर यदि कहीं 'झि' को 'जुस्' हो तो वह आकारान्त धातु से उतर ही हो, अन्यत्र नहीं।

विशेषः–यह नियम सूत्र है। 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से 'सिच्' से उत्तर 'झि' के स्थान में 'जुस्' आदेश पहले विधान किया जा चुका है जो कि 'सिच्' का लोप होने पर भी 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से सर्वत्र हो ही जायेगा। अतः आकारान्त से उत्तर 'झि' को 'जुस्' आदेश करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी आचार्य 'आतः' सूत्र से 'झि' के स्थान में 'जुस्' आदेश कर कर रहे हैं, इससे यह ज्ञापित होता है कि लुप्त 'सिच्' से उत्तर यदि कहीं 'झि' को 'जुस्' हो तो आकारान्त धातु से उत्तर ही हो।

४९२. उस्यपदान्तात् ६।१।९६

अपदान्तादकाराद् उसि पररूपमेकादेशः। अपुः। अपास्यत्। ग्लै हर्ष- क्षये। १७। ग्लायति।

प०वि०—उसि ७।१।। अपदान्तात् ५।१।। अनु०—एकः, पूर्वपरयोः, आत्, पररूपम्, अचि।

अर्थः—अपदान्त अकार से उत्तर 'उस्' का अच् परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है।

अपुः—'पा' धातु से 'लुङ्', प्र०पु०, बहु व० में 'सिच्' का लुक् आदि पूर्ववत् होने पर 'पा+झि' इस स्थिति में 'आतः' से लुप्त 'सिच्' से उत्तर 'झि' को 'जुस्' आदेश होकर 'उस्यपदान्तात्' से पररूप एकादेश, सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर 'अपुः' रूप सिद्ध होता है।

अपास्यत्—'पा' धातु से 'लृङ्' लकार में 'तिप्' आने पर 'स्यतासी०' से 'स्य', 'लुङ्लुङ्लृङ्०' से अडागम होकर 'अपास्यत्' रूप सिद्ध होता है।

ग्लायति[१]

ग्लै	'वर्तमाने लट्' से 'लट्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक० व० में 'तिप्' आया
ग्लै तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्' हुआ
ग्लै शप् ति	अनुबन्ध-लोप
ग्लै अ ति	'एचोऽयवायावः' से 'ऐ' को आयादेश होकर
ग्लायति	रूप सिद्ध होता है।

४९३. आदेच उपदेशेऽशिति ३। ५। ८५

उपदेशे एजन्तस्य धातोरात्वम् न तु शिति। जग्लौ। ग्लाता। ग्लास्याति। ग्लायतु। अग्लायत्। ग्लायेत्।

प०वि०—आदेचः ६।१।। उपदेशे ७।१।। अशिति ७।१।। **अनु०**—धातोः।

अर्थः—उपदेश में जो एजन्त (ए, ओ, ऐ और औ अन्त वाली) धातु उसको आकारादेश होता है, शित् प्रत्यय परे रहते नहीं होता।

'अलोऽन्त्यस्य' से आकार आदेश धातु के अन्तिम 'अल्' के स्थान पर होता है।

जग्लौ

ग्लै	'आदेच उपदेशे०' से एजन्त धातु को शित् परे न होने पर आकार आदेश हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से 'ऐ' के स्थान में 'आ' हुआ
ग्ला	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्', तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्' और 'तिप्' के स्थान में 'परस्मैपदानां णलतुस्०' से 'णल्' हुआ
ग्ला णल्	'आत औ णलः' से 'णल्' के स्थान में 'औ' आदेश हुआ

---

१. 'शित्' प्रत्यय का विषय बनेगा इसलिए एजन्त होने पर भी 'ग्लै' को 'आदेच उपदेशेऽशिति' से आकारादेश नहीं होता।

ग्ला औ	'लिटि धातोरन०' से 'ग्ला' को द्वित्व हुआ
ग्ला ग्ला औ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि हल् 'ग्' शेष रहा
ग् आ ग्ला औ	'ह्रस्वः' से अभ्यास में 'आ' को ह्रस्व 'अ' आदेश, 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में कवर्ग 'ग्' के स्थान में चवर्ग 'ज्' हुआ
ज् अ ग्ला औ	'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' परे रहते वृद्धि एकादेश होकर
जग्लौ	रूप सिद्ध होता है।

ग्लाता–'ग्लै' को 'आदेच उपदेशे०' से 'ऐ' को 'आ' होकर 'ग्ला' बनने पर 'लुट्' लकार में 'ग्लाता' की सिद्धि-प्रक्रिया 'पाता' (४८९) के समान जानें।

ग्लास्यति–'ग्लै' धातु को आकार आदेश होकर 'पास्यति' के समान 'ग्लास्यति' की सिद्धि-प्रक्रिया जाननी चाहिए।

ग्लायतु–'ग्लै' धातु से 'लोट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'ग्लायति' के समान 'तिप्', 'शप्' और आयादेश होकर 'ग्लायति' बनने पर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर 'ग्लायतु' रूप सिद्ध होता है।

अग्लायत्–'ग्लै', 'लङ्', तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्', 'शप्', 'इतश्च' से इकार-लोप और 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होने पर सिद्धि-प्रक्रिया के अन्य कार्य 'ग्लायति' के समान जानें

ग्लायेत्

ग्लै	'विधिनिमन्त्रणामन्त्रण०' से विध्यादि अर्थों में 'लिङ्' आया
ग्लै लिङ्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्' आने पर अनुबन्ध-लोप और 'इतश्च' से इकार का लोप हुआ
ग्लै अ त्	'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो०' से 'यासुट्' और 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम हुआ
ग्लै अ यासुट् सुट् त्	अनुबन्ध-लोप, 'एचोऽयवायावः' से 'ऐ' को आयादेश हुआ
ग्लाय् अ यास् स् त्	'अतो येयः' से 'यास्' को 'इय्' आदेश और 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप हुआ
ग्लाय इय् त्	'आद् गुणः' से गुण तथा 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप होकर
ग्लायेत्	रूप सिद्ध होता है।

४९४. वाऽन्यस्य संयोगादेः ६।४।६८

घुमास्थादेरन्यस्य संयोगादेर्धातोरात एत्वं वाऽऽर्धधातुके किति लिङि। ग्लेयात्, ग्लायात्।

प० वि०–वा अ०।। अन्यस्य ६।१।। संयोगादेः ६।१।।

अनु०–एर्लिङि, आतः, आर्धधातुके, किति, अङ्गस्य।

अर्थ—घुसंज्ञक (**'दा'**, **'धा'**) धातुओं को तथा **मा**, **स्था**, **गा**, **पा**, **हा** (आहोक् त्यागे) तथा **षो** धातुओं को छोड़कर जो संयोगादि आकारान्त अङ्ग उसको आर्धधातुक कित् लिङ् परे रहते विकल्प से एकार (अन्त) आदेश होता है।

ग्लेयात्—'ग्लै' धातु को 'आदेच उपदेशे०' से 'ग्ला' बनने पर 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ् आने पर तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्', 'यासुट् परस्मैपदे०' से 'यासुट्' 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम, 'किदाशिषि' से 'यासुट्' के 'कित्' होने पर 'ग्ला+यास्+स्+त्' यहाँ 'वाऽऽन्यस्य संयोगादेः' से संयोगादि आकारान्त अङ्ग को विकल्प से एकारादेश और 'स्कोः संयोगाद्यो०' से सकारों का लोप होकर **ग्लेयात्** रूप सिद्ध होता है।

एत्व अभाव पक्ष में **'ग्लायात्'** ही रहेगा।

४९५. यमरमनमातां सक् च ७।२।७३

एषां सक् स्यात्, एभ्यः सिच इट् स्यात् परस्मैपदेषु। अग्लासीत्। अग्लास्यत्। 'ह्वृ'-कौटिल्ये ।१८। ह्वरति।

प० दि०—यमरमनमाताम् ६।३।। सक् १।१।। च अ०।। **अनु०**—इट्, सिचि, परस्मैपदेषु।

अर्थ—परस्मैपद परे रहते **यम्** (उपरमे-निवृत्त होना), **रम्** (क्रीडायाम् - क्रीडा करना, रमण करना), **नम्** (प्रह्वत्वे शब्दे च-नम्र होना, प्रणाम करना) और आकारान्त धातुओं को 'सक्' आगम तथा इनसे परे 'सिच्' को इडागम होता है।

अग्लासीत्

ग्लै	'आदेच उपदेशे०' से आकार अन्तादेश, 'लुङ्' से 'लुङ्' आया
ग्ला लुङ्	तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्', अनुबन्ध-लोप और 'इतश्च' से इकार-लोप हुआ
ग्ला त्	'च्लि लुङि' से 'लुङ्' परे रहते 'च्लि' विकरण हुआ
ग्ला च्लि त्	'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
ग्ला स् त्	'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'सिच्' से उत्तर अपृक्त 'त्' को 'ईट्' आगम हुआ, अनुबन्ध-लोप
ग्ला स् ई त्	'यमरमनमातां सक् च' से आकारान्त धातु को 'सक्' आगम तथा सिच् को 'इट्' आगम हुआ परस्मैपद परे रहते
ग्ला सक् इट् स् ई त्	अनुबन्ध-लोप
ग्ला स् इ स् ई त्	'इट ईटि' से सकार लोप होने पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ एकादेश तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
अग्लासीत्	रूप सिद्ध होता है।

अग्लास्यत्—'आदेच उपदेशे०' से 'ग्लै' के 'ऐ' को आकारादेश होने पर 'लृङ्' लकार, प्र०पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'अपास्यत्' (४९२) के समान जानें।

हरति–'हृ' धातु से लट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्' आदि होने पर 'हृ+अ+ति' यहाँ 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'ऋ' के स्थान में 'अर्' होकर 'हरति' रूप सिद्ध होता है।

४९६. ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ७।४।१०

ऋदन्तस्य संयोगादेरङ्गस्य गुणो लिटि। उपधाया वृद्धिः। जहार, जहरतुः, जहरुः। जहर्थ, जहरथुः, जहर। जहार, जहर। जहरिव। जहरिम। हर्त्ता।

प० वि०–ऋतः ६।१।। च अ०।। संयोगादेः ६।१।। गुणः १।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, लिटि।

अर्थ–संयोगादि ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग को गुण होता है लिट् परे रहते।

जहार

हृ	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्', तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्' तथा 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश हुआ
हृ णल्	अनुबन्ध-लोप, यहाँ 'ऋतश्च संयोगादे०' से गुण प्राप्त था जिसका, 'द्विर्वचनेऽचि' से द्विर्वचननिमित्तक अजादि प्रत्यय परे रहते अजादेश होने के कारण निषेध कर दिया। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से द्वित्व हुआ
हृ हृ अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होकर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
हृ हृ अ	'कुहोश्चुः' से अभ्यास में 'ह्' को 'झ्' आदेश हुआ
झृ हृ अ	'अभ्यासे चर्च' से चर्त्व तथा 'उरत्' से अभ्यास में ऋकार के स्थान पर अकार, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
जर् हृ अ	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि हल् 'ज्' शेष रहा
ज हृ अ	यहाँ 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि प्राप्त हुई जिसे परत्व से बाधकर 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' से संयोगादि ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग को लिट् परे रहते गुण हुआ, 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ऋ' को 'अर्' गुण हुआ
ज हर् अ	'अत उपधायाः' से णित् परे रहते उपधा अकार को वृद्धि होकर
जहार	रूप सिद्ध होता है

जहरतुः, जहरुः इत्यादि की सिद्धि प्रक्रिया 'जहार' के समान ही जाननी चाहिए। इन उदाहरणों में केवल उपधा को वृद्धि नहीं होती।

जहर्थ–यहाँ 'थल्' में 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से 'इट्' का निषेध होने पर क्रादिनियम से 'इट्' प्राप्त हुआ तब 'अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम्' से 'इट्' आगम का निषेध होता है।

जह्वार, जह्वर—यहाँ 'ह्वृ', लिट्, उ० पु०, एक व० में जब 'णल्' प्रत्यय 'णलुत्तमो वा' से विकल्प से 'णित्' होता है तो 'अत उपधाया:' से वृद्धि होकर 'जह्वार' और 'णित्' के अभाव पक्ष में 'अत उपधाया:' से वृद्धि न होने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयो:' से गुण होकर 'जह्वर' रूप सिद्ध होते हैं।

जह्वरिव, जह्वरिम—'ह्वृ', लिट्, उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'वस्' और 'मस्' को 'परस्मैपदानां०' से क्रमश 'व' और 'म' आदेश, 'लिट् च' से 'व' और 'म' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने पर **क्रादि नियम से नित्य 'इट्'** होकर द्वित्व तथा गुण आदि कार्य 'जह्वार' के समान होने पर 'जह्वरिव' और 'जह्वरिम' सिद्ध होते हैं।

ह्वर्ता—'ह्वृ' धातु से 'लुट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आने पर 'स्यतासी०' से 'तास्' विकरण, 'लुट: प्रथमस्य०' से 'तिप्' के स्थान में 'डा' आदेश, डित् सामर्थ्य से टिभाग का लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से 'ऋ' को गुण 'अर्' होकर '**ह्वर्ता**' रूप सिद्ध होता है। यहाँ 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से 'इट्' आगम का निषेध होता है।

४९७. ऋद्धनो: स्ये ७।२।७०

ऋतो हन्तेश्च स्यस्य इट्। ह्वरिष्यति। ह्वरतु। अह्वरत्। ह्वरेत्।

प० वि०—ऋद्धनो: ६।२।। स्ये ७।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, इट्।

अर्थ:—ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग तथा '**हन्**' धातु से उत्तर 'स्य' को '**इट्**' आगम होता है।

विशेष:—सूत्र में 'ऋद्धनो:' में षष्ठी विभक्ति पञ्चमी के अर्थ में तथा 'स्ये' में सप्तमी विभक्ति षष्ठी के अर्थ में विहित है।[१]

४९८. गुणोऽर्तिसंयोगाद्यो: ७।४।२९

अर्ते: संयोगादेर्ऋदन्तस्य च गुण: स्याद् यकि यादावार्धधातुके लिङि च। ह्वर्यात्। अह्वार्षीत्। अह्वरिष्यत्। श्रु श्रवणे। १९।

प० वि०—गुण: १।१।। अर्तिसंयोगाद्यो: ६।२।। **अनु०**—असार्वधातुके, यकि, लिङि, यि, ऋत:।

अर्थ:—'**ऋ**' (गतौ) तथा संयोग आदि में है जिसके ऐसे ऋकारान्त धातु को, 'यक्' परे रहते तथा यकारादि आर्धधातुक लिङ् परे रहते, गुण होता है।[२]

ह्वर्यात्

ह्वृ	'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्' हुआ
ह्वृ लिङ्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया

---

१. ऋत् हन् अनयोर्द्वन्द्वात् पञ्चमी षष्ठी द्विवचनम्। स्ये इति षष्ठ्यर्थे सप्तमी, (बा० म० २३६६)

२. 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' परिभाषा से आगम अपने आगमी का अवयव बन जाता है। अत: आगम सहित लिङ् यकारादि असार्वधातुक माना जाता है।

हृ तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो०' से 'यासुट्' और 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' आगम हुआ, अनुबन्ध-लोप
हृ यास् स् त्	'लिङाशिषि' से आशिषिलिङ् 'आर्धधातुक' होता है तथा 'किदाशिषि' से 'यासुट्' कित् होता है। 'सार्वधातुकार्ध०' से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध हो जाता है। अतः 'गुणोऽर्ति संयोगाद्योः' से यकारादि असार्वधातुक लिङ् परे रहते संयोगादि ऋकारान्त को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ऋ' को 'अर्' हुआ
ह् व् अर् यास् स् त्	'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोगादि सकारों का लोप होकर
ह्वर्यात्	रूप सिद्ध होता है।
अह्वार्षीत्	
हृ	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आने पर अनुबन्ध-लोप और 'इतश्च' से इकार-लोप हुआ
हृ त्	'च्लि लुङि' से लुङ् परे रहते 'च्लि' प्रत्यय और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश हुआ, अनुबध-लोप
हृ स् त्	'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'सिच्' से उत्तर अपृक्त तकार को 'ईट' आगम हुआ
हृ स् ई त्	'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से परस्मैपदपरक सिच् परे रहते इगन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
ह्वार स् ई त्	'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्यादेश' और 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर
अह्वर्षीत्	रूप सिद्ध होता है।

अह्वरिष्यत्–'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' से 'लृङ्', पूर्ववत् 'तिप्', 'इतश्च' से इकार का लोप, 'स्यतासी०' से 'स्य', 'ऋद्धनोःस्ये' से ह्रस्व ऋकारान्त से उत्तर 'स्य' को इडागम, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' को 'अर्', लुङ्लङ्लृङ्० से अडागम और 'आदेशप्रत्यययोः' से 'स्' को मूर्धन्य होकर 'अह्वरिष्यत्' सिद्ध होता है।

४९९. श्रुवः शृ च ३।१।७४

श्रुवः शृ इत्यादेशः स्यात् 'श्नु' प्रत्ययश्च। शृणोति।

प० वि०–श्रुवः ६।१।। शृ लुप्त प्रथमान्त।। च अ०।। **अनु०**–सार्वधातुके, कर्तरि, श्नुः।

अर्थः–कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते **'श्रु'** के स्थान पर **'शृ'** आदेश तथा **'श्नु'** प्रत्यय होता है।

शृणोति

श्रु	'वर्तमाने लट्' से वर्तमान काल में होने वाली क्रिया-वाचक धातु से 'लट्' आया
श्रु लट्	तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आने पर अनुबन्ध-लोप
श्रु ति	'कर्तरि शप्' को बाधकर 'श्रुवः शृ च' से कर्तृवाची सार्वधातुक 'ति' परे रहते 'श्रु' को 'शृ' आदेश तथा 'श्नु' प्रत्यय हुआ
शृ श्नु ति	अनुबन्ध-लोप
शृ नु ति	'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'ति' परे रहते उकार को गुण तथा 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' वार्तिक से नकार को णत्व होकर
शृणोति	रूप सिद्ध होता है।

५००. सार्वधातुकमपित् १।२।४

अपित् सार्वधातुकं ङिद्वत्। शृणुतः।

प० वि०—सार्वधातुकम् १।१।। अपित् १।१।। **अनु०**—ङित्।

अर्थः—अपित् अर्थात् पित् से भिन्न सार्वधातुक ङित् के समान होता है।

शृणुतः

श्रु	'वर्तमाने लट्' से 'लट्', तिबाद्युत्पत्ति, 'शेषे प्रथमः' से प्र० पु०, 'द्व्येकयोर्द्वि०' से द्वि वचन की विवक्षा में 'तस्' आया
श्रु तस्	'श्रुवः शृ च' से कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते 'श्रु' को 'शृ' आदेश तथा 'श्नु' प्रत्यय हुआ
शृ श्नु तस्	अनुबन्ध-लोप, यहाँ 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' से 'श्नु' के शित् होने से तथा 'तस्' की 'तिङ्' होने से 'सार्वधातुक' संज्ञा है, इसलिए 'सार्वधातुका०' से 'श्नु' परे रहते ऋकार को तथा 'तस्' परे रहते उकार को 'गुण' प्राप्त हुआ, जिसका 'क्ङिति च' से निषेध हो गया, क्योंकि 'सार्वधातुकमपित्' से 'श्नु' तथा 'तस्' दोनों अपित् होने के कारण ङिद्वत् माने जाते हैं।
शृनुतस्	'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से नकार को णत्व, सकार को 'ससजुषो०' से रुत्व तथा 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्ग होकर
शृणुतः	रूप सिद्ध होता है।

५०१. हुश्नुवोः सार्वधातुके ६।४।८७

हुश्नुवोरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सार्वधातुके। शृण्वन्ति। शृणोषि, शृणुथः, शृणुथ। शृणोमि।

प० वि०—हुश्नुवोः ६।२।। सार्वधातुके ७।१।। **अनु०**—अचि, यण्, ओः, अनेकाचः, असंयोगपूर्वस्य, अङ्गस्य।

अर्थः—**'हु'** तथा श्नुप्रत्ययान्त अनेकाच् अङ्ग के असंयोगपूर्वक उवर्ण के (संयाग पूर्व में नहीं है जिसके, ऐसे उवर्ण के) स्थान पर **'यण्'** आदेश होता है अजादि सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

शृण्वन्ति

श्रु	'वर्तमाने लट्' से 'लट्' आने पर तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' आया
श्रु झि	'झोऽन्तः' से 'झ्' को अन्तादेश तथा 'श्रुवः शृ च' से 'श्रु' के स्थान पर 'शृ' आदेश तथा 'श्नु' प्रत्यय आया
शृ श्नु अन्ति	अनुबन्ध-लोप, 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से 'श्नु' प्रत्ययान्त अङ्ग के उकार को 'उवङ्' आदेश प्राप्त हुआ अच् परे रहते, जिसे बाधकार 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से 'श्नु' प्रत्ययान्त अनेकाच् अङ्ग के असंयोगपूर्वक उवर्ण को यणादेश हुआ अजादि सार्वधातुक परे रहते
शृ न् व् अन्ति	'ऋवर्णान्नस्य णत्वम्०' से नकार को णकार होकर
शृण्वन्ति	रूप सिद्ध होता है।

शृणोषि तथा **शृणोमि** की सिद्धि-प्रक्रिया में क्रमशः 'लट्', म० पु०, एक व० में 'सिप्' तथा उ० पु०, एक व० में 'मिप्' आने पर शेष कार्य 'शृणोति' (४९९) के समान जानें।

शृणुथः तथा **शृणुथ** में क्रमशः 'लट्', म० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'थस्' और 'थ' आने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'शृणुतः' (५००) के समान जाननी चाहिए।

५०२. लोपश्चाऽस्यान्यतरस्यां म्वोः ६।४।१०७

असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययोकारस्य लोपो, वा म्वोः परयोः। शृण्वः, शृणुवः। शृण्मः, शृणुमः। शुश्राव। शुश्रुवतुः। शुश्रुवुः। शुश्रोथ। शुश्रुवथुः। शुश्रुव। शुश्राव, शुश्रव। शुश्रुव। शुश्रुम। श्रोता। श्रोष्यति। शृणोतु, शृणुतात्। शृणुताम्। शृण्वन्तु।

प० वि०—लोपः १।१।। च अ०।। अस्य ६।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। म्वोः ७।२।। **अनु०**—असंयोगपूर्वस्य, प्रत्ययस्य, उतः, अङ्गस्य।

अर्थः—संयोग पूर्व में नहीं है जिसके ऐसे प्रत्यय के अवयव उकार का विकल्प से लोप होता है मकार तथा वकार परे रहते।

शृण्वः

श्रु	'वर्तमाने लट्' से 'लट्', 'अस्मद्युत्तमः' से उ० पु०, 'द्व्येकयोः०' से द्विवचन की विवक्षा में 'वस्' आया

श्रु वस्	'श्रुवः शृ च' से 'श्रु' को 'शृ' आदेश तथा 'श्नु' प्रत्यय हुआ
शृ श्नु वस्	अनुबन्ध-लोप, 'लोपश्चास्याऽन्यतरस्यां म्वोः' से वकार परे रहते असंयोग पूर्व वाले 'नु' प्रत्यय के उकार का विकल्प से लोप हुआ
शृ न् वस्	'ऋवर्णान्नस्य णत्वम्०' से णत्व, 'ससजुषोः०' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर रूप सिद्ध होता है।
शृण्वः	

शृणुवः—जब 'लोपश्चा०' से उकार का लोप नहीं होता तब 'शृणुवः' रूप सिद्ध होता है।

शृण्मः,शृणुमः—लट्, उ० पु०, बहु व० में 'मस्' आने पर 'शृण्मः' तथा 'शृणुमः' की सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

शुश्राव

श्रु	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
श्रु तिप्	'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' आदेश हुआ
श्रु णल्	अनुबन्ध-लोप,'अचो ञ्णिति' से वृद्धि प्राप्त थी; 'द्विर्वचनेऽचि' से द्विर्वचन करने के विषय में द्विर्वचन निमित्तक अजादि प्रत्यय परे रहते 'अच्' के स्थान में होने वाले आदेश अर्थात् वृद्धि का निषेध हो गया
श्रु अ	'लिटि धातो०' से 'लिट्' परे रहते अनभ्यास धातु 'श्रु' को द्वित्व हुआ
श्रु श्रु अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
शु श्रु अ	'अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि हुई
शु श्रौ अ	'एचोऽयवायावः' से 'औ' को 'आव्' आदेश होकर
शुश्राव	रूप सिद्ध होता है

शुश्रुवतुः

श्रु	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्', तिबाद्युत्पत्ति से प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' आया
श्रु तस्	'परस्मैपदानां०' से 'तस्' को 'अतुस्' आदेश हुआ
श्रु अतुस्	'असंयोगाल्लिट् कित्' से अपित् 'अतुस्' कित्वत् होता है अतः 'सार्वधातुकार्ध०' से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध होने पर 'अचि श्नु०' से उवङादेश प्राप्त हुआ जिसका 'द्विर्वचनेऽचि'

	से द्विर्वचन के विषय में निषेध हो गया। 'लिटि धातो०' से 'श्रु' को द्वित्व हुआ
श्रु श्रु अतुस्	'पूर्वोभ्यास:' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादि: शेष:' से 'श्रु' का आदि 'हल्' शेष रहा, 'अचि श्नुधातु०' से उकार को उवङादेश हुआ
शु श्र् उवङ् अतुस्	अनुबन्ध-लोप, सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर
शुश्रुवतुः	रूप सिद्ध होता है।

शुश्रुवुः—इसी प्रकार 'झि' के स्थान में 'उस्' होने पर 'शुश्रुवुः' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

शुश्रोथ, शुश्रुव, शुश्रुम में क्रमशः 'थल्', 'वस्' और 'मस्' प्रत्ययों को क्रादिनियम से इडागम का निषेध होकर ये रूप सिद्ध होते हैं। 'थल्' (स्थानिवद्भाव से) पित् होने के कारण 'असंयोगाल्लिट् कित्' से कित् नहीं होता, अतः 'शुश्रोथ' में गुण हो ही जाता है।

शुश्रव—लिट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' के स्थान में 'णल्' होने पर 'णलुत्तमो वा' से 'णल्' के विकल्प से 'णित्' होने से 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण होकर 'एचोऽयवा०' से 'अव्' आदेश आदि कार्य 'शुश्राव' के समान होने पर 'शुश्रव' रूप सिद्ध होता है।

श्रोता तथा **श्रोष्यति** की सिद्धि-प्रक्रिया क्रमशः 'लुट्' और 'लृट्' लकार में प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आने पर 'क्षेता' और 'क्षेष्यति' (४९२) को समान जानें।

शृणोतु-लोट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आकर 'एरुः' से उत्व होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'शृणोति' के समान जानें।

शृणुतात्

श्रु	'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लोट्' आया
श्रु लोट्	अनुबन्ध लोप, तिबाद्युत्पत्ति होकर प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया,
श्रु तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'श्रुवः शृ च' से 'श्रु' को 'शृ' आदेश तथा 'श्नु' प्रत्यय हुआ, अनुबन्ध-लोप और 'एरुः' से लोट् सम्बन्धी इकार को उकारादेश हुआ
शृ नु तु	'तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम्' से आशीर्वाद अर्थ में 'तु' को 'तातङ्' आदेश, 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' से सम्पूर्ण 'तु' के स्थान में 'तातङ्' हुआ
शृ नु तातङ्	अनुबन्ध-लोप, 'तातङ्' के ङित् होने के कारण उकार को गुण नहीं होता, 'ऋवर्णान्नस्य णत्वम्०' से नकार को णत्त्व होकर
शृणुतात्	रूप सिद्ध होता है।

शृणुताम्—'लोट्', प्र० पु०, द्वि व० में शृ+श्नु+तस्' यहाँ 'लोटो लङ्वत्' से 'लोट्'

को लङ्वत् मान लेने पर 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' आदेश होकर णत्व होने पर 'शृणुताम्' रूप सिद्ध होता है।

शृण्वन्तु—लोट् लकार, प्र० पु,०, बहु व० में 'झि', 'झोऽन्तः' से 'झ्' के स्थान में अन्तादेश तथा 'एरुः' से उत्व होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'शृण्वन्ति' (५०१) के समान जानें।

५०३. उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ६।४।१०६

असंयोगपूर्वात् प्रत्ययादुतो हेर्लुक्। शृणु, शृणुतात्। शृणुतम्, शृणुत। गुणावादेशौ—शृणवानि, शृणवाव, शृणवाम। अशृणोत्, अशृणुताम्, अशृण्वन्। अशृणोः, अशृणुतम्, अशृणुत। अशृणवम्। अशृण्व, अशृणुव। अशृण्म, अशृणुम। शृणुयात्, शृणुयाताम्, शृणुयुः। शृणुयाः, शृणुयातम्, शृणुयात। शृणुयाम्, शृणुयाव, शृणुयाम। श्रूयात्। अश्रौषीत्। अश्रोष्यत्। गम्लृ गतौ ।२०।

प० वि०—उतः ५।१।। च अ० ।। प्रत्ययात् ५।१।। असंयोगपूर्वात् ५।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, लुक्, हेः।

अर्थः—संयोग पूर्व में नहीं है जिसके, ऐसे उकरान्त प्रत्यय से उत्तर **'हि'** का लुक् होता है।

यहाँ 'अङ्गस्य' का अधिकार होने के कारण 'उतः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण बनता है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होना चाहिए—संयोग पूर्व में नहीं है जिसके, ऐसा जो उकारान्त प्रत्यय, तदन्त अङ्ग से उत्तर 'हि' का लुक् होता है।

शृणु

श्रु	लोट् लकार, म० पु०, एक व० में 'सिप्' आया
श्रु सिप्	'श्रुवः शृ च' से 'श्रु' को 'शृ' आदेश तथा 'श्नु' प्रत्यय हुआ, अनुबन्ध-लोप
शृ नु सि	'सेर्ह्यपिच्च' से लोट्सम्बन्धी 'सि' के स्थान में अपित् 'हि' आदेश हुआ
शृ नु हि	'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' से असंयोग पूर्व वाले उकारान्त प्रत्यय 'नु' से उत्तर 'हि' का लुक् हुआ
शृनु	'ऋवर्णान्नस्य०' से णत्व होकर
शृणु	रूप सिद्ध होता है।

शृणुतात्—जब 'लोट्' लकार 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में होगा तो 'सिप्' के स्थान में 'हि' आदेश होने पर 'तुह्योस्तातङा०' से 'हि' के स्थान में विकल्प से 'तातङ्' आदेश होकर 'शृणुतात्' सिद्ध होता है।

शृणुतम् और **शृणुत** में 'लोट्' लकार, म० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'थस्' और 'थ' के स्थान पर 'तस्थस्थ०' से क्रमशः 'तम्' और 'त' आदेश होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

श्रृणवानि

श्रु	लोट् लकार, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' आया
श्रु मिप्	अनुबन्ध-लोप
श्रु मि	'श्रुवः शृ च' से 'श्रु' को 'शृ' आदेश तथा 'श्नु' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप
शृ नु मि	'मेर्निः' से लोट् सम्बन्धी 'मि' को 'नि' आदेश तथा 'आडुत्तमस्य पिच्च' से उत्तम पुरुष संज्ञक 'नि' को 'आट्' आगम हुआ
शृ नु आट् नि	अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से उकार को 'ओ' गुण हुआ
शृ नो आ नि	'एचोऽयवायावः' से 'ओ' को 'अ व्' आदेश तथा 'ऋवर्णान्नस्य०' से णत्व होकर
शृणवानि	रूप सिद्ध होता है।

शृणवाव और शृणवाम–'श्रु' धातु, 'लोट्' लकार, उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'लोटो लङ्वत्' से 'लोट्' को 'लङ्' के समान ङित् मानने पर 'वस्' और 'मस्' के सकार का 'नित्यं ङितः' से लोप होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'शृणवानि' के समान जानें।

अशृणोत्–'श्रु' धातु, 'लङ्' लकार, प्र० पु० एक व० में 'तिप्' के इकार का 'इतश्च' से लोप, 'श्रुवः शृ च' से 'श्रु' को 'शृ' ओदः तथा 'श्नु' प्रत्यय, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम तथा 'ऋवर्णान्नस्य०' से णत्व होकर 'अशृणोत्' रूप सिद्ध होता है।

अशृणुताम्–'श्रु' धातु, 'लङ्' लकार में 'तस्' के स्थान पर 'तस्थस्थ०' से 'ताम्' आदेश होने पर 'श्रुवः शृ च' से 'शृ' आदेश 'श्नु' प्रत्यय तथा अडागम आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

अशृण्वन्–'श्रु' धातु, 'लङ्' लकार, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' के इकार का 'इतश्च' से लोप, 'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश होकर, 'संयोगान्तस्य लोपः' से तकार का लाप होने पर 'शृ+नु+अन्' यहाँ 'हुश्नुवोः सार्व०' से उकार को यणादेश, पूर्ववत् णत्व तथा अडागम होकर 'अशृण्वन्' सिद्ध होता है।

अशृणोः–'श्रु' धातु, लङ्, म० पु०, एक व० में 'श्रु' धातु से 'सिप्' आने पर सिद्धि-प्रक्रिया के सभी कार्य 'अशृणोत्' के समान होकर 'अशृणोस्' बनने पर 'ससजुषो रुः' से रुत्व तथा 'खरवसानयो०' से विसर्ग होकर 'अशृणोः' रूप सिद्ध होता है।

अशृणुतम् तथा **अशृणुत**–'श्रु' धातु, लङ् लकार में 'थस्' और 'थ' के स्थान पर 'तस्थस्थ०' से 'तम्' और 'त' आदेश होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'अशृणुताम्' के समान जाननी चाहिए।

अशृणवम्–'श्रु' धातु से लङ्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्, 'तस्थस्थमिपां०' से 'मिप्' को 'अम्' आदेश होकर ' श्रुवः शृ च' आदि कार्य होकर 'शृ+नु+अम्' यहाँ

'सार्वधातुकार्ध०' से उकार को गुण, 'एचोऽयवायाव:' से अवादेश 'पूर्ववत्' णत्व तथा अडागम होकर 'अशृणवम्' रूप सिद्ध होता है।

अशृण्व, अशृणुव; अशृण्म, अशृणुम–ये सभी रूप 'श्रु' धातु से उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'वस्' और 'मस्' परे रहते 'श्रुव: शृ च' से 'शृ' आदेश तथा 'श्नु' प्रत्यय होने पर 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम् म्वो:' से उकार का विकल्प से लोप होकर, अडागम तथा णत्व आदि कार्य होकर लोप पक्ष में 'अशृण्व', और 'अशृण्म तथा लोप-अभाव पक्ष में' अशृणुव' और 'अशृणुम' रूप सिद्ध होते हैं। यहाँ 'वस्' और 'मस्' के सकार का लोप 'नित्यं ङित:' से होता है।

शृणुयात्

श्रु	'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणा०' से विधि आदि अर्थों में 'लिङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
श्रु तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'श्रुव: शृ च' से 'श्रु' के स्थान पर 'शृ' आदेश तथा 'श्नु' प्रत्यय हुए
शृ श्नु त्	अनुबन्ध-लोप, 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से 'यासुट्' तथा 'सुट् तिथो:' से 'सुट्' आगम हुए
शृ नु यासुट् सुट् त्	अनुबन्ध-लोप
शृ नु यास् स् त्	'लिङ: सलोपोऽनन्त्यस्य' से सार्वधातुक लिङ् के अनन्त्य सकारों का लोप तथा 'ऋवर्णान्नस्य०' से णत्व होकर
शृणुयात्	रूप सिद्ध होता है।

शृणुयाताम्–'श्रु', विधि लिङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' के स्थान पर 'तस्थस्थ०' से 'ताम्' आदेश, **शृणुयु:** में 'झेर्जुस्' से 'झि' को 'जुस्', 'श्रुव: शृ च' से 'शृ' आदेश और 'श्नु' प्रत्यय, 'यासुट्', 'लिङ: सलोपो०' से सकार का लोप तथा 'उस्यपदान्तात्' से अपदान्त अकार से 'उस्' परे रहते पररूप एकादेश, शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'भवेताम्' और 'भवेयु:' के समान जानें।

शृणुया:, शृणुयातम्, शृणुयात शृणुयाम्, शृणुयाव, शृणुयाम इत्यादि में 'लिङ्' को 'यासुट्' आगम, 'श्रु' को 'शृ' आदेश तथा 'श्नु' प्रत्यय और 'लिङ: सलोपो०' से सकार-लोप आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

श्रूयात्–'श्रु' धातु से 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्', 'यासुट्' तथा 'सुट्' आगम होकर 'श्रु+यास्+स्+त्' बनने पर 'स्को: संयोगाद्योरन्ते च' से संयोग के आदि सकारों का लोप, 'अकृत्सार्वधातु०' से उकार को दीर्घ होकर 'श्रूयात्' रूप सिद्ध होता है।

अश्रौषीत्–'श्रु+लुङ्' तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्ले: सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से अपृक्त 'त्' को 'ईट्' आगम, 'सिचि

वृद्धिः परस्मैपदेषु' से वृद्धि, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा अडागम होकर 'अश्रौषीत्' रूप सिद्ध होता है।

अश्रोष्यत्–'श्रु' धातु से 'लृङ्' लकार में 'स्य', तिप् आदि होकर 'अक्षेष्यत्' (४८४) के समान 'अश्रोष्यत्' की सिद्धि-प्रक्रिया जाननी चाहिए।

५०४. इषु-गमि-यमां छः ७।३।७७

एषां छः स्यात् शिति। गच्छति। जगाम।

प० वि०–इषुगमियमाम् ६।३।। छः १।१।। **अनु०**–शिति।

अर्थः–**इष्** (इच्छायाम्–इच्छा करना), **गम्** (गतौ-जाना) और **यम्** (उपरमे-निवृत्त होना) के स्थान पर 'छकार' होता है, शित् प्रत्यय परे रहते।

'अलोऽन्त्यस्य' से यह आदेश अन्तिम वर्ण के स्थान पर होता है।

गच्छति

गम्	'लट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
गम् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'कर्तरि शप्' से 'शप्', अनुबन्ध-लोप
गम् अ ति	'इषुगमियमां छः, से शित् परे रहते 'गम्' को 'छ्' आदेश, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम वर्ण मकार के स्थान पर हुआ
गछ् अ ति	'छे च' से छकार परे रहते ह्रस्व को 'तुक्' आगम तथा 'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व होकर
गच्छति	रूप सिद्ध होता है।

जगाम–'गम्' धातु से 'लिट्' लकार, 'तिप्' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से 'णल्', 'लिटि धातो०' से द्वित्व, अभ्यास कार्य, 'कुहोश्चुः' से 'ग्' को 'ज्' तथा 'अत उपधायाः' से वृद्धि होकर 'जगाम' रूप सिद्ध होता है।

५०५. गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि ६।४।९८

एषामुपधाया लोपोऽजादौ क्ङिति न त्वङि। जग्मतुः। जग्मुः। जगमिथ, जगन्थ। जग्मथुः। जग्म। जगाम, जगम। जग्मिव। जग्मिम। गन्ता।

प० वि०–गमहनजनखनघसाम् ६।३।। लोपः १।१।। क्ङिति ७।१।। अनङि ७।१।। **अनु०**–अचि, उपधायाः।

अर्थः–**गम्**, (गतौ-जाना), **हन्** (हिंसागत्योः–हिंसा और गति), **जन्** (प्रादुभार्वे–पैदा करना), **खन्** (अवदारणे-खोदना) और **घस्** (अदने-खाना) धातुओं की उपधा का, 'अङ्' से भिन्न अजादि कित् या ङित् प्रत्यय परे रहते, लोप होता है।

जग्मतुः

गम्	'लिट्' लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' आया
गम् तस्	'परस्मैपदानां णलतु०' से 'तस्' को 'अतुस्' आदेश हुआ
गम् अतुस्	'लिटि धातोः०' से 'लिट्' परे रहते 'गम्' को द्वित्व हुआ

गम् गम् अतुस्	'पूर्वोभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में कवर्ग को चवर्गादेश हुआ
ज गम् अतुस्	'असंयोगाल्लिट् कित्' से असंयोगान्त धातु से परे अपित् लिट् (अतुस्) के कित् होने से 'गमहनजनखन०' से अजादि कित् परे रहते उपधा (अ) का लोप, सकार को रुत्व और विसर्ग होकर रूप सिद्ध होता है।
जग्मतुः	

जग्मुः–लिट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से 'उस्' होकर शेष सिद्धि–प्रक्रिया 'जग्मतुः' के समान जानें।

जगमिथ–यहाँ 'गम्' धातु से लिट्, 'सिप्' और 'सिप्' के स्थान में 'थल्' होने पर 'उपदेशेऽत्वतः' से ह्रस्व अकारवान् 'गम्' धातु 'तास्' में नित्य अनिट् है अतः 'थल्' को 'इट्' आगम का निषेध प्राप्त हुआ, जिसे बाधकर 'ऋतो भारद्वाजस्य' से 'थल्' को विकल्प से इडागम हुआ। 'थल्' स्थानिवद्भाव से पित् होने के कारण कित् नहीं होता, अतः उपधा का लोप भी नहीं होता, शेष सिद्धि–प्रक्रिया 'जग्मतुः' के समान जानें।

जगन्थ–इडभाव पक्ष में 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अपदान्त मकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्णादेश होकर 'जगन्थ' रूप सिद्ध होता है।

जग्मथुः–'गम्', लिट्, म० पु०, द्वि व० में 'थस्' के स्थान पर 'परस्मैपदानां०' से 'अथुस्' होने पर सिद्धि–प्रक्रिया 'जग्मतुः' के समान जानें।

जगाम, जगम–'मिप्' के स्थान में 'णल्' होकर 'णलुत्तमो वा' से ज़ब 'णल्' विकल्प से 'णित्' होगा तो उपधावृद्धि आदि कार्य होकर 'जगाम' तथा णिदभाव पक्ष में 'जगम' रूप सिद्ध होंगे।

जग्मिव, जग्मिम–'गम्' धातु से लिट्, उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'वस्' और 'मस्' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से क्रमशः 'व' और 'म' होने पर क्रादि नियम से इडागम होने पर शेष सिद्धि–प्रक्रिया 'जग्मतुः' के समान जाननी चाहिए।

गन्ता–'अनद्यतने लुट्' से लुट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' के स्थान में 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्करण सामर्थ्य से टिभाग का लोप, 'नश्चापदान्त०' से मकार को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्णादेश होकर 'गन्ता' रूप सिद्ध होता है।

विशेष–'गन्ता' में 'एकाच उपदेशेऽनु०' से 'तास्' को 'इट्' आगम का निषेध होता है।

५०६. गमेरिट् परस्मैपदेषु ७।२।५८

गमेः परस्य सादेरार्धधातुकस्येट् स्यात् परस्मैपदेषु। गमिष्यति। गच्छतु। अगच्छत्। गच्छेत्। गम्यात्।

प० वि०–गमेः ५।१।। इट् १।१।। परस्मैपदेषु ७।१।। **अनु०**–आर्धधातुकस्य, से।

अर्थ–'गम्' धातु से उत्तर सकारादि आर्धधातुक को 'इट्' आगम होता है परस्मैपद परे रहते।

गमिष्यति

गम्	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'लृट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
गम् तिप्	'स्यतासी लृलुटोः' से 'स्य' विकरण प्रत्यय हुआ
गम् स्य ति	यहाँ 'आर्धधातुकस्येड्०' से प्राप्त 'इट्' का 'एकाच उपदेशेऽनु०' से निषेध होने पर पुनः 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' से 'गम्' धातु से उत्तर सकारादि आर्धधातुक को 'इट्' आगम हुआ, परस्मैपद परे रहते, अनुबन्ध-लोप
गम् इ स्य ति	'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षत्व होकर
गमिष्यति	रूप सिद्ध होता है।

गच्छतु–'गम्', 'लोट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्' आदि होने पर 'इषुगमियमां०' से 'म्' को 'छ्', 'छे च' से 'तुक्', 'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व तथा 'एरुः' से' इकार को उकारादेश होकर 'गच्छतु' रूप सिद्ध होता है।

अगच्छत्–'गम्', 'लङ्' लकार में 'तिप्' के इकार का 'इतश्च' से लोप, पूर्ववत् छत्व, तुगागम, श्चुत्व और 'लुङ्लङ्लृङ्० 'से अडागम होकर 'अगच्छत्' रूप सिद्ध होता है।

गच्छेत्–इसी प्रकार 'गच्छेत्' में 'गम्', विधिलिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'इषुगमियमां छः' से छत्व, 'छे च' से 'तुक्', 'यासुट्' और 'सुट्' आगम होने पर 'यासुट्' के 'यास्' को 'अतो येयः' से 'इय्', 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप तथा 'आद् गुणः' से गुणादि कार्य जानने चाहिएं।

गम्यात्–'गम्' धातु से आशीर्लिङ् में 'तिप्', 'यासुट्' और 'सुट्' होने पर 'स्कोः संयोगाद्योः०' से सकारों का लोप होकर 'गम्यात्' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

५०७. पुषादि-द्युतादि-लृदितः परस्मैपदेषु ३।१।५५

श्यन्विकरणपुषादेर्द्युतादेर्लृदितश्च परस्य च्लेरङ् परस्मैपदेषु। अगमत्। अगमिष्यत्।

।। इति परस्मैपदिनः।।

प० वि०–पुषादिद्युतादिलृदितः ५।३।। परस्मैपदेषु ७।३।। **अनु०**–च्लेः, लुङि, कर्तरि, अङ्।

अर्थः–पुषादि और द्युत् आदि (दिवादिगण में पठित) धातुओं से तथा लृदित् (लृकार इत् वाली) धातुओं से उत्तर '**च्लि**' के स्थान में '**अङ्**' आदेश होता है कर्तृवाची परस्मैपद लुङ् परे रहते।

अगमत्

गम्लृ	(गतौ) 'उपदेशेऽज०' से लृकार की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से उसका लोप होने पर 'लुङ्' सूत्र से भूतसामान्य में 'लुङ्' आया
गम् लुङ्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
गम् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'च्लि लुङि' से 'च्लि' प्रत्यय और 'पुषादिद्युता०' से परस्मैपद लुङ् परे होने पर 'च्लि' के स्थान में 'अङ्' आदेश हुआ
गम् अङ् त्	अनुबन्ध-लोप, 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
अगमत्	रूप सिद्ध होता है।

अगमिष्यत्—'गम्' धातु से 'लृङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी लृलुटोः' से 'स्य', 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' से 'इट्' आगम होने पर अडागम आदि कार्य होकर 'अगमिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

।। परस्मैपदी धातुएं समाप्त ।।

।। अथात्मनेपदिनः।।

।। यहाँ से आत्मनेपदी धातुएं प्रारम्भ होती हैं।।

एध वृद्धौ। १

५०८. टित आत्मनेपदानां टेरे: ३।४।७९

टितो लस्यात्मनेपदानां टेरेत्वम्। एधते।

प० वि०—टितः ६।१।। आत्मनेपदानाम् ६।३।। टेः ६।१।। एः १।१।। **अनु०**—लस्य।

अर्थः—टित् लकारों (लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट् और लोट्) के स्थान में जो आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय उनके टिभाग के स्थान में एकारादेश होता है।

एधते

एध	(वृद्धौ) 'उपदेशेऽज०' से 'अ' की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञक 'अ' का लोप हुआ
एध्	'भूवादयो धातवः' से भ्वादि में पठित 'एध्' की 'धातु' संज्ञा, 'वर्त्तमाने लट्' से 'लट्' प्रत्यय, 'लः कर्मणि च०' से 'लट्' कर्त्ता में आया
एध् लट्	अनुबन्ध-लोप
एध् ल्	'तिप्तस्झिसिप्थस्थ०' से लकार के स्थान में 'तिप्' आदि अट्ठारह आदेश प्राप्त हुए, 'लः परस्मैपदम्' से लकार के स्थान में आने वाले तिबादि की सामान्य रूप से 'परस्मैपद' संज्ञा हुई, 'तङानावात्मनेपदम्' से

'तङ्' अर्थात् त, आताम्, झ आदि नौ प्रत्ययों की और 'आन' अर्थात् 'शानच्' और 'कानच्' की 'आत्मनेपद' संज्ञा होने पर 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से अनुदात्तेत् 'एध्' धातु से उत्तर लकार के स्थान में आत्मनेपद संज्ञक 'त' आदि नौ प्रत्यय प्राप्त हुए, 'तिङस्त्रीणित्रीणि०' से 'तिङ्' के तीन-तीन के समुदाय की क्रमशः प्रथम, मध्यम और उत्तम (पुरुष) संज्ञा हुई। 'तान्येकवचनद्वि०' से प्रथम-पुरुषादि संज्ञक प्रत्ययों के तीन-तीन के समूह में से एक-एक की क्रमशः एक व०, द्वि व० और बहु व० संज्ञा हुई। 'शेषे प्रथमः' से शेष अर्थात् मध्यम और उत्तम पुरुष के निमित्त 'युष्मद्' और 'अस्मद्' से भिन्न पद उपपद में रहते धातु से प्र० पु० के तीन प्रत्यय 'त', 'आताम्' और 'झ' प्राप्त हुए। 'द्व्येकयोर्द्विव०' से एकत्व की विवक्षा में एकवचन का प्रत्यय 'त' आया

एध् त — 'कर्त्तरि शप्' से कर्त्तृवाची सार्वधातुक परे रहते धातु से 'शप्' प्रत्यय हुआ

एध् शप् त — अनुबन्ध-लोप

एध् अ त — 'अचोऽन्त्यादि टि' से तकार से उत्तरवर्ती अकार की 'टि' संज्ञा होने पर 'टित आत्मनेपदानां०' से टित् लकार के स्थान में आये हुए आत्मनेपद प्रत्यय 'त' के टि भाग 'अ' को एकारादेश हुआ

एध् अ त् ए — संहिता होने पर

एधते — रूप सिद्ध होता है।

५०९. आतो ङितः ७।२।८१

अतः परस्य ङितामाकारस्य 'इय्' स्यात्। एधेते। एधन्ते।

प० वि०—आतः ६।१॥ ङितः ६।१॥ **अनु०**—सार्वधातुके, अतः, इयः, अङ्गस्य।

अर्थः—ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से उत्तर ङित् सार्वधातुक सम्बन्धी आकार को 'इय्' आदेश होता है।

एधेते

एध् — पूर्ववत् 'लट्' लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्' आया

एध् आताम् — 'कर्त्तरि शप्' से कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते 'शप्' आकर अनुबन्ध-लोप हुआ

एध् अ आताम् — 'सार्वधातुकमपित्' से 'आताम्' ङित् है इसलिए 'आतो ङितः' से ह्रस्व अकारान्त से उत्तर ङित सम्बन्धी आकार को 'इय्' आदेश हुआ

	'तङ्' अर्थात् त, आताम्, झ आदि नौ प्रत्ययों की और **'आन'** अर्थात् 'शानच्' और 'कानच्' की 'आत्मनेपद' संज्ञा होने पर 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से अनुदात्तेत् 'एध्' धातु से उत्तर लकार के स्थान में आत्मनेपद संज्ञक 'त' आदि नौ प्रत्यय प्राप्त हुए, 'तिङस्त्रीणित्रीणि०' से 'तिङ्' के तीन-तीन के समुदाय की क्रमश: प्रथम, मध्यम और उत्तम (पुरुष) संज्ञा हुई। 'तान्येकवचनद्वि०' से प्रथम-पुरुषादि संज्ञक प्रत्ययों के तीन-तीन के समूह में से एक-एक की क्रमश: एक व०, द्वि व० और बहु व० संज्ञा हुई। 'शेषे प्रथम:' से शेष अर्थात् मध्यम और उत्तम पुरुष के निमित्त 'युष्मद्' और 'अस्मद्' से भिन्न पद उपपद में रहते धातु से प्र० पु० के तीन प्रत्यय 'त', 'आताम्' और 'झ' प्राप्त हुए। 'द्व्येकयोर्द्विव०' से एकत्व की विवक्षा में एकवचन का प्रत्यय 'त' आया
एध् त	'कर्त्तरि शप्' से कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते धातु से 'शप्' प्रत्यय हुआ
एध् शप् त	अनुबन्ध-लोप
एध् अ त	'अचोऽन्त्यादि टि' से तकार से उत्तरवर्ती अकार की 'टि' संज्ञा होने पर 'टित आत्मनेपदानां०' से टित् लकार के स्थान में आये हुए आत्मनेपद प्रत्यय 'त' के टि भाग 'अ' को एकारादेश हुआ
एध् अ त् ए	संहिता होने पर
एधते	रूप सिद्ध होता है।

५०९. आतो ङित: ७।२।८१

अत: परस्य ङितामाकारस्य 'इय्' स्यात्। एधेते। एधन्ते।

प० वि०—आत: ६।१।। ङित: ६।१।। **अनु०**—सार्वधातुके, अत:, इय:; अङ्गस्य।

अर्थ:—ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से उत्तर ङित् सार्वधातुक सम्बन्धी आकार को **'इय्'** आदेश होता है।

एधेते

एध्	पूर्ववत् 'लट्' लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्' आया
एध् आताम्	'कर्त्तरि शप्' से कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते 'शप्' आकर अनुबन्ध-लोप हुआ
एध् अ आताम्	'सार्वधातुकमपित्' से 'आताम्' ङित् है इसलिए 'आतो ङित:' से ह्रस्व अकारान्त से उत्तर ङित सम्बन्धी आकार को 'इय्' आदेश हुआ

एध् अ इय् ताम् — 'आद् गुणः' से गुण तथा 'लोपो व्योर्वलि' से 'वल्' परे रहते यकार का लोप हुआ

एधेताम् — 'टित आत्मनेपदानां टेरे:' से टिभाग अर्थात् 'आम्' को एकारादेश होकर

एधेते — रूप सिद्ध होता है।

एधन्ते—पूर्ववत् 'एध्', लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झ' आने पर 'झोऽन्तः' से 'झ्' के स्थान में 'अन्त्' आदेश, 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'टित आत्मने०' से टिभाग 'अ' को एत्व होकर 'एधन्ते' रूप सिद्ध होता है।

५१०. थासः से ३।४।८०

टितो लस्य थासः से स्यात्। एधसे। एधेथे। एधध्वे। 'अतो गुणे'-एधे, एधावहे, एधामहे।

प० वि०—थासः ६।१।। से १।१।। **अनु०**—लस्य, टितः।

अर्थः—टित् लकार सम्बन्धी **'थास्'** के स्थान में **'से'** आदेश होता है।

एधसे—'एध्' धातु से लट्, 'युष्मद्युपपदे०' से म० पु०, 'द्व्येकयो०' से एक व० में 'थास्', 'शप्' आने पर 'एध्+अ+थास्' इस स्थिति में 'थासः से' से टित् लकार के 'थास्' को 'से' आदेश होने पर 'एधसे' रूप सिद्ध होता है।

एधेथे—'एध्', लट्, 'युष्मद्युपपदे समानाधिकारणे०' से म० पु०, द्व्येकयो०' से द्विवचन की विवक्षा में 'आथाम्' प्रत्यय, 'शप्' आदि होने पर 'एधेते' के समान शेष सिद्धि-प्रक्रिया जाननी चाहिए।

एधध्वे—'एध्' धातु से म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्' प्रत्यय, 'शप्' होने पर 'टित आत्मानेपदानां टेरे:' से टिभाग 'अम्' को एत्व होकर 'एधध्वे' रूप सिद्ध होता है।

एधे—'एध्', लट्, 'अस्मद्युत्तमः' से उ० पु०, 'द्व्येकयोर्द्वि०' से एक व० की विवक्षा में 'इट्', 'शप्' होने पर 'एध्+अ+इ' इस स्थिति में 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग 'इ' को एत्व होने पर 'अतो गुणे' से पररूप होकर 'एधे' रूप सिद्ध होता है।

एधावहे, एधामहे—'एध्', लट्, उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में क्रमशः 'वहि', और 'महिङ्' प्रत्यय होने पर 'अतो दीर्घो यञि' से 'शप्' के अकार को दीर्घ तथा 'टित आत्मने०' से एत्व होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

५११. इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ३।१।३६

इजादिर्योधातुर्गुरुमानृच्छत्यन्यस्तत आम् स्याल्लिटि।

प० वि०—इजादेः ५।१।। च अ०।। गुरुमतः ५।१।। अनृच्छः ५।१।। **अनु०**—धातोः, आम्, लिटि।

अर्थः—**ऋच्छ्** वर्जित जो इजादि (इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ और औ आदि में है जिसके ऐसी) धातु गुरुवर्ण वाली, उससे **'आम्'** होता है लिट् परे रहते।

५१२. आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य १।३।६३

आम्प्रत्ययो यस्माद् इत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात् कृञोऽप्यात्मनेपदम्।

प० वि०—आम्प्रत्ययवत् १।१।। कृञः ५।१।। अनुप्रयोगस्य ६।१।। **अनु०**—आत्मनेपदम्।

अर्थः—'आम्' प्रत्यय जिस धातु से किया गया है उसी धातु के समान, अनुप्रयुक्त **'कृञ्'** धातु से भी आत्मनेपद होता है।

५१३. लिटस्तझयोरेशिरेच् ३।४।८१

लिडादेशयोस्तझयोः 'एश्' 'इरेच्' एतौ स्तः। एधाञ्चक्रे, एधाञ्चक्राते। एधाञ्चक्रिरे। एधाञ्चकृषे, एधाञ्चक्राथे।

प० वि०—लिटः। ६।१।। तझयोः ६।२।। एशिरेच् १।१।।

अर्थः—लिट्स्थानी **'त'** और **'झ'** के स्थान में क्रमशः **'एश्'** और **'इरेच्'** आदेश होते हैं।

एधाञ्चक्रे

एध्	'परोक्षे लिट्' से परोक्ष भूत अर्थ में धातु से 'लिट्' आया
एध् लिट्	'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' से इजादि गुरुमान् 'एध्' धातु से 'लिट्' परे रहते 'आम्' प्रत्यय हुआ
एध् आम् लिट्	'आमः' से 'आम्' से उत्तर 'लिट्' का लुक् हुआ
एध आम्	'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' से आमन्त से उत्तर लिट्परक 'कृञ्' का अनुप्रयोग हुआ
एध् आम् कृ लिट्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'आम्प्रत्ययवत् कृञो०' से 'आम्' की प्रकृति 'एध्' के समान अनुप्रयुक्त 'कृ' से भी आत्मनेपद हुआ। 'शेषे प्रथमः' से प्र० पु० तथा 'द्व्येकयो०' से एकवचन की विवक्षा में 'त' आया
एध् आम् कृ त	'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'त' के स्थान में 'एश्' आदेश, 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' से सम्पूर्ण 'त' के स्थान में हुआ
एध् आम् कृ एश्	'लिट् च' से 'लिट्' की आर्धधातुक संज्ञा होने पर 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण प्राप्त था, जिसका 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'एश्' के कित् होने से, 'क्ङिति च' से निषेध होने पर 'इको यणचि' से 'यण्' आदेश प्राप्त हुआ, 'द्विवचनेऽचि' से द्विर्वचननिमित्तक अजादि प्रत्यय परे रहते द्वित्व करने के विषय में यणादेश का निषेध होने पर 'लिटि धातोरन०' से 'कृ' को द्वित्व हुआ
एध् आम् कृ कृ ए	'पूर्वोभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'उरत्' से 'अभ्यास' में ऋकार के स्थान में अकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'अर्' हुआ

एध् आम् कर् कृ ए	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
एध् आम् क कृ ए	'कुहोश्चुः' से अभ्यास में कवर्ग को चवर्गादेश हुआ
एधाम्चक्र ए	'इको यणचि' से 'ऋ' के स्थान में 'र्' आदेश, 'मोऽनुस्वारः' से मकार को 'झल्' परे रहते अनुस्वार आदेश होने पर 'वा पदान्तस्य' से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्ण 'ञ्' होकर
एधाञ्चक्रे	रूप सिद्ध होता है।

एधाचक्राते—'एधाञ्चक्रे' के समान 'एध्' धातु से 'लिट्' परे रहते 'आम्' प्रत्यय, 'आमः' से 'लिट्' का लुक्, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' से 'कृ' का अनुप्रयोग तथा 'आम्प्रत्ययवत्०' से अनुप्रयुक्त 'कृ' से आत्मनेपद होने पर प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्' आकर पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यासादि कार्य 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार, 'वा पदान्तस्य' से परसवर्ण और 'टित आत्मने०' से टिभाग 'आम्' को एकारादेश होकर 'एधाञ्चक्राते' रूप सिद्ध होता है।

एधाञ्चक्रिरे—यहाँ लिट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झ' आने पर 'लिटस्तझयो०' से 'झ' के स्थान में 'इरेच्' आदेश होने पर शेष सभी कार्य 'एधाञ्चक्रे' के समान जानें।

एधाञ्चकृषे—'एध्' धातु से लिट्, म० पु०, एक व० में 'थास्' को 'थासः से' से 'से' आदेश तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य षकार होता है शेष सभी द्वित्वादि कार्य पूर्ववत् जानें।

एधाञ्चक्राथे—'एध्' धातु से लिट्, म० पु०, द्वि व० में 'आथाम्' आने पर 'एधाञ्चक्राते' के समान सभी कार्य जानें।

५१४. इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् ८।३।७८

इण्णन्तादङ्गात् परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य ढः स्यात्। एधाञ्चकृढ्वे। एधाञ्चक्रे। एधाञ्चकृवहे। एधाञ्चकृमहे। एधाम्बभूव। एधामास। एधिता। एधितारौ। एतिधारः। एधितासे। एधितासाथे।

प० वि०—इणः ५।१।षीध्वंलुङ्लिटाम् ६।३।। धः ६।१।। अङ्गात् ५।१।। **अनु०**—मूर्धन्यः।

अर्थः—इणन्त अङ्ग से उत्तर 'षीध्वम्' के धकार तथा लुङ् और लिट् सम्बन्धी धकार को मूर्धन्यादेश होता है।

एधाञ्चकृढ्वे—'एध्', लिट्, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्' परे रहते 'एधाञ्चकृध्वम्' इस स्थिति में 'टित आत्मने०' से एत्व, 'इणः षीध्वं०' से इणन्त अङ्ग से उत्तर लिट् सम्बन्धी धकार को मूर्धन्यादेश 'ढ्' होकर 'एधाञ्चकृढ्वे' रूप सिद्ध होता है।

एधाञ्चक्रे—'एध्', लिट्, उ० पु०, एक व० में 'इट्' आने पर 'टित आत्मने०' से एत्व होकर यणादेशादि कार्य पूर्ववत् होकर 'एधाञ्चक्रे' रूप सिद्ध होता है।

एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे—यहाँ क्रमशः 'वहि' और 'महिङ्' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व तथा शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जाननी चाहिए।

एधाम्बभूव

एध्	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्', 'इजादेश्चगुरुमतो०' से इजादि गुरुवर्ण वाली 'एध्' से 'आम्' आया
एध् आम् लिट्	'आमः' से 'लिट्' का लुक्, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' से लिट्-परक 'भू' का अनुप्रयोग हुआ
एध् आम् भू लिट्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, 'शेषात्कर्त्तरि०' से 'भू' धातु से परस्मैपद के प्रत्यय आने पर 'शेषे प्रथमः' से प्र० पु०, तथा 'द्व्येकयो०' से एक व० में 'तिप्' आया[1]
एध् आम् भू तिप्	'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' हुआ
एधाम् भू णल्	अनुबन्ध-लोप, 'भुवो वुग् लुङ्लिटोः' से 'वुक्' आगम, अनुबन्ध-लोप
एधाम् भूव् अ	'लिटि धातो०' से द्वित्व 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि हल् शेष रहा
एधाम्भू भूव् अ	'ह्रस्वः' से अभ्यास में 'ऊ' को ह्रस्व, 'भवतेरः' से 'ह्रस्व उकार को अकारादेश, 'अभ्यासे चर्च' से झलों को चरादेश, 'मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' से अनुस्वार को परसवर्ण आदेश होकर
एधाम्बभूव	रूप सिद्ध होता है।

एधामास–'एधाम्बभूव' के समान लिट्-परक 'अस्' धातु का अनुप्रयोग होने पर 'एध+आम्+अस्+लिट्' इस स्थिति में 'तिप्' के स्थान में 'णल्', द्वित्व, अभ्यास-कार्य, 'अत आदेः' से अभ्यास के ह्रस्व अकार को दीर्घ तथा 'अकः सवर्णे०' से सवर्णदीर्घ एकादेश होकर 'एधामास' रूप सिद्ध होता है।

एधिता

एध्	'अनद्यतने लुट्' से 'लुट्', तिबाद्युत्पत्ति, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
एध् त	'स्यतासी लृलुटोः' से 'लुट्' परे रहते 'तास्' प्रत्यय हुआ
एध् तास् त	'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम हुआ, अनुबन्ध-लोप
एध् इ तास् त	'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' से 'त' के स्थान में 'डा' आदेश, अनुबन्ध-लोप
एधितास् आ	डित्करण सामर्थ्य से 'भ' संज्ञा न होने पर भी डित् परे रहते 'तास्' के टिभाग 'आस्' का लोप हुआ

---

१. आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य' सूत्र में 'कृञ्' प्रत्याहार का ग्रहण न होने से अनुप्रयुक्त 'भू' और 'अस्' से आम् प्रत्यय की प्रकृति 'एध्' के समान आत्मनेपद नहीं होगा।

एधित् आ संहिता होकर

एधिता रूप सिद्ध होता है।

एधितारौ–'एध्', लुट् लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्' के स्थान पर 'लुटः प्रथमस्य०' से 'रौ' आदेश, 'तास्', 'इट्', 'रि च' से रेफ परे रहते सकार का लोप होने पर शेष सभी कार्य 'एधिता' के समान होकर 'एधितारौ' रूप सिद्ध होता है।

एधितारः–'एध्' लुट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झ' आने पर 'लुटः प्रथमस्य०' से 'झ' के स्थान पर 'रस्' आदेश होकर सकार को 'ससजुषो रुः' से रुत्व तथा 'खरवसानयो०' से विसर्ग होते हैं। शेष सभी कार्य पूर्ववत् जानें।

एधितासे–'एध्', लुट्, आत्मनेपद, म० पु०, एक व० में 'थास्' आने पर 'थासः से' से 'थास्' के स्थान पर 'से' आदेश होकर 'तासस्त्योर्लोपः' से सकारादि प्रत्यय परे रहते 'तास्' के सकार का लोप होता है, शेष सभी कार्य पूर्ववत् जानें।

एधितासाथे–'एध्', लुट्, म० पु०, द्वि व० में 'आथाम्' आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे:' से एत्व, तथा पूर्ववत् सभी कार्य होकर 'एधितासाथे' रूप सिद्ध होता है।

५१५. धि च ८।२।२५

धादौ प्रत्यये परे सस्य लोपः। एधिताध्वे।

प० वि०–धि ७।१।। च अ०।। **अनु०**–लोपः, सस्य।

अर्थः–धकारादि प्रत्यय परे रहते सकार का लोप होता है।

एधिताध्वे–'एध्' धातु से लुट्, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्', 'तास्' तथा इडागम होने पर 'एध्+इ+तास्+ध्वम्' इस स्थिति में 'धि च' से सकार-लोप तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से 'अम्' को एत्व होने पर 'एधिताध्वे' रूप सिद्ध होता है।

५१६. ह एति ७।४।५२

तासस्त्योः सस्य हः स्यादेति परे। एधिताहे। एधितास्वहे। एधितास्महे। एधिष्यते। एधिष्येते। एधिष्यन्ते। एधिष्यसे। एधिष्येथे। एधिष्यध्वे। एधिष्ये। एधिष्यावहे। एधिष्यामहे।

प० वि०–हः १।१।। एति ७।१।। **अनु०**–सः, तासस्त्योः।

अर्थः–**'तास्'** और **'अस्'** धातु के सकार के स्थान पर हकार आदेश होता है, एकार परे रहते।

एधिताहे–'एध्', लुट्, उ० पु०, एक व० में 'इट्' आने पर 'तास्', इडागम आदि कार्य होने पर 'एधि+तास्+इ' इस स्थिति में 'टित आत्मनेपदानां०' से एकारादेश होने पर 'ह एति' से एकार परे रहते सकार के स्थान में हकारादेश होकर 'एधिताहे' रूप सिद्ध होता है।

एधितास्वहे तथा एधितास्महे में क्रमशः उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'वहि' और 'महिङ्', 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व आदि सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

एधिष्यते

एध्	'लृट् शेषे च' से 'लृट्' लकार, तिबाद्युत्पत्ति, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
एध् त	'स्यतासी लृलुटोः' से 'स्य' प्रत्यय, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'स्य' को इडागम, अनुबन्ध-लोप
एधिस्य त	'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्यादेश तथा 'टित आत्मनेपदानां टेरेः' से टिभाग को एत्व होकर
एधिष्यते	रूप सिद्ध होता है।

एधिष्येते, एधिष्येथे—'एध्', लृट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० और म० पु०, द्वि व० में क्रमशः 'आताम्' और 'आथाम्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'सार्वधातुकमपित्' से 'आताम्' और 'आथाम्' के ङित्वत् होने पर 'आतो ङितः' से आकार को 'इय्' आदेश, 'आद् गुणः' से गुण, लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व और 'टित आत्मनेपदानां०' से 'आम्' को एकार आदेश होकर 'एधिष्येते' और 'एधिष्येथे' रूप सिद्ध होते हैं।

एधिष्यन्ते, एधिष्यसे में क्रमशः 'झ्' को 'झोऽन्तः' से 'अन्त्' आदेश और 'थास्' को 'थासः से' से 'से' आदेश होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

एधिष्यध्वे, एधिष्ये में 'ध्वम्' और 'इट्' आने पर सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

एधिष्यावहे, एधिष्यामहे में 'वहि' और 'महि' परे रहते 'अतो दीर्घो यञि' से दीर्घ होता है।

५१७. आमेतः ३।४।९०

लोट एकारस्याम् स्यात्। एधताम्। एधेताम्। एधन्ताम्।

प०वि०—आम् १।१।। एतः ६।१।। **अनु०**—लोटः।

अर्थः—लोट् सम्बन्धी **एकार** के स्थान में **'आम्'** आदेश होता है।

एधताम्—'एध्' धातु से 'लोट् च' से 'लोट्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'एधते' बनने पर 'आमेतः' से एकार के स्थान में 'आम्' आदेश होकर 'एधताम्' रूप सिद्ध होता है।

एधेताम्—'एध्', लोट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्' तथा 'शप्' आने पर 'एध्+अ+आताम्' यहाँ 'सार्वधातुकमपित्' से 'आताम्' ङित्वत् होता है अतः 'आ' के स्थान में 'आतो ङितः' से 'इय्' आदेश, 'आद् गुणः' से गुण, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'टित आत्मने०' से एत्व और 'आमेतः' से एकार को आमादेश होकर 'एधेताम्' रूप सिद्ध होता है।

५१८. सवाभ्यां वाऽमौ ३।४।९१

सवाभ्यां परस्य लोडेतः क्रमाद् वाऽमौ स्तः। एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम्।

प० वि०—सवाभ्याम् ५।२।। वाऽमौ१।२।। **अनु०**—लोटः, एतः।

अर्थः–सकार और वकार से उत्तर लोट् सम्बन्धी एकार के स्थान पर क्रमशः '**व**' और '**अम्**' आदेश होते हैं।

एधस्व–'एध्', लोट् म० पु०, एक व० में 'थास्' के स्थान में 'थासः से' से 'से' आदेश होकर 'एधसे' बनने पर 'आमेतः' से 'आम्' आदेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'सवाभ्यां वाऽमौ' से सकार से उत्तर लोट् सम्बन्धी एकार के स्थान में '**व**' आदेश होकर 'एधस्व' रूप सिद्ध होता है।

एधेथाम्–'एध्', लोट्, म० पु०, द्वि व० में 'आथाम्' आने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'एधेताम्' के समान जानें।

एधध्वम्–'एध्', लोट्, म० पु०, बहु व० में 'एधध्वे' रूप बनने पर 'सवाभ्यां वाऽमौ' से वकारोत्तरवर्ती एकार को 'अम्' आदेश होकर 'एधध्वम्' रूप सिद्ध होता है।

५१९. एत ऐ ३।४।९३

लोडुत्तमस्य एत ऐ स्यात्। एधै। एधावहै। एधामहै। 'आटश्च'–ऐधत, ऐधेताम्, ऐधन्त। ऐधथाः, ऐधेथाम्, ऐधेध्वम्। ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि।

प० वि०–एतः ६।१।। ऐ १। १।। **अनु०**–लोटः, उत्तमस्य।

अर्थः–लोट् के उ० पु० सम्बन्धी एकार के स्थान में ऐकारादेश होता है।

एधै–'एध्', लोट्, उ० पु०, एक व० में 'इट्' आने पर 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'टित आत्मनेपदानां टेरेः' से 'इ' को एत्व, 'एत ऐ' से लोट् लकार उ० पु० के एकार को ऐकारादेश, 'आडुत्तमस्य पिच्च' से 'आट्' आगम, 'आटश्च' से वृद्धि होने पर 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि होकर 'एधै' रूप सिद्ध होता है।

एधावहै, एधामहै–'एध्', उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'वहि' और 'महिङ्' प्रत्यय, 'शप्', 'आडुत्तमस्य पिच्च' से 'आट्', 'टित आत्मनेपदानां टेरेः' से एत्व, 'एत ऐ' से 'ए' के स्थान पर 'ऐ' आदेश और 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ आदेश होकर 'एधावहै' और 'एधामहै' रूप सिद्ध होते हैं।

ऐधत

एध्	'अनद्यतने लङ्' से 'लङ्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'त' तथा 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्' हुआ
एध् शप् त	अनुबन्ध-लोप
एध् अ त	'आडजादीनाम्' से अजादि धातु को 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से 'आट्' से उत्तर 'अच्' परे रहते वृद्धि एकादेश होकर
ऐधत	रूप सिद्ध होता है

ऐधेताम्–'एध्', लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'आतो ङितः' से ङित् सम्बन्धी 'आ' को 'इय्' आदेश, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'आद्

गुण:' से गुण होकर 'एधेताम्' रूप बनने पर पूर्ववत् 'आडजादीनाम्' से आडागम तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'ऐधेताम्' रूप सिद्ध होता है।

ऐधन्त–'एध्', लङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश होने पर 'शप्' के अकार तथा 'अन्त्' के अकार को 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

ऐधथाः–'एध्', लङ्, म० पु०, एक व० में 'थास्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'थास्' के सकार को रुत्व एवं विसर्ग, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'ऐधथाः' रूप सिद्ध होता है।

ऐधेथाम्–'एध्', लङ्, म० पु०, द्वि व० में 'आथाम्' प्रत्यय आने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'ऐधेताम्' (५१७) के समान जाननी चाहिए।

ऐधध्वम्–'एध्', लङ्, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'ऐधध्वम्' रूप सिद्ध होता है।

ऐधे–'एध्', लङ्, उ० पु०, एक व० में 'इट्', 'शप्', 'इट्' आने पर 'एध् + अ + इ' इस स्थिति में 'आद् गुणः' से गुण, 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'ऐधे' रूप सिद्ध होता है।

ऐधावहि, ऐधामहि–'एध्', लङ्, उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में क्रमशः 'वहि' और 'महिङ्' प्रत्यय, 'शप्', 'अतो दीर्घो यञि' से 'शप्' के अकार को दीर्घ होकर पूर्ववत् आडागम और वृद्धि आदि कार्य होकर 'एधावहि' और 'एधामहि' रूप सिद्ध होते हैं।

५२०. लिङः सीयुट् ३।४।१०२

लिङादेशानां सीयुडागमः स्यादात्मनेपदे। सलोपः–एधेत, एधेयाताम्।

प० वि०–लिङः ६।१। सीयुट् १।१।। **अनु०**–आत्मनेपदानाम्।

अर्थः–लिङ् के स्थान में आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्ययों को **'सीयुट्'** आगम होता है।

एधेत

एध्	'विधिनिमन्त्रणामन्त्रण०' से विध्यादि अर्थों में 'लिङ्' आया
एध् लिङ्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
एध् त	'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', अनुबन्ध-लोप
एध् अ त	'लिङः सीयुट्' से 'त' को 'सीयुट्' आगम तथा 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम हुआ
एध् अ सीयुट् सुट् त	अनुबन्ध-लोप
एध् अ सीय् स् त	'लिङः सलोपो०' से सार्वधातुक लिङ् सम्बन्धी दोनों सकारों का लोप और 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप हुआ

एध् अ इ त — 'आद् गुणः' से गुण होकर
एधेत — रूप सिद्ध होता है।

एधेयाताम्–'एध्', धातु से लिङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्' आने पर पूर्ववत् 'शप्', 'सीयुट्' तथा 'सुट्' आगम होने पर 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप तथा 'आद् गुणः' से गुण होकर 'एधेयाताम्' रूप सिद्ध होता है।

५२१. झस्य रन् ३।४।१०५

लिङो झस्य रन् स्यात्। एधेरन्। एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम्।

प० वि०–झस्य ६।१।। रन् १।१।। **अनु०**–लिङः।

अर्थः–लिङ् के स्थान में जो 'झ', उस 'झ' को 'रन्' आदेश होता है।

एधेरन्–'एध्' धातु से 'लिङ्', प्र० पु०, बहु व० में 'झ' आने पर 'झस्य रन्' से 'झ' को 'रन्' आदेश, पूर्ववत् 'शप्' तथा 'सीयुट्' आगम होने पर 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप, 'लिङः सलोपो०' से सकार का लोप तथा 'आद् गुणः' से गुण होकर 'एधेरन्' रूप सिद्ध होता है।

एधेथाः– 'एध्', लिङ्, म० पु०, एक व० में 'थास्' आने पर 'एधेत' के समान 'शप्', 'सीयुट्', 'सुट्', सकार-लोप, यकार का वलादि लोप तथा गुणादि कार्य होने पर सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'एधेथाः' रूप सिद्ध होता है।

एधेयाथाम्–'एध्', लिङ्, म० पु०, द्वि व० में 'आथाम्' आने पर 'एधेयाताम्' के समान सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

एधेध्वम्–'एध्', लिङ्, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्' आने पर सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

५२२. इटोऽत् ३।४।१०६

लिङादेशस्य इटोऽत् स्यात्। एधेय, एधेवहि, एधेमहि।

प० वि०–इटः ६।१।। अत् १।१।। **अनु०**–लिङः।

अर्थः–लिङ् के स्थान पर आने वाले **'इट्'** को **'अत्'** अर्थात् ह्रस्व अकार आदेश होता है।

एधेय–'एध्' धातु से 'लिङ्', उ० पु०, एक व० में 'इट्' आने पर 'इटोऽत्' से 'अत्' आदेश, पूर्ववत् 'शप्', 'सीयुट्', 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप तथा 'आद् गुणः' से गुण होकर 'एधेय' रूप सिद्ध होता है।

एधेवहि, एधेमहि–'एध्', लिङ् उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'वहि' तथा 'महिङ्' प्रत्यय होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

५२३. सुट् तिथोः ३।४।१०७

लिङस्तथोः सुट्। यलोपः। आर्धधातुकत्वात् सलोपो न। एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम्, एधिषीरन्। एधिषीष्ठाः, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम्। एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि। ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्।

प० वि०–सुट् १।१।। तिथोः ६।२।। **अनु०**–लिङः।

अर्थः–लिङ् सम्बन्धी तकार और थकार को **'सुट्'** आगम होता है।

एधिषीष्ट

एध्	'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
एध् त	'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्' तथा 'सुट् तिथोः' से लिङ् सम्बन्धी तकार को 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
एध् सीय् स् त	'लिङाशिषि' से आशिषिलिङ् आर्धधातुक होता है अतः 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, अनुबन्ध-लोप
एध् इ सीय् स् त	'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'आदेशप्रत्यययोः' से इण् से उत्तर दोनों सकारों को मूर्धन्य षकार होने पर 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व 'त्' को 'ट्' होकर
एधिषीष्ट	रूप सिद्ध होता है।

एधिषीयास्ताम्–'एध्' धातु से आशीर्वाद् अर्थ में लिङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से 'आताम्' के तकार को 'सुट्' आगम होकर 'एध्+सीयुट्+आ+सुट् + ताम्' यहाँ 'लिङाशिषि' से 'लिङ्' की आर्धधातुक संज्ञा होने से 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम और 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'एधिषीयास्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

एधिषीरन्–'एध्', आशीर्लिङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झ' आने पर 'झस्य रन्' से 'झ' को 'रन्' ओदश होने पर पूर्ववत् 'सीयुट्', 'इट्' आगम, यकार-लोप तथा षत्व होकर 'एधिषीरन्' रूप सिद्ध होता है।

एधिषीष्ठाः–'एध्', आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', म० पु०, एक व० में 'थास्' आने पर 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से थकार को 'सुट्' आगम, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्', 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व, ष्टुत्व तथा सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'एधिषीष्ठाः' रूप सिद्ध होता है।

एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम् 'एध्', लिङ्, म० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'आथाम्' और 'ध्वम्' आने पर सर्वत्र 'सीयुट्' आगम, 'इट्', 'सुट्', मूर्धन्यादेश, यथावसर यकार-लोपादि कार्य पूर्ववत् जानें।

एधिषीय–यहाँ लिङ्स्थानी उ० पु०, एक व० में 'इट्' के स्थान में 'इटोऽत्' से 'अत्' आदेश होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

ऐधिष्ट	
एध्	'लुङ्' से भूतकाल सामान्य अर्थ में 'लुङ्' प्रत्यय हुआ
एध् लुङ्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति से प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
एध् त	'च्लि लुङि' से लुङ् परे रहते 'च्लि' प्रत्यय हुआ
एध् च्लि त	'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश हुआ
एध् सिच् त	अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'सिच्' को इडागम, अनुबन्ध-लोप
एध् इ स् त	'आडजादीनाम्' से अजादि धातु को 'लुङ्' परे रहते 'आट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
आ एध् इ स् त	'आटश्च' से वृद्धि और 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य षकार हुआ
ऐधिष्त	'ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार होकर
ऐधिष्ट	रूप सिद्ध होता है।

ऐधिषाताम्–'एध्', लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में पूर्ववत् 'आताम्', 'सिच्', 'इट्', 'आट्', वृद्धि और मूर्धन्यादेश होकर 'ऐधिषाताम्' रूप सिद्ध होता है।

५२४. आत्मनेपदेष्वनतः ७।१।५

अनकारात् परस्यात्मनेपदेषु झस्य 'अत्' इत्यादेशः स्यात्। ऐधिषत। ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्, ऐधिढ्वम्। ऐधिषि, ऐधिष्वहि ऐधिष्महि। ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त। ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि। ऐधिष्यामहि। कमु कान्तौ ।२।

प० वि०–आत्मनेपदेषु ७।३।। अनतः ५।१।। **अनु०**–झः, अत्, अङ्गस्य।

अर्थः–अनकारान्त अङ्ग से उत्तर आत्मनेपद में **'झ्'** के स्थान में **'अत्'** आदेश होता है।

ऐधिषत–'एध्' धातु से 'लुङ्', प्र० पु०, बहु व० में 'झ' आने पर 'आत्मनेपदेष्वनतः' से 'झ्' को 'अत्' होने पर 'ऐधिष्ट' (५२३) के समान 'च्लि', 'सिच्', 'इट्', 'आट्', वृद्धि तथा षत्व होकर 'ऐधिषत' रूप सिद्ध होता है।

ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम् इत्यादि में सर्वत्र 'च्लि', 'सिच्', 'इट्', आट्, वृद्धि तथा षत्व आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

ऐधिढ्वम्–यहाँ 'एध्', लुङ्, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्' परे रहते पूर्ववत् 'च्लि', 'सिच्', 'इट्', 'आट्' और 'आटश्च' से वृद्धि होने पर 'ऐधि+स्+ध्वम्' इस स्थिति में 'धि च' से सकार का लोप, 'इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात्' से 'इण्' से उत्तर लुङ् सम्बन्धी धकार को ढकारादेश होकर 'ऐधिढ्वम्' रूप सिद्ध होता है।

ऐधिष्यत

एध्	'लिङ्निमित्ते लृङ्०' से हेतुहेतुमद्भाव गम्यमान होने और क्रिया की निष्पन्नता न होने पर भविष्यदर्थ में धातु से 'लृङ्' हुआ
एध् लृङ्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, आत्मेनपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
एध् त	'स्यतासी लृलुटोः' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
एध् इ स्य त	'आडजादीनाम्' से लृङ्' परे रहते 'आट्' आगम हुआ
आट् एध् इ स्य त	अनुबन्ध-लोप, 'आटश्च' से वृद्धि और 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य षकार होकर
ऐधिष्यत	रूप सिद्ध होता है।

ऐधिष्येताम्

एध्	पूर्ववत् 'लृङ्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
एध् इ स्य आताम्	'सार्वधातुकमपित्' से 'आताम्' के ङित्वत् होने पर 'आतो ङितः' से ङित् सम्बन्धी आकार को 'इय्' आदेश हुआ
एध् इ स्य इय् ताम्	'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप तथा 'आद् गुणः' से गुण हुआ
एधिस्येताम्	'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम, 'आटश्च' से वृद्धि तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर
ऐधिष्येताम्	रूप सिद्ध होता है।

ऐधिष्यन्त, ऐधिष्येथाः इत्यादि में सर्वत्र 'स्य', 'इट्', 'आट्' तथा वृद्धि आदि कार्य पूर्ववत् जानने चाहिए।

ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि में 'एध्', लृङ्, उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'वहि' और 'महिङ्' परे रहते 'स्य', 'इट्', 'आट्' और वृद्धि आदि पूर्ववत् होने पर 'अतो दीर्घो यञि' से दीर्घादेश जानें।

५२५. कमेर्णिङ् ३।१।३०

स्वार्थे। ङित्त्वात् तङ्-कामयते

प० वि०–कमेः ५।१।। णिङ १।१।।

अर्थः–'**कमु कान्तौ**' धातु से स्वार्थ में '**णिङ्**' प्रत्यय होता है।

कामयते

कमु	अनुबन्ध-लोप, 'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'कमेर्णिङ्' से 'कमु' (कान्तौ) धातु से स्वार्थ में 'णिङ्' प्रत्यय हुआ

कम् णिङ्	अनुबन्ध-लोप, 'अत उपधायाः' से उपधा के अकार को वृद्धि हुई
कामि	'सनाद्यन्ता धातवः' से णिङन्त की 'धातु' संज्ञा होने पर 'वर्त्तमाने लट्' से 'लट्' आया
कामि लट्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से 'कामि' धातु के ङित् होने से आत्मेनपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
कामि त	'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', अनुबन्ध-लोप
कामि अ त	'सार्वधातुकार्ध०' से सार्वधातुक 'शप्' परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण हुआ
कामे अ त	'एचोऽयवायावः' से 'ए' को 'अय्' आदेश तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग को एत्व होकर
कामयते	रूप सिद्ध होता है।

५२६. अयामन्ताऽऽल्वाऽऽय्येत्न्विष्णुषु ६।४।५५

आम् अन्त आलु आय्य इत्नु इष्णु एषु णेरयादेशः स्यात्। कामयाञ्चक्रे। (४६९) 'आयादय' इति णिङ् वा। चकमे, चकमाते, चकमिरे। चकमिषे, चकमाथे, चकमिध्वे। चकमे, चकमिवहे, चकमिमहे । कामयिता, कमिता। कामयितासे। कामयिष्यते, कमिष्यते। कामयताम्। अकामयत। कामयेत। कामयिषीष्ट।

प० वि०—अय् १।१।। आमन्ताऽऽल्वाऽऽय्येत्न्विष्णुषु ७।३।। **अनु०**—णेः।

अर्थः—आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु और **इष्णु** प्रत्यय परे होने पर **'णि'** के स्थान पर **'अय्'** ओदश होता है।

कामयाञ्चक्रेः

कम्	'कमेर्णिङ्' से स्वार्थ में 'णिङ्', अनुबन्ध-लोप, 'अत उपधायाः' से उपधा-वृद्धि, 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा और 'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' प्रत्यय हुआ
कामि लिट्	'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' से 'लिट्' परे रहते 'आम्' हुआ
कामि आम् लिट्	'आमः' से 'आम्' से उत्तर 'लिट्' का लुक् हुआ
कामि आम्	'णेरनिटि' से अनिडादि आर्धधातुक परे रहते 'णि' का लोप प्राप्त था, जिसे बाधकर 'अयामन्ताऽल्वा०' से 'आम्' परे रहते 'णि' को 'अय्' आदेश हुआ
कामय् आम्	'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' से लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग
कामयाम् कृ लिट्	अनुबन्ध-लोप, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
कामयाम् कृ त	'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्' आदेश हुआ
कामयाम् कृ एश्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातोरनभ्या०' से 'कृ' को द्वित्व हुआ

कामयाम् कृ कृ ए	'उरत्' से अभ्यास में 'ऋ' के स्थान में 'अ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'अर्' हुआ, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
कामयाम् क कृ ए	'कुहोश्चुः' से अभ्यास में कवर्ग को चवर्ग आदेश तथा 'इको यणचि' से यणादेश, हुआ
कामयाम् चक्र् ए	'मोऽनुस्वारः' से 'म्' को अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्ण होकर
कामयाञ्चक्रे	रूप सिद्ध होता है।

चकमे

कम्	यहाँ 'कमेर्णिङ्' से स्वार्थ में 'णिङ्' प्राप्त था, जो 'आयादय आर्धधातुके वा' से आर्धधातुक के विषय में विकल्प से होता है। 'लिट्' आर्धधातुक प्रत्यय आगे किया जायेगा अतः 'णिङ्' के अभाव-पक्ष में 'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' आया
कम् लिट्	तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
कम् त	'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप
कम् ए	'लिटि धातो०' से 'लिट्' परे रहते अनभ्यास 'धातु' को द्वित्व
कम् कम् ए	'पूर्वोभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि हल् 'क्' शेष रहने पर 'कुहोश्चुः' से 'क्' को 'च्' होकर
चकमे	रूप सिद्ध होता है।

चकमाते, **चकमिरे** में 'आताम्' के टिभाग 'आम्' को 'टित आत्मने०' से एत्व तथा 'झ' को 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'इरेच्' होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'चकमे' के समान जानें।

चकमिषे–'कम्', लिट्, म० पु०, एक व० में 'थास्' को 'थासः से' से 'से' आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्० से इडागम, द्वित्व, अभ्यास-कार्य और 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'चकमे' के समान ही 'चकमिषे' की सिद्धि जानें।

चकमिध्वे–'कम्', लिट्, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, टिभाग को एत्व होकर शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

इसी प्रकार **चकमे**, **चकमिवहे**, **चकमिमहे** में 'टित आत्मानेपदानां०' से एत्व, तथा 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागमादि पूर्ववत् जानने चाहिए।

कामयिता

कम्	'कमेर्णिङ्' से स्वार्थ में 'णिङ्', अनुबन्ध-लोप और 'अत उपधायाः' से णित् परे रहते उपधा के ह्रस्व अकार को वृद्धि हुई

कामि	'सनाद्यन्ता धातवः' से णिङन्त की 'धातु' संज्ञा, 'अनद्यतने लुट्' से 'लुट्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
कामि त	'स्यतासी लृलुटोः' से 'तास्' प्रत्यय, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'तास्' को 'इट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
कामि इ तास् त	'लुटः प्रथमस्य०' से 'त' को 'डा' आदेश हुआ
कामि इ तास् डा	अनुबन्ध-लोप, डित्सामर्थ्य से 'तास्' के टिभाग का लोप हुआ
कामि इ त् आ	'सार्वधातुकार्ध०' से 'कामि' के इकार को गुण और 'एचोऽयवायावः' से 'ए' को अयादेश होकर
कामयिता	रूप सिद्ध होता है।

कमिता–जब 'आयादय आर्ध०' से आर्धधातुक के विषय में वैकल्पिक 'णिङ्' नहीं हुआ तो, 'लुट्', प्र० पु०, एक व०में 'त', 'तास्', 'इट्' और 'डा' आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'कमिता' रूप सिद्ध हुआ।

कामयितासे–णिङन्त 'कामि' धातु से लुट्, म० पु०, एक व० में 'थास्' को 'थासः से' से 'से' होने पर 'तासस्त्योर्लोपः' से सकारादि प्रत्यय परे रहते 'तास्' के अन्तिम अल् 'स्' का लोप होने पर शेष सिद्धि-कार्य 'कामयिता' के समान होकर 'कामयितासे' रूप सिद्ध होता है।

कामयिष्यते–णिङन्त 'कामि' बनने पर लृट्, 'त', 'स्य', 'इट्', गुण और अवादेश होने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'एधिष्यते' के समान जानें।

कमिष्यते–'आयादय आर्धधातुके वा' से जब वैकल्पिक 'णिङ्' नहीं होगा तो 'कमिष्यते' रूप सिद्ध होता है।

कामयताम्–'कम्' धातु से पूर्ववत् 'णिङ्', उपधा-वृद्धि, लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', गुण, अयादेश और 'टित आत्मनेपदानां टेरेः' से एत्व होने पर 'आमेतः' से लोट् सम्बन्धी एकार को 'आम्' होकर 'कामयताम्' रूप सिद्ध होता है।

अकामयत–णिङन्त 'कामि' से 'अनद्यतने लङ्' से 'लङ्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', गुण, अयादेश होने पर 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से 'अट्' आगम होकर 'अकामयत' रूप सिद्ध होता है।

कामयेत–णिङन्त 'कामि' से 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणा०' से 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'त', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'एचोऽयवायावः' से अयादेश, 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', 'लिङः सलोपो०' से दोनों सकारों का लोप, 'आद् गुणः' से गुण तथा 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप होकर 'कामयेत' रूप सिद्ध होता है।

कामयिषीष्ट

कम्	'कमेर्णिङ्' से 'णिङ्', 'अत उपधायाः' से उपधा-वृद्धि

कामि	'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
कामि त	'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्' तथा 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
कामि सीय् स् त	'लिङाशिषि' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने पर 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, अनुबन्ध-लोप
कामि इ सीय् स् त	'सार्वधातुकार्ध०' से 'कामि' के इकार को गुण, 'एचोऽयवायावः' से 'ए' को 'अय्' आदेश तथा 'लोपो व्योर्वलि' से 'सीय्' के यकार का लोप हुआ
कामय् इ सी स्त	'आदेशप्रत्यययोः' से दोनों सकारों को मूर्धन्य आदेश होने पर
कामयिषीष् त	'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व 'त्' को 'ट्' आदेश होकर
कामयिषीष्ट	रूप सिद्ध होता है।

५२७. विभाषेटः ८।३।७९

इणः परो य इट् ततः परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य वा ढः स्यात्। कामयिषीढ्वम्, कामयिषीध्वम्। कमिषीष्ट, कमिषीध्वम्।

प० वि०—विभाषा १।१।। इटः ५।१।। **अनु०**—मूर्धन्यः, इणः, षीध्वंलुङ्लिटाम्,धः।

अर्थः—'इण्' प्रत्याहार से उत्तर जो इट्, उससे परे षीध्वम्, लुङ् और लिट् का जो धकार, उसको विकल्प से मूर्धन्य (ढकार) आदेश होता है।

कामयिषीढ्वम्—णिङन्त 'कामि' धातु से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्' म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'आर्धधातुकस्ये०' से 'इट्' आगम, 'सार्वधातुकार्ध०, से गुण, 'एचोऽयवायावः' से अयादेश और 'लोपो व्योर्वलि' से 'सीय्' के यकार का लोप होकर 'कामय्+इ सीध्वम्' बनने पर 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य षकार तथा 'विभाषेटः' से 'इण्' (य्) से उत्तर 'इट्' के पश्चाद्वर्ती 'षीध्वम्' के धकार को विकल्प से मूर्धन्य 'ढ्' होकर 'कामयिषीढ्वम्' रूप सिद्ध होता है।

कामयिषीध्वम्—जब 'विभाषेटः' से 'षीध्वम्' के धकार को ढकार आदेश नहीं होगा तो 'कामयिषीध्वम्' रूप ही रहेगा।

कमिषीष्ट—जब 'आयादय आर्धधातुके वा' से 'णिङ्' नहीं होगा तो आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्' के स्थान में प्र० पु, एक व० में 'त' आने पर 'सीयुट्', 'सुट्', इडागम, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'आदेशप्रत्यययोः' से दोनों सकारों को मूर्धन्य तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'कमिषीष्ट' रूप सिद्ध होगा।

कमिषीध्वम्—'कम्' धातु से 'णिङ्' न होने पर 'लिङ्' के स्थान में म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्', 'सीयुट्', इडागम, यकार-लोप तथा सकार को मूर्धन्य आदेश होने पर 'इण्' से उत्तर 'इट्' न मिलने से 'विभाषेटः' से धकार को ढकार नहीं होने के कारण 'कमिषीध्वम्' रूप ही बनता है।

५२८. णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् ३।१।४८

ण्यन्तात् श्र्यादिभ्यश्च च्लेश्चङ् स्यात् कर्त्रर्थे लुङि परे। 'कामि+अ+त' इति स्थिति–

प० वि०–णिश्रिद्रुस्रुभ्यः ५।३।। कर्त्तरि ७।१।। चङ् १।१।। **अनु०**–लुङि, च्लेः

अर्थः–ण्यन्त ('णिङ्' या 'णिच्' प्रत्ययान्त), **श्रि** (सेवायाम्, आश्रय करना) **द्रु** (गतौ–बहना) और **स्रु** (स्रवणे–बहना, बहाना) धातुओं से उत्तर कर्त्रर्थक लुङ् परे रहते **'च्लि'** के स्थान पर **'चङ्'** आदेश होता है।

५२९. णेरनिटि ६।४।५१

अनिडादावार्धधातुके परे णेर्लोपः स्यात् ।

प० वि०–णेः ६।१।। अनिटि ७।१।। **अनु०**–आर्धधातुके, लोपः।

अर्थः–अनिट् आदि (इट्' आगम जिसके आदि में नहीं है ऐसा) आर्धधातुक परे होने पर **'णि'** का लोप होता है।

५३०. णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः ७।४।१

चङ्परे णौ यदङ्गम्, तस्योपधाया ह्रस्वः स्यात्।

प० वि०–णौ ७।१।। चङि ७।१।। उपधायाः ६।१।। ह्रस्वः १।१।। **अनु०**–अङ्गस्य।

अर्थः–चङ्परक 'णि' परे रहते जो अङ्ग, उसकी उपधा को ह्रस्व होता है।

५३१. चङि ६।१।११

चङि परे अनभ्यासस्य धात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, अजादेर्द्वितीयस्य।

प० वि०–चङि ७।१।। **अनु०**–एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य, धातोः, अनभ्यासस्य।

अर्थः–'चङ्' परे रहते अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच् समुदाय को और यदि धातु अजादि हो तो, उसके द्वितीय एकाच् समुदाय को द्वित्व होता है

५३२. सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ७।४।९३

चङ्परे णौ यदङ्गम्, तस्य योऽभ्यासो लघुपरः, तस्य सनीव कार्यं स्यात् णावग्लोपेऽसति।

प० वि०–सन्वत् अ०।। लघुनि ७।१।। चङ्परे ७।१।। अनग्लोपे ७।१।। **अनु०**–अभ्यासस्य, अङ्गस्य।

अर्थः–जिसके परे रहते 'अक्' का लोप नहीं हुआ है ऐसा चङ्परक (चङ् परे है जिससे, ऐसा) 'णि' परे रहते जो अङ्ग, उसके अभ्यास को, लघु धात्वक्षर परे रहते, 'सन्' (प्रत्यय) के समान कार्य होता है।

'सन्' के समान कार्य अर्थात् 'सन्यतः' इत्यादि से 'अभ्यास' को जो कार्य 'सन्' के परे रहते कहा है, वह चङ्परक 'णि' परे रहते भी 'अभ्यास' को अतिदिष्ट हो जायें।

५३३. सन्यतः ७।४।७९

अभ्यासस्यात इत् स्यात् सनि ।

प० वि०—सनि ७।१।। अतः ६।१।। **अनु०**—अभ्यासस्य, इत्।

अर्थः—'सन्' परे रहते अभ्यास के ह्रस्व अकार को इकारादेश होता है।

५३४. दीर्घो लघोः ७।४।९४

लघोरभ्यासस्य दीर्घः स्यात् सन्वद्भावविषये। अचीकमत। णिङभावपक्षे-(वा०) कमेश्च्लेश्चङ् वाच्यः। अचकमत। अकामयिष्यत, अकमिष्यत। अय गतौ ।३। अयते।

प० वि०—दीर्घः १।१।। लघोः ६।१।। **अनु०**—अभ्यासस्य, लघुनि, चङ्परेऽनग्लोपे।

अर्थः—सन्वद्भाव के विषय में अभ्यास के लघु (अच्) के स्थान पर दीर्घ होता है। अर्थात् जिस के परे रहते 'अक्' का लोप नहीं हुआ है ऐसे चङ्परक णि के परे रहते जो अङ्ग, उस अङ्ग के लघुपरक अभ्यास के लघु (अच्) वर्ण के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है।

अचीकमत

कम्	'कमेर्णिङ्' से 'कम्' धातु से स्वार्थ में 'णिङ्', अनुबन्ध-लोप, 'अत उपधायाः' से उपधा के अकार को वृद्धि हुई
कामि	'सनाद्यन्ता धातवः' से णिङन्त की 'धातु' संज्ञा' और 'लुङ्' से भूतसामान्य अर्थ में 'लुङ्' हुआ
कामि लुङ्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
कामि त	'च्लि लुङि' से लुङ् परे रहते 'च्लि' प्रत्यय और 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ्' से 'च्लि' के स्थान पर चङादेश हुआ
कामि चङ् त	अनुबन्ध-लोप, 'णेरनिटि' से अनिडादि आर्धधातुक (चङ्) परे रहते 'णि' का लोप हुआ
काम् अ त	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'णि' को निमित्त मानकर 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' से चङ् परक 'णि' परे रहते अङ्ग की उपधा को ह्रस्व हुआ
कम् अ त	'चङि' से 'चङ्' परे रहते अनभ्यास धातु के अवयव प्रथम एकाच् को द्वित्व हुआ
कम् कम् अ त	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में कवर्ग को चवर्ग आदेश हुआ
च कम् अ त	'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' से अनग्लोपी चङ्परक 'णि' परे रहते जो अङ्ग, उसके अभ्यास को लघु धात्वक्षर परे रहते सन्वद्भाव

	हुआ। सन्वद्भाव होने से 'सन्यत:' से ('सन्' परे रहते) अभ्यास के अकार के स्थान में इकार आदेश हुआ
चि कम् अत	'दीर्घो लघो:' से सन्वद्भाव विषय में अभ्यास के लघु अक्षर इकार को दीर्घ हुआ
ची कमत	'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर
अचीकमत	रूप सिद्ध होता है।

(वा०) कमेश्चलेश्चङ् वाच्य:–**अर्थ**–'णिङ्' अभाव पक्ष में 'कमु' धातु से उत्तर 'च्लि' के स्थान पर 'चङ्' आदेश कहना चाहिए।

अचकमत–'कम्' धातु से 'आयादय आर्धधातुके वा' से जब वैकल्पिक 'णिङ्' नहीं होगा तब 'कम्+च्लि+त' इस स्थिति में 'कमेश्च्लेश्चङ् वाच्य:' से 'च्लि' के स्थान पर 'चङ्', 'चङि' से द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा 'अट्' आगम होकर 'अचकमत' रूप सिद्ध होता है।

अकामयिष्यत–'कम्' धातु से 'णिङ्' और उपधावृद्धि होकर 'कामि' बनने पर, 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा, 'लिङ्निमित्ते लृङ्०' से लृङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर 'स्यतासी लृलुटो:' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'एचोऽयवायाव:' से अयादेश, 'आदेशप्रत्यययो:' से षत्व तथा 'अट्' आगम होकर 'अकामयिष्यत' रूप सिद्ध होता है।

णिङ्–अभाव पक्ष में 'अकमिष्यत' बनता है।

अयते–'अय्' धातु से 'लट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'एधते' के समान 'शप्', 'त' और 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'अयते' रूप सिद्ध होता है।

५३५. उपसर्गस्यायतौ ८।२।१९

अयतिपरस्योपसर्गस्य यो रेफस्तस्य लत्वं स्यात्। प्लायते। पलायते।

प० वि०–उपसर्गस्य ६।१।। अयतौ ७।१।। **अनु०**–र:, ल:।

अर्थ:–**'अय्'** धातु परे रहते उपसर्ग के रेफ के स्थान में लकार आदेश होता है।

प्लायते–'अय्' धातु से 'लट्', प्र० पु०, एक व० में 'अयते' रूप सिद्ध होता है। 'प्र' उपसर्ग से 'अय्' धातु परे रहते, 'उपसर्गस्यायतौ' सूत्र से 'प्र' उपसर्ग के रेफ को लकारादेश तथा 'अक: सवर्णे दीर्घ: से दीर्घ होकर 'प्लायते' रूप सिद्ध होता है।

पलायते–'परा+अयते' यहाँ भी 'उपसर्गस्यायतौ' से 'परा' उपसर्ग के रेफ को 'ल्' होकर 'अक: सवर्णे०' से दीर्घ होकर 'पलायते' रूप सिद्ध होता है।

५३६. दयाऽयाऽऽसश्च ३।१।३७

दय्, अय्, आस्–एभ्य: आम् स्याद् लिटि। अयाञ्चक्रे। अयिता अयिष्यते। अयताम्। आयत। अयेत। अयिषीष्ट। विभाषेट:(५२७)–अयिषीढ्वम्, अयिषीध्वम्। आयिष्ट। आयिढ्वम्, आयिध्वम्। आयिष्यत। द्युत दीप्तौ।४। द्योतते।

प० वि०—दयाऽयाऽऽसः ५।१।। च अ० ।। **अनु०**—आम्, लिटि।

अर्थः—**दय्** (दानगतिरक्षणौ-दान, गतिरक्षण), **अय्** (गतौ-गति) और **आस्** (उपवेशने-बैठना) धातुओं से उत्तर '**आम्**' होता है लिट् परे रहते।

अयाञ्चक्रे

अय्	'परोक्षे लिट्' से परोक्ष भूतकाल अर्थ में होने वाली क्रिया वाचक धातु से 'लिट्' आया
अय् लिट्	'दयायासश्च' से 'अय्' धातु को लिट् परे रहते 'आम्' हुआ
अय् आम् लिट्	'आमः' से आम् से उत्तर 'लिट्' का लुक् और 'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' से लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग हुआ
अय् आम् कृ लिट्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, 'आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य' से 'आम्' प्रत्यय की प्रकृति के समान अनुप्रयुक्त 'कृ' धातु से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
अय् आम् कृ त	'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'कृ' को द्वित्व हुआ
अय् आम् कृ कृ ए	'पूर्वोऽभ्यासः' से अभ्यास-संज्ञा, 'उरत्' से अभ्यास में 'ऋ' के स्थान में ह्रस्व अकार, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'अर्' हुआ
अय् आम् कर् कृ ए	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
अय् आम् क कृ ए	'कुहोश्चुः से अभ्यास में कवर्ग को चवर्ग हुआ
अय् आम् च कृ ए	'इको यणचि' से यणादेश 'ऋ' को 'र्' हुआ
अय् आम् चक्रे	'मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार आदेश और 'वा पदान्तस्य' से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्ण होकर
अयाञ्चक्रे	रूप सिद्ध होता है।

अयिता—'अय्' धातु से 'लुट्' लकार, प्रथम पु०, एक व० में 'त', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'त' को 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्कारण सामर्थ्य से टिभाग 'आस्' का लोप और 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम होकर 'अयिता' रूप सिद्ध होता है।

अयिष्यते—'लृट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्ये०' से 'इट्' आगम, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्त्व और 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर 'अयिष्यते' रूप सिद्ध होता है।

अयताम्—'लोट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'अयते' रूप बनने पर 'आमेतः' से एकार को 'आम्' होकर 'अयताम्' रूप सिद्ध होता है।

आयत—'अय्' धातु से 'अनद्यतने लङ्' से 'लङ्', प्र० पु०, एक व० में 'त', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम और 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'आयत' रूप सिद्ध होता।

अयेत–'विधिनिमन्त्रणामन्त्रण०' से विधि आदि अर्थों में 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से दोनों सकारों का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप और 'आद् गुणः' से गुण होकर 'अयेत' रूप सिद्ध होता है।

अयिषीष्ट–'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार होकर 'अयिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अयिषीढ्वम्, अयिषीध्वम्–'अय्', 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्' लकार, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'सीयुट्' सहित लिङ् को 'इट्' आगम, 'विभाषेटः' से धकार को विकल्प से मूर्धन्यादेश ढकार होकर 'अयिषीढ्वम्' तथा मूर्धन्यादेश अभाव पक्ष में 'अयिषीध्वम्' रूप सिद्ध होते हैं।

आयिष्ट–'अय्', लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि लुङि' से 'च्लि' प्रत्यय, 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' का आगम, 'आटश्च' से वृद्धि, 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूधर्न्यादेश तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'आयिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

आयिढ्वम्–'अय्', लुङ्, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्', च्लि', 'सिच्', सिच् को 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'धि च' से धकारादि प्रत्यय परे होने से 'सिच्' के सकार का लोप, 'विभाषेटः' से धकार को विकल्प से मूर्धन्यादेश ढकार, 'आट्' आगम और 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'आयिढ्वम्' रूप सिद्ध होता है।

मूर्धन्यदेशाभाव पक्ष में 'आयिध्वम्' रूप सिद्ध होता है।

आयिष्यत–'अय्', 'लिङ्निमित्ते लृङ्०' से 'लृङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्', 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम और 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'आयिष्यत' रूप सिद्ध होता है।

द्योतते–'द्युत्' धातु से लट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध अङ्ग के 'इक्' को गुण और 'टित आत्मने०' से एत्व होकर 'द्योतते' रूप सिद्ध होता है।

५३७. द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् ७।४।६७

अभ्यासस्य। दिद्युते।

प० वि०–द्युतिस्वाप्योः ६।२।। संप्रसारणम् १।१।। **अनु०**–अभ्यासस्य।

अर्थः–**द्युत्** (दीप्तौ–चमकना) और **स्वप्** (ञिष्वप्, शये–सोना) धातुओं के अभ्यास को **सम्प्रसारण** होता है, अर्थात् अभ्यास में **'यण्'** के स्थान पर **'इक्'** होता है।

दिद्युते

द्युत्	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्', तिबाद्युत्पत्ति, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
द्युत् त	'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'त' को 'एश्', 'लिटि धातो०' से लिट् परे रहते धातु को द्वित्व हुआ
द्युत् द्युत् एश्	अनुबन्ध-लोप, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्' से 'द्युत्' धातु के अभ्यास में 'यण्' (य्) के स्थान में 'इक्' (इ) सम्प्रसारण हुआ
द् इ उ त् द्युत् ए	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण 'इ' से 'अच्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हुआ
दित् द्युत् ए	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा, संहिता होने पर
दिद्युते	रूप सिद्ध होता है।

५३८. द्युद्भ्यो लुङि १।३।९१

द्युतादिभ्यो लुङः परस्मैपदं व स्यात्। 'पुषादि०' इत्यङ्-अद्युतत्, अद्योतिष्ट। अद्योतिष्यत। एवं श्विता वर्णे।५। ञिमिदा स्नेहने ।६। ञिष्विदा स्नेहमोचनयोः। ७। मोहनयोरित्येके। ञिक्ष्विदा चेत्येके। रुच दीप्तावभिप्रीतौ च। ८। घुट परिवर्तने। ९। शुभ दीप्तौ ।१०। क्षुभ संचलने ।११। णभ, तुभ हिंसायाम् (१२, १३) स्त्रंसु, भ्रंसु, ध्वंसु अवस्त्रंसने। १४, १५, १६। ध्वंसु गतौ च । १७। स्त्रम्भु विश्वासे ।१८। वृतु वर्तने । १९। वर्तते। ववृते। वर्तिता।

प० वि०-द्युद्भ्यः ५।३।। लुङि ७।१।। **अनु०**-परस्मैपदम्, वा।

अर्थः-'द्युत्' आदि धातुओं से उत्तर 'लुङ्' के स्थान पर विकल्प से परस्मैपद होता है।[1]

अद्युतत्-'द्युत्' धातु, 'लुङ्' से लुङ् लकार, 'द्युद्भ्यो लुङि' से लुङ् लकार में विकल्प से परस्मैपद आदेश होकर प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि' प्रत्यय, 'पुषादिद्युता०' से 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' आदेश और 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडु०' से 'अट्' आगम होकर 'अद्युतत्' रूप सिद्ध होता है।

---

१. द्युतादि गण में पठित धातुएं-१. द्युत=दीप्तौ, २. श्विता=वर्णे, ३. ञिमिदा=स्नेहने, ४. ञिष्विदा=स्नेहमोचनयोः, ५. रुच=दीप्तौ, ६. घुट=परिवर्तने, ७. रुट, ८. लुट, ९. लुठ=प्रतिघाते, १०. शुभ=दीप्तौ, ११. क्षुभ=सञ्चलने, १२. णभ, १३. तुभ=हिंसायाम्, १४. स्रंसु, १५. ध्वंसु, १६. भ्रंशु=अवस्रंसने, १७. स्रम्भु=विश्वासे, १८. वृतु=वर्तने, १९. वृधु=कुत्सिते शब्दे २०. स्यन्दू=प्रस्रवणे, २१. कृपू=सामर्थ्ये।

अद्योतिष्ट–'द्युत्', धातु से 'लुङ्' लकार में परस्मैपद अभाव पक्ष में लादेश आत्मनेपद होने पर प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'चलेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'सिच्' को 'इट्' आगम, 'पुगन्तलघू०' से गुण 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकारादेश होकर 'अद्योतिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

'द्युद्भ्यो लुङि' सूत्र में निर्दिष्ट द्युतादि गण में कुल २२ धातुएँ पठित हैं। इन सभी में 'लुङ्' लकार में विकल्प से परस्मैपद होगा। परस्मैपद पक्ष में 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' से 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' होता है।

वर्तते–'वृत्' धातु से 'लट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण और 'टित आत्मनेपदानां टेरेः' से एत्व होकर 'वर्त्तते' रूप सिद्ध होता है।

ववृते

वृत्	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' लकार, तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
वृत् त	'लिटस्तझयो०' से लिट्-स्थानी 'त' को 'एश्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
वृत् ए	'लिटि धातोरन०' से 'वृत्' को द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा हुई
वृत् वृत् ए	'उरत् से अभ्यास में 'ऋ' के स्थान में 'अ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'अर्' हुआ
वर्त् वृत् ए	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
व वृत् ए	संहिता होने पर
ववृते	रूप सिद्ध होता है।

वर्त्तिता–'वृत्' धातु से 'अनद्यतने लुट्' से 'लुट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'त' को 'डा' आदेश, 'स्यतासी लृलुटोः' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'पुगन्तलघूप०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'ऋ' के स्थान में 'अर्' आदेश और डित्करणसामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप होकर 'वर्त्तिता' रूप सिद्ध होता है।

५३९. वृद्भ्यः स्यसनोः १।३।९२

वृतादिभ्यः पञ्चभ्यो वा परस्मैपदं स्यात् स्ये सनि च।

प० वि०–वृद्भ्यः ५।३।। स्यसनोः ६।२।। **अनु०**–परस्मै पदम्, वा।

अर्थः–**वृत्** (वर्त्तने-होना), **वृध्** (वर्धने-बढ़ना), **शृध्** (शब्दकुत्सायाम्, कुत्सित शब्द करना), **स्यन्द्** (प्रस्रवणे-बहना) और **कृप्** (सामर्थ्ये-सामर्थ्य होना) धातुओं से 'स्य' और 'सन्' परे रहते विकल्प से **परस्मैपद** होता है।

५४०. न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः ७।२।५९

वृतु-वृधु-शृधु-स्यन्दूभ्यः सकारादेरार्धधातुकस्येण् न स्यात् तङानयोरभावे। वर्त्स्यति, वर्तिष्यते। वर्तताम्। अवर्तत। वर्त्तेत। वार्तिषीष्ट। अवर्तिष्ट। अवर्त्स्यत्। अवर्तिष्यत। दद, दाने ।२०। ददते।

प० वि०—न अ०।। वृद्भ्यः ५।३।। चतुर्भ्यः ५।३।। **अनु०**—आर्धधातुकस्य, इट्, से, परस्मैपदेषु।

अर्थः—**वृत्** (वर्त्तने-होना), **वृध्** (वर्धने-बढ़ना), **शृध्** (शब्द- कुत्सायाम्, कुत्सित शब्द करना) और **स्यन्द्** (प्रस्रवणे-बहना) धातुओं से परे सकारादि आर्धधातुक को 'इट्' आगम नहीं होता, परस्मैपद परे होने पर।

वर्त्स्यति

वृत्	'लृट् शेषे च' से 'लृट्' आने पर 'स्यतासी लृलुटोः' से 'स्य' प्रत्यय हुआ
वृत् स्य लृट्	तिबाद्युत्पत्ति, 'वृद्भ्यः स्यसनोः' से 'स्य' परे रहते 'वृत्' आदि चार धातुओं से विकल्प से परस्मैपद होता है अतः परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
वृत् स्य तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से 'स्य' को 'इट्' आगम प्राप्त हुआ, जिसका 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' से परस्मैपद परे रहते 'वृत्' से उत्तर सकारादि आर्धधातुक 'स्य' को 'इट्' आगम का निषेध हो गया
वृत् स्य ति	'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध अङ्ग के इक् 'ऋ' के स्थान में गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'अर्' होने पर संहिता होकर
वर्तस्यति	रूप सिद्ध होता है।

वर्तिष्यते—जब 'वृद्भ्यः स्यसनोः' से 'वृत्' धातु से 'स्य' परे रहते वैकल्पिक परस्मैपद नहीं होगा तो आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर 'टित आत्मने० से एत्व, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य षकार होकर 'वर्तिष्यते' रूप सिद्ध होता है।

वर्तताम्—'वृत्', 'लोट् च' सूत्र से 'लोट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्,' गुण और 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'वर्तते' रूप बनने पर 'आमेतः' से एकार को 'आम्' होकर 'वर्तताम्' रूप सिद्ध होता है।

अवर्तत—'वृत्', 'अनद्यतने लङ्' से 'लङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' के स्थान में 'अर्' तथा 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से 'अट्' आगम होकर 'अवर्तत' रूप सिद्ध होता है।

वर्तेत–'वृत्', 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रण०' से 'लिङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः से 'सुट्', 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से दोनों सकारों का लोप, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से 'ऋ' के स्थान में गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' के स्थान में 'अर्', 'आद् गुणः' से गुण तथा 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप होकर 'वर्तेत' रूप सिद्ध होता है।

वर्तिषीष्ट–'वृत्' धातु से आशीर्लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सीयुट्', 'सुट्', 'सीयुट्' को 'इट्' आगम, यकार-लोप, मूधर्न्यादेश, ष्टुत्व तकार को टकारादेश तथा गुण आदि कार्य 'अयिषीष्ट' (५३६) के समान होकर 'वर्तिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अवर्तिष्ट–'वृत्', 'लुङ्' से 'लुङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' के स्थान में 'अर्', 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य षकारादेश, 'ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार और 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडु०' से 'अट्' आगम होकर 'अवर्तिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अवर्त्तिष्यत–'वृत्', 'लृङ्' लकार में 'वृद्भ्यः स्यसनोः' से जब परस्मैपद नहीं होगा तो आत्मनेपद में प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण, 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्यादेश तथा 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से 'अट्' आगम होकर 'अवर्तिष्यत' रूप सिद्ध होता है।

ददते–'दद्' धातु से 'वर्त्तमाने लट्' से 'लट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्' तथा 'टित आत्मने०' से टिभाग को एत्व होकर 'ददते' रूप सिद्ध होता है।

५४१. न शस-दद-वादि-गुणानाम् ६।४।१२६

शसेर्ददेर्वकारादीनां गुणशब्देन विहितो योऽकारस्तस्य च एत्वाभ्यासलोपौ न। ददद। दददाते। दददिरे। ददिता। ददिष्यते। ददताम्। अददत। ददेत। ददिषीष्ट। अददिष्ट। अददिष्यत। त्रपूष् लज्जायाम्। २१। त्रपते।

प० वि०–न अ०।। शसददवादिगुणनाम् ६।३।। **अनु०**–एत्, अभ्यासलोपः, अतः, थलि च सेटि, क्ङिति, अङ्गस्य।

अर्थः–**शस्** (हिंसायाम्-हिंसा करना), **दद्** (दाने-देना) तथा **वकारादि** धातुओं को और गुण शब्द के द्वारा विहित जो अकार उसके स्थान में एकारादेश और अभ्यास का लोप नहीं होता, कित् लिट् और सेट् थल् परे रहते।

ददद

दद्	'परोक्षे लिट्' से परोक्ष भूत अर्थ में 'लिट्', तिबाद्युत्पत्ति होकर प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
दद् त	'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
दद् ए	'लिटि धातो०' से द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा हुई

दद् दद् ए — 'असंयोगाल्लिट् कित्' से असंयोगान्त धातु से उत्तर अपित् लिट् 'ए' के कित् होने पर 'अत एकहल्मध्ये०' से असंयुक्त हलों के मध्य अकार को एकार आदेश तथा अभ्यास-लोप प्राप्त था, 'न शसददवादिगुणानाम्' से 'दद्' धातु के अकार को एकारादेश तथा अभ्यास-लोप का निषेध हो गया। 'हलादि: शेष:' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहने पर संहिता होकर

ददद — रूप सिद्ध होता है।

दददाते–'दद्', 'लिट्' लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'आताम्' के 'आम्' को 'टित आत्मने०' से एत्व होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'दददे' के समान जानें।

ददिरे–'दद्', 'लिट्' लकार, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'झ' को 'इरेच्' आदेश होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

ददिता, ददिष्यते, ददताम्, अददत, ददेत, ददिषीष्ट, अददिष्ट, अददिष्यत इत्यादि सभी रूप अयिता, अयिष्यते, अयताम्, आयत, अयेत, अयिषीष्ट (५३६) इत्यादि के समान जानें।

त्रपते–'त्रप्' धातु से 'लट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'एधते' में समान सभी कार्य जानने चाहिए।

५४२. तृफलभजत्रपश्च ६।४।१२२

एषामत एत्वमभ्यासलोपश्च स्यात् किति लिटि, सेटि थलि च। त्रेपे। त्रपिता, त्रप्ता। त्रपिष्यते, त्रप्स्यते। त्रपताम्। अत्रपत। त्रपेत। त्रपिषीष्ट, त्रप्सीष्ट। अत्रपिष्ट, अत्रप्त। अत्रपिष्यत, अत्रप्स्यत।

। इत्यात्मनेपदिनः।

प० वि०–तृफलभजत्रपः ६।१।। च अ०।। **अनु०**–किति, एत्, अभ्यासलोपः, थलि, सेटि।

अर्थः–**'तॄ'** (प्लवनसंतरणयोः–तैरना), **'फल्'** (निष्पत्तौ, विशरणे–पूरा करना, ढीला करना), **'भज्'** (सेवायाम्–सेवा करना) और **'त्रप्'** (लज्जायाम्–लज्जा करना) धातुओं के अकार के स्थान पर एकार आदेश और अभ्यास का लोप होता है कित् लिट् और सेट् 'थल्' परे होने पर।

त्रपिता, त्रप्ता–'त्रपूष्' धातु से अनुबन्ध-लोप होने पर 'लुट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'त' को 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'स्वरतिसूति०' से ऊदित् धातु से उत्तर वलादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' आगम, डित्करणसामर्थ्य से 'टि' भाग (आस्) का लोप होकर 'त्रपिता' और 'इट्' का अभाव होने पर 'त्रप्ता' रूप सिद्ध होते हैं।

त्रपिष्यते, त्रप्स्यते–'त्रप्', लृट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'स्य' को 'स्वरतिसूति०' से विकल्प से 'इट्' होने पर उक्त दोनों रूप सिद्ध होगें।

त्रपताम्, अत्रपत और **त्रपेत** की सिद्धि-प्रक्रिया 'एध्' धातु के रूपों के समान जानें।

त्रपिषीष्ट

त्रप् — 'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्' आने पर तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया

त्रप् त — 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप

त्रप् सीय् स् त — 'लोपो व्योर्वलि' से वल् परे रहते 'य्' का लोप, 'लिङाशिषि' से आशिषि लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होने के कारण 'स्वरतिसूति०' से 'ऊदित्' से उत्तर वलादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' आगम हुआ, अनुबन्ध-लोप

त्रप् इ सी स् त — 'आदेशप्रत्यययोः' से दोनों सकारों को षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' से 'त्' को 'ट्' होकर

त्रपिषीष्ट — रूप सिद्ध होता है।

'इट्' आगम न होने पर **'त्रप्सीष्ट'** रूप बनेगा।

अत्रपिष्ट–'त्रप्', लुङ् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि', 'च्ल' को 'सिच्' होने पर 'स्वरतिसूति०' से 'इट्' आगम विकल्प से हुआ, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व, ष्टुत्व तथा 'अट्' आगम होकर 'अत्रपिष्ट' रूप सिद्ध होगा।

अत्रप्त

त्रप् — 'लुङ्' के स्थान में 'त', 'च्लि लुङि' से 'चिल' तथा 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश हुआ

त्रप् सिच् त — अनुबन्ध-लोप, 'स्वरतिसूति०' से वैकल्पिक 'इट्' न होने पर

त्रप् स् त — 'झलो झलि' से 'झल्' से उत्तर सकार का लोप हुआ 'झल्' परे रहते

त्रप् त — 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से 'अट्' आगम होकर

अत्रप्त — रूप सिद्ध होता है।

अत्रपिष्यत तथा **अत्रप्स्यत** में लृङ्, प्र० पु०, एक व० में 'स्य' को 'स्वरतिसूति०' से 'इट्' विकल्प से होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

॥ यहाँ आत्मनेपदी धातुएं समाप्त होती हैं॥

॥ अथ उभयपदिनः ॥

श्रिञ् सेवायाम् ।१। श्रयति। श्रयते। शिश्राय, शिश्रिये। श्रायिता। श्रयिष्यति, श्रयिष्यते। श्रयतु, श्रयताम्। अश्रयत्, अश्रयत। श्रयेत्, श्रयेत। श्रीयात्। श्रयिषीष्ट। चङ्-अशिश्रियत्, अशिश्रियत। अश्रयिष्यत्, अश्रयिष्यत। भृञ् भरणे ।२। भरति, भरते। बभार, बभ्रतुः, बभ्रुः। बभर्थ। बभृव। बभृम। बभ्रे। बभृषे। भर्त्तासि, भर्त्तासे। भरिष्यति, भरिष्यते। भरतु, भरताम्। अभरत्, अभरत। भरेत्, भरेत।

॥ यहाँ से उभयपदी धातुएँ प्रारम्भ होती हैं ॥

श्रयते

श्रि ञ्	'हलन्त्यम्' से ञकार की 'इत्' संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञक 'ञ्' का लोप होने पर 'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'वर्त्तमाने लट्' से 'लट्', 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' से लकार कर्त्ता में आया
श्रि लट्	अनुबन्ध-लोप, 'तिप्तस्झि०' से लकार के स्थान में १८ आदेश, 'लः परस्मैपदम्' से लकार के स्थान में हुए प्रत्ययों की 'परस्मैपद' संज्ञा हुई, 'तङानावात्मनेपदम्' से 'तङ्' तथा 'आन' की 'आत्मनेपद' संज्ञा हुई। 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' से क्रिया का फल कर्त्ता को अभिप्रेत होने से ञित् धातु से आत्मनेपद संज्ञक 'तङ्' हुए, पूर्ववत् पुरुष संज्ञा, वचन संज्ञा आदि कार्य होकर 'शेषे प्रथमः' से प्र० पु० और 'द्व्येकयोर्द्विवचनै०' से एकवचन की विवक्षा में 'त' प्रत्यय हुआ
श्रि त	'कर्त्तरि शप्' से कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते धातु से 'शप्', अनुबन्ध-लोप
श्रि अ त	'सार्वधातुक०' से इकार को गुण 'ए' तथा 'एचोऽयवायावः' से 'ए' को 'अय्' आदेश हुआ
श्रयत	'टित आत्मनेपदानां टेरे:' से टिभाग को एत्व होकर
श्रयते	रूप सिद्ध होता है।

श्रयति–'श्रि' धातु से, जब क्रिया का फल कर्त्ता को अभिप्रेत नहीं होगा तो, 'शेषात् कर्त्तरि०' से परस्मैपद होगा, 'लट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'श्रयति' की सिद्धि-प्रक्रिया 'भवति' के समान जानें।

शिश्राय–'श्रि' धातु से 'लिट्' लकार, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां णलतुस्०' से 'तिप्' को 'णल्', 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व, अभ्यास-कार्य तथा वृद्धि आदि होकर 'शिश्राय' रूप सिद्ध होता है।

शिश्रिये

श्रि	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' लकार, 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये०' से क्रिया का फल कर्तृगामी होने पर 'ञित्' धातु 'श्रिञ्' से आत्मनेपद होकर प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
श्रि त	'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'त' को 'एश्' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप
श्रि ए	'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व हुआ
श्रि श्रि ए	'पूर्वोऽभ्यासः' से पूर्व की 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
शि श्रि ए	'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से इकार को इयङादेश, अनुबन्ध-लोप
शि श्रिय् ए	संहिता होकर
शिश्रिये	रूप सिद्ध होता है।

श्रयिता, श्रयिष्यति, श्रयिष्यते इत्यादि में सर्वत्र क्रिया का फल कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद तथा कर्तृभिन्नगामी होने पर परस्मैपद के प्रत्यय होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

श्रीयात्–'श्रि' धातु से आशीर्लिङ् में 'तिप्', 'यासुट्', 'सुट्' होने पर 'स्कोः संयोगाद्यो०' से दोनों सकारों का लोप, सार्वधातुक-भिन्न यकारादि प्रत्यय परे होने पर 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' से दीर्घ होकर 'श्रीयात्' रूप सिद्ध होता है।

अशिश्रियत्

श्रि	'लुङ्' से लुङ् लकार, क्रिया का फल कर्तृगामी न होने पर 'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप, 'च्लि लुङि' से लुङ् परे रहते धातु से 'च्लि' प्रत्यय आया
श्रि च्लि त्	'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ्' से 'श्रि' से उत्तर कर्तावाची लुङ् परे होने पर 'च्लि' को 'चङ्' ओदश हुआ
श्रि चङ् त्	अनुबन्ध-लोप, 'चङि' से 'चङ्' परे रहते 'श्रि' द्वित्व हुआ
श्रि श्रि अ त्	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
शिश्रि अ त्	'अचि श्नुधातु०' से इकार को 'इयङ्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
शि श्रिय् अ त्	'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर
अशिश्रियत्	रूप सिद्ध होता है।

अशिश्रियत–'श्रि', लुङ्, 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये०' से आत्मनेपद होने पर प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

अश्रयिष्यत–'लिङ्निमित्ते लृङ्०' से 'लृङ्' लकार, पूर्ववत् आत्मनेपद, 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, गुण, अयादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य षकार और 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर 'अश्रयिष्यत' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **भरति**, **भरते** की सिद्धि-प्रक्रिया में 'भृञ्' धातु से 'स्वरितञितः कर्त्रभि०' से क्रियाफल कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद होकर 'भरते' तथा अन्यत्र 'भरति' दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

बभार–'भृ' धातु से 'लिट्', 'तिप्' तथा 'तिप्' को 'णल्' होने पर 'लिटि धातो०' से द्वित्व, 'उरत्' से अभ्यास में 'ऋ' को ह्रस्व अकार तथा 'अभ्यासे चर्च' से चर्त्व, 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि तथा रपर होकर 'बभार' रूप सिद्ध होता है।

बभ्रतुः तथा बभ्रुः–'भृ', लिट्, प्र० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'तस्' और 'झि' को 'परस्मैपदानां०' से 'अतुस्' और 'उस्', पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यास-कार्य, चर्त्व आदि होने पर 'इको यणचि' से यणादेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'बभ्रतुः एवं 'बभ्रुः' रूप सिद्ध होते हैं।

बभर्थ–यहाँ लिट् स्थानी 'सिप्' के स्थान में 'थल्', 'ऋतो भारद्वाजस्य' से 'इट्' का निषेध, पूर्ववत् द्वित्वादि कार्य, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'बभर्थ' रूप सिद्ध होता है।

बभृव, बभृम–'लिट्' लकार में 'वस्' और 'मस्' के स्थान पर क्रमशः 'व' और 'म' आदेश होकर सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

विशेष–'थल्' में 'इट्' का निषेध 'ऋतो भारद्वाजस्य' (भारद्वाज नियम) से और 'व' और 'म' को प्राप्त होने वाले 'इट्' आगम का निषेध क्रादि-नियम अर्थात् 'कृसृभृवृस्तु०' से जानना चाहिए।

बभ्रे–'भृ', लिट्', 'त' के स्थान में 'लिटस्तझयो०' से 'एश्' होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'बभ्रतुः' इत्यादि के समान जानें।

भर्त्तासि–'भृ' धातु से 'लुट्' लकार, म० पु०, एक व० में सिप्, 'स्यतासी०' से 'तास्' आने पर 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर और 'तासस्त्योर्लोपः' से सकार-लोप होकर 'भर्तासि' रूप जानें।

भर्त्तासे–'भृ' लुट्, 'स्वरितञितः०' से आत्मनेपद, म० पु०, एक व० में 'थास्' को 'थासः से' से 'से' आदेश होने पर सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

भरिष्यति, भरिष्यते–'लृट्' लकार में 'स्यतासी०' से 'स्य' होने पर 'ऋद्धनोः स्ये' से ऋकारान्त से उत्तर 'स्य' को 'इट्' आगम होकर उपर्युक्त दोनों रूप जानने चाहिए।

भरतु–'भृ' धातु से परस्मैपद, लोट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', गुण तथा 'एरुः' से 'इ' को उकार आदि कार्य 'भवतु' के समान जानें।

भरताम्–'भृ' धातु से लोट् लकार, 'स्वरितञितः०' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'भरते' रूप बनने पर 'आमेतः' से एकार को 'आम्' होकर 'भरताम्' रूप सिद्ध होता है।

अभरत्, अभरत–क्रिया-फल कर्तृ-भिन्न गामी होने पर 'भृ' धातु से लङ्, परस्मैपद, 'तिप्', 'शप्' और 'अट्' आगम होने पर 'अभरत्' तथा 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये०' से क्रियाफल कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' तथा 'शप्' आदि पूर्ववत् होकर 'अभरत' रूप सिद्ध होते हैं

भरेत्–'भृ' धातु से 'विधिनिमन्त्रण०' से 'लिङ्', 'तिप्', 'शप्', 'यासुट् परस्मैपदे०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', 'अतो येयः' से 'यास्' को 'इय्', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'अर्', 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप तथा 'आद् गुणः' से गुण होकर 'भरेत्' रूप सिद्ध होता है।

भरेत–'भृ', लिङ्, 'स्वरितञितः०' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप, पूर्ववत् 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर, लोपो व्योर्वलि से यकार-लोप और 'आद् गुणः' से गुण होकर 'भरेत' रूप सिद्ध होता है।

५४३. रिङ् शयग्लिङ्क्षु ७।४।२८

शे यकि यादावार्धधातुके लिङि च ऋतो रिङ् आदेशः स्यात्। रीङि प्रकृते रिङ्विधानसामर्थ्याद्दीर्घो न भवति। भ्रियात्।

प० वि०–रिङ् १।१।। शयग्लिङ्क्षु ७।३।। **अनु०**–यि, अङ्गस्य, असार्वधातुके, ऋतः।

अर्थः–'श', 'यक्' और यकारादि आर्धधातुक लिङ् परे रहते ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग को ('ऋ' के स्थान में) **'रिङ्'** आदेश होता है।

भ्रियात्

भृ	'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
भृ तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार का लोप, 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप,
भृ यास् स् त्	'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से पदान्त में संयोग के आदि दोनों सकारों का लोप हुआ
भृ या त्	'लिङाशिषि' से आशिषि लिङ् आर्धधातुक होता है अतः 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' से यकारादि आर्धधातुक परे रहते 'ऋ' को 'रिङ्' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप
भ् रि या त्	यहाँ 'अकृत्सार्वधातुकयोः०' से दीर्घ प्राप्त था, जो 'रिङ्' विधान

	सामर्थ्य से नहीं हुआ। अभिप्राय यह है कि 'रीङ्' की अनुवृत्ति प्राप्त होने पर भी 'रिङ्' विधान करके आचार्य यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि 'अकृत्सार्वधातुकयो:०' से दीर्घ नहीं होता, संहिता होकर
भ्रियात्	रूप सिद्ध होता है।

५४४. उश्च १।२।१२

ऋवर्णात् परौ झलादी लिङ्सिचौ कितौ स्तस्तङि। भृषीष्ट। भृषीयास्ताम्। अभार्षीत्। अभार्ष्टाम्। अभार्षु:। अभार्षी:।

प० वि०–उ: ५।१।। च अ०।। अनु०–झल्, लिङ्सिचावात्मनेपदेषु।

अर्थ:–ऋकार से उत्तर झलादि लिङ् और झलादि सिच् 'कित्' होते हैं, आत्मनेपद परे रहते।

भृषीष्ट	'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ मे लिङ्, प्र० पु०, एक व०, आत्मनेपद में पूर्ववत् 'त', 'सीयुट्' एवं 'सुट्' आने पर
भृ सीयुट् सुट् त	अनुबन्ध–लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार–लोप
भृ सी स् त	'सार्वधातुकार्ध०' से गुण प्राप्त हुआ, 'सीयुट्' आगम होने पर 'उश्च' से ऋकार से उत्तर झलादि लिङ् कित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध हुआ, 'आदेशप्रत्यययो:' से दोनों सकारों को मूर्धन्यादेश और 'ष्टुना ष्टु:' से तकार को टकार आदेश होकर
भृषीष्ट	रूप सिद्ध होता है।

भृषीयास्ताम्–आशीर्लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'सीयुट्', 'सुट्' आदि होने पर 'भृ+सीय्+आ+स्+ताम्' यहाँ 'उश्च' से झलादि लिङ् कित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होने पर 'आदेशप्रत्यययो:' से मूर्धन्यादेश होकर 'भृषीयास्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

अभार्षीत्

भृ	लुङ् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि', 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश होने पर
भृ सिच् तिप्	अनुबन्ध–लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से अपृक्त तकार को 'ईट्' आगम, अनुबन्ध–लोप
भृ स् ई त्	'सिचि वृद्धि: परस्मैपदेषु' से परस्मैपदपरक सिच् परे रहते इगन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् उपर:' से रपर होकर 'आर्' वृद्धि हुई
भार् स् ई त्	'आदेशप्रत्यययो:' से मूर्धन्य षकारादेश तथा 'अट्' आगम होकर
आभार्षीत्	रूप सिद्ध होता है।

अभार्ष्टाम्–'भृ' धातु से लुङ् लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' के स्थान में 'तस्थस्थ०' से 'ताम्' आदेश होने पर शेष सिद्धि 'अभार्षीत्' के समान जानें।

अभार्षुः–लुङ् लकार, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'च्लि' और 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' आदि होने पर 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से 'सिच्' से उत्तर ङित् सम्बन्धी 'झि' को 'जुस्' होने पर शेष वृद्धि आदि कार्य पूर्ववत् जानने चाहिएं।

अभार्षीः–'भृ', लुङ्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'सिच्', 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'ईट्' आगम, 'सिचि वृद्धिः परस्मै०' से वृद्धि होकर 'अभार्सी+स्' बनने पर 'सिप्' के सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग तथा 'सिच्' के सकार को मूर्धन्यादेश होकर 'अभार्षीः' रूप सिद्ध होता है।

५४५. ह्रस्वादङ्गात् ८।२।२७

सिचो लोपो झलि। अभृत। अभृषाताम्। अभरिष्यत्, अभरिष्यत। हृञ् हरणे ।३। हरति, हरते। जहार, जह्रे। जहर्थ। जह्रिव। जह्रिम। जहृषे। हर्ता। हरिष्यति, हरिष्यते। हरतु, हरताम्। अहरत्, अहरत। हरेत्, हरेत। ह्रियात् हृषीष्ट। हृषीयास्ताम्। अहार्षीत्, अहृत। अहरिष्यत्, अहरिष्यत। धृञ् धारणे।४। धरति, धरते। णीञ् प्रापणे।५। नयति नयते। डुपचष् पाके।६। पचति, पचते। पपाच।पेचिथ, पपक्थ। पेचे। पक्ता। भज सेवायाम्।७। भजति, भजते। बभाज, भेजे। भक्ता। भक्ष्यति, भक्ष्यते। अभाक्षीत्, अभक्त। अभक्षाताम्। यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु।८। यजति, यजते।

पद वि०–ह्रस्वात् ५।१।। अङ्गात्। ५।१।। **अनु०**–लोपः, सस्य, झलि, अङ्गस्य।

अर्थः–ह्रस्वान्त अङ्ग से उत्तर सिच् के सकार का लोप होता है 'झल्' परे रहते।

अभृत–'भृ' धातु से 'लुङ्' लकार, 'स्वरितञितः०' से क्रिया-फल कर्तृगामी होने से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'सिच्' होकर 'भृ+स्+त' यहाँ 'ह्रस्वादङ्गात्' से ह्रस्वान्त अङ्ग 'भृ' से उत्तर 'सिच्' के सकार का झलादि प्रत्यय 'त' परे रहते लोप होने पर 'अट्' आगम होकर 'अभृत' रूप सिद्ध होता है।

अभृषाताम्–'भृ', लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', झलादि प्रत्यय परे न होने से 'सिच्' के सकार का लोप नहीं होता। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

अभरिष्यत्–'भृ', लृङ् लकार, परस्मैपद में 'तिप्', 'स्य', 'ऋद्धनोः स्ये' से 'स्य' को 'इट्' तथा 'अट्' आदि होकर 'अभरिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

अभरिष्यत–'भृ', लृङ् लकार, आत्मनेपद में 'त', 'स्य', 'इट्', 'अट्' और सकार को मूर्धन्य षकारादेश होकर 'अभरिष्यत' रूप सिद्ध होता है।

हरति, हरते–'हृ', लट्, परस्मैपद में 'हरति' की सिद्धि-प्रक्रिया 'भवति' के समान तथा आत्मनेपद में 'हरते' की सिद्धि-प्रक्रिया 'ऋ' को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर अर्थात् 'ऋ' के स्थान में 'अर्' होने पर 'एधते' के समान जानें।

जहार, जह्रे–'हृ', लिट्, परस्मैपद में 'बभार' के समान 'जहार' तथा आत्मनेपद में 'बभ्रे' के समान 'जह्रे' जानें।

हर्त्ता–'हृ' धातु से 'लुट्' लकार, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप, गुण तथा रपर होकर 'भर्त्ता' के समान ही 'हर्त्ता' की सिद्धि–प्रक्रिया जानें।

हरिष्यति, हरिष्यते–'हृ' धातु से लृट्, परस्मैपद तथा आत्मनेपद में क्रमशः तिप्' तथा 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'सार्वधातुकार्ध० 'से 'ऋ' को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'भरिष्यति' तथा 'भरिष्यते' (५४२) के समान 'हरिष्यति' और 'हरिष्यते' दोनों रूप जानें।

हरतु–'हृ', लोट् लकार, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'भवतु' के समान 'हरतु', में 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'ऋ' के स्थान में 'उरण् रपरः' से रपर (अर्) विशेष जानें।

हरताम्–'हृ', लोट् लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'हरते' रूप बनने पर 'आमेतः' से एकार को 'आम्' होकर 'हरताम्' रूप सिद्ध होता है।

अहरत्–'हृ', से 'लङ्', परस्मैपद में 'तिप्', 'शप्', 'अट्' आगम और गुण आदि 'अभरत्' (५४२) के समान ही जानें।

अहरत–'हृ 'लङ् लकार, आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय होकर 'अभरत' (५४२) के समान 'अहरत' रूप सिद्ध होता है।

हरेत्–'हृ' धातु से परस्मैपद, 'लिङ्' लकार में सिद्धि–प्रक्रिया 'भरेत्' (५४२) के समान जानें।

हरेत–'हृ' धातु से आत्मनेपद, 'लिङ्' लकार में सिद्धि–प्रक्रिया 'भरेत' (५४२) के समान जानें।

ह्रियात्, हृषीष्ट। हृषीयास्ताम्। अहार्षीत्, अहृत। अहरिष्यत् और **अहरिष्यत** की सिद्धि–प्रक्रिया क्रमशः 'भ्रियात्' (५४३), 'भृषीष्ट', 'भृषीयास्ताम्', 'अभार्षीत्' (५४४) 'अभृत', 'अभरिष्यत्', 'अभरिष्यत' के समान जानें।

विशेष–हृञ्, धृञ्, और **णीञ्** धातुएँ ञित् हैं अतः क्रियाफल कर्त्तृगामी होने पर सर्वत्र 'स्वरितञितः कर्त्रभि०' से आत्मनेपद अन्यथा 'शेषात्कर्त्तरि परस्मै०' से परस्मैपद होता है।

पचति, पचते–यहाँ 'डुपचष्' पाके धातु में इत् संज्ञक अकार स्वरित है अतः स्वरितेत् धातु से क्रियाफल कर्त्तृगामी होने पर 'स्वरितञितः०' से आत्मनेपद होगा तो 'पचते' रूप सिद्ध होगा, अन्यथा कर्त्तृभिन्नगामी क्रियाफल होने पर 'शेषात्कर्त्तरि०' से परस्मैपद होने से 'पचति' रूप जानना चाहिए।

पपाच–'पच्' धातु से परस्मैपद, लिट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्', 'लिटि धातो०' से द्वित्व, अभ्यास–कार्य तथा 'अत उपधायाः' से वृद्धि होकर 'पपाच रूप सिद्ध होता है।

पेचिथ

पच्	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' लकार, परस्मैपद, म० पु०, एक व० में 'सिप्' आया
पच् सिप्	'परस्मैपदानां०' से 'सिप्' को 'थल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
पच् थ	क्रादिनियम से प्राप्त 'इट्' आगम का 'उपदेशेऽत्वतः' से निषेध होने पर 'ऋतो भारद्वाजस्य'[1] से 'थल्' को विकल्प से 'इट्' आगम हुआ
पच् इट् थ	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातोरन०' से 'पच्' को द्वित्व हुआ
पच् पच् इ थ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
प पच् इ थ	'थलि च सेटि' से सेट् 'थल्' परे रहते अभ्यास का लोप तथा असंयुक्त हलों के मध्य अकार को एकारादेश होकर
पेचिथ	रूप सिद्ध होता है।

पपक्थ–इट् अभाव पक्ष में–सेट् 'थल्' न मिलने पर एत्व तथा अभ्यास लोप भी नहीं होता, 'प पच्+थ' यहाँ 'चोःकुः' से चवर्ग को कवर्ग होकर 'पपक्थ' रूप सिद्ध होता है।

पेचे

पच्	लिट्, 'स्वरितञितः०' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर 'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्' आदेश हुआ
पच् एश्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'पच्' को द्वित्व हुआ
पच् पच् ए	अभ्यास कार्य, 'हलादिः शेषः' से आदि 'हल्' शेष होकर
प पच् ए	'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'एश्' के कित् होने पर 'अत एकहल्मध्ये०' से कित् लिट् परे रहते असंयुक्त हलों के मध्य अकार को एकारादेश तथा अभ्यास का लोप होने पर
पेचे	रूप सिद्ध होता है।

पक्ता–'पच्', 'लुट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'त' को 'डा' आदेश, डित्करणसामर्थ्य से टिभाग 'आस्' का लोप, 'चोःकुः' से चवर्ग को कवर्ग होकर 'पक्ता' रूप सिद्ध होता है।

---

१. **भारद्वाज नियम**–'ऋतो भारद्वाजस्य'–'तास्' में जो नित्य अनिट् ऋकारान्त धातुएँ उनसे उत्तर ही 'थल्' को 'इट्' आगम नहीं होता, अन्यत्र अर्थात् ऋकारान्त से भिन्न जो धातुएँ 'तास्' में नित्य अनिट् हो तो भी उनसे भारद्वाज आचार्य के मत में अर्थात् विकल्प से 'इट्' आगम हो ही जाता है।

भजति, भजते, बभाज इत्यादि सभी की सिद्धि,-प्रक्रिया 'पचति', 'पचते', 'पपाच' इत्यादि के समान जानें।

भक्ता–'भज्+तास्+डा' यहाँ 'आस्' का लोप होकर 'चोःकुः' से 'ज्' को 'ग्', 'खरि च' से 'ग्' को 'क्' आदेश विशेष जानें।

भक्ष्यति

भज्	'लृट् शेषे च' से 'लृट्' लकार, तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
भज् तिप्	'स्यतासी०' से 'लृट्' परे रहते धातु से 'स्य', अनुबन्ध-लोप
भज् स्य ति	'चोः कुः' से 'झल्' परे रहते चवर्ग को कवर्गादेश हुआ
भग् स्य ति	'खरि च' से 'ग्' को 'क्' आदेश और 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य षकार होकर
भक्ष्यति	रूप सिद्ध होता है।

भक्ष्यते–जब क्रियाफल कर्त्तृगामी होगा तो 'स्वरितञितः०' से स्वरितेत् धातु से आत्मनेपद होकर 'भक्ष्यते' रूप सिद्ध होगा।

अभाक्षीत्

भज्	'लुङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
भज् स् त्	'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'सिच्' से उत्तर अपृक्त संज्ञक 'त्' को 'ईट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
भज् स् ई त्	'वदव्रजहलन्तस्याचः' से परस्मैपदपरक सिच् परे रहते हलन्त अङ्ग के अच् को वृद्धि हुई
भाज् स् ई त्	'चोःकुः' से 'झल्' परे होने पर चवर्ग को कुत्व 'ज्' को 'ग्' ओदेश तथा 'खरि च' से चर्त्व हुआ
भा क् स् ई त्	'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य षकार तथा 'अट्' आगम होकर
अभाक्षीत्	रूप सिद्ध होता है।

अभक्त–'भज्' धातु से 'लुङ्' लकार, 'स्वरितञितः०' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सिच्', 'चोः कुः' से 'ज्' को 'ग्', 'खरि च' से 'ग्' को 'क्', 'झलो झलि' से सकार-लोप तथा 'अट्' आगम होकर 'अभक्त' रूप सिद्ध होता है।

अभक्षाताम्–'भज्', लुङ्, आत्मेनपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'सिच्', 'चोःकुः' से 'ज्' को 'ग्', 'खरि च' से 'ग्' को 'क्' तथा मूर्धन्य षकारादि पूर्ववत् होकर 'अभक्षाताम्' रूप सिद्ध होता है।

यजति, यजते–'यज्' धातु से क्रिया-फल कर्त्तृगामी होने पर आत्मनेपद अन्यथा परस्मैपद होने पर उक्त दोनों रूप 'पचति' और 'पचते' के समान जानें।

५४६. लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ६।१।१७

वच्यादीनां ग्रह्यादीनां चाभ्यासस्य सम्प्रसारणं स्यात् लिटि। इयाज।

प० वि०–लिटि ७।१।। अभ्यासस्य ६।१।। उभयेषाम् ६।३।। **अनु०**–सम्प्रसारणम्।

अर्थ:–वच् (परिभाषणे-बोलना), **स्वप्** (शये-सोना) तथा **यजादि** गण में पठित धातुओं के और **ग्रह्** (गन्धोपादाने-ग्रहण करना), **ज्या** (वयोहानौ-आयु क्षीण होना), **वय** (तन्तुसन्ताने-बुनना), **व्यध, वश्** (कान्तौ-चाहना), **व्यच्**-(व्यजीकरणे-ठगना) **व्रश्च्**-(छेदने-काटना), **प्रच्छ्** (ज्ञीप्सायाम्-जानने की इच्छा करना), **भ्रस्ज्** (पाके-पकाना), इन धातुओं के अभ्यास को **सम्प्रारण** होता है लिट् परे रहते।

इयाज

यज्	लिट् लकार, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्', अनुबन्ध-लोप
यज् अ	'लिटि धातो०' से लिट् परे रहते अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व हुआ
यज् यज् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
य यज् अ	'लिट्यभ्यासस्योभये०' से 'यज्' धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण अर्थात् 'यण्' के स्थान 'इक्' हुआ, लिट् परे रहते
इ अ यज् अ	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण 'इ' से 'अच्' परे रहते पूर्व-रूप एकादेश और 'अत उपधायाः' से उपधाभूत अकार को वृद्धि होकर
इयाज	रूप सिद्ध होता है।

५४७. वचिस्वपियजादीनां किति ६।१।१५

वचिस्वप्योर्यजादीनां च सम्प्रसारणं स्यात् किति। ईजतुः। ईजुः। इयजिथ, इयष्ठ। ईजे। यष्टा।

प० वि०–वचिस्वपियजादीनाम् ६।३।। किति ७।१।। **अनु०**–सम्प्रसारणम्।

अर्थ:–वच् (परिभाषणे-बोलना) **स्वप्** (शये-सोना) तथा यजादिगण में पठित धातुओं को **सम्प्रसारण** होता है कित् परे रहते।

ईजतुः

यज्	'लिट्', प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' और 'परस्मैपदानां०' से 'तस्' को 'अतुस्' आदेश हुआ
यज् अतुस्	'लिटि धातो०' से द्वित्व तथा 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'अतुस्' के कित् होने से 'वचिस्वपि०' से सम्प्रसारण एक साथ प्राप्त हुए। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' परिभाषा के अनुसार द्वित्व को बाधकर सम्प्रसारण हुआ

इ अ ज् अतुस्	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण से 'अच्' परे रहते पूर्वरूप एकादेश हुआ
इज् अतुस्	'लिटि धातो०' से लिट् परे रहते अनभ्यास धातु को द्वित्व हुआ
इज् इज् अतुस्	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
इ इज् अतुस्	'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
ईजतुः	रूप सिद्ध होता है।

ईजुः—इसी प्रकार 'यज्' धातु से लिट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' को 'उस्' होकर सिद्धि-प्रक्रिया 'ईजतुः' के समान जानें।

इयजिथ

यज्	'लिट्' लकार, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'सिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'थल्' हुआ
यज् थल्	अनुबन्ध-लोप, क्रादिनियम से प्राप्त 'इट्' को बाधकर 'उपदेशेऽत्वतः' से तास् में नित्य अनिट् और उपदेश में अकारवान् धातु से उत्तर 'थल्' को नित्य 'इट्' निषेध हुआ, जिसका 'ऋतो भारद्वाजस्य' से विकल्प हो गया। 'इट्' पक्ष में
यज् इट् थ	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से लिट् परे रहते 'यज्' को द्वित्व हुआ
यज् यज् इ थ	'पूर्वोऽभ्यासः से 'अभ्यास' संज्ञा' होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
य यज् इ थ	'लिट्यभ्यासस्यो०' से लिट् परे रहते 'अभ्यास' को सम्प्रसारण 'य्' के स्थान में 'इ' हुआ
इ अ यज् इथ	'सम्प्रसारणच्च' से अकार को पूर्वरूप एकादेश होकर
इयजिथ	रूप सिद्ध होता है।

इट् अभाव पक्ष में—'यज्+थल्' यहाँ 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छषां षः' से 'ज्' को 'ष्' आदेश, 'ष्टुना ष्टुः' से 'थ्' को 'ठ्' आदेश होने पर शेष सभी कार्य 'इयजिथ' के समान होकर 'इयष्ठ' रूप सिद्ध होता है।

ईजे—'यज्', लिट् लकार, 'स्वरितञितः०' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्' होने पर शेष सभी कार्य 'ईजतुः' के समान होकर 'ईजे' रूप सिद्ध होता है।

यष्टा

यज्	लुट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' आदेश और 'स्यतासी०' से लुट् परे रहत 'तास्' आया
यज् तास् डा	अनुबन्ध-लोप, डित्करणसामर्थ्य से टिभाग 'आस्' का लोप हुआ
यज् त् आ	'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से 'ज्' को 'ष्' आदेश और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर
यष्टा	रूप सिद्ध होता है।

५४८. षढोः कः सि ८।२।४१

यक्ष्यति, यक्ष्यते। इज्यात्, यक्षीष्ट। अयाक्षीत्, अयष्ट। वह प्रापणे ।९। वहति, वहते। उवाह। ऊहतुः। ऊहुः। उवहिथ।

प० वि०–षढोः ६।२॥ कः १।१॥ सि ७।१॥

अर्थः–षकार और ढकार के स्थान पर ककार आदेश होता है, सकार परे होने पर।

यक्ष्यति–'यज्' परस्मैपद, लृट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'यज्' के 'ज्' को षकारादेश, 'षढोः कः सि' से सकार परे रहते षकार को ककारादेश और 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य षकार होकर 'यक्ष्यति' रूप सिद्ध हुआ।

यक्ष्यते–'यज्', लृट्, 'स्वरितञितः०' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' प्रत्यय आने पर शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होकर 'यक्ष्यते' रूप सिद्ध होता है।

इज्यात्

यज्	'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
यज् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्' और 'सुट् तिथोः' से लिङ् सम्बन्धी तकार को 'सुट्' आगम हुआ
यज् यासुट्, सुट्, त्	अनुबन्ध-लोप
यज् यास् स् त्	'किदाशिषि' से आशिषिलिङ् में 'यासुट्' कित् होने से 'वचिस्वपियजादीनां०' से सम्प्रसारण 'य्' के स्थान में 'इ' हुआ
इ अ ज् यास् स् त्	'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप एकादेश हुआ
इ ज् यास् स् त्	'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से दोनों सकारों का लोप होकर
इज्यात्	रूप सिद्ध होता है।

यक्षीष्ट

यज्	'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', तिबाद्युत्पत्ति, 'स्वरितञितः कर्त्र०' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया

यज् त	'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्' आगम, 'सुट् तिथोः से तकार को 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
यज् सीय् स् त	'लोपो व्योर्वलि' से 'वल्' परे रहते यकार का लोप हुआ
यज् सी स् त	'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से 'ज्' को 'ष्' आदेश हुआ
यष् सी स् त	'षढोः कः सि' से सकार परे होने पर 'ष्' को 'क्' आदेश हुआ
य क् सी स् त	'आदेशप्रत्यययोः' से दोनों सकारों को मूर्धन्य आदेश
य क् षी ष् त	'ष्टुना ष्टुः' से 'त्' को 'ट्' होकर संहिता होने पर
यक्षीष्ट	रूप सिद्ध होता है।

अयाक्षीत्–'यज्' धातु, 'लुङ्' लकार, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'अभाक्षीत्' (५४५) के समान जानें।

अयष्ट–'यज्' धातु, 'लुङ्' लकार में 'स्वरितञितः०' से आत्मनेपद होकर प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि' और च्लि को 'सिच्' होने पर 'यज्+स् त' यहाँ 'झलो झलि' से सकार का लोप, व्रश्चभ्रस्ज०' से 'ज्' को 'ष्', 'ष्टुना ष्टुः' से 'त्' को 'ट्' और 'अट्' आगम होने पर 'अयष्ट' रूप सिद्ध होता है।

उवाह

वह्	'लिट्' लकार, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश हुआ
वह् णल्	अनुबन्ध-लोप
वह् अ	'लिटि धातो०' से अनभ्यास धातु को 'लिट्' परे रहते द्वित्व हुआ
वह् वह् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
व वह् अ	'वह्' धातु यजादि गण में पठित है अतः 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' से लिट् परे रहते अभ्यास को सम्प्रसारण 'व्' के स्थान में 'उ' हुआ
उ अ वह् अ	'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप एकादेश तथा 'अत उपधायाः' से णित् परे रहते उपधा में अकार को वृद्धि होकर
उवाह	रूप सिद्ध होता है।

ऊहतुः, ऊहुः और **उवहिथ** की सिद्धि-प्रक्रिया 'ईजतुः', 'ईजुः' तथा 'इयजिथ' के समान जानें।

५४९. झषस्तथोर्धोऽधः ८।२।४०

झषः परस्योस्तथोर्धः स्यान्न तु दधातेः।

प० वि०–झषः ५।१।। तथोः ६।२।। धः १।१।। अधः ५।१।।

अर्थः–'झष्' अर्थात् वर्गों के चतुर्थ वर्ण से उत्तर तकार और थकार को धकार आदेश होता है, 'धा' धातु को छोड़कर।

५५०. ढो ढे लोपः ८।३।१३

प० वि०—ढः ६।१।। ढे ७।१।। लोपः १।१।।

अर्थः—ढकार परे होने पर ढकार का लोप होता है।

५५१. सहिवहोरोदवर्णस्य ६।३।११२

अनयोरवर्णस्य ओत् स्याड्ढ्लोपे। उवोढ। ऊहे। वोढा। वक्ष्यति। अवाक्षीत्, अवोढाम्, अवाक्षुः। अवाक्षीः, अवोढम्, अवोढ। अवाक्षम्, अवाक्ष्व, अवाक्ष्म। अवोढ, अवक्षाताम्, अवक्षत। अवोढाः, अवक्षाथाम्, अवोढ्वम्। अवक्षि, अवक्ष्वहि, अवक्ष्महि। अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत।

इति भ्वादयः।

प० वि०—सहिवहोः ६।२।। ओत् १।१।। अवर्णस्य ६।१।। अनु०—ढ्लोपे।

अर्थः—ढकार और रेफ का लोप होने पर 'सह्' और 'वह्' धातु के अकार के स्थान में ओकार आदेश होता है।

उवोढ

वह्	'लिट्' लकार, म० पु०, एक व० में 'सिप्' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से 'थल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
वह् थ	क्रादि नियम से प्राप्त 'इट्' का 'उपदेशेऽत्वतः' से निषेध होने पर 'ऋतो भारद्वाजस्य' से विकल्प हुआ, अनिट् पक्ष में 'लिटि धातो०' से लिट् परे रहते 'वह्' को द्वित्व
वह् वह् थ	'पूर्वोऽभ्यासः से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
व वह् थ	'लिट्यभ्यासस्यो०' से अभ्यास में वकार को सम्प्रसारण हुआ
उ अ वह् थ	'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप एकादेश हुआ
उ वह् थ	'हो ढः' से 'झल्' परे रहते हकार को ढकार आदेश हुआ
उ वढ् थ	'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'झष्' से उत्तर थकार को धकारादेश
उ वढ् ध	'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व 'ध्' को 'ढ्' आदेश हुआ
उ वढ् ढ	'ढो ढे लोपः' से ढकार परे रहते ढकार का लोप हुआ
उ व ढ	'सहिवहोरोदवर्णस्य' से ढकार लोप होने पर 'वह्' धातु के अकार को ओकार आदेश होकर
उवोढ	रूप सिद्ध होता है।

ऊहे—'वह्' धातु से लिट् लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'त' को 'एश्', द्वित्व तथा सम्प्रसारणादि कार्य होकर 'ईजे' (५४७) के समान 'ऊहे' जानें।

वोढा

वह्	'लुट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' आदेश और 'स्यतासी०' से 'तास्' हुआ
वह् तास् डा	अनुबन्ध-लोप, डित्करण सामर्थ्य से टिभाग 'आस्' का लोप
वह् त् आ	'हो ढः' से 'झल्' परे रहते 'ह्' को 'ढ्' आदेश हुआ
वढ् त् आ	'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'झष्' से उत्तर तकार को धकारादेश हुआ
वढ् ध् आ	'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व 'ध्' को 'ढ्' आदेश हुआ
वढ् ढ् आ	'ढो ढे लोपः' ढकार परे रहने पर पूर्ववर्ती ढकार का लोप हुआ
व ढ् आ	'सहिवहोरोदवर्णस्य' से ढकार लोप परे रहते 'वह्' के अकार को ओकारादेश होकर
वोढा	रूप सिद्ध होता है।

वक्ष्यति

वह्	'लृट्' लकार, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य' हुआ, अनुबन्ध-लोप
वह् स्य ति	'हो ढः' से 'झल्' परे रहते 'ह्' को 'ढ्' आदेश हुआ
वढ् स्य ति	'षढोः कः सि' से सकार परे रहते ढकार को ककारादेश
वक् स्य ति	'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्यादेश होकर
वक्ष्यति	रूप सिद्ध होता है।

अवाक्षीत्

वह्	'लुङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से लुङ् पर रहते 'च्लि' और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश होने पर
वह् सिच् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'अपृक्त' संज्ञक 'त्' को 'ईट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
वह् स् ई त्	'वदव्रजहलन्तस्याचः' से परस्मैपदपरक 'सिच्' परे रहते हलन्त अङ्ग के 'अच्' को वृद्धि हुई
वाह् स् ई त्	'हो ढः' से 'झल्' परे रहते 'ह्' को ढकारादेश हुआ
वाढ् स् ई त्	'षढोः कः सि' से सकार परे रहते ढकार को ककारादेश
वाक् स् ई त्	'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य षकार आदेश हुआ
वाक्ष् ई त्	'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर
अवाक्षीत्	रूप सिद्ध होता है।

अवोढाम्

वह्	'लुङ्' लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि' तथा 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश हुआ

वह् सिच् तस्	अनुबन्ध-लोप, 'तस्थस्थ०.' से 'तस्' का 'ताम्' आदेश
वह् स् ताम्	'झलो झलि' से 'झल्' से उत्तर सकार का लोप हुआ 'झल्' परे रहते
वह् ताम्	'हो ढः' से 'ह्' को 'ढ्', 'झषस्तथो०' से 'त्' को 'ध्' तथा 'ष्टुना ष्टुः' से 'ध्' को 'ढ्' आदेश हुआ
वढ् ढाम्	'ढो ढे लोपः' से ढकार का लोप और 'सहिवहोरोद०' से ढकार-लोप परे रहते अकार को ओकारादेश हुआ
वोढाम्	'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर
अवोढाम्	रूप सिद्ध होता है।

अवाक्षुः–'वह्', लुङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'वह्+सिच्+झि' यहाँ 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से वृद्धि, 'सिजभ्यस्त०' से 'झि' को 'जुस्', 'हो ढः' से ढत्व, 'षढोः कः सि' से 'ढ्' को 'क्', 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्यादेश, 'अट्' आगम तथा सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'अवाक्षुः' रूप सिद्ध होता है।

अवाक्षीः–'वह्', लुङ्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' आने पर सिद्ध-प्रक्रिया 'अवाक्षीत्' के समान जानें।

अवोढम् तथा **अवोढ** की सिद्धि-प्रक्रिया लुङ्, म० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'थास्' को 'तम्' तथा 'थ' को 'त' आदेश होने पर 'अवोढाम्' के समान जानें।

अवाक्षम्–'वह्', लुङ्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' को 'तस्थस्थ०' से 'अम्' होकर 'व्रदव्रजहलन्त०' से वृद्धि, 'हो ढः' से ढत्व, 'षढोः कः सि' से 'ढ्' को 'क्' और 'आदेशप्रत्यययोः' से 'स्' को मूर्धन्यादेश होकर 'अवाक्षम्' रूप सिद्ध होता है।

अवाक्ष्व, अवाक्ष्म–'वह्', लुङ्, उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'वस्' तथा 'मस्' के सकार का 'नित्यं ङितः' से लोप होकर सिद्धि-प्रक्रिया 'अवाक्षम्' के समान जानें।

अवोढ–'वह्' धातु से लुङ् लकार, 'स्वरितञितः०' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'अवोढाम्' के समान जानें।

अवक्षाताम्–'वह्', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'वह्+सिच्+आताम्' इस स्थिति में अनुबन्ध-लोप, 'हो ढः' से ढत्व, 'षढोः कः सि' से 'ढ्' को ककारादेश होने पर 'वक्+स्+आताम्' यहाँ 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्यादेश तथा 'अट्' आगम होकर 'अवक्षाताम्' रूप सिद्ध होता है।

अवक्षत–'वह्', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, बहु व० में 'झ' तथा 'सिच्' आदि कार्य होने पर 'आत्मनेपदेष्वनतः' से 'झ्' को 'अत्' आदेश होकर पूर्ववत् 'हो ढः' से ढत्व, 'षढोः कः सि' से 'ढ्' को 'क्' आदेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य तथा 'अट्' आगम होकर 'अवक्षत' रूप सिद्ध होता है।

अवोढाः–'वह्', लुङ्, आत्मनेपद, म० पु०, एक व० में 'थास्' आने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'अवोढाम्' के समान जानें।

अवक्षाथाम्–'वह्', लुङ्, म० पु०, द्वि व० में 'आथाम्' आने पर सिद्धि–प्रक्रिया 'अवक्षाताम्' के समान जानें।

अवोढ्वम्–'वह्', लुङ्, म० पु०, बहु व० में 'वह्+स्+ध्वम्' यहाँ 'झलो झलि' से सकार लोप, 'हो ढः' से सकार को ढकार, 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व ('ध्' को 'ढ्') 'ढो ढे लोपः' से ढकार–लोप, 'सहिवहोरोदवर्णस्य' से अकार को ओकार आदेश तथा 'अट्' आगम होकर 'अवोढ्वम्' रूप सिद्ध होता है।

अवक्षि, अवक्ष्वहि और **अवक्ष्महि में** लुङ्, उ० पु०, एक व०, द्वि व० और बहु व० में क्रमशः 'इट्', 'वहि' तथा 'महिङ्' प्रत्यय आने पर सिद्धि–प्रक्रिया 'अवक्षाताम्' के समान जानें।

अवक्ष्यत्–'वह्', लृङ्, परस्मैपद में 'तिप्', 'स्य', 'हो ढः' से 'ह्' को 'ढ्', 'षढोः कः सि' से 'ढ्' को 'क्', 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य षकार तथा 'अट्' आगम होकर 'अवक्ष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

अवक्ष्यत–'वह्' लृङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आकर पूर्ववत् सभी कार्य होते हैं।

॥ भ्वादिगण समाप्त॥

अथ अदादिर्गणः

अद भक्षणे ।१।

५५२. अदिप्रभृतिभ्यः शपः २।४।७२

लुक् स्यात्। अत्ति। अत्तः। अदन्ति। अत्सि, अत्थः, अत्थ। अद्मि, अद्वः, अद्मः।

प० वि०–अदिप्रभृतिभ्यः ५।३।। शपः ६।१।। **अनु०**–लुक्।

अर्थः–अदादिगण में पठित धातुओं से उत्तर **'शप्'** का **'लुक्'** होता है।

अद् (भक्षणे–खाना)

अत्ति

अद्	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'वर्तमाने लट्' से 'लट्' लकार, पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्' आया
अद् शप् तिप्	'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से 'अद्' धातु से उत्तर 'शप्' का लुक्[1] हुआ
अद् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'खरि च' से 'खर्' परे रहते चर्त्व अर्थात् 'द्' को 'त्' होकर
अत्ति	रूप सिद्ध होता है।

अत्तः–'अद्', लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', पूर्ववत् 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' का लुक्, 'खरि च' से चर्त्व तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'अत्तः' रूप सिद्ध होता है।

अदन्ति–'अद्' धातु से लट्, प्र०.पु०, बहु व० में 'झि' के 'झ्' को 'झोऽन्तः' से 'अन्त्' आदेश और 'शप्' का लुक् आदि होकर 'अदन्ति' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **अत्सि, अत्थः, अत्थ** इत्यादि की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

५५३. लिट्यन्यतरस्याम् २।४।४०

अदो घस्लृ वा स्याल्लिटि। जघास। उपधालोपः।

प० वि०–लिटि ७।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। **अनु०**–अदः, घस्लृ।

अर्थः–लिट् परे रहते **'अद्'** धातु को विकल्प से **'घस्लृ'** आदेश होता है।

---

१. 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' से प्रत्यय के अदर्शन की 'लुक्', 'श्लु' और 'लुप्' संज्ञाएं होती हैं।

जघास

अद्	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
अद् अ	'लिट्यन्यतरस्याम्' से 'अद्' धातु को 'लिट्' परे रहते विकल्प से 'घस्लृ' आदेश, 'अनेकाल्शित् सर्व०' से सम्पूर्ण 'अद्' के स्थान पर हुआ। आदेश पक्ष में
घस्लृ अ	अनुबन्ध-लोप
घस् अ	'लिटि धातोरन०' से लिट् परे रहते 'घस्' को द्वित्व हुआ
घस् घस् अ	पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा और 'हलादिः शेषः' से आदि 'हल्' शेष रहा
घ घस् अ	'कुहोश्चुः' से अभ्यास में कवर्ग को चवर्ग आदेश हुआ
झ घस् अ	'अभ्यासे चर्च' अभ्यास में 'झल्' के स्थान में 'जश्' आदेश 'झ्' को 'ज्' हुआ
ज घस् अ	'अत उपधायाः' से णित् परे रहते उपधा-वृद्धि होकर
जघास	रूप सिद्ध होता है।

५५४. शासिवसिघसीनां च ८।३।६०

इण्कुभ्यां परस्यैषां सस्य षः स्यात्। घस्य चर्त्वम्। जक्षतुः। जक्षुः। जघसिथ। जक्षथुः। जक्ष। जघास, जघस। जक्षिव। जक्षिम। आद, आदतुः आदुः।

प० वि०–शासिवसिघसीनाम् ६।३।। च अ० ।। **अनु०**–सः इण्कोः, अपदान्तस्य, मूर्धन्यः।

अर्थः–**'इण्'** (इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्) और कवर्ग से उत्तर **शास्** (अनुशिष्टौ–उपदेश करना), **वस्** (निवासे–निवास करना) तथा **घस्** (अदने–खाना) इनके सकार के स्थान में मूर्धन्य षकारादेश होता है।

जक्षतुः

अद्	लिट् लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'परस्मैपदानां०' से 'अतुस्' आदेश, 'लिट्यन्तरस्याम्' से 'अद्' को विकल्प से 'घस्लृ' तथा 'लिटि धातोरन०' से 'घस्' को द्वित्व हुआ
घस् घस् अतुस्	पूर्ववत् 'कुहोश्चुः' से 'घ्' को 'झ्' तथा 'अभ्यासे चर्च से 'झ्' को 'ज्' हुआ
जघस् अतुस्	'असंयोगाल्लिट् कित्' से असंयोगान्त से उत्तर अपित् लिट् 'अतुस्' कित् होता है अतः 'गनहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' से उपधा-लोप हुआ

ज घ्स् अतुस्	'शासिवसिघसीनां च' से 'घस्' के सकार को मूर्धन्यादेश और 'खरि च' से 'घ्' को 'क्' हुआ
जक्षतुस्	सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होने पर
जक्षतुः	रूप सिद्ध होता है।

जक्षुः–'अद्', लिट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' को 'परस्मैपदानां०' से 'उस्' होने पर सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जाननी चाहिए।

जघसिथ–'अद्', लिट्, म० पु०, एक व०, में 'सिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'सिप्' को 'थल्', 'कृसृभृवृस्तु०' क्रादि नियम से नित्य 'इट्' और पूर्ववत् द्वित्वादि होकर 'जघसिथ' रूप सिद्ध होता है।

जक्षथुः–'अद्', लिट्, म० पु०, द्वि व० में 'थस्' को 'परस्मैपदानां०' से 'अथुस्' होकर सिद्धि-प्रक्रिया 'जक्षतुः' के समान जानें।

जक्ष–'अद्', लिट्, म० पु०, बहु व० में 'थ' को 'परस्मैपदानां०' से 'अ' होकर सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

जघास–'अद्', लिट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'मिप्' को 'णल्', 'णलुत्तमो वा' से उत्तम पुरुष में 'णल्' विकल्प से णित् होता है। णित् पक्ष में सिद्धि-प्रक्रिया 'जघास' के समान जानें।

जघस–णिदभाव पक्ष में–'णल्' के णित् न होने से 'अत उपधायाः' से वृद्धि नहीं होती तब 'जघस' रूप सिद्ध होता है।

जक्षिव, जक्षिम–'अद्', लिट्, उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'वस्' और 'मस्' को 'परस्मैपदानां०' से क्रमशः 'व' तथा 'म' आदेश, 'कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुव० इस क्रादि नियम से 'इट्' होकर सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जाननी चाहिए।

आद–जिस पक्ष में 'लिट्यन्यतरस्याम्' से 'अद्' को लिट् परे रहते 'घस्लृ' आदेश नहीं होगा तब 'आद' रूप सिद्ध होगा–

आद

अद्	'परोक्षे लिट्' से लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
अद् तिप्	'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
अद् अ	'लिटि धातो०' से द्वित्व, 'अजादेर्द्वितीयस्य' से अजादि धातु के द्वितीय एकाच् समुदाय को द्वित्व प्राप्त था, यहाँ 'अद्' धातु का द्वितीय एकाच् न होने के कारण 'व्यपदेशिवद्भाव एकस्मिन्' परिभाषा से प्रथम एकाच् में ही द्वितीय एकाच् के समान व्यवहार होकर 'अद्' को द्वित्व हुआ
अद् अद् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा और 'हलादिः शेषः' से अभ्यास के अनादि हलों का लोप हुआ

अ अद् अ	'अत आदेः' से 'अभ्यास' के आदि अकार को दीर्घ
आ अद् अ	'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश होकर
आद	रूप सिद्ध होता है

आदतुः, आदुः–'अद्', लिट्, प्र० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'तस्' तथा 'झि' को क्रमशः 'अतुस्' और 'उस्' आदेश होने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'आद' के समान जानें।

५५५. इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम् ७।२।६६

अद्, ऋ, व्येञ्, एभ्यस्थलो नित्यमिट् स्यात्। आदिथ। अत्ता। अत्स्यति। अत्तु, अत्तात्। अत्ताम्। अदन्तु।

प० वि०–इट् १।१।। अत्त्यर्तिव्ययतीनाम् ६।३।। **अनु०**–थलि।

अर्थः–**अद्** (भक्षणे-खाना), **ऋ** (गतौ-गति करना) तथा **व्येञ्** (तन्तुसंताने-तन्तुओं का फैलाव) से उत्तर 'थल्' को नित्य **'इट्'** आगम होता है।

आदिथ–'अद्' धातु से लिट् लकार, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'सिप्' को 'परस्मैपदानां णलतु०' से 'थल्' आदेश, यहाँ भारद्वाज नियम (ऋतो भारद्वाजस्य) से विकल्प से 'इट्' प्राप्त था, जिसे बाधकर 'इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम्' से 'थल्' को नित्य 'इट्' आगम होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'आद' के समान जानें।

अत्ता–'अद्' धातु से लुट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' 'स्यतासी०' से 'तास्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' आदेश, डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप और 'खरि च' से चर्त्व होकर 'अत्ता' रूप सिद्ध होता है।

अत्स्यति–'अद्' धातु से लृट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'खरि च' से चर्त्व तथा 'अट्' आगम होकर 'अत्स्यति' रूप सिद्ध होता है।

अत्तु–'अद्', लोट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से 'शप्' का लुक् होकर 'अत्ति' रूप बनने पर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर 'अत्तु' रूप सिद्ध होता है।

अत्तात्–जब 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लोट्' होगा तो आशीर्वाद अर्थ में 'तुह्योस्तातङाशिष्य०' से 'अत्तु' के 'तु' को विकल्प से 'तातङ्' आदेश होकर 'अत्तात्' रूप सिद्ध होता है।

अत्ताम्–'अद्', लोट् लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'लोटो लङ्वत्' से 'लोट्' को 'लङ्' के समान ङित् मानकर 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' आदेश और 'खरि च' से चर्त्व होकर 'अत्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

अदन्तु–'अद्', लोट् लकार, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से 'शप्' का लुक्, 'झोऽन्तः' से 'झ्' को अन्तादेश होकर 'अदन्ति' बनने पर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर 'अदन्तु' रूप सिद्ध होता है।

५५६. हुझल्भ्यो हेर्धिः ६।४।१०१

होर्झलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात्। अद्धि। अत्तात्। अत्तम्। अत्त। अदानि। अदाव। अदाम।

प० वि०—हुझल्भ्यो: ५।३।। हे: ६।१।। धि: १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य।

अर्थः—हु (दानादानयो: अदने च–लेना, देना, खाना) तथा झलन्त अङ्ग से उत्तर 'हि' के स्थान पर **'धि'** आदेश होता है।

अद्धि

अद्	'लोट् च' से लोट् लकार, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'शप्' और 'अदिप्रभृतिभ्य: शप:' से 'शप्' का लुक् हुआ
अद् सि	'सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' के स्थान में अपित् 'हि' आदेश हुआ
अद् हि	'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से झलन्त अङ्ग 'अद्' से उत्तर 'हि' को 'धि' आदेश होकर
अद्धि	रूप सिद्ध होता है।

अत्तात्– आशीर्वाद अर्थ में 'अद्+हि' यहाँ 'तुह्योस्तातङ्०' से 'हि' को 'तातङ्' और खरि च' से 'द्' को 'त्' होकर 'अत्तात्' रूप सिद्ध होता है।

अत्तम्, अत्त–लोट् लकार, म पु०, द्वि व० तथा बहु व० में क्रमश: 'थस्' को 'तम्' तथा 'थ' को 'त' होकर 'अत्ताम्' के समान 'अत्तम्' तथा 'अत्त' की सिद्धि जानें।

अदानि

अद्	'लोट् च' से लोट् लकार, उ० पु०, एक व० में 'मिप्', 'शप्' और 'अदिप्रभृतिभ्य: शप:' से 'शप्' का लुक् हुआ
अद् मिप्	'आडुत्तमस्य पिच्च' से लोट् लकार में उ० पु० को अपित् 'आट्' हुआ
अद् आट् मिप्	अनुबन्ध–लोप, 'मेर्निः' से 'मि' को 'नि' आदेश होकर
अदानि	रूप सिद्ध होता है।

अदाव, अदाम–'अद्', लोट् लकार, उ० पु०, द्वि व०, तथा बहु व० में 'लोटो लङ्वत्' से 'लोट्' को लङ्वत् कार्य प्राप्त होने पर 'नित्यं ङितः' से 'वस्' और 'मस्' के सकारों का लोप और 'अदानि' के समान 'आट्' आगम आदि कार्य होते हैं।

५५७. अद: सर्वेषाम्[१] ७।३।१००

अद: परस्यापृक्तस्य सार्वधातुकस्य अट् स्यात् सर्वमतेन। आदत्, आत्ताम्, आदन्। आद:, आत्तम्, आत्त। आदम्, आद्व, आद्म। अद्यात्, अद्याताम्, अद्यु:। अद्यात्, अद्यास्ताम्, अद्यासु:।

१. यह सूत्र अङ्गाधिकार में होने के कारण 'अद्' अङ्ग से उत्तर अपृक्त को 'अट्' आगम होता है जिसे मूल ग्रन्थ को ध्यान में रखकर नहीं दिखाया गया।

प० वि०–अदः ५।१।। सर्वेषाम् ६।३।। **अनु०**–सार्वधातुके, अपृक्ते, अट्।

अर्थः–'**अद्**' धातु से उत्तर अपृक्त सार्वधातुक को सभी आचार्यों के मत में 'अट्' आगम होता है।

आदत्

अद्	'अनद्यतने लङ्' से लङ् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्' और 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से शप् का लुक् हुआ
अद् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से ङित्सम्बन्धी इकार का लोप
अद् त्	'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से एक अल् रूप प्रत्यय तकार की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'अदः सर्वेषाम्' से 'अद्' से उत्तर अपृक्त सार्वधातुक 'त्' को 'अट्' आगम हुआ
अद् अट् त्	अनुबन्ध-लोप, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम
आट् अद् अ त्	अनुबन्ध-लोप, 'आटश्च' से वृद्धि एकादेश होकर
आदत्	रूप सिद्ध होता है।

आत्ताम्–'अद्', लङ् लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्', 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृ०' से शप्-लुक्, 'खरि च' से 'द्' को 'त्', 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'आत्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

आदन्

अद्	लङ् लकार, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्' और 'अदिप्रभृति०' से 'शप्' का लुक् हुआ
अद् झि	'इतश्च' से 'झि' के इकार का लोप हुआ
अद् झ्	'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश हुआ
अद् अन्त्	'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'संयोगान्तस्य लोपः' से तकार-लोप, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि एकादेश होकर
आदन्	रूप सिद्ध होता है।

आदः–'अद्', लङ्, म० पु०, द्वि व०, में 'सिप्', 'शप्', 'इतश्च' से इकार-लोप, शप्-लुक्, 'अदः सर्वेषाम्' से अपृक्त संज्ञक 'स्' को 'अट्' आगम, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम, 'आटश्च' से वृद्धि, सकार को रुत्त्व एवं विसर्ग होकर 'आदः' रूप सिद्ध होता है।

आत्तम्, आत्त–'अद्', लङ्, म० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'परस्मैपदानां णलतु०' से 'थस्' और 'थ' को क्रमशः 'तम्' तथा 'त' आदेश होकर सिद्धि-प्रक्रिया 'आत्ताम्' के समान जानें।

आदम्–'अद्', लङ्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'अम्' होकर सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

आद्व, आद्म–'अद्', लङ्, उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'वस्' तथा 'मस्' के सकार का 'नित्यं ङितः' से लोप होकर पूर्ववत् 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि आदि कार्य जानें।

अद्यात्

अद्	'विधिनिमन्त्रणामन्त्रण०' से विध्यादि अर्थों में 'लिङ्', तिबाद्युत्पत्ति से प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'अद्' से उत्तर 'शप्' का लुक्, अनुबन्ध-लोप और 'इतश्च' से इकार-लोप हुआ
अद् त्	'यासुट् परस्मैपदेषू०' से 'यासुट्' आगम, 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
अद् यास् स् त्	'लिङः सलोपो०' से दोनों अनन्त्य सार्वधातुक सकारों का लोप होकर
अद्यात्	रूप सिद्ध होता है।

अद्याताम्–'अद्', 'विधिनिमन्त्रणा०' से लिङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश होने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'अद्यात्' के समान जानें।

अद्युः

अद्	'विधिनिमन्त्रणामन्त्रण०' से विधि आदि अर्थो में लिङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
अद् यास् झि	'झेर्जुस्' से लिङ्स्थानी 'झि' को 'जुस्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
अद यास् उस्	'लिङः सलोपो०' से अनन्त्य सकार का लोप हुआ
अद् या उस्	'उस्यपदान्तात्' से अपदान्त अकार से उत्तर 'उस्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकादेश हुआ
अद् युस्	'ससजुषो०' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर
अद्युः	रूप सिद्ध होता है।

अद्यात्–'अद्', 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', पूर्ववत् 'यासुट्', 'सुट्' आदि होने पर 'स्कोः संयोगाद्यो०' से दोनों सकारों का लोप होकर 'अद्यात्' रूप सिद्ध होता है।

अद्यास्ताम्, अद्यासुः–'अद्', आशीर्वाद अर्थ में लिङ्, प्र० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में क्रमशः 'तस्' को 'ताम्' तथा 'झि' को 'झेर्जुस्' से जुसादेश होकर 'अद्यास्ताम्' और 'अद्यासुः' रूप सिद्ध होते हैं।

५५८. लुङ्सनोर्घस्लृ २।४।३७

अदो घस्लृ स्याल्लुङि सनि च। लृदित्वादङ्। अघसत्। आत्स्यत्। हन–हिंसागत्योः।२१। हन्ति।

प० वि०–लुङ्सनोः ७।२।। घस्लृ १।१।। **अनु०**–अदः।

अर्थः–लुङ् और सन् परे रहते **'अद्'** के स्थान पर **'घस्लृ'** आदेश होता है।

अघसत्

अद्	'लुङ्' से सामान्य भूतकाल में होने वाली क्रिया-वाचक धातु से उत्तर 'लुङ्' प्रत्यय आया
अद् लुङ्	'लुङ्सनोर्घस्लृ' से लुङ् परे रहते 'अद्' को 'घस्लृ' आदेश हुआ
घस्लृ लुङ्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
घस् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप
घस् त्	'च्लि' लुङि' से लुङ् परे रहते 'च्लि' प्रत्यय आया
घस् च्लि त्	'पुषादिद्युताद्यलृदितः परस्मै०' से लृदित् से उत्तर 'च्लि' के स्थान में 'अङ्' आदेश हुआ
घस् अङ् त्	अनुबन्ध-लोप, 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर
अघसत्	रूप सिद्ध होता है।

आत्स्यत्–'अद्', लिङ्निमित्तेलृङ्० से लृङ् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'खरि च' से 'द्' को 'त्', 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'आत्स्यत्' रूप सिद्ध होता है।

हन्ति–'हन्' धातु से लट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्' तथा 'शप्-लुक्, होकर 'हन्ति' रूप सिद्ध होता है।

५५९. अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ६।४।३७

अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याज्झलादौ किति ङिति परे। यमिरमिनमिगमिहनिमन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः। तनु-क्षणु-क्षिणु-ऋणु-तृणु, घृणु-वनु-मनु-तनोत्यादयः। हतः, घ्नन्ति। हंसि, हथः, हथ। हन्मि, हन्वः, हन्मः। जघान, जघ्नतुः, जघ्नुः।

प० वि०–अनुदात्तो...तनोत्यादीनाम् ६।३।। अनुनासिकलोपः १।१।। झलि ७।१।। क्ङिति ७।१।।

अर्थः–उपदेश में अनुदात्त धातुओं के, वनु (याचने-माँगना) एवं तन् विस्तारे) आदि धातुओं के अनुनासिक का लोप होता है, झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते।

अनुदात्त उपदेश धातुएं–यम् (उपरमे-विरक्त होना), **रम्** (क्रीडायाम्-रमण करना), **नम्** (प्रह्वत्वे शब्दे च-प्रणाम करना), **गम्** (गतौ-गति करना), **हन्** (हिंसागत्योः–हिंसा, गति करना), **मन्** (अवबोधने-जानना) परिगणित हैं।

तनादि निर्दिष्ट धातुएँ केवल आठ हैं–**तन्** (विस्तारे-विस्तार करना), **क्षण** (हिंसायाम्-हिंसा करना), **क्षिण्** (हिंसायाम्-हिंसा करना); **ऋण** (गतौ-जाना), **तृण** (अदने खाना), **घृण्** (निघृणे-चमकना), **वन्** (याचने-माँगना), **मन्** (अवबोधने-जानना)।

हतः

हन् — लट् लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' का लुक्, अनुबन्ध-लोप

हन् तस् — 'सार्वधातुकमपित्' से 'तस्' के ङित् होने पर 'अनुदात्तोपदेशवनति०' से झलादि ङित् परे रहते अनुदात्तोपदेश 'हन्' धातु के नकार का लोप हुआ

ह तस् — सकार को रुत्त्व तथा विसर्ग होकर

हतः — रूप सिद्ध होता है।

घ्नन्ति

हन् — लट् लकार, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', पूर्ववत् 'शप्', शप्-लुक्

हन् झि — 'झोऽन्तः' से 'झ्' को अन्त्' आदेश हुआ

हन् अन्ति — 'सार्वधातुकमपित्' से 'अन्ति' के ङिद्वद् होने से 'गमहनजनखनघसां०' से उपधा-लोप हुआ अङ् से भिन्न ङित् परे रहते

ह्न् अन्ति — 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' से 'हन्' धातु के हकार को नकार परे रहते कवर्ग अर्थात् 'घ्' होकर

घ्नन्ति — रूप सिद्ध होता है।

हंसि–'हन्', लट् लकार, म० पु०, एक व० में 'सिप्', पूर्ववत् 'शप्', शप्-लुक् होकर 'नश्चापदान्तस्य झलि' से 'न्' को अनुस्वार होकर 'हंसि' रूप सिद्ध होता है।

हथः, हथ–'हन्', लट्, म० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'थस्' और 'थ' होकर 'हतः' के समान 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्या०' से अनुनासिक नकार का लोप होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

हन्मि–'हन्+मिप्', शप्, 'शप्' का लुक् आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'हन्ति' के समान ही 'हन्मि' रूप भी जानें।

हन्वः, हन्मः–'हन्', लट्, उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'वस्' और 'मस्' के सकारों को रुत्व और विसर्ग, शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

जघान

हन् — 'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्', अनुबन्ध-लोप

हन् अ — 'लिटि धातोरन०' से 'लिट्' परे रहते 'हन्' को द्वित्व

हन् हन् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा और 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
ह् हन् अ	'कुहोश्चुः' से अभ्यास में 'ह्' को 'झ्' और 'अभ्यासे चर्च' से 'झल्' को 'जश्' हुआ
ज हन् अ	'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' से णित्' परे रहते 'हन्' धातु के 'ह्' को 'घ्' तथा 'अत उपधायाः' से णित्' प्रत्यय परे रहते उपधा को वृद्धि होकर
जघान	रूप सिद्ध होता है।

जघ्नतुः जघ्नुः–'हन्', लिट्, प्र० पु०, द्वि व०, तथा बहु व० में क्रमशः 'तस्' को 'अतुस्' और 'झि' को 'उस्' आदेश, पूर्ववत् द्वित्व तथा अभ्यास कार्य आदि होकर 'असंयोगाल्लिट् कित्' से असंयोगान्त धातु से उत्तर अपित् लिट् 'तस्' तथा 'झि' के कित होने से 'गमहनजनखन०' से 'हन्' धातु की उपधा का कित् परे रहते लोप होकर सकार को रुत्व और विसर्ग होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

५६०. अभ्यासाच्च ७।३।५५

अभ्यासात् परस्य हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात्। जघनिथ, जघन्थ। जघ्नथुः। जघ्न। जघान, जघन। जघ्निव। जघ्निम। हन्ता। हनिष्यति। हन्तु, हतात्। हताम्। घ्नन्तु।

प० वि०–अभ्यासात् ५।१।। च अ०।। **अनु०**–कुः, हः, हन्तेः।

अर्थः–अभ्यास से उत्तर 'हन्' धातु के हकार को कवर्ग आदेश होता है। 'स्थानेऽन्तरतमः' से हकार के स्थान में कवर्ग घकार ही होता है।

जघनिथ

हन्	लिट् लकार, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'सिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'थल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
हन् थ	'ऋतो भारद्वाजस्य' से 'थल्' को विकल्प से 'इट्' आगम, अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व तथा अभ्यास-कार्य, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
ह हन् इ थ	'कुहोश्चुः' से अभ्यास में हकार को चवर्ग (झकार) तथा 'अभ्यासे चर्च' से 'जश्' अर्थात् 'झ्' को 'ज्' हुआ
ज हन् इ थ	'अभ्यासाच्च' से अभ्यास से उत्तर 'ह्' को कवर्ग 'घ्' होकर
जघनिथ	रूप सिद्ध होता है।

इट्-अभाव पक्ष में **'जघन्थ'** रूप सिद्ध होता है।

जघ्नथुः–'हन्', लिट्, म० पु०, द्वि व० में 'थस्' को 'परस्मैपदानां०' से 'अतुस्' होकर सिद्धि-प्रक्रिया 'जघ्नतुः' के समान जानें।

जघ्न–'हन्', लिट्, म० पु०, बहु व० में 'थ' को 'परस्मैपदानां०' से 'अ' होकर शेष कार्य पूर्ववत् जानें।

जघान–'हन्', लिट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश, 'णलुत्तमो वा' से उत्तम पुरुष में 'णल्' विकल्प से णित् होता है। 'णिद्' पक्ष में–पूर्ववत् 'लिटि धातो०' से द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यास:' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादि: शेष:', से आदि 'हल्' शेष, 'कुहोश्चु:' से अभ्यास में हकार को झकार, 'अभ्यासे चर्च' से 'जश्', 'हो हन्तेर्ञ्णि०' से 'ह्' को 'घ्' तथा 'अत उपधाया:' से वृद्धि होकर 'जघान' रूप सिद्ध होता है।

जघन–णित् अभाव पक्ष में–'अत उपधाया:' से वृद्धि नहीं होती, शेष सिद्धि–प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

जघ्निव, जघ्निम–'हन्', लिट्, उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'वस्' तथा 'मस्' को 'परस्मैपदानां०' से 'व' और 'म' आदेश, 'कृसृभृवृस्तु०' इस क्रादि नियम से 'इट्', पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यास कार्य, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'वस्' और 'मस्' के कित् होने से 'गमहनजनखनघसां०' से उपधाभूत अकार का लोप और 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' से नकार परे रहते हकार को घकारादेश होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

हन्ता–'हन्' धातु से 'अनद्यतने लुट्' से 'लुट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लुट: प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्' और डित्करणसामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप होकर 'हन्ता' रूप सिद्ध होता है।

हनिष्यति–'हन्', 'लृट् शेषे च' से 'लृट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'ऋद्धनो: स्ये' से 'हन्' धातु से उत्तर 'स्य' को 'इट्' आगम और 'आदेशप्रत्यययो:' से मूर्धन्य षकारादेश होकर 'हनिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

हन्तु–'हन्', 'लोट् च' से लोट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', शप्–लुक् आदि होकर 'हन्ति' रूप बनने पर 'एरु:' से इकार को उकार होकर 'हन्तु' रूप सिद्ध होता है।

हतात्–'हन्', आशीर्वाद अर्थ में 'लोट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'हन्तु' बनने पर 'तुह्योस्तातङाशिष्य०' से 'तु' के स्थान में 'तातङ्' होने पर 'अनुदात्तोपदेशवनति०' से ङित् परे रहते नकार का लोप होकर 'हतात्' रूप सिद्ध होता है।

हताम्–'हन्', लोट् लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'लोटो लङ्वत्' से 'लोट्' लकार को 'लङ्' के समान ङित् मानने पर 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' और 'तस्' के ङित् होने से 'अनुदात्तोपदेश०' से नकार का लोप होकर 'हताम्' रूप सिद्ध होता है।

घ्नन्तु–'हन्', लोट् लकार, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्य:०' से 'शप्' का लुक्, 'झोऽन्त:' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश होकर पूर्ववत् 'घ्नन्ति' रूप बनने पर 'एरु:' से इकार को उकारादेश होकर 'घ्नन्तु' रूप सिद्ध होता है।

५६१. हन्तेर्जः ६।४।३६

हौ परे।

प० वि०—हन्तेः ६।१।। जः १।१।। **अनु०**—हौ।

अर्थः—'हि' परे रहते **'हन्'** धातु के स्थान पर **'ज'** आदेश होता है।

५६२. असिद्धवदत्राऽऽभात् ६।४।२२

इत ऊर्ध्वमापादसमाप्तेराभीयं समानाश्रायं तस्मिन्कर्त्तव्ये तदसिद्धम्। इति जस्यासिद्धत्वात् न हेर्लुक्। जहि। हतात्। हतम्। हत। हनानि। हनाव। हनाम। अहन्, अहताम्, अघ्नन्। अहन्, अहतम्, अहत। अहनम्, अहन्व, अहन्म। हन्यात्।

प० वि०—असिद्धवत् अ०।। अत्र अ०।। आ अ०।। भात् ५।१।।

अर्थः—इस सूत्र (६।४।२२) से आगे छठे अध्याय के चतुर्थ पाद की समाप्ति पर्यन्त समान आश्रय कार्य अर्थात् एक ही निमित्त को मानकर होने वाले दो अलग-अलग आभीय कार्य परस्पर एक-दूसरे के प्रति असिद्ध होते हैं।

विशेष—यह सूत्र अष्टाध्यायी क्रम को जानने पर ही समझा जा सकता है। यह आभीय असिद्ध त्रिपादी के असिद्ध से सर्वथा भिन्न है। त्रिपादी के सूत्र सपाद सप्ताध्यायी की दृष्टि में असिद्ध होते हैं तथा त्रिपादी में भी पूर्व-पूर्व सूत्र की दृष्टि में पर सूत्र असिद्ध माने जाते हैं। जबकि आभीय असिद्ध-प्रकरण में समानाश्रय कार्य करने में सभी सूत्र परस्पर एक-दूसरे के प्रति असिद्ध हो जाते हैं। **यथा**-'जहि' यहाँ हकार के स्थान में 'हन्तेर्जः' (६।४।३६) से किया गया जकारादेश 'अतो हेः' (६।४।१०५) की दृष्टि में, आभीय कार्य होने से, असिद्ध हो जाता है। अतः अकारान्त अङ्ग नहीं मिलता और 'हि' का लुक् भी नहीं होता।

जहि

हन्	लोट् लकार, म० पु०, एक व० में 'सिप्' आने पर 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्' तथा 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' का लुक् हुआ
हन् सिप्	'सेर्ह्यपिच्च' से लोट् सम्बन्धी 'सि' स्थान में अपित् 'हि' आदेश हुआ
हन् हि	'हन्तेर्जः' से 'हि' परे रहते 'हन्' को 'ज' आदेश हुआ
ज हि	यहाँ 'अतो हेः' से अकारान्त अङ्ग से उत्तर 'हि' का लुक् प्राप्त था, जो आभीय कार्य है। इससे पूर्व 'हन्तेर्जः' से किया 'ज' आदेश भी 'असिद्धवदत्राऽऽभात्' के अधिकार में होने के कारण आभीय कार्य है, अतः 'अतो हेः' की दृष्टि में 'हन्तेर्जः' से किया गया 'ज' आदेश असिद्ध हो जाता है। इस प्रकार अकारान्त अङ्ग न मिलने से 'अतो हेः' से 'हि' का लुक् नहीं होने से
जहि	रूप सिद्ध होता है।

हतात्—जब 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'हन्' धातु से आशीर्वाद अर्थ में लोट् लकार, म० पु०, एक व० में 'सि' के स्थान पर 'हि' आदेश होगा तब 'तुह्योस्तातङ्०' से 'तातङ्' आदेश होकर 'हतात्' रूप सिद्ध होगा।

हतम्, हत— 'हन्', लोट्, म० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में क्रमशः 'थस्' और 'थ' को 'तम्' और 'त' ओदश होकर शप् का लुक् तथा नकार-लोपादि कार्य 'हतः' (५५९) के समान होने पर 'हतम्' और 'हत' रूप सिद्ध होते हैं।

हनानि, हनाव, हनाम की सिद्धि-प्रक्रिया 'अदानि', 'अदाव' और 'अदाम' (५५६) के समान जानें।

अहन्

हन्	'अनद्यतने लङ्' से लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'शप्' का लुक्, अनुबन्ध-लोप और 'इतश्च' से इकार लोप हुआ
हन् त्	'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से 'त्' की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'तिप्' के 'अपृक्त' संज्ञक हल् (तकार) का लोप हुआ
हन्	'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर
अहन्	रूप सिद्ध होता है।

अहताम्—'हन्' धातु से 'लङ्' लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश, 'अनुदात्तोपदेशवनति०' से नकार-लोप तथा 'अट्' आगम होकर 'अहताम्' रूप सिद्ध होता है।

अघ्नन्

हन्	लङ् लकार, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'शप्' तथा 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' का लुक् होने पर
हन् झि	'इतश्च' से इकार-लोप, 'झोऽन्तः' से 'झ्' 'अन्त्' आदेश हुआ
हन् अन्त्	'सार्वधातुकमपित्' से 'अन्त्' के 'ङित्' होने पर 'गमहनजनखन०' से ङित्' परे रहते 'हन् की उपधा अकार का लोप हुआ
ह्न् अन्त्	'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' से नकार परे रहते 'हन्' धातु के हकार को घकारादेश, 'संयोगान्तस्य लोपः' से तकार का लोप तथा 'अट्' आगम होकर
अघ्नन्	रूप सिद्ध होता है।

अहन्—'हन्', लङ्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' आने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'अहन्' के समान जानें।

अहताम्, अहत—'हन्', लङ् लकार, म० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'थस्' को

'तम्' तथा 'थ' को 'त' आदेश होने पर अडागम आदि कार्य होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

अहनम्–'हन्', लङ्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'अम्' आदेश, 'शप्', 'शप्' का लुक् तथा 'अट्' आगम होकर 'अहनम्' रूप सिद्ध होता है।

अहन्व, अहन्म–'हन्', लङ्, उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'वस्' और 'मस्' के सकार का 'नित्यं ङितः' से लोप, 'शप्', 'शप्' का लुक् तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर पूर्ववत् उक्त दोनों रूप-सिद्ध होते हैं।

हन्यात्–'हन्', धातु से विधि लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'शप्' का लुक्, 'यासुट्' तथा 'सुट्', लिङः सलोपो०' से सकार-लोपादि कार्य 'अद्यात्' (५५६) के समान जानें।

५६३. आर्धधातुके २।४।३५

प० वि०–आर्धधातुके ७।१।।

अर्थः–इस सूत्र से आगे कहे जाने वाले कार्य आर्धधातुक के विषय में कहे जाते हैं। यह अधिकार-सूत्र है, इसका अधिकार २।४।५९ तक जाता है।

५६४. हनो वध लिङि २।४।४२

प० वि०–हनः ६।१।। वध १।१।। लिङि ७।१। **अनु०**–आर्धधातुके।

अर्थः–आर्धधातुक लिङ् परे रहते **'हन्'** को **'वध'** आदेश होता है।

५६५. लुङि च २।४।४३

वधादेशोऽदन्तः। आर्धधातुके इति विषयसप्तमी। तेनार्धधातुकोपदेशेऽकारान्तत्वादतो लोपः। वध्यात्। वध्यास्ताम्। अवधीत्। अहनिष्यत्। यु मिश्रणामिश्रणयोः । ३।

प० वि०–लुङि ७।१।। च अ०।। **अनु०**–हनः, वध।

अर्थः–'लुङ्' परे होने पर **'हन्'** धातु को **'वध'** आदेश होता है।

सूत्र में 'आर्धधातुके' पद में विषय-सप्तमी माननी चाहिए, अर्थात् जहाँ आर्धधातुक का विषय बनेगा, वहाँ आर्धधातुक की उपस्थिति से पूर्व ही आर्धधातुक को निमित्त मानकर होने वाले कार्य, यथा 'हन्' के स्थान पर 'वध' आदि, हो जाते हैं। ऐसा मानने पर 'वध्यात्' आदि में 'हन्' धातु से उत्तर आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्' आर्धधातुक आयेगा ऐसा विषय बनते ही 'हन्' को 'वध' आदेश हो जाता है। इसके पश्चात् आर्धधातुक 'लिङ्' आदि की उत्पत्ति होती है, इससे आर्धधातुक के उपदेशकाल में अदन्त अङ्ग मिल जाने से 'अतो लोपः' से अकार का लोप हो जाता है। यदि 'आर्धधातुके' में विषय सप्तमी न मानते तो पहले आर्धधातुक (लिङ् आदि) की उत्पत्ति होती, उसके बाद 'वध' आदि आदेश होते, ऐसा मानने पर आर्धधातुक के उपदेश काल में अदन्त अङ्ग न मिलने से 'अतो

आदेश होते, ऐसा मानने पर आर्धधातुक के उपदेश काल में अदन्त अङ्ग न मिलने से 'अतो लोपः' से अकार का लोप नहीं हो पाता। अतः 'आर्धधातुके' में विषय सप्तमी मानी जाती है।

वध्यात्

हन्	आशीर्वाद अर्थ में आर्धधातुक 'लिङ्' आयेगा ऐसा विषय उपस्थित होने पर 'हनो वध लिङि' से 'लिङ्' की उत्पत्ति से पूर्व ही 'हन्' को 'वध' आदेश हो गया
वध	'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्' आया
वध लिङ्	तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप
वध त्	'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्' तथा 'सुट् तिथोः' से लिङ्सम्बन्धी तकार को 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
वध यास् स् त्	'अतो लोपः' से आर्धधातुक के उपदेश काल में अदन्त अङ्ग 'वध' के अकार का लोप हुआ, आर्धधातुक लिङ् परे रहते
वध् यास् स् त्	'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से संयोग के आदि दोनों सकारों का लोप होकर
वध्यात्	रूप सिद्ध होता है।

वध्यास्ताम्–'हन्' धातु से आशीर्वाद अर्थ में लिङ्, प्र० पु०, द्वि व० में आर्धधातुक (तस्) के विषय में 'हन्' को 'वध' आदेश, तदनन्तर लिङ् आदि पूर्ववत् होकर द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश होकर 'वध्यास्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

अवधीत्

हन्	'लुङ्' से सामान्य भूतकाल में 'लुङ्' आया
हन् लुङ्	'लुङि च' से लुङ् परे रहते 'हन्' को 'वध' आदेश हुआ
वध लुङ्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
वध तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
वध स् त्	'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से अपृक्त संज्ञक 'त्' को 'ईट्' आगम तथा 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'सिच्' को 'इट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
वध इ स् ई त्	'अतो लोपः' से आर्धधातुक परे रहते अकार का लोप हुआ
वध् इ स् ई त्	'इट ईटि' से सकार-लोप और 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हुआ
वध् ई त्	'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
अवधीत्	रूप सिद्ध होता है।

अहनिष्यत्–'हन्', 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियाति०' से 'लृङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'ऋद्धनोः स्ये' से 'हन्' से उत्तर 'स्य' को 'इट्' आगम, 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्यादेश तथा 'अट्' आगम होकर 'अहनिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

५६६. उतो वृद्धिर्लुकि हलि ७।३।८९

लुग्विषये उतो वृद्धिः पिति हलादौ सार्वधातुके, न त्वभ्यस्तस्य। यौति, युतः, युवन्ति। यौषि, युथः, युथ। यौमि, युवः, युमः। युयाव। यविता। यविष्यति। यौतु, युतात्। अयौत्। अयुताम्। अयुवन्। युयात्–इह उतो वृद्धिर्न, भाष्ये 'पिच्चङिन्न, ङिच्चपिन्न' इति व्याख्यानात्। युयाताम्। युयुः। यूयात्। यूयास्ताम्। यूयासुः। अयावीत्। अयविष्यत्। या प्रापणे।४। याति, यातः, यान्ति। ययौ। याता। यास्यति। यातु। अयात्। अयाताम्।

प० वि०–उतः ६।१।। वृद्धिः १।१।। लुकि ७।१।। हलि ७।१।।

अनु०–न, अभ्यस्तस्य, पिति, सार्वधातुके।

अर्थः–लुक् के विषय में हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते ह्रस्व उकारान्त अङ्ग को वृद्धि होती है, अभ्यस्त को छोड़कर।

यौति

यु	'वर्त्तमाने लट्' से 'लट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्' और 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से 'शप्' का लुक् हुआ
यु तिप्	अनुबन्ध–लोप
यु ति	'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से लुक् के विषय में हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते अनभ्यस्त ह्रस्व उकारान्त अङ्ग को 'औ' वृद्धि होकर
यौति	रूप सिद्ध होता है।

युतः–'यु', लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' के अपित् होने से 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से वृद्धि नहीं होती। 'तस्' के सकार को रुत्त्व तथा रेफ को विसर्गादेश होकर 'युतः' रूप सिद्ध होता है।

युवन्ति–'यु', लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' आने पर 'झोऽन्तः' से 'झ्' को अन्तादेश तथा 'अचि श्नुधातु०' से उकार को 'उवङ्' आदेश होकर 'युवन्ति' रूप सिद्ध होता है।

यौषि, **यौमि** की सिद्धि–प्रक्रिया में 'यु', लट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' तथा उ० पु०, एक व० में 'मिप्' आने पर 'यौति' के समान 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से वृद्धि आदि कार्य जानें।

युथः, **युथ**, **युवः** और **युमः** में 'यु' धातु से 'लट्' लकार में क्रमशः 'थस्', 'थ',

'वस्' और 'मस्' आने पर पूर्ववत् 'शप्', शप् का लुक् आदि कार्य होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

युयाव

यु	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' लकार, तिबाद्युत्पति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
यु अ	'अचो ञ्णिति' से 'णित्' परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि प्राप्त थी, जिसका 'द्विर्वचनेऽचि' से द्विर्वचन करने के विषय में निषेध होने पर 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व हुआ
यु यु अ	'अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि, 'स्थानेऽन्तरतमः' से उकार के स्थान में 'औ' वृद्धि हुई
यु यौ अ	'एचोऽयवायावः' से 'औ' को 'आव्' आदेश होकर
युयाव	रूप सिद्ध होता है।

यविता–'यु', 'अनद्यतने लुट्' से 'लुट्', प्र० पु०, एक व०, में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'एचोऽयवायावः' से अवादेश तथा डित्करण सामर्थ्य से टि भाग 'आस्' का लोप होकर 'यविता' रूप सिद्ध होता है।

यविष्यति–'यु', 'लृट्, शेषे च' से 'लृट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'एचोऽयवा०' से 'अव्' आदेश और 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'यविष्यति' सिद्ध होता है।

यौतु–'यु', 'लोट् च' से 'लोट्' लकार, प्र० पु०, एक व०, 'तिप्' आने पर 'यौति' रूप बनने पर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर 'यौतु' रूप सिद्ध होता है।

युतात्–'यु', आशीर्वाद अर्थ में 'लोट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आने पर 'एरुः' से इकार को उकार होने पर 'तु' के स्थान में, 'तुह्योस्तातङाशिष्य०' से, 'तातङ्' आदेश होने पर, 'तातङ्' के 'ङित्' होने के कारण 'उतो वृद्धिर्लुकि०' से उकार को वृद्धि नहीं होती।[1]

अयौत्–'यु' धातु से 'लङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप,

१. महाभाष्यकार ने 'सार्वधातुकमपित्' सूत्र में अपित्' पद में प्रसज्य प्रतिषेध माना है। तथा वहाँ उसकी व्याख्या में लिखा है 'पिच्च ङिन्न, ङिच्च पिन्न' अर्थात् जो पित् हेता है वह ङित् नहीं होता जो ङित् होता है पित् नहीं होता। अतः 'तु' और 'हि' के स्थान में किया गया 'तातङ्' आदेश स्वभावतः **'ङित्' होने के कारण स्थानीवाद्** भाव से प्राप्त पित् धर्म को स्वीकार नहीं कर सकता तथा पित् न होने से 'उतो वृद्धि०' से वृद्धि भी नहीं हो पाती।

'इतश्च' से इकार का लोप, 'कर्तरि शप्' से 'शप्' और 'अदिप्रभृति०' से 'शप्' का लुक् होने पर 'उतो वृद्धि०' से उकार को वृद्धि और 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर 'अयौत्' रूप सिद्ध होता है।

अयुताम्–'यु', 'लङ्' लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश तथा अडागम आदि होकर 'अयुताम्' रूप जानना चाहिए।

अयुवन्

यु	'लङ्' लकार, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' आने पर
यु झि	'इतश्च' से इकार-लोप और 'झोऽन्तः' से 'झ्' के स्थान में 'अन्त्' आदेश हुआ
यु अन्त्	'कर्तरि शप्' से 'शप्' और 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' का लुक् होने पर 'अचि श्नुधातु०' उकार को से 'उवङ्' आदेश हुआ
य् उवङ् अन्त्	अनुबन्ध-लोप, 'अतो गुणे' से अपदान्त अकार से गुण परे रहते पररूप एकादेश, 'संयोगान्तस्य लोपः' से तकार का लोप तथा अडागम आदि होकर
अयुवन्	रूप सिद्ध होता है।

युयात्

यु	'विधिनिमन्त्रणा०' से विधि आदि अर्थों में 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' अनुबन्ध-लोप और 'इतश्च' से इकार का लोप
यु त्	'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' का लुक्, 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से 'यासुट्' आगम, 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
यु यास् स् त्	'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप हुआ। यहाँ 'तिप्' को निमित्त मानकर 'उतो वृद्धि०' से वृद्धि प्राप्त थी, जिसका, 'यासुट्' के ङित् होने के कारण 'क्ङिति च' से निषेध हो जाता है भाष्यकार के कथनानुसार विशेष विहित ङित्व धर्म से पित्व धर्म की बाधा हो जाती है। इस प्रकार
युयात्	रूप सिद्ध होता है।

युयाताम्–'यु', विधि लिङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'शप्', 'शप्' का लुक्, 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से लिङ् सम्बन्धी तकार को 'सुट्', 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप तथा 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' आदेश होकर 'युयाताम्' रूप सिद्ध होता है।

युयुः–'यु', विधि लिङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'झेर्जुस्' से 'झि' को 'जुस्',

पूर्ववत् 'शप्', 'शप्' का लुक्, 'यासुट्', 'सुट्', सकार-लोप, 'उस्यपदान्तात्' से अपदान्त अकार से उत्तर 'उस्' परे रहते पररूप एकादेश होकर 'युयुः' रूप सिद्ध होता है।

यूयात्

यु	'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', पूर्ववत् 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्' तथा 'सुट् तिथोः' से लिङ् के तकार को 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
यु यास् स् त्	'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोग के आदि सकारों का लोप हुआ
यु या त्	'अकृत्सार्वधातुकयो०' से कृत् और सार्वधातुक से भिन्न यकारादि प्रत्यय परे रहते उकार को दीर्घ होकर
यूयात्	रूप सिद्ध होता है।

यूयास्ताम्—'यु', आशीर्वाद अर्थ में लिङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'तस्' के स्थान में 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश, 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से लिङ् के तकार को 'सुट्' आगम, 'स्कोःसंयोगाद्यो०' से प्रथम सकार का 'झल्' परे रहते लोप और 'अकृत्सार्वधातु०' से दीर्घ होकर 'यूयास्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

यूयासुः—'यु', आशीर्वाद अर्थ में लिङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'झेर्जुस्' से 'झि' को 'जुस्' पूर्ववत् 'यासुट्', 'सुट्', सकार-लोप और 'अकृत्सार्व०' से दीर्घ होकर 'यूयासुः' रूप सिद्ध होता है।

अयावीत्

यु	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप
यु त्	'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'सिच्' आदेश हुआ
यु सिच् त्	अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम और 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'ईट्' आगम हुआ
यु इट् स् ईट् त्	अनुबन्ध-लोप, 'सिचि वृद्धि०' से वृद्धि , 'इट ईटि' से 'इट्' से उत्तर सकार का लोप हुआ 'ईट्' परे रहते
यौ इ ई त्	'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश, 'एचोऽयवायावः' से 'औ' को 'आव्' आदेश तथा 'अट्' आगम होकर
अयावीत्	रूप सिद्ध होता है।

अयविष्यत्—'यु', 'लिङ्निमित्ते लृङ्०' से 'लृङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य' आदि कार्य 'अभविष्यत्' के समान होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'या' धातु से लट्, प्र० पु० में 'तिप्', 'तस्' और 'झि' आने पर पूर्ववत् 'शप् और 'शप्' का लुक् होने पर **याति, यातः, यान्ति** इत्यादि रूप जानें।

ययौ

या	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' आदेश हुआ
या णल्	'आत औ णलः' से आकारान्त से उत्तर 'णल्' को 'औ' आदेश हुआ
या औ	'लिटि धातो०' से 'लिट्' परे रहते 'या' को द्वित्व
या या औ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा और 'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व हुआ
य या औ	'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' परे रहते वृद्धि एकादेश होकर
ययौ	रूप सिद्ध होता है।

याता और **यास्यति** की सिद्धि-प्रक्रिया 'पाता' और 'पास्यति' (४८९) के समान जानें।

यातु–'या', 'लोट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'याति' रूप बनने पर 'एरुः' से उकारादेश होकर 'यातु' रूप सिद्ध होता है।

अयात्–'या', 'लङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से 'शप्' का लुक् तथा 'अट्' आगम होकर 'अयात्' रूप सिद्ध होता है।

अयाताम्–'या', लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' तथा 'अट्' आगम आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'अयाताम्' रूप सिद्ध होता है।

५६७. लङः शाकटायनस्यैव ३।४।१११

आदन्तात् परस्य लङो झेर्जुस् वा स्यात्। अयुः, अयान्। यायात्। यायाताम्। यायुः। यायात्। यायास्ताम्। यायासुः। अयासीत्। अयास्यत्। वा गतिगन्धनयोः।५। भा दीप्तौ ।६। ष्णा शौचे ।७। श्रा पाके ।८। द्रा कुत्सायां गतौ ।९। प्सा भक्षणे ।१०। रा दाने।११।। ला आदाने।१२। दाप् लवने ।१३। पा रक्षणे ।१४। ख्या प्रकथने ।१५। अयं सार्वधातुक एव प्रयोक्तव्यः। विद ज्ञाने।१६।

प० वि०–लङः ६।१।। शाकटायनस्य ६।१।। एव अ०।। **अनु०**–आतः।

अर्थः–आकारान्त धातु से उत्तर लङ् सम्बन्धी **'झि'** को **'जुस्'** आदेश होता है शाकटायन के मत में, अर्थात् विकल्प से होता है।

अयुः

या	'लङ्' लकार, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'लङः शाकटायनस्यैव' से शाकटायन आचार्य के मत में 'झि' को 'जुस्' आदेश हुआ
या जुस्	अनुबन्ध-लोप, 'उस्यपदान्तात्' से अपदान्त अकार से उत्तर 'उस्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकादेश हुआ

युस्
अयुः

'ससजुषो०' से सकार को रुत्व, 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर रूप सिद्ध होता है।

अयान्–'जुस्'-अभाव पक्ष में 'झि' के इकार का 'इतश्च' से लोप, 'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश और 'संयोगान्तस्य लोपः' से तकार का लोप होकर 'अयान्' रूप सिद्ध होता है।

यायात्, यायाताम्, यायुः की सिद्धि-प्रक्रिया 'या' धातु से विधि लिङ् में 'युयात्', 'युयाताम्, 'युयुः' के समान और आशिषि लिङ् मे **यायात्, यायास्ताम्, यायासुः** की सिद्धि-प्रक्रिया क्रमशः 'यूयात्', 'यूयास्ताम्' और 'यूयासुः' के समान जानें।

आयासीत्–'या', 'लुङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'सिच्', 'अस्तिसिचोऽपृक्ते०' से 'ईट्', 'यमरमनमातां सक् च' से आकारान्त को 'सक्' आगम तथा 'सिच्' को 'इट्' आगम, 'इट ईटि' से सकार-लोप, 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ तथा 'अट्' आगम होकर 'अयासीत् रूप सिद्ध होता है।

अयास्यत्–'या' धातु से 'लृङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में ' तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य' तथा 'अट्' आगम होकर 'अयास्यत्' रूप सिद्ध होता है।

'ख्या प्रकथने' अयं सार्वधातुक एव प्रयोक्तव्यः–अर्थ–'ख्या' धातु का प्रयोग केवल सार्वधातुक प्रत्ययों में ही होता है।

विशेष–इस कथन का आशय यह है कि आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते जहाँ भी 'ख्या' धातु का प्रयोग दिखाई दे वहाँ 'चक्षिङः ख्याञ्' (२.४.५४) से 'चक्षिङ्' धातु के स्थान पर 'ख्याञ्' आदेश समझना चाहिए।

५६८. विदो लटो वा ३।४।८३

वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयो वा स्युः। वेद, विदतुः, विदुः। वेत्थ, विदथुः, विद। वेद, विद्व, विद्म। पक्षे–वेत्तिः। वित्तः। विदन्ति।

प० वि०–विदः ५।१। लटः ६।१।। वा अ०।। **अनु०**–परस्मैपदानां, णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः।

अर्थः–'विद्' धातु से परे लट् सम्बन्धी परस्मैपद **तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्** और **मस्** के स्थान पर क्रमशः **णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ, णल्, व** और **म** आदेश विकल्प से होते हैं।

वेद
विद्

'वर्तमाने लट्' से 'लट्', तिबाद्युत्पत्ति से प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'विदो लिटो वा' से लट् सम्बन्धी 'तिप्' के स्थान पर 'णल्' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप

विद् अ — पूर्ववत् 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से शप्-लुक्, 'पुगन्तलघूप०' से सार्वधातुक परे रहते लघूपध अङ्ग के 'इक्' को गुण होकर रूप सिद्ध होता है।

वेद

विदतुः, विदुः में 'विद्' से उत्तर 'तस्' और 'झि' को 'विदो लटो वा' से क्रमशः 'अतुस्' तथा 'उस्' आदेश, सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

वेत्थ–'लट्' लकार, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'विदो लटो वा' से 'सिप्' को 'थल', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से शप् का लुक् और 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण होकर 'वेत्थ' रूप सिद्ध होता है।

वेद, विद्व, विद्म–यहाँ 'मिप्', 'वस्' और 'मस्' को 'विदो लटो वा' से 'णल्', 'व' तथा 'म' आदेश होने पर सभी कार्य पूर्ववत् जानें।

आदेशाभाव पक्ष में–वेत्ति–'विद्', 'वर्त्तमाने लट्' से 'लट्', तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' का लुक्, 'खरि च' से 'द्' को 'त्' तथा 'पुगन्तलघू०' से गुण होकर 'वेत्ति' रूप सिद्ध होता है।

वित्तः, विदन्ति की सिद्धि-प्रक्रिया 'अत्तः' और 'अदन्ति' (५५२) के समान जानें।

५६९. उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् ३।१।३८

एभ्यो लिटि आम् वा स्यात्। विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानादामि न गुणः। विदाञ्चकार। विवेद। वेदिता। वेदिष्यति।

प० वि०–उषविदजागृभ्यः ५।३।। अन्यतरस्याम् ७।१।। **अनु०**–आम्, लिटि।

अर्थः–लिट् परे रहते **उष्** (जलाना), **विद्** (जानना) और **जागृ** (जागना) धातुओं से 'आम्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

विदेरदन्त०–'आम्' के सान्निध्य में 'विद्' धातु को अदन्त निपातन 'विद' किया गया है इसलिए 'आम्' परे रहते लघूपध गुण नहीं होता।

विदाञ्चकार

विद्	'परोक्षे लिट्' से परोक्ष भूतकाल में धातु से 'लिट्' प्रत्यय आया
विद् लिट्	'उषविदजागृभ्यो०' से 'लिट्' परे रहते 'विद्' से उत्तर विकल्प से 'आम्' प्रत्यय और 'विद्' धातु को अदन्त निपातन हुआ
विद आम् लिट्	'आमः' से 'आम्' से उत्तर 'लिट्' का लुक् हुआ
विद आम्	'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' से आमन्त से लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग हुआ
विद आम् कृ लिट्	'अतो लोपः' से 'आम्' आर्धधातुक परे रहते 'विद' के अकार का लोप हुआ
विद् आम् कृ लिट्	यहाँ 'पुगन्तलघूपधस्य च' से 'आम्' परे रहते इकार को गुण

	प्राप्त था, 'अचः परस्मिन्०' से अकार के स्थान में हुआ लोप आदेश स्थानीवत् होने से उपधा में लघु नहीं मिलता, इसीलिए गुण नहीं होता। तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश तथा 'लिटि धातो०' से 'कृ' को द्वित्व हुआ
विद् आम् कृ कृ अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' से अभ्यास में 'ऋ' को 'अ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' को 'अर्' हुआ
विदाम् कर् कृ अ	'हलादिः शेषः' से 'अभ्यास' का आदि 'हल्' शेष और 'कुहोश्चुः' से 'क्' को 'च्' हुआ
विदाम् चकृ अ	'अचो ञ्णिति' से अजन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' को 'आर्' हुआ
विदाम् चकार	'मोऽनुस्वारः' से 'म्' को अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' से पदान्त अनुस्वार को विकल्प से परसवर्ण 'ञ्' होकर
विदाञ्चकार	रूप सिद्ध होता है।

विवेद–आम्–अभाव पक्ष में 'तिप्' के स्थान में 'णल्', द्वित्व, अभ्यास कार्य और लघूपधगुण होकर 'विवेद' रूप सिद्ध होता है।

वेदिता और **वेदिष्यति** की सिद्धि–प्रक्रिया 'सेधिता' और 'सेधिष्यति' (४५२) के समान जानें।

५७०. विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् ३।१।४१

वेत्तेर्लोटि आम् गुणाभावो लोटो लुक् लोडन्तकरोत्युनप्रयोगश्च वा निपात्यते। पुरुषवचने न विवक्षिते।

प० वि०–विदाङ्कुर्वन्तु क्रियापदम्।। इति अ०।। अन्यतरस्याम् ७।१।।

अर्थः–**'विदाङ्कुर्वन्तु'** शब्द विकल्प से निपातन से सिद्ध होता है अर्थात् 'विद्' धातु से 'लोट्' परे रहते 'आम्' प्रत्यय, गुण का अभाव, 'लोट्' का 'लुक्' तथा लोट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग विकल्प से निपातन से होते हैं। सूत्र में 'विदाङ्कुर्वन्तु' में दिखाई देने वाला प्र० पु०, बहु व० विवक्षित नहीं है। आशय यह है कि 'लोट्' लकार के सभी पुरुषों और सभी वचनों में उपर्युक्त सभी कार्य निपातन से जानने चाहिए।

५७१. तनादिकृञ्भ्य उः ३।१।७९

तनादेः कृञश्च उः प्रत्ययः स्यात्। शपोऽपवादः। विदाङ्करोतु।

प० वि०–तनादिकृञ्भ्यः ५।३।। उः १।१।। **अनु०**–सार्वधातुके, कर्त्तरि।

अर्थः–कर्त्तृवाची सार्वधातुक परे रहते तनादिगण में पठित धातुओं से तथा 'कृञ्' धातु से 'उ' प्रत्यय होता है। यह सूत्र 'कर्त्तरि शप्' का अपवाद है।

विदाङ्करोतु

विद्	'लोट् च' से 'लोट्' लकार, 'विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्य०' से लोट् परे रहते 'विद्' धातु से 'आम्' प्रत्यय, 'विद्' धातु को 'आम्' परे रहते गुण का अभाव, 'लोट्' का लुक् तथा लोट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग हुआ
विद् आम् कृ लोट्	तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप
विद् आम् कृ ति	'तनादिकृञ्भ्य उः' से कर्तृवाची सार्वधातुक 'ति' परे रहते 'उ' प्रत्यय हुआ
विद् आम् कृ उ ति	'उ' परे रहते 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' के स्थान में 'अर्' हुआ
विद् आम् कर् उ ति	'सार्वधातुकार्ध०' से 'ति' परे रहते उकार को गुण तथा 'एरुः' से इकार के स्थान में उकारादेश हुआ
विदाम्करोतु	'मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' से विकल्प से परसवर्ण 'ङ्' होकर
विदाङ्करोतु	रूप सिद्ध होता है।

५७२. अत उत् सार्वधातुके ६।४।११०

उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽत उत् सार्वधातुके क्ङिति। विदाङ्कुरुतात्। विदाङ्कुरुताम्। विदाङ्कुर्वन्तु। विदाङ्कुरु। विदाङ्करवाणि। अवेत्। अवित्ताम्। अविदुः।

प० वि०—अतः ६।१।। उत् १।१।। सार्वधातुके ७।१।। **अनु०**—क्ङिति, उतश्च, प्रत्ययाद्, करोतेः।

अर्थः—'उ' प्रत्ययान्त 'कृ' धातु के ह्रस्व अकार के स्थान पर उकारादेश होता है, कित् और ङित् सार्वधातुक परे रहते।

विदाङ्कुरुतात्	'अशिषि लिङ्लोटौ' से 'लोट्', 'विदाङ्कुर्वन्त्वि०' से लोट् परे रहते 'आम्' प्रत्यय, गुण का अभाव, लोट् का लुक् और लोट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग हुआ
विदाम् कृ लोट्	तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप
विदाम कृ ति	'तनादिकृञ्भ्य उः' से 'उ' और 'एरुः' से इकार को उकारादेश हुआ
विदाम् कृ उ तु	'सार्वधातुकार्ध०' से 'ऋ' को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' के स्थान में 'अर्' हुआ
विदाम् कर् उ तु	'तुह्योस्तातङ् आशिष्य०' से 'तु' को 'तातङ्' आदेश, अनुबन्ध-लोप

विदाम् कर् उ तात्	'अत उत् सार्वधातुके' से ङित् सार्वधातुक 'तातङ्' परे रहते उकार प्रत्ययान्त 'कृ' धातु के अकार को उकारादेश हुआ
विदाम् कुरुतात्	'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्णादेश 'ङ्' होकर
विदाङ्कुरुतात्	रूप सिद्ध होता है।

विदाङ्कुरुताम्–'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'विदाङ्कुरुतात्' के समान जानें।

विदाङ्कुर्वन्तु–विद्, लोट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश, 'एरुः' से इकार को उकारादेश, 'इको यणचि' से यणादेश 'उ' को 'व्' होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'विदाङ्कुरुतात्' के समान जानें।

विदाङ्कुरु

विद्	पूर्ववत् 'लोट् च' से 'लोट्', 'विदाङ्कुर्वन्त्वि०' से 'आम्', लोट् का लुक् तथा लोट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग हुआ
विदाम् कृ लोट्	तिबाद्युत्पत्ति, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को 'हि' आदेश और 'तनादिकृञ्भ्य उः' से 'उ' प्रत्यय हुआ
विदाम् कृ उ हि	'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर् हुआ
विदाम् कर् उ हि	'अत उत् सार्वधातुके' से अकार को उकारादेश
विदाम् कुर् उ हि	'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' से असंयोगपूर्वक जो 'उ' प्रत्यय, तदन्त अङ्ग से उत्तर 'हि' का लुक् हुआ
विदाम् कुरु	'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्ण होकर
विदाङ्कुरु	रूप सिद्ध होता है।

विदाङ्करवाणि–विद्', लोट्, उ० पु०, एक व० में पूर्ववत् 'विदाम् + कृ + मिप्' यहाँ 'मेर्निः' से 'मि' को 'नि', 'आडुत्तमस्य पिच्च' से 'आट्' आगम, 'तनादिकृञ्भ्य०' से 'उ' प्रत्यय, 'सार्वधातुकर्ध०' से उकार को गुण तथा अवादेश तथा 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर 'विदाङ्करवाणि' रूप सिद्ध होता है।

अवेत्–'विद्', 'अनद्यतने लङ्' से 'लङ्' लकार, तिबाद्युत्पत्ति, 'तिप्', अनुबन्ध-लोप, 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से 'शप्' का लुक्, 'पुगन्तलघू०' से गुण तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर 'अवेत्' रूप सिद्ध होता है।

अवित्ताम्–'विद्', लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' के स्थान में 'तस्थस्थ०' से 'ताम्' आदेश, 'खरि च' से 'द्' को 'त्' तथा अडागम आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

अविदुः–'विद्', 'लङ्', प्र० पु०, बहु व० में 'झि' के स्थान में 'सिजभ्यस्तविदि०' से 'जुस्' आदेश, शप्, शब्लुक्, सकार को रुत्व, रेफ को विसर्ग तथा अडागम होकर 'अविदुः' रूप सिद्ध होता है।

५७३. दश्च ८।२।७५

धातोर्दस्य पदान्तस्य सिपि परे रुर्वा। अवेः। अवेत्। विद्यात्। विद्यास्ताम्। अवेदीत्। अवेदिष्यत्। अस भुवि ।१७। अस्ति।

प० वि०—दः ६।१।। च अ०।। **अनु०**—सिपि, धातोः, रुः, वा।

अर्थः—'सिप्' परे रहते धातु के अवयव पदान्त '**द्**' के स्थान में विकल्प से '**रु**' आदेश होता है।

अवेः

विद्	'अनद्यतने लङ्' से अनद्यतन भूत अर्थ में धातु से लङ् लकार, म० पु०, एक व० में 'सिप्' आया
विद् सिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार का लोप
विद् स्	'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से 'शप्' का लुक्, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'सि' के अपृक्त संज्ञक सकार लोप हुआ
विद्	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'सिप्' को निमित्त मानकर 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण हुआ
वेद्	'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'दश्च' से धातु के अवयव पदान्त दकार को विकल्प से 'रु' आदेश हुआ लुप्त 'सिप्' परे रहते
वेरु	अनुबन्ध-लोप, 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
अवेः	रूप सिद्ध होता है।

अवेत्—जब 'दश्च' से दकार को 'रु' आदेश नहीं हुआ तो 'वाऽवसाने' से 'द्' को विकल्प से 'त्' होकर 'अवेत्' रूप सिद्ध होगा।

विद्यात्—'विद्', 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्'[१], 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', 'स्कोः संयोगाद्यो०' से दोनों सकारों का लोप, 'झलां जशोऽन्ते' से 'तिप्' के 'त्' को 'द्' तथा 'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व 'द्' को 'त्' होकर 'विद्यात्' रूप सिद्ध होता है।

विद्यास्ताम्—विद्', आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' के स्थान में 'ताम्' होकर पूर्ववत् 'यासुट्' और 'सुट्' आगम होने पर 'यासुट्' के सकार का 'स्कोः संयोगाद्यो०' से लोप होकर 'विद्यास्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

---

१. 'किदाशिषि' से 'यासुट्' कित् होता है, अतः 'पुगन्तलघू०' से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध होता है।

अवेदीत्–'विद्' धातु से 'लुङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'सिच्', 'इट्', 'ईट्', 'इट ईटि' से सकार लोप तथा 'पुगन्तलघूपधस्य० च' से गुण आदि सभी कार्य 'असेधीत्' (४५२) के समान होकर 'अवेदीत्' रूप सिद्ध होता है।

अवेदिष्यत्–'विद्' धातु से 'लिङ्निमित्ते लृङ्०' से 'लृङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्', 'पुगन्तलघू०' से गुण, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'अट्' आगम होकर 'अवेदिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

अस्ति–'अस्' धातु से 'वर्त्तमाने लट्' से 'लट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से शप्-लुक् होकर 'अस्ति' रूप सिद्ध होता है।

५७४. श्नसोरल्लोपः ६।४।१११

श्नस्यास्तेश्चातो लोपः सार्वधातुके क्ङिति। स्तः, सन्ति। असि, स्थः, स्थ। अस्मि, स्वः, स्मः।

प० वि०–श्नसोः ६।२।। अल्लोपः १।१।। **अनु०**–सार्वधातुके, क्ङिति।

अर्थः–'**श्न**' तथा '**अस्**' धातु के ह्रस्व अकार का लोप होता है कित् और ङित् सार्वधातुक परे रहते।

स्तः

अस्	'लट्' लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' आने पर
अस् तस्	'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से शप् का लुक्, 'सार्वधातुकमपित्' से अपित् सार्वधातुक 'तस्' के ङित् होने से 'श्नसोरल्लोपः' से ङित् सार्वधातुक 'तस्' परे रहते 'अस्' के अकार का लोप हुआ
स् तस्	'ससजुषो०' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर
स्तः	रूप सिद्ध होता है।

सन्ति–'अस्', लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' के 'झ्' को 'झोऽन्तः' से अन्तादेश तथा 'श्नसोरल्लोपः' से अकार-लोप होकर 'सन्ति' रूप सिद्ध होता है।

असि–'अस्' धातु से लट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' परे रहते 'तासस्त्योर्लोपः' से सकारादि 'सिप्' प्रत्यय परे रहते 'अस्' के सकार का लोप होकर 'असि' रूप सिद्ध होता है।

'अस्' धातु से लट्, म० पु०, द्वि व० और बहु व० में तथा उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में **स्थः, स्थ, स्वः, स्मः** की सिद्धि-प्रक्रिया 'स्तः' के समान जानें।

५७५. उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ८।३।८७

उपसर्गेण प्रादुसश्चास्तेः सस्य षो यकारेऽचि च परे। निष्यात्। प्रनिषन्ति। प्रादुःषन्ति। यच्परः किम्–अभिस्तः।

प० वि०—उपसर्गप्रादुर्भ्याम् ५।२।। अस्तिः१।१।। यच्परः१।१।। **अनु०**—इणः, मूर्धन्यः, सः।

अर्थः—उपसर्ग में स्थित 'इण्' प्रत्याहार से उत्तर तथा 'प्रादुस्' अव्यय से उत्तर 'अस्' धातु के सकार को मूर्धन्य (ष्) आदेश होता है यकार और 'अच्' परे रहते।

निष्यात्	
नि अस्	'विधिनिमन्त्रणामन्त्र०' से विधि आदि अर्थों में 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' का लुक्, अनुबन्ध-लोप
नि अस् त्	'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्' आगम और 'सुट् तिथोः' से लिङ् के तकार को 'सुट्' आगम हुआ
नि अस् यासुट् सुट् त्	अनुबन्ध-लोप, 'लिङः सलोपो०' से दोनों सकारों का लोप
नि अस् यात्	'श्नसोरल्लोपः' से ङित् सार्वधातुक परे रहते 'अस्' के अकार का लोप हुआ
निस्यात्	'उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः' से यकार पर रहते उपसर्गस्थ 'इण्' से उत्तर 'अस्' धातु के सकार को षकारादेश होकर
निष्यात्	रूप सिद्ध होता है।

प्रनिषन्ति—'प्र' और 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'अस्' धातु से लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'सन्ति' रूप बनने पर 'उपसर्गप्रादुर्भ्याम्०' से 'अच्' परे रहते उपसर्गस्थ इण् (इ) से उत्तर 'अस्' धातु के सकार को षकारादेश होकर 'प्रनिषन्ति' रूप सिद्ध होता है।

प्रादुःषन्ति—'प्रादुस्' अव्यय से उत्तर 'अस्' धातु, 'लट्' लकार, प्र० पु०, बहु व० का 'सन्ति' बनने पर 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयोः०' से विसर्ग होने पर 'उपसर्गप्रादुर्भ्याम्०' से 'प्रादुस्' से उत्तर 'अस्' धातु के सकार को, अच् परे रहते, मूधर्न्य षकारादेश होकर 'प्रादुःषन्ति' रूप सिद्ध होता है।

यच्परः किम्—सूत्र में पठित 'यच्परः' पद का प्रयोजन यह है कि जहाँ उपसर्ग के 'इण्' से उत्तर 'अस्' धातु के सकार के पश्चात् यदि यकार और 'अच्' होगा तभी सकार को षकारादेश होगा, अन्यथा नहीं। **यथा**—'अभिस्तः' यहाँ उपसर्ग के 'इण्' से उत्तर भी 'अस्' धातु के सकार को षकारादेश नहीं होता क्योंकि उससे परे यकार अथवा 'अच्' नहीं है।

५७६. अस्तेर्भूः २।४।५२

आर्धधातुके। बभूव। भविता। भविष्यति। अस्तु, स्तात्। स्ताम्। सन्तु।

प० वि०—अस्तेः ६।१।। भूः १।१।। **अनु०**—आर्धधातुके।

अर्थः—'**अस्**' धातु के स्थान पर '**भू**' आदेश होता है, आर्धधातुक के विषय में।

बभूव–'लिट्' लकार, प्र० पु०, एक व०, **भविता**–'लुट्' लकार, प्र० पु०, एक व०, **भविष्यति**–'लृट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में सर्वत्र 'अस्' धातु से उत्तर आर्धधातुक प्रत्यय आएगा, ऐसा विषय बनने पर ही 'अस्' को 'भू' आदेश होने पर सिद्धि–प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

अस्तु–'अस्' धातु से 'लोट् च' से 'लोट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्' और शब्लुक् होकर 'अस्ति' रूप बनने पर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

स्तात्–'अस्' धातु से आशीर्वाद अर्थ में लोट्, प्र० पु०, एक व० में पूर्ववत् 'अस्तु' रूप बनने पर 'तुह्योस्तातङ्०' से 'तातङ्' आदेश होने पर ङित् सार्वधातुक परे रहते 'श्नसोरल्लोपः' से 'अस्' के अकार का लोप होकर 'स्तात्' रूप सिद्ध होता है।

स्ताम्–'अस्', 'लोट्' लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' प्रत्यय, 'लोटो लङ्वत्' से 'लोट्' लकार को 'लङ्' के समान मानने पर 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' आदेश तथा 'सार्वधातुकमपित्' से 'ताम्' के ङित् होने से 'श्नसोरल्लोपः' से अकार का लोप होकर 'स्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

सन्तु–'अस्', लोट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' के 'झ्' को 'झोऽन्तः' से 'अन्त्' आदेश, 'एरुः' से इकार को उकारादेश तथा पूर्ववत् 'श्नसोरल्लोपः' से अकार का लोप होकर 'सन्तु' रूप सिद्ध होता है।

५७७. घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ६।४।११९

घोरस्तेश्च एत्वं स्यात् हौ परे अभ्यासलोपश्च। एत्वस्यासिद्धत्वाद्धेर्धिः। श्नसोरित्यल्लोपः। तातङ्–पक्षे एत्वं न, परेण तातङा बाधात्। एधि, स्तात्। स्तम्। स्त। असानि। असाव। असाम। आसीत्। आस्ताम्। आसन्। स्यात्। स्याताम्। स्युः। भूयात्। अभूत्। अभविष्यत्। इण् गतौ।१८। एति। इतः।

प० वि०–घ्वसोः ६।२।। एत् १।।१।। हौ ७।१।। अभ्यासलोपः १।१।। च अ०।।

अर्थः–**'हि'** परे रहते घुसंज्ञक **(दा, धा)** तथा **'अस्'** धातु के अन्तिम 'अल्' को एकार आदेश होता है तथा अभ्यास का लोप भी होता है।

एधि

अस्	लोट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' आया
अस् सिप्	'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से 'शप्' का लुक्, अनुबन्ध–लोप
अस् सि	'सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को अपित् 'हि' आदेश हुआ
अस् हि	'घ्वसोरेद्धावभ्यास०' से 'हि' परे रहते 'अस्' के सकार को एकारादेश हुआ
अए हि	'सार्वधातुकमपित्' से 'हि' के ङित् होने पर 'श्नसोरल्लोपः' से ङित् सार्वधातुक परे रहते 'अस्' धातु के अकार का लोप हुआ

एहि — आभीय असिद्ध प्रकरण का होने के कारण 'घ्वसोरेद्धा०' से किया गया एकारादेश 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' की दृष्टि में 'असिद्धवदत्राऽऽभात्' से असिद्ध हो जाने से एकार के स्थान पर सकार ही मान लिया जायेगा, अतः 'हुझल्भ्यो०' से 'झल्' सकार से उत्तर 'हि' को 'धि' होकर

एधि — रूप सिद्ध होता है।

स्तात्–'अस्' धातु से आशीर्वाद अर्थ में 'लोट्', म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'सेर्ह्यपिच्च' से 'हि' आदेश होकर 'तुह्योस्तातङ्०' से 'हि' को 'तातङ्' होने पर सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

स्तम्, स्त–म० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'थस्' और 'थ' को 'तस्थस्थ०' से 'तम्' व 'त' आदेश होकर सिद्धि-प्रक्रिया 'स्ताम्' (५७६.) के समान जानें।

असानि, असाव, असाम–'अस्', लोट्, उ० पु०, तीनों वचनों में **सिद्धि-प्रक्रिया अदानि, अदाव** तथा **अदाम (५५६.)** के समान जानें।

आसीत्

अस् — 'अनद्यतने लङ्' से 'लङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया

अस् तिप् — अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार का लोप, पूर्ववत् 'शप्' और शब्लुक् हुआ

अस् त् — 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से 'त्' की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'अस्' से उत्तर अपृक्त तकार को 'ईट्' आगम हुआ

अस् ईट् त् — अनुबन्ध-लोप, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर

आसीत् — रूप सिद्ध होता है

आस्ताम्–'अस्', लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'शप्', शब्लुक्, 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' आदेश, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम तथा 'श्नसोरल्लोपः' से 'अस्' के अकार का लोप होकर 'आस्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

आसन्

अस् — लङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' के 'झ्' को 'झोऽन्तः' से 'अन्त्' आदेश, 'इतश्च' से इकार लोप, 'शप्' और 'शप्' का लुक् हुआ

अस् अन्त् — 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'संयोगान्तस्य०' से संयोगान्त पद के अन्तिम 'अल्' तकार का लोप हुआ

अस् अन् — 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम तथा 'श्नसोरल्लोपः' से ङित् सार्वधातुक परे रहते 'अस्' के अकार का लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

आसन्

स्यात्–'विधिलिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'अस्' धातु से 'यासुट्', 'सुट्' तथा 'श्नसोरल्लोपः' से अकार लोप होकर 'निष्यात्' (५६५) के समान 'स्यात्' रूप सिद्ध होता है।

स्याताम्–'अस्', वि० लिङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश तथा शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'स्याताम्' रूप सिद्ध होता है।

स्युः–'अस्', 'वि० लिङ्', प्र० पु०, बहु व० में 'झि' को 'झेर्जुस्' से 'जुस्' तथा 'उस्यपदान्तात्' से पररूप, शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'स्युः' रूप सिद्ध होता है।

भूयात्–अस्, आशीर्वाद अर्थ में लिङ्, 'लिङाशिषि' से आर्धधातुक संज्ञक होता है, अतः आर्धधातुक का विषय बनने पर 'अस्तेर्भूः' से 'अस्' धातु को 'भू' आदेश होने पर सिद्धि–प्रक्रिया (४३३) के समान जानें।

अभूत्–'लुङ्' लकार, में 'लुङ्' परे रहते 'च्लि' और 'च्लि' को 'सिच्' आदेश आर्धधातुक संज्ञक आयेगा, ऐसा विषय बनने पर 'अस्तेर्भूः' से 'अस्' को 'भू' आदेश होने पर सिद्धि–प्रक्रिया (४४०) में देखें।

अभविष्यत्–'लृङ्' लकार में 'स्यतासी०' से 'स्य' आर्धधातुक प्रत्यय आयेगा अतः आर्धधातुक के विषय में 'अस्तेर्भूः' से 'अस्' को 'भू' आदेश होने पर सिद्धि–प्रक्रिया (४४२) के समान जानें।

एति–'इण्' धातु से 'लट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', कर्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से 'शप्' का लुक् और 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण होकर 'एति' रूप सिद्ध होता है।

इतः–'इण्', लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' परे रहते 'सार्वधातुकमपित्' से 'तस्' के 'ङित्' होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'इतः' रूप सिद्ध होता है।

५७८. इणो यण् ६।४।८१

अजादौ प्रत्यय परे। यन्ति।

प० वि०–इणः ६।१। यण्१।१।। **अनु०**–अचि।

अर्थः–अजादि प्रत्यय परे रहते **'इण्'** धातु के स्थान पर **'यण्'** आदेश होता है।

यन्ति–'इण्' धातु से लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' के 'झ्' को 'झोऽन्तः' से 'अन्त्' आदेश होने पर 'अचि श्नुधातु०' से इयङादेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'इणो यण्' से यणादेश होकर 'यन्ति' रूप सिद्ध होता है।

५७९. अभ्यासस्याऽसवर्णे ६।४।७८

अभ्यासस्य इवर्णोवर्णयोरियङुवङौ स्तोऽसवर्णेऽचि। इयाय।

प० वि०–अभ्यासस्य ६।१।। असवर्णे ७।१।। **अनु०**–अचि, य्वोरियङुवङौ।

अर्थः–इकारान्त और उकरान्त अभ्यास को, असवर्ण अच् परे रहते, **'इयङ्'** और **'उवङ्'** आदेश होता है।

इयाय

इण्	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्पमैपदानां णलतु०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
इ अ	'अचो ञ्णिति' से वृद्धि प्राप्त थी, 'द्विर्वचनेऽचि' से द्विर्वचन निमित्तक अजादि प्रत्यय परे रहते द्विर्वचन करने के विषय में वृद्धि का निषेध हो गया
	'लिटि धातो०' से अजादि धातु के द्वितीय एकाच् समुदाय को द्वित्व प्राप्त हुआ, द्वितीय एकाच् न होने से व्यपदेशिवद्भाव से 'इ' को ही द्वित्व हुआ
इ इ अ	'अचो ञ्णिति' से णित् परे रहते इकार को वृद्धि 'ऐ' होने पर 'एचोऽयवायावः' से 'ऐ' को 'आय्' आदेश हुआ
इ आय् अ	'अभ्यासस्याऽसवर्णे' से असवर्ण अच् 'आ' परे रहते अभ्यास के इकार के स्थान में 'इयङ्' आदेश हुआ
इयङ् आय् अ	अनुबन्ध-लोप होकर
इयाय	रूप सिद्ध होता है।

५८०. दीर्घ इणः किति ७।४।६९

इणोऽभ्यासस्य दीर्घः स्यात् किति लिटि। ईयतुः। ईयुः। इययिथ, इयेथ। एष्यति। एतु। ऐत्। ऐताम्। आयन्। इयात्। ईयात्।

प० वि०–दीर्घः१।१।। इणः६।१।। किति७।१।। **अनु०**–अभ्यासस्य, लिटि।

अर्थः–कित् लिट् परे रहते 'इण्' धातु के अभ्यास को दीर्घ आदेश होता है।

ईयतुः

इण्	अनुबन्ध-लोप, लिट् लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थल्०' से 'अतुस्' आदेश हुआ
इ अतुस्	'लिटि धातो०' से पूर्ववत् 'लिट्' परे रहते 'इ' को द्वित्व हुआ
इ इ अतुस्	'अकः सवर्णे०' से सवर्ण दीर्घ प्राप्त था, 'वार्णादाङ्गं बलीयः' परिभाषा से सवर्णदीर्घ को बाधकर 'इणो यण्' से अजादि प्रत्यय परे रहते 'इण्' अङ्ग के (उत्तरवर्ती) इकार को 'यण्' यकारादेश हुआ

इ य् अतुस् — 'असंयोगाल्लिट् कित्' से असंयोगान्त धातु से उत्तर अपित् लिट् 'अतुस्' के कित् होने से 'दीर्घ इणः किति' से कित् लिट् परे रहते अभ्यास के इकार को दीर्घ ईकारादेश, सकार को रुत्त्व और विसर्ग होकर

ईयतुः — रूप सिद्ध होता है।

ईयुः—'इण्', लिट्, प्र पु०, बहु व० में 'झि', 'परस्मैपदानां०' से 'झि' को 'उस्' आदेश तथा शेष कार्य पूर्ववत् होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

इययिथ

इण्	अनुबन्ध-लोप, लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'थल्' आदेश हुआ
इ थल्	अनुबन्ध-लोप, 'इण्' धातु एकाच् होने से 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से अनिट् है। 'ऋतो भारद्वाजस्य' से 'थल्' को विकल्प से 'इट्' आगम हुआ
इ इट् थ	अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् 'लिटि धातो०' से 'इ' को द्वित्व हुआ
इ इ इ थ	'सार्वधातुकार्ध०' से इगन्त अङ्ग को गुण हुआ
इ ए इ थ	'अभ्यासस्याऽसवर्णे' से असवर्ण अच् परे रहते अभ्यास के इकार को 'इयङ्' आदेश हुआ
इयङ् ए इ थ	अनुबन्ध-लोप
इय् ए इ थ	'एचोऽयवायावः' से एकार को अयादेश होकर
इययिथ	रूप सिद्ध होता है।

इयेथ—इट्-अभाव पक्ष में पूर्ववत् द्वित्वादि कार्य होकर 'इयेथ' रूप सिद्ध होता है।

एष्यति—'इण्', 'लृट् शेषे च' से 'लृट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'सार्वधातुकार्ध०' से इगन्त अङ्ग को गुण तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से षकारादेश होकर 'एष्यति' रूप सिद्ध होता है।

एतु—'इण्', लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', शब्लुक् और गुण होकर 'एति' रूप बनने पर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर 'एतु' रूप सिद्ध होता है।

ऐत्—'इण्', 'अनद्यतने लङ्' से 'लङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से 'शप्' का लुक्, सार्वधातुकार्ध० से गुण, 'आडजादीनाम्' से अजादि धातु को 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'ऐत्' रूप सिद्ध होता है।

ऐताम्—'इण्', 'लङ्' लकार, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश होने पर पूर्ववत् सभी कार्य होकर 'ऐताम्' रूप सिद्ध होता है।

आयन्—'इण्', 'लङ्', प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'इतश्च' से इकार लोप, 'झ्' को 'झोऽन्तः' से अन्तादेश, 'संयोगान्तस्य०' से तकार का लोप, 'इणो यण्' से अजादि प्रत्यय

परे रहते 'इण्' धातु के इकार को यकारादेश तथा 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम होकर 'आयन्' रूप सिद्ध होता है।

इयात्–'इण्', विधि लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट् परस्मै०' से यासुडागम, 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से शप् का लुक्, 'सुट् तिथोः' से लिङ् के तकार को 'सुट्' आगम और 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से दोनों सकारों का लोप होकर 'इयात्' रूप सिद्ध होता है।

ईयात्–'इण्', 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', पूर्ववत् 'यासुट्', 'सुट्', 'स्कोःसंयोगाद्यो०' से दोनों सकारों का लोप, 'किदाशिषि' से आशिषि लिङ् में 'यासुट्' के 'कित्' होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होने पर 'अकृत्सार्वधातुकयोः०' से दीर्घ होकर 'ईयात्' रूप सिद्ध होता है।

५८१. एतेर्लिङि ७।४।२४

उपसर्गात् परस्य इणोऽणो ह्रस्व आर्धधातुके किति लिङि। निरियात्। उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्। अभीयात्। अणः किम्–समेयात्।

प० वि०–एतेः ६।१।। लिङि ७।१।। **अनु०**–उपसर्गात्, ह्रस्वः, अणः, यि, क्ङिति।

अर्थ–उपसर्ग से उत्तर 'इण्' धातु के अण् (अ,इ,उ) को ह्रस्व आदेश होता है यकारादि आर्धधातुक कित् लिङ् परे रहते।

निरियात्–आशीर्वाद अर्थ में लिङ् कित् होता है पूर्ववत् 'ईयात्' रूप बनने पर 'निर्+ईयात्' यहाँ 'एतेर्लिङि' से उपसर्ग से उत्तर 'इण्' धातु के 'अण्' (ई) को आर्धधातुक कित् लिङ् परे रहते ह्रस्वादेश होकर 'निरियात्' रूप सिद्ध होता है।

उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्–**अर्थः**–जहाँ पूर्व और पर को एकादेश किया गया हो वहाँ एक ही काल में दोनों ओर का आश्रय करने पर अर्थात् एक ही स्थान पर एकादेश को पर का आदिवत् और पूर्व का अन्तवत् मान कर कार्य करते समय **'अन्तादिवच्च'** सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

यथा–'अभि+ईयात्' यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ एकादेश होकर **अभीयात्** बनने पर सवर्ण दीर्घ एकादेश **'ई'** को 'अन्तादिवच्च' से पर का आदिवत् अर्थात् 'इण्' धातु से निष्पन्न 'ईयात्' का 'ई' मानने पर और पूर्व का अन्तवत् 'अभि' उपसर्ग का 'इ' मान लेने पर 'एर्लिङि' से उपसर्ग से उत्तर 'इण्' धातु के 'अण्' (ई) को ह्रस्व होने लगा, जो कि इष्ट नहीं है। इस अनिष्ट आपत्ति को रोकने के लिए 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' परिभाषा का आश्रय लेने से दीर्घ एकादेश 'ई' को 'अभि' उपसर्ग का 'इ' और 'इण्' धातु का 'अण्' (ई) दोनों एक साथ नहीं माने जा सकते इसलिए 'एर्लिङि' से उपसर्ग से उत्तर 'इण्' धातु के 'अण्' को ह्रस्व नहीं होता।

अणः किम्–सूत्र में 'अण्' प्रत्याहार से 'अ, इ, उ' इन वर्णों का हि ग्रहण किया जाता है इसलिए **समेयात्**='सम्+एयात्' इस उदाहरण में एतेर्लिङि से एकार को ह्रस्व नहीं हुआ क्योंकि 'ए' वर्ण 'अण्' नहीं है।

५८२. इणो गा लुङि २।४।४५

'गतिस्था०' इति सिचो लुक्। अगात्। ऐष्यत्। शीङ् स्वप्ने। १९।

प० वि०—इणः ६।१।। गा १।१।। लुङि ७।१।।

अर्थः—लुङ् के विषय में 'इण्' धातु के स्थान पर 'गा' आदेश होता है।

अगात्

इण्	'इणो गा लुङि' से 'लुङ्' के विषय में 'इण्' को 'गा' आदेश, 'लुङ्' से 'लुङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
गा तिप्	'च्लि लुङि' से 'च्लि' और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश हुआ
गा सिच् तिप्	'गातिस्थाघुपाभूभ्यः०' से 'गा' धातु से उत्तर 'सिच्' का लुक्, अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार का लोप तथा 'अट्' आगम होकर
अगात्	रूप सिद्ध होता है।

ऐष्यत्—'इण्', 'लिङ्निमित्ते लृङ्०' से 'लृङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य आदेश, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'ऐष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

५८३. शीङः सार्वधातुके गुणः ७।४।२१

'क्ङिति च' इत्यस्याऽपवादः। शेते, शायते।

प० वि०—शीङः ६।१।। सार्वधातुके ७।१।। गुणः १।१।।

अर्थः—सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो 'शीङ्' को गुण होता है।

शेते

शीङ्	अनुबन्ध-लोप, 'वर्तमाने लट्' से लट्, 'शीङ्' धातु ङित् है अतः 'अनुदात्तङित आत्मने०' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
शी त	'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से 'शप्' का लुक्, 'सार्वधातुकमपित्' से अपित् सार्वधातुक 'त' ङित् है अतः 'क्ङिति च' से गुण का निषेध प्राप्त था जिसे बाधकर 'शीङः सार्वधातुके०' से 'शीङ्' को अपित् सार्वधातुक परे रहने पर भी गुण हुआ
शे त	'टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग को एत्व होकर
शेते	रूप सिद्ध होता है।

शयाते–'शीङ्', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', पूर्ववत् 'शप्', 'शप्' का लुक्, 'शीङः सार्वधातुके०' से 'शी' के 'ई' को गुण, 'एचोयवायाव:' से 'ए' को अयादेश तथा 'टित आत्मने०' से टिभाग को एत्व' होकर 'शयाते' रूप सिद्ध होता है।

५८४. शीङो रुट् ७।१।६

शीङः परस्य झादेशस्यातो रुडागमः स्यात्। शेरते। शेषे। शयाथे। शेध्वे। शये। शेवहे। शेमहे। शिश्ये। शिश्याते। शिश्यिरे। शयिता। शयिष्यते। शेताम्। शयाताम्। शेरताम्। अशेत। अशयाताम्। अशेरत। शयीत। शयीयाताम्। शयीरन्। शयिषीष्ट। अशयिष्ट। अशयिष्यत्। इङ् अध्ययने।२०। इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः। अधीते। अधीयाते। अधीयते।

प० वि०–शीङः ५।१।। रुट् १।१।। **अनु०**–झः, अत्।

अर्थः–'शीङ्' धातु से उत्तर जो **'झ्'** के स्थान पर **'अत्'** आदेश, उसको 'रुट्' आगम होता है।

शेरते

शीङ्	अनुबन्ध-लोप, लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'आत्मनेपदेष्वनत:' से 'झ्' को 'अत्' आदेश, पूर्ववत् 'शप्', शब्लुक् होने पर
शी अत् अ	'शीङो रुट्' से 'झ्' के स्थान में हुए 'अत्' आदेश को रुट् आगम हुआ, अनुबन्ध-लोप
शी र् अत् अ	'सार्वधातुकमपित्' से अपित् सार्वधातुक 'झ' के ङित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध प्राप्त हुआ, जिसे बाधकर 'शीङः सार्वधातुके०' से सार्वधातुक परे रहते 'शीङ्' को गुण 'ए' होकर
शेरते	रूप सिद्ध होता है।

शेषे–'शी', 'लट्', आत्मनेपद, म० पु०, एक व० में 'थास्', 'थासः से' से 'थास्' को 'से' आदेश, पूर्ववत् 'शप्', शब्लुक्, 'शीङः सार्वधातुके०' से गुण तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य षकारादेश होकर 'शेषे' रूप सिद्ध होता है।

शयाथे–'शी', 'लट्' लकार, आत्मनेपद, म० पु०, द्वि व० में 'आथाम्' आने पर 'शयाते' के समान ही 'शयाथे' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

शेध्वे–'लट्' लकार, आत्मनेपद, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्', पूर्ववत् 'शप्', शब्लुक्, 'शीङः सार्वधातुके०' से गुण तथा टिभाग को 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'शेध्वे' रूप सिद्ध होता है।

शये–'शी', लट्, आत्मनेपद, उ० पु०, एक व० में 'इट्', पूर्ववत् 'शप्', शब्लुक्, 'शीङः सार्वधातुके०' से गुण, 'एचोऽयवायाव:' से 'शे' के 'ए' को 'अय्' तथा 'इट्' प्रत्यय के 'इ' को 'टित आत्मने०' से एत्व होकर 'शये' रूप सिद्ध होता है।

शेवहे, शेमहे—उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'वहि' तथा 'महिङ्' के 'टि' भाग को 'टित आत्मने०' से एत्व तथा शेष कार्य पूर्ववत् होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

शिश्ये

शी	'परोक्षे लिट्' से लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्', अनुबन्ध-लोप
शी ए	'लिटि धातो०' से 'शी' को द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा तथा 'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व हुआ
शि शी ए	यहाँ 'अचि श्नुधातु०' से 'इयङ्' आदेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' से अजादि प्रत्यय परे रहते, संयोग पूर्व में नहीं है जिसके ऐसा जो इवर्ण, तदन्त जो धातु अङ्ग, उस को यणादेश होता है। यहाँ 'ए' अजादि प्रत्यय परे रहते 'शी' के 'ई' को 'यण्' आदेश होकर
शिश्ये	रूप सिद्ध होता है।

शिश्याते—'शी', लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', पूर्ववत् द्वित्व आदि कार्य तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग को एत्व होकर 'शिश्याते' रूप सिद्ध होता है।

शिश्यिरे—'शी', लिट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'लिटस्तझयो०' से 'झ' को 'इरेच्' आदेश होने पर शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'शिश्यिरे' रूप सिद्ध होता है।

शयिता—'शी', 'अनद्यतने लुट्' से 'लुट्' लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'तास्' को 'इट्' आगम, 'लुटः प्रथमस्य०' से 'त' के स्थान में 'डा' आदेश, डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा 'एचोऽयवायावः' से 'ए' को 'अय्' आदेश होकर 'शयिता' रूप सिद्ध होता है।

शयिष्यते—'शी', 'लृट् शेषे च' से 'लृट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'एचोऽयवायावः' से अयादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य षकारादेश तथा 'टित आत्मने०' से टिभाग को एत्व होकर 'शयिष्यते' रूप सिद्ध होता है।

शेताम्—'शी', 'लोट्' लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर (५८३.) के समान 'शेते' रूप बनने पर 'आमेतः' से लोट् सम्बन्धी एकार को 'आम्' आदेश होकर 'शेताम्' रूप सिद्ध होता है।

शयाताम्—'शी', 'लोट्' लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्' प्रत्यय, 'शप्', शप् का लुक्, 'शीङः सार्वधातुके० से गुण, अयादेश, 'टित आत्मने०' से एत्व तथा 'आमेतः' से एकार को 'आम्' होकर 'शयाताम्' रूप सिद्ध होता है।

शेरताम्—'शी', 'लोट्' लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'आत्मनेपदेष्वनतः'

से 'झ्' के स्थान में 'अत्' आदेश, 'शीङो रुट्' से 'रुट्' होकर 'शेरते' रूप बनने पर 'आमेतः' से एकार को 'आम्' होकर 'शेरताम्' रूप सिद्ध होता है।

अशेत–'शी', 'अनद्यतने लङ्' से 'लङ्' लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'शप्' का लुक्, 'शीङः सार्वधातुके०' से गुण तथा 'अट्' आगम होकर 'अशेत' रूप सिद्ध होता है।

अशयाताम्–'शी', लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्' प्रत्यय, 'शप्', शब्लुक्, 'शीङः सार्वधातुके०' से गुण, 'एचोऽयवायावः' से अयादेश तथा 'अट्' आगम होकर 'अशयाताम्' रूप सिद्ध होता है।

अशेरत–'शी', लङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'शप्', शब्लुक्, 'आत्मनेपदेष्वनतः' से 'झ्' को 'अत्' आदेश, 'शीङो रुट्' से 'झ्' के स्थान में हुए 'अत्' को 'रुट्' आगम, 'शीङः सार्वधातुके०' से गुण तथा 'अट्' आगम होकर 'अशेरत' रूप सिद्ध होता है।

शयीत–'शी', 'विधिनिमन्त्रण०' से 'लिङ्' लकार, आत्मनेपद में 'त', 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से शप् का लुक्, 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', 'लिङः सलोपो०' से दोनों सकारों का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप, 'शीङः सार्वधातुके०' से सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते 'शीङ्' के 'ई' को गुण और 'एचोऽयवायावः' से अयादेश होकर 'शयीत' रूप सिद्ध होता है।

शयीयाताम्–'शी', लिङ्, 'प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', पूर्ववत् 'शप्', शप् का लुक्, 'सीयुट्', 'सुट्', सकारों का लोप, 'शीङः सार्वधातुके०' से गुण तथा 'एचोऽयवायावः' से अयादेश पूर्ववत् होकर 'शयीयाताम्' रूप सिद्ध होता है।

शयीरन्–'शी', 'लिङ्' लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'झस्य रन्' से 'झ' को 'रन्' आदेश, 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'शीङः सार्वधातुके०' से गुण तथा 'एचोऽयवायावः' से अयादेश होकर 'शयीरन्' रूप सिद्ध होता है।

शयिषीष्ट–'शी', 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', 'त', 'सीयुट्', 'सुट्', 'इट्' आगम, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप होने पर 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, अयादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'शयिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अशयिष्ट–'शी', 'लुङ्' सूत्र से 'लुङ्' लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश, आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'एचोऽयवायावः' से 'ए' को अयादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व, 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व तथा 'अट्' आगम होकर 'अशयिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अशयिष्यत–'शी', 'लिङ्निमित्ते लृङ्०' से 'लृङ्' लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, अयादेश, 'आर्धधातुकस्येड्०'

से 'इट्' आगम, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'अट्' आगम होकर 'अशयिष्यत' रूप सिद्ध होता है

इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः—'इङ्' (अध्ययने) तथा 'इक्' (स्मरणे) धातुओं का 'अधि' उपसर्ग के बिना प्रयोग नहीं होता। **यथा—अधीते, अधीयाते, अधीयते।**

अधीते—'अधि' उपसर्गपूर्वक 'इङ्' धातु से 'लट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से 'शप्' का लुक्, 'सार्वधातुकार्ध०' से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध, 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश तथा 'टित आत्मने०' से एत्व होकर 'अधीते' रूप सिद्ध होता है।

अधीयाते—'अधि' पूर्वक 'इङ्' धातु से लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्' आने पर 'शप्', शप् का लुक्, पूर्ववत् 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होने से 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से इकार को इयङादेश, 'टित आत्मने०' से टिभाग 'आम्' को एकारादेश और 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ होकर 'अधीयाते' रूप सिद्ध होता है।

अधीयते—'अधि' पूर्वक 'इङ्', लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झ्' के स्थान में 'आत्मनेपदेष्वनतः' से 'अत्' आदेश, पूर्ववत् 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से इयङादेश, टिभाग को एत्व और दीर्घ होकर 'अधीयते' रूप सिद्ध होता है।

५८५. गाङ् लिटि २।४।४९

इङो गाङ् स्याल्लिटि। अधिजगे, अधिजगाते, अधिजगिरे। अध्येता। अध्येष्यते। अधीताम्, अधीयाताम्, अधीयताम्। अधीष्व, अधीयाथाम्, अधीध्वम्। अध्ययै, अध्यायावहै, अध्ययामहै। अध्यैत, अध्यैयाताम्, अध्यैयत। अध्यैथाः, अध्यैयाथाम्, अध्यैध्वम्। अध्यैयि, अध्यैवहि, अध्यैमहि। अधीयीत, अधीयीयाताम्, अधीयीरन्। अध्येषीष्ट।

प० वि०—गाङ् १।१।। लिटि ७।१।। **अनु०**—इङः।

अर्थः—लिट् परे रहते **'इङ्'** (अध्ययने) धातु के स्थान पर **'गाङ्'** आदेश होता है।

अधिजगे

अधि इङ्	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' लकार, 'गाङ् लिटि' से लिट् परे रहते 'इङ्' को 'गाङ्' आदेश हुआ
अधि गाङ् लिट्	'लिटस्तझयो०' से 'त' के स्थान में 'एश्' आदेश, अनुबन्ध-लोप; अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'त',
अधि गा ए	'लिटि धातो०' से 'गा' को द्वित्व तथा 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर
अधि गा गा ए	'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्वादेश तथा 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में कवर्ग को चवर्गादेश हुआ
अधि ज गा ए	'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'एश्' के कित् होने पर 'आतो लोप

इटि च' से अजादि कित् आर्धधातुक परे रहते आकार का लोप होकर

अधिजगे — रूप सिद्ध होता है।

अधिजगाते–'अधि' पूर्वक 'इङ्' धातु, लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'टित आत्मने०' से 'टि' भाग को एत्व तथा शेष कार्य पूर्ववत् जानें।

अधिजगिरे–'अधि' पूर्वक 'इङ्' धातु, लिट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झ' को 'लिटस्तझयो०' से 'इरेच्' आदेश होने पर शेष कार्य पूर्ववत् जानें।

अध्येता–'अधि' पूर्वक 'इङ्', 'अनद्यतने लुट्' से 'लुट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'त' को 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्', पूर्ववत् 'टि' (आस्) भाग का लोप तथा 'इको यणचि' से यणादेश ('इ' को 'य्') होकर 'अध्येता' रूप सिद्ध होता है।

अध्येष्यते–'अधि' पूर्वक 'इङ्' धातु से 'लृट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'इको यणचि' से 'अधि' के 'इ' को यणादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'टित आत्मने०' से एत्व होकर 'अध्येष्यते' रूप सिद्ध होता है।

अधीताम्–'अधि' पूर्वक 'इङ्', 'लोट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्' शप् का लुक् और 'टित आत्मने०' से एत्व होकर 'अधीते' रूप बनने पर 'आमेतः' से एकार को 'आम्' होकर 'अधीताम्' रूप सिद्ध होता है।

अधीयाताम्, अधीयताम्–'अधि' पूर्वक 'इङ्', 'लोट्' लकार, प्र० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'लट्' लकार प्र० पु०, द्वि व० तथा बहु व० के समान क्रमशः 'अधीयाते' और 'अधीयते' रूप बनने पर 'आमेतः' से 'ए' को 'आम्' आदेश होकर 'अधीयाताम्' और 'अधीयताम्' रूप सिद्ध होते हैं।

अधीष्व–लोट् लकार, म० पु०, एक वचन में 'अधि+इङ्' से 'थास्' प्रत्यय, 'थासः से' से 'थास्' को 'से' आदेश, 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' का लुक् होने पर 'सवाभ्याम् वामौ' से सकार से उत्तर लोट् सम्बन्धी एकार को वकारादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य षकार तथा 'अकः सवर्णे०' से सवर्णदीर्घ होकर 'अधीष्व' रूप सिद्ध होता है।

अधीयाथाम्–'अधि' पूर्वक 'इङ्' धातु से लोट्, म० पु०, द्वि व० मे 'आथाम्' आने पर सिद्ध-प्रक्रिया 'अधीयाताम्' के समान जानें।

अधीध्वम्–'अधि' पूर्वक 'इङ्' धातु से लोट्, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्' के 'टि', भाग (अम्) को 'टित आत्मने०' से एकारादेश तथा 'सवाभ्याम वामौ' से एकार को 'अम्' आदेश होकर 'अधीध्वम्' रूप सिद्ध होता है।

अध्ययै–'अधि+इङ्' धातु से लोट्, उ० पु०, एक व० में 'इट्', 'आडुत्तमस्य पिच्च' से 'इट्' को 'आट्' आगम, 'शप्', शब्लुक्, 'टित आत्मने०' से 'इ' को 'ए', 'एत ऐ'

से एकार को ऐकारादेश, 'आटश्च' से 'आ' और 'ऐ' के स्थान में वृद्धि, 'सार्वधातुकार्ध०' से धातु के 'इ' को गुण, 'एचोऽयवायाव:' से 'ए' को अयादेश तथा 'इको यणचि' से यणादेश होकर 'अध्ययै' रूप सिद्ध होता है।

अध्ययावहै/अध्ययामहै–'अधि' पूर्वक 'इङ्' धातु से लोट्, उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में क्रमश: 'वहि' और 'महिङ्' प्रत्यय आने पर 'आडुत्तमस्य०' से 'आट्' आगम, धातु के इकार को 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण होकर 'ए', 'एचोऽयवा०' से अयादेश, 'इको यणचि' से 'अधि' के इकार को 'य्', 'टित आत्मने०' से 'वहि' और 'महि' के टि भाग इकार को 'ए' तथा 'एत ऐ' से एकार को ऐकारादेश होकर 'अध्ययावहै' और 'अध्ययामहै' रूप सिद्ध होते हैं।

अध्यैत–'अधि+इङ्' धातु से लङ् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', शब्लुक्, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'अधि+ऐत' बनने पर 'इको यणचि' से यणादेश होकर 'अध्यैत' रूप सिद्ध होता है।

अध्यैयाताम्–'अधि+इङ्', 'लङ्', प्र० पु०, द्वि व० मे 'आताम्', 'शप्', शब्लुक् होने पर 'अधि+इ+आताम्' यहाँ 'अचि श्नुधातु०' से धातु के इकार को इयङादेश, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'अधि+ऐयाताम्' बनने पर 'इको यणचि' से इकार को 'यण्' आदेश होकर 'अध्यैयाताम्' रूप सिद्ध होता है।

अध्यैयत–'अधि+इङ्', 'लङ्' लकार, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'शप्', शब्लुक् और 'झ्' को 'आत्मनेपदेष्वनत:' से 'अत्' आदेश होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

अध्यैथा:, अध्यैयाथाम् और **अध्यैध्वम्** इत्यादि में सर्वत्र 'आट्', 'वृद्धि,' यणादेश तथा इयङादेशादि कार्य पूर्ववत् जानने चाहिएं।

अधीयीत–'अधि+इङ्', 'विधिनिमन्त्रण०' से 'लिङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्य: शप:' से शब्लुक्, 'लिङ:सीयुट्' से 'सीयुट्' आगम, 'सुट् तिथो:' से 'सुट्' आगम, 'लिङ: सलोपो०' से दोनों सकारों का लोप तथा 'अक: सवर्णे०' से दीर्घ होकर 'अधीयीत' रूप सिद्ध होता है।

अधीयीयाताम्–'अधि+इङ्', लिङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', पूर्ववत् 'शप्', शब्लुक्, 'सीयुट्' और 'सुट्' होने पर 'अधि+इ+सीयुट्+आ+सुट्+ ताम्' यहाँ 'लिङ: सलोपो०' से सकार-लोप, 'अचि श्नुधातु०' से इयङादेश और 'अक: सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश होकर 'अधीयीयाताम्' रूप सिद्ध होता है।

अधीयीरन्–'अधि+इङ्', लिङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झ' को 'झस्य रन्' से 'रन्' आदेश, 'सीयुट्' आगम, 'अचि श्नुधातु०' से 'इयङ्', 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप और सवर्णदीर्घ आदि पूर्ववत् होकर 'अधीयीरन्' रूप सिद्ध होता है।

अध्येषीष्ट–'अधि+इङ्', 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', प्र०

पु०, एक व० में 'त', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्' आगम, 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', 'सार्वधातुकार्ध० से इकार को गुण 'ए' 'आदेशप्रत्यय०' से सकारों को षकारादेश तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व और 'इको यणचि' से यणादेश 'अधि' के 'इ' को 'य्' होकर 'अध्येषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

५८६. विभाषा लुङ्लृङोः २।४।५०

इङो गाङ् वा स्यात्।

प० वि०—विभाषा अ०।। लुङ्लृङोः ७।२।। **अनु०**—इङः, गाङ्।

अर्थः—लुङ् और लृङ् की विवक्षा होने पर **'इङ्'** (अध्ययने) धातु के स्थान पर विकल्प से **'गाङ्'** आदेश होता है।

५८७. गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् १।२।१

गाङादेशात् कुटादिभ्यश्च परेऽञ्णितः प्रत्यया ङितः स्युः।

प० वि०—गाङ्कुटादिभ्यः५।३।। अञ्णित् १।१।। ङित् ।१।१।।

अर्थः—'गाङ्' आदेश तथा कुटादि धातुओं से परे ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय ङिद्वत् होते हैं।

५८८. घुमास्थागापाजहातिसां हलि ६।४।६६

एषमात ईत् स्याद्धलादौ क्ङित्यार्धधातुके। अध्यगीष्ट, अध्यैष्ट। अध्यगीष्यत, अध्यैष्यत। दुह प्रपूरणे।२१। दोग्धि। दुग्धः। दुहन्ति। धोक्षि। दुग्धे। दुहाते। दुहते। धुक्षे। दुहाथे। धुग्ध्वे। दुहे। दुह्वहे। दुह्महे। दुदोह। दुदुहे। दोग्धा। धोक्ष्यति। धोक्ष्यते। दोग्धु, दुग्धात्। दुग्धाम्। दुहन्तु। दुग्धि, दुग्धात्। दुग्धम्। दुग्ध। दोहानि। दोहाव। दोहाम। दुग्धाम्। दुहाताम्। दुहताम्। धुक्ष्व। दुहाथाम्। धुग्ध्वम्। दोहै। दोहावहै। दोहामहै। अधोक्। अदुग्धाम्। अदुहन्। अदोहम्। अदुग्ध। अदुहाताम्। अदुहत। अधुग्ध्वम्। दुह्यात्। दुहीत।

प० वि०—घुमास्थागापाजहातिसाम् ६।३।। हलि ७।१।। **अनु०**—आर्धधातुके, आतः, ईत्, क्ङिति।

अर्थः—घुसंज्ञक (दा और **धा** रूप वाली धातुएं), **मा** (माने-मापना), **स्था** (गतिनिवृत्तौ-ठहरना), **गा** (शब्दे गतौ-गाना और जाना), **पा** (पाने-पीना) **हा** (त्यागे-छोड़ना) और **षो** (अन्तकर्मणि-नाश करना) धातुओं के आकार के स्थान में ईकारादेश होता है हलादि कित्, ङित् आर्धधातुक परे रहते।

अध्यगीष्ट

अधि इङ्

	'लुङ्' से लुङ् लकार, 'विभाषा लुङ्लृङोः' से 'लुङ्' से परे
अधि गाङ् लुङ्	रहते 'इङ्' को विकल्प से 'गाङ्' आदेश हुआ
	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप

अधि गा स् त	'गाङ्कुटादिभ्यो०' से ञित् और णित् से भिन्न प्रत्यय 'सिच्' के ङित्वत्' होने से 'घुमास्थागा०' से हलादि ङित् आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते 'गा' के 'आ' को ईकारादेश हुआ
अधि ग् ई स् त	'आदेशप्रत्यययो:' से षत्व, ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व और 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम हुआ
अधि अट् ग् ई ष् ट	अनुबन्ध-लोप तथा 'इको यणचि' से यणादेश होकर
अध्यगीष्ट	रूप सिद्ध होता है।

अध्यैष्ट–जहाँ 'इङ्' को 'गाङ्' आदेश नहीं होगा तो 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम 'अधि+आ+इ+स्+त' यहाँ 'ह्रस्वादङ्गात्' से 'झल्' परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग से उत्तर 'सिच्' का लुक् प्राप्त हुआ तथा 'सिच्' परे रहते इकार को 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण प्राप्त हुआ। इस विप्रतिषेध की स्थिति में सपादसप्ताध्यायी का कार्य गुण, असिद्ध प्रकरण (त्रिपादी) के कार्य 'सिच्' के लोप को बाध लेता है, तथा गुण हो जाता है। 'आटश्च' से वृद्धि, षत्व, ष्टुत्व और यणादेशादि कार्य पूर्ववत् होकर 'अध्यैष्ट' सिद्ध होता है।

अधिगीष्यत–'अधि+इङ्', आत्मनेपद, लृङ् लकार में 'इङ्' को 'विभाषा लुङ्लृङो:' से विकल्प से 'गाङ्' आदेश, 'स्यतासी०' से 'स्य', 'घुमास्थागा०' से पर्वूवत् ईकारादेश, 'आदेशप्रत्यययो:' से षत्व और 'अट्' आगम होकर 'अधिगीष्यत' रूप सिद्ध होता है।

अध्यैष्यत–'लृङ्' परे रहते जब 'गाङ्' आदेश नहीं होगा तो 'इङ्' धातु से 'आट्' आगम तथा गुण, 'आटश्च' से वृद्धि और यणादेश होकर 'अध्यैष्यत' रूप बनेगा।

उभयपदी दुह् धातु

दोग्धि

दुह्	लट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', शब्लुक्, अनुबन्ध-लोप
दुह् ति	'पुगन्तलघू०' से गुण तथा 'दादेर्धातोर्घ:' से दकारादि धातु के हकार को घकारादेश हुआ
दोघ् ति	'झषस्तथोर्धोऽध:' से 'झष्' से उत्तर तकार को धकारादेश तथा 'झलां जश् झशि' से 'झश्' (ध्) परे रहते 'घ्' को 'ग्' आदेश होकर
दोग्धि	रूप सिद्ध होता है

दुग्धः–'दुह्' धातु से लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' के 'सार्वधातुकमपित्' से ङित्वत् होने से गुण नहीं होता, शेष कार्य पूर्ववत् तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'दुग्ध:' रूप सिद्ध होता है।

दुहन्ति–'दुह्' धातु से लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' के 'झ्' को 'झोऽन्त:' से अन्तादेश होकर 'दुहिन्त' रूप सिद्ध होता है।

घोक्षि–'दुह्' धातु से लट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'शप्', शब्लुक्, 'पुगन्तलघू०'

से गुण, 'दादेर्धातोर्घः' से दकारादि धातु के हकार को घकारादेश, 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' से धातु के दकार को धकारादेश होने पर 'धोघ्+सि' यहाँ 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व और 'खरि च' से घकार को ककारादेश होकर 'धोक्षि' रूप सिद्ध होता है।

दुग्धे–'दुह्' धातु से लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', शब्लुक्, 'सार्वधातुकमपित्' से 'त' ङित्वत् होता है अतः 'पुगन्तलघू०' से गुण नहीं हुआ, 'टित आत्मने०' से टिभाग को एत्व होकर 'दुह्+ते' इस स्थिति में 'दोग्धि' के समान 'दादेर्धातोर्घः' से 'ह्' को 'घ्', 'झषस्तथोः०' से 'त्' को 'ध्' और 'झलां जश्०' से 'घ्' को 'ग्' होकर 'दुग्धे' रूप सिद्ध होता है।

दुहाते–'दुह्' धातु से लट्, आत्मनेपद, प्र०पु०, द्वि व० में 'आताम्' के टिभाग 'आम्' को 'टित आत्मने०' से एत्व होकर 'दुहाते' रूप सिद्ध होता है।

दुहते–'दुह्' धातु से लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'आत्मनेपदेष्वनतः' से 'झ्' को 'अत्' आदेश तथा पूर्ववत् टिभाग को एत्व होकर 'दुहते' रूप सिद्ध होता है।

घुक्षे–'दुह्' धातु से लट् लकार, आत्मनेपद, म० पु०, एक व० में 'थास्' को 'थासः से' से 'से' आदेश होने पर शेष प्रक्रिया 'धोक्षि' के समान जानें।

दुहाथे–'दुह्', लट्, आत्मनेपद, म० पु०, द्वि व० में 'आथाम्' प्रत्यय होकर 'दुहाते' के समान ही 'दुहाथे' भी जानें।

दुग्ध्वे–'दुह्', लट्, आत्मनेपद, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्' के टिभाग 'अम्' को 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व, दादेर्धातोर्घः' से हकार को घकारादेश, 'झलां जश् झशि' से 'घ्' को 'ग्' से होकर 'दुग्ध्वे' रूप सिद्ध होता है।

दुहे, दुह्वहे, दुह्महे–'दुह्', आत्मनेपद, लट्, उ० पु०, एक व०, द्वि व० तथा बहु व० में क्रमशः 'इट्', 'वहि' तथा 'महिङ्' के टिभाग को 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर उक्त तीनों रूप सिद्ध होते हैं।

दुदोह

दुह्	'परोक्षे लिट्' से लिट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
दुह् अ	'लिटि धातोरन०' से लिट् परे रहते अनभ्यास धातु 'दुह्' को द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा
दुह् दुह् अ	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि हल् शेष रहा
दु दुह् अ	'पुगन्तलघू०' से आर्धधातुक परे रहते लघूपध अङ्ग के इक् (उकार) को गुण होकर
दुदोह	रूप सिद्ध होता है।

दुदुहे–'दुह्', लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्' आदेश, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'एश्' के कित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'दुदोह' के समान जानें।

दोग्धा–'दुह्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्,' डित्करण सामर्थ्य से टि भाग (आस्) का लोप, 'पुगन्तलघू०' से गुण, 'दादेर्धातो०' से हकार को घकार, 'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'त्' को 'ध्' और 'झलां जश् झशि' से 'घ्' को 'ग्' होकर 'दोग्धा' रूप सिद्ध होता है।

धोक्ष्यति–'दुह्', लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'पुगन्तलघू०' से गुण, 'दादेर्धातो०' से हकार को घकारादेश, 'एकाचो बशो भष्०' से दकार को धकार आदेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य षकार और 'खरि च' से चर्त्व घकार को ककार आदेश होकर 'धोक्ष्यति' रूप सिद्ध होता है।

धोक्ष्यते–'दुह्' धातु से 'लृट्' लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' के टिभाग को 'टित आत्मने०' से एत्व, शेष कार्य 'धोक्ष्यति' के समान जानें।

दोग्धु–'दुह्', परस्मैपद, लोट् लकार, प्र० पु०, एक व० में 'दोग्धि' बनकर 'एरुः' से लोट् सम्बन्धी इकार को उकारादेश होकर 'दोग्धु' रूप सिद्ध होता है।

दुग्धात्–'दुह्', धातु से आशीर्वाद अर्थ में 'लोट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'दुघ्+तु' बनने पर 'तुह्योस्तातङा०' से 'तु' को 'तातङ्' आदेश, 'तातङ्' के ङित् होने से गुणाभाव, 'झषस्तथो०' से तकार को धकारादेश और 'झलां जश् झशि' से 'घ्' को 'ग्' होकर 'दुग्धात्' रूप सिद्ध होता है।

दुग्धाम्–'दुह्', लोट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश, पूर्ववत् 'दादेर्धातो०' से 'ह्' को 'घ्' आदेश, 'झषस्तथो०' से तकार को धकारादेश और 'झलां जश् झशि' से घ् को 'ग्' होकर 'दुग्धाम्' रूप सिद्ध होता है।

दुहन्तु–'दुह्', लोट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' के 'झ्' को 'झोऽन्तः' से अन्तादेश तथा 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर 'दुहन्तु' रूप सिद्ध होता है।

दुग्धि–'दुह्', लोट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को अपित् 'हि' आदेश, 'दादेर्धातो०' से 'ह्' को 'घ्', 'झलां जश् झशि' से 'घ्' को 'ग्', 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से झलन्त अङ्ग से उत्तर 'हि' को 'धि' आदेश होकर 'दुग्धि' रूप सिद्ध होता है।

दुग्धात्–'दुह्', आशीर्वाद अर्थ में लोट् लकार, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को 'हि', 'तुह्योस्तातङ्०' से 'हि' को 'तातङ्' आदेश हुआ, शेष कार्य प्र० पु०, एक व० 'दुग्धात्' के समान ही जानें।

दुग्धम्, दुग्ध–'दुह्', लोट्, म० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'थस्' और 'थ' को 'तस्थस्थ०' से क्रमशः 'तम्' और 'त' आदेश होकर सिद्धि-प्रक्रिया 'दुग्धाम्' के समान जानें।

दोहानि, दोहाव, दोहाम–'दुह्', लोट्, उ० पु०, एक व०, द्वि व० और बहु व०, में 'मिप्', 'वस्' और 'मस्' आने पर 'मेर्निः' से 'मिप्' को 'नि' तथा 'नित्यं ङितः' से सकार-लोप, 'आडुत्तमस्य पिच्च' से आडागम और 'पुगन्तलघूप०' से गुण होकर उक्त तीनों रूप सिद्ध होते हैं।

दुग्धाम्–'दुह्', लोट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', शब्लुक् होकर 'लट्' के समान 'दुग्धे' रूप बनने पर 'आमेतः' से लोट्-सम्बन्धी एकार को 'आम्' आदेश होकर 'दुग्धाम्' रूप सिद्ध होता है।

दुहाताम्, दुहताम्–'दुह्', लोट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० और बहु व० में लट् के समान 'दुहाते' तथा 'दुहते' रूप बनने पर 'आमेतः' से एकार के स्थान में 'आम्' आदेश होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

धुक्ष्व–'दुह्', लोट्, म० पु०, एक व० में 'थास्', 'थासः से' सूत्र से 'थास्' को 'से' आदेश, 'शप्', शब्लुक्, 'सवाभ्यां वामौ' से सकार से उत्तर 'लोट्' के एकार को वकारादेश होकर 'धुक्ष्व' रूप सिद्ध होता है।

दुहाथाम्–'दुह्', लोट्, म० पु०, द्वि व० में 'आथाम्' प्रत्यय आकर 'दुहाताम्' के समान ही 'दुहाथाम्' रूप सिद्ध होता है।

धुग्ध्वम्–'दुह्', लोट्, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्' के टिभाग (अम्) को 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व, लट् के समान 'धुग्ध्वे' रूप बनने पर 'सवाभ्यां वामौ' से वकार से उत्तर 'लोट्' के एकार को 'अम्' आदेश होकर 'धुग्ध्वम्' रूप सिद्ध होता है।

दोहै–'दुह्' धातु से लोट्, उ० पु०, एक व० में 'इट्', 'आडुत्तमस्य पिच्च' से उत्तम पुरुष को 'आट्' आगम, 'टित आत्मने०' से टिभाग 'इ' को एत्व, 'एत ऐ' से एकार को ऐकारादेश, 'आटश्च' से वृद्धि तथा 'पुगन्तलघू०' से गुण होकर 'दोहै' रूप सिद्ध होता है।

दोहावहै, दोहामहै–'दुह्' धातु से लोट्, उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'वहि और 'महिङ्', 'आडुत्तमस्य०' से 'आट्' आगम, 'टित आत्मने०' से इकार को एत्व, 'एत ऐ' से एकार को ऐकारादेश तथा लघूपध गुण होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

अधोक्

दुह् — 'लङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'कर्तरि शप्' से 'शप्' और 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' का लुक् हुआ

दुह् त् — 'पुगन्तलघूपधस्य च' से 'उ' को गुण 'ओ' और 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त तकार का लोप हुआ

दोह् — 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'तिप्' को निमित्त मानकर 'सुप्तिङन्तं०' से 'पद' संज्ञा होने पर 'दादेर्धातोर्घः' से हकार

को घकार और 'एकाचो बशो भष्०' से धातु के दकार को धकार आदेश हुआ

धोघ् 'झलां जशोऽन्ते' से 'घ्' को 'ग्', 'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व 'ग्' को 'क्' आदेश और 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अट्' आगम होकर

अधोक् रूप सिद्ध होता है।

अदुग्धाम्–'दुह्', लङ्, 'शप्', शब्लुक्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश, अडागम, शेष कार्य लोट् लकार के 'दुग्धाम्' के समान जानें।

अदुहन्–'दुह्', लङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' के 'झ्' को 'झोऽन्तः' से अन्तादेश, 'संयोगान्तस्य०' से पदान्त 'त् का लोप और 'अट्' आगम होकर 'अदुहन्' रूप सिद्ध होता है।

अदोहम्–'दुह्', लङ्, 'शप्', शब्लुक्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' के स्थान में 'तस्थस्थमिपां०' से 'अम्' आदेश, 'पुगन्तलघू०' से गुण तथा 'अट्' आगम होकर 'अदोहम्' रूप सिद्ध होता है।

अदुग्ध–'दुह्', लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर 'शप्', शब्लुक्, 'दादेर्धातोर्घः' से 'ह्' को 'घ्', 'झषस्तथोर्धो०' से 'त्' को 'ध्', 'झलां जश्०' से 'घ्' को 'ग्' और अडागम होकर 'अदुग्ध' रूप सिद्ध होता है।

अदुहाताम्, अदुहत–दुह्, लङ् लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'आताम्' और 'झ', 'शप्', शब्लुक् 'आत्मनेपदेष्वतः' से 'झ्' को 'अत्' और 'अट्' आगम होकर 'अदुहाताम्' और 'अदुहत' और रूप सिद्ध होते हैं।

अधुग्ध्वम्–'दुह्', लङ्, म० पु०, बहु व०, में 'ध्वम्' प्रत्यय, 'शप्', शब्लुक्, अडागम, 'दादेर्धातोर्घः' से हकार को घत्व, 'एकाचो बशो०' से भष्त्व 'द्' को 'ध्' तथा 'झलां जश् झशि' से 'घ्' को 'ग्' आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

दुह्यात्–'दुह्' धातु से विधि लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', शब्लुक् यासुडागामादि कार्य 'इयात्' (५८०) के समान जानें

दुहीत–'दुह्' धातु से विधि लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', शब्लुक् 'लिङः सीयुट्' से सीयुडगाम, 'सुट् तिथोः' से लिङ्–सम्बन्धी तकार को 'सुट्' आगम, 'लिङः सलोपो०' से सकार–लोप और 'लोपो व्योर्वलि' से यकार–लोप आदि होकर 'दुहीत' रूप सिद्ध होता है।

५८९. लिङ्सिचावात्मनेपदेषु १।२।११

इक्समीपाद्धलः परौ झलादी लिङ्सिचौ कितौ स्तस्तङि। धुक्षीष्ट।

प० वि०–लिङ्सिचौ १।२।। आत्मनेपदेषु ७।३।। **अनु०**–इको झल्, हलन्ताच्च, कित्।

अर्थः–इक् का समीपवर्त्ती जो हल्, उससे उत्तर झलादि लिङ् और सिच् कित् होते हैं, 'तङ्' अर्थात् आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय परे होने पर।

धुक्षीष्ट–'दुह्' धातु से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिङःसीयुट्' से 'सीयुट्' आगम, 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार- लोप होने पर 'दुह्+सी+स्+त' यहाँ 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से 'इक्' के समीप जो हल् उससे परे झलादि 'लिङ्' (सीयुट् आगम होने पर) कित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध, 'दादेर्धातोर्घः' से हकार को पूर्ववत् घत्व, 'एकाचो बशो०' से भष्त्व, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व, 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व और 'खरि च' से चर्त्व 'घ्' को 'क्' होकर 'धुक्षीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

५९०. शल इगुपधादनिटः क्सः ३।१।४५

इगुपधो यः शलन्तस्तस्माद् अनिटश्च्लेः क्सादेशः स्यात्। अधुक्षत्।

प० वि०–शलः ५।१।। इगुपधात् ५।१।। अनिटः ६।१।। क्सः१।१।। **अनु०**–धातोः, च्लेः।

अर्थः–इगुपध (इ, उ, ऋ, लृ उपधा वाली) और शलन्त ('शल्' प्रत्याहार जिसके अन्त में हो) धातु से उत्तर अनिट् **'च्लि'** के स्थान पर **'क्स'** आदेश होता है।

अधुक्षत्

दुह् च्लि त्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' तथा 'च्लि लुङि' से 'च्लि' आया, 'एकाच उपदेशेऽनु०' से 'च्लि' प्रत्यय अनिट् है इसलिए 'शल इगुपधादनिटः०' से इगुपध शलन्त 'दुह्' धातु से उत्तर अनिट् 'च्लि' को 'क्स' आदेश हुआ
दुह् क्स त्	'लशक्व०' से 'क्' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप तथा अडागम होने पर
अ दुह् स त्	'दादेर्धातो०' से हकार को घत्व, 'एकाचो बशो०' से भष्त्व 'द्' को 'ध्', 'आदेशप्रत्य०' से षत्व तथा 'खरि च' से चर्त्व 'घ्' को 'क्' होकर
अधुक्षत्	रूप सिद्ध होता है।

५९१. लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये ७।३।७३

एषां क्सस्य लुग्वा स्यात् दन्त्ये तङि। अदुग्ध। अधुक्षत।

प० वि०–लुक् १।१।। वा अ०।। दुहदिहलिहगुहाम् ६।३। आत्मनेपदे ७।१।। दन्त्ये ७।१।। **अनु०**–क्सस्य।

अर्थः—**दुह्** (प्रपूर्णे-दोहना), **दिह्** (वृद्धौ-बढ़ना), **लिह्** (श्लेषणे-चाटना) और गुह् (संवरणे-छिपाना) इन धातुओं से उत्तर '**क्स**' का विकल्प से **लुक्** होता है दन्त्यादि (त, थास्, ध्वम् और वहि) आत्मनेपद परे हो तो ।

'क्स' अभाव पक्ष में

अदुग्ध—'दुह्', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से प्राप्त 'सिच्' को बाधकर 'शल इगुपधादनिट०' से इगुपध शलन्त धातु से उत्तर अनिट् 'च्लि' को 'क्स' आदेश, 'लुग्वा दुहदिहलिह०' से विकल्प से 'क्स' का लुक् होने पर 'लङ्', प्र० पु०, एक व० (५८८) के समान ही 'अदुग्ध' रूप भी जानें।

लुक् अभाव पक्ष में

अधुक्षत—'दुह्' धातु से लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', पूर्ववत् 'च्लि', 'च्लि' को 'क्स', 'लुग्वा दुहदिह०' से वैकल्पिक 'लुक्' न होने पर 'अधुक्षत्' (५९०) के समान ही उक्त रूप भी जानें।

५९२. क्सस्याचि ७।३।७२

अजादौ तङि क्सस्य लोपः। अधुक्षाताम्। अधुक्षन्त। अदुग्धाः, अधुक्षथाः। अधुक्षाथाम्। अधुग्ध्वम्, अधुक्षध्वम्। अधुक्षि। अदुह्वहि, अधुक्षावहि। अधुक्षामहि। अधोक्ष्यत्, अधाोक्ष्यत। एवं दिह उपचये ।२२। लिह आस्वादने ।२३।। लेढि। लीढः। लिहन्ति। लेक्षि। लीढे। लिहाते। लिहते। लिक्षे। लिहाथे। लीढ्वे । लिलेह। लिलिहे। लेढासि। लेढासे। लेक्ष्यति। लेक्ष्यते। लेढु। लीढाम्। लिहन्तु। लीढि। लेहानि। लीढाम्। अलेट्, अलेड्। अलिक्षत्। अलिक्षत, अलीढ। अलेक्ष्यत्, अलेक्ष्यत। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । २४।

प० वि०—क्सस्य ६।१।। अचि ७।१।। **अनु०**—लोपः, आत्मनेपदे।

अर्थः—आत्मनेपद संज्ञक अजादि प्रत्यय परे रहते 'क्स' प्रत्यय का लोप होता है । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह लोप 'क्स' के सकारोत्तरवर्ती अकार का ही होता है।

अधुक्षाताम्—'अ+दुह्+क्स+आताम्' यहाँ 'क्सस्याचि' से अजादि आत्मनेपद (आताम्) प्रत्यय परे रहते सकारोतरवर्ती 'अ' का लोप, 'दादेर्धातोर्घः' से हकार को घकार, 'एकाचो बशो भष्०' से दकार को धकारादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व और 'खरि च' से चर्त्व 'घ्' को 'क्' होकर 'अधुक्षाताम्' रूप सिद्ध होता है।

अधुक्षन्त—'दुह्', आत्मनेपद, लुङ् लकार, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश, 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'शल इगुपधाद०' से 'च्लि' को 'क्स' आदेश और 'क्सस्याचि' से 'क्स' प्रत्यय के 'स्' से उत्तरवर्ती अकार का लोप होकर पूर्ववत् सभी कार्य जानें।

अदुग्धाः—'दुह्', लुङ्, म० पु०, एक व०, में 'थास्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'शल

इगुपधादनिट०' से 'च्लि' को 'क्स' आदेश, 'लुग्वा दुहदिहलिह०' से 'दुह्' धातु से उत्तर दन्त्यादि 'तङ्' (थास्) परे रहते 'क्स' का विकल्प से लुक्, पूर्ववत् घत्व, भष्त्व, जश्त्व होकर सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'अदुग्धा:' रूप सिद्ध होता है।

अधुक्षथा:–'दुह्', लुङ्, म० पु०, एक व० में जब 'लुग्वा दुहदिह०' से 'क्स' प्रत्यय का वैकल्पिक लुक् नहीं होगा तो, घत्व, भष्त्व, षत्व और चर्त्वादि कार्य पूर्ववत् होकर 'अधुक्षथा:' रूप सिद्ध होता है।

अधुक्षाथाम्–'दुह्', लुङ्, म० पु०, द्वि व० में 'आथाम्', 'च्लि', 'शल इगुपधादनिट: क्स:' से 'च्लि' के स्थान पर 'क्स' आदेश हुआ। 'क्सस्याचि' से 'क्स' के सकारोतरवर्ती अकार का पूर्ववत् लोप, घत्व, धत्व, षत्व और चर्त्व होकर 'अधुक्षाथाम्' रूप सिद्ध होता है।

अधुग्ध्वम्, अधुक्षध्वम्–'दुह्', लुङ्, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्', 'च्लि', 'क्स' आदेश, दन्त्यादि 'तङ्' परे है अत: 'लुग्वा दुहदिहलिह०' से 'दुह्' धातु से दन्त्यादि (ध्वम्) प्रत्यय परे रहते 'क्स' का विकल्प से लुक् होने पर 'अ+दुह्+ध्वम्' यहाँ 'दादेर्धातोर्घ:' से हकार को घकार ओदश, 'एकाचो बशो भष्०' से धातु के दकार को धकारादेश और 'झलां जश् झशि' से 'घ्' को 'ग्' आदेश होकर 'अधुग्ध्वम्' रूप सिद्ध होता है।

लुक्–अभाव पक्ष में–'अ+दुह्+क्स+ध्वम्' यहाँ 'लशक्व०' से 'क्' की इत्संज्ञा, पूर्ववत् घत्व, भष्त्व, षत्व और चर्त्व होकर 'अधुक्षध्वम्' रूप सिद्ध होता है।

अधुक्षि–'दुह्', लुङ्, उ० पु०, एक व० में 'इट्' प्रत्यय, 'च्लि' के स्थान में 'शल इगुपधा०' से 'क्स' आदेश, अजादि 'तङ्' परे रहते 'क्सस्याचि' से सकारोत्तरवर्ती अकार-लोप, 'दादेर्धातोर्घ:' से हकार को घकार, 'एकाचो बशो भष्०' से धातु के दकार को धकारादेश, 'आदेशप्रत्य०' से षत्व और 'खरि च' से घकार को ककारादेश होकर 'अधुक्षि' रूप सिद्ध होता है।

अदुह्वहि, अधुक्षावहि–'दुह्', लुङ्, उ० पु०, द्वि व० में 'अ+दुह्+क्स+वहि' यहाँ 'लुग्वा दुहदिह०' से विकल्प से 'क्स' का लुक् होकर 'अदुह्वहि' तथा 'अधुक्षावहि' दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

अधुक्षामहि–'दुह्' धातु से लुङ्, उ० पु०, बहु व० में 'अ+दुह्+क्स+महि' यहाँ दन्त्य तथा अजादि प्रत्यय न होने से 'लुग्वा दुहदिह०' से 'क्स' का लुक् तथा 'क्सस्याचि' से अकार-लोप दोनों ही कार्य नहीं होते। 'दादेर्धातोर्घ:' से घत्व, 'एकाचो बशो०' से 'द्' को 'ध्', 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व, 'खरि च' से चर्त्व और 'अतो दीर्घो०' से दीर्घ होकर 'अधुक्षामहि' रूप सिद्ध होता है।

अधोक्ष्यत्–'दुह्' धातु से लिङ्निमित्ते लृङ्०' से 'लृङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', घत्व, धत्व, 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व, 'खरि च' से चर्त्व और 'पुगन्तलघू०' से गुण होकर 'अधोक्ष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

अधोक्ष्यत–'दुह्', धातु, आत्मनेपद, 'लृङ्' लकार में 'त' प्रत्यय होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

लेढि

लिह्	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से शब्लुक, अनुबन्ध-लोप और 'पुगन्तलघू०' से गुण हुआ
लेह् ति	'हो ढः' से 'झल्' परे रहते हकार को ढकार तथा 'झषस्तथो०' से झष् से उत्तर तकार को धकारादेश हुआ
लेढ् धि	'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व धकार को ढकारादेश
लेढ् ढि	'ढो ढे लोपः' से ढकार परे रहते ढकार का लोप होकर
लेढि	रूप सिद्ध होता है।

लीढः–'लिह्+तस्' यहाँ 'हो ढः' से 'ह्' को 'ढ्', 'शप्', शब्लुक, 'झषस्तथो०' से 'त्' को 'ध्', 'ष्टुना ष्टुः' से 'ध्' को 'ढ्', 'ढो ढे लोपः' से ढकार का लोप, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से ढकार-लोपनिमित्तक ढकार परे रहते पूर्व 'अण्' (इकार) को दीर्घ, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'लीढः' रूप सिद्ध होता है।

लिहन्ति–'लिह्' धातु, लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'शप्', शब्लुक, 'झ्' को 'झोऽन्तः' से 'अन्त्' आदेश होकर 'लिहन्ति' रूप सिद्ध होता है।

लेक्षि–'लिह्' धातु, लट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'शप्', शब्लुक, 'हो ढः' से 'ह्' को 'ढ्', 'षढोः कः सि' से 'सि' प्रत्यय परे रहते ढकार को ककारादेश, 'पुगन्तलघू०' से गुण और 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व होकर 'लेक्षि' रूप सिद्ध होता है।

लीढः, लीढ–लट्, म० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में क्रमशः 'थस्' और 'थ' प्रत्यय आने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'लीढः' प्र० पु०, द्वि व० के समान जानें।

लीढे–'लिह्', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', शब्लुक, 'टित आत्मने०' से एत्व होकर 'हो ढः' से ढत्व, 'झषस्तथो०' से 'त्' को 'ध्', 'ष्टुना ष्टुः' से धकार को ढकारादेश, 'ढो ढे लोपः' से ढकार-लोप तथा 'ढ्रलापे पूर्वस्य०' से 'अण्' (इकार) को दीर्घ होकर 'लीढे' रूप सिद्ध होता है।

लिहाते–'लिह्', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'शप्', शब्लुक, 'टित आत्मने से टि भाग (आम्) को एत्व होकर 'लिहाते' रूप जानें।

लिहते–'लिह्', लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'शप्', शब्लुक, 'आत्मनेपदेष्वनतः' से 'झ्' को 'अत्' आदेश और 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर 'लिहते' रूप सिद्ध होता है।

लिक्षे–'लिह्', लट्, म० पु०, एक व० में 'थास्', 'शप्', शब्लुक, 'थासः से' से

'थास्' को 'से' आदेश, 'हो ढः' से हकार को ढकारादेश, 'षढोः कः सि' से ढकार को ककार आदेश और 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'लिक्षे' रूप सिद्ध होता है।

लिहाथे–'लिह्', लट्, म० पु०, द्वि० व० में 'आथाम्' आने पर 'लिहाते' के समान सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

लीढ्वे–'लिह्', लट्, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्', 'शप्', शब्लुक्, 'हो ढः' से 'ह्' को 'ढ्', 'ष्टुना ष्टुः' से 'ध्वम्' के 'ध्' को 'ढ्', 'ढो ढे लोपः' से ढकार का ढकार परे रहते लोप, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य०' से ढकार-लोप का निमित्त ढकार परे होने पर पूर्व 'अण्' (इ) को दीर्घ और टिभाग को एत्व होकर 'लीढ्वे' रूप सिद्ध होता है।

लिलेह

लिह्	'परोक्षे लिट्' से परोक्ष भूत अर्थ में विद्यमान धातु से 'लिट्', परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां णलतु०' से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप और 'लिटि धातो०' से लिट् परे रहते 'लिह्' को द्वित्व हुआ
लिह् लिह् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
लि लिह् अ	'पुगन्तलघू०' से लघूपध अङ्ग के 'इक्' को गुण होकर
लिलेह	रूप सिद्ध होता है।

लिलिहे–'लिह्', लिट् लकार, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्' आदेश, अपित् 'त' प्रत्यय के 'असंयोगाल्लिट् कित्' से कित् होने के कारण 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध होने पर शेष द्वित्वादि कार्य 'लिलेह' के समान जानें।

लेढासि–'लिह्', लुट् लकार, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'तासस्त्योर्लोपः' से 'सि' परे रहते 'तास्' के सकार का लोप, 'पुगन्तलघू०' से गुण, 'हो ढः' से 'ह्' को 'ढ्', 'झषस्तथो०' से 'त्' को 'ध्', 'ष्टुना ष्टुः' से 'ध्' को 'ढ्' और 'ढो ढे लोपः' से ढकार का लोप होकर 'लेढासि' रूप सिद्ध होता है।

लेढासे–'लिह्', लुट्, आत्मनेपद, म० पु०, एक व० में 'थास्' को 'थासः से' से 'से' आदेश होकर शेष कार्य 'लेढासि' के समान ही जानें।

लेक्ष्यति, लेक्ष्यते–'लिह्' धातु से परस्मैपद तथा आत्मनेपद, लृट् लकार, प्र० पु०, एक व० में क्रमशः 'तिप्' और 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'पुगन्तलघू०' से लघूपध अङ्ग के इक् को गुण, 'हो ढः' से हकार को ढकारादेश, 'षढोः कः सि' से सकारादि प्रत्यय परे रहते ढकार को ककारादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य षकारादेश, आत्मनेपद में 'टित आत्मने०' से टिभाग को एत्व विशेष होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

लेढु–'लिह्', लोट् लकार, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'लेढि' रूप बनने पर 'एरुः' से लोट्-सम्बन्धी इकार को उकारादेश होकर 'लेढु' रूप सिद्ध होता है।

लीढाम्–'लिह्', लोट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'शप्', शब्लुक्, 'लोटो लङ्वत्' से 'लोट्' को 'लङ्' के समान मानने पर 'तस्थस्थ०' से 'तस्' को 'ताम्' आदेश, 'हो ढः' से 'ह्' को 'ढ्' आदेश, 'झषस्तथो०' से 'त्' को 'ध्', 'ष्टुना ष्टुः' से 'ध्' को 'ढ्', 'ढो ढे लोपः' से ढकार का लोप और 'ढ्रलोपे०' से पूर्व 'अण्' (इकार) को दीर्घ होकर 'लीढाम्' रूप सिद्ध होता है।

लिहन्तु–'लिह्', लोट्, परस्मैपद, प्र० पु०, बहु व० में 'लिहन्ति' रूप बनने पर पूर्ववत् 'एरुः' से इकार को उकार होकर 'लिहन्तु' रूप सिद्ध होता है।

लीढि–'लिह्', लोट्, परस्मैपद, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'शप्', शब्लुक्, 'सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को अपित् 'हि' आदेश, 'हो ढः' से हकार को ढकारादेश, 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से 'हि' के 'धि' आदेश, 'ष्टुना ष्टुः' से 'ध्' को 'ढ्' आदेश, 'ढो ढे लोपः' से ढकार का ढकार परे रहते लोप, 'ढ्रलोपे०' से पूर्व 'अण्' को दीर्घ होकर 'लीढि' रूप सिद्ध होता है।

लेहानि–'लिह्', लोट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्', 'शप्', शब्लुक्, 'मेर्निः' से 'मि' को 'नि', 'आडुत्तमस्य पिच्च' से उत्तम पुरुष (नि) को पित् 'आट्' आगम होने पर 'पुगन्तलघू०' से गुण होकर 'लेहानि' रूप सिद्ध होता है।

लीढाम्–'लिह्', लोट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'लीढे' बनने पर 'आमेतः' से लोट् सम्बन्धी एकार को 'आम्' आदेश होकर 'लीढाम्' रूप सिद्ध होता है।

अलेट्/अलेड्–'लिह्', लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', शब्लुक्, 'इतश्च' से इकार का लोप, 'पुगन्तलघू०' से गुण, 'अट्' आगम, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर अपृक्त तकार का लोप होने पर 'अ+लिह्' इस स्थिति में 'हो ढः' से पदान्त में 'ह्' को 'ढ्', 'झलां जशोऽन्ते' से 'ढ्' को 'ड्', 'वाऽवसाने' से 'ड्' को विकल्प से 'ट्' होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

अलीढ–'लिह्', लङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', शब्लुक्, 'अट्' आगम, 'हो ढः' से ढत्व, 'झषस्तथो०' से 'त्' को 'ध्', 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व, 'ढो ढे लोपः' से ढकार-लोप और 'ढ्रलोपे०' से पूर्व 'अण्' को दीर्घ होकर 'अलीढ' रूप सिद्ध होता है।

अलिक्षत्–'लिह्', लुङ्, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में क्रमशः 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'शल इगुपधा०' से शलन्त इगुपध धातु से उत्तर अनिट् 'च्लि' को 'क्स' आदेश, 'हो ढः' से 'ह्' को 'ढ्', 'षढोः कः सि' से ढकार को ककारादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व और 'अट्' आगम होकर 'अलिक्षत्' रूप सिद्ध होता है।

अलिक्षत–'लिह्', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लुग्वा दुहदिह०' से जब 'क्स' का वैकल्पिक लुक् नहीं हुआ तो 'अलिक्षत्' के समान 'अलिक्षत' सिद्ध होता है।

अलीढ–जब 'क्स' प्रत्यय का 'लुग्वादुहदिहलिह०' से विकल्प से लुक् होता है तब 'अलीढ' रूप पूर्ववत् ही जानें।

अलेक्ष्यत्/अलेक्ष्यत–'लिह्' धातु से लृङ्, परस्मैपद और आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में क्रमशः 'तिप्' तथा 'त' प्रत्यय, 'स्यतासी०' से 'स्य', 'हो ढः' से 'ह्' को 'ढ्', 'षढोःकःसि' से 'ढ्' को 'क्', 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व, 'पुगन्तलघू०' से गुण और 'अट्' आगम होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

५९३. ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः ३।४।८४

ब्रुवो लटस्तिबादीनां पञ्चानां णलादयः पञ्च वा स्युर्ब्रुवश्चाहादेशः। आह। आहतुः। आहुः।

प० वि०–ब्रुवः ५।१।। पञ्चानाम् ६।३।। आदितः अ०।। आहः १।१।। ब्रुवः ६।१।।

अनु०–परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः, वा, लटः।

अर्थः–**'ब्रू'** (व्यक्तायां वाचि–स्पष्ट बोलना) धातु से उत्तर लट्स्थानीय **तिप्, तस्, झि, सिप्** और **थस्** इन पाँच प्रत्ययों के स्थान पर क्रमशः **णल्, अतुस्, उस्, थल्** और **अथुस्** आदेश विकल्प से होते हैं, णलादि आदेश होने के साथ ही **'ब्रू'** को **'आह्'** आदेश भी होता है।

आह

ब्रू	'वर्त्तमाने लट्' से 'लट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
ब्रू तिप्	'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' से 'ब्रू' धातु से उत्तर 'तिप्' को विकल्प से 'णल्' आदेश तथा 'ब्रू' धातु को 'आह्' आदेश हुआ
आह् णल्	'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से शप् का लुक्, अनुबन्ध–लोप
आह् अ	संहिता होने पर
आह	रूप सिद्ध होता है।

आहतुः–'ब्रू' धातु से लट्, प्र० पु० द्वि व० में 'तस्', 'ब्रुवः पञ्चानामादित०' से 'तस्' को विकल्प से 'अतुस्' तथा 'ब्रू' को 'आह्' आदेश, 'शप्', शब्लुक्, 'ससजुषो०' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर 'आहतुः' रूप सिद्ध होता है।

आहुः–ब्रू, लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'ब्रुवः पञ्चानामादित०' से 'झि' को 'उस्' तथा 'ब्रू' धातु को 'आह्' आदेश, 'शप्', शब्लुक्, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'आहुः' रूप सिद्ध होता है।

५९४. आहस्थः ८।२।३५

झलि परे। चत्वर्म्। आत्थ। आहथुः।

प० वि०–आहः ६।१।। थः १।१।। **अनु०**–झलि।

अर्थः–'झल्' परे रहते 'आह्' के अन्तिम अल् हकार को थकारादेश होता है।

आत्थ–'ब्रू' धातु, लट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'ब्रुवः पञ्चानामादित०' से 'थल्' तथा 'ब्रू' को 'आह्' आदेश, 'शप्', शब्लुक्, 'आहस्थः' से 'झल्' (थकार) परे रहते 'आह्' के अन्तिम अल् 'ह्' को 'थ्' आदेश और 'खरि च' से चर्त्व (थ् को त्) होकर 'आत्थ' रूप सिद्ध होता है।

आहथुः–'ब्रू' धातु, लट्, म० पु०, द्वि व० में 'थस्' को 'ब्रुवः पञ्चानामादित०' से 'अथुस्' तथा 'ब्रू' को 'आह्' आदेश होकर 'आहतुः' के समान ही 'आहथुः' रूप जानें।

५९५. ब्रुव ईट् ७।३।९३

ब्रुवः परस्य हलादेः पित ईट् स्यात्। ब्रवीति। ब्रूतः। ब्रुवन्ति। ब्रूते। ब्रुवाते। ब्रूवते।

प० वि०–ब्रुवः ५।१।। ईट् १।१।। **अनु०**–पिति, सार्वधातुके, हलि।

अर्थः–'ब्रू' धातु से उत्तर हलादि पित् सार्वधातुक को 'ईट्' आगम होता है।

ब्रवीति

ब्रू	'वर्त्तमाने लट्' से 'लट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', शब्लुक्, अनुबन्ध-लोप
ब्रू ति	जब 'ब्रुवः पञ्चानामादित०' से विकल्प से 'आह्' आदेश नहीं हुआ तो 'ब्रुव ईट्' से 'ब्रू' से उत्तर हलादि पित् सार्वधातुक (ति) को 'ईट्' आगम हुआ
ब्रू ईट् ति	अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण और 'एचोऽयवायावः' से 'ओ' को 'अव्' आदेश होकर
ब्रवीति	रूप सिद्ध होता है।

ब्रूतः–'ब्रू' धातु, लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'शप्', शब्लुक्, 'सार्वधातुकमपित्' से 'तस्' के ङित् होने पर 'क्ङिति च' से गुण का निषेध, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'ब्रूतः' रूप सिद्ध होता है।

ब्रुवन्ति–'ब्रू' धातु, लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' के 'झ्' को 'झोऽन्तः' से 'अन्त्' आदेश, 'शप्', शब्लुक् और 'अचि श्नुधातु०' से उकार को 'उवङ्' आदेश होकर 'ब्रुवन्ति' रूप सिद्ध होता है।

ब्रूते–'ब्रू', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', शब्लुक् और 'टित आत्मने०' से टिभाग को एत्व होकर 'ब्रूते' रूप सिद्ध होता है।

ब्रुवाते, ब्रुवते–'ब्रू', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'आताम्' और 'झ' आने पर 'आत्मनेपदेष्वनतः' से 'झ्' को 'अत्', 'शप्', शब्लुक्, 'अचि श्नुधातु०' से

'उवङ्' आदेश और दोनों रूपों में 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'ब्रुवाते' और 'ब्रुवते' रूप सिद्ध होते हैं।

५९६. ब्रुवो वचिः २।४।५३

आर्धधातुके। उवाच, ऊचतुः, ऊचुः। उवचिथ, उवक्थ। ऊचे। वक्तासि, वक्तासे। वक्ष्यति, वक्ष्यते। ब्रवीतु, ब्रूतात्। ब्रुवन्तु। ब्रूहि। ब्रवाणि। ब्रूताम्। ब्रवै। अब्रवीत्, अब्रूत। ब्रूयात्, ब्रुवीत। उच्यात्, वक्षीष्ट।

प० वि०—ब्रुवः ६।१।। वचि : १।१।। अनु०—आर्धधातुके।

अर्थः—आर्धधातुक के विषय में 'ब्रू' के स्थान पर 'वच्' आदेश होता है। अर्थात् आर्धधातुक आने से पहले ही 'ब्रू' को 'वच्' हो जाता है।

उवाच

ब्रू	'लिट्' आर्धधातुक संज्ञक आयेगा इसकी विवक्षा होने पर 'ब्रुवो वचिः' से 'ब्रू' धातु को 'वच्' आदेश हुआ
वच्	'लिट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
वच् अ	'लिटि धातो०' से 'लिट्' परे रहते 'वच्' को द्वित्व हुआ
वच् वच् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
व वच् अ	'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' से 'लिट्' परे रहते 'वच्' के अभ्यास को सम्प्रसारण, 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से 'व्' के स्थान पर 'उ' आदेश हुआ
उ अ वच् अ	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण से उत्तरवर्ती अकार को पूर्वरूप एकादेश और 'अत उपधायाः' से उपधाभूत अकार को वृद्धि होकर
उवाच	रूप सिद्ध होता है।

ऊचतुः—'ब्रू', 'ब्रुवो वचिः' से 'आर्धधातुक' के विषय में 'ब्रू' धातु को 'वच्' आदेश, लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', परस्मैपदानां णलतु०' से 'तस्' को 'अतुस्' आदेश, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'अतुस्' के कित् होने से 'वच्' को 'वचिस्वपियजादीनां०' से सम्प्रसारण तथा 'लिटि धातो०' से द्वित्व एक साथ प्राप्त हुए, 'सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्' परिभाषा के अनुसार द्वित्व को बाध कर सम्प्रसारण तथा 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप पहले हुआ, तदनन्तर 'लिटि धातो०' से 'उच्' को द्वित्व, 'हलादिः शेषः' से आदि 'हल्' शेष, 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'ऊचतुः' रूप सिद्ध होता है।

ऊचुः–'ब्रू', 'ब्रुवो वचिः' से आर्धधातुक 'लिट्' के विषय में 'ब्रू' को 'वच्', लिट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'परस्मैपदानां०' से 'झि' को 'उस्' होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'ऊचतुः' के समान जानें।

उवचिथ–'ब्रू' धातु, 'ब्रुवो वचिः' से 'वच्' आदेश, लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'थल्', क्रादिनियम से प्राप्त 'इट्' को बाधकर 'उपदेशेऽत्वतः' से 'थल्' को 'इट्' का नित्य निषेध प्राप्त होने लगा तब 'ऋतो भारद्वाजस्य' से विकल्प से 'इट्' हुआ। 'उवाच' के समान द्वित्व, सम्प्रसारणादि कार्य होकर 'उवचिथ' रूप सिद्ध होता है।

उवक्थ–'ब्रू' को 'वच्' आदेश, लिट्, 'थल्' को 'इट्' अभाव पक्ष में 'चोः कुः' से कुत्व होकर 'उवक्थ' रूप सिद्ध होता है।

ऊचे–'ब्रू' धातु को 'वच्' आदेश, लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्' होकर 'ऊचतुः' के समान, सम्प्रसारण, द्वित्व तथा दीर्घ आदि होकर 'ऊचे' रूप सिद्ध होता है।

वक्तासि–'ब्रू' को 'वच्', लुट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'तासस्त्योर्लोपः' से सकारादि प्रत्यय परे रहते 'तास्' के सकार का लोप और 'चोः कुः' से कुत्व होकर 'वक्तासि' रूप सिद्ध होता है।

वक्तासे–'ब्रू' धातु को 'वच्' आदेश, लुट्, आत्मनेपद, म० पु०, एक व० में 'थास्' को 'थासः से' से 'से' आदेश होने पर शेष कार्य 'वक्तासि' के समान जानें।

वक्ष्यति, वक्ष्यते–'ब्रू' धातु, 'ब्रुवो वचिः' से 'वच्' आदेश, परस्मैपद और आत्मनेपद, लृट्, प्र० पु०, एक व० में क्रमशः 'तिप्' और 'त' आने पर 'स्यतासी०' से 'स्य', 'चोःकुः' से कुत्व, 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व तथा 'त' के टिभाग को 'टित आत्मने०' से एत्व होकर 'वक्ष्यति' और 'वक्ष्यते' रूप सिद्ध होते हैं।

ब्रवीतु–'ब्रू', लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', शब्लुक्, 'ब्रुव ईट्' से हलादि पित् सार्वधातुक को 'ईट्' आगम, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा 'एचोऽयवा०' से 'ओ' को अवादेश होकर 'ब्रवीति' रूप बनने पर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर 'ब्रवीतु' रूप सिद्ध होता है।

ब्रूतात्–जब 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लोट्' होगा तब इकार को 'एरुः' से उकार होने पर 'तुह्योस्तातङ्ङा०' से 'तु' को 'तातङ्' आदेश होकर 'ब्रूतात्' रूप सिद्ध होता है।

ब्रुवन्तु–'ब्रू', लोट्, प्र० पु०, बहु व० में लट् के समान 'ब्रुवन्ति' बनने पर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर 'ब्रुवन्तु' रूप सिद्ध होता है।

ब्रूहि–'ब्रू', लोट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'शप्', शब्लुक्, 'सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' के स्थान पर अपित् 'हि' आदेश होकर 'ब्रूहि' रूप सिद्ध होता है।

ब्रवाणि–'ब्रू', लोट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्', 'शप्', शब्लुक्, 'मेर्निः' से 'मि' को 'नि', 'आडुत्तमस्यपिच्च' से 'आट्', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'एचोऽयवा०' से 'अव्' आदेश तथा 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर 'ब्रवाणि' रूप सिद्ध होता है।

ब्रूताम्–'ब्रू', लोट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में लट् के समान के 'ब्रूते' रूप बनने पर 'आमेतः' से 'ए' को 'आम्' होकर 'ब्रूताम्' रूप सिद्ध होता है।

ब्रवै–'ब्रू', लोट्, आत्मनेपद, उ० पु०, एक व० में 'इट्', पूर्ववत् 'शप्', शब्लुक्, 'आडुत्तमस्यपिच्च' से उत्तम पुरुष को पित् 'आट्' आगम, 'टित आत्मने०' से एत्व, 'एत ऐ' से लोट् सम्बन्धी एकार को ऐकार, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'एचोऽयवायावः' से अवादेश तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'ब्रवै' रूप सिद्ध होता है।

अब्रवीत्

ब्रू	लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', शब्लुक्, अनुबन्ध-लोप और 'इतश्च' से इकार-लोप हुआ
ब्रू त्	'ब्रुव ईट्' से 'ब्रू' से उत्तर हलादि पित् सार्वधातुक को 'ईट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
ब्रू ई त्	'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा 'एचोऽयवा०' से 'ओ' को अवादेश हुआ
ब्रव् ईत्	'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर
अब्रवीत्	रूप सिद्ध होता है।

अब्रूत–'ब्रू', लङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', शब्लुक् तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर 'अब्रूत' रूप सिद्ध होता है।

ब्रूयात्–'ब्रू', 'विधिनिमन्त्रण०' से 'लिङ्', परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार का लोप, 'शप्', शब्लुक्, 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से 'यासुट्' आगम, 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' आगम, 'लिङः सलोपो०' से दोनों सकारों का लोप होकर 'ब्रूयात्' सिद्ध होता है।

ब्रुवीत–'ब्रू', विधि लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', शब्लुक्, 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' और 'लिङः सलोपो०' से दोनों सकारों का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप और 'अचि श्नुधातु०' से ऊकार को 'उवङ्' आदेश होकर 'ब्रुवीत' रूप सिद्ध होता है।

उच्यात्–आर्धधातुक के विषय में 'ब्रुवो वचि' से 'ब्रू' को 'वच्' आदेश, 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट्', 'सुट्', 'किदाशिषि' से 'यासुट्' के कित् होने पर 'वचिस्वपि०' से सम्प्रसारण 'व्' को 'उ' आदेश, 'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप एकादेश और 'स्कोः संयोगाद्यो०' से दोनों सकारों का लोप होकर 'उच्यात्' रूप सिद्ध होता है।

वक्षीष्ट–'ब्रू' धातु को 'वच्' आदेश होने पर 'आशिषि लिङ्', आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट् आगम, 'चोः कुः' से कुत्व, 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'वक्षीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

५९७. अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् ३।१।५२

एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्।

प० वि०–अस्यतिवक्तिख्यातिभ्यः ५।३।। अङ् १।१।। **अनु०**–कर्तरि, लुङि, च्लेः।

अर्थः–कर्तृवाची लुङ् परे रहते **अस्** (क्षेपणे-फेंकना), **वच्** (परिभाषणे-बोलना) और **ख्या** (प्रकथने-कहना) धातुओं से उत्तर **'च्लि'** के स्थान पर **'अङ्'** आदेश होता है।

५९८. वच उम् ७।४।२०

अङि परे। अवोचत्, अवोचत। अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत। (ग० सू०) चर्करीतं च। चर्करीतमिति यङ्लुगन्तं, तददादौ बोध्यम्। ऊर्णुञ् आच्छादने।२५।

प० वि०–वचः ६।१।। उम् १।१।। **अनु०**–अङि, अङ्गस्य।

अर्थः–**'वच्'** (परिभाषणे-बोलना) अङ्ग को **'उम्'** आगम होता है, 'अङ्' परे रहते।

अवोचत्

वच्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'अस्यतिवक्तिख्या०' से 'वच्' से उत्तर 'च्लि' को 'अङ्' आदेश हुआ
वच् अङ् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप
वच् अ त्	'वच उम्' से 'अङ्' परे रहते 'वच्' को 'उम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से मित् आगम अन्तिम अच् से परे हुआ
व उम् च् अ त्	अनुबन्ध-लोप, 'आद् गुणः' से गुण तथा 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अवोचत्	रूप सिद्ध होता है।

अवोचत–'वच्', आत्मनेपद, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त' प्रत्यय आने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

अवक्ष्यत, अवक्ष्यत–'वच्', लृङ् लकार, दोनों पदों में प्र० पु०, एक व० में क्रमशः 'तिप्' और 'त' प्रत्यय, 'स्यतासी०' से 'स्य', 'चोःकुः' से चवर्ग (च्) को कवर्ग (क्) आदेश, 'आदेशप्रत्यय०' से सकार को मूर्धन्यादेश तथा अडागम होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

(ग० सू०) चर्करीतञ्च—चर्करीत अर्थात् यङ्लुगन्त धातु को भी अदादि गण में पढ़ना चाहिए। अर्थात् यङ्लुगन्त धातुओं से अदादि गण की धातुओं के समान शब्लुक् आदि कार्य जानने चाहिएं।

५९९. ऊर्णोतेर्विभाषा ७।३।९०

वा वृद्धिः स्याद् हलादौ पिति सार्वधातुके। ऊर्णौति, ऊर्णोति। ऊर्णुतः, ऊर्णुवन्ति। ऊर्णुते। ऊर्णुवाते, ऊर्णुवते। (वा०) ऊर्णोतेराम् नेति वाच्यम्।

प० वि०—ऊर्णोतेः ६।१।। विभाषा १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, पिति, सार्वधातुके, हलि, वृद्धिः।

अर्थः—ऊर्णुञ् (आच्छादने-ढकना) धातु (अङ्ग) को हलादि पित् (तिप्, सिप्, मिप्) सार्वधातुक परे रहते विकल्प से वृद्धि होती है।

ऊर्णौति—'ऊर्णु' धातु से 'लट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', शब्लुक्, 'ऊर्णोतेर्विभाषा' से हलादि पित् सार्वधातुक 'तिप्' प्रत्यय परे रहते विकल्प से वृद्धि होकर 'ऊर्णौति' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णोति—जब 'ऊर्णोतेर्विभाषा' से वृद्धि नहीं हुई तो 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण होकर 'ऊर्णोति' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णुतः—'ऊर्णु', लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'शप्', शब्लुक् तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'ऊर्णुतः' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णुवन्ति—'ऊर्णु' धातु से लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'झोऽन्तः' से 'झ्' को अन्तादेश, 'शप्', शब्लुक् और 'अचि श्नुधातु०' से उकार को 'उवङ्' आदेश होकर 'ऊर्णुवन्ति' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णुते, ऊर्णुवाते, ऊर्णुवते—'ऊर्णु' धातु से लट्, आत्मनेपद, प्र० पु० के तीनों वचनों में टिभाग को 'टित आत्मनेपदाना०' से एत्व तथा अजादि प्रत्ययों में 'अचि श्नु-धातु०' से 'उवङ्' आदेश होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

(वा०) ऊर्णोतेराम् नेतिवाच्यम्—**अर्थ**— 'ऊर्णुञ्' धातु से 'आम्' नहीं होता ऐसा कहना चाहिए। अर्थात् 'ऊर्णुञ्' धातु से लिट् परे रहते 'इजादेश्चगुरुमतो०' से जो 'आम्' होता है उसका निषेध करना चाहिए।

६००. न न्द्राः संयोगादयः ६।१।३

अचः पराः संयोगादयो नदरा द्विर्न भवन्ति। नु शब्दस्य द्वित्वम्—ऊर्णुनाव, ऊर्णुनुवतुः, ऊर्णुनुवुः।

प० वि०—न अ०।। न्द्राः ।१।३।। संयोगादयः १।३।। **अनु०**—एकाचो, द्वे, द्वितीयस्य।

अर्थः—अच् से उत्तर संयोग के आदि नकार, दकार और रेफ को द्वित्व नहीं होता, अर्थात् द्वितीय एकाच् समुदाय में जो संयोग का आदि नकार, दकार और रेफ उसको द्वित्व नहीं होता।

इस प्रकार 'ऊर्णु' धातु में 'णु' शब्द को ही द्वित्व होता है। संयोग के आदि वर्ण रेफ को नहीं।

ऊर्णुनाव

ऊर्णुञ्	अनुबन्ध-लोप, लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
ऊर्णु अ	'इजादेश्च गुरुमतो०' से इजादि गुरुमान् 'ऊर्णु' धातु को लिट् परे रहते 'आम्' प्राप्त था, जिसका 'ऊर्णोतेराम् नेति वाच्यम्' वार्त्तिक से निषेध हुआ। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से होने वाला द्वित्व, 'अजादेर्द्वितीयस्य' से अजादि धातु के द्वितीय एकाच् समुदाय 'र्ण' को प्राप्त था, किन्तु 'न न्द्राः संयोगादयः' से अच् से उत्तर संयोग के आदि में रेफ को द्वित्व का निषेध होने पर 'नु' भाग को द्वित्त्व हुआ। यहाँ 'र्णु' में रेफ के कारण ही 'रषाभ्यां नो णः०' से 'न्' को 'ण्' हुआ था, 'निमित्तापाये०' परिभाषा से णत्व के निमित्त रेफ के हट जाने पर उसका कार्य णत्व भी हट गया। इस प्रकार 'नु' भाग को द्वित्व हुआ
ऊर्णु नु अ	'अचो ञ्णिति' से उकार को वृद्धि 'औ' तथा 'एचोऽयवायावः' से 'औ' को आवादेश होकर
ऊर्णुनाव	रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णनुवतुः–'ऊर्णु', लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'परस्मैपदानां०' से 'अतुस्', पूर्ववत् 'ऊर्णोतेराम् नेति०' से 'आम्' का निषेध, 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व, 'न न्द्राः संयोगादयः' से संयोग के आदि रेफ को द्वित्व का निषेध होने पर 'नु' भाग को द्वित्व, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'लिट्' के कित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध, 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से उकार को 'उवङ्' आदेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'ऊर्णुनुवतुः' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णुनुवुः–'ऊर्णु', लिट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'परस्मैपदानां णलतु०' से 'झि' को 'उस्' होकर शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

६०१. विभाषोर्णोः १।२।३

इडादिप्रत्ययो वा ङित् स्यात्। ऊर्णुनुविथ, ऊर्णुनविथ। ऊर्णुविता, ऊर्णविता। ऊर्णुविष्यति, ऊर्णविष्यति। ऊर्णोतु, ऊर्णौतु। ऊर्णवानि, ऊर्णवै।

प० वि०–विभाषा १।१। ऊर्णोः ५।१।। अनु०–ङित्, इट्।

अर्थः–'ऊर्णुञ्' धातु से उत्तर इडादि प्रत्यय विकल्प से ङिद्वत् होते हैं।

ऊर्णुनुविथ–'ऊर्णु' धातु से लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'परस्मैपदानां णलतु० से 'थल्', इडागम, 'विभाषोर्णोः' से इडादि प्रत्यय 'थल्' के विकल्प से ङित होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध और 'अचि श्नुधातु०' से 'उवङ्' आदेश होकर 'ऊर्णुनुविथ' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णुविता-ऊर्णविता–'ऊर्णु' धातु से लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा', डित्करण सामर्थ्य से टिभाग (आस्) का लोप, इडागम, 'विभाषोर्णोः' से इडादि प्रत्यय के विकल्प से ङित्वत् होने पर 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होकर 'अचि श्नुधातु०' से उवङादेश होने पर 'ऊर्णुविता' तथा गुण और अवादेश होकर 'ऊर्णविता' रूप सिद्ध होते हैं।

ऊर्णुविष्यति, ऊर्णविष्यति–'ऊर्णु' धातु से लृट् लकार में भी 'तिप्', 'स्य', 'इट्' षत्व आदि होकर 'विभाषोर्णोः' से इडादि प्रत्यय के ङित् पक्ष में उवङादेश होकर 'ऊर्णुविष्यति' तथा ङिद्भाव पक्ष में गुण, अवादेश होकर 'ऊर्णविष्यति' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णौतु, ऊर्णोतु–'ऊर्णुञ्' धातु से लोट्, प्र० पु०, एक व० में लट् लकार के समान 'ऊर्णोतेर्विभाषा' से हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते विकल्प से वृद्धि तथा पक्ष में 'सार्वधाकार्ध०' से गुण होकर ऊर्णौति तथा ऊर्णोति बनने पर 'एरुः' से लोट् सम्बन्धी इकार को उकारादेश होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

ऊर्णवानि–'ऊर्णु' धातु से लोट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्', 'मेर्निः' से 'मि' को 'नि', 'आडुत्तमस्य पिच्च' से उ० पु० संज्ञक 'नि' को पित् 'आट्' का आगम, सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा अवादेश होकर 'ऊर्णवानि' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णवै–'ऊर्णु' धातु से लोट्, आत्मनेपद, उ० पु०, एक व० में 'इट्', 'शप्', शब्लुक्, 'आडुत्तमस्य०' से 'इट्' को पित् 'आट्' आगम, 'टित आत्मने०' से टिभाग (इ) को एत्व, 'एत ऐ' से 'ए' को 'ऐ' आदेश, 'णु' के 'उ' को 'सार्वधातु०' से गुण, 'एचोऽयवा०' से अवादेश और 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'ऊर्णवै' रूप सिद्ध होता है।

६०२. गुणोऽपृक्ते ७।३।९१

ऊर्णोतेर्गुणोऽपृक्ते हलादौ पिति सार्वधातुके। वृद्ध्यपवादः। और्णोत्, और्णोः। ऊर्णुयात्। ऊर्णुयाः। ऊर्णुवीत। ऊर्णुयात्। ऊर्णुविषीष्ट, ऊर्णविषीष्ट।

प०वि०–गुणः १।१।। अपृक्ते ७।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, पिति, सार्वधातुके, हलि, ऊर्णोतेः।

अर्थः–अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक परे हो तो 'ऊर्णु' अङ्ग को गुण होता है। यह सूत्र 'ऊर्णोतेर्विभाषा' (५९९) से प्राप्त वैकल्पिक वृद्धि का अपवाद है।

और्णोत्–'ऊर्णु' धातु से लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार का लोप, 'शप्', शब्लुक्, 'गुणोऽपृक्ते' से अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय 'त्' परे रहते 'ऊर्णु' को गुण, 'आडजादीनाम्' से अजादि धातु को 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'और्णोत्' रूप सिद्ध होता है।

और्णोः–'ऊर्णु', लङ्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', पूर्ववत् इकार–लोपादि होकर 'गुणोऽपृक्ते' से गुण, 'आट्' आगम, 'आटश्च' से वृद्धि, सकार को रुत्व और विसर्ग होकर 'और्णोः' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णुयात्-'ऊर्णु' धातु से विधिलिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट् परस्मैपदेषु०' से यासुडागम, 'सुट् तिथोः' से लिङ् सम्बन्धी तकार को 'सुट्' आगम, 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप तथा यासुट् के ङित् होने से गुण का अभाव होने पर 'ऊर्णुयात्' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णुयाः–'ऊर्णु', 'विधि निमन्त्रणामन्त्रण०' से लिङ्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से 'यासुट्' आगम, 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप, 'सिप्' के सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'ऊर्णुयाः' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णुवीत–'ऊर्णु' धातु से विधि लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्' आगम, 'सुट तिथोः' से तकार को 'सुट्' आगम, 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से दोनों सकारों का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'त' प्रत्यय के ङित् होने के कारण 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होने पर 'अचि श्नुधातु०' से उकार को 'उवङ्' आदेश होकर 'ऊर्णुवीत' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णूयात्–'ऊर्णु' धातु से 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से 'यासुट्' आगम, 'सुट् तिथोः' से लिङ् सम्बन्धी तकार को 'सुट्' आगम, 'स्कोः संयोगाद्यो०' से दोनों सकारों का लोप, 'अकृत्सार्वधातुकयोः०' से 'कृत्' तथा 'सार्वधातुक' से भिन्न यकारादि प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ होकर 'ऊर्णूयात्' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णुविषीष्ट-ऊर्णविषीष्ट–'ऊर्णु' धातु से आशीर्लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सीयुट्' तथा 'सुट्' आगम, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'विभाषोर्णोः, से इडादि प्रत्यय विकल्प से 'ङित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होने पर 'अचि श्नुधातु०' से उवङादेश होकर 'ऊर्णुविषीष्ट' तथा ङिदभाव पक्ष में गुण तथा अवादेश होकर 'ऊर्णविषीष्ट' रूप सिद्ध होते हैं।

६०३. ऊर्णोतेर्विभाषा ७।२।६

इडादौ परस्मैपदे परे सिचि वा वृद्धिः। पक्षे गुणः। और्णावीत्, और्णवीत्। और्णुवीत्। और्णाविष्टाम्, और्णविष्टाम्, और्णुविष्टाम्। और्णुविष्ट, और्णविष्ट। और्णुविष्यत्, और्णविष्यत्।

इत्यदादयः।

प० वि०–ऊर्णोतेः ६।१।। विभाषा १।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, सिचि, वृद्धिः, परस्मैपदेषु, इटि।

अर्थः–परस्मैपदपरक इडादि 'सिच्' परे रहते 'ऊर्णु' धातु (अङ्ग) को विकल्प से वृद्धि होती है। अर्थात् 'इको गुणवृद्धी' परिभाषा के नियम से तथा अङ्गस्य का अधिकार होने से 'ऊर्णु' अङ्ग के अन्तिम 'इक्' (उ) को वृद्धि होती है।

और्णावीत्

ऊर्णुञ्	अनुबन्ध-लोप, लुङ्, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'लुङ्' परे रहते 'च्लि' प्रत्यय, 'चलेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश हुआ
ऊर्णु सिच् त्	अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'सिच्' से उत्तर अपृक्त 'त्' को 'ईट्' आगम और 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'सिच्' को इडागम हुआ
ऊर्णु इट् स् ईट् त्	अनुबन्ध-लोप, 'ऊर्णोतेर्विभाषा' से परस्मैपदपरक इडादि 'सिच्' परे रहते 'ऊर्णु ' के अन्तिम उकार को विकल्प से वृद्धि 'औ' हुई
ऊर्णौ इ स् ई त्	'इट ईटि' से 'इट्' उत्तर सकार का लोप हुआ 'ईट्' से परे रहते
ऊर्णौ इ ई त्	'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ ईकारादेश हुआ
ऊर्णौ ई त्	'एचोऽयवायावः' से 'औ' को आवादेश, 'आडजादीनाम्' से आडगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर
और्णावीत्	रूप सिद्ध होता है।

और्णुवीत्–जब 'विभाषोर्णोः' से 'ऊर्णु' धातु से उत्तर इडादि प्रत्यय विकल्प से ङित् हुआ तो 'क्ङिति च' से गुणवृद्धी का निषेध होने पर 'अचि श्नुधातु०' से 'उवङ्' आदेश होकर 'और्णुवीत्' रूप सिद्ध होता है।

और्णवीत्–ङिद्भाव पक्ष में जब 'ऊर्णोतेर्विभाषा' से वैकल्पिक वृद्धि नहीं हुई तब 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा अवादेश होकर 'और्णवीत्' रूप सिद्ध होता है।

और्णाविष्टाम्, और्णुविष्टाम्, और्णविष्टाम्–'ऊर्णु' धातु से 'लुङ्', प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' आदेश, 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'ऊर्णोतेर्विभाषा' से विकल्प से वृद्धि, 'एचोऽयवायावः' से 'आव्' आदेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व, 'ष्टुना ष्टुः' से 'त्' को 'ट्', 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम और 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'और्णाविष्टाम्', वृद्धि के अभाव पक्ष में 'विभाषोर्णोः' से विकल्प से ङित्व होने पर गुण-निषेध तथा 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से उवङादेश होकर 'और्णुविष्टाम्' तथा ङिद्भाव पक्ष में गुण तथा अवादेश होकर 'और्णविष्टाम्' रूप सिद्ध होते हैं।

और्णुविष्ट, और्णविष्ट–'ऊर्णु' धातु से लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सिच्', 'सिच्' को 'इट्' आगम होने पर 'विभाषोर्णोः' से इडादि-प्रत्यय 'सिच्' के विकल्प से ङित् होने पर ङित्पक्ष में 'अचि श्नुधातु०' से उवङादेश तथा ङिद्भाव पक्ष में 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण और अवादेश होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

और्णाविष्यत, और्णविष्यत्–'ऊर्णु' धातु से लृङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्',

'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'विभाषोर्णोः' से इडादि प्रत्यय 'स्य' विकल्प से ङित् हुआ, ङित्पक्ष में 'क्ङिति च' से गुण- निषेध होने से 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से उवङादेश तथा ङित् अभाव पक्ष में गुण और अवादेश होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

और्णुविष्यत, और्णविष्यत–'ऊर्णु' धातु से लृङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' प्रत्यय होकर शेष कार्य पूर्ववत् जानें।

॥ अदादिगण समाप्त॥

अथ जुहोत्यादिगणः

हु दानादनयोः।१।

६०४ जुहोत्यादिभ्यः श्लुः २।४।७५

शपः श्लुः स्यात्।

प० वि०—जुहोत्यादिभ्यः ५।३।। श्लुः १।१।। **अनु०**—शपः।

अर्थः—**हु** (दानादनयोः–देना और खाना) आदि धातुओं से उत्तर **'शप्'** को **'श्लु'** आदेश (लोप) हो जाता है।[१]

६०५. श्लौ ६।१।१०

धातोर्द्वे स्तः। जुहोति। जुहुतः।

प० वि०—श्लौ ७।१।। च अ०।। **अनु०**—धातोः, अनभ्यासस्य, द्वे।

अर्थः—श्लु परे रहते अनभ्यास (जिस की अभ्यास संज्ञा न हुई हो) धातु को द्वित्व हो जाता है।

जुहोति

हु	'वर्त्तमाने लट्' से 'लट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' से 'हु' धातु से उत्तर 'शप्' को 'श्लु' आदेश अर्थात् अदर्शन हुआ
हु ति	'श्लौ' से 'श्लु' परे रहते अनभ्यास 'हु' धातु को द्वित्व हुआ
हु हु ति	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में हकार को चवर्गादेश (झ्) हुआ
झु हु ति	'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में 'झल्' को 'जश्' अर्थात् 'झ्' को 'ज्' आदेश हुआ
जु हु ति	'सार्वधातुकार्ध०' से सार्वधातुक 'ति' परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण होकर
जुहोति	रूप सिद्ध होता है।

---

१. 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' से प्रत्यय के अदर्शन की 'लुक्', 'श्लु' और 'लुप्' संज्ञाएं होती हैं। अर्थात् जहाँ भी किसी प्रत्यय के स्थान में 'श्लु' आदेश किया जाये वहाँ उस प्रत्यय का अदर्शन होता है। जैसा कि 'जुहोति' आदि में जब 'शप्' के स्थान पर 'श्लु' आदेश कहा जायेगा तो वहाँ 'शप्' का अदर्शन ही होता है।

जुहुतः–'हु', लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'शप्', 'जुहोत्यादिभ्यः०' से 'शप्' को 'श्लु' आदेश, 'श्लौ' से द्वित्व, 'सार्वधातुकमपित्' से 'तस्' के ङित् होने से गुण का अभाव, 'कुहोश्चुः' से 'ह्' को 'झ्', 'अभ्यासे चर्च' से 'झ्' को 'ज्', सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'जुहुतः' रूप सिद्ध होता है।

६०६. अदभ्यस्तात् ७।१।४

झस्य अत् स्यात्। 'हुश्नुवोः०' ५०१ इति यण्–जुह्वति।

प० वि०–अत् १।१।। अभ्यस्तात् ५।१।। **अनु०**–झः, प्रत्ययादेः।

अर्थः–'अभ्यस्त' से उत्तर प्रत्यय के आदि **'झ्'** के स्थान पर **'अत्'** आदेश होता है।[1]

जुह्वति

हु	लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'कर्तरि शप्' से 'शप्' और 'जुहोत्यादिभ्यः०' से 'शप्' को 'श्लु' आदेश हुआ
हु झि	'श्लौ' से 'श्लु' परे रहते 'हु' को द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से पूर्व की 'अभ्यास' संज्ञा, 'कुहोश्चुः' से हकार को चवर्ग 'झ्' आदेश और 'अभ्यासे चर्च' से 'झ्' को 'ज्' हुआ
जुहु झि	'उभे अभ्यस्तम्' से द्वित्व हुए वर्ण समुदाय की 'अभ्यस्त' संज्ञा होने पर 'अदभ्यस्तात्' से अभ्यस्त से उत्तर 'झि' के 'झ्' को 'अत्' आदेश हुआ
जुहु अत् इ	'अचि श्नुधातु०' से प्राप्त 'उवङ्' को बाधकर 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से अजादि सार्वधातुक परे रहते 'हु' धातु के असंयोगपूर्वक उकार के स्थान में 'यण्' आदेश हुआ
जुह् व् अत् इ	संहिता होने पर
जुह्वति	रूप सिद्ध होता है।

६०७. भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च ३।१।३९

एभ्यो लिटि आम् वा स्याद् आमि श्लाविव कार्यञ्च। जुहवाञ्चकार, जुहाव। होता। होष्यति। जुहोतु, जुहुतात्, जुहुताम्, जुह्वतु। जुहुधि। जुहवानि। अजुहोत्, अजुहुताम्।

प० वि०–भीह्रीभृहुवाम् ६।३।। श्लुवत् अ० ।। च अ०।।

अनु०–आम्, लिटि, अन्यतरस्याम्।

अर्थः–'लिट्' परे रहते **भी** (भये-डरना), **ह्री** (लज्जायाम्-लज्जा करना) और **भृ** (धारणपोषणयोः-धारण या पोषण करना) धातुओं से उत्तर विकल्प से **'आम्'** प्रत्यय होता है, और 'आम्' परे रहते (धातु को) **श्लुवत्** (द्वित्व आदि) कार्य होते हैं।

1. 'उभे अभ्यस्तम्' से, जिस वर्ण समुदाय को द्वित्व किया गया है उस, द्वित्व हुए समुदित शब्द स्वरूप की 'अभ्यस्त' संज्ञा होती है।

जुहवाञ्चकार

हु	'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' लकार, लिट् परे रहते 'भीह्रीभृहुवां०' से 'आम्' प्रत्यय तथा उसे श्लुवत् मानकर 'श्लौ' से द्वित्व, 'अभ्यास' संज्ञा तथा अभ्यास में 'कुहोश्चुः' से हकार को चवर्गादेश हुआ
झु हु आम् लिट्	'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में 'झ्' को 'ज्' आदेश, 'आम्' परे रहते 'सार्वधातुका०' से उकार को गुण 'ओ' तथा 'एचोऽयवा०' से 'ओ' को अवादेश हुआ
जुहव् आम् लिट्	'आमः' से 'आम्' से उत्तर 'लिट्' का लुक् तथा 'कृञ्चानुप्रयु०' से लिट् परक 'कृ' का अनुप्रयोग हुआ
जुहव् आम् कृ लिट्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्', अनुबन्ध-लोप
जुहव् आम् कृ अ	'लिटि धातोरन०' से 'कृ' को द्वित्व, अभ्यासादि कार्य
जुहव् आम् कृ कृ अ	'उरत्' से अभ्यास में ऋवर्ण के स्थान में 'अ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
जुहव् आम् कर् कृ अ	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का 'क्' शेष रहा तथा 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में कवर्ग के स्थान में चवर्गादेश हुआ
जुहव् आम् च कृ अ	'अचो ञ्णिति' से वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'आर्' हुआ
जुहव् आम् चकार	'मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्णादेश 'ञ्' होकर
जुहवाञ्चकार	रूप सिद्ध होता है।

जुहाव—आम्-अभाव पक्ष में 'हु', लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तिप्' को 'णल्' आदेश, 'लिटि धातो०' से धातु को द्वित्व, अभ्यास कार्य, 'कुहोश्चुः' से हकार को चवर्गादेश, 'अभ्यासे चर्च' से जश्त्व, 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि 'औ' तथा 'एचोऽयवा०' से 'औ' को 'आव्' आदेश होकर 'जुहाव' रूप सिद्ध होता है।

होता—'हु', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' आदेश, डित्करण सामर्थ्य से टिभाग (आस्) का लोप तथा 'सार्वधातुका०' से गुण होकर 'होता' रूप सिद्ध होता है।

होष्यति—'हु', लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्य', गुण तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'होष्यति' रूप सिद्ध होता है।

जुहोतु—'हु', 'लोट्' लकार, प्र० पु०, एक व० में लट् के समान ही 'जुहोति' (६०५) रूप बनने पर 'एरुः' से उकारादेश होकर 'जुहोतु' रूप सिद्ध होता है।

जुहुतात्–आशीर्वाद अर्थ में 'तु' के स्थान में 'तुह्योस्तातङ्०' से 'तातङ्' आदेश, 'तातङ्' के ङित् होने से 'क्ङिति च' से गुण-निषेध होकर 'जुहुतात्' रूप सिद्ध होता है।

जुहुताम्–'हु', लोट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थ०' से 'ताम्' आदेश होकर पूर्ववत् 'शप्', श्लु, द्वित्व तथा अभ्यास-कार्य आदि पूर्ववत् जानें।

जुह्वतु–'हु', लोट्, प्र० पु०, बहु व० में लट् के समान 'जुह्वति' रूप बनने पर 'एरुः' से लोट् सम्बन्धी इकार को उकारादेश होकर 'जुह्वतु' रूप सिद्ध होता है।

जुहुधि–'हु', लोट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'शप्', 'जुहोत्यादि०' से 'शप्' को 'श्लु', पूर्ववत् 'श्लौ' से द्वित्वादि कार्य होकर 'सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को अपित् 'हि' आदेश और 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से 'हु' धातु से उत्तर 'हि' को 'धि' आदेश होकर 'जुहुधि' रूप सिद्ध होता है।

जुहवानि–'हु', लोट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्', 'मेर्निः' से 'मि' को 'नि', 'आडुत्तमस्य पिच्च' से लोट् सम्बन्धी उत्तम पुरुष को 'आट्' आगम, 'शप्', शप् को 'श्लु' आदेश, 'श्लौ' से द्वित्व तथा अभ्यास-कार्य पूर्ववत् होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

अजुहोत्–'हु', लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'शप्' को 'श्लु' आदेश, 'श्लौ' से द्वित्वादि कार्य, पूर्ववत् गुण तथा अडागम होकर 'अजुहोत्' रूप सिद्ध होता है।

अजुहुताम्–'हु', लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में लोट् के समान ही 'जुहुताम्' बनने पर अडागम होकर 'अजुहुताम्' रूप सिद्ध होता है।

६०८. जुसि च ७।३।८३

इगन्ताङ्गस्य गुणोऽजादौ जुसि। अजुहवुः। जुहुयात्। हूयात्। अहौषीत्। अहोष्यत्। ञिभी भये ।२। बिभेति।

प० वि०–जुसि ७।१।। च अ०।। **अनु०**–अचि, गुणः, अङ्गस्य।

अर्थः–अजादि 'जुस्' परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के अनुसार गुण अन्तिम 'इक्' के स्थान पर होगा।

अजुहवुः

हु	लङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, 'कुहोश्चुः' से 'ह्' को 'झ्' और 'अभ्यासे चर्च' से 'झ्' को 'ज्' हुआ
जु हु झि	'उभे अभ्यस्तम्' से 'अभ्यस्त' संज्ञा होने पर 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से 'झि' को 'जुस्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
जुहु उस्	'जुसि च' से अजादि 'उस्' प्रत्यय परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण तथा 'एचोऽयवायावः' से 'ओ' को अवादेश हुआ

जुह् अव् उस् — सकार को रुत्व, रेफ को विसर्ग तथा अडागम होकर
अजुहवुः — रूप सिद्ध होता है।

जुहुयात्–'विधिनिमन्त्रणामन्त्र०' से 'लिङ्' लकार, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'शप्' को 'श्लु', द्वित्वादिकार्य, 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से यासुडागम, 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' और 'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप होकर 'जुहुयात्' रूप सिद्ध होता है।

हूयात्–'हु', आशीर्लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' तथा यासुडादि होकर 'ऊर्णूयात्' (६०२) के समान ही सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

अहौषीत्–'हु', लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि', च्लि को 'सिच्', 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से ईडागम, 'सिचि वृद्धिः परस्मै०' से इगन्त अङ्ग को वृद्धि, 'आदेशप्रत्य०' से षत्व तथा अडागम होकर 'अहौषीत्' रूप सिद्ध होता है।

अहोष्यत्–'हु', लृङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'आदेशप्रत्य०' से षत्व तथा अडागम होकर 'अहोष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

बिभेति–'भी', लट्, प्र० पु०, एक व० में 'जुहोति' (६०५) के समान ही सभी कार्य जानें।

६०९. भियोऽन्यतरस्याम् ६।४।११५

इकारो वा स्याद् हलादौ क्ङिति सार्वधातुके। बिभितः, बिभीतः। बिभ्यति। बिभयाञ्चकार, बिभाय। भेता। भेष्यति। बिभेतु, बिभितात्, बिभीतात्। अबिभेत्। बिभियात्, बिभीयात्। भीयात्। अभैषीत्। अभेष्यत्। ह्री लज्जायाम्।३। जिह्रेति। जिह्रीतः। जिह्रियति। जिह्रयाञ्चकार। जिह्राय। ह्रेता। ह्रेष्यति। जिह्रेतु। अजिह्रेत्। जिह्रीयात्। ह्रीयात्। अह्रैषीत्। अह्रेष्यत्। पॄ पालनपूरणयोः।४।।

प० वि०–भियः६।१।। अन्यतरस्याम्७।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, इत्, हलि, क्ङिति, सार्वधातुके।

अर्थः–हलादि कित् या ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते 'भी' धातु (अङ्ग) को विकल्प से ह्रस्व इकार आदेश होता है।

बिभितः, बिभीतः–'भी', 'लट्', प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'शप्', 'जुहोत्यादिभ्यः०' से 'शप्' को 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, अभ्यास-कार्य, 'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्वादेश, यहाँ 'तस्' प्रत्यय 'सार्वधातुकमपित्' से ङित् होने से 'क्ङिति च' से गुण-निषेध, 'भियोऽन्यतरस्याम्' से हलादि ङित् सार्वधातुक 'तस्' परे रहते 'भी' धातु को विकल्प से ह्रस्व होकर 'बिभितः' तथा ह्रस्वाभाव पक्ष में 'बिभीतः' रूप सिद्ध होते हैं।

बिभ्यति

भी — लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'कर्तरि शप्' से 'शप्' तथा 'जुहोत्यादिभ्यः०' से 'शप्' को 'श्लु' होने पर 'श्लौ' से 'श्लु' परे रहते 'भी' को द्वित्व हुआ

भी भी झि	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में भकार को बकार तथा 'ह्रस्वः' से ईकार को ह्रस्व हुआ
बि भी झि	'उभे अभ्यस्तम्' से 'अभ्यस्त' संज्ञा होने पर 'अदभ्यस्तात्' से अभ्यस्त से उत्तर 'झ्' को 'अत्' आदेश हुआ
बि भी अत् इ	'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' से धातु का अवयव संयोग पूर्व में नहीं है जिसके ऐसा जो इवर्ण, तदन्त धातु जो अङ्ग उसको अजादि प्रत्यय परे रहते 'यण्' आदेश हुआ
बि भ् य् अत् इ	संहिता होने पर
बिभ्यति	सिद्ध होता है।

बिभयाञ्चकार, बिभाय—'भी' धातु से 'लिट्' में 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' से 'लिट्' परे रहते विकल्प से 'आम्' प्रत्यय, 'आम्' परे रहते श्लुवत् मानकर 'श्लौ' से द्वित्व आदि सभी कार्य 'जुहवाञ्चकार' तथा 'जुहाव' (६०७) के समान होने पर 'बिभयाञ्चकार' तथा 'बिभाय' रूप सिद्ध होते हैं।

भेता—लुट्, प्र० पु०, एक व०; **भेष्यति**—लृट्, प्र० पु०, एक व०; **बिभेतु** लोट्, प्र० पु०, एक व० इत्यादि सभी 'होता', 'होष्यति' और 'जुहोतु' (६०७) के समान जानें।

बिभितात्, बिभीतात्—यहाँ 'भियोऽन्यतरस्याम् से 'ईकार' को विकल्प से ह्रस्वादेश होकर उक्त दो रूप सिद्ध होते हैं।

बिभियात्, बिभीयात्—'भी' धातु से 'विधिनिमन्त्रणामन्त्र०' से लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'शप्' को 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, 'यासुट् परस्मै०' से यासुडागम, 'सुट् तिथोः' से सुडागम, 'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप, 'यासुट्' आगम होने पर हलादि ङित् सार्वधातुक 'तिप्' परे रहते 'भियोऽन्यतरस्याम्' से ईकार को विकल्प से ह्रस्वादेश होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

भीयात्—'भी' धातु से आशीर्वाद अर्थ में लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', पूर्ववत् 'यासुट्', 'सुट्' आगम और 'स्कोः संयोगाद्यो०' से सकारों का लोप होकर 'भीयात्' रूप सिद्ध होता है।

अभैषीत्—'भी' धातु से लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'इतश्च' से इकार-लोप, 'च्लि', 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से ईडागम, 'सिचि वृद्धि०' से इगन्त अङ्ग को वृद्धि, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा अडागम होकर 'अभैषीत्' रूप सिद्ध होता है।

अभेष्यत्—'भी' धातु से लृङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्य', गुण तथा अडागम आदि कार्य पूर्ववत् जानें

जिह्रेति

ह्री	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप, 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' से 'शप्' को 'श्लु' आदेश अर्थात् अदर्शन हुआ
ह्री ति	'श्लौ' से 'श्लु' परे रहते 'ह्री' को द्वित्व हुआ
ह्री ह्री ति	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में 'ह्' को 'झ्' आदेश हुआ
झी ह्री ति	'अभ्यासे चर्च' से 'झ्' को 'ज्' आदेश और 'ह्रस्वः' से ईकार को ह्रस्व हुआ
जि ह्री ति	'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से इगन्त अङ्ग को गुण होकर
जिह्रेति	रूप सिद्ध होता है।

जिह्रीतः–'ह्री', लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'शप्', 'शप्' को 'श्लु' आदेश, 'श्लौ' से द्वित्व, 'कुहोश्चुः' से 'ह्' को 'झ्', 'अभ्यासे चर्च' से 'झ्' को 'ज्', 'ह्रस्वः' से 'ई' को ह्रस्व 'इ' आदेश, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'तस्' के कित् होने पर 'क्ङिति च' से 'गुण का निषेध, 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ को विसर्ग होकर 'जिह्रीतः' रूप सिद्ध होता है।

जिह्रियति–'ह्री', लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', पूर्ववत्, 'शप्', 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' से 'शप्' को 'श्लु', 'शलौ' से द्वित्व और अभ्यास-कार्य होने पर 'जि ह्री+झि' यहाँ 'अदभ्यस्तात्' से 'झ्', को 'अत्' आदेश तथा 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से 'ई' को 'इयङ्' आदेश होकर 'जिह्रियति' रूप सिद्ध होता है।

जिह्रयाञ्चकार

ह्री	'परोक्षे लिट्' से परोक्ष भूतकाल में होने वाली क्रिया-वाचक धातु से 'लिट्' आया
ह्री लिट्	'भीह्रिभृहुवां श्लुवच्च' से 'लिट्' परे रहते 'ह्री' धातु से विकल्प से 'आम्' प्रत्यय हुआ तथा 'आम्' परे रहते 'श्लु' के समान कार्यों का अतिदेश हुआ
ह्री आम् लिट्	'आम्' को श्लुवत् मान लेने पर 'श्लौ' से 'ह्री' को द्वित्व हुआ
ह्री ह्री आम् लिट्	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा, 'ह्रस्वः' से 'ई' को ह्रस्व 'इ' आदेश तथा 'कुहोश्चुः' से 'ह्' को 'झ्' आदेश हुआ
झि ह्री आम् लिट्	'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में 'झ्' को 'ज्' हुआ

जि ह्री आम् लिट्	'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'एचोऽयवायाव:' से 'ए' को 'अय्' आदेश और 'आम:' से 'आम्' से उत्तर 'लिट्' का लुक् हुआ
जिह्रय् आम्	'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' से 'आम्' प्रत्ययान्त से लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग हुआ
जिह्रय् आम् कृ लिट्	अनुबन्ध-लोप, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
जिह्रय् आम् कृ अ	'अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि प्राप्त हुई जिसका 'द्विर्वचनेऽचि' से द्विर्वचन के विषय में निषेध होने पर 'लिटि धातोरन०' से 'कृ' को द्वित्व हुआ
जिह्रयाम् कृ कृ अ	'कुहोश्चु:' से अभ्यास में 'क्' को 'च्', 'उरत्' से 'ऋ' के स्थान पर 'अ' आदेश, 'उरण् रपर:' से रपर हुआ
जिह्रयाम् चर् कृ अ	'हलादि: शेष:' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'अचो ञ्णिति' से 'ऋ' को वृद्धि, 'उरण् रपर:' रपर होकर 'आर्' हुआ
जिह्रयाम् च क् आर् अ	'मोऽनुस्वार:' से मकार को अनुस्वार हुआ
जिह्रयां चकार	'वा पदान्तस्य' से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्ण 'ञ्' आदेश होकर
जिह्रयाञ्चकार	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **जिह्राय, ह्रेता, ह्रेष्यति, जिह्रेतु, अजिह्रेत्** आदि की सिद्धि प्रक्रिया–'बिभाय', 'भेता', 'भेष्यति', 'बिभेतु' और 'अबिभेत्' आदि के समान जानें।

६१०. अर्त्तिपिपर्त्योश्च ७।४।७७

अभ्यासस्य इकारोऽन्तादेश: स्यात् श्लौ। पिपर्ति।

प० वि०–अर्त्तिपिपर्त्यो: ६।२।। च अ०।। **अनु०**–अभ्यासस्य, इत्, श्लौ।

अर्थ:–**ऋ** (गतौ–गति करना) और **पृ** (पालनपूरणयो:–पालन करना और भरना) धातुओं के अभ्यास के अन्तिम अल् को ह्रस्व इकारादेश होता है, 'श्लु' परे रहते।

पिपर्ति

पृ	'वर्त्तमाने लट्' से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'जुहोत्यादिभ्य: श्लु:' से 'शप्' को 'श्लु' और 'श्लौ' से 'पृ' को द्वित्व हुआ
पृ पृ ति	'पूर्वोऽभ्यास:' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'अर्त्तिपिपर्त्योश्च' से 'पृ' धातु के अभ्यास के ऋकार को इकारादेश, 'उरण् रपर:' से रपर अर्थात् इकारादेश 'र्' सहित हुआ
पिर् पृ ति	'हलादि: शेष:' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा

पि पृ ति	'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'अर्' आदेश होने पर संहिता होकर
पिपर्ति	रूप सिद्ध होता है।

६११. उदोष्ठ्यपूर्वस्य ७।१।१०२

अङ्गावयवौष्ठ्यपूर्वो य ॠत् तदन्तस्याङ्गस्य उत् स्यात्।

प० वि०–उत् १।१।। ओष्ठ्यपूर्वस्य ६।१।। **अनु०**–ॠतः, अङ्गस्य।

अर्थः–अङ्ग का अवयव औष्ठ्य वर्ण पूर्व में है जिस 'ॠ' वर्ण के, उस ॠकारान्त अङ्ग को ह्रस्व उकारादेश होता है।

'ॠ' के स्थान में उकार 'अण्' होने के कारण 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'उर्' होता है।

६१२. हलि च ८।२।७७

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो हलि। पिपूर्त्तः। पिपुरति। पपार।

प० वि०–हलि ७।१।। च अ०।। **अनु०**–धातोः, र्वोः, उपधायाः, दीर्घः, इकः।

अर्थः–रेफान्त और वकारान्त धातु की उपधा 'इक्' को दीर्घ होता है, 'हल्' अर्थात् व्यञ्जन परे रहते।

पिपूर्तः

पॄ	लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'जुहोत्यादिभ्यः०' से 'शप्' को 'श्लु' आदेश और 'श्लौ' से 'पॄ' को द्वित्व हुआ
पॄ पॄ तस्	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'अर्त्तिपिपर्त्योश्च' से 'श्लु' परे रहते 'पॄ' धातु के अभ्यास के ॠकार को इकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
पिर् पॄ तस्	'हलादिःशेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
पि पॄ तस्	यहाँ ॠकार से पूर्व ओष्ठ्य वर्ण पकार है, अतः 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से ॠकार को 'उ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ,
पिपुर्तस्	'हलि च' से 'हल्' परे रहते रेफान्त की उपधा को दीर्घ, 'तस्' के सकार को रुत्त्व और रेफ को विसर्ग होकर
पिपूर्तः	सिद्ध होता है।

पिपुरति–'पॄ' धातु, लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', पूर्ववत् 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, 'अर्त्तिपिपर्त्योश्च' से 'श्लु' परे रहते 'पॄ' धातु के ॠवर्णान्त अभ्यास को इकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से 'ॠ' के स्थान में ह्रस्व उकारादेश तथा 'उरण् रपरः' से रपर, 'अदभ्यस्तात्' से 'अभ्यस्त' से उत्तर प्रत्यय के आदि झकार को 'अत्' आदेश होकर 'पिपुरति' रूप सिद्ध होता है।

पपार — लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' और 'लिटि धातोरन०' से 'पॄ' को द्वित्व हुआ

पॄ — 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' के अभ्यास के 'ॠ' को ह्रस्व अकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'हलादिः शेषः' से 'अभ्यास' का आदि 'हल्' शेष रहा

पॄ पॄ अ — 'अचो ञ्णिति' से अजन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर

प पॄ अ — रूप सिद्ध होता है।

पपार

६१३. शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा ७।४।१२

एषां किति लिटि ह्रस्वो वा स्यात्। पप्रतुः।

प० वि०—शॄदॄप्रां ६।३।। ह्रस्वः १।१।। वा अ०।। **अनु०**—लिटि।

अर्थः—**शॄ** (हिंसायाम्–हिंसा करना), **दॄ** (विदारणे–फाड़ना) और **पॄ** (पालनपूरणयोः–पालन और पूरणार्थक) धातुओं को विकल्प से ह्रस्वादेश होता है, लिट् परे रहते।

'अचश्च' के अनुसार ह्रस्वादेश 'अच्' (ॠ) के स्थान पर ही होता है।

पप्रतुः

पॄ — लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'परस्मैपदानां०' से 'तस्' को 'अतुस्', 'लिटि धातोरन०' से 'पॄ' को द्वित्व, अभ्यास कार्य, 'उरत्' से अभ्यास में ॠकार को ह्रस्व अकारादेश, 'उरण् रपरः' से अकारादेश 'र्' सहित हुआ, 'हलादिः शेषः' से 'अभ्यास' का आदि हल् शेष रहा

प पॄ अतुस् — 'असंयोगाल्लिट् कित्' से असंयोगान्त 'पॄ' से उत्तर अपित् लिट् (तस्) कित्वत् होने पर 'शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा' से कित् लिट् परे रहते 'पॄ' धातु के ॠवर्ण को विकल्प से ह्रस्वादेश हुआ

प पृ अतुस् — 'इको यणचि' से यणादेश, सकार को रुत्व और विसर्ग होकर

पप्रतुः — रूप सिद्ध होता है।

६१४. ऋच्छत्यॄताम् ७।४।११

तौदादिकऋच्छेर्ऋधातोर्ॠतां च गुणो लिटि। पपरतुः, पपरुः।

प० वि०—ऋच्छत्यॄताम् ६।३।। **अनु०**—गुणः, लिटि।

अर्थः—लिट् परे रहने पर तुदादि गण में पढ़ी गई **'ऋच्छ'** (गतीन्द्रयप्रलयमूर्तिभावेषु–गति आदि), **'ऋ'** (गतौ–गति करना) तथा **ॠदन्त** धातुओं को गुण होता है।

पपरतुः—'पॄ', लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'परस्मैपदानां०' से 'तस्' को 'अतुस्' आदेश, पूर्ववत् 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर 'प+पॄ+अतुस्' बनने पर 'ऋच्छत्यॄताम्' से लिट् परे रहते ॠदन्त धातु के 'ॠ' को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'पपरतुः' रूप सिद्ध होता है।

६१५. वृतो वा ७।२।३८

वृङ्वृञ्भ्याम् ॠदन्ताच्च इटो दीर्घो वा स्यान्न तु लिटि। परीता, परिता। परीष्यति, परिष्यति। पिपर्तु। अपिपः, अपिपूर्ताम्, अपिपरुः। पिपूर्यात्। पूर्यात्। अपारीत्।

प० वि०—वृतः ५।१।। वा अ०।। **अनु०**—इट्, दीर्घः, अलिटि।

अर्थः—लिट् परे न होने पर **वृङ्** (संभक्तौ-सेवा या पूजा) तथा **वृञ्** (वरणे-वरण करना) तथा **ॠदन्त** धातुओं से उत्तर **'इट्'** को विकल्प से दीर्घ होता है।

परीता-परिता—'पॄ' धातु से लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्ये०' से 'तास्' को इडागम, 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' आदेश, डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप, 'वृतो वा' से ॠदन्त धातु से उत्तर 'इट्' को विकल्प से दीर्घ, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'परीता' तथा 'परिता' दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

परीष्यति-परिष्यति—'पॄ' धातु, लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्य', इडागम 'वृतो वा' से विकल्प से 'इट्' को दीर्घ, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

पिपर्तु—'पॄ' धातु, लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'जुहोत्यादिभ्यः०' से 'शप्' को 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, 'अर्तिपिपर्त्योश्च' से अभ्यास में 'ॠ' को इकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर, 'हलादिः शेषः' से आदि 'हल्' शेष और 'सार्वधातुका०' से गुण होकर 'पिपर्ति' बनने पर 'एरुः' से लोट् सम्बन्धी इकार को उकारादेश होकर 'पिपर्तु' रूप सिद्ध होता है।

अपिपः

पॄ	लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'जुहोत्यादिभ्यः०' से 'शप्' को 'श्लु' और 'श्लौ' से 'पॄ' द्वित्व हुआ
पॄ पॄ त्	'अर्तिपिपर्त्योश्च' से 'पॄ' धातु के अभ्यास के अन्तिम 'अल्' ॠकार को इकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर और 'हलादिः शेषः' से आदि 'हल्' शेष रहा
पि पॄ त्	'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
पिपर् त्	'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से एक अल्रूप प्रत्यय 'त्' की 'अपृक्त'

संज्ञा, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'ति' के 'अपृक्त' संज्ञक 'हल्' का लोप, 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
रूप सिद्ध होता है।

अपिपः

अपिपूर्ताम्–'पॄ' धातु से लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' तथा शेष कार्य 'अपिपः' के समान होकर 'अपिपूर्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

अपिपरुः–'पॄ' धातु से लङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'शप्', 'श्लु', द्वित्व, अभ्यास-कार्य, 'अर्तिपिपर्त्योश्च' से 'पॄ' धातु के अभ्यास के अन्तिम वर्ण 'ॠ' को इकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर, 'हलादिः शेषः' से आदि हल् शेष, 'उभे अभ्यस्तम्' से 'अभ्यस्त' संज्ञा होने पर 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से 'झि' को 'जुस्' आदेश, 'जुसि च' से 'ॠ' को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ, सकार को रुत्व और विसर्ग होकर 'अपिपरुः' रूप सिद्ध होता है।

पिपूर्यात्–'पॄ' धातु से 'विधिनिमन्त्रण०' से लिङ्, 'तिप्', 'शप्', 'श्लु', द्वित्व, अभ्यास-कार्य पूर्ववत् होकर 'यासुट्' तथा 'सुट्' आगम, 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप होने पर 'पि+पॄ+यात्' यहाँ 'यासुट्' के ङित् होने के कारण गुण नहीं होता, 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से 'ॠ' को उत्त्व, 'उरण् रपरः' से रपर तथा 'हलि च' से रेफान्त की उपधा को दीर्घ होकर 'पिपूर्यात्' रूप सिद्ध होता है।

पूर्यात्–आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', 'लिङाशिषि' से आशीर्लिङ् आर्धधातुक होने से 'शप्', 'श्लु' आदि नहीं होते, यहाँ 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से 'ॠ' को 'उ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ, 'यासुट्' तथा सुडागम और 'स्कोः संयोगाद्योः०' से सकारों को लोप होने पर 'हलि च' से दीर्घादेश होकर 'पूर्यात्' रूप सिद्ध होता है।

अपारीत्

पॄ — लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि', 'च्लि' को 'सिच्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'सिच्' को 'इट्' आगम और 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से सिच् से उत्तर अपृक्त 'त्' को 'ईट्' आगम हुआ

पॄ इट् सिच् ईट् त् — अनुबन्ध-लोप,

पॄ इ स् ई त् — 'वॄतो वा' से 'इट्' को विकल्प से दीर्घ प्राप्त हुआ, 'सिचि च परस्मैपदेषु' से परस्मैपदपरक सिच् परे रहते ॠकारान्त धातु से उत्तर 'इट्' को दीर्घ का निषेध होने पर 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से इगन्त अङ्ग को परस्मैपदपरक सिच् परे रहते वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ॠ' को 'आर्' हुआ

पार् इ स् ई त् — 'इट ईटि' से सकार-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर रूप सिद्ध होता है।

अपारीत्

६१६. सिचि च परस्मैपदेषु ७।२।४०

अत्र इटो न दीर्घः। अपारिष्टाम्। अपरीष्यत्-अपरिष्यत्। ओहाक् त्यागे ।५। जहाति।

प० वि०—सिचि ७।१।। च अ०।। परस्मैपदेषु ७।३।। **अनु०**—वृतः, इट्, दीर्घः, न।

अर्थः—परस्मैपदपरक सिच् परे रहते **'वृ'** (वृङ् तथा वृञ्) और दीर्घ ॠकारान्त धातुओं से उत्तर 'इट्' को दीर्घ नहीं होता।

अपारिष्टाम्—'पॄ' धातु से लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश, 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्', आर्धधातुकस्येड्०' से 'सिच्' को 'इट्' आगम, 'सिचि वृद्धिः परस्मै०' से इगन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ॠ' को 'आर्', अडागम, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'अपारिष्टाम्' रूप सिद्ध होता है।

अपरीष्यत्, अपरिष्यत्—'पॄ', लृङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'वॄतो वा' से दीर्घ ॠकारान्त से उत्तर 'इट्' को विकल्प से दीर्घ और 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्याषकार होने पर 'अपरीष्यत्' तथा दीर्घ के अभाव पक्ष में 'अपरिष्यत्' रूप सिद्ध होते हैं।

जहाति—'ओहाक्' (त्यागे-त्याग करना) धातु, अनुबन्ध-लोप, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'श्लु' और 'श्लौ' से द्वित्वादि होने पर 'जुहोति' (६०५.) के समान 'जहाति' जानें।

६१७. जहातेच ६।४।११६

इद् वा स्याद् हलादौ क्ङिति सार्वधातुके। जहितः।

प० वि०—जहातेः ६।१।। च अ०।। **अनु०**—इत्, अन्यतरस्याम्, हलि, क्ङिति, सार्वधातुके।

अर्थः—**'हा'** (ओहाक् त्यागे-छोड़ना) धातु के आकार को विकल्प से इकारादेश होता है, हलादि कित्, ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

जहितः—'हा' धातु से लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व और अभ्यास-कार्य होने पर 'सार्वधातुकमपित्' से अपित् सार्वधातुक 'तस्' प्रत्यय ङिद्वत् होने से 'जहातेश्च' से हलादि ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते आकार को विकल्प से ह्रस्व इकारादेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'जहितः' रूप सिद्ध होता है।

६१८. ई हल्यघोः ६।४।११३

श्नाऽभ्यस्तयोरात ईत् स्यात् सार्वधातुके क्ङिति हलि, न तु घोः। जहीतः।

प० वि०—ई लुप्तप्रथमान्त।। हलि ७।१।। अघोः ६।१।। अनु०—अङ्गस्य, श्नाऽभ्यस्तयोः, आतः, क्ङिति, सार्वधातुके।

अर्थः—'श्ना' तथा अभ्यस्त संज्ञक (अङ्ग) के आकार के स्थान पर ईकारादेश होता है, हलादि कित् ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

जहीतः—'हा' धातु से लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व तथा अभ्याय-कार्य होने पर जब 'जहातेश्च' से हलादि ङित् सार्वधातुक परे रहते विकल्प से इत्त्व नहीं होता तो 'उभे अभ्यस्तम्' से 'अभ्यस्त' संज्ञा होने पर 'ई हल्यघोः' से अभ्यस्त संज्ञक से उत्तर हलादि ङित् सार्वधातुक प्रत्यय 'तस्' परे रहते आकार को ईकारादेश होकर 'जहीतः' रूप सिद्ध होता है।

६१९. श्नाऽभ्यस्तयोरातः ६।४।११२

अनयोरातो लोपः क्ङिति सार्वधातुके। जहति। जहौ। हाता। हास्यति। जहातु, जहितात्, जहीतात्।

प० वि०—श्नाऽभ्यस्तयोः ६।२।। आतः ६।१।। अनु०—लोपः, सार्वधातुके, क्ङिति।

अर्थः—कित् या ङित् सार्वधातुक परे रहते 'श्ना' के तथा 'अभ्यस्त' संज्ञक धातु के आकार का लोप होता है।

जहति—'हा' (ओहाक् त्यागे), लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'शप्', 'श्लु', द्वित्व, अभ्यास-कार्य होने पर 'ज हा+झि' इस स्थिति में 'उभे अभ्यस्तम्' से 'अभ्यस्त' संज्ञा, 'अदभ्यस्तात्' से 'अभ्यस्त' से उत्तर प्रत्यय के आदि झकार को 'अत्' आदेश और 'श्नाऽभ्यस्तयो०' से 'अभ्यस्त' से उत्तर ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते आकार का लोप होकर 'जहति' रूप सिद्ध होता है।

जहौ—'हा' धातु, लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश, 'आत औ णलः' से आकारान्त धातु से उत्तर 'णल्' को औकारादेश, 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व, अभ्यास- कार्य तथा 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश होकर 'जहौ' रूप सिद्ध होता है।

हाता—'हा' धातु, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' आदेश और डित्करणसामर्थ्य से 'आस्' (टिभाग) का लोप होकर 'हाता' रूप सिद्ध होता है।

हास्यति—'हा' धातु, लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्य' आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

जहातु—'हा' धातु लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आने पर 'लट्', प्र० पु०, एक व० के समान ही 'जहाति' बनकर 'एरुः' से उकारादेश जानना चाहिए।

जहितात्, जहीतात्—आशीर्वाद अर्थ में लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'हा' धातु से 'तुह्योस्तातङ०' से 'तु' को 'तातङ्' आदेश, 'तातङ्' के ङित्' होने से 'जहातेश्च' से

हलादि ङित् सार्वधातुक परे रहते 'हा' के आकार को विकल्प से ह्रस्व इकार आदेश होने पर 'जहितात्' तथा ह्रस्व इकार आदेश के अभाव पक्ष में 'ई हल्यघो:' से ङित् सार्वधातुक परे रहते 'अभ्यस्त' संज्ञक के आकार को दीर्घ ईकारादेश होकर 'जहीतात्' रूप सिद्ध होते हैं।

६२०. आ च हौ ६।४।११७

जहातेर्हौ परे आ स्याच्चाद् इदीतौ। जहाहि, जहिहि, जहीहि। अजहात्। अजहु:।

प० वि०—आ लुप्तप्रथमान्त। च अ०।। हौ ७।१।। **अनु०**—इत्, ई, जहाते:।

अर्थ:—'हि' परे रहते **'हा'** धातु के आकार के स्थान पर आकारादेश, इकारादेश तथा ईकारादेश होते हैं।

'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से ये आदेश अन्तिम अल् 'आ' के स्थान पर होते हैं।

जहाहि, जहिहि, जहीहि—'हा' धातु, लोट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को 'हि', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, अभ्यासादि कार्य होने पर 'ज हा+हि' इस स्थिति में 'आ च हौ' से 'हि' परे रहते 'हा' धातु के अन्तिम अल् 'आ' के स्थान पर बारी-बारी से आकार, इकार और ईकारादेश होकर उक्त तीनों रूप सिद्ध होते हैं।

अजहात्—'हा' धातु, लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'श्लु', द्वित्व, अभ्यासादि कार्य तथा 'अट्' आगम होकर 'अजहात्' रूप सिद्ध होता है।

अजहु:—'हा' धातु, लङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'शप्', 'शप्' को श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व और 'उभे अभ्यस्तम्' से 'अभ्यस्त' संज्ञा होने पर 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से 'झि' को 'जुस्', 'श्नाभ्यस्तयो०' से ङित् सार्वधातुक परे रहते आकार का लोप, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'अजहु:' रूप सिद्ध होता है।

६२१. लोपो यि ६।४।११८

जहातेराल्लोपो यादौ सार्वधातुके। जह्यात्। एर्लिङि (४९०) हेयात्। अहासीत्। अहास्यत्।

प० वि०—लोप: १।१।। यि ७।३।। **अनु०**—सार्वधातुके, जहाते:।

अर्थ:—यकारादि सार्वधातुक परे रहते **'हा'** धातु के आकार का लोप होता है।

जह्यात्

ओहाक्	अनुबन्ध-लोप, 'विधिनिमन्त्रण०' से विध्यादि अर्थों में 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'जुहोत्यादिभ्य:०' से 'शप्' को 'श्लु', 'श्लौ' से 'हा' को द्वित्व, अभ्यास-कार्य, 'ह्रस्व:' से अभ्यास में 'आ' को ह्रस्व 'अ', 'कुहोश्चु:' से अभ्यास में 'ह्' को चवर्गादेश 'झ्', 'अभ्यासे चर्च' से जश्त्व 'झ्' को 'ज्' आदेश, 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से यासुडागम, 'सुट् तिथो:' से लिङ् के तकार को सुडागम, अनुबन्ध-लोप

ज हा यास् स् त	'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप और 'लोपो यि' से यकारादि सार्वधातुक परे रहते 'हा' के आकार का लोप होकर रूप सिद्ध होता है।
जह्यात्	
हेयात्	
हा	'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लिङाशिषि' से 'लिङ्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने से 'शप्', 'श्लु' और द्वित्वादि कार्य नहीं होते। पूर्ववत् 'यासुट्' तथा सुडागम, अनुबन्ध-लोप
हा यास् स् त्	'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से दोनों सकारों का लोप हुआ
हा या त्	'यासुट्' के सार्वधातुक संज्ञक न होने से 'लोपो यि' से आकार का लोप नहीं हुआ। 'घुमास्थागापाजहाति०' से हलादि कित् आर्धधातुक परे रहते 'हा' धातु के आकार को ईकारादेश की प्राप्ति थी, जिसे बाधकर 'एर्लिङि' से आर्धधातुक कित् लिङ् परे रहते 'हा' धातु के आकार को एकारादेश होकर रूप सिद्ध होता है।
हेयात्	
अहासीत्	
हा	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्', 'यमरमनमातां सक् च' से परस्मैपद परे रहते आकारान्त धातु को 'सक्' आगम तथा उससे उत्तर 'सिच्' को 'इट्' आगम हुआ
हा सक् इट् सिच् त्	'अस्तिसिचो०' से 'सिच्' से उत्तर अपृक्त 'त्' को ईडागम, अनुबन्ध-लोप
हा स् इ स् ई त्	'इट ईटि' से सकार का लोप तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ
हा सीत्	'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अहासीत्	रूप सिद्ध होता है।

अहास्यत्–'हा', लृङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्य', अडागम आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

६२२. भृञामित् ७।४।७६

भृञ् माङ् ओहाङ्–एषां त्रयाणामभ्यासस्य इत् स्याच्छलौ। मिमीते, मिमाते, मिमते। ममे। माता। मास्यते। मिमीताम्। अमिमीत। मिमीत। मासीष्ट। अमास्त। अमास्यत।

ओहाङ् गतौ ।७। जिहीते। जिहाते। जिहते। जहे। हाता। हास्यते। जिहिताम्।

अजिहीत। जिहीत। हासीष्ट। अहास्त। अहास्यत। डुभृञ् धारणपोषणयोः ।८। बिभर्ति। बिभृतः। बिभ्रति। बिभृते। बिभ्राते। बिभ्रते। बिभराञ्चकार, बभार। बभर्थ। बभृव। बिभराञ्चक्रे, बभ्रे। भर्ता। भरिष्यति, भरिष्यते। बिभर्तु। बिभराणि। बिभृताम्। अबिभः। अबिभृताम्। अबिभरुः। अबिभृत। बिभृयात्, बिभ्रीत। भ्रियात्, भृषीष्ट। अभार्षीत्, अभृत। अभरिष्यत्, अभरिष्यत। डुदाञ् दाने ।९। ददाति। दत्तः। ददति। दत्ते। ददाते। ददते। ददौ, ददे। दाता। दास्यति, दास्यते। ददातु।

प० वि०—भृञाम् ६।३।। इत् १।१।। **अनु०**—त्रयाणम्, श्लौ, अभ्यासस्य।

अर्थः—भृ (धारणपोषणयोः–धारण तथा पालन करना), **मा** (माने शब्दे च–नापना, शब्द करना) और **हा** (गतौ–गमनार्थक) धातुओं के अभ्यास को इकार आदेश होता है 'श्लु' परे रहते।

मिमीते

मा	लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'श्लु' तथा 'श्लौ' से द्वित्वादि कार्य होने पर
मा मा त	'भृञामित्' से 'मा' धातु के अभ्यास को 'श्लु' परे रहते इकारादेश हुआ
मि मा त	'ई हल्यघोः' से अभ्यास से उत्तर धातु के आकार को हलादि ङित् (त) सार्वधातुक परे रहते ईकारादेश हुआ
मिमीत	'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर
मिमीते	रूप सिद्ध होता है।

मिमाते—'मा' धातु, लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, 'भृञामित्' से 'मा' धातु के अभ्यास के आकार को इकार आदेश, 'उभे अभ्यस्तम्' से 'अभ्यस्त' संज्ञा, 'श्नाभ्यस्तयो०' से ङित् सार्वधातुक परे रहते 'अभ्यस्त' के आकार का लोप तथा टिभाग को एत्व होकर 'मिमाते' रूप सिद्ध होता है।

मिमते—'मा' धातु, लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, 'भृञामित्' से अभ्यास के आकार को इकार आदेश, 'उभे अभ्यस्तम्' से 'अभ्यस्त' संज्ञा, 'अदभ्यस्तात्' से 'अभ्यस्त' से उत्तर 'झ्' को 'अत्' आदेश, 'श्नाभ्यस्तयो०' से आकार-लोप और 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर 'मिमते' रूप सिद्ध होता है।

ममे

मा	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्' आदेश और 'लिटि धातो०' से 'लिट्' परे रहते 'मा' को द्वित्व हुआ

मा मा ए	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा तथा 'ह्रस्वः' से 'अभ्यास' को ह्रस्व आदेश
म मा ए	'आतो लोप इटि च' से अजादि कित् आर्धधातुक परे रहते आकार का लोप[1] होकर
ममे	रूप सिद्ध होता है।

माता–'मा' धातु, लुट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'त' को 'डा' आदेश और डित्करण सामर्थ्य से 'टि' भाग 'आस्' का लोप होकर 'माता' रूप सिद्ध होता है।

मास्यते–'मा', लृट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्त्व होकर 'मास्यते' रूप सिद्ध होता है।

मिमीताम्–'मा' धातु, लोट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', श्लु, 'श्लौ' से द्वित्व, 'भृञामित् से अभ्यास को इकारादेश, 'ई हल्यघोः' से ईकारादेश और 'टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग को एत्व होकर 'लट्', प्र० पु०, एक व० के समान 'मिमीते' रूप बनने पर 'आमेतः' से एकार को 'आम्' होकर 'मिमीताम्' रूप सिद्ध होता है।

अमिमीत–'मा' धातु, लङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'जुहोदिभ्यः श्लुः' से 'शप्' को 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, अभ्यासादि कार्य पूर्ववत् होकर 'भृञामित्' से 'माङ्' धातु के अभ्यास को ह्रस्व इकारादेश, 'ई हल्यघोः' से 'अभ्यस्त' संज्ञक के आकार को ईकारादेश तथा अडागम होकर 'अमिमीत' रूप सिद्ध होता है।

मिमीत–'मा' धातु, विधि लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्' आगम, 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम, 'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'भृञामित्' से अभ्यास के अकार को ह्रस्व इकारादेश और 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से अभ्यस्त संज्ञक के आकार का लोप होकर 'मिमीत' रूप सिद्ध होता है।

मासीष्ट–'मा' धातु, आशीर्लिङ् में 'त', 'सीयुट्', सुडागम, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'मासीष्ट' रूप जानें।

अमास्त–'मा' धातु, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', तथा अडागम होकर 'अमास्त' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

अमास्यत–'मा' धातु, लृङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य' तथा अडागमादि कार्य पूर्ववत् जानें।

---
१. 'असंयोगाल्लिट् कित्' से असंयोगान्त धातु से उत्तर अपित् लिट् (एश्) 'कित्' होता है।

'ओहाङ्' (गतौ--जाना) धातु के **जिहीते, जिहाते, 'जहते' जहे, हाता, जिहीताम्** आदि सभी रूप 'मा' धातु, के 'मिमीते', 'मिमाते', 'मिमते', ममे, माता, मिमीताम् इत्यादि के समान जानने चाहिएं।

बिभर्त्ति

भृ	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व आदि होने पर
भृ भृ ति	'भृञामित्' से 'श्लु' परे रहते 'भृ' के अभ्यास को इकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
भिर् भृ ति	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा, 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में 'झल्' (भ्) को 'जश्' (ब्) तथा 'सार्वधातुकार्ध०' से ऋकार को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'अर्' होने पर
बिभर्ति	रूप सिद्ध होता है।

बिभृतः—'भृ', लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' प्रत्यय, 'शप्', 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' से 'शप्' को 'श्लु' आदेश और 'श्लौ' से द्वित्वादि कार्य, 'भृञामित्' से अभ्यास को इकारादेश होने पर सकार को रुत्व और विसर्ग होकर 'बिभृतः' रूप सिद्ध होता है।

बिभ्रति—'भृ', लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, 'भृञामित्' से अभ्यास को इकारादेश, अभ्यास कार्य और 'उभेऽभ्यस्तम्' से 'भृ भृ' की 'अभ्यस्त' संज्ञा होने पर 'अदभ्यस्तात्' से 'झ्' को 'अत्' आदेश और 'इको यणचि' से यणादेश होकर 'बिभ्रति' रूप सिद्ध होता है।

बिभृते, बिभ्राते, बिभ्रते—'भृ' धातु से आत्मनेपद, 'लट्', प्र० पु० के तीनों वचनों में 'त', 'आताम्' और 'झ' आने पर 'शप्', 'श्लु', द्वित्वादि कार्य, 'भृञामित्' से अभ्यास को इकारादेश, 'अदभ्यस्तात्' से 'झ्' को 'अत्', 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व, ङित् होने से गुण का निषेध तथा 'इको यणचि' से यणादेश पूर्ववत् जानें।

बिभराञ्चकार, बभार—'भृ' धातु से लिट्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'जुहवाञ्चकार' और 'जुहाव' (६०७) के समान जानें।

बभर्थ, बभृव—'भृ' धातु से लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' और उ० पु०, द्वि व० में 'वस्' को 'परस्मैपदानां०' से क्रमशः 'थल्' और 'व' आदेश, द्वित्वादि कार्य, पूर्ववत् 'कृसृभृवृ०' से 'इट्' का निषेध होकर दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

बिभराञ्चक्रे, बभ्रे—'भृ' धातु से आत्मनेपद में लिट्, प्र० पु०, एक व० में भी 'भी-ह्रीभृहुवां श्लुवच्च' से आम्' के वैकल्पिक होने से उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

भर्त्तासि, भर्त्तासे, भरिष्यति, भरिष्यते की सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

बिभर्तु—'भृ' धातु, लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लट्' के समान ही 'शप्',

'शप्' को 'श्लु' आदेश और 'श्लौ' से द्वित्व आदि होकर 'बिभर्ति' रूप बनने पर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर 'बिभर्तु' रूप जानें।

बिभराणि–'भृ' धातु, लोट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्', 'शप्', 'शप्' को 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्वादि होकर 'मेर्निः' से 'मि' को 'नि' आदेश, 'आडुत्तमस्य०' से 'आट्' आगम, 'भृञामित्' से अभ्यास को इकारादेश, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर तथा 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर 'बिभराणि' रूप सिद्ध होता है।

बिभृताम्–'भृ' धातु, लोट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में भी 'लट्' के समान ही 'बिभृते' बनने पर 'आमेतः' से एकार को 'आम्' आदेश होकर 'बिभृताम्' रूप सिद्ध होता है।

अबिभः

भृ	लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध–लोप, 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'जुहोत्यादिभ्यः०' से 'शप्' को 'श्लु' और 'श्लौ' से द्वित्व
भृ भृ त्	'भृञामित्' से 'भृ' धातु के अभ्यास को इकारादेश, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से दोनों को रपर हुआ
भिर् भर् त्	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'अभ्यासे चर्च' से जश्त्व, 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से 'त्' की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'ति' के 'अपृक्त' संज्ञक 'हल्' (त्) का लोप हुआ
बिभर्	अडागम तथा रेफ को विसर्ग होकर
अबिभः	रूप सिद्ध होता है।

अबिभृताम्–'भृ' धातु से लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्', पूर्ववत् 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्वादि कार्य तथा अडागम होकर 'अबिभृताम्' बनता है।

अबिभरुः–'भृ' धातु से लङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, 'भृञामित्' से अभ्यास को इकार, 'सिजभ्यस्तविदि०' से अभ्यस्त से उत्तर 'झि' को 'जुस्', 'जुसि च' से अजादि 'जुस्' परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर, 'उस्' के सकार को रुत्व, रेफ को विसर्ग तथा अडागम होकर 'अबिभरुः' रूप सिद्ध होता है।

अबिभृत–'भृ' धातु से लङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'श्लु', द्वित्वादि कार्य और अडागमादि पूर्ववत् जानें।

बिभृयात्–'भृ' धातु से विधि लिङ्, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, अभ्यास–कार्य, 'यासुट्', सुडागम, 'लिङः सलोपो०' से सार्वधातुक लिङ् के अनन्त्य सकारों का लोप इत्यादि कार्य 'जह्यात्' (६२१) के समान जानें।

बिभ्रीत–'भृ' धातु से लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, 'सीयुट्', 'सुट्', 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप, 'भृञामित्' से 'भृ' धातु के अभ्यास को इत्व तथा यणादेश पूर्ववत् जानें।।

भ्रियात्–'भृ' धातु से आशीर्लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम, 'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोग के आदि दोनों सकारों का लोप, 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' से यकारादि आर्धधातुक 'लिङ्' परे रहते ऋकार को 'रिङ्' आदेश होकर 'भ्रियात्' रूप सिद्ध होता है।

भृषीष्ट–'भृ' धातु से आशीर्लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सीयुट्', 'सुट्', 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'भृषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अभार्षीत्–'भृ' धातु से लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'सिच्' से उत्तर अपृक्त को ईडागम, 'सिचि वृद्धिः परस्मै०' से इगन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' को 'आर्' आदेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा अडागम होकर 'अभार्षीत्' रूप सिद्ध होता है।

अभृत–'भृ' धातु, लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सिच्', 'ह्रस्वादङ्गात्' से 'झल्' परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग से उत्तर सकार का लोप तथा अडागम होकर 'अभृत' रूप सिद्ध होता है।

अभरिष्यत्, अभरिष्यत–'भृ' धातु, लृङ्, प्र० पु०, एक व० दोनों पदों में 'तिप्' तथा 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'ऋद्धनोः स्ये' से ऋकारान्त धातु से उत्तर 'स्य' को इडागम, 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' को 'अर्' आदेश तथा अडागम होकर 'अभरिष्यत्' और 'अभरिष्यत' रूप सिद्ध होते हैं।

ददाति

डुदाञ्	अनुबन्ध-लोप, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'जुहोत्यादिभ्य०' से 'शप्' को 'श्लु' आदेश, 'श्लौ' से 'श्लु' परे रहते 'दा' को द्वित्व, अभ्यास-संज्ञा होने परे 'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व होकर
ददाति	रूप सिद्ध होता है।

दत्तः

दा	लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व और 'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व हुआ
द दा तस्	'सार्वधातुकमपित्' से 'तस्' के ङित् होने पर 'उभेऽभ्यस्तम्'

'अभ्यस्त' संज्ञा होने पर 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से ङित् परे रहते 'अभ्यस्त' के आकार का लोप हुआ

द द् तस् — 'खरि च' से चर्त्व 'द्' को 'त्', 'ससजुषो०' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर रूप सिद्ध होता है।

दत्तः

ददति–'दा' धातु, लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व और 'उभे अभ्यस्तम्' से 'अभ्यस्त' संज्ञा होने पर 'अदभ्यस्तात्' से 'झ्' को 'अत्' आदेश तथा 'श्नाभ्यस्तयो०' से ङित् सार्वधातुक परे रहते आकार-लोप होकर 'ददति' रूप सिद्ध होता है।

दत्ते–'दा' धातु, लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, 'श्नाभ्यस्तयो०' से आकार का लोप, 'खरि च' स चर्त्व तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर 'दत्ते' रूप सिद्ध होता है।

ददाते–'दा' धातु, लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', पूर्ववत् 'शप्', 'श्लु', द्वित्व और टिभाग को एत्व आदि होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

ददते–'दा' धातु, लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व और 'अभ्यस्त' संज्ञा होने पर 'अदभ्यस्तात्' से झकार को 'अत्' आदेश और टिभाग को 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'ददते' रूप सिद्ध होता है।

ददौ, ददे–'दा' धातु, 'लिट्' परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से 'णल्', 'आत औ णलः' से 'णल्' को 'औ' आदेश, 'लिटि धातो०' से द्वित्व आदि होकर सिद्धि-प्रक्रिया 'पपौ' के समान 'ददौ' तथा आत्मनेपद में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्' आदेश, द्वित्व, अभ्यास-कार्य और 'आतो लोप इटि च' से आकार का लोप होकर 'ददे' सिद्ध होता है।

दातासि, दातासे–'दा' धातु, लुट्, प्र० पु०, एक व० के दोनों पदों में 'सिप्' तथा 'थास्', 'थासः से' से 'थास्' को 'से' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'तासस्त्योर्लोपः' से सकारादि प्रत्यय परे रहते 'तास्' के सकार का लोप होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

दास्यति, दास्यते–'दा' धातु, लृट्, दोनों पदों के प्र० पु०, एक व० में क्रमशः 'तिप्' तथा 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य' और आत्मनेपद में टिभाग को 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

ददातु–'दा' धातु, लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', लट् के समान ही 'ददाति' रूप बनने पर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर 'ददातु' रूप सिद्ध होता है।

६२३. दाधा घ्वदाप् १।१।१९

दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसञ्ज्ञाः स्युः, दाप्-दैपौ विना। 'घ्वसोरेद्धा०'

(५७७) इत्येत्वम्-देहि। दत्तम्। अददात्, अदत्त। दद्यात्, ददीत। देयात्, दासीष्ट। अदात्। अदाताम्। अदुः।

प० वि०—दाधा : १।३।। घु १।१।। अदाप् १।१।।

अर्थः—'**दा**'[1] और '**धा**' रूप वाली धातुएं घुसंज्ञक होती है, '**दाप्**' (लवने-काटना) और '**दैप्**' (शोधने-पवित्र करना) धातु को छोड़कर।

दा (दाने-देना), दो (अवखण्डने-टुकड़े करना), देङ् (रक्षणे-रक्षा करना), धा (धारणपोषणयोः-धारण और पोषण करना) और धेट् (पाने-पीना) इन्हीं धातुओं का 'दा' रूप तथा 'धा' रूप से ग्रहण होता है।

देहि

दा	लोट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, अभ्यास-कार्य, 'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व तथा 'सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को अपित् 'हि' आदेश हुआ
द दा हि	'दाधाघ्वदाप्' से 'दा' धातु की घुसंज्ञा, 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' से 'हि' परे रहने पर घुसंज्ञक 'दा' के आकार को एत्व तथा अभ्यास का लोप होकर
देहि	रूप सिद्ध होता है।

दत्तम्—'दा' धातु, लोट्, म० पु०, द्वि० व० में 'थस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'तम्' आदेश, 'शप्', 'श्लु' और द्वित्व आदि होने पर 'दा दा+तम्' इस स्थिति में 'श्नाभ्यस्तयो०' से ङित् सार्वधातुक परे रहते अभ्यस्त का आकार-लोप तथा 'खरि च' से चर्त्व होकर 'दत्तम्' रूप सिद्ध होता है।

अददात्—'दा' धातु, लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'श्लु', द्वित्व, अभ्यास-कार्य तथा अडागम होकर 'अददात्' रूप सिद्ध होता है।

अदत्त—'दा' धातु, लङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व०, में 'त', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, अभ्यास-कार्य, 'श्नाऽभ्यतयो०' से आकार-लोप तथा अडागम होकर 'अदत्त' रूप सिद्ध होता है।

दद्यात्—'दा' धातु, विधि लिङ्, परस्मैपद, 'तिप्', 'शप्', 'श्लु', द्वित्व, 'यासुट्', 'सुट्', 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप तथा 'यासुट्' के ङित् होने से 'श्नाऽभ्यस्त०' से आकार-लोप होकर 'दद्यात्' रूप सिद्ध होता है।

ददीत—'दा' धातु, विधि-लिङ्, आत्मनेपद में 'त', पूर्ववत् द्वित्वादि, 'सीयुट्', सुडागम, 'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप तथा 'श्नाऽभ्यस्तयो०' से आकार-लोपादि कार्य जानें।

---

१. 'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' परिभाषा से लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त दोनों प्रकार की 'दा' रूप वाली धातुओं का ग्रहण हेता है।

देयात्–'दा' धातु, आशीर्लिङ्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'हेयात्' (६२१) के सामन जाननी चाहिए।

दासीष्ट–'दा' धातु, आत्मनेपद, आशीर्लिङ्, सिद्धि-प्रक्रिया 'मासीष्ट' (६२२) के समान जानें।

अदात्–'दा' धातु, लुङ्, प्र० पु० एक व० में 'तिप्', 'च्लि', 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', 'गातिस्थाघुपा०' से घुसंज्ञक 'दा' से उत्तर 'सिच्' का लुक् तथा 'अट्' आगम होकर 'अदात्' रूप सिद्ध होता है।

अदाताम्–'दा' धातु, लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्', 'च्लि', 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', 'गातिस्था०' से 'सिच्' का लुक् तथा अडागम होकर 'अदाताम्' रूप सिद्ध होता है।

अदुः–'दा' धातु, लुङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' पूर्ववत् 'सिच्' का लुक् होने पर 'आतः' से आकारान्त से उत्तर 'झि' के स्थान में 'जुस्', 'उस्यपदान्तात्' से अपदान्त अकार से 'उस्' परे रहते पररूप एकादेश तथा अडागम होकर 'अदुः' रूप सिद्ध होता है।

६२४. स्थाघ्वोरिच्च १।२।१७

अनयोरिदन्तादेशः, सिच्च कित् स्यादात्मनेपदे। अदित। अदास्यत्, अदास्यत।

डुधाञ् धारण-पोषणयोः।१०। दधाति।

प० वि०–स्थाघ्वोः ६।२।। इत् १।१।। च अ०।। **अनु०**–सिच्, कित्, आत्मनेपदेषु।

अर्थः–आत्मनेपद प्रत्यय पर रहते **'स्था'** (ष्ठा-गतिनिवृत्तौ-ठहरना) तथा **घुसंज्ञक** ('दा रूप वाली और 'धा' रूप वाली) धातुओं के अन्तिम अल् के स्थान में ह्रस्व इकारादेश होता है तथा 'सिच्' प्रत्यय कित् होता है।

अदित

दा	लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि' और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
दा स् त	'दाधाघ्वदाप्' से 'दा' धातु की घुसंज्ञा होने से 'स्थाघ्वोरिच्च' से घुसंज्ञक 'दा' धातु के अन्तिम 'अल्' आकार को इकारादेश तथा 'सिच्' कित्वत् हुआ
दि स् त	'ह्रस्वादङ्गात्' से 'झल्' परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग से उत्तर सकार का लोप तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर
अदित	रूप सिद्ध होता है।

अदास्यत्–'दा' धातु, लृङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य' तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर 'अदास्यत्' रूप सिद्ध होता है।

अदास्यत–'दा' धातु, लृङ्, आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय आने पर शेष कार्य पूर्ववत जानें।

दधाति

धा	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' तथा 'कर्तरि शप्' से 'शप्' आया
धा शप् तिप्	'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' से 'शप्' को 'श्लु' अर्थात् अदर्शन हुआ, अनुबन्ध-लोप
धा ति	'श्लौ' से 'श्लु' परे रहते 'धा' को द्वित्व हुआ
धा धा ति	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'ह्रस्वः' से अभ्यास में 'आ' को ह्रस्व 'अ' आदेश हुआ
ध धा ति	'अभ्यासे चर्च' से 'ध्' को 'द्' आदेश होकर
दधाति	रूप सिद्ध होता है।

६२५. दधस्तथोश्च ८।२।३८

द्विरुक्तस्य झषन्तस्य धाञो बशो भष् स्यात्, तथोः परयोः स्ध्वोश्च परतः। धत्तः। दधति। दधासि। धत्थः। धत्थ। धत्ते। दधाते। दधते। धत्से। धद्ध्वे। 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (५७७) धेहि। अदधात्। अधत्त। दध्यात्, दधीत। धेयात्, धासीष्ट। अधात्, अधित। अधास्यत्, अधास्यत। णिजिर् शौचपोषणयोः ।११। (वा०) इर इत्सञ्ज्ञा वाच्या।

प० वि०—दधः ६।१।। तथोः ७।२।। च अ०।। **अनु०**—झषन्तस्य, बशः, भष्, स्ध्वोः।

अर्थः—द्वित्व किये गये झषन्त 'धा' धातु के **'बश्'** को **'भष्'** आदेश होता है, तकार, थकार, सकार और 'ध्व' परे हो तो।

धत्तः—'धा' धातु, लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'शप्', 'श्लु' और 'श्लौ' से द्वित्वादि कार्य पूर्ववत्, 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में जश्त्व, 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से आकार-लोप होने पर 'द ध्+तस्' इस स्थिति में 'दधस्तथोश्च' से झषन्त धातु के अभ्यास में 'बश्' (द्) को 'भष्' (ध्) आदेश, 'खरि च' से तकार परे रहते 'ध्' तो 'त्' आदेश, सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर 'धत्तः' रूप सिद्ध होता है।

दधति—'धा' धातु, लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व और अभ्यास कार्य होने पर 'दधा+झि' यहाँ 'अदभ्यस्तात्' से अभ्यस्त संज्ञक से उत्तर प्रत्यय के आदि झकार को 'अत्' आदेश, 'श्नाभ्यस्तयो०' से ङित् सार्वधातुक परे रहते आकार-लोप, (यहाँ झषन्त धातु से उत्तर 'त', 'थ' आदि परे न होने से 'दधस्तथोश्च' से अभ्यास में 'बश्' को 'भष्' नहीं होता है) होकर 'दधति' रूप सिद्ध होता है।

दधासि—'धा' धातु, लट्, म० पु१, एक व० में 'सिप्', 'शप्', 'श्लु' तथा द्वित्वादि कार्य होकर 'दधाति' के समान ही 'दधासि' रूप सिद्ध होता है।

धत्थः, धत्थ—'धा' धातु, म० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में क्रमशः 'थस्' तथा 'थ' प्रत्यय आने पर शेष सभी कार्य 'धत्तः' के समान ही जानें।

धत्ते– 'धा' धातु, लट्, आत्मनेपद प्र० पु०, एक व० में 'त' प्रत्यय, 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, 'अभ्यासे चर्च' से जश्त्व अर्थात् 'ध्' को 'द्' आदेश तथा 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' से आकार-लोप होने पर 'दधस्तथोश्च' से 'त' परे रहते द्विरुक्त 'धा' धातु से निष्पन्न झषन्त 'दध्' के अभ्यास में 'बश्' (द्) को 'भष्' (ध्) आदेश, 'खरि च' से चर्त्व तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर 'धत्ते' रूप सिद्ध होता है।

धद्ध्वे– 'धा' धातु, लट्, आत्मनेपद, म० पु०, बहु व० में 'ध्वम्', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्वादि कार्य होकर 'दध्+ध्वम्' यहाँ 'दधस्तथोश्च' से 'ध्व' परे रहते 'बश्' (द्) को 'भष्' (ध्) आदेश, 'झलां जश् झशि' से 'झश्' परे रहते 'झल्' के स्थान में 'जश्' आदेश और 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर 'धद्ध्वे' रूप सिद्ध होता है।

धेहि, अदधात्, अधत्त, दध्यात् इत्यादि सभी की सिद्धि-प्रक्रिया 'देहि', 'अददात्', 'अदत्त', 'दद्यात्' इत्यादि (६२३) के समान जानें।

(वा) इर इत्सञ्ज्ञा वाच्या–अर्थ–'इर्' की 'इत्' संज्ञा का विधान करना चाहिए।

विशेष–यह वार्तिक 'णिजिर्' इत्यादि धातुओं में 'इर्' समुदाय की 'इत्' संज्ञा का विधान करता हैं। यद्यपि यहाँ रेफ की 'हलन्त्यम्' से और इकार की 'उपदेशेऽजनु०' से 'इत्' संज्ञा सिद्ध ही है, पुनरपि स्वतन्त्र रूप से 'इर्' समुदाय की 'इत्' संज्ञा का विधान 'इदितो नुम् धातोः' से प्राप्त 'नुम्' की अनिष्ट प्रसक्ति को रोकने के लिए किया गया है।

६२६. णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ ७।४।७५

णिज्-विज्-विषाम् अभ्यासस्य गुणः स्यात् श्लौ। नेनेक्ति, नेनिक्तः, नेनिजति। नेनिक्ते। निनेज, निनिजे। नेक्ता। नेक्ष्यति, नेक्ष्यते। नेनेक्तु। नेनिग्धि।

प० वि०–णिजाम् ६।३।। त्रयाणाम् ६।३।। गुणः १।१।। श्लौ ७।१।।

अनु०–अभ्यासस्य।

अर्थः–**णिज्** (शौचपोषणयोः–पवित्र करना या पोषण करना), **विज्** (पृथग्भावे–अलग होना) और **विष्** (व्याप्तौ–व्याप्त होना) धातुओं के अभ्यास को गुण होता है 'श्लु' परे रहते।

नेनेक्ति

णिजिर्	अनुबन्ध-लोप, 'णो नः' से धातु के आदि णकार को नकारादेश, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व तथा अभ्यास-कार्य होने पर
नि निज् ति	'णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ' से 'श्लु' परे रहते 'नि' धातु के अभ्यास के इकार को गुण तथा 'पुगन्तलघू०' से सार्वधातुक प्रत्यय 'ति' परे रहते धातु के उपधाभूत 'इक्' को गुण हुआ
ने नेज् ति	'चोः कुः' से 'झल्' परे रहते कुत्व 'ज्' को 'ग्' और 'खरि च' से चर्त्व 'ग्' को 'क्' होकर
नेनेक्ति	रूप सिद्ध होता है।

नेनिक्तः–'णिज्' धातु, 'णो नः' से धातु के आदि णकार को नकार, लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'शप्', 'श्लु' और 'श्लौ' से द्वित्व, 'णिजां त्रयाणां०' से अभ्यास को गुण, 'सार्वधातुकमपित्' से अपित् 'तस्' के ङित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'नेनिक्तः' सिद्ध होता है।

नेनिजति–'णिज्' धातु, 'णो नः' से धातु के आदि णकार को नकार, लट्, प्र० पु०, बहु० व० में 'झि', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' से 'शप्' को 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व होने पर 'निज् निज् + झि' इस स्थिति में 'उभे अभ्यस्तम्' से 'निज् निज्' की 'अभ्यस्त' संज्ञा, 'अदभ्यस्तात्' से 'झ्' को 'अत्' आदेश, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास में 'नि' शेष रहने पर 'णिजां त्रयाणा०' से अभ्यास को गुण होकर 'नेनिजति' सिद्ध होता है।

नेनिक्ते–'णिज्' धातु, 'णो नः' से णकार को नत्व, लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'श्लु' और द्वित्वादि कार्य, पूर्ववत् 'णिजां त्रयाणां०' से अभ्यास के इकार को गुण, 'सार्वधातुकमपित्' से अपित् 'त' के ङित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध, 'चोः कुः' से कुत्व, 'खरि च' से चर्त्व और 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर 'नेनिक्ते' रूप सिद्ध होता।

निनेज

णिजिर्	अनुबन्ध-लोप, 'णो नः' से णकार को नकारादेश, लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्', 'लिटि धातो०' से द्वित्व तथा अभ्यासादि कार्य होने पर
नि निज् अ	'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध अङ्ग के 'इक्' को गुण होकर
निनेज	रूप सिद्ध होता है।

निनिजे–'णिज्' धातु, 'णो नः' से णकार को नत्व, लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्', द्वित्वादि कार्य पूर्ववत्, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'त' के कित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध होकर 'निनिजे' रूप सिद्ध होता है।

नेक्ता–'णिज्' धातु, 'णो नः' से णकार को नत्व, लुट्, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा', डित्करणसामर्थ्य से 'आस्' (टिभाग) का लोप, 'पुगन्तलघूप०' से गुण, 'चोःकुः' से 'झल्' परे रहते 'ज्' को 'ग्' तथा 'खरि च' से 'ग्' को 'क्' होकर 'नेक्ता' रूप सिद्ध होता।

नेक्ष्यति, नेक्ष्यते–'णिज्' धातु, 'णो नः' से णकार को नत्व, लृट्, परस्मैपद तथा आत्मनेपद में प्र० पु०, एक व० में क्रमशः 'तिप्' और 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'पुगन्तलघू०' से गुण, 'चोः कुः' से कुत्व 'ज्' को 'ग्', खरि च' से चर्त्व 'ग्' को 'क्', 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व तथा आत्मनेपद में 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

नेनेक्तु–'निज्', लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'श्लु' और 'श्लौ' से द्वित्व आदि होकर लट् के समान 'नेनेक्ति' रूप बनने पर 'एरुः' से लोट् सम्बन्धी इकार को उकार होकर 'नेनेक्तु' रूप सिद्ध होता है।

नेनिग्धि–'णिज्', 'णो नः' से णकार को नत्व, लोट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'सेर्ह्यपिच्च' से अपित् 'हि' आदेश, 'हि' के ङित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध, 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से झलन्त से उत्तर 'हि' को 'धि' आदेश, 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ से द्वित्व, 'णिजां त्रयाणां गुणः०' से अभ्यास को गुण और 'चोः कुः' से कुत्व 'ज्' को 'ग्' आदेश होकर 'नेनिग्धि' रूप सिद्ध होता है।

६२७. नाऽभ्यस्तस्याऽचि पिति सार्वधातुके ७।३।८७

लघूपधगुणो न स्यात्। नेनिजानि। नेनिक्ताम्। अनेनेक्। अनेनिक्ताम्। अनेनिजुः। अनेनिजम्। अनेनिक्त। नेनिज्यात्। नेनीजीत। निज्यात्। निक्षीष्ट।

प० वि०–न अ०।। अभ्यस्तस्य ६।१।। अचि ७।१।। पिति ७।१।। सार्वधातुके ७।१।। **अनु०**–लघूपधस्य, गुणः।

अर्थः–अजादि पित् सार्वधातुक परे रहते 'अभ्यस्त' संज्ञक की लघु उपधा को गुण नहीं होता।

नेनिजानि–'णिज्' धातु, 'णो नः' से नत्व, लोट्, परस्मैपद, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' को 'मेर्निः' से 'नि' आदेश, पूर्ववत् 'शप्', 'श्लु' और 'श्लौ' से द्वित्वादि कार्य, 'णिजां त्रयाणां०' से अभ्यास को गुण, 'आडुत्तमस्य पिच्च' से उत्तम पुरुष संज्ञक 'नि' को पित् 'आट्' का आगम, 'नाऽभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से अजादि पित् सार्वधातुक परे रहते 'अभ्यस्त' को लघूपध गुण का निषेध होकर 'नेनिजानि' रूप सिद्ध होता है।

नेनिक्ताम्–'णिज्' धातु, 'णो नः' से णकार को नत्व, लोट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', लट् के समान ही 'नेनिक्ते' रूप बनने पर बनने पर 'आमेतः' से एकार को 'आम्' आदेश होकर 'नेनिक्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

अनेनेक्–'णिज्' धातु, 'णो नः' से णकार को नत्व, लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'इतश्च' से इकार-लोप, 'शप्', 'श्लु', द्वित्वादि कार्य, 'णिजां त्रयाणां०' से अभ्यास के इकार को गुण, 'पुगन्तलघू०' से सार्वधातुक परे रहते उपधा 'इक्' को गुण होने पर–'नेनेज्+त्' यहाँ 'अपृक्त एकाल्०' से 'त्' की 'अपृक्त' संज्ञा, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त 'हल्' का लोप, 'चोः कुः' से कुत्व 'ज्' को 'ग्' आदेश, 'वाऽवसाने' से अवसान में 'झल्' को विकल्प से चर्त्व और 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर 'अनेनेक्' रूप सिद्ध होता है।

अनेनिक्ताम्–'णिज्' धातु, 'णो नः' से नत्व, लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थ०' से 'ताम्' आदेश, 'शप्', 'श्लु', द्वित्व, 'णिजां त्रयाणां०' से अभ्यास को गुण, 'चोः कुः' से कुत्व, 'खरि च' से चर्त्व तथा अडागम होकर 'अनेनिक्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

अनेनिजुः–'णिज्' धातु, 'णो नः' से नत्व, लङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'शप्', 'श्लु', द्वित्व, 'सिजभ्यस्त०' से 'झि' को 'जुस्' आदेश, 'णिजां त्रयाणां०' से अभ्यास को गुण तथा अडागम होकर 'अनेनिजुः' रूप सिद्ध होता है।

अनेनिजम्–'णिज्' धातु, 'णो नः' से नत्व, लङ्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'अम्' आदेश, 'शप्', 'श्लु', द्वित्व, 'नाऽभ्यस्तस्याचि०' से अजादि पित् सार्वधातुक परे रहते अभ्यस्त को लघूपध गुण का निषेध, 'णिजां त्रयाणां०' से अभ्यास को गुण तथा अडागम होकर 'अनेनिजम्' रूप सिद्ध होता है।

अनेनिक्त–'णिज्' धातु, 'णो नः' से नत्व, लङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, 'णिजां त्रयाणां०' से अभ्यास के इकार को गुण, 'सार्वधातुकमपित्' से 'त' के ङित् होने से धातु को प्राप्त लघुपध गुण का 'क्ङिति च' से निषेध, 'चोः कुः' से 'ज्' को 'ग्', 'खरि च' से चर्त्व–ग्' को 'क्' आदेश और 'अट्' आगम होकर 'अनेनिक्त' रूप सिद्ध होता है।

नेनिज्यात्–'णिज्' धातु, 'णो नः' से णकार को नत्व, 'विधिनिमन्त्रण०' से 'लिङ्', परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', 'श्लु', द्वित्वादि पूर्ववत् 'यासुट्', 'सुट्', 'णिजां त्रयाणां०' से अभ्यास को गुण, 'यासुट्' के ङित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध और 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से दोनों सकारों का लोप होकर 'नेनिज्यात्' रूप सिद्ध होता है।

नेनिजीत–'णिज्' धातु, 'णो नः' से णकार को नत्व, लिङ्, आत्मनेपद, प्र ०पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'श्लु', 'श्लौ' से द्वित्व, 'सीयुट्', 'सुट्', पूर्ववत् 'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप और 'णिजां त्रयाणां०' से अभ्यास को गुण होकर 'नेनिजीत' रूप सिद्ध होता है।

निज्यात्–'णिज्' धातु, 'णो नः' से णकार को नत्व, 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट्', 'सुट्', 'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोग के आदिभूत दोनों सकारों का लोप, 'यासुट्' के 'किदाशिषि' से कित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध होकर 'निज्यात्' रूप सिद्ध होता है।

निक्षीष्ट–'णिज्' धातु, 'णो नः' से णकार को नत्व, आशीर्लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सीयुट्', 'सुट्', 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप, 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से इक् के समीप जो 'हल्', उससे उत्तर झलादि लिङ् के कित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध, 'चोः कुः' से कुत्व 'ज्' को 'ग्' तथा 'खरि च' से 'ग्' को 'क्', 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'निक्षीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

६२८. इरितो वा ३।१।५७

इरितो धातोश्च्लेरङ् वा परस्मैपदेषु। अनिजत्, अनैक्षीत्, अनिक्त। अनेक्ष्यत, अनेक्ष्यत।

॥ इति जुहोत्यादयः ॥

प० वि०–इरितः ५।१।। वा अ०।। **अनु०**–धातोः, च्लेः,अङ्, परस्मैपदेषु।

अर्थः–परस्मैपद परे रहते इरित् (इर् भाग इत्संज्ञक वाली) धातु से उत्तर 'च्लि' के स्थान पर विकल्प से **'अङ्'** आदेश होता है।

अनिजत्

णिजिर्	'हलन्त्यम्' से रेफ की और 'उपदेशेऽज०' से 'इ' की 'इत्' संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से दोनों का लोप हुआ
णिज्	'णो नः' से णकार को नकार आदेश, लुङ्, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'च्लि लुङि' से 'च्लि' प्रत्यय हुआ
निज् च्लि तिप्	'इरितो वा' से इरित् धातु से उत्तर 'च्लि' को विकल्प से 'अङ्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
निज् अ त्	'अङ्' के ङित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध तथा अडागम होकर
अनिजत्	रूप सिद्ध हुआ।

अङ्-अभाव पक्ष में

अनैक्षीत्

अ निज् स् त्	इस स्थिति में 'अस्तिसिचो०' से 'सिच्' से उत्तर अपृक्त संज्ञक 'त्' को 'ईट्' आगम, 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से परस्मैपदपरक सिंच् परे रहते हलन्त अङ्ग के अच् को वृद्धि, चोः कुः' से कुत्व 'ज्' को 'ग्' और 'खरि च' से चर्त्व 'ग्' को 'क्' हुआ
अ नै क् स् ई त्	'आदेशप्रत्यय०' से षत्व होकर
अनैक्षीत्	रूप सिद्ध होता है।

अनिक्त–'निज्', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'अनिज्+स् त' इस स्थिति में 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से 'सिच्' के कित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध, 'झलो झलि' से 'झल्' से उत्तर सकार का लोप झल् परे रहते, 'चोः कुः' से कुत्व और 'खरि च' से चर्त्व आदि होकर 'अनिक्त' रूप सिद्ध होता है।

अनेक्ष्यत्/अनेक्ष्यत–'निज्', लृङ्, परस्मैपद और आत्मनेपद के प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'पुगन्तलघूप०' से गुण, 'चोः कुः' से कुत्व, 'खरि च' से चर्त्व और 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

।। जुहोत्यादि गण समाप्त।।

अथ दिवादिर्गणः

दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति- गतिषु।१।

'दिव्' धातु-खेलना, जीतने की इच्छा, क्रय-विक्रय करना, चमकना, स्तुति करना, प्रसन्न होना, मदमत्त होना, सोना, इच्छा करना और गमन करना इन दस अर्थों में प्रयुक्त होती है।

६२९. दिवादिभ्यः श्यन् ३।१।६९

शपोऽपवादः। हलि च (६१२) इति दीर्घः-दीव्यति। दिदेव। देविता। देविष्यति। दीव्यतु। अदीव्यत्। दीव्येत्। दीव्यात्। अदेवीत्। अदेविष्यत्। एवं षिवु तन्तुसन्ताने।२। नृती गात्रविक्षेपे।३। नृत्यति। ननर्त। नर्तिता।

प० वि०-दिवादिभ्यः ५।३।। श्यन् १।१।। **अनु०**-कर्त्तरि, सार्वधातुके।

अर्थः-कर्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते दिवादि गण की धातुओं से उत्तर **'श्यन्'** प्रत्यय होता है।

यह सूत्र 'शप्' का अपवाद है।

दीव्यति

दिव्	'वर्तमाने लट्' से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्' की प्राप्ति थी जिसे बाधकर 'दिवादिभ्यः श्यन्' से दिवादि धातुओं से कर्तावाची सार्वधातुक परे रहते 'श्यन्' प्रत्यय हुआ, 'लशक्वतद्धिते' से प्रत्यय के आदि शकार की इत्संज्ञा, 'हलन्त्यम्' से 'न्' की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञकों का लोप हुआ
दिव् य ति	'सार्वधातुकमपित्' से 'श्यन्' प्रत्यय के ङित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध हुआ। 'हलि च' से हल् परे रहते वकारान्त की उपधा को दीर्घ होकर
दीव्यति	रूप सिद्ध होता है।

दिदेव

दिव्	'परोक्षे लिट्' से परोक्ष भूतकाल में होने वाली क्रिया-वाचक धातु से लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से

	'तिप्' के स्थान में 'णल्', अनुबन्ध-लोप तथा 'लिटि धातोरन०' से 'दिव्' को द्वित्व हुआ
दि दिव् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'पुगन्तलघू०' से लघूपध अङ्ग के 'इक्' को गुण होकर
दिदेव	रूप सिद्ध होता है।

देविता–'दिव्' धातु, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' के स्थान में 'डा' आदेश, डित्करण सामर्थ्य से टिभाग 'आस्' का लोप तथा 'पुगन्तलघूप०' से गुण होकर 'देविता' रूप सिद्ध होता है।

देविष्यति–'दिव्' धातु, 'लृट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य' प्रत्यय, 'आर्धधातुकस्ये०' से इडागम, 'पुगन्तलघूप०' से गुण और 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व होकर 'देविष्यति' रूप सिद्ध होता है।

दीव्यतु–'दिव्' धातु, 'लोट्', प्र० पु०, एक व० में तिप्' आकर 'लट्' के समान ही 'दीव्यति' रूप बनने पर 'एरुः' से लोट्- सम्बन्धी इकार को उकारादेश होकर 'दीव्यतु' रूप सिद्ध होता है।

अदीव्यत्–'दिव्' धातु, लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'दिवादिभ्यः श्यन्' से 'श्यन्', 'हलि च' से वकारान्त की उपधा को दीर्घ तथा 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर 'अदीव्यत्' रूप सिद्ध होता है।

दीव्येत्–'दिव्' धातु, विधि लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', दिवादिभ्यः श्यन्' से 'श्यन्' प्रत्यय, 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से 'यासुट्' आगम, सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम, 'अतो येयः' से अदन्त से उत्तर 'यास्' को 'इय्' आदेश, 'लिङः सलोपो०' से लिङ् सम्बन्धी अनन्त्य सकार का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप, 'आद् गुणः' से गुण तथा 'हलि च' से वकारान्त की उपधा को दीर्घ होकर 'दीव्येत्' रूप सिद्ध होता है।

दीव्यात्–'दिव्' धातु, आशीषि लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', लिङाशिषि' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ् के आर्धधातुक होने से 'श्यन्' नहीं हुआ, पूर्ववत् 'यासुट्' तथा 'सुट्', 'स्कोः संयोगाद्यो०' से सकारों का लोप, 'किदाशिषि' से लिङ् सम्बन्धी 'यासुट्' कित् हुआ अतः 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध और 'हलि च' से दीर्घ होकर दीव्यात्' रूप सिद्ध होता है।

अदेवीत्–'दिव्' धातु, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'अपृक्त' संज्ञक 'त्' को ईडागम, 'आर्धधातुकस्येड०' से इडागम, 'इट ईटि' से सकार-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ एकादेश तथा गुणादि सभी कार्य 'असेधीत्' (४५२) के समान होने पर 'अदेवीत्' जानें।

अदेविष्यत्–'दिव्' धातु, लृङ् प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से स्य, 'आर्धधातुकस्येड्०' से वलादि आर्धधातुक को इडागम, लघूपध गुण, 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व और अडागम होकर 'अदेविष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

षिव्–('तुन्तुसन्ताने-तन्तुओं का विस्तार करना अर्थात् सीना) धातु के 'सीव्यति', 'सिसेव', 'सेविता' 'सेविष्यति' आदि रूप 'दीव्यति', 'दिदेव', 'देविता', 'देविष्यति' आदि के समान जानें।

नृत्यति–'नृती'-गात्रविक्षेपे (अङ्ग पटकना अर्थात् नाचना), लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्यन्' आदि होकर 'नृत्यति' रूप सिद्ध होता है।

ननर्त

नृत्	'परोक्षे लिट्' से परोक्ष भूत अर्थ में लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' हुआ
नृत् णल्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से 'नृत्' को द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' से अभ्यास में 'ऋ' के स्थान में 'अ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
नर्त् नृत् अ	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'पुगन्तलघूप०' से ऋकार को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर
ननर्त	रूप सिद्ध होता है।

नर्तिता–'नृत्' धातु, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' से 'तिप्' के स्थान में 'डा' आदेश, डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम तथा 'पुगन्तलघूप०' से लघूपध अङ्ग के 'इक्' को गुण होकर 'नर्तिता' रूप सिद्ध होता है।

६३०. सेऽसिचि कृतचृतच्छृदतृदनृतः ७।२।५७

एभ्यः परस्य सिज्भिन्नस्य सादेरार्धधातुकस्येड् वा। नर्तिष्यति, नर्त्स्यति। नृत्यतु। अनृत्यत्। नृत्येत्। नृत्यात्। अनर्तीत्। अनर्तिष्यत्, अनर्त्स्यत्। त्रसी उद्वेगे ।४। 'वा भ्राश०' इति श्यन्वा। त्रस्यति, त्रसति। तत्रास।

प० वि०–से ७।१।। असिचि ७।१।। कृतचृतच्छृदतृदनृतः ५।१।। **अनु०**–आर्धधातुकस्य, इट्, वा।

अर्थः–कृत् (छेदने-काटना, तुदा० परस्मै०, वेष्टने-लपेटना, रुधादि० परस्मै०) **चृत्,** (हिंसाग्रन्थनयोः-हिंसा करना, संग्रथन करना), **छृद्,** (दीप्तिदेवनयोः- चमकना, खेलना), **तृद्** (हिंसाऽनादरयोः-हिंसा करना, अनादर करना) तथा **नृत्** (गात्रविक्षेपे-अङ्ग पटकना, नाचना) इन धातुओं से उत्तर सिच्-भिन्न सकारादि आर्धधातुक को विकल्प से **'इट्'** आगम होता है।

ये धातुएँ उदात्त है अतः 'इट्' सिद्ध ही था, पुनः उक्त सूत्र द्वारा विधान विकल्पार्थ है।

नर्तिष्यति–'नृत्' धातु, लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'सेऽसिचि कृतचृतच्छृद०' से सिच्-भिन्न सकारादि 'स्य' प्रत्यय को विकल्प से 'इट्' आगम, 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व और 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'नर्तिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

इडभाव पक्ष में 'नर्त्स्यति' रूप ही रहेगा।

नृत्यतु, अनृत्यत्, नृत्येत्, नृत्यात् आदि सभी रूपों में रेफान्त या वकारान्त न होने से उपधा को दीर्घ नहीं होता। इनकी सिद्धि-प्रक्रिया 'दीव्यतु' आदि के समान ही जानें।

अनर्तिष्यत्, अनर्त्स्यत्–'नृत्' धातु, लृङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्य', सिच्-भिन्न सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय को 'सेऽसिचि कृत०' से विकल्प से इडागम और 'पुगन्तलघू०' से गुण होकर 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से 'अट्' आगम होने पर 'लृट्' के समान ही दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

त्रस्यति–'त्रस्' धातु, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः' से सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते 'त्रस्' धातु से विकल्प से 'श्यन्' प्रत्यय होने पर 'त्रस्यति' तथा 'श्यन्' अभाव पक्ष में 'शप्' प्रत्यय होने पर 'त्रसति' रूप सिद्ध होता है।

तत्रास

त्रस्	'लिट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से 'णल्', अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से 'त्रस्' को द्वित्व हुआ
त्रस् त्रस् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'अत उपधायाः' से उपधा अकार को वृद्धि होकर
तत्रास	रूप सिद्ध होता है।

६३१. वा जॄभ्रमुत्रसाम् ६।४।१२४

एषां किति लिटि सेटि थलि च एत्त्वाभ्यासलोपौ वा। त्रेसतुः, तत्रसुतः। त्रेसिथ, तत्रसिथ। त्रसिता। शो तनूकरणे ।५।।

प० वि०–वा अ०।। जॄभ्रमुत्रसाम् ६।३।। **अनु०**–अङ्गस्य, एत्, अभ्यासलोपः, च, किति, अतः, लिटि, थलि च सेटि।

अर्थः–'**जॄ**' (वयोहानौ-बूढ़ा होना), '**भ्रम्**' (अनवस्थाने-भ्रमण करना) और '**त्रस्**' (उद्वेगे-घबराना) इन अङ्गों के ह्रस्व अकार के स्थान में 'ए' आदेश तथा अभ्यास-लोप विकल्प से होता है, कित्-ङित् 'लिट्' या सेट् 'थल्' परे रहते।

त्रेसतुः

त्रस्	लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'परस्मैपदानां०' से 'तस्' को 'अतुस्' आदेश और 'लिटि धातोरन०' से 'त्रस्' को द्वित्व हुआ

त्रस् त्रस् अतुस्	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'असंयोगाल्लिट् कित्' से अपित् लिट् 'अतुस्' प्रत्यय कित् होने पर 'वा जृभ्रमुत्रसाम्' से कित् लिट् परे रहते अभ्यास का विकल्प से लोप तथा अकार के स्थान में एत्व हुआ[१]
त्रेसतुस्	'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्ग होकर
त्रेसतुः	रूप सिद्ध होता है।

तत्रसतुः—एत्व तथा अभ्यास-लोप अभाव पक्ष में द्वित्वादि कार्य पूर्ववत् होकर 'तत्रसतुः' रूप सिद्ध होता है।

त्रेसिथ—'त्रस्' धातु, लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से 'थल्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'लिटि धातो०' से द्वित्व, अभ्यासादि कार्य, 'वाजृभ्रमुत्रसाम्' से सेट् 'थल्' परे रहते विकल्प से अभ्यास-लोप तथा अकार को विकल्प से एत्व होकर 'त्रेसिथ' रूप सिद्ध होता है।

अभ्यास लोप तथा एत्व-अभाव पक्ष में 'तत्रसिथ' रूप सिद्ध होता है।

६३२. ओतः श्यनि ७।३।७१

लोपः श्याच्छ्यनि। श्यति, श्यतः, श्यन्ति। शशौ, शशतुः। शाता। शास्यति।

प० वि०—ओतः ६।१।। श्यनि ७।१।। **अनु०**—लोपः, अङ्गस्य।

अर्थः—'श्यन्' परे रहते ओकारान्त अङ्ग का लोप होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य अल् 'ओ' का लोप हो जाता है।

'शो' (तनुकरणे—पतला करना, छीलना)

श्यति

शो	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'दिवादिभ्यः श्यन्' से 'श्यन्' अनुबन्ध-लोप
शो य ति	'ओतः श्यनि' से 'श्यन्' परे रहते ओकार का लोप होकर
श्यति	रूप सिद्ध होता है।

श्यतः, श्यन्ति—'शो' धातु, लट्, प्र० पु०, द्वि० व० तथा बहु व० में 'तस्' तथा 'झि' प्रत्यय, 'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश, 'दिवादिभ्यः श्यन्' से 'श्यन्', 'ओतः श्यनि' से ओकार का लोप, 'ससजुषो०' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

---

१. 'त्रस्' धातु में संयुक्त हलों के मध्य अकार होने से 'अत एकहल्मध्ये०' से एत्व और अभ्यास-लोप प्राप्त नहीं था।

शशौ–'शो' धातु, लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लिट्' के आर्धधातुक होने से 'श्यन्' नहीं होता, 'आदेच उपदेशेऽशिति' से उपदेश में एजन्त धातु के अन्त्य अल् 'ओ' के स्थान में आकार आदेश से हुआ अशित् विषय में, 'शा+तिप्' यहाँ 'परस्मैपदानां णल्०' से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' आदेश, 'आत औ णलः' से 'णल्' को 'औ' आदेश, 'लिटि धातो०' से 'शा' को द्वित्व, 'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व तथा 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश होकर 'शशौ' रूप सिद्ध होता है।

शशतुः, शाता, शास्यति–यहाँ सर्वत्र 'आदेच उपदेशेऽशिति' से शित् भिन्न-प्रत्यय के विषय में 'शो' धातु के ओकार के स्थान में आकारादेश होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'ददतुः', 'दाता' और 'दास्यति' (६२२) के समान जानें।

६३३. विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः २।४।७८

एभ्यस्सिचो लुग्वा स्यात् परस्मैपदे परे। अशात्, अशाताम्, अशुः। इट्सकौ (४९५)–अशासीत्, अशासिष्टाम्। छो छेदने ।६। छ्यति। षो अन्तकर्मणि ।७। स्यति। ससौ। दो अवखण्डने ।८। द्यति। ददौ। देयात्। अदात्। व्यध ताडने ।९।

प० वि०–विभाषा १।१।। घ्राधेट्शाच्छासः ५।३।। **अनु०**–सिचः, परस्मैपदेषु, लुक्।

अर्थः–घ्रा (गन्धोपादाने-सूँघना), **धेट्** (पाने-पीना), **शो** (तनुकरणे-पतला करना), **छो** (छेदने-काटना) और **षो** (अन्तकर्मणि-नाश करना) धातुओं से उत्तर **'सिच्'** का विकल्प से **लुक्** होता है परस्मैपद प्रत्यय परे रहते।

अशात्

शो	'आदेच उपदेशेऽशिति' से अशित् के विषय में एजन्त धातु के अन्तिम 'अल्' के स्थान में आकारादेश हुआ, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप
शा त्	'च्लि लुङि' से 'च्लि' तथा 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश हुआ
शा सिच् त्	'विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः' से 'शो' धातु से उत्तर परस्मैपद प्रत्यय परे रहते 'सिच्' का विकल्प से लुक् हुआ
शा त्	'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
अशात्	रूप सिद्ध होता है।

अशाताम्–'शो' धातु को 'आदेच उपदेशेऽशिति' से अशित्-विषय में आकार अन्तादेश होने पर लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश, 'विभाषाघ्राधेट्०' से 'शो' धातु से उत्तर 'सिच्' का विकल्प से लुक् तथा अडागम होकर 'अशाताम्' रूप सिद्ध होता है।

अशुः–'आदेच उपदेशे०' से 'शो' धातु के ओकार के स्थान पर आकारादेश, पूर्ववत् लुङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'सिच्' आने पर 'विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः' से

'सिच्' का लुक् होने पर 'आत:' से आकारान्त से उत्तर 'झि' को 'जुस्' आदेश, अनुबन्ध-लोप, 'उस्यपदान्तात्' से अपदान्त अकार से 'उस्' परे रहते पररूप, सकार को रुत्व और विसर्ग तथा अडागम होकर 'अशु:' रूप सिद्ध होता है।

अशासीत्

शो	'आदेच उपदेशे०' से आकार अन्तादेश, लुङ्, प्र० पु०, एक व० मे 'तिप्', अनुबन्ध-लोप, 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश और 'अट्' आगम होने पर 'विभाषा घ्राधेट्०' से वैकल्पिक सिज्लुक् न होने पर
अ शा स् त्	'अस्तिसिचोऽपृक्ते०' से 'त्' को ईडागम, 'यमरमनमातां०' से परस्मैपद परे रहते आकारान्त को 'सक्' का आगम तथा 'सिच्' को इडागम हुआ, अनुबन्ध-लोप
अ शा स् इ स् ई त्	'इट ईटि' से 'इट्' से उत्तर सकार का लोप हुआ 'ईट्' परे रहते
अ शा स् इ ईत्	'अक: सवर्णे दीर्घ:' से दीर्घ एकादेश होकर
अशासीत्	रूप सिद्ध होता है।

अशासिष्टाम्–'शो' धातु को 'आदेच उपदेशे०' से आकार अन्तादेश, लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश, 'सिच्', 'यमरमनमातां०' से 'सक्' और इडागम, 'आदेशप्रत्यययो:' से सकार को मूर्धन्य, ष्टुत्व और 'अट्' आगम होकर 'अशासिष्टाम्' रूप सिद्ध होता है।

छ्यति–'छो' (छेदने-काटना) धातु से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'दिवादिभ्य:०' से 'श्यन्', 'ओत: श्यनि' से 'श्यन्' परे रहते ओकार-लोप आदि कार्य होने पर 'छ्यति' रूप सिद्ध होता है।

स्यति–'षो' धातु के आदि षकार को 'धात्वादे: ष: स:' से 'स्' आदेश होने पर सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

ससौ–'षो' धातु, 'धात्वादे:ष: स:' से षकार को सकारादेश, 'आदेच उपदेशे०' से आकार अन्तादेश होने पर लिट्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'शशौ' (६३२.) के समान जानें।

द्यति–'दो' (अवखण्डने) लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्यन्', ओकार का 'ओत: श्यनि' से पूर्ववत् लोप आदि होकर 'श्यति' के समान ही 'द्यति' रूप भी जानें।

ददौ–'दो' (अवखण्डने) धातु को 'आदेच उपदेशे०' से आकार अन्तादेश होने पर लिट्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'शशौ' (६३२) के समान जानें।

देयात्

दो	'आदेच उपदेशेऽशिति' से अशित् के विषय में ओकार के स्थान में आकार आदेश, 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप

दा त् — 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से यासुडागम, 'सुट् तिथोः' से सुडागम, 'किदाशिषि' से 'यासुट्' कित् हुआ

दा यासुट् सुट् त् — अनुबन्ध-लोप, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से 'झल्' परे रहते और पदान्त में संयोग के आदि सकारों का लोप, 'दाधाघ्वदाप्' से 'दा' रूप धातु की 'घु' संज्ञा, 'एर्लिङि' से आर्धधातुक कित् लिङ् परे रहते घुसंज्ञक 'दा' धातु के अन्तिम अल् 'आ' को एत्वादेश होकर

देयात् — रूप सिद्ध होता है।

अदात्—'दो' धातु को 'आदेच उपदेशे०' से आकार अन्तादेश, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश, 'दाधाघ्वदाप्' से 'घु' संज्ञा होने से 'गातिस्थाघुपा०' से 'सिच्' का लुक् और 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से 'अट्' आगम होकर 'अदात्' रूप सिद्ध होता है।

६३४. ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ६।१।१६

एषां सम्प्रसारणं स्यात् किति ङिति च। विध्यति। विव्याध, विविधतुः, विविधुः। विव्यधिथ-विव्यद्ध। व्यद्धा। व्यत्स्यति। विध्येत्। विध्यात्। अव्यात्सीत्। पुष् पुष्टौ ।१०। पुष्यति। पुपोष। पुपोषिथ। पोष्टा। पोक्ष्यति। 'पुषादिद्युतादि०' (५०७) इत्यङ्। अपुषत्। शुष् शोषणे ।११। शुष्यति। शुशोष। अशुषत्। णश अदर्शने ।१२। नश्यति। ननाश, नेशतुः।

प० वि०—गृहिज्या........भृज्जतीनाम् ६।३।। ङिति ७।१।। च अ०।।

अनु०—किति, सम्प्रसारणम्।

अर्थः—**ग्रह** (उपादाने-लेना, ग्रहण करना), **ज्या** (वयो हानौ-बूढा होना), **वेञ्** (तन्तुसताने कपड़ा बुनना), **व्यध्** (ताडने-मारना), **वश्** (कान्तौ-चाहना), **व्यच्**, (व्यजीकरणे-धोखा देना), **व्रश्च्** (छेदने-काटना), **प्रच्छ्** (ज्ञीप्सायाम्-पूछना) और **भ्रस्ज्** (पाके-भूनना) इन धातुओं को कित् या ङित् प्रत्यय परे रहते **सम्प्रसारण** होता है।

विध्यति

व्यध् — लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'दिवादिभ्यः०' से कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते 'श्यन्' हुआ

व्यध् श्यन् ति — अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकमपित्' से अपित् सार्वधातुक 'श्यन्' के ङित् होने से 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से 'व्यध्' धातु' को सम्प्रसारण हुआ, 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' से सम्प्रसारण परे रहते पूर्व 'यण्' (व्) को सम्प्रसारण (उ) का निषेध होने पर 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से 'य्' को 'इ' आदेश हुआ

व् इ अ ध् य ति	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण (इ) से 'अच्' (अ) परे रहते पूर्वरूप एकादेश (इ) होकर
विध्यति	रूप सिद्ध होता है।

विव्याध

व्यध्	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
व्यध् अ	'लिटि धातो०' से लिट् परे रहते 'व्यध्' को द्वित्व हुआ
व्यध् व्यध् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' से लिट् परे रहते 'व्यध्' धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण हुआ, 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' से वकार को सम्प्रसारण का निषेध होने पर 'इग्यणः सम्प्र०' से 'य्' को 'इ' हुआ
व् इअध् व्यध् अ	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण से 'अच्' परे रहते पूर्वरूप एकादेश तथा 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
वि व्यध् अ	'अत उपधायाः' से णित् प्रत्यय परे रहते उपधा 'अ' को वृद्धि 'आ' होकर
विव्याध	रूप सिद्ध होता है।

विविधतुः

व्यध्	लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'परस्मैपदानां णलतुस्०' से 'अतुस्' आदेश हुआ
व्यध् अतुस्	'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'अतुस्' कित् होता है अतः 'सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्' परिभाषा के अनुसार द्वित्व से पूर्व 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से कित् परे रहते 'व्यध्' को सम्प्रसारण, यकार के स्थान में इकार हुआ
व् इ अ ध् अतुस्	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण से 'अच्' परे रहते पूर्वरूप एकादेश हुआ
विध् अतुस्	'लिटि धातोर०' से 'विध्' को पूर्ववत् द्वित्व तथा अभ्यासादि कार्य, सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर
विविधतुः	रूप सिद्ध होता है

विविधुः—'व्यध्', लिट्, प्र० पु०, बहु व० में झि', 'परस्मैपदानां०' से 'झि' को 'उस्' आदेश, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'उस्' के कित् होने पर 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से सम्प्रसारण, 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' से पूर्व 'यण्' वकार को सम्प्रसारण का निषेध होने से 'य्' को सम्प्रसारण 'इ' आदेश, 'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप एकादेश, 'लिटि

'लिटि धातो०' से द्वित्व, अभ्यास-कार्य, सकार को रुत्व और विसर्ग होकर 'विविधुः' सिद्ध होता है।

विव्यधिथ–'व्यध्' धातु, लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' के स्थान में 'परस्मैपदानां णलतुस्०' से 'थल्' आदेश, 'ऋतो भारद्वाजस्य' से विकल्प से इडागम, 'लिटि धातो०' से द्वित्व, 'लिट्यभ्यासस्यो०' से 'लिट्' परे रहते अभ्यास को सम्प्रासरण, 'न सम्प्रसारणे०' से वकार को सम्प्रसारण का निषेध होने पर 'य्' को सम्प्रसारण 'इ' और 'सम्प्रसारणाच्च' से 'अच्' को पूर्वरूप होकर 'विव्यधिथ' रूप सिद्ध होता है।

विव्यद्ध–इडभाव पक्ष में–'वि+व्यध्+थ' इस स्थिति में 'झषस्तथो०' थकार को धकार आदेश, 'झलां जश् झशि' से धातु के 'झल्' धकार को 'जश्' दकार होकर 'विव्यद्ध' रूप सिद्ध होता है।

व्यद्धा–'व्यध्' धातु, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' के स्थान में 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप, 'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'झष्' से उत्तर तकार को धकारादेश, 'झलां जश् झशि' से 'झल्' (ध्) को 'जश्' (द्) होकर 'व्यद्धा' रूप सिद्ध होता है।

व्यत्स्यति–'व्यध्' धातु, लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'खरि च' से 'ध्' को 'त्' होकर 'व्यत्स्यति' रूप सिद्ध होता है।

विध्येत्–'व्यध्', लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्यन्', 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से 'यासुट्' आगम, 'सुट् तिथोः' से सुडागम, 'यासुट्' के ङित् होने से 'ग्रहिज्यावयि०' से सम्प्रारण, 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' से वकार को सम्प्रसारण का निषेध होने पर 'य्' को 'इ' सम्प्रसारण हुआ, 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप, 'अतो येयः' से 'यासुट्' के 'यास्' को 'इय्' आदेश, 'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप तथा 'आद् गुणः' से गुण होकर 'विध्येत्' रूप सिद्ध होता है।

विध्यात्–'व्यध्', आशीर्लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट्, 'सुट्', 'किदाशिषि' से 'यासुट्' कित् हुआ, अतः 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप और 'स्कोः संयोगाद्यो०' से सकारों का लोप होकर 'विध्यात्' रूप सिद्ध होता है।

अव्यात्सीत्

व्यध्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच् आदेश हुआ
व्यध् सिच् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते०' से ईडागम, 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से 'सिच्' परे रहते हलन्त अङ्ग के 'अच्' को वृद्धि, 'खरि च' से चर्त्व 'ध्' को 'त्' आदेश तथा अडागम होकर
अव्यात्सीत्	रूप सिद्ध हांता है।

पुष्यति–'पुष्' धातु, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्यन्' आदि होकर 'पुष्यति' रूप सिद्ध होता है।

पुपोष–'पुष्' धातु, लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश, 'लिटि धातो०' से 'पुष्' को द्वित्व, अभ्यासादि कार्य तथा 'पुगन्तलघू०' से गुण होकर 'पुपोष' रूप सिद्ध होता है।

पुपोषिथ–'पुष्' धातु, लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' के स्थान में 'थल्', क्रादिनियम (कृसृभृवृ०) से इडागम होने पर शेष कार्य पूर्ववत् जानें।

पोष्टा–'पुष्' धातु, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' के स्थान में 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'एकाच उपदेशेऽनु०' से 'इट्' का निषेध, डित्करण सामर्थ्य से टिभाग का लोप, 'पुगन्तलघू०' से गुण, 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' से 'त्' को 'ट्' होकर 'पोष्टा' रूप सिद्ध होता है।

पोक्ष्यति–'पुष्' धातु से लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्य', लघूपध गुण, षढोः कः सि' से सकार परे रहते षकार को ककारादेश और 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'पोक्ष्यति' रूप सिद्ध होता है।

अपुषत्

पुष्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि' प्रत्यय, 'पुषादिद्युता०' से 'च्लि' के स्थान में 'अङ्' आदेश तथा अडागम होकर
अपुषत्	रूप सिद्ध होता है।

'शुष्' धातु से **शुष्यति, शुशोष, अशुषत्** इत्यादि सभी रूप 'पुष्यति', 'पुपोष', 'अपुषत्' इत्यादि के समान जानें।

नश्यति–'णश्' धातु के आदि णकार को 'णो नः' से नकारादेश, पूर्ववत् लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्यन्' आदि होकर 'नश्यति' रूप सिद्ध होता है।

ननाश

णश्	'णो नः' से धातु के आदि णकार को नकार आदेश, लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश हुआ
नश् णल्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातोरन०' से 'नश्' को द्वित्व, 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
न नश् अ	'अत उपधायाः' से उपधा में ह्रस्व अकार को वृद्धि होकर
ननाश	रूप सिद्ध होता है।

नेशतुः

णश्	'णो नः' से णकार को नत्व, लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को परस्मैपदानां० से 'अतुस्' आदेश हुआ
नश् अतुस्	'लिटि धातोरन०' से 'नश्' को द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा तथा 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
न नश् अतुस्	'अत एकहल्मध्ये०' से लिट् परे रहते असंयुक्त हलों के मध्य स्थित ह्रस्व अकार के स्थान में एकार आदेश तथा अभ्यास का लोप हुआ
नेश् अतुस्	'ससजुषो०' से सकार को रुत्त्व और रेफ को विसर्ग होकर
नेशतुः	रूप सिद्ध होता है।

६३५. रधादिभ्यश्च ७।२।४५

रध् नश्, तृप्, दृप्, द्रुह्, मुह्, ष्णुह्, ष्णिह्-एभ्यो वलाद्यार्धधातुकस्य वेट् स्यात्। नेशिथ।

प० वि०–रधादिभ्यः ५।३।। च अ०।। **अनु०**–आर्धधातुकस्य, इट्, वलादेः, वा।

अर्थः–**रध्** (हिंसायाम्–हिंसा करना), **नश्** (अदर्शने–नष्ट होना) **तृप्,** (तृप्तौ–तृप्त होना), **दृप्** (हर्षविमोहनयोः–अभिमान करना), **द्रुह्** (जिघांसायाम्– द्रोह करना), **मुह्** (वैचित्यै-मूढ होना) **ष्णुह्** (उद्गिरणे-वमन करना) और **ष्णिह्** (प्रीतौ– स्नेह करना) इन आठ रधादि धातुओं से उत्तर वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इडागम होता है।

नेशिथ–'नश्' धातु, लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से 'थल्' आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्०' से नित्य 'इट्' आगम प्राप्त था, जिसे बाधकर 'रधादिभ्यश्च' से विकल्प से इडागम, 'लिटि धातो०' से 'नश्' को द्वित्व, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'थलि च सेटि' से सेट् 'थल्' परे रहते एत्व और अभ्यास लोपादि होकर 'नेशिथ' रूप सिद्ध होता है।

६३६. मस्जिनशोर्झलि ७।१।६०

नुम् स्यात्। ननंष्ठ। नेशिव, नेश्व। नेशिम, नेश्म। नशिता, नंष्टा। नशिष्यति, नङ्क्ष्यति। नश्यतु। अनश्यत्। नश्येत्। नश्यात्। अनशत्।

षूङ् प्राणिप्रसवे ।१३। सूयते। सुषुवे। क्रादिनियमादिट्। सुषुविषे। सुषुविवहे। सुषुविमहे। सोता, सविता। दूङ् परितापे।१४। दूयते। दीङ् क्षये।१५। दीयते।

प० वि०–मस्जिनशोः ६।२।। झलि ७।१।। **अनु०**–नुम्, अङ्गस्य।

अर्थः–**मस्ज्** (शुद्धौ-शुद्ध करना) तथा **नश्** (अदर्शने-दिखाई न देना) धातु को 'नुम्' आगम होता है, झलादि प्रत्यय परे रहते।

'नुम्' आगम मित् होने के कारण 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से अन्तिम 'अच्' से परे होता है।

ननंष्ठ

णश्	'णो नः' से णकार को नत्व, लिट्, म० पु०, एक व०, में 'सिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'सिप्' को 'थल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
नश् थ	जब 'रधादिभ्यश्च' से 'थल्' को वैकल्पिक इडागम नहीं होगा तो 'मस्जिनशोर्झलि' से झलादि प्रत्यय परे रहते 'नश्' धातु को 'नुम्' आगम हुआ, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से मित् आगम अन्तिम अच् से परे हुआ
न नुम् श् थ	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व, 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
न न न् श् थ	'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'झल्' (थकार) परे रहते शकार को षकारादेश, 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व 'थ्' को 'ठ्' आदेश तथा 'नश्चापदान्तस्य झलि' से 'झल्' परे रहते अपदान्त नकार को अनुस्वारादेश होकर
ननंष्ठ	रूप सिद्ध होता है।

नेशिव, नेश्व, नेशिम, नेश्म–'नश्', लिट्, उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में क्रमशः 'वस्' और 'मस्' को 'रधादिभ्यश्च' से विकल्प से इडागम होकर द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा 'अत एकहल्मध्ये०' से अभ्यास का लोप तथा एकारादेश होने पर 'नेशिव' और 'नेशिम' तथा इडभाव पक्ष में 'नेश्व' और 'नेश्म' रूप सिद्ध होते हैं।

नशिता–'नश्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' के स्थान में 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्' प्रत्यय, डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप, 'रधादिभ्यश्च' से 'नश्' धातु से उत्तर वलादि आर्धधातुक 'तास्' को विकल्प से इडागम होकर 'नशिता' रूप सिद्ध होता है।

नंष्टा–इडभाव पक्ष में झलादि प्रत्यय 'तास्' परे है इसलिए 'मस्जिनशोर्झलि' से 'नश्' को नुमागम, पूर्ववत् 'व्रश्चभ्रस्ज०' से शकार को षत्व, 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व तथा 'नश्चापदान्तस्य०' से अपदान्त नकार को अनुस्वारादेश होकर 'नंष्टा' रूप सिद्ध होता है।

नशिष्यति–'नश्', लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी० से 'स्य', 'रधादिभ्यश्च' से विकल्प से इडागम, 'आदेशप्रत्यय०' से इण् से उत्तर सकार को मूधन्यादेश होकर 'नशिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

नङ्क्ष्यति–इडभाव पक्ष में 'नश्+स्य+ति' यहाँ 'मस्जिनशोर्झलि' से नुमागम,

'व्रश्चभ्रस्ज०' से षत्व, 'षढोः कः सि' से सकारादि प्रत्यय परे रहते षकार को ककारादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से 'स्य' के सकार को षत्व, 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अपदान्त नकार को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्णादेश 'ङ्' होकर 'नङ्क्ष्यति' रूप सिद्ध होता है।

नश्यतु—'नश्', लोट्, प्र० पु०, एक व० में लट् के समान ही 'नश्यति' रूप बनने पर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर 'नश्यतु' रूप सिद्ध होता है।

अनश्यत्—'नश्', लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'दिवादिभ्यः श्यन्' से 'श्यन्' तथा अडागम आदि कार्य जानने चाहिए।

नश्येत्—'नश्' धातु से वि० लिङ्, प्र० पु०, एक, व० में 'तिप्', 'श्यन्', 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आने पर 'अतो येयः' से 'यास्' को 'इय्', 'लिङः सलोपो०' से सकार का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप तथा 'आद् गुणः' से गुण होकर 'नश्येत्' रूप सिद्ध होता है।

नश्यात्—'नश्', आशीर्वाद अर्थ में 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', (आशीर्लिङ् के आर्धधातुक होने से 'श्यन्' नहीं होगा) 'यासुट्', 'सुट्' आदि होने पर 'स्कोः संयोगाद्यो०' से सकारों का लोप होकर 'नश्यात्' रूप सिद्ध होता है।

अनशत्—'नश्', लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'अनशत्' की सिद्धि-प्रक्रिया 'अपुषत्' (६३४) के समान जानें।

सूयते—षूङ् (प्राणिप्रसवे—प्राणियों को पैदा करना) अनुबन्ध-लोप, 'धात्वादेः षः सः' से धातु के आदि षकार को सकारादेश, लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'दिवादिभ्यः श्यन्' से 'श्यन्', 'टित आत्मनेपदानां०' से 'त' के टिभाग को एत्व होकर 'सूयते' रूप सिद्ध होता है।

सुषुवे

षू	'धात्वादेः षः सः' से धातु के आदि षकार को सकारादेश, लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' और 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'त' के स्थान में 'एश्' आदेश हुआ अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातोरन०' से 'सू' को द्वित्व, 'पूर्वोभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व हुआ
सू एश्	
सु सू ए	'असंयोगाल्लिट् कित्' से असंयोगान्त धातु से उत्तर अपित् लिट् 'एश्' के 'कित्' होने के कारण 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होने पर 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से धातु के ऊकार को 'उवङ्' आदेश हुआ
सु स् उवङ् ए	अनुबन्ध-लोप

सु स् उव् ए — 'आदेशप्रत्यययोः' से 'इण्' से उत्तर आदेश के सकार को मूधर्न्यादेश होकर

सुषुवे — रूप सिद्ध होता है।

सुषुविषे, सुषुविवहे, सुषुविमहे–'षू' धातु को 'धात्वादेः षः सः' से षकार को सकार आदेश होने पर लिट्, म० पु०, एक व० में 'थास्' के स्थान में 'थासः से' सूत्र से 'से' आदेश और उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में क्रमशः 'वहि' और 'महि' को 'स्वरतिसूति०' से विकल्प से 'इट्' प्राप्त हुआ जिसका 'श्र्युकः किति' से एकाच् उगन्त से उत्तर कित् वलादि आर्धधातुक को 'इट्' का निषेध होने पर 'कृसृभृवृ०' (क्रादि नियम) से नित्य 'इट्' आगम हुआ, 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व, 'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व, आदेशप्रत्यययोः' से षत्व और 'टित आत्मनेपदानां०' एत्व होकर 'सुषुविषे', 'सुषुविवहे' और 'सुषुविमहे' रूप सिद्ध होते हैं।

दूयते, दीयते–दूङ् (परितापे–दुःखी होना) तथा **दीङ्** (क्षये–नष्ट होना) दोनों ङित् धातुओं से 'अनुदात्तङित०' से आत्मनेपद, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'श्यन्' तथा 'टि' भाग को एत्व इत्यादि सभी कार्य 'सूयते' की समान होने पर क्रमशः **दूयते** और **दीयते** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

६३७. दीङो युडचि क्ङिति ६।४।६३

दीङः परस्य अजादेः क्ङित आर्धधातुकस्य युट्। (वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ) दिदीये।

प० वि०–दीङः ५।१।। युट् १।१।। अचि ७।१।। क्ङिति ७।१।। **अनु०**–आर्धधातुके।

अर्थः–'**दीङ्**' धातु से उत्तर अजादि कित् या ङित् आर्धधातुक को '**युट्**' का आगम होता है।

(वा०) वुग्युटावुवङ्०–अर्थ– 'उवङ्' तथा 'यण्' करने में 'वुक्' और 'युट्' को सिद्ध कहना चाहिए। यहाँ यथासंख्य परिभाषा का आश्रय लिया जाता है।

दिदीये

दी — लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० 'त', 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'त' के स्थान में 'एश्' आदेश, अनुबन्ध-लोप, 'असंयोगाल्लिट्०' से असंयोगान्त धातु से उत्तर अपित् लिट् (एश्) कित् हुआ

दी ए — 'दीङो युडचि क्ङिति' से 'दीङ्' से उत्तर अजादि कित् प्रत्यय को युडागम, अनुबन्ध-लोप

दी य् ए — 'लिटि धातो'० से लिट् परे रहते 'दी' को द्वित्व तथा 'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व हुआ

दि दी य् ए — 'असिद्धवदत्राभात्' से 'युट्' के असिद्ध होने से 'एरनेकाचो

संयोग०' से 'यण्' की प्राप्ति थी, किन्तु (वा०) 'वुग्युटावुवङ्०' से 'युट्' को सिद्ध मान लेने पर 'अच्' परे न मिलने से 'यण्' आदेश नहीं होता, इस प्रकार संहिता होने पर
रूप सिद्ध होता है।

दिदीये

६३८. मीनाति-मिनोति-दीङां ल्यपि च ६।१।५०

एषामात्त्वं स्याल्ल्यपि चादशित्येज्निमित्ते। दाता। दास्यते। (वा०) स्थाघ्वोरित्त्वे दीङः प्रतिषेधः। अदास्त। डीङ् विहायसा गतौ।१६। डीयते। डिड्ये। डयिता। पीङ् पाने।१७। पीयते। पेता। अपेष्ट। माङ् माने।१८। मायते। ममे। जनी प्रादुर्भावे।१९।

प० वि०—मीनातिमिनोतिदीङाम् ६।३।। ल्यपि ७।१।। च अ०।। **अनु०**—आदेचः, उपदेशे।

अर्थः—'ल्यप्' का विषय उपस्थित होने पर या 'एच्' का जो निमित्त बन सके ऐसे शित्-भिन्न प्रत्यय का विषय बनने पर **मी** (हिंसायाम्-हिंसा करना), **मि** (प्रक्षेपणे-फेंकना) और **दी** (क्षये-नष्ट होना) धातुओं को उपदेश अवस्था में ही आकार आदेश होता है। 'एच्' के विषय में ही अर्थात् 'एच्' बनने की सम्भावना होने पर ही आत्त्व हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से 'एच्' बनने से पूर्व ही अन्तिम 'अल्' (इकार) को आत्त्व हो जाता है।

दाता

दी — लुट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर 'स्यतासी०' से 'तास्' प्रत्यय होगा ऐसी संभावना होने से यहाँ 'तास्' परे रहते 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण की संभावना भी होगी और भविष्य में 'एच्' का विषय बनेगा, अतः 'मीनाति-मिनोतिदीङां०' से 'एच्' की संभावना होने से 'दी' धातु के अन्तिम 'अल्' ईकार के स्थान में आकार आदेश हुआ

दा — लुट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्' और डित्करणसामर्थ्य से टिभाग 'आस्' का लोप होकर

दाता — रूप सिद्ध होता है।

दास्यते—'दी' धातु से आत्मनेपद में 'लृट्' आने पर 'स्यतासी०' से आने वाले 'स्य' को निमित्त मानकर गुण की संभावना बनेगी अतः 'मीनातिमिनोति०' से आकारादेश होकर 'दा' बनने पर लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'दास्यते' रूप जानना चाहिए।

(वा०) स्थाघ्वोरित्वे०—अर्थः—'स्थाघ्वोरिच्च' सूत्र से आत्मनेपद परे रहते 'घु' संज्ञक को इकार अन्तादेश और उससे उत्तर 'सिच्' को कित्वत् विधान किया गया है वह 'दीङ्' धातु का (आकारादेश होकर 'दा' बनने पर) नहीं होता।

अदास्त

दी	'लुङ् लकार में 'एच्' का निमित्त 'सिच्' आएगा ऐसा विषय बनने पर 'मीनातिमिनोतिदीङां०' से आकार अन्तादेश हुआ
दा	लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि लुङि' से 'च्लि' और 'च्ले: सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश हुआ
दा सिच् त	अनुबन्ध-लोप
दा स् त	'दाधाघ्वदाप्' से 'दा' की 'घु' संज्ञा होने पर 'स्थाघ्वोरिच्च' से 'घु' संज्ञक 'दा' को इकार अन्तादेश और 'सिच्' को कित्वत् अतिदेश प्राप्त हुआ, जिसका 'स्थाघ्वोरित्त्वे दीङ: प्रतिषेध:' से निषेध हुआ, 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से 'अट्' आगम होने पर
अदास्त	रूप सिद्ध होता है।

डीयते–'डीङ्' (विहायसा गतौ) धातु से लट्, 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'दिवादिभ्य: श्यन्' से 'श्यन्', 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर 'डीयते' रूप सिद्ध होता है।

डिड्ये

डी	लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्' आदेश हुआ
डी एश्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से 'डी' को द्वित्व, 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'ह्रस्व:' से अभ्यास में 'अच्' को ह्रस्वादेश हुआ
डि डी ए	'एरनेकाचो०' से धातु का अवयव संयोग पूर्व में नहीं है जिसके ऐसा इवर्णान्त धातु, तदन्त अनेकाच् अङ्ग को 'यण्' आदेश हुआ
डि ड् य् ए	संहिता होकर
डिड्ये	रूप सिद्ध होता है।

डयिता–'डीङ्' धातु, लुट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लुट: प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, डित्करण सामर्थ्य से टिभाग का लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा 'एचोऽयवायाव:' से अयादेश होकर 'डयिता' रूप सिद्ध होता है।

पीयते–'पीङ्' (पाने) धातु से लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'डीयते' इत्यादि के समान 'पीयते' रूप जानना चाहिए।

पेता–'पीङ्', लुट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लुट: प्रथमस्य०' से 'त' के स्थान में 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा डित्करण सामर्थ्य से टिभाग का लोप होकर 'पेता' रूप सिद्ध होता है।

अपेष्ट–'पीङ्' धातु, लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'चलेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व, 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व तथा अडागम होकर 'अपेष्ट' रूप सिद्ध होता है।

मायते–'माङ्' धातु, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'श्यन्' तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'मायते' रूप सिद्ध होता है।

ममे

माङ्	अनुबन्ध-लोप, लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
मा त	'लिटस्तझयो०' से 'त' के स्थान में 'एश्', अनुबन्ध-लोप
मा ए	'लिटि धातोरन०' से 'लिट्' परे रहते 'मा' को द्वित्व
मा मा ए	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा तथा 'ह्रस्वः' से अभ्यास में 'अच्' को ह्रस्व हुआ
म मा ए	'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'ए' के 'कित्' होने से तथा 'लिट् च' से लिट् लकार के आर्धधातुक होने के कारण 'आतो लोप इटि च' से अजादि कित् आर्धधातुक परे रहते आकार का लोप होकर
ममे	रूप सिद्ध होता है।

६३९. ज्ञाजनोर्जा ७।३।७९

अनयोर्जादेशः स्याच्छिति। जायते। जज्ञे। जनिता। जनिष्यते।

प० वि०–ज्ञाजनोः ६।२।। जा १।१।। **अनु०**–शिति।

अर्थः–शित् परे रहते **'ज्ञा'** (अवबोधने–जानना) तथा **'जन्'** (प्रादुर्भावे–पैदा होना) धातु के स्थान पर **'जा'** आदेश होता है।

'अनेकाल्शित् सर्वस्य' परिभाषा से अनेकाल् होने के कारण 'जा' आदेश सम्पूर्ण स्थानी 'ज्ञा' और 'जन्' के स्थान पर होता है।

जायते

जन्	लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'दिवादिभ्यः श्यन्' से 'श्यन्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप
जन् य त	'ज्ञाजनोर्जा' से शित् प्रत्यय 'श्यन्' परे रहते 'जन्' को 'जा' आदेश हुआ
जा य त	'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्त्व होकर
जायते	रूप सिद्ध होता है।

जज्ञे

जन्	लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर 'लिटस्तझयो०' से 'त' के स्थान में 'एश्' आदेश हुआ
जन् एश्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से 'जन्' को द्वित्व हुआ
जन् जन् ए	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से आदि 'हल्' शेष् रहा, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'एश्' के कित् होने पर 'गमहनजनखनघसां०' से कित् प्रत्यय परे रहते 'जन्' की उपधा अकार का लोप हुआ
ज ज्न् ए	'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व 'न्' को 'ञ्' होकर
जज्ञे	रूप सिद्ध होता है।

जनिता–'जन्' धातु, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'त' का 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्', इडागम तथा डित्सामर्थ्य से टि भाग 'आस्' का लोप होकर 'जनिता' रूप सिद्ध होता है।

जनिष्यते–'जन्' धातु, लृट, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से टि भाग को एत्व होकर 'जनिष्यते' रूप सिद्ध होता है।

६४०. दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् ३।१।६१

एभ्यश्च्लेश्चिण् वा स्यादेकवचने तशब्दे परे।

प० वि०–दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्यः ५।३।। अन्यतरस्याम् ७।१। **अनु०**–च्लेः, चिण, ते।

अर्थः–**दीप्** (दीप्तौ-चमकना), **जन्** (प्रादुर्भावे-उत्पन्न होना), **बुध** (अवगमने-जानना), **पूर्** (आप्यायने-पूर्ण करना), **ताय्** (सन्तानपालनयोः-फैलाना, पालन करना) और **प्याय्** (वृद्धौ-फूलना) धातुओं से उत्तर **'च्लि'** के स्थान पर विकल्प से **'चिण्'** आदेश होता है, एक वचन-संज्ञक 'त' शब्द परे हो तो।

६४१. चिणो लुक् ६।४।१०४

चिणः परस्य तशब्दस्य लुक् स्यात्।

प० वि–चिणः ५।१।। लुक् १।१।।

अर्थः–'चिण्' से उत्तर 'त' प्रत्यय का लुक् होता है।

६४२. जनिवध्योश्च ७।३।३५

अनयोरुपधाया वृद्धिर्न स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च। अजनि, अजनिष्ट। दीपी दीप्तौ। २०। दीप्यते। दिदीपे। अदीपि, अदीपिष्ट। पद गतौ ।२१। पद्यते। पेदे। पत्ता। पत्सीष्ट।

प० वि०–जनिवध्योः ६।२।। च अ०।। **अनु०**–अङ्गस्य, अतः, उपधायाः, वृद्धिः, न, चिण्कृतोः, ञ्णिति।

अर्थः–'**जन्**' तथा '**वध्**' अङ्ग (धातुओं) की उपधा को 'चिण्' परे रहते अथवा कृत् संज्ञक ञित् और णित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि नहीं होती।

अजनि

जन् — लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि लुङि' से 'लुङ्' परे रहते 'च्लि', 'दीपजनबुधपूरितायि०' से 'जन्' धातु से उत्तर 'च्लि' को विकल्प से 'चिण्' आदेश हुआ

जन् चिण् त — 'चिणो लुक्' से 'चिण्' से उत्तर 'त' का लुक् हुआ

जन् चिण् — अनुबन्ध-लोप, 'अत उपधायाः' से णित् प्रत्यय परे रहते उपधा में ह्रस्व अकार को वृद्धि प्राप्त हुई, 'जनिवध्योश्च' से 'चिण्' परे रहते 'जन्' की उपधा को वृद्धि का निषेध हुआ, 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर

अजनि — रूप सिद्ध होता है।

अजनिष्ट–चिण्-अभाव पक्ष में 'च्लि' के स्थान में 'च्लेः सिच्' से 'सिच्' आदेश, 'इट्' आगम होने पर 'अ+जन्+इ+स्+त' इस स्थिति में 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'अजनिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

दीप्यते–'दीप्' धातु, लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'दिवादिभ्यः०' से 'श्यन्' और 'टित आत्मने पदानां०' से एत्व आदि कार्य होकर 'दीप्यते' रूप सिद्ध होता है।

दिदीपे–'दीप्' धातु, लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्', 'लिटि धातो०' से 'दीप्' को द्वित्व, 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व होकर 'दिदीपे' रूप सिद्ध होता है।

अदीपि, अदीपिष्ट–'दीप्', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'च्लि' को 'दीपजनबुध० से वैकल्पिक चिण् आदेश पक्ष में 'अदीपि' तथा चिणभाव पक्ष में 'अदीपिष्ट' की सिद्धि-प्रक्रिया 'अजनि' तथा 'अजनिष्ट' के समान जानें।

पद्यते–'पद्' (गतौ–चलना) धातु, लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'श्यन्' आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

पेदे

पद् — लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्' आदेश हुआ

पद् एश् — अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से 'पद्' को द्वित्व, 'अभ्यास' संज्ञा तथा 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा

प पद् ए — 'अत एकहल्मध्ये०' से असंयुक्त हलों के मध्य में विद्यमान अकार को एत्व तथा अभ्यास-लोप होकर

पेदे — रूप सिद्ध होता है।

पत्ता—'पद्' धातु, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'त' को 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्' प्रत्यय, डित्करण सामर्थ्य से टिभाग का लोप तथा 'खरि च' से 'द्' को 'त्' होकर 'पत्ता' रूप सिद्ध होता है।

पत्सीष्ट—'पद्' धातु से 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्', 'आदेशप्रत्यययोः' से 'इण्' से उत्तर सकार को षकारादेश, 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व 'त्' को 'ट्' और 'खरि च' से चर्त्व 'द्' को 'त्' होकर 'पत्सीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

६४३. चिण् ते पदः ३।१।६०

पदेश्च्लेश्चिण् स्यात् तशब्दे परे। अपादि, अपत्साताम्, अपत्सत। विद सत्तायाम्।२२। **विद्यते। वेत्ता। अवित्त। बुध अवगमने।२३। बुध्यते। बोद्धा। भोत्स्यते। भुत्सीष्ट। अबोधि, अबुद्ध। अभुत्साताम्। युध सम्प्रहारे। २४। युध्यते। ययुधे। योद्धा। अयुद्ध। सृज विसर्गे।२५। सृज्यते। ससृजे। ससृजिषे।**

प० वि०—चिण् १।१।। ते ७।१।। पदः ५।१।। **अनु०**—च्लेः।

अर्थः—पद् (गतौ-चलना) धातु से उत्तर **'च्लि'** के स्थान पर **'चिण्'** आदेश होता है, 'त' शब्द परे हो तो।

अपादि—'पद्' धातु, लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि' के स्थान में 'चिण् ते पदः' से 'चिण्' आदेश, 'चिणो लुक्' से 'चिण्' से उत्तर 'त' का लुक्, 'अत उपधायाः' से 'चिण्' परे रहते उपधा के अकार को वृद्धि तथा अडागम होकर 'अपादि' रूप सिद्ध होता है।

अपत्साताम्—'पद्' धातु, लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'च्लि' के स्थान में 'च्लेः सिच्' से 'सिच्' आदेश, 'खरि च' से चर्त्व 'द्' को 'त्' आदेश तथा अडागम होकर 'अपत्साताम्' रूप सिद्ध होता है।

अपत्सत—'पद्' धातु, लुङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'आत्मनेपदेष्वनतः' से 'झ्' को 'अत्' आदेश, 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश, 'खरि च' से चर्त्व तथा अडागम होकर 'अपत्सत' रूप सिद्ध होता है।

'विद्', लट्, प्र० पु० एक व० में **'विद्यते'** तथा 'विद्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में **'वेत्ता'** की सिद्धि-प्रक्रिया क्रमशः 'पद्यते' तथा 'पत्ता' (६४२) के समान जानें

अवित्त

विद् — लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि लुङि' से 'च्लि' प्रत्यय और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश हुआ

विद् सिच् त	अनुबन्ध-लोप
विद् स् त	'झलो झलि' से 'झल्' से उत्तर सकार का लोप हुआ 'झल्' परे रहते
विद् त	'खरि च' से चर्त्व 'द्' को 'त्' आदेश तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
अवित्त	रूप सिद्ध होता है।

बुध्यते–'बुध्' धातु, 'लट्', आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'दिवादिभ्यः०' से 'श्यन्' और 'टित आत्मने०' से 'टि' भाग को एत्व होकर 'बुध्यते' रूप सिद्ध होता है।

बोद्धा

बुध्	लुट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', लुटः प्रथमस्य०' से 'त' के स्थान में 'डा' आदेश और 'स्यतासी०' से 'तास्' प्रत्यय आया
बुध् तास् डा	अनुबन्ध-लोप, डित्करण सामर्थ्य से टिभाग का लोप हुआ
बुध् त् आ	'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'झष्' से उत्तर तकार को धकार आदेश तथा 'झलां जश् झशि' से 'झल्' (धातु के धकार) को 'जश्' (द्) हुआ
बुद् ध् आ	'पुगन्तलघूपधस्य च' से आर्धधातुक परे रहते लघूपध अङ्ग के 'इक्' को गुण होकर
बोद्धा	रूप सिद्ध होता है।

भोत्स्यते

बुध्	लृट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' और 'स्यतासी०' से 'स्य' प्रत्यय हुआ
बुध् स्य त	'एकाचो बशो भष्०' से सकार परे रहते धातु के अवयव झषन्त एकाच् के 'बश्' (बकार) के स्थान में 'भष्' (भकार) आदेश हुआ
भुध् स्य त	'खरि च' से चर्त्व 'ध्' को 'त्' हुआ
भुत् स्य त	'पुगन्तलघू०' से गुण 'उ' के स्थान में 'ओ' तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर
भोत्स्यते	रूप सिद्ध होता है।

भुत्सीष्ट–'बुध्' धातु, आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सीयुट्', 'सुट्' आने पर 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से झलादि लिङ् के कित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध, 'एकाचो बशो भष्०' से 'ब्' को 'भ्', 'खरि च'

से चर्त्व 'ध्' को 'त्', 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'भुत्सीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अबोधि–'बुध्' धातु, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'दीपजनबुध०' से 'च्लि' को वैकल्पिक 'चिण्' आदेश होने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'अजनि' (६४२) के समान जानें।

अबुद्ध–'बुध्' धातु, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि', चिण्-अभाव पक्ष में 'सिच्', 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से 'इक्' के समीप जो 'हल्' उससे उत्तर झलादि 'सिच्' के कित् होने पर 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध, 'झलो झलि' के सकार-लोप, 'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'त्' को 'ध्', 'झलां जश् झशि' से 'ध्' को 'द्' और 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होने पर 'अबुद्ध' सिद्ध होता है।

अभुत्साताम्–'बुध्', लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'अ+बुध्+स्+आताम्' इस स्थिति में 'एकाचो बशो भष्०' से भष्त्व 'ब्' को 'भ्' और 'खरि च' से चर्त्व 'ध्' को 'त्' होकर 'अभुत्साताम्' रूप सिद्ध होता है।

'युध्' (सम्प्रहारे-युद्ध करना) से **'युध्यते', 'युयुधे', 'योद्धा'** तथा **'अयुद्ध'** आदि रूप 'बुध्यते', 'बुबुधे', बोद्धा तथा 'अबुद्ध' के सामन जानें।

सृज्यते–'सृज्' (विसर्गे-छोड़ना, निर्माण करना) धातु से लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'दिवादिभ्यः०' से 'श्यन्' और टि भाग को एत्वादि कार्य पूर्ववत् जानें।

ससृजे

सृज्	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्' आदेश, 'लिटि धातोर०' से 'सृज्' को द्वित्व तथा 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा हुई
सृज् सृज् ए	'उरत्' से अभ्यास में ऋकार को अकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
सर्ज् सृज् ए	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहने पर संहिता होकर
ससृजे	रूप सिद्ध होता है।

ससृजिषे–'सृज्', लिट् आत्मनेपद, म० पु०, एक व० में 'थास्' को 'थासः से' से 'से' आदेश और क्रादिनियम से 'इट्' आगम होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'ससृजे' के समान जानें।

६४४ . सृजिदृशोर्झल्यमकिति ६।१।५८

अनयोरमागमः स्याज्झलादावकिति। स्रष्टा। स्रक्ष्यते। सृक्षीष्ट। असृष्ट। असृक्षाताम्। मृष तितिक्षायाम् ।२६। मृष्यति, मृष्यते। ममर्ष। ममर्षिथ। ममृषिषे। मर्षितासि, मर्षितासे। मर्षिष्यति, मर्षिष्यते। णह बन्धने ।२७। नह्यति, नह्यते। ननाह। ननद्ध, नेहिथ। नेहे। नद्धा। नत्स्यति। अनात्सीत्, अनद्ध।

।। इति दिवादयः।।

प० वि०—सृजिदृशोः ६।२।। झलि ७।१।। अम् ।१।१।। अकिति ७।१।।

अर्थः—कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे रहते **'सृज्'** (विसर्ग-निर्माण करना) तथा **'दृश्'** (प्रेक्षणे-देखना) धातुओं को **'अम्'** आगम होता है।

मित् होने के कारण 'अम्' आगम 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से 'सृज्' और 'दृश्' के अन्तिम 'अच्' ऋकार से परे होता है।

स्रष्टा

सृज्	लुट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश हुआ
सृज् डा	अनुबन्ध-लोप, 'स्यतासी०' से 'तास्' प्रत्यय, डित्करण सामर्थ्य से टिभाग 'आस्' का लोप हुआ
सृज् त् आ	'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' से कित् भिन्न झलादि प्रत्यय 'तास्' परे रहते 'सृज्' धातु को 'अम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से मित् आगम अन्तिम अच् (ऋकार) से परे हुआ
सृ अम् ज् त् आ	अनुबन्ध-लोप, 'इको यणचि' से यणादेश 'ऋ' को 'र्' हुआ
स्र ज् त् आ	'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से 'झल्' परे रहते 'सृज्' के 'ज्' को 'ष्' तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व 'त्' को 'ट्' आदेश होकर रूप सिद्ध होता है।
स्रष्टा	

स्रक्ष्यते—'सृज्' धातु, लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'सृजिदृशो०' से 'अम्' आगम, 'इको यणचि' से यणादेश, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'ज्' को 'ष्', 'षढोः कः सि' से 'ष्' को 'क्' आदेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'स्रक्ष्यते' रूप सिद्ध होता है।

सृक्षीष्ट—'सृज्' धातु, आशीर्वाद अर्थ में लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सीयुट्', 'सुट्', 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से 'इक्' के समीप जो 'हल्', उससे उत्तर झलादि 'लिङ्' (सीयुट्' आगम होने पर) कित् होने से 'अम्' आगम नहीं होता, 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'ज्' को 'ष्', 'षढोः कः सि' से 'ष्' को 'क्', 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'सृक्षीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

असृष्ट

सृज्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि' और 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' हुआ
सृज् सिच् त	'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से 'इक्' के समीप जो 'हल्', उससे उत्तर आत्मनेपद विषयक झलादि 'सिच्' के कित् होने से अमागम नहीं होता। अनुबन्ध-लोप

सृज् स् त — 'झलो झलि' से 'झल्' से उत्तर सकार-लोप हुआ 'झल्' परे रहते, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'ज्' को 'ष्', 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व तथा अडागम होकर

असृष्ट — रूप सिद्ध होता है।

असृक्षाताम्–'सृज्' धातु, लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'सिच्', 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'ज्' को 'ष्', 'षढोः कः सि' से षकार को ककारादेश, 'सिच्' के 'स्' को 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा अडागम होकर 'असृक्षाताम्' रूप सिद्ध होता है।

'मृष्' उभयपदी धातु है।

मृष्यते–'मृष्' (तितिक्षायाम्-सहना) धातु से लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में पूर्ववत् 'त', 'श्यन्' तथा एत्व आदि कार्य जानें।

मृष्यति–'मृष्' धातु, लट्, परस्मैपद, 'तिप्', 'श्यन्' आदि भी पूर्ववत् जानें।

ममर्ष–'मृष्' धातु, लिट्, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'ननर्त' (६२९) के समान जानें।

ममर्षिथ–'मृष्' धातु, परस्मैपद, लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' के स्थान में 'परस्मैपदानां णलतुस्०' से 'थल्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, द्वित्व और अभ्यास संज्ञा आदि सभी कार्य पूर्ववत् जानें।

ममर्षिषे–'मृष्' धातु से लिट्, आत्मनेपद, म० पु०, एक व० में 'थास्', 'थासः से' से 'थास्' को 'से' आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'लिटि धातो०' से द्वित्व, 'उरत्' से अभ्यास में 'ऋ' को अकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'हलादिः शेषः' से आदि हल् 'म्' शेष, 'पुगन्तलघू०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर् तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'ममर्षिषे' रूप सिद्ध होता है।

मर्षितासि, मर्षितासे–'मृष्' धातु, लुट्, परस्मैपद तथा आत्मनेपद में म० पु०, एक व० में क्रमशः 'सिप्' और 'थास्', 'थासः से' से 'थास्' को 'से' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'तासत्योर्लोपः' से सकारादि प्रत्यय परे रहते 'तास्' के सकार का लोप, 'पुगन्तलघू०' से गुण तथा 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'मर्षितासि' और 'मर्षितासे' रूप सिद्ध होते हैं।

मर्षिष्यति, मर्षिष्यते–'मृष्' धातु, लृट्, दोनों पदों के प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से ऋकार को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर और 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

नह्यति, नह्यते–'णह्' धातु, 'णो नः' से धातु के आदि णकार को नत्व, लट्, प्र० पु०, एक व० में शेष सिद्धि प्रक्रिया 'मृष्यति' और 'मृष्यते' के समान जानें।

ननाह

णह् — 'णो नः' धातु के आदि णकार को नकारादेश हुआ

नह् — लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप

नह् अ — 'अत उपधायाः' से वृद्धि प्राप्त थी, जिसका 'द्विर्वचनेऽचि' से द्वित्व के विषय में निषेध होने पर 'लिटि धातो०' से 'नह्' को द्वित्व हुआ

नह् नह् अ — 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा

न नह् अ — 'अत उपधायाः' से णित् प्रत्यय परे रहते उपधा के अकार को वृद्धि होकर

ननाह — रूप सिद्ध होता है।

ननद्ध

नह् — लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से 'थल्' हुआ, भारद्वाज नियम (ऋतो भारद्वाजस्य) से 'थल्' को विकल्प से इडागम न होने पर 'लिटि धातो०' से 'नह्' को द्वित्व हुआ

नह् नह् थ — 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा

न नह् थ — 'नहो धः' से 'झल्' परे रहते 'नह्' धातु के 'ह्' को 'ध्' आदेश हुआ

न नध् थ — 'झषस्तथोर्धोऽधः' से झष् से उत्तर 'थ्' को 'ध्' आदेश हुआ

ननध् ध — 'झलां जश् झशि' से 'झश्' परे रहते 'झल्' को 'जश्' अर्थात् 'ध्' को 'द्' होकर

ननद्ध — रूप सिद्ध होता है।

नेहिथ–'ऋतो भारद्वाजस्य' (भारद्वाज नियम) से 'थल्' को विकल्प से इडागम, पूर्ववत् द्वित्व आदि होने पर 'न+नह+इ थ' इस स्थिति में 'थलि च सेटि' से सेट् 'थल्' परे रहते असंयुक्त हलों के मध्य में जो अकार उसे एकार आदेश तथा अभ्यास का लोप होकर 'नेहिथ' रूप सिद्ध होता है।

नेहे

नह् — लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्' आदेश, 'लिटि धातो०' से द्वित्व तथा अभ्यासादि कार्य होने पर

न नह् ए — 'असंयोगाल्लिट् कित्' से अपित् लिट् 'एश्' के कित् होने से

	'अत एकहल्मध्ये०' से अभ्यास-लोप तथा अकार को एत्व होकर
नेहे	रूप सिद्ध होता है।
नद्धा	
नह्	लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, अनुबन्ध-लोप
नह् आ	'स्यतासी०' से 'तास्' प्रत्यय और डित्करण सामर्थ्य से टिभाग 'आस्' का लोप हुआ
नह् त् आ	'नहो धः' से 'झल्' परे रहते धातु के हकार को धकारादेश हुआ
नध् त् आ	'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'झष्' से उत्तर तकार को धकारादेश तथा 'झलां जश् झशि' से 'झल्' को 'जश्' होकर
नद्धा	रूप सिद्ध होता है।
अनात्सीत्	
नह्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', अनुबन्ध-लोप
नह् स् त्	'अस्तिसिचो०' से अपृक्त 'त्' को ईडागम, 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से हलन्त अङ्ग के 'अच्' को परस्मैपदपरक सिच् परे रहते वृद्धि हुई
नाह् सीत्	'नहो धः' से 'झल्' परे रहते धातु के 'ह्' को 'ध्' आदेश, 'खरि च' से चर्त्व 'ध्' को 'त्' तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
अनात्सीत्	रूप सिद्ध होता है।
अनद्ध	
नह्	लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' और 'झलो झलि' से सकार का लोप हुआ
नह् त	'नहो धः' से 'ह्' को 'ध्', 'झषस्तथो०' से 'त्' को 'ध्' और 'झलां जश् झशि' से 'ध्' को 'द्' हुआ
न द् ध	लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अनद्ध	रूप सिद्ध होता है।

॥ दिवादिगण समाप्त॥

अथ स्वादिर्गणः

षुञ् अभिषवे ।१।

५३५. स्वादिभ्यः श्नुः ३।१।७३

शपोऽपवादः। सुनोति, सुनुतः (५०१) हुश्नुवोरिति यण्। सुन्वन्ति। सुन्वः, सुनुवः। सुनुते। सुन्वाते। सुन्वते। सुन्वहे। सुनुवहे। सुषाव। सुषुवे। सोता। सुनु। सुनवानि, सुनवै। सुनुयात्। सूयात्।

प० वि०—स्वादिभ्यः ५।३।। श्नुः १।१।। अनु०-कर्त्तरि, सार्वधातुके।

अर्थः—कर्त्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते स्वादिगण की धातुओं से उत्तर 'श्नु' प्रत्यय होता है।

यह 'शप्' का अपवाद है।

सुनोति	
षुञ्	अनुबन्ध-लोप, 'धात्वादेः षः सः' से धातु के आदि षकार को सकारादेश हुआ
सु	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्वादिभ्यः श्नुः' से कर्त्तावाची सार्वधातुक 'तिप्' परे रहते 'श्नु' प्रत्यय हुआ
सु श्नु तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'लशक्वतद्धिते' से प्रत्यय के आदि शकार की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से इत् संज्ञक का लोप हुआ
सु नु ति	'सार्वधातुकार्ध०' से सार्वधातुक 'तिप्' परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण होकर
सुनोति	रूप सिद्ध होता है।

सुनुतः—'षु' धातु, लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'स्वादिभ्यः श्नुः' से 'श्नु', 'तस्' के 'सार्वधातुकमपित्' से ङित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध, सकार को रुत्व और रेफ का विसर्ग होकर 'सुनुतः' सिद्ध होता है।

सुन्वन्ति	
षु	'धात्वादेः षः सः' से षकार को सकार, लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' और 'स्वादिभ्यः श्नुः' से 'श्नु' प्रत्यय आया
सु श्नु झि	अनुबन्ध-लोप, 'झोऽन्तः' से 'झ्' को अन्तादेश हुआ
सु नु अन्ति	'अचि श्नुधातु०' से उवङादेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'हुश्नुवोः

सार्वधातुके' से 'श्नु' प्रत्ययान्त अनेकाच् अङ्ग के असंयोग पूर्वक उकार को अजादि सार्वधातुक परे रहते यणादेश होकर रूप सिद्ध होता है।

सुन्वन्ति

सुन्वः–'षु' धातु, 'धात्वादेः षः सः' से षकार को सकारादेश, लट्, उ० पु०, द्वि व० में 'वस्', 'स्वादिभ्यः श्नुः' से 'श्नु' प्रत्यय, 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' से जिनके पूर्व में संयोग नहीं है ऐसे प्रत्यय के उकार का, 'वकार' परे रहते विकल्प से लोप, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'सुन्वः' रूप सिद्ध होता है।

सुनुवः–लोप-अभाव पक्ष में 'सुनुवः' रूप सिद्ध होता है।

सुनुते–'षु' धातु, 'धात्वादेः षः सः' से षकार को सकारादेश, लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'श्नु' और टिभाग को एत्वादि कार्य होकर 'सुनुते' रूप सिद्ध होता है।

सुन्वाते

सु	'धात्वादेः षः सः' से षकार को सकारादेश, लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्' और 'स्वादिभ्यः०' से 'श्नु' आया
सु नु आताम्	अनुबन्ध-लोप, 'अचि श्नुधातु०' से उवङादेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से 'श्नु' प्रत्ययान्त अनेकाच् अङ्ग के असंयोग पूर्वक उकार को अजादि सार्वधातुक परे रहते यणादेश हुआ
सु न् व् आताम्	'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग 'आम्' को एत्व होकर
सुन्वाते	रूप सिद्ध होता है।

सुन्वते–'षु' धातु, 'धात्वादेः षः सः' से षकार को सकारादेश, लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'स्वादिभ्यः०' से 'श्नु', 'आत्मनेपदेष्वनतः' से 'झ्' को 'अत्' आदेश और पूर्ववत् उवङादेश को बाधकर 'हुश्नुवोः सार्व०' से यणादेश होकर 'सुन्वते' रूप सिद्ध होता है।

सुन्वहे

षु	'धात्वादेः षः सः' से धातु के आदि षकार को सकारादेश, लट्, आत्मनेपद, उ० पु०, द्वि व० में 'वहि' और 'स्वादिभ्यः०' से 'श्नु' आया
सु श्नु वहि	अनुबन्ध-लोप, 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्०' से वकार परे रहते असंयोगपूर्वक प्रत्यय के उकार का विकल्प से लोप हुआ
सु न् वहि	'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को ('इ' को) एत्व होकर
सुन्वहे	रूप सिद्ध होता है।

सुनुवहे–लोप-अभाव पक्ष में 'सुनुवहे' रूप सिद्ध होता है।

सुषाव

षु	'षु' धातु, 'धात्वादे: ष: स:' से षकार को सकारादेश, लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' के स्थान में 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश हुआ
सु णल्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातोरन०' से 'सु' को द्वित्व हुआ
सु सु अ	'अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि, 'एचोऽयवायाव:' से 'औ' के स्थान में 'आव्' आदेश तथा 'आदेशप्रत्यययो:' से सकार को मूर्धन्य षकार आदेश होकर
सुषाव	रूप सिद्ध होता है।

सुषुवे

षु	'धात्वदे: ष: स:' से षकार को सकारादेश, लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' और लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्' आदेश हुआ
सु एश्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातोरन०' से लिट् परे रहते 'सु' को द्वित्व हुआ
सु सु ए	'अचि श्नुधातु०' से उकार को उवङादेश तथा 'आदेशप्रत्यययो:' से आदेश के सकार को षत्व होकर
सुषुवे	रूप सिद्ध होता है।

सोता–'षु', 'धात्वदे: ष: स:' से षकार को सकारादेश, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुट: प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप तथा 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण होकर 'सोता' रूप सिद्ध होता है।

सुनु

षु	'धात्वदे: ष: स:' से षकार को सकारादेश, लोट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' और 'स्वादिभ्य: श्नु:' से 'श्नु' प्रत्यय आया
सु श्नु सिप्	अनुबन्ध-लोप, 'सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को अपित् 'हि' आदेश हुआ
सु नु हि	'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' से असंयोगपूर्वक उकारान्त प्रत्यय से उत्तर 'हि' का लुक् होकर
सुनु	रूप सिद्ध होता है।

सुनवानि–'षु', 'धात्वदे: ष: स:' से सकारादेश, लोट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' को 'मेर्नि:' से 'नि' आदेश, 'स्वादिभ्य: श्नु:' से 'श्नु' प्रत्यय, 'आडुत्तमस्य पिच्च' से

उत्तम पुरुष को पित् 'आट्' आगम, 'सार्वधातुकार्ध०' से 'श्नु' के उकार को गुण 'ओ' तथा 'एचोऽयवायाव:' से अवादेश होकर 'सुनवानि' रूप सिद्ध होता है।

सुनवै–'षु' धातु, 'धात्वदे: ष: स:' से षकार को सकार आदेश, लोट्, आत्मनेपद, उ० पु०, एक व० में 'इट्', 'स्वादिभ्य:०' से 'श्नु', 'आडुत्तमस्य०' से उत्तम पुरुष-संज्ञक 'इट्' को 'आट्' आगम, 'टित आत्मने०' से 'इ' को एत्व, 'एत ऐ' से 'ए' को 'ऐ' आदेश, 'सार्वधातुकार्ध०' से 'श्नु' के 'उ' को गुण, 'एचोऽयवा०' से 'ओ' को अवादेश और 'आटश्च' से 'आट्' के 'आ' तथा 'ऐ' को वृद्धि एकादेश होकर 'सुनवै' रूप सिद्ध होता है।

सुनुयात्–'षु' धातु, 'धात्वदे: ष: स:' से षकार को सकारादेश, विधि लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्नु', 'यासुट्', 'सुट्' आगम और 'लिङ: सलोपो०' से सकारों का लोप होकर 'सुनुयात्' रूप सिद्ध होता है।

सूयात्

सु	'धात्वदे: ष: स:' से षकार को सकारादेश, आशीर्वाद अर्थ में 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
सु तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'लिङाशिषि' से 'लिङ्' के आर्धधातुक होने से 'श्नु' नहीं होता, 'यासुट् परस्मै०' से यासुडागम, 'सुट् तिथो:' से तकार को सुडागम, अनुबन्ध-लोप
सु यास् स् त्	'स्को: संयोगाद्यो०' से सकार-लोप और 'अकृत्सार्वधातुकयो:०' से कृत् तथा सार्वधातुक से भिन्न यकारादि प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ होकर
सूयात्	रूप सिद्ध होता है।

६४६. स्तुसुधूञ्भ्य: परस्मैपदेषु ७।२।७२

एभ्य: सिच इट् स्यात् परस्मैपदेषु। असावीत्। असोष्ट। चिञ् चयने ।२। चिनोति, चिनुते।

प० वि०–स्तुसुधूञ्भ्य: ५।३।। परस्मैपदेषु ७।३।। **अनु०**–सिचि, इट्।

अर्थ:–**ष्टु** (स्तुतौ-स्तुति करना), **षुञ्** (अभिषवे-निचोड़ना आदि) और **धूञ्** (कम्पने-कांपना) धातुओं से उत्तर सिच् को '**इट्**' आगम होता है, परस्मैपद पर हो तो।

असावीत्

षु	'धात्वदे: ष: स:' से षकार को सकारादेश, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लि' के स्थान में 'च्ले: सिच्' से 'सिच्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
सु स् त्	'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'सिच्' से उत्तर अपृक्त 'त्' को ईडागम, अनुबन्ध-लोप

सु स् ई त् — 'एकाच उपदेशोऽनुदात्तात्' से 'सु' धातु अनिट् है, 'स्वरतिसूतिसूयति०' से 'सिच्' को विकल्प से 'इट्' का विधान किया गया, किन्तु वैकल्पिक 'इट्' आगम को बाधकर 'स्तुसुधूञ्भ्यः०' से 'सिच्' को नित्य 'इट्' आगम हुआ

सु इ ट् स् ई त् — अनुबन्ध-लोप, 'सिचि वृद्धि०' से परस्मैपदपरक 'सिच्' परे रहते इगन्त अङ्ग को वृद्धि, 'इट ईटि' से सकार-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ, 'एचोऽयवा०' से 'औ' को 'आव्' आदेश तथा अडागम होकर

असावीत् — रूप सिद्ध होता है।

असोष्ट– 'षु' धातु, 'धात्वादेः षः सः' से षकार को सकारादेश, लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व, 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व तथा अडागम होकर 'असोष्ट' रूप सिद्ध होता है।

'चिञ्' (चयने-चुनना) धातु से **चिनोति** और **चिनुते** की सिद्धि-प्रक्रिया 'सुनोति' और 'सुनुते' (६४५) के समान जानें।

६४७. विभाषा चेः ७।३।५८

अभ्यासात्परस्य कुत्वं वा स्यात् सनि लिटि च। चिकाय, चिचाय। चिक्ये, चिच्ये। अचैषीत्, अचेष्ट। स्तृञ् आच्छादने ।३। स्तृणोति, स्तृणुते।

प० वि०–विभाषा १।१।। चेः ६।१।। **अनु०**–कुः, अभ्यासात्, सन्लिटोः।

अर्थः–अभ्यास से उत्तर 'चिञ्' धातु के चकार को विकल्प से कवर्ग आदेश होता है, 'सन्' या 'लिट्' परे हो तो।

चिकाय

चि — लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश हुआ

चि णल् — अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से 'चि' को द्वित्व तथा 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा हुई

चि चि अ — 'विभाषा चेः' से 'लिट्' परे रहते अभ्यास से उत्तर 'चि' को विकल्प से कुत्व हुआ

चि कि अ — 'अचो ञ्णिति' से णित् परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि 'इ' को 'ऐ' तथा 'एचोऽयवायावः' से 'ऐ' को 'आय्' आदेश होकर

चिकाय — रूप सिद्ध होता है।

कुत्व अभाव पक्ष में **'चिचाय'** बनता है।

चिक्ये, चिच्ये–'चि' धातु, लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्' आदेश, द्वित्वादि कार्य, इयङादेश को बाधकर 'एरनेकाचोऽसंयोग०' से यणादेश तथा 'विभाषा चेः' से विकल्प से कुत्व होकर 'चिक्ये' तथा 'चिच्ये' रूप सिद्ध होते हैं।

अचैषीत्

चि	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'च्लि लुङि' से 'च्लि' आया
चि च्लि तिप्	'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
चि स् त्	'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'सिच्' से उत्तर 'अपृक्त' संज्ञक 'त्' को 'ईट्' आगम हुआ
चि स् ईट् त्	अनुबन्ध-लोप, 'सिचि वृद्धिःपरस्मै० से परस्मैपदपरक 'सिच्' परे रहते इगन्त अङ्ग को वृद्धि, 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से 'अट्' आगम और 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य आदेश होकर
अचैषीत्	रूप सिद्ध होता है।

अचेष्ट–'चि' धातु, लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'असोष्ट' (६४६) के सामन जानें।

स्तृणोति–'स्तृ' धातु, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्नु', 'श्नु' प्रत्यय के 'न्' को 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' वार्तिक से 'ण्' होने पर शेष कार्य 'सुनोति' (६४५) क समान जानें।

इसी प्रकार **स्तृणुते** में 'ऋवर्णान्नस्य०' से णत्त्व होगा, शेष कार्य 'सुनुते' के समान जानें।

६४८. शर्पूर्वाः खयः ७।४।६१

अभ्यासस्य शर्पूर्वाः खयः शिष्यन्ते, अन्ये हलो लुप्यन्ते। तस्तार। तस्तरतुः। तस्तरे। गुणोऽर्त्ति० (४९८) इति गुणः–स्तर्यात्।

प० वि०–शर्पूर्वाः १।३।। खयः १।३।। **अनु०**–शेषः, अभ्यासस्य।

अर्थः– शर्-पूर्वक ('शर्' अर्थात् श्, ष् और स् पूर्व में हैं जिनके ऐसे) अभ्यास के 'खय्' शेष बचते हैं, अन्य हलों का लोप होता है।

यह सूत्र 'हलादिः शेषः' का अपवाद है।

तस्तार

स्तृ	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
स्तृ अ	'लिटि धातो०' से 'लिट्' परे रहते 'स्तृ' को द्वित्व और 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा हुई

स्तृ स्तृ अ — 'उरत्' से अभ्यास में ऋकार को ह्रस्व 'अ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ

स्तर् स्तृ अ — 'हलादिः शेषः' को बाधकर 'शर्पूर्वाः खयः' से 'शर्' पूर्वक 'खय्' (त्) शेष रहा अन्य हलों का लोप हुआ

त स्तृ अ — 'अचो ञ्णिति' से प्राप्त वृद्धि को परत्व से बाधकर 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' से 'लिट्' परे रहते संयोगादि ऋकारान्त अङ्ग को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'अर्' होने पर 'अत उपधायाः' से उपधा के अकार को वृद्धि करने पर

तस्तार — रूप सिद्ध होता है।

तस्तरतुः–'स्तृ' धातु, लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'परस्मैपदानां०' से 'तस्' को 'अतुस्' होने पर पूर्ववत् द्वित्वादि कार्य, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'अतुस्' के 'कित्' होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध प्राप्त हुआ, जिसे बाधकर 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' से संयोगादि ऋकारान्त अङ्ग को 'लिट्' परे रहते गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'तस्तरतुः' रूप सिद्ध होता है।

तस्तरे–'स्तृ' धातु, लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयोः०' से 'एश्' आदेश, 'अभ्यास' संज्ञा, 'शर्पूर्वाः खयः' से शर् पूर्वक अभ्यास में 'खय्' शेष रहने पर शेष सभी कार्य पूर्ववत् जानें।

स्तर्यात्

स्तृ — 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' आगम, अनुबन्ध–लोप

स्तृ यास् स् त् — 'स्कोः संयोगाद्योः०' से संयोग के आदि दोनों सकारों का लोप हुआ,
'किदाशिषि' से 'यासुट्' के कित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध प्राप्त था, जिसे बाधकर 'गुणोऽर्त्तिसंयोगाद्योः' से संयोगादि ऋकारान्त अङ्ग को सार्वधातुक–भिन्न यकारादि 'लिङ्' परे रहते गुण हुआ, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'अर्' गुण होने पर

स्तर्यात् — रूप सिद्ध होता है।

६४९. ऋतश्च संयोगादेः ७।२।४३

ऋदन्तात् संयोगादेः परयोर्लिङ्सिचोरिड् वा स्यात्तङि। स्तरिषीष्ट, स्तृषीष्ट। अस्तरिष्ट, अस्तृत। धूञ् कम्पने ।४। धूनोति, धूनुते। दुधाव। स्वरति० (४७६) इति वेट्। दुधविथ, दुधोथ।

प० वि०–ऋतः ५।१।। च अ०।। संयोगादेः ५।१।।

अनु०–लिङ्सिचो:, आत्मनेपदेषु, इट्, वा, अङ्गस्य, धातो:।

अर्थ :–आत्मनेपद प्रत्ययों का विषय बनने पर संयोगादि ह्रस्व ऋकारान्त धातु (अङ्ग) से उत्तर '**लिङ्**' और '**सिच्**' को विकल्प से '**इट्**' आगम होता है।

स्तरिषीष्ट

स्तृ	'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
स्तृ त	'लिङ: सीयुट्' से सीयुडागम, 'सुट् तिथो:' से तकार को सुडागम, अनुबन्ध-लोप
स्तृ सीय् स् त	'लोपो व्योर्वलि' से 'वल्' (स्) परे रहते यकार-लोप हुआ
स्तृ सी स् त	'ऋतश्च संयोगादे:' से आत्मनेपद (त) परे रहते संयोगादि ऋदन्त धातु से उत्तर लिङ् को विकल्प से 'इट्' आगम हुआ
स्तृ इट् सीस्त	अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपर:' से रपर होने पर 'ऋ' के स्थान पर 'अर्' हुआ
स्तरि सीस्त	'आदेशप्रत्यययो:' से दोनों सकारों को मूर्धन्य षकार आदेश तथा 'ष्टुना ष्टुः से ष्टुत्व होकर
स्तरिषीष्ट	रूप सिद्ध होता है।

स्तृषीष्ट– 'स्तृ+सीस्त' इडभाव पक्ष में 'उश्च' से झलादि 'लिङ्' कित् होता है अत: 'क्ङिति च' से गुण-निषेध, 'आदेशप्रत्यययो:' से षत्व और 'ष्टुना ष्टु:' से ष्टुत्व होकर '**स्तृषीष्ट**' रूप सिद्ध होता है।

अस्तरिष्ट

स्तृ	लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' तथा 'सिच्' आने पर 'ऋतश्च संयोगादे:' से आत्मनेपद परे रहते संयोगादि ऋदन्त धातु से उत्तर सिच् को विकल्प से 'इट्' आगम हुआ
स्तृ इट् स् त	अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से ऋकार को गुण, 'उरण् रपर:' से रपर हुआ
स्तरिस् त	'आदेशप्रत्यययो:' से षत्व, 'ष्टुना ष्टु:' से ष्टुत्व तथा 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अस्तरिष्ट	रूप सिद्ध होता है।

अस्तृत–इडागम-अभाव पक्ष में 'अट्+स्तृ+स्+त' इस स्थिति में 'उश्च' से झलादि 'सिच्' के 'कित्' होने पर 'ह्रस्वादङ्गात्' से 'झल्' परे रहते 'सिच्' का लोप होकर 'अस्तृत' रूप सिद्ध होता है।

धूनोति, धूनुते–'धू' (कम्पने-काँपना) धातु से परस्मैपद और आत्मनेपद, लट्, प्र० पु०, एक व० में क्रमश: 'धूनोति' और 'धूनुते' की सिद्धि-प्रक्रिया 'सुनोति' और 'सुनुते' (६४५) के समान जानें।

दुधाव

धू	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश हुआ
धू णल्	'लिटि धातो०' से 'धू' को द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा और 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में 'ध्' को 'द्' हुआ
दु धू अ	'ह्रस्वः' से अभ्यास के 'अच्' को ह्रस्वादेश, 'अचो ञ्णिति' से णित् परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि और 'एचोऽयवायावः' से 'औ' को आवादेश होकर
दुधाव	रूप सिद्ध होता है।

दुधविथ

धू	लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'थल्' आदेश हुआ
धू थल्	'धू' के सेट् होने से 'आर्धधातुकस्येड्०' से नित्य 'इट्' की प्राप्ति थी, जिसे बाधकर 'स्वरतिसूतिसूयति०' से विकल्प से इडागम हुआ, अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से 'लिट्' परे रहते 'धू' को द्वित्व हुआ
धू धू इ थ	'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में 'झल्' (ध्) को 'जश्' (द्) आदेश और 'ह्रस्वः' से अभ्यास में 'ऊ' को ह्रस्वादेश हुआ
दु धू इ थ	'सार्वधातुकार्ध०' से ऊकार को गुण 'ओ' होने पर 'एचोऽयवायावः' से 'ओ' को अवादेश होकर
दुधविथ	रूप सिद्ध होता है।

दुधोथ–इडभाव पक्ष में 'दुधोथ' रूप सिद्ध होता है।

६५०.श्र्युकः किति ७।२।११

श्रिञः, एकाच उगन्ताच्च गित्कितोरिण् न। परमपि स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा पुरस्तात्प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्यादनेन निषेधे प्राप्ते क्रादिनियमान्नित्यमिट्। दुधुविव। दुधुवे। अधावीत्। अधविष्ट, अधोष्ट। अधविष्यत्, अधोष्यत्। अधविष्यताम्, अधोष्यताम्। अधविष्यत, अधोष्यत।

इति स्वादयः।

प० वि०–श्र्युकः ५।१।। किति ७।१।। **अनु०**–एकाचः, न, इट्।

अर्थः–श्रि (सेवायाम्–सेवा करना) और एकाच् जो उगन्त ('उ', 'ऋ' और 'ऌ' अन्त वाली) धातु उससे उत्तर गित् और कित् (वलादि आर्धधातुक) प्रत्ययों को 'इट्' आगम नहीं होता।

विशेष–'धू', लिट्, उ० पु०, द्वि व० में 'धू+व' यहाँ 'स्वरतिसूतिसूयति०' से

वलादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' आगम प्राप्त होता है और 'धूञ्' धातु के उगन्त होने से तथा 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'व' के कित् होने पर 'श्र्युकः किति' से वलादि कित् आर्धधातुक को 'इट्' आगम का निषेध भी प्राप्त हुआ। इस विप्रतिषेध की स्थिति में 'श्र्युकः किति' (७.२.११) से प्राप्त निषेध को बाधकर परत्व से 'स्वरतिसूति०' (७.२.४४) से विकल्प से 'इट्' आगम प्राप्त हुआ; जो कि इष्ट नहीं है। इस अनिष्टापत्ति का निवारण करने के लिए लघुसिद्धान्तकौमुदीकार कहते हैं—**परमपि स्वरत्यादिविकल्पं०** अर्थात्–'स्वरतिसूति०' से प्राप्त वैकल्पिक 'इट्' यद्यपि परत्व से 'श्र्युकः किति' से प्राप्त निषेध का बाधक है तथापि अष्टाध्यायी में इट् विधान प्रकरण (काण्ड) से पहले इट्-निषेध प्रकरण रखा गया है। इससे आचार्य का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि 'इट्' प्रकरण में विधि की अपेक्षा निषेध की प्रधानता समझनी चाहिये। इसलिए 'स्वरतिसूति०' से प्राप्त विकल्प को बाधकर 'श्र्युकः किति' से 'इट् निषेध' की प्रवृत्ति होगी। तदनन्तर क्रादिनियम से नित्य 'इट्' आगम होकर 'दुधुविव' सिद्ध होगा।

दुधुविव–'धू' धातु से लिट्, उ० पु०, द्वि व० में 'वस्' को 'परस्मैपदानां०' से 'व' आदेश, 'श्र्युकः किति' से उगन्त से उत्तर कित् प्रत्यय को 'इट्' का निषेध प्राप्त था, जिसे बाधकर क्रादि-नियम से 'इट्', द्वित्व, अभ्यास-कार्य, ह्रस्व, 'अभ्यासे चर्च' से 'ध्' को 'द्' तथा 'अचि श्नुधातु०' से ऊकार को उवङादेश होकर 'दुधुविव' रूप सिद्ध होता है।

दुधुवे–'धू' धातु से लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्' आदेश, द्वित्व, अभ्यास-कार्य तथा उवङादेश आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'दुधुवे' रूप सिद्ध होता है।

'अधावीत्', **'अधविष्ट'** और **'अधोष्ट'** की सिद्धि प्रक्रिया 'असावीत्' और 'असोष्ट' (६४६) के समान जानें।

अधविष्यत्, अधोष्यत्, अधविष्यताम्, अधोष्यताम् में 'धू' धातु, लृङ् लकार में 'स्य' को 'स्वरतिसूतिसूयति०' से विकल्प से इडागम होने पर उक्त दो-दो रूप सिद्ध होते हैं।

अधविष्यत, अधोष्यत–इसी प्रकार 'धू' धातु से लृङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में भी 'स्वरतिसूतिसूयति०' से विकल्प से इडागम होने पर 'अधविष्यत' और 'अधोष्यत' रूप सिद्ध होते हैं।

॥ स्वादिगण समाप्त ॥

अथ तुदादिर्गणः

तुद व्यथने ।१।

६५१. तुदादिभ्यः शः ३।१।७७

शपोऽपवादः। तुदति, तुदते। तुतोद। तुतोदिथ। तुतुदे। तोत्ता। अतौत्सीत्, अतुत्त। णुद प्रेरणे ।२। नुदति, नुदते। नुनोद। नोत्ता। भ्रस्ज पाके।३। (६३४) ग्रहिज्येति सम्प्रसारणम्। सस्य श्चुत्वेन शः, शस्य जश्त्वेन जः। भृज्जति, भृज्जते।

प० वि०–तुदादिभ्यः ५।३।। शः १।१।। **अनु०**–कर्त्तरि सार्वधातुके।

अर्थः–कर्त्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते तुदादि गण की धातुओं से उत्तर 'श' प्रत्यय होता है।

यह सूत्र 'शप्' का अपवाद है।

'शप्' और 'श' दोनों 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' से 'सार्वधातुक' संज्ञक है 'शप्' पित् है और 'श' अपित्, इसलिए 'सार्वधातुकमपित्' से अपित् 'श' ङित् होता है। 'श' के ङित् होने से धातुओं में 'क्ङिति च' से गुण का निषेध हो जाता है।

तुदति

तुद्	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तुदादिभ्यः शः' से कर्त्तावाची सार्वधातुक परे रहते 'श' प्रत्यय, 'लशक्वतद्धिते' से शकार की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से इत्संज्ञक शकार का लोप हुआ
तुद् अ ति	'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण प्राप्त था, 'सार्वधातुकमपित्' से 'श' के ङित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होकर
तुदति	रूप सिद्ध होता है।

तुदते–'तुद्', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'तुदादिभ्यः शः' से 'श' तथा 'टित आत्मने०' से टिभाग को एत्व होकर 'तुदते' रूप सिद्ध होता है।

तुतोद

तुद्	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश हुआ
तुद् णल्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से 'लिट्' परे रहते 'तुद्' को द्वित्व हुआ
तुद् तुद् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा

तु तुद् अ	'पुगन्तलघू०' से उकार को गुण 'ओ' होकर
तुतोद	रूप सिद्ध होता है।

तुतोदिथ–'तुद्', लिट्, म० पु०, एक व० मे 'सिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'थल्', क्रादि नियम से इडागम, पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यासादि कार्य तथा गुण होकर 'तुतोदिथ' रूप सिद्ध होता है।

तुतुदे

तुद्	लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
तुद् ए	'लिटि धातो०' से 'तुद्' को द्वित्व, 'अभ्यास' संज्ञा और 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहने पर
तुतुदे	रूप सिद्ध होता है।

तोत्ता–'तुद्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'डित्करण सामर्थ्य' से टिभाग का लोप, 'पुगन्तलघू०' से गुण तथा 'खरि च' से चर्त्व होकर 'तोत्ता' रूप सिद्ध होता है।

अतौत्सीत्

तुद्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से च्लि' और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदश हुआ
तुद् सिच् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से ईडागम, अनुबन्ध- लोप
तुद् स् ई त्	'वदव्रजहलन्तस्याचः' से हलन्त अङ्ग के अच् को वृद्धि और 'खरि च' से चर्त्व 'द्' को 'त्' आदेश हुआ
तौ त्सी त्	'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अतौत्सीत्	रूप सिद्ध होता है।

अतुत्त

तुद	लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि', 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
तुद् स् त	'झलो झलि' से 'सिच्' के सकार का लोप, 'खरि च' से चर्त्व तथा अडागम होकर
अतुत्त	रूप सिद्ध होता है।

णुद (प्रेरणे-प्रेरणा देना, फेंकना, परे हटाना, दूर करना) धातु के णकार को 'णो नः' से नत्व होकर **'नुदति'**, **'नुदते'**, **'नुनोद'**, **'नोत्ता'** इत्यादि सभी रूप 'तुदति', 'तुदते', 'तुतोद', 'तोत्ता' इत्यादि के समान जानें।

(**भ्रस्ज** पाके-भूनना)

भृज्जति	
भ्रस्ज्	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तुदादिभ्यः शः' से 'श', अनुबन्ध-लोप
भ्रस्ज् अ ति	'सार्वधातुकमपित्' से 'श' प्रत्यय के ङित् होने से 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से ङित् प्रत्यय पर रहते 'भ्रस्ज्' धातु को सम्प्रसारण हुआ, 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से 'यण्' (रेफ) के स्थान में 'इक्' (ऋ) सम्प्रसारण हुआ
भ् ऋ अ स्ज् अ ति	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण से उत्तर 'अच्' परे रहते पूर्वरूप एकादेश हुआ
भृस्ज् अ ति	'स्तोः श्चुना श्चुः' से चवर्ग (ज्) के योग में सकार को शकार आदेश हुआ
भृश्ज् अ ति	'झलां जश् झशि' से शकार को जकारादेश होकर
भृज्जति	रूप सिद्ध होता है।

भृज्जते–'भ्रस्ज्', लट्, प्र० पु० एक व०, आत्मनेपद में 'त' के टिभाग को 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'भृज्जति' के समान सभी कार्य होकर 'भृज्जते' रूप सिद्ध होता है।

६५२. भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् ६।४।४७

भ्रस्जे रेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो वा स्याद् आर्धधातुके। मित्त्वादन्त्यादचः परः। स्थानषष्ठीनिर्देशात् रोपधयोर्निवृत्तिः। बभर्ज। बभर्जतुः। बभर्जिथ, बभर्ष्ठ। बभ्रज्ज। बभ्रज्जतुः। बभ्रज्जिथ। 'स्कोः०' (३०९) इति सलोपः, 'व्रश्च०' (३०७) इति षः-बभ्रष्ठ। बभर्जे; बभ्रज्जे। भर्ष्टा; भ्रष्टा। भर्क्ष्यति, भ्रक्ष्यति। (वा०) क्ङिति रमागमं बाधित्वा सम्प्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन। भृज्ज्यात्। भृज्ज्यास्ताम्। भृज्ज्यासुः। भर्क्षीष्ट, भ्रक्षीष्ट। अभार्क्षीत्, अभ्राक्षीत्, अभर्ष्ट, अभ्रष्ट। कृष विलेखने।४। कृषति, कृषते। चकर्ष, चकृषे।

प० वि०–भ्रस्जः ६।१।। रोपधयोः ६।२।। रम् १।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।।

अनु०–आर्धधातुके।

अर्थः–**'भ्रस्ज्'** धातु के रेफ तथा उपधा के स्थान पर विकल्प से **'रम्'** आगम होता है, आर्धधातुक प्रत्यय परे हो तो।

'रम्' आगम मित् होने के कारण 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से अन्तिम 'अच्' से परे होता है।

स्थानषष्ठी०–'रोपधयोः' में स्थान-षष्ठी निर्दिष्ट है अतः 'रम्' आगम होने के साथ-साथ आदेश भी है। 'रम्' मित् होने से अन्तिम अच् से परे होगा तथा रेफ व उपधा के स्थान में माना जायेगा इस प्रकार रेफ और सकार को निवृत्त करके अकार के पश्चात् 'रम्' आगम होगा।

बभर्ज

भ्रस्ज्	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां णलतु०' से 'णल्' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप
भ्रस्ज् अ	'लिट् च' से लिट् 'आर्धधातुक' संज्ञक है अतः 'भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्' से आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते 'भ्रस्ज्' धातु के रेफ तथा उपधा (सकार) के स्थान में 'रम्' आगम, 'मित्' होने से 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से अन्तिम 'अच्' से परे हुआ
भ रम् ज् अ	अनुबन्ध-लोप
भ र् ज् अ	'लिटि धातोरन०' से 'लिट्' परे रहते प्रथम एकाच् समुदाय 'भर्ज्' को द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा और 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
भ भर्ज् अ	'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में 'झल्' (भ्) को 'जश्' (ब्) आदेश होकर
बभर्ज	रूप सिद्ध होता है।

बभर्जतुः–'भ्रस्ज्', लिट्, प्र० पु०, द्वि० व० में 'तस्' को 'परस्मैपदानं णलतुस०' से 'अतुस्' आदेश, 'लिट्' के 'आर्धधातुक' होने से 'भ्रस्जो रोपधयो०' से 'रम्' आगम, पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यासादि कार्य, सकार को रुत्त्व तथा विसर्ग होकर 'बभर्जतुः' रूप सिद्ध होता है।

बभर्जिथ

भ्रस्ज्	लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' के स्थान पर 'परस्मैपदानां णलतुस०' से 'थल्' आदेश हुआ
भ्रस्ज् थल्	अनुबन्ध-लोप, 'ऋतो भारद्वाजस्य' से 'थल्' को विकल्प से 'इट्' आगम हुआ
भ्रस्ज् इट् थ	अनुबन्ध-लोप, 'लिट् च' से 'थल्' की आर्धधातुक संज्ञा होने से 'भ्रस्जो रोपधयो०' से आर्धधातुक परे रहते रेफ और उपधा (सकार) के स्थान में 'रम्' आगम, 'मित्' होने से अन्तिम 'अच्' (अकार) के पश्चात् हुआ
भ रम् ज् इ थ	अनुबन्ध-लोप
भ र् ज् इ थ	'लिटि धातोरन०' से लिट् परे रहते 'भर्ज्' को द्वित्व हुआ
भर्ज् भ र् ज् इ थ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि हल् 'भ्' शेष और 'अभ्यासे चर्च' से 'भ्' को 'ब्' आदेश हुआ

ब भ र् ज् इ थ

संहिता होने पर, 'जल-लुम्बी न्याय' से रेफ के ऊर्ध्वगामी होने पर

बभर्जिथ

रूप सिद्ध होता है।

बभर्ष्ठ—इडभाव पक्ष में 'बभर्ज्+थ' यहाँ 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'ज्' को 'ष्' आदेश तथा 'ष्टुना ष्टुः' से 'थ्' को 'ठ्' आदेश होकर 'बभर्ष्ठ' रूप सिद्ध होता है।

बभ्रज्ज

भ्रस्ज्

लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां णलतुस्०' से 'णल्' आदेश होने पर 'रम्' अभाव पक्ष में

भ्रस्ज् अ

'लिटि धातोर०' से 'भ्रस्ज्' को द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से आदि 'हल्' शेष तथा 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में 'झल्' (भ्) को 'जश्' (ब्) आदेश हुआ

ब भ्रस्ज् अ

'स्तोःश्चुना श्चुः' से चवर्ग 'ज्' के योग में 'स्' को 'श्' तथा 'झलां जश् झशि' से 'झल्' (श्) को 'जश्' (ज्) होकर

बभ्रज्ज

रूप सिद्ध होता है।

बभ्रज्जतुः—'भ्रज्ज्', लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'परस्मैपदानां०' से 'तस्' को 'अतुस्' आदेश, 'भ्रस्जो रोपधयो०' से वैकल्पिक 'रम्' आगम न होने पर शेष द्वित्वादि-कार्य 'बभ्रज्ज' के समान होकर 'ससजुषो:०' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयो:०' से रेफ को विसर्ग होकर 'बभ्रज्जतुः' रूप सिद्ध होता है।

बभ्रज्जिथ—'भ्रस्ज्', लिट्, म० पु०, एक व० में 'थल्' को 'ऋतो भारद्वाजस्य' से विकल्प से इडागम, 'रम्' अभाव पक्ष में पूर्ववत् सभी कार्य होकर 'बभ्रज्जिथ' रूप सिद्ध होता है।

बभ्रष्ठ

ब भ्रस्ज् थ

भ्रस्ज्, लिट्, म० पु०, एक व० में 'थल्' को इडभाव पक्ष में तथा 'भ्रस्जो रोपधयो०' से वैकल्पिक 'रम्' आगम के अभाव में 'स्कोः संयोगाद्यो०' से 'झल्' परे रहते संयोगादि सकार का लोप, पूर्ववत् द्वित्व और अभ्यास कार्य होने पर

ब भ्रज् थ

'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'झल्' परे रहते 'भ्रस्ज्' के 'ज्' को 'ष्' तथा 'ष्टुना ष्टुः' से 'थ्' को 'ठ्' आदेश होकर

बभ्रष्ठ

रूप सिद्ध होता है।

बभर्जे

भ्रस्ज्

लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्' आदेश हुआ

भ्रस्ज् ए — 'भ्रस्जो रोपधयो रमन्य०' से आर्धधातुक परे रहते रेफ तथा उपधा (सकार) दोनों के स्थान में विकल्प से 'रम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से मित् आगम अन्तिम 'अच्' से परे हुआ, अनुबन्ध-लोप

भर् ज् ए — पूर्ववत् (बभर्जिथ के समान) द्वित्व, अभ्यास-कार्य आदि होकर

बभर्जे — रूप सिद्ध होता है।

बभ्रज्जे–'भ्रस्ज्', लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु० एक व० में 'रम्' अभाव पक्ष में पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यासादि कार्य, 'स्तोःश्चुना श्चुः' से 'स्' को 'श्' तथा 'झलां जश् झशि' से 'झल्' (श्) को 'जश्' (ज्) होकर 'बभ्रज्जे' रूप सिद्ध होता है।

भर्ष्टा

भ्रस्ज् — लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य डारौ०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकं शेषः' से 'तास्' प्रत्यय आर्धधातुक संज्ञक है अतः 'भ्रस्जो रोपधयो०' से आर्धधातुक परे रहते 'भ्रस्ज्' की उपधा और रेफ को रमागम हुआ

भ रम् ज् तास् डा — अनुबन्ध-लोप, डित्करण सामर्थ्य से 'टि' भाग 'आस्' का लोप हुआ

भ र् ज् त् आ — 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'झल्' परे रहते 'भ्रस्ज्' के 'ज्' को 'ष्' तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व अर्थात् 'त्' को 'ट्' आदेश होकर

भर्ष्टा — रूप सिद्ध होता है।

भ्रष्टा–रम् अभाव पक्ष में–'भ्रस्ज्+त्+आ' इस स्थिति में 'स्कोः संयोगाद्यो०' से सकार-लोप, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'ज्' को 'ष्' और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'भ्रष्टा' रूप सिद्ध होता है।

भर्क्ष्यति

भ्रस्ज् — लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकं शेषः से 'स्य' आर्धधातुक प्रत्यय है अतः 'भ्रस्जो रोपधयो रमन्य०' से विकल्प से 'रम्' आगम हुआ, अनुबन्ध-लोप

भर् ज् स्य ति — 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'झल्' (स्) परे रहते 'ज्' को 'ष्', 'षढोःकः सि' से सकार परे रहते षकार को ककारादेश और 'आदेशप्रत्यययोः' से कवर्ग से उत्तर प्रत्यय के सकार को षत्व होकर

भर्क्ष्यति — रूप सिद्ध होता है।

परे रहते संयोग के आदि सकार का लोप, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'ज्' को 'ष्', 'षढोः कः सि' से 'ष्' को 'क्' आदेश और 'आदेशप्रत्यययोः' से प्रत्यय के सकार को मूर्धन्यादेश होकर 'भ्रक्ष्यति' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) क्ङिति रमागमं बाधित्वा०—**अर्थ**—कित् ङित् आर्धधातुक परे हो तो रमागम को बाधकर पूर्वविप्रतिषेध से **सम्प्रसारण** होता है।

विशेष—'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र में पठित 'पर' शब्द को सूत्र-क्रम में बाद में आने वाले का वाचक और इष्टवाचक (द्व्यर्थक) मान लेने पर 'भ्रस्ज्' धातु से उत्तर कित् ङित् आर्धधातुक परे रहते अष्टाध्यायी के सूत्र-क्रम में पर-सूत्र 'भ्रस्जो रोपधयो०' (६.४.४७) द्वारा प्राप्त 'रम्' आगम को बाधकर पूर्व-सूत्र 'ग्रहिज्यावयि०' (६.१.१६) द्वारा विहित इष्ट-कार्य रूप पर-कार्य 'सम्प्रसारण' होता है। यही **पूर्वविप्रतिषेध** का आशय है।

भृज्ज्यात्

भ्रस्ज्	'आशिषि लिङ्लोटौ से लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो०' से यासुडागम, 'सुट् तिथोः' से तकार को सुडागम, अनुबन्ध-लोप और 'स्कोः संयोगाद्योः०' से सकारों का लोप होने पर
भ्रस्ज् या त्	'किदाशिषि' से आशीर्लिङ् में 'यासुट्' आगम कित् होने से, कित् आर्धधातुक परे रहते 'क्ङिति रमागमं बाधित्वा सम्प्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन' (वा०) से 'रम्' आगम को बाधकर, 'ग्रहिज्यावयि०' से सम्प्रसारण हुआ, 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से 'र्' को 'ऋ' सम्प्रसारण हुआ
भृअस्ज् या त्	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण से 'अच्' परे रहते पूर्वरूप एकादेश हुआ
भृस्ज्यात्	'स्तोःश्चुना श्चुः' से चवर्ग 'ज्' के योग में 'स्' को 'श्' आदेश और 'झलां जश् झशि' से 'श्' को 'ज्' आदेश होकर
भृज्ज्यात्	रूप सिद्ध होता है।

भृज्ज्यास्ताम्, भृज्ज्यासुः—आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', प्र० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'तस्' और 'झि' को क्रमशः 'ताम्' और 'जुस्' आदेश, 'यासुट्' आगम के कित् होने से (वा०) 'क्ङिति रमागम०' से 'रम्' आगम को बाधकर 'ग्रहिज्यावयि०' से सम्प्रसारण आदि सभी कार्य पूर्ववत् जानने चाहिएं।

भर्क्षीष्ट

भ्रस्ज्	आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप

भ्रस्ज् सीय् स् त — 'लोपो व्योर्वलि' से 'वल्' (सकार) परे रहते यकार का लोप हुआ

भ्रस्ज् सी स् त — 'भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्' से आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते रेफ तथा उपधा के स्थान में 'रम्' आगम हुआ।[१]

भ रम्ज् सी स् त — अनुबन्ध-लोप, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'झल्' परे रहते 'ज्' को 'ष्' और 'षढोः कः सि' से सकार परे रहते 'ष्' को 'क्' आदेश हुआ

भर् क् सी स् त — 'आदेशप्रत्यययोः' से 'इण्' तथा कवर्ग से उत्तर प्रत्यय के सकारों को मूर्धन्यादेश तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व 'त्' को 'ट्' आदेश होकर

भर्क्षीष्ट — रूप सिद्ध होता है।

भ्रक्षीष्ट–'रम्' अभाव पक्ष में–'भ्रस्ज्+सी+स्+त' यहाँ 'स्कोः संयोगाद्यो०' से 'झल्' परे रहते संयोगादि सकार का लोप, पूर्ववत् 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'ज्' को 'ष्', 'षढोः कः सि' से 'ष्' को 'क्' आदेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा ष्टुत्व होकर 'भ्रक्षीष्ट' रूप का बना।

अभ्राक्षीत्

भ्रस्ज् — 'लुङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि' और 'च्लेःसिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश हुआ

भ्रस्ज् सिच् तिप् — अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'सिच्' से उत्तर अपृक्त 'त्' को ईडागम, अनुबन्ध- लोप

भ्रस्ज् स् ई त् — 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से परस्मैपदपरक सिच् परे रहते हलन्त अङ्ग के अच् को वृद्धि, 'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोगादि सकार का लोप, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'ज्' को 'ष्', 'षढोः कः सि' से 'ष्' को 'क्' आदेश और 'आदेशप्रत्यययोः' से प्रत्यय के सकार को षकारादेश हुआ

भ्राक् ष् ई त् — 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर

अभ्राक्षीत् — रूप सिद्ध होता है।

अभार्क्षीत्

भ्रस्ज् — लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'सिच्', 'अस्तिसिचो०' से ईडागम, अनुबन्ध-लोप

---

१. आत्मनेपद में 'लिङ्' कित् या ङित् कहीं नहीं होता, अतः 'क्ङिति रमागमं०' वार्त्तिक से सम्प्रसारण का प्रसंग ही नहीं होता।

भ्रस्ज् स् ई त्	'भ्रज्जो रोपधयो०' से आर्धधातुक प्रत्यय 'सिच्' परे रहते रेफ तथा उपधा के स्थान में 'रम्' आगम हुआ, अनुबन्ध-लोप
भरज् स् ई त्	'वदव्रजहलन्तस्याच:' से वृद्धि, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'झल्' (सकार) परे रहते 'ज्' को 'ष्' आदेश, 'षढो: क: सि' से 'ष्' को 'क्' और 'आदेशप्रत्यययो:' से 'स्' को 'ष्' आदेश हुआ
भार्क्षीत्	'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अभार्क्षीत्	रूप सिद्ध होता है।
अभर्ष्ट	
भ्रस्ज्	लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि', 'च्ले: सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
भ्रस्ज् स् त	'भ्रस्जो रोपधयो०' से आर्धधातुक परे रहते रेफ और उपधा (सकार) के स्थान में 'रम्' आगम हुआ
भ रम् ज् स् त	अनुबन्ध-लोप, 'झलो झलि' से 'झल्' (ज्) से उत्तर 'स्' का लोप हुआ 'झल्' (त्) परे रहते, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'ज्' को 'ष्', 'ष्टुना ष्टु:' से ष्टुत्व 'त्' को 'ट्' तथा 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अभर्ष्ट	रूप सिद्ध होता है।

रम् अभाव पक्ष में–**'अभ्रष्ट'** रूप ही रहेगा।

कृष् (विलेखने-हल चलाना) धातु से **'कृषति', 'कृषते'** आदि रूप 'तुदति', 'तुदते' आदि के समान जानें।

चकर्ष	
कृष्	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश हुआ
कृष् णल्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से 'कृष्' को द्वित्व और 'पूर्वोऽभ्यास:' से 'अभ्यास' संज्ञा हुई
कृष् कृष् अ	'उरत्' से अभ्यास में ऋवर्ण के स्थान पर 'अ' आदेश, 'उरण् रपर:' से रपर हुआ
कर्ष् कृष् अ	'हलादि: शेष:' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'कुहोश्चु:' से अभ्यास में कवर्ग को चवर्गादेश हुआ
चकृष् अ	'पुगन्तलघू०' से लघूपध अङ्ग के 'इक्' (ऋ) को गुण, 'उरण् रपर:' से रपर होकर
चकर्ष	रूप सिद्ध होता है।

चकृषे—'कृष्' धातु, लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्' होने पर शेष द्वित्वादि कार्य 'चकर्ष' के समान जानें।

६५३. अनुदात्तस्य चर्दुपधस्याऽन्यतरस्याम् ६।१।५९

उपदेशेऽनुदात्तो य ऋदुपधः, तस्य अम् वा स्याज्झलादौ अकिति। क्रष्टा, कर्ष्टा। कृक्षीष्ट। (वा०) स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः। अक्राक्षीत्, अकार्क्षीत्, अकृक्षत्। अकृष्ट। अकृक्षाताम्। अकृक्षत। क्सपक्षे—अकृक्षत, अकृक्षाताम्, अकृक्षन्त। मिल सङ्गमे ।५। मिलति, मिलते। मिमेल। मेलिता। अमेलीत्। मुच्लृ मोचने ।६।

प० वि०—अनुदात्तस्य ६।१।। च अ०।। ऋदुपधस्य ६।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। अनु०—उपदेशे, झलि, अम्, अकिति।

अर्थः—उपदेश अवस्था में अनुदात्त तथा ऋदुपध (ह्रस्व ऋकार उपधा वाली) धातु को विकल्प से 'अम्' आगम होता है, कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे रहते।

क्रष्टा

कृष्	लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश तथा 'स्यतासी०' से 'तास्' हुआ
कृष् तास् डा	अनुबन्ध-लोप, डित्करण सामर्थ्य से टिभाग 'आस्' का लोप
कृष् त् आ	'तास्' प्रत्यय कित्-भिन्न तथा झलादि है अतः 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य०' से कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे रहते ह्रस्व ऋकार उपधा वाली धातु को विकल्प से 'अम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से अन्तिम 'अच्' से परे हुआ
कृ अम् ष् ता	अनुबन्ध-लोप, 'इको यणचि' से यणादेश 'ऋ' के स्थान में 'र्' तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर
क्रष्टा	रूप सिद्ध होता है।

कर्ष्टा

कृष्	'अम्' अभाव पक्ष में 'लुट्', 'तास्', 'डा' आदि पूर्ववत् होने पर
कृष् त् आ	'पुगन्तलघू०' से लघूपध अङ्ग के 'इक्' (ऋ) को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
कर्ष् त् आ	'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व 'त्' को 'ट्' होकर
कर्ष्टा	रूप सिद्ध होता है।

कृक्षीष्ट

कृष्	आशिषि लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्' और 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' आगम हुआ

कृष् सीयुट् सुट् त — अनुबन्ध-लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप हुआ

कृष् सी स् त — 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से इक् के समीप जो 'हल्', उससे उत्तर आत्मनेपद सम्बन्धी झलादि लिङ् कित् होने से 'अनुदात्तस्य चर्दु०' से 'अम्' नहीं होता, 'षढोः कः सि' से सकारादि प्रत्यय परे रहते षकार को ककारादेश हुआ

कृ क् सी स् त — 'आदेशप्रत्यययोः' से दोनों सकारों को षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व 'त्' को 'ट्' होकर

कृक्षीष्ट — रूप सिद्ध होता है।

(वा०)-स्पृशमृशकृषतृप०—अर्थ—स्पृश् (स्पर्शने-छूना), **मृश्** (आमर्शने-सोचना), **कृष्** (विलेखने-हल-चलाना), **तृप्,** (तृप्तौ-तृप्त होना व करना) और **दृप्,** (उत्क्लेशे-घमण्ड करना) इन धातुओं से उत्तर 'च्लि' के स्थान पर विकल्प से 'सिच्' होता है।

अक्राक्षीत्, अकार्क्षीत्

कृष् — लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया

कृष् तिप् — 'च्लि लुङि' से 'च्लि' आने पर 'स्पृशमृशकृषतृप०' वार्तिक से 'च्लि' के स्थान में विकल्प से 'सिच्' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचो०' से अपृक्तसंज्ञक 'त्' को ईडागम, अनुबन्ध- लोप

कृष् स् ई त् — 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य०' से कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय 'सिच्' परे रहते धातु को 'अम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात् परः' से अन्तिम 'अच्' (ऋ) से परे हुआ

कृ अम् ष् स् ई त् — अनुबन्ध-लोप, 'इको यणचि' से यणादेश, 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से वृद्धि, 'षढोः कः सि' से 'ष्' को 'क्' और 'आदेशप्रत्यययोः' से प्रत्यय के 'स्' को 'ष्' आदेश हुआ

क्राक्षीत् — 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर

अक्राक्षीत् — रूप सिद्ध होता है।

अकार्क्षीत्—'अम्'अभाव पक्ष में-'अकृक्षीत्' इस स्थिति में 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से 'ऋ' को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'आर्' होने पर 'अकार्क्षीत्' रूप सिद्ध होता है।

(सिच्-अभाव पक्ष में)

अकृक्षत्

कृष् — लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि' और 'शल इगुपधादनिटः क्सः' से शलन्त इगुपध धातु से उत्तर 'च्लि' के स्थान में 'क्स' आदेश हुआ

कृष् क्स तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'षढोः कः सि' से सकारादि प्रत्यय परे रहते 'ष्' को 'क्' आदेश हुआ
कृ क् स त्	'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'अट्' आगम होकर
अकृक्षत्	रूप सिद्ध होता है।
अकृष्ट	
कृष्	लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि' 'स्पृशमृशकृष०' से 'च्लि' के स्थान में विकल्प से 'सिच्' आदेश हुआ
कृष् सिच् त	अनुबन्ध-लोप, 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से 'सिच्' के कित् होने से ('अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' से प्राप्त) 'अम्' आगम का अभाव, 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध होने पर 'झलो झलि' से 'झल्' (षकार) से उत्तर 'सिच्' के सकार का 'झल्' (तकार) परे रहते लोप हुआ
कृष् त	'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
अकृष्ट	रूप सिद्ध होता है।

अकृक्षाताम्–'कृष्' धातु, आत्मनेपद, लुङ्, प्र, पु०, द्वि व० में 'आताम्', सिच्, 'च्लि', 'स्पृशमृशकृष०' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश, 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से 'सिच्' के कित् होने से 'अम्' आगम का अभाव तथा 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध, 'षढोःकःसि' से 'ष्' को 'क्', 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा अडागम होकर 'अकृक्षाताम्' रूप सिद्ध होता है।

अकृक्षत–'कृष्' धातु, लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'आत्मनेपदेष्वनतः' से 'झ्' को 'अत्' आदेश तथा अन्य कार्य पूर्ववत् होने पर 'अकृक्षत' रूप सिद्ध होता है।

अकृक्षत–'कृष्' धातु, लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सिच्' के अभाव पक्ष में–'शल इगुपधादनिटः०' से 'च्लि' के स्थान में 'क्स' आदेश, 'षढोःकःसि' से 'ष्' को 'क्', 'आदेशप्रत्यय०' से 'स्' को 'ष्' तथा अडागम होकर 'अकृक्षत' रूप सिद्ध होता है।

अकृक्षाताम्, अकृक्षन्त–'कृष्' धातु, लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'आताम्' और 'झ', 'च्लि' के स्थान पर 'शल इगुपधाद्०' से 'क्स' आदेश, 'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश, 'षढोःकःसि' से 'ष्' को 'क्', 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा अडागम होकर दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

मिल (संगमे-मिलना) धातु से **मिलति, मिलते, मिमेल** तथा **मेलिता** इत्यादि रूप 'तुदति', 'तुदते' तथा 'तुतोद' इत्यादि के समान जानें।

६५४. शे मुचादीनाम् ७।१।५९

मुच्-लिप्-विद्-लुप्-सिच्-कृत्-खिद्-पिशां नुम् स्यात् शे परे। मुञ्चति, मुञ्चते। मोक्ता। मुच्यात्। मुक्षीष्ट। अमुचत्। अमुक्त। अमुक्षाताम्। लुप्लृ छेदने ।७। लुम्पति। लुम्पते। लोप्ता। अलुपत्, अलुप्त। विद्लृ लाभे ।८। विन्दति, विन्दते। विवेद, विविदे। व्याघ्रभूतिमते सेट्-वेदिता। भाष्यमतेऽनिट्-परिवेत्ता। षिच क्षरणे ।९। सिञ्चति, सिञ्चते।

प० वि०—शे ७।१।। मुचादीनाम् ६।३।। **अनु०**—नुम्।

अर्थः—**मुच्** (मोचने-छोडना), **लिप्** (उपदेहे-लीपना), **विद्** (लाभे-पाना), **लुप्** (छेदने-काटना), **सिच्** (क्षरणे-सींचना), **कृत्** (छेदने-काटना), **खिद्** (परिघातने-प्रहार करना) और **पिश्** (अवयवे-अवयव करना) इन धातुओं को **'नुम्'** आगम होता है, 'श' प्रत्यय परे रहते।

मुञ्चति

मुच्लृ	'उपदेशेऽजुनना०' से लृकार की 'इत्' संज्ञा, 'तस्य लोपः' से इत्-संज्ञक का लोप, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'तुदादिभ्यः०' से 'श' प्रत्यय आया
मुच् श तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'शे मुचादीनाम्' से 'मुच्' धातु को 'श' परे रहते 'नुम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से अन्तिम 'अच्' (उकार) से परे हुआ, अनुबन्ध-लोप
मु न् च् अ ति	'नश्चाऽपदान्तस्य०' से 'झल्' (च्) परे रहते अपदान्त नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्णादेश 'ञ्' होकर
मुञ्चति	रूप सिद्ध होता है।

मुञ्चते—'मुच्', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व, शेष नुमागम आदि कार्य पूर्ववत् जानने चाहिएं।

मोक्ता—'मुच्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्करण सामर्थ्य से टि भाग 'आस्' का लोप, 'पुगन्तलघू०' से गुण तथा 'चोःकुः' से कुत्व होकर 'मोक्ता' रूप सिद्ध होता है।

मुच्यात्—'मुच्', 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' आगम, 'स्कोः संयोगाद्योः०' से सकार-लोप आदि होकर 'मुच्यात्' रूप सिद्ध होता है।

मुक्षीष्ट—'मुच्', आशिषि लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सीयुट्', 'सुट्', 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'चोःकुः' से कुत्व, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'मुक्षीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अमुचत्–'मुच्', लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि', 'पुषादिद्युता०' से लृदित् धातु से परस्मैपद परे रहते 'च्लि' को 'अङ्' आदेश और 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर 'अमुचत्' रूप सिद्ध होता है।

अमुक्त–'मुच्', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि', 'च्लि' को 'सिच्' आदेश, 'झलो झलि' से 'झल्' से उत्तर सकार का लोप 'झल्' परे रहते, 'चोःकुः' से कुत्व तथा अडागम होकर '**अमुक्त**' रूप सिद्ध होता है।

अमुक्षाताम्–'मुच्', लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'च्लि', 'च्लि' को 'सिच्', 'चोःकुः' से कुत्व, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा अडागम होकर 'अमुक्षाताम्' रूप सिद्ध होता है।

'लुप्लृ' (छेदने-काटना) धातु के **लुम्पति, लुम्पते** इत्यादि सभी रूप 'मुञ्चति', 'मुञ्चते' इत्यादि के समान जानें।

'षिच्' (क्षरणे-सींचना) धातु के **सिञ्चति, सिञ्चते** आदि सभी रूप 'मुञ्चति', 'मुञ्चते' आदि के समान जानें।

विन्दति

विद्लृ	'उपदेशेऽजनु०' से 'लृ' की 'इत्' संज्ञा और 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञक 'लृ' का लोप हुआ
विद्	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तुदादिभ्यः शः' से 'श' आया
विद् श तिप्	अनुबन्ध-लोप , 'शे मुचादीनाम्' से 'श' परे रहते मुचादि में पठित 'विद्' को 'नुम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्०' से अन्तिम अच् से परे 'नुम्' हुआ
वि नुम् द् अ ति	अनुबन्ध-लोप होकर संहिता होने पर
विन्दति	रूप सिद्ध होता है।

विन्दते–'विद्', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'तुदादिभ्यः शः' से 'श', 'शे मुचादीनाम्' से 'नुम्' आगम और 'टित् आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग को एत्व होकर 'विन्दते' रूप सिद्ध होता है।

विवेद

विद्	'लिट् च' से परोक्ष-भूत अर्थ में होने वाली क्रिया-वाचक धातु से 'लिट्' प्रत्यय आया
विद् लिट्	अनुबन्ध-लोप, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप, 'पुगन्तलघूपधस्य०' से प्राप्त गुण का 'द्विर्वचनेऽचि' से द्विर्वचन करने के विषय में निषेध होने पर 'लिटि धातोरन०' से 'विद्' को द्वित्व हुआ

विद् विद् अ — 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा

वि विद् अ — 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध अङ्ग के 'इक्' को गुण होकर रूप सिद्ध होता है।

विवेद

विविदे–'विद्', लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'त' को 'एश्' आदेश, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'एश्' के कित् होने पर 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध, 'लिटि धातो०' से द्वित्व और अभ्यास-कार्य होकर 'विविदे' रूप सिद्ध होता है।

वेदिता, वेत्ता–'विद्' लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी लृलुटोः' से 'तास्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' आदेश, **व्याघ्रभूति** आचार्य के मत में 'तास्' को 'इट्' आगम, डित्करण सामर्थ्य से 'टि' भाग (आस्) का लोप तथा 'पुगन्तलघू०' से गुण होकर 'वेदिता' और **भाष्यकार** के मत में 'इट्' न होने पर 'खरि च' से 'द्' को 'त्' आदेश होकर 'वेत्ता' रूप सिद्ध होते हैं।

६५५. लिपिसिचिह्वश्च ३।१।५३

एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्। असिचत्।

प० वि०–लिपिसिचिह्वः ५।१।। च अ०।। **अनु०**–च्लेः, अङ्, कर्त्तरि, लुङि।

अर्थः–**लिप्** (उपदेहे–लीपना), **सिच्** (क्षरणे–सींचना), तथा **ह्वे** (स्पर्द्धायां शब्दे च- स्पर्धा करना और शब्द करना) धातुओं से उत्तर **'च्लि'** के स्थान पर **'अङ्'** आदेश होता है कर्त्ता वाची 'लुङ्' परे रहते।

असिचत्–'षिच्' धातु के 'ष्' को 'धात्वादेः षः सः' से 'स्' हुआ, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि' के स्थान में 'लिपिसिचिह्वश्च' से 'अङ्' आदेश तथा अडागम होकर 'असिचत्' रूप सिद्ध होता है।

६५६. आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ३।१।५४

लिपि-सिचि-ह्वः परस्य च्लेरङ् वा स्यात्तङि। असिचत, असिक्त। लिप उपदेहे।१०। उपदेहो=वृद्धिः। लिम्पति, लिम्पते। लेप्ता। अलिपत्, अलिपत, अलिप्त। इति उभयपदिनः।

कृती छेदने।११। कृन्तति। चकर्त। कर्तिता। कर्तिष्यति, कर्त्स्यति। अकर्तीत्। खिद परिघाते।१२। खिन्दति। चिखेद। खेत्ता। पिश अवयवे।१३। पिंशति। पेशिता। ओव्रश्चू छेदने।१४। वृश्चति। वव्रश्च। वव्रश्चिथ, वव्रष्ठ। व्रश्चिता, व्रष्टा। व्रश्चिष्यति, व्रक्ष्यति। वृश्च्यात्। अव्रश्चीत्, अव्राक्षीत्। व्यच व्याजीकरणे।१५। विचति। विव्याच। विविचतुः। व्यचिता। व्यचिष्यति। विच्यात्। अव्याचीत्, अव्यचीत्। 'व्यचेः कुटादित्वमनसि' इति तु नेह प्रवर्तते, 'अनसि' इति पर्युदासेन कृन्मात्रविषयत्वात्। उछि उञ्छे।१६। उञ्छति। 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्' इति यादवः।

ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु।१७। ऋच्छति। ऋच्छत्यृताम् (६१४) इति गुणः। द्विहलग्रहणस्याऽनेकहलुपलक्षणत्वान्नुट्। आनर्च्छ। आनर्च्छतुः। ऋच्छिता। उज्झ उत्सर्गे।१८। उज्झति। लुभ विमोहने।१९। लुभति।

प० वि०–आत्मनेपदेषु ७।३।। अन्यतरस्याम् ७।१।। **अनु०**–लिपिसिचिह्वः, च्लेः, अङ्, कर्तरि।

अर्थः–**'लिप्, 'सिच्'** तथा **'ह्वे'** धातुओं से उत्तर **'च्लि'** के स्थान पर विकल्प से **'अङ्'** आदेश होता है कर्तृवाचक आत्मनेपद परे हो तो।

असिचत–'षिच्', 'धात्वादेः षः सः' से षकार को सकार आदेश, लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', च्लि' के स्थान में 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' से आत्मनेपद परे रहते विकल्प से 'अङ्' आदेश और अडागम होकर 'असिचत' रूप सिद्ध होता है।

असिक्त–'अङ्'-अभाव पक्ष में 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', 'झलो झलि' से सकार-लोप, 'चोः कुः' से 'झल्' परे रहते कुत्व तथा अडागम होकर 'असिक्त' रूप सिद्ध होता है।

लिम्पति, लिम्पते–'लिप्' (उपदेहे-लीपना, आच्छादित करना) धातु से परस्मैपद तथा आत्मनेपद में लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' तथा 'त', 'तुदादिभ्यः शः' से 'श' प्रत्यय, 'शे मुचादीनाम्' से 'श' प्रत्यय परे रहते 'लिप्' धातु को नुमागम, 'नश्चापदान्तस्य०' से 'न्' को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' से परसवर्णादेश होकर 'लिम्पति' और 'टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग को एत्व होकर 'लिम्पते' रूप सिद्ध होते हैं।

लेप्ता, अलिपत्, अलिपत, अलिप्त इत्यादि सभी रूप 'सेक्ता', 'असिचत्', 'असिचत', 'असिक्त' इत्यादि के समान जानें।

कृन्तति–'कृती' (छेदने-काटना) धातु से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तुदादिभ्यः शः' से 'श', 'शे मुचादीनाम्' से नुमागमादि कार्य पूर्ववत् होकर 'कृन्तति' रूप सिद्ध होता है।

चकर्त

कृत्	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश हुआ
कृत् णल्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से 'कृत्' को द्वित्व होने पर 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा हुई
कृत् कृत् अ	'उरत्' से अभ्यास में ऋवर्ण को ह्रस्व 'अ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
करत् कृत् अ	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में कवर्ग के स्थान में चवर्गादेश हुआ

क् कृत् अ	'पुगन्तलघू०' से लघूपध अङ्ग के 'इक्' (ऋ) को गुण, 'उरण् रपर:' से रपर होकर
चकर्त	रूप सिद्ध होता है।

कर्तिता–'कृत्' धातु, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, डित्करण सामर्थ्य से टिभाग का लोप, 'पुगन्तलघू०' से गुण तथा 'उरण् रपर:' से रपर होकर 'कर्तिता' रूप सिद्ध होता है।

कर्तिष्यति

कृत्	लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', अनुबन्ध-लोप
कृत् स्य ति	'सेऽसिचि कृत०' से सकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इडागम, 'पुगन्तलघू०' से गुण, 'उरण् रपर:' से रपरत्व और 'आदेशप्रत्यययो:' से षत्व होकर
कर्तिष्यति	रूप सिद्ध होता है

कर्त्स्यति– 'कृत्+स्य+ति' इडभाव पक्ष में लघूपध गुण होकर 'कर्त्स्यति' रूप सिद्ध होता है।

अकर्तीत्

कृत्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि' और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', 'अस्तिसिचो०' से 'सिच्' से उत्तर अपृक्त 'त्' को ईडागम, 'आर्धधातुकस्येड्०' से वलादि आर्धधातुक 'सिच्' को इडागम, अनुबन्ध-लोप
कृत् इ स् ई त्	'वदव्रजहलन्तस्याचः' से प्राप्त वृद्धि का 'नेटि' से निषेध होने पर 'पुगन्तलघूप०' से 'ऋ' को गुण 'उरण् रपर:' से रपर हुआ, 'इट ईटि' से सकार-लोप, 'अकः सवर्णे०' से सवर्णदीर्घत्व तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
अकर्तीत्	रूप सिद्ध होता है।

'**खिद्**' (परिघाते-प्रहार करना, सताना, दुःख देना) धातु के **खिन्दति, चिखेद,** खेत्ता इत्यादि रूप पूर्ववत् जानें।

पिंशति–'पिश्' (अवयवे-अवयव करना) धातु भी मुचादि धातुओं में पठित है, अतः पूर्ववत् लट्, 'तिप्', 'तुदादिभ्यः०' से 'श', 'शे मुचादीनाम्' से नुमागम और 'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार होकर 'पिंशति' रूप सिद्ध होता है।

पेशिता–'पिश्' धातु, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से

'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, डित्करण सामर्थ्य से टिभाग का लोप तथा 'पुगन्तलघू०' से गुण होकर 'पेशिता' रूप सिद्ध होता है।

वृश्चति–'ओव्रश्चू' (छेदने-छेदने करना, काटना) धातु से अनुबन्ध-लोप होने पर 'व्रश्च्', लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तुदादिभ्यः शः' से 'श' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप, 'व्रश्च्+अ+ति' इस स्थिति में 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से अपित् सार्वधातुक (श) ङित् परे रहते धातु को सम्प्रसारण, 'र्' को 'ऋ' आदेश और 'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप होकर 'वृश्चति' रूप सिद्ध होता है।

वव्रश्च

व्रश्च्	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां णलतु०' से 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
व्रश्च् अ	'लिटि धातो०' से लिट् परे रहते धातु के प्रथम एकाच् समुदाय को द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'लिट्यभ्यासस्यो०' से लिट् परे रहते अभ्यास के रेफ को सम्प्रसारण 'ऋ' आदेश और 'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप हुआ
वृश्च् व्रश्च् अ	'उरत्' से अभ्यास के ऋकार को अकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
वर्श्च् व्रश्च् अ वव्रश्च	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहने पर रूप सिद्ध होता है।

वव्रश्चिथ–'व्रश्च्' धातु, लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'परस्मैपदानां णलतु०' से 'थल्' आदेश, 'स्वरतिसूतिसूयति०' से ऊदित् धातु से उत्तर 'थल्' को विकल्प से इडागम, पूर्ववत् द्वित्त्व, 'लिट्यभ्यासस्य०' से सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप तथा अभ्यास-कार्य, 'उरत्' से 'ऋ' को ह्रस्व अकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'हलादिः शेषः' से आदि 'हल्' शेष रहने पर 'वव्रश्चिथ' रूप सिद्ध होता है।

वव्रष्ठ–इडभाव पक्ष में–'वव्रश्च्+थ' यहाँ 'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोगादि सकार (शकार) का लोप, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'व्रश्च्' के 'च्' को 'ष्' तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व 'थ्' को 'ठ्' आदेश होकर 'वव्रष्ठ' रूप सिद्ध होता है।

व्रश्चिता–'व्रश्च्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'स्वरतिसूतिसूयति०' से विकल्प से इडागम और डित्करण सामर्थ्य से 'तास्' के 'आस्' भाग का लोप होकर 'व्रश्चिता' रूप सिद्ध होता है।

व्रष्टा–इडभाव पक्ष में–'व्रश्च्+त्+आ' इस स्थिति में 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'च्' को ष्, 'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोगादि सकार-लोप और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'व्रष्टा' रूप सिद्ध होता है।

व्रश्चिष्यति–'व्रश्च्' धातु से लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'स्वरतिसूतिसूयति०' से ऊदित् धातु से परे वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इडागम और 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'व्रश्चिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

व्रक्ष्यति–इडभाव पक्ष में–'व्रश्च्+स्य+ति' यहाँ 'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोगादि सकार (शकार) का लोप, 'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से 'च्' को 'ष्', 'षढोः कः सि' से सकार परे रहते 'ष्' को 'क्' और 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'व्रक्ष्यति' रूप सिद्ध होता है।

वृश्च्यात्–'व्रश्च्' धातु, आशिषि लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्' आगम, 'सुट् तिथोः' से सुडागम, 'किदाशिषि०' से आशीर्वाद विषयक यासुडागम के कित् होने से 'ग्रहिज्यावयि०' से सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप एकादेश और 'स्कोः संयोगाद्योः०' से 'यासुट्' और 'सुट्' के संयोगादि सकारों का लोप होकर 'वृश्च्यात्' रूप सिद्ध होता है।

अव्रश्चीत्

व्रश्च्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि' और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश हुआ
व्रश्च् सिच् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से सिच् से उत्तर अपृक्त 'त्' को 'ईट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
व्रश्च् स् ई त्	'स्वरतिसूतिसूयति०' से 'ऊदित्' धातु से उत्तर वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इडागम हुआ, अनुबन्ध-लोप
व्रश्च् इ स् ई त्	'वदव्रजहलन्तस्या०' से प्राप्त वृद्धि का 'नेटि' से इडादि 'सिच्' पर रहते निषेध हुआ, 'इट ईटि' से सकार-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश और 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
अव्रश्चीत्	रूप सिद्ध होता है।

अव्राक्षीत्–इडभाव पक्ष में–'अ+व्रश्च्+स्+ई+त्' यहाँ 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से वृद्धि, 'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोगादि सकार का लोप, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'च्' को 'ष्' आदेश, 'षढोः कः सि' से 'ष्' को 'क्' और 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'अव्राक्षीत्' रूप सिद्ध होता है।

विचति–'व्यच्' (व्याजीकरणे–छलना, ठगना, धोखा देना) धातु से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तुदादिभ्यः०' से 'श', 'सार्वधातुकमपित्' से 'श' के ङित् होने से 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से सम्प्रसारण 'य्' को 'इ' तथा 'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप होकर 'विचति' रूप सिद्ध होता है।

विव्याच

व्यच्	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' हुआ

व्यच् णल्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से 'व्यच्' को द्वित्व और 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा हुई
व्यच् व्यच् अ	'लिट्यभ्यासस्यो०' से 'लिट्' परे रहते 'व्यच्' के अभ्यास को सम्प्रसारण, 'न सम्प्रसारणे सम्प्र०' से वकार को सम्प्रसारण का निषेध होने पर 'य्' को सम्प्रसारण 'इ' हुआ
व् इ अ च् व्यच् अ	'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप एकादेश, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष तथा 'अत उपधायाः' से उपधा अकार को वृद्धि 'आ' होकर
विव्याच	रूप सिद्ध होता है।

विविचतुः–'व्यच्' धातु, लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'परस्मैपदानां०' से 'अतुस्' आदेश, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'अतुस्' के 'कित्' होने से 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से पहले सम्प्रसारण, उसके बाद पूर्ववत् द्वित्वादि कार्य, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'विविचतुः' रूप सिद्ध होता है।

व्यचिता–'व्यच्' धातु, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्० से इडागम, डित्करण सामर्थ्य से 'टि' भाग 'आस्' का लोप आदि कार्य पूर्ववत् ही जानें।

विच्यात्–'व्यच्' धातु, आशिषि लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट्' आगम, 'किदाशिषि' से 'कित्' हुआ, 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम, 'स्कोः संयोगाद्यो०' से सकारों का लोप, 'ग्रहिज्यावयि०' से सम्प्रसारण 'य्' के स्थान में 'इ' आदेश और 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'विच्यात्' रूप सिद्ध होता है।

अव्याचीत्, अव्यचीत्–'व्यच्' धातु, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि' को 'सिच्' आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'त्' को 'ईट्' आगम, 'अतो हलादेर्लघोः' से विकल्प से वृद्धि, 'इट ईटि' से सकार का लोप तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ होकर वृद्धि पक्ष में 'अव्याचीत्' तथा वृद्धि के अभाव पक्ष में 'अव्यचीत्' रूप सिद्ध होते हैं।

'व्यच्' धातु को 'सिच्' परे रहते कुटादि में नहीं माना जाता इसकी चर्चा आगे की जा रही है।

'व्यचेः कुटादित्वम् अनसि'–**अर्थ**–'अस्'-भिन्न प्रत्यय परे रहते 'व्यच्' धातु को कुटादिगण में मानना चाहिए।

'अव्याचीत्' में इस वार्त्तिक की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि 'अनसि' पद में पर्युदास प्रतिषेध होने के कारण अस्-भिन्न 'अस्' के सदृश कृत्प्रत्यय परे रहते ही 'व्यच्' का कुटादित्व माना जायेगा। चूंकि 'सिच्' प्रत्यय कृत् संज्ञक नहीं है अतः 'व्यच्' धातु को कुटादिगणीय धातु नहीं माना जायेगा। कुटादिगण में न माने जाने से 'गाङ्कुटादिभ्यो०'

से सिचादि को ङित्त्व अतिदेश भी नहीं होगा और ङित् न होने से वृद्धि का निषेध भी नहीं होगा।

उञ्छति–'उछि' (उञ्छे–अनाज के एक-एक दाने को चुनना) धातु से 'उपदेशेऽज०' से इकार की 'इत्' संज्ञा और 'तस्य लोपः' से इकार का लोप होने पर 'इदितो नुम्०' से 'नुम्' आगम, 'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्ण होकर 'उञ्छ्' बनने पर लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'तुदादिभ्यः शः' से 'श' प्रत्यय होकर 'उञ्छति' रूप सिद्ध होता है।

ऋच्छति–'ऋच्छ्' (गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु–गमन करना, इन्द्रियों का बल नष्ट होना, कठिन या दृढ़ होना) धातु से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'तुदादि०' से 'श' होकर 'ऋच्छति' रूप सिद्ध होता है।

आनर्च्छ

ऋच्छ्	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां णलतु०' से 'णल्' आदेश हुआ
ऋच्छ् णल्	अनुबन्ध-लोप, 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' में 'अनृच्छः' कहने से 'ऋच्छ्' को 'आम्' आगम नहीं होता, अतः 'लिटि धातो०' से 'लिट्' परे रहते अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को द्वित्व प्राप्त हुआ, जो द्वितीय एकाच् न मिलने से व्यपदेशिवद्भाव से 'ऋच्छ्' को द्वित्व हुआ
ऋच्छ् ऋच्छ् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' से अभ्यास में ऋवर्ण को अकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
अर्च्छ् ऋच्छ् अ	'हलादिः शेषः' से, अभ्यास का आदि 'हल्' न होने से, अनादि हलों का लोप हुआ
अ ऋच्छ् अ	'अत आदेः' से अभ्यास में आदि अकार को दीर्घ हुआ
आ ऋच्छ् अ	'ऋच्छत्यृताम्' से 'लिट्' परे रहते 'ऋच्छ्' धातु के ऋकार को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'अर्' हुआ
आ अर्च्छ् अ	'तस्मान्नुड् द्विहलः' से ('द्विहलः' पद एक से अधिक का उपलक्षण होने से) तीन 'हल्' वाली धातु के दीर्घीभूत अभ्यास के अकार से उत्तर अङ्ग को 'नुट्' आगम हुआ
आ नुट् अर्च्छ् अ	अनुबन्ध-लोप होकर संहिता होने पर
आनर्च्छ	रूप सिद्ध होता है।

आनर्च्छतुः–लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'परस्मैपदानां०' से 'अतुस्' होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

उज्झति–'उज्झ' (उत्सर्ग-छोड़ना) धातु से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' तथा 'श' आदि कार्य होने पर 'उज्झति' पूर्ववत् जानें।

लुभति–'लुभ्' (विमोहने-मोहना, आकृष्ट करना, लुभाना) धातु से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श' आदि पूर्ववत् होकर 'लुभति' रूप सिद्ध होता है।

६५७. तीषसहलुभरुषरिषः ७।२।४८

इच्छत्यादेः परस्य तादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात्। लोभिता, लोब्धा। लोभिष्यति। तृप तृम्फ तृप्तौ।२१। तृपति। ततर्प। तर्पिता। अतर्पीत्। तृम्फति। (वा०) शे तृम्फादीनां नुम् वाच्यः। आदिशब्दः प्रकारे। तेन येऽत्र नकारानुषक्तास्ते तृम्फादयः। ततृम्फ। तृम्फ्यात्। मृड पृड सुखने।२३। मृडति। पृडति। शुन गतौ।२४। शुनति। इषु इच्छायाम्।२५। इच्छति। एषिता, एष्टा। एषिष्यति। इष्यात्। ऐषीत्। कुट कौटिल्ये।२६। (४८७) गाङ्कुटादि० इति ङित्त्वम्- चुकुटिथ। चुकोट, चुकुट। कुटिता। पुट संश्लेषणे।२७। पुटति। पुटिता। स्फुट विकसने।२८। स्फुटति। स्फुटिता। स्फुर स्फुल संचलने।३०। स्फुरति। स्फुलति।

प० वि०–ति ७।१।। इषसहलुभरुषरिषः ५।१।। **अनु०**–आर्धधातुकस्य, इट्, वा।

अर्थः–**इष्** (इच्छायाम्-चाहना), **सह्** (मर्षणे-सहना), **लुभ्** (विमोहने-मोहित होना, लोभ करना) और **रुष्** तथा **रिष्** (हिंसायाम्-हिंसा करना) धातुओं से उत्तर तकारादि आर्धधातुक को विकल्प से **'इट्'** आगम होता है।

लोभिता–'लुभ्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'तीषसहलुभरुष०' से तकारादि आर्धधातुक प्रत्यय 'तास्' को विकल्प से इडागम, डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप तथा 'पुगन्तलघू०' से गुण होकर 'लोभिता' रूप सिद्ध होता है।

लोब्धा–इडभाव पक्ष में–'लुभ्+त्+आ' यहाँ 'झषस्तथो०' से 'झष्' भकार से उत्तर 'त्' को 'ध्' आदेश, 'झलां जश् झशि' से 'भ्' को 'ब्' तथा लघूपध गुण होकर 'लोब्धा' रूप सिद्ध होता है।

लोभिष्यति–'लुभ्', लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण और 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'लोभिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

तृपति–'तृप्' (तृप्तौ-तृप्त होना या करना) धातु से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तुदादिभ्यः शः' से 'श' आने पर 'तृपति' रूप सिद्ध होता है।

ततर्प

तृप्	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
तृप् अ	'लिटि धातो०' से 'तृप्' को द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास'

तृप् तृप् अ — संज्ञा, 'उरत्' से अभ्यास में ऋवर्ण को 'अ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष तथा 'पुगन्तलघूप०' से ऋकार को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर

ततर्प — रूप सिद्ध होता है।

तर्पिता–'तृप्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा', 'स्यतासी' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से वलादि आर्धधातुक को इडागम, डित्करण सामर्थ्य से टि भाग 'आस्' का लोप तथा 'पुगन्तलघू०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'तर्पिता' रूप सिद्ध होता है।

अतर्पीत्–तृप्, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'अकर्तीत्' (६५६) के समान जानें।

(वा०) शे तृम्फादीनाम्–अर्थ–'श' विकरण परे होने पर 'तृम्फ्' आदि धातुओं को नुमागम होता है।

'तृम्फादि' में प्रयुक्त 'आदि' पद सादृश्य अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थात् जो धातु नकार युक्त हो उसे भी तत्सदृश ही जानना चाहिए।

तृम्फति

तृम्फ् — लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'तुदादि०' से 'श' आया

तृम्फ् श ति — अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकमपित्' से 'श' के ङित् होने पर 'अनिदितां हल उपधायाः०' से ङित् (श) परे रहते अनिदित् हलन्त अङ्ग की उपधा 'न्' (मकार) का लोप हुआ[1]

तृफ् अ ति — 'शे तृम्फादीनाम्' (वा०) से 'श' परे रहते 'तृम्फ्' को 'नुम्' आगम हुआ

तृ नुम् फ् अ ति — अनुबन्ध-लोप, 'नश्चापदान्तस्य०' से 'न्' को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार को परसवर्ण (मकार) आदेश होकर

तृम्फति — रूप सिद्ध होता है।

मृडति, पृडति–'मृड्', 'पृड्' (सुखने-सुख देना) धातुओं से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श' आदि सभी कार्य पूर्ववत् होकर 'मृडति' और 'पृडति' रूप सिद्ध होते हैं।

---

१. धातु में यदि 'झल्' परे रहते अनुस्वार अथवा वर्गों के पञ्चम वर्ण (ञ्, म्, ङ्, ण्, न्) दिखाई दें तो उसे नकार से उत्पन्न समझना चाहिए। ऐसा मानने पर 'तृम्फ्' आदि धातुओं में मकार को ही नकार मानकर 'अनिदितां हलः०' से मकार का लोप हो जाता है।

शुनति–'शुन्' (गतौ–गमन करना, जाना) धातु से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श' आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'शुनति' रूप सिद्ध होता है।

इच्छति

इष्	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तुदादिभ्यः०' से 'श', अनुबन्ध-लोप
इष् अ ति	'इषुगमियमां छः' से शित् परे रहते धातु के षकार को छकारादेश हुआ
इछ् अ ति	'छे च' से छकार परे रहते ह्रस्व 'इ' को 'तुक्' आगम, अनुबन्ध-लोप
इ त् छ् अ ति	'स्तोः श्चुना श्चुः' से तकार को चकार आदेश होकर
इच्छति	रूप सिद्ध होता है।

एषिता, एष्टा–'इष्' धातु से लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'तीषसहलुभ०' से 'इष्' धातु से उत्तर तकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इडागम, डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप तथा 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण होकर 'एषिता' तथा इडभाव पक्ष में 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'एष्टा' रूप सिद्ध होते हैं।

एषिष्यति–'इष्', लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'एषिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

इष्यात्–'इष्', आशिषि लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', 'स्कोः संयोगाद्यो०' से सकार–लोप आदि होकर 'इष्यात्' रूप सिद्ध होता है।

ऐषीत्

इष्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्, 'च्लि लुङि' से 'च्लि' और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश हुआ
इष् सिच् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से अपृक्त 'त्' को 'ईट्' आगम, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'सिच्' को इडागम, अनुबन्ध-लोप
इष इ स् ई त्	'वदव्रजहलन्तस्याचः' से प्राप्त वृद्धि का 'नेटि' से इडादि 'सिच्' परे रहते निषेध होने पर 'पुगन्तलघू०' से इकार को गुण, 'इट ईटि' से सकार–लोप, 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ हुआ
एष् ई त्	'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर
ऐषीत्	रूप सिद्ध होता है।

चुकुटिथ कुट्	लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'थल्' आदेश हुआ
कुट् थल्	अनुबन्ध–लोप, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'लिटि धातो०' से 'कुट्' को द्वित्व तथा 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
कु कुट् इ थ	'कुहोश्चुः' से अभ्यास में कवर्ग को चवर्गादेश हुआ
चु कुट् इ थ	'गाङ्कुटादिभ्य०' से कुटादि धातु से उत्तर णित् और ञित् से भिन्न प्रत्यय (थ) ङित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध होने पर
चुकुटिथ	रूप सिद्ध होता है।

चुकोट, चुकुट–'कुट्', लिट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश, द्वित्वादि सभी कार्य पूर्ववत् होने पर 'णलुत्तमो वा' से उत्तम पुरुष में 'णल्' विकल्प से णित् हुआ, णित् अभाव पक्ष में 'गाङ्कुटादिभ्यो०' से 'कुट्' से उत्तर णित्–भिन्न प्रत्यय 'णल्' के ङित् होने पर 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध होकर 'चुकुट' और णित् पक्ष में लघूपध गुण होकर 'चुकोट' रूप सिद्ध होते हैं।

कुटिता–'कुट्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'गाङ्कुटादिभ्यो०' से तास् के ङित् होने पर 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध और डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप होकर 'कुटिता' रूप सिद्ध होता है।

पुटति, पुटिता–'पुट्' (संश्लेषणे–आलिङ्गन करना या मिलना) धातु से 'पुटति', 'पुटिता' इत्यादि रूप 'कुटति', 'कुटिता' इत्यादि के समान जानें।

स्फुरति, स्फुलति–'स्फुर्', 'स्फुल्' (सञ्चलने–हिलना–डुलना) धातुओं से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श' आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'स्फुरति' और 'स्फुलति' रूप सिद्ध होते हैं।

६५८. स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः ८।३।७६

षत्वं वा स्यात्। निःष्फुरति, निःस्फुरति। णू स्तवने ।३१। परिणूत–गुणोदयः। नुवति। नुनाव। नुविता। टुमस्जो शुद्धौ।३२। मज्जति। ममज्ज। (६३६) मस्जिनशोः० इति नुम्। (वा०) मज्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः। संयोगादिलोपः। ममङ्क्थ, ममज्जिथ। मङ्क्ता। मङ्क्ष्यति। अमाङ्क्षीत्। अमाङ्क्ताम्। अमाङ्क्षुः। रुजो भङ्गे ।३३। रुजति। रोक्ता। रोक्ष्यति। अरौक्षीत्। भुजो कौटिल्ये।३४। रुजिवत्। विश प्रवेशने।३५। विशति। मृश आमर्शने।३६। आमर्शनं–स्पर्शः। (६५३) 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्'। अम्राक्षीत्। अमार्क्षीत्। अमृक्षत्। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु।३७। सीदतीत्यादि। शद्लृ शातने।३८।

प० वि०–स्फुरतिस्फुलत्योः६।२॥ निर्निविभ्यः५।३॥ **अनु०**–सः, अपदान्तस्य, मूर्धन्यः, वा।

अर्थः–'**निर्**', '**नि**' और '**वि**' उपसर्ग से उत्तर '**स्फुर्**' और '**स्फुल्**' धातुओं के सकार को विकल्प से **मूर्धन्य** षकारादेश होता है।

निःष्फुरति, निःस्फुरति–'निर्+स्फुरति' यहाँ 'निर्' उपसर्ग के रेफ को 'खरवसानयो०' से नित्य विसर्ग होने पर 'स्फुरतिस्फुलत्यो०' से 'निर्' उपसर्ग से उत्तर 'स्फुर्' धातु के सकार को विकल्प से मूर्धन्यादेश होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

नुवति–'णू' (स्तवने–स्तुति करना), 'णो नः' से धातु के आदि णकार को नकारादेश, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तुदादिभ्यः शः' से 'श' और 'अचि श्नुधातु०' से उकार को उवङादेश होकर 'नुवति' रूप सिद्ध होता है।

नुनाव

नू	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां णलतु०' से 'णल्' आदेश, 'लिटि धातो०' से 'नू' को द्वित्व और 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा हुई
नू नू अ	'ह्रस्वः' से अभ्यास में ऊकार को ह्रस्व 'उ' आदेश, 'अचो ञ्णिति' से अजन्त अङ्ग को वृद्धि तथा 'एचोऽयवायावः' से 'औ' के स्थान में 'आव्' होकर
नुनाव	रूप सिद्ध होता है।

नुविता–'णू' धातु, 'णो नः' से णकार को नकार आदेश, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, डित्सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप, 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' से कुटादि धातु 'णू' से उत्तर 'तास्' के ङित् हो जाने से 'क्ङिति च' से गुण ('सार्वधातुकार्ध०' से प्राप्त होने वाले गुण) का निषेध होने पर 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से उकार को 'उवङ्' आदेश होकर 'नुविता' रूप सिद्ध होता है।

टुमस्जो (शुद्धौ–नहाना, डुबकी लगाना)

मज्जति

टुमस्जो	'आदिर्ञिटुडवः' से 'टु' की इत्संज्ञा, 'उपदेशेऽज०' से 'ओ' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से इत्संज्ञकों का लोप, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
मस्ज् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'तुदादिभ्यः०' से 'श' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप, 'स्तोः श्चुना श्चुः' से सकार को शकार तथा 'झलां जश् झशि' से शकार को जकार होकर
मज्जति	रूप सिद्ध होता है।

ममज्ज–'मस्ज्', लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'मस्ज्' को द्वित्व, अभ्यासादि कार्य, 'स्तोः श्चुना श्चुः' से सकार को शकार आदेश और 'झलां जश् झशि' से शकार को जकारादेश होकर 'ममज्ज' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) मस्जेरन्त्यात्पूर्वो०–अर्थः–'मस्ज्' धातु के अन्तिम वर्ण 'ज्' से पूर्व 'नुम्' आगम होता है।

ममङ्क्थ

मस्ज्	लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'थल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
मस्ज् थ	'मस्जिनशोर्झलि' से झलादि प्रत्यय परे रहते 'मस्ज्' को 'नुम्' आगम, 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वो०' से 'मस्ज्' धातु के अन्तिम वर्ण 'ज्' से पूर्व को 'नुम्' आगम हुआ
मस् नुम् ज् थ	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातो०' से 'मस्ज्' को द्वित्व और अभ्यासादि कार्य होने पर
म मस न् ज् थ	'स्कोः संयोगाद्यो०' से 'झल्' परे रहते संयोग के आदि सकार का लोप, 'चोः कुः' से पदान्त 'ज्' को 'ग्' आदेश और 'खरि च' से 'ग्' को 'क्' आदेश हुआ
ममन्क्थ	'नश्चाऽपदान्तस्य०' से 'झल्' परे रहते अपदान्त 'न्' को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्णादेश होकर
ममङ्कथ	रूप सिद्ध होता है।

ममज्जिथ

मस्ज् थल्	'ऋतो भारद्वाजस्य' से 'थल्' को विकल्प से इडागम
मस्ज् इ थ	पूर्ववत् द्वित्वादि कार्य, 'स्तोः श्चुना०' से 'स्' को 'श्', 'झलां जश् झशि' से 'श्' को 'ज्' होकर
ममज्जिथ	रूप सिद्ध होता है।

मङ्क्ता–'मस्ज्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'मस्जिनशोर्झलि' से 'नुम्' आगम, 'मस्जेरन्त्यत्पूर्वो०' से 'मस्ज्' के अन्तिम अल् 'ज्' से पूर्व 'नुम्' आगम, 'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोगादि सकार-लोप, डित्करण सामर्थ्य से 'टि' भाग 'आस्' का लोप, 'चोः कुः' से कुत्व 'ज्' को 'ग्', 'खरि च' से 'ग्' को 'क्', 'नश्चापादन्तस्य०' से नकार को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्ण 'ङ्' आदेश होकर 'मङ्क्ता' रूप सिद्ध होता है।

मङ्क्ष्यति–'मस्ज्', लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', पूर्ववत्

'मस्जिनशो०' से 'नुम्' आगम, 'स्कोः संयोगाद्यो०' से सकार-लोप, 'चोः कुः' से कुत्व, 'खरि च' से चर्त्व तथा अनुस्वारादि कार्य पूर्ववत् जानें।

अमाङ्क्षीत्

मस्ज्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि' और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', अनुबन्ध-लोप
मस्ज् स् त्	'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से अपृक्त 'त्' को ईडागम, 'मस्जिनशो०' से 'नुम्' आगम, 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्०' से अन्तिम अल् 'ज्' से पूर्व 'नुम्' हुआ
मस् नुम् ज् स् ई त्	अनुबन्ध-लोप
मस् न् ज् स् ई त्	'वदव्रजहलन्तस्याचः' से परस्मैपदपरक 'सिच्' परे रहते हलन्त अङ्ग के 'अच्' को वृद्धि हुई
मास् न् ज् स् ई त्	'स्कोः संयोगाद्यो०' से 'झल्' परे रहते संयोगादि सकार का लोप और 'चोः कुः' से कुत्व 'ज्' को 'ग्' आदेश हुआ
मा न् ग् स् ई त्	'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व और 'खरि च' से चर्त्व 'ग्' को 'क्' आदेश हुआ
मा न् क् ष् ई त्	'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार आदेश, 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्ण 'ङ्' तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर
अमाङ्क्षीत्	रूप सिद्ध होता है।

अमाङ्क्ताम्–'मस्ज्', लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थ०' से 'ताम्' आदेश, 'च्लि' को 'सिच्' आदेश, 'मस्जिनशो०' से 'नुम्', 'मस्जेस्न्त्यात्पूर्वो०' से नुमागम अन्तिम 'अल्' (ज्) से पूर्व हुआ, 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से वृद्धि, 'झलो झलि' से सकार-लोप, 'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोगादि सकार-लोप, 'चोःकुः' से कुत्व, 'खरि च' से चर्त्व, नकार को अनुस्वार, अनुस्वार को परसवर्ण 'ङ्' तथा अडागम होकर 'अमाङ्क्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

अमाङ्क्षुः–लुङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'च्लि', 'च्लि' को 'सिच्' आदेश, 'सिजभ्यस्तविदिभ्य०' से 'सिच्' से उत्तर 'झि' को 'जुस्' होने पर 'नुम्', 'स्कोः संयोगाद्यो०' से सकार-लोप, कुत्व, चर्त्व, षत्व, नकार को अनुस्वार, परसवर्ण, सकार को रुत्व और विसर्ग आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

रुजति–'रुज्' धातु से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श' आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

रोक्ता, रोक्ष्यति–'रुज्' धातु से लुट् तथा लृट्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया क्रमशः 'मोक्ता' और 'मोक्ष्यति' (६५४) के समान जानें।

'भुजो' (कौटिल्ये-टेढ़ा करना, मरोड़ना) धातु के सभी रूप 'रुज्' धातु के रूपों के समान जानें।

विशति–'विश्' (प्रवेशने-प्रवेश करना) धातु से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श' आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

अम्राक्षीत्

मृश्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'स्पृशमृशकृषतृप०' वार्तिक से 'च्लि' के स्थान पर विकल्प से 'सिच्' आदेश हुआ
मृश् सिच् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य०' से उपदेश में अनुदात्त तथा ऋदुपध धातु को कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय 'सिच्' परे रहते विकल्प से 'अम्' आगम हुआ
मृ अम् श् स् त्	अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से ईडागम, 'इको यणचि' से यणादेश,
म्र श् स् ई त्	'वदव्रजहलन्तस्याचः' से वृद्धि, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'झल्' परे रहते 'श्' को 'ष्' आदेश, 'षढोः कः सि' से षकार को ककार आदेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा अडागम होकर
अम्राक्षीत्	रूप सिद्ध होता है।

अमार्क्षीत्, अमृक्षत्–'मृश्' लुङ्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'अकार्क्षीत्' और 'अकृक्षत्' (६५३) के समान जानें।

षद्लृ–(विशरणगत्यवसादनेषु–विशीर्ण होना, जाना, नाश होना)

सीदति

षद्लृ	'उपदेशेऽज०' से लृकार की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लृकार का लोप, 'धात्वादेः षः सः' से धातु के आदि षकार को सकारादेश, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तुदादिभ्यः०' से 'श', अनुबन्ध-लोप
सद् अ ति	'पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्ति०' से 'शित्' प्रत्यय 'श' परे रहते 'सद्' के स्थान पर 'सीद्' आदेश होकर
सीदति	रूप सिद्ध होता है।

६५९. शदेः शितः १।३।६०

शिद्भाविनोऽस्मात्तङानौ स्तः। शीयते। शीयताम्। अशीयत। शीयेत। शशाद। शत्ता। शत्स्यति। अशदत्। अशत्स्यत्। कृ विक्षेपे।३९।

प० वि०–शदेः ५।१।। शितः ६।१।। अनु०–आत्मनेपदम्।

अर्थः–'शित्' की विवक्षा में (शिद् भावी अर्थात् शित्प्रत्यय आने वाला हो तो)

'**शद्**' (शातने-नष्ट होना, बरबाद होना, मुरझाना) धातु से आत्मनेपद संज्ञक '**तङ्**' और '**आन**' ('शानच्' तथा 'कानच्') प्रत्यय होते हैं।

शीयते

शद्लृ	'उपदेशेऽजनु०' से 'लृ' की 'इत्' संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से उसका लोप हुआ
शद्	लट्, तुदादिगण में 'श' प्रत्यय किया जाना है अतः शिद्-भावी होने पर 'शदेः शितः' से आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय 'तङ्' का प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
शद् त	'तुदादिभ्यः०' से 'श', 'पाघ्राध्मास्था०' से शित्प्रत्यय परे रहते 'शद्' को 'शीय्' आदेश हुआ
शीय् अ त	'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग अकार को एत्व होकर
शीयते	रूप सिद्ध होता है।

शीयताम्—'शद्', लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'लट्' के समान ही 'शीयते' रूप बनने पर 'आमेतः' से एकार के स्थान पर 'आम्' होकर 'शीयताम्' रूप सिद्ध होता है।

अशीयत—'शद्', लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'तुदादि०' से 'श' प्रत्यय, 'पाघ्राध्मास्था०' से 'शद्' को 'शीय्' आदेश तथा अडागम होकर 'अशीयत' रूप सिद्ध होता है।

शीयेत—'शद्', विधि लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'तुदादि०' से 'श', 'पाघ्राध्मास्था०' से 'शद्' को 'शीय्' आदेश, 'लिङः सीयुट्' से सीयुडागम, 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' आगम, 'लिङ सलोपो०' से सार्वधातुक 'लिङ्' के अनन्त्य सकारों का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप और 'आद् गुणः' से गुण होकर 'शीयेत' रूप सिद्ध होता है।

शशाद—'शद्', लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्', 'लिटि धातो०' से द्वित्व, अभ्यासादि कार्य, 'अत उपधायाः' से उपधा में 'अ' को वृद्धि होकर 'शशाद' रूप सिद्ध होता है।

शत्ता—'शद्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप और 'खरि च' से 'द्' को 'त्' आदेश होकर 'शत्ता' रूप सिद्ध होता है।

शत्स्यति—'शद्', लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', स्यतासी०' से 'स्य' तथा 'खरि च' से 'द्' को 'त्' होकर 'शत्स्यति' रूप सिद्ध होता है।

अशदत्—'शद्', लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि', 'पुषादिद्युताद्यॢदितः०' से 'च्लि' के स्थान में 'अङ्' आदेश तथा अडागम होकर 'अशदत्' रूप सिद्ध होता है।

अशत्स्यत्—'शद्', लृङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'खरि च' से चर्त्व तथा 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से लृङ्' परे रहते अडागम होकर 'अशत्स्यत्' रूप सिद्ध होता है।

६६०. ऋत इद्धातोः ७।१।१००

ॠदन्तस्य धातोरङ्गस्य इत् स्यात्। किरति। चकार। चकरतुः। चकरुः। करीता, करिता। कीर्यात्।

प० वि०–ॠतः ६।१।। इत् १।१।। धातोः ६।१।। **अनु०**–अङ्गस्य।

अर्थः–ॠदन्त धातु के अङ्ग को '**इत्**' अर्थात् ह्रस्व इकार आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश 'ॠ' के स्थान पर होता है।

कॄ (विक्षेपे–बिखेरना)

किरति

कॄ	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तुदादिभ्यः०' से 'श', अनुबन्ध–लोप
कॄ अ ति	'ऋत इद्धातोः' से ॠदन्त धातु के अङ्ग को इकारादेश, 'अलोऽन्त्यस्य' से 'ॠ' के स्थान में 'इ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर होकर
किरति	रूप सिद्ध होता है।

चकार

कॄ	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश, अनुबन्ध–लोप और 'लिटि धातो०' से 'कॄ' को द्वित्व हुआ
कॄ कॄ अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'ह्रस्वः' से अभ्यास में ह्रस्वादेश, 'उरत्' से अभ्यास में ॠकार को अकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
कर् कॄ अ	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'कुहोश्चुः' से 'क्' को 'च्' आदेश तथा 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि, उरण् रपरः' से रपर होकर 'ॠ' के स्थान में 'आर्' आदेश होकर
चकार	रूप सिद्ध होता है।

चकरतुः, चकरुः–'कॄ' धातु से लिट्, प्र० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'तस्' और 'झि' को 'परस्मैपदानां०' से क्रमशः 'अतुस्' और 'उस्' आदेश, 'लिटि धातोरन०' से 'कॄ' को द्वित्व, 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' से अभ्यास में ॠकार को ह्रस्व अकार, 'उरण् रपरः' से रपरत्व, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में 'क्' को 'च्' आदेश, 'ॠच्छत्यॄताम्' से 'लिट्' परे रहते ॠकारान्त अङ्ग को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'चकरतुः' और 'चकरुः' रूप सिद्ध होते हैं।

करीता-करिता–'कॄ' धातु से लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, डित्करण

सामर्थ्य से टिभाग का लोप, 'वृतो वा' से ऋदन्त धातु से उत्तर 'इट्' को विकल्प से दीर्घ, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'करीता' और दीर्घाभाव पक्ष में 'करिता' रूप सिद्ध होते हैं।

कीर्यात्

कृ	'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद में 'लिङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट्', 'सुट्', अनुबन्ध-लोप
कृ यास् स् त्	'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोग के आदि सकारों का लोप हुआ
कृ या त्	'ऋत इद्धातोः' से ऋकार को इत्व, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
किर् या त्	'हलि च' से रेफान्त की उपधा 'इक्' को दीर्घ होकर
कीर्यात्	रूप सिद्ध होता है।

६६१. किरतौ लवने ६।१।१४०

उपात् किरतेः सुट् छेदने। उपस्किरति। (वा०) अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्व इति वक्तव्यम्। उपास्किरत्। उपचस्कार।

प०वि०—किरतौ ७।१।। लवने ७।१।। **अनु०**—उपात्, सुट्, कात्, पूर्वः।

अर्थः—'**उप**' उपसर्ग से उत्तर '**कृ**' धातु को '**सुट्**' आगम होता है, काटने के अर्थ में ही।

उपस्किरति—(काटता है) 'उप+किरति' यहाँ 'किरतौ लवने' से 'काटने' के अर्थ में 'उप' उपसर्ग से उत्तर 'कृ' धातु को 'सुट्' का आगम होकर 'उपस्किरति' रूप सिद्ध होता है।

(वा०)—अडभ्यासव्यवायेऽपि०—अर्थ—'उप' उपसर्ग से उत्तर 'अट्' तथा अभ्यास के व्यवधान में भी 'कृ' धातु के ककार से पूर्व 'सुट्' आगम होता है।

उपास्किरत्

उप कृ	'लङ्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तुदादिभ्यः शः' से 'श', 'ऋत इद्धातोः' से ऋकार को ह्रस्व इकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
उप किरत्	'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम, 'अडभ्यासव्यवाये०' वार्तिक से 'अट्' का व्यवधान होने पर भी 'उप' से उत्तर 'कृ' धातु के ककार से पूर्व 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
उप अ स् किरत्	'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश होकर
उपास्किरत्	रूप सिद्ध होता है।

उपचस्कार—'उप+च+कार' यहाँ भी 'अडभ्यासव्यवायेऽपि०' वार्तिक से 'अभ्यास' के व्यवधान में ककार से पूर्व 'सुट्' आगम होकर 'उपचस्कार' रूप सिद्ध होता है।

६६२. हिंसायां प्रतेश्च ६।१।१४१

उपात् प्रतेश्च किरतेः सुट् स्यात् हिंसायाम्। उपस्किरति। प्रतिस्किरति। गॄ निगरणे ।४०।

प०वि०–हिंसायाम् ७।१।। प्रतेः ५।१।। च अ०।। **अनु०**–उपात्, किरतौ, सुट्, कात्, पूर्वः।

अर्थ–'उप' और '**प्रति**' उपसर्ग से उत्तर '**कॄ**' धातु के ककार से पूर्व '**सुट्**' आगम होता है, हिंसा विषय हो तो।

उपस्किरति, प्रतिस्किरति–'उप' तथा 'प्रति' उपसर्ग से उत्तर 'हिंसायां प्रतेश्च' से 'कॄ' को 'सुट्' आगम होकर पूर्ववत् दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

६६३. अचि विभाषा ८।२।२१

गिरते रेफस्य लोऽजादौ प्रत्यये वा। गिरति, गिलति। जगार, जगाल। जगरिथ, जगलिथ। गरिता, गरीता। गलिता, गलीता। प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् ।४१। 'ग्रहिज्यावयिव्यधि० (६३४)' इति सम्प्रसारणम्। पृच्छति। पप्रच्छ, पप्रच्छतुः, पप्रच्छुः। प्रष्टा। प्रक्ष्यति। अप्राक्षीत्।। मृङ् प्राणत्यागे ।४२।

प०वि०–अचि ७।१। विभाषा १।१।। **अनु०**–ग्रः, रः, लः।

अर्थः–अजादि प्रत्यय परे रहते '**गॄ**' (निगरणे–निगलना) धातु के रेफ को विकल्प से लकारादेश होता है।

गिरति, गिलति–'गॄ', लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तुदादिभ्यः शः' से 'श', 'ॠत इद् धातोः' से 'ॠ' के स्थान में ह्रस्व इकार, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'गिरति' और 'अचि विभाषा' से अजादि प्रत्यय परे रहते रेफ को विकल्प से लत्व होकर 'गिलति' रूप सिद्ध होते हैं।

जगार, जगाल–'गॄ', लिट्, प्र० पु० एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश, 'लिटि धातो०' से 'गॄ' को द्वित्व, 'ह्रस्वः' से अभ्यास में 'ॠ' को ह्रस्व 'ऋ' आदेश, 'उरत्' से अभ्यास में 'ऋ' के स्थान में ह्रस्व अकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'कुहोश्चुः' से 'ग्' को 'ज्' आदेश, 'अचो ञ्णिति' से अजन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'जगार' और 'अचि विभाषा' से अजादि प्रत्यय परे रहते 'गॄ' के रेफ को विकल्प से लत्व होकर 'जगाल' रूप सिद्ध होते हैं।

जगरिथ, जगलिथ

गॄ	लिट्, म०पु०, एक व० में 'सिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'थल्' आदेश हुआ
गॄ थल्	'आर्धधातुकस्येड्०' से थल् को 'इट्' आगम, 'लिटि धातो०' से 'गॄ' को द्वित्त्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, अनुबन्ध-लोप

गृ गृ इ थ	'ह्रस्वः' से 'ॠ' को ह्रस्व, 'उरत्' से अभ्यास में ऋकार को अकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष तथा 'कुहोश्चुः से अभ्यास में 'ग' को 'ज्' आदेश हुआ
ज गृ इ थ	'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण तथा 'उरण् रपरः' से रपर होकर
जगरिथ	रूप सिद्ध होता है।

जगलिथ–लत्व पक्ष में 'अचि विभाषा' से 'गृ' धातु के रेफ को लत्व होकर '**जगलिथ**' रूप सिद्ध होता है।

गरीता, **गरिता**–'गृ', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' आदेश 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्', डित्करण सामर्थ्य से 'टि' भाग 'आस्' का लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण और 'वृतो वा' से 'इट्' को विकल्प से दीर्घ होकर **गरीता** और **गरिता** रूप सिद्ध होते हैं।

गलीता, गलिता–में 'अचि विभाषा' से 'लत्व' विशेष जानें।

पृच्छति

प्रच्छ्	लट्, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', 'तुदादिभ्यः०' से 'श', अनुबन्ध–लोप
प्रच्छ् अ ति	'सार्वधातुकमपित्' से 'श' के ङित् होने पर 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से ङित् प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण 'र्' को 'ऋ' हुआ, 'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण से 'अच्' परे रहते पूर्वरूप एकादेश होकर
पृच्छति	रूप सिद्ध होता है।

पप्रच्छ

प्रच्छ्	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'परोक्षे लिट्' से लिट्, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' और 'लिटि धातो०' से 'प्रच्छ्' को द्वित्व हुआ
प्रच्छ् प्रच्छ् अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'लिट्यभ्यासस्यो०' से 'लिट्' परे रहते अभ्यास में रेफ को सम्प्रसारण ऋकार आदेश और 'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण से 'अच्' परे रहते पूर्व–रूप एकादेश हुआ
पृच्छ् प्रच्छ् अ	'उरत्' से अभ्यास में ऋकार को अकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ, 'हलादिःशेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष होकर
पप्रच्छ	रूप सिद्ध होता है।

पप्रच्छुः–'प्रच्छ्', लिट्, प्र०पु०, बहु व० में 'झि' को 'परस्मैपदानां०' से 'उस्' आदेश, पूर्ववत् द्वित्व, 'लिट्यभ्यासस्यो०' से अभ्यास में रेफ को सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप, 'उरत्' से अकारादेश और रपरत्वादि कार्य पूर्ववत् जानें।

प्रष्टा–'प्रच्छ्' धातु से लुट्, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप, 'व्रश्चभ्रस्जसृ०' से 'छ्' को 'ष्' आदेश, 'निमित्तापाये नैमितिकस्या०' से तुगागम का अभाव और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'प्रष्टा' रूप सिद्ध होता है।

प्रक्ष्यति

प्रच्छ्	'लृट् शेषे च' से 'लृट्', प्र०पु०, एक व० में तिप्, 'स्यतासी०' से 'स्य', अनुबन्ध-लोप
प्रच्छ् स्य ति	'व्रश्चभ्रस्जसृजमृज०' से 'छ्' को 'ष्' आदेश होने पर छकार को निमित्त मानकर होने वाले 'तुक्' आगम का अभाव हुआ
प्र ष् स्य ति	'षढोः कः सि' से सकार परे रहते 'ष्' को 'क्' आदेश तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर
प्रक्ष्यति	रूप सिद्ध होता है।

अप्राक्षीत्

प्रच्छ्	लुङ्, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि' और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' हुआ
प्रच्छ् सिच् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से अपृक्त 'त्' को ईडागम, 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से वृद्धि, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'छ्' को 'ष्' और 'निमित्तापाये०' परिभाषा से 'तुक्' का अभाव हुआ
प्रा ष् स् ई त्	'षढोः कः सि' से 'ष्' को 'क्', 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
अप्राक्षीत्	रूप सिद्ध होता है।

६६४. म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च १।३।६१

लुङ्लिङोः शितश्च प्रकृतिभूतान्मृङस्तङ् नाऽन्यत्र। रिङ् (५४३), इयङ् (१९९), म्रियते। ममार। मर्ता। मरिष्यति। मृषीष्ट। अमृत। पृङ् व्यायामे। ४३। प्रायेणायं व्याङ्पूर्वः। व्याप्रियते। व्यापप्रे। व्यपप्राते। व्यापरिष्यते। व्यापृत। व्यापृषाताम्। जुषी प्रीतिसेवनयोः। ४४। जुषते। जुजुषे। ओविजी भयसंचलनयोः। ४५। प्रायेणायमुत्पूर्वः। उद्विजते।

प०वि०–म्रियतेः ५।१।। लुङ्लिङोः ६।२।। च अ०। **अनु०**–शितः, आत्मनेपदम्।

अर्थः–'मृङ्' (प्राणत्यागे) धातु से उत्तर शित् प्रत्यय का विषय बनने पर तथा लुङ् और लिङ् के स्थान में ही आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय होते हैं।

विशेष–यह नियम सूत्र है। 'मृङ्' धातु ङित् है अतः 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से आत्मनेपद सिद्ध ही है, तथा आत्मनेपद विधान की आवश्यकता नहीं है। पुनरपि प्रकृत सूत्र से शित् के विषय में तथा 'लुङ्' और 'लिङ्' के स्थान में आत्मनेपद विधान किया है। इससे आचार्य का आशय है कि 'मृङ्' धातु से यदि कहीं आत्मनेपद हो तो केवल शित् के विषय में और लुङ् और लिङ् के स्थान में ही हो, अन्यत्र नहीं। फलतः लिट्, लुट्, लृट्, और लृङ् में परस्मैपद होता है।

म्रियते

मृङ्	अनुबन्ध-लोप, 'वर्तमाने लट्' से 'लट्' आने पर भविष्य में 'तुदादिभ्यः शः' से शित् प्रत्यय 'श' होगा इसलिए 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च' से आत्मनेपद होगा पूर्ववत् तिबाद्युत्पति लट्, प्र०पु०, एक व० में 'त', 'तुदादिभ्यः०' से 'श', अनुबन्ध-लोप
मृ अ त	'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' से 'श' प्रत्यय परे रहते 'ऋ' के स्थान में 'रिङ्' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप
म् रि अ त	'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' से इकार को इयङादेश तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग को एत्व होकर
म्रियते	रूप सिद्ध होता है।

ममार–'मृ' धातु से लिट्, 'म्रियतेर्लुङ्लिङो०' नियम से परस्मैपद होने से प्र० पु० एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्', 'लिटि धातो०' से द्वित्व, 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' से अभ्यास में ऋकार को अकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपरत्व, 'हलादिः शेषः' से आदि 'हल्' शेष तथा 'अत उपधायाः' से उपधा को वृद्धि होकर 'ममार' रूप सिद्ध होता है।

मर्ता–'मृ' धातु से लुट्, 'म्रियतेर्लुङ्लिङो०' नियम से परस्मैपद होने से प्र०पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण तथा 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'मर्ता' रूप सिद्ध होता है।

मरिष्यति–'मृ' धातु, लृट्, 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च' नियम से परस्मैपद होने से प्र०पु०, एक व० में तिप्, 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'सार्वधातुकार्ध '०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपरत्व तथा 'आदेशप्रत्यययोः' षत्व होकर 'मरिष्यति' सिद्ध होता है।

मृषीष्ट

पृङ्

अनुबन्ध-लोप, 'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', 'ध्रियतेर्लुङ्लिङोश्च' से 'लिङ् के स्थान में आत्मनेपद होने पर प्र०पु०, एक व० में 'त', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्' आगम और 'सुट् तिथोः' से सुडागम हुआ

पृ सीयुट् सुट् त

अनुबन्ध-लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'आदेशप्रत्यययोः' से दोनों सकारों को षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर

पृषीष्ट

रूप सिद्ध होता है।

अपृत

पृङ्

अनुबन्ध-लोप, 'लुङ्' सूत्र से 'लुङ्', 'ध्रियतेर्लुङ्लिङोश्च' से 'लुङ् के स्थान में आत्मनेपद होने पर प्र० पु० एक व० में 'त' आया

पृ त

'च्लि लुङि' से लुङ् परे रहते 'च्लि' प्रत्यय, 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश, अनुबन्ध-लोप

पृ स् त

'उश्च' से ऋवर्ण से उत्तर आत्मनेपद विषयक झलादि 'सिच्' के 'कित्' होने से ऋवर्ण को प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध, 'ह्रस्वादङ्गात्' से झलादि प्रत्यय परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग से उत्तर 'सिच्' का लोप हुआ 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से अडागम होकर

अपृत

रूप सिद्ध होता है।

व्याप्रियते[1]

(पृङ् व्यायामे–चेष्टा करना, प्रवृत्त होना)

वि आङ् पृङ्

अनुबन्ध-लोप, लट्, ङित् होने से 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से आत्मनेपद होकर प्र०पु०, एक व० में 'त' आया

वि आ पृ त

'तुदादिभ्यः०' से 'श' आने पर 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' से 'श' परे रहते 'ऋ' को 'रिङ्' आदेश, अनुबन्ध-लोप

वि आ पृ रि अ त

'अचि श्नुधातु०' से इयङादेश, 'टित आत्मने०' से 'टि' भाग को एत्व तथा 'इको यणचि' से यणादेश होकर

व्याप्रियते

रूप सिद्ध होता है।

व्यापप्रे

वि आ पृ

लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'एश्' आदेश, अनुबन्ध-लोप

वि आ पृ ए

'लिटि धातोरन०' से 'लिट्' परे रहते 'पृ' को द्वित्व हुआ

१. 'पृङ्' का प्रयोग प्रायः 'वि' और 'आङ्' इन दो उपसर्गों को पूर्व लगाकर किया जाता है।

वि आ पृ पृ ए	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' से अभ्यास में ऋकार को ह्रस्व अकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
वि आ पर् पृ ए	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा, 'इको यणचि' से यणादेश 'ऋ' को 'र्' तथा 'इ' को 'य्' होकर
व्यापप्रे	सिद्ध होता है।

व्यापप्राते–लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्' के टिभाग को एत्व होने पर शेष द्वित्वादि कार्य पूर्ववत् जानें।

व्यापरिष्यते–'वि' और 'आङ्' पूर्वक 'पृ' धातु से लृट्, प्र०पु०,एक व० में 'मरिष्यते'के समान ही 'परिष्यते' रूप सिद्ध होने पर 'इको यणचि' से 'वि' के 'इकार' को यणादेश पूर्ववत् जानें।

व्यापृत–'वि' तथा 'आ' पूर्वक 'पृ' धातु से लुङ्, आत्मनेपद, प्र०पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया'अमृत' के समान ही जानें।

(**जुषी** प्रीतिसेवनयोः-प्रसन्न होना और सेवन करना)

जुषते

जुषी	अनुबन्ध-लोप, लट्, अनुदात्त ईकार इत्संज्ञक होने से 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से आत्मनेपद होने पर प्र०पु० एक व० में 'त', 'तुदादिभ्यः०' से 'श' आया
जुष् श त	अनुबन्ध-लोप, 'टित आत्मनेपदानां०' से टि भाग को एत्व होकर
जुषते	रूप सिद्ध होता है।

जुजुषे–'जुष्', लिट्, प्र० पु० एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्' तथा द्वित्वादि कार्य होकर 'जुजुषे' रूप पूर्ववत् जानें।

(**ओविजी** भयचलनयोः-डरना या डर से कांपना)[1]

उद्विजते

उद् ओविजी	अनुबन्ध-लोप, अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी है। लट्, प्र०पु०, एक व० में 'त' और 'तुदादिभ्यः०' से 'श' हुआ
उद् विज् श त	अनुबन्ध-लोप, 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर
उद्विजते	रूप सिद्ध होता है।

६६५ विज इट् १।२।२

विजः पर इडादिप्रत्ययो ङिद्वत्। उद्विजिता।

॥ इति तुदादयः॥

---

१. 'ओविजी धातु प्रायः 'उद्' उपसर्गपूर्वक प्रयुक्त होती है।

प०वि०–विजः ५।१।। इट् १।१।। अनु०–ङित्।
अर्थ–'विज्' धातु से उत्तर इडादि प्रत्यय 'ङिद्वत्' होता है।

उद्विजिता
उद् विज् — लुट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० 'त' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्' प्रत्यय और 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम हुआ
उद् विज् इट् तास् डा — अनुबन्ध-लोप, डित्करण सामर्थ्य से टि भाग 'आस्' का लोप, 'विज इट्' से 'विज्' धातु से उत्तर 'इट्'-आदि प्रत्यय के ङित् होने से 'पुगन्तलघूप०' से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध होने पर
उद्विजिता — रूप सिद्ध होता है।

॥ तुदादिगण समाप्त॥

अथ रुधादिर्गण:

रुधिर् आवरणे ।१।

६६६. रुधादिभ्यः श्नम् ३।१।७८

शपोऽपवादः। रुणद्धि। श्नसोरल्लोपः (५७४) रुन्धः, रुन्धन्ति। रुणत्सि, रुन्धः, रुन्ध। रुणध्मि, रुन्ध्वः, रुन्ध्मः। रुन्धे, रुन्धाते, रुन्धते। रुन्त्से, रुन्धाथे, रुन्ध्वे। रुन्धे, रुन्ध्वहे, रुन्ध्महे। रुरोध, रुरुधे। रोद्धासि, रोद्धासे। रोत्स्यति, रोत्स्यते। रुणद्धु-रुन्धात्, रुन्धाम्, रुन्धन्तु। रुन्धि। रुणधानि, रुणधाव, रुणधाम। रुन्धाम्, रुन्धाताम्, रुन्धताम्। रुन्त्स्व। रुणधै, रुणधावहै, रुणधामहै। अरुणत्-अरुणद्। अरुन्धाम्, अरुन्धन्। अरुणः-अरुणत्-अरुणद्। अरुन्ध, अरुन्धाताम्, अरुन्धत। अरुन्धाः। रुन्ध्यात्, रुन्धीत। रुध्यात्-रुत्सीष्ट। अरुधत् अरौत्सीत्। अरुद्ध, अरुत्साताम्, अरुत्सत। अरोत्स्यत्, अरोत्स्यत। भिदिर् विदारणे ।२। छिदिर् द्वैधीकरणे।३। युजिर् योगे।४। रिचिर् विरेचने।५। रिणक्ति, रिङ्क्ते। रिरेच। रेक्ता। रेक्ष्यति। अरिणक्। अरिचत्, अरैक्षीत्, अरिक्त। विचिर् पृथग्भावे।६। विनक्ति, विङ्क्ते। क्षुदिर् सम्पेषणे।७। क्षुणत्ति, क्षुन्ते। क्षोत्ता। अक्षुदत्, अक्षौत्सीत्, अक्षुत्त। उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः।८। छृणत्ति, छृन्ते। चच्छर्द। (६३०) सेऽसिचि० इति वेट्। चच्छृत्से, चच्छृदिषे। छर्दिता। छर्दिष्यति, छर्त्स्यति। अच्छृदत्, अच्छर्दीत्। अच्छर्दिष्ट। उतृदिर् हिंसानादरयोः।९। तृणत्ति। तृन्ते। कृती वेष्टने।१०। कृणत्ति। तृह हिसि हिंसायाम्। ११-१२।

प०वि०—रुधादिभ्यः ५।३ श्नम् १।१।। **अनु०**—धातोः, कर्त्तरि, सार्वधातुके।

अर्थ—कर्तृवाचक सार्वधातुक परे रहते रुधादिगणीय धातुओं से उत्तर '**श्नम्**' प्रत्यय होता है।

यह 'शप्' का अपवाद है।

रुणद्धि

रुधिर्	अनुबन्ध-लोप, लट्, प्र० पु०, एक व० व० में 'तिप्', 'रुधादिभ्यः श्नम्' से कर्त्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते धातु से उत्तर 'श्नम्' प्रत्यय हुआ, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से मित् अन्तिम अच् से परे मित् हुआ
रु श्नम् ध् तिप्	'लशक्वतद्धिते' से शकार की इत्संज्ञा, 'हलन्त्यम्' से अन्तिम

हल् 'म्' और 'तिप्' के 'प्' की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञक वर्णों का लोप हुआ

रु न ध् ति

'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'झष्' से उत्तर 'त्' को 'ध्' आदेश, 'झलां जश् झशि' से धातु के धकार को दकारादेश हुआ

'अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णकारादेश होकर

रुनद्धि

रुणद्धि

रूप सिद्ध होता है।

रुन्धः

रुध्

लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'रुधादिभ्यः श्नम्' से 'श्नम्' प्रत्यय, अनुबन्ध–लोप

'सार्वधातुकमपित्' से 'तस्' के ङित् होने पर 'श्नसोरल्लोपः' से ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते 'श्न' के अकार का लोप हुआ

रु न ध् तस्

'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'त्' को 'ध्' आदेश, 'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से प्राप्त णत्व के 'पूर्वत्रासिद्धम्' से असिद्ध होने से 'नश्चापदान्तस्य०' से 'न्' को अनुस्वार आदेश, 'झलां जश् झशि' से 'ध्' को 'द्' तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्णादेश हुआ

रु न् ध् तस्

'झरो झरि सवर्णे' से 'द्' का वैकल्पिक लोप होने पर सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर

रुन्द् धस्

रुन्धः

रूप सिद्ध होता है।

रुन्धन्ति–रुध्, लट्, प्र०पु०, बहु व० में 'झि', 'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्', 'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश, 'श्नसोरल्०' से 'श्नम्' के अकार का लोप, 'न्' को 'नश्चापदान्तस्य०' से अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्णादेश नकार होकर 'रुन्धन्ति' रूप सिद्ध होता है।

रुणत्सि–'रुध्', लट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'श्नम्', 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व, 'खरि च' से चर्त्व 'ध्' को 'त्' होकर 'रुणत्सि' रूप सिद्ध होता है।

रुन्धः–'रुध्', लट्, म० पु०, द्वि व० से 'थस्' आने पर सिद्धि–प्रक्रिया प्र० पु०, द्वि व० के समान जानें।

रुणध्मि–'रुध्', लट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्', 'श्नम्', 'अट्कुप्वाङ्०' से 'न्' को 'ण्' होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

रुन्ध्वः, रुन्ध्मः–'रुध्', लट्, उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'वस्' तथा 'मस्' आने पर 'रुधादिभ्यः श्नम्' से 'श्नम्', 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप, सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

रुन्धे

रुध् — लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'रुधादिभ्य:०' से 'श्नम्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप

रु न ध् त — 'सार्वधातुकमपित्' से 'त' के ङित् होने पर 'श्नसोरल्लोप:' से ङित् प्रत्यय परे रहते 'श्न' के अकार का लोप, 'झषस्तथोर्धोऽध:' से 'त्' को 'ध्' आदेश, 'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्णादेश (नकार) हुआ

रु न् ध् ध — 'झलां जश् झशि' से पूर्ववर्ती 'ध्' को 'द्' आदेश हुआ

रु न् द् ध — 'झरो झरि सवर्णे' से सवर्ण झर् (ध) परे रहते पूर्ववर्ती झर् 'द्' का विकल्प से लोप हुआ

रु न् ध — 'टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग 'अ' को 'ए' आदेश होकर

रुन्धे — रूप सिद्ध होता है।

रुन्धाते–'रुध्', लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'श्नम्', 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व तथा शेष कार्य पूर्ववत् जानें।

रुन्धते–'रुध्', लट्, प्र०पु०, बहु व० में 'झ', 'श्नम्', 'आत्मनेपदेष्वनत:' से 'झ्' को 'अत्' आदेश तथा टिभाग को एत्व आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

रुरोध

रुध् — लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप

रुध् अ — 'लिटि धातो०' से 'रुध्' को द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यास:' से 'अभ्यास' संज्ञा और 'हलादि: शेष:' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा

रु रुध् अ — 'पुगन्तलघूपधस्य च' से उकार को गुण होकर

रुरोध — रूप सिद्ध होता है।

रुरुधे–'रुध्', लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु० एक व० में 'त' को लिटस्तझयोरेशि०' से 'एश्' आदेश, द्वित्वादि कार्य होने पर 'असंयोगाल्लिट्०' से 'त' के 'कित्' होने से लघूपध गुण नहीं होता, शेष कार्य पूर्ववत् जानें।

रोद्धा–'रुध्', लुट्, प्र०पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुट: प्रथमस्य डारौरस:' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण, 'झषस्तथोर्धोऽध:' से 'त्' को 'ध्' और 'झलां जश् झशि' से धातु के 'ध्' को 'द्' आदेश होकर 'रोद्धा' रूप सिद्ध होता है।

रोत्स्यति–रुध्, धातु से लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य' 'पुगन्तलघू०' से गुण और 'खरि च' से 'ध्' को 'त्' होकर 'रोत्स्यति' रूप सिद्ध होता है।

रोत्स्यते–'रुध्', लृट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' के टिभाग को 'टित आत्मने०' से एत्व ही विशेष जानें, शेष प्रक्रिया पूर्ववत्।

रुणद्धु–'रुध्', लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'श्नम्' होकर (लट्, प्र० पु०, एक व० के समान) 'रुणद्धि' रूप बनने पर 'एरु:' से इकार को उकारादेश होकर 'रुणद्धु' रूप सिद्ध होता है।

रुन्धात्–आशीर्वाद अर्थ में लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'तु' को 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्य०' से 'तातङ्' आदेश, 'तातङ्' के 'ङित्' होने से 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' का अकार-लोप होकर 'रुन्धात्' सिद्ध होता है।

रुन्धाम्

रुध् — लोट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश, 'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप

रु न ध् ताम् — 'सार्वधातुकमपित्' से 'तस्' के 'ङित्' होने से 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप और 'झषस्तथो०' से 'त्' को 'ध्' आदेश हुआ

रुन्ध् धाम् — 'अट्कुप्वाङ्०' (८.४.२) से प्राप्त णत्व के 'नश्चापदान्तस्य०' (८.३.२४) की दृष्टि में असिद्ध होने से 'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्णादेश पुनः नकार, 'झलां जश् झशि' से धातु के 'ध्' को 'द्' आदेश और 'झरो झरि सवर्णे' से 'द्' का विकल्प से लोप होकर

रुन्धाम् — रूप सिद्ध होता है।

रुधन्तु–लोट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' और 'श्नम्' आकर (लट्, प्र० पु०, बहु व० के समान) 'रुन्धन्ति' बनने पर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर 'रुन्धन्तु' रूप सिद्ध होता है।

रुन्धि

रुध् — लोट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'सेर्ह्यपिच्च' से अपित् 'हि' आदेश, 'रुधादिभ्यः श्नम्' से 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप, 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से झलन्त अङ्ग से उत्तर 'हि' को 'धि' आदेश हुआ

रु न ध् धि — 'सार्वधातुकमपित्' से अपित् 'हि' के स्थान में होने वाले 'धि' के ङित् होने से 'श्नसोरल्लोपः' से ङित् सार्वधातुक परे रहते 'श्नम्' के अकार का लोप, 'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार, 'झलां जश्०' से धकार को दकार आदेश, 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्ण (नकार) आदेश और 'झरो झरि सवर्णे' से दकार का विकल्प से लोप होकर

रुन्धि — रूप सिद्ध होता है।

रुणधानि–'रुध्', लोट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' को 'मेर्निः' से 'नि' आदेश, 'आडुत्तमस्य पिच्च' से 'लोट्' उत्तम पुरुष को पित् 'आट्' का आगम और 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर 'रुणधानि' रूप सिद्ध होता है।

रुणधाव, रुणधाम–'रुध्', लोट्, उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'वस्' और 'मस्', 'लोटो लङ्वत्' से 'लोट्' को 'लङ्' के समान ङित् मानने पर 'नित्यं ङितः' से सकारान्त ङित् उ० पु० के अन्तिम 'अल्' सकार का लोप, 'रुधादिभ्यः श्नम्' से 'श्नम्', 'आडुत्तमस्य पिच्च' से 'आट्' आगम तथा 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर 'रुणधाव' और 'रुणधाम' रूप सिद्ध होते हैं।

रुन्धाम्–'रुध्', लोट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' और 'श्नम्' आने पर ('लट्' के समान) 'रुन्धे' रूप बनने पर 'आमेतः' से लोट् सम्बन्धी एकार को 'आम्' आदेश होकर 'रुन्धाम्' बनता है।

रुन्धाताम्–'रुध्', लोट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्' के टिभाग 'आम्' को एत्व तथा 'आमेतः' से एकार को 'आम्' आदेश होकर 'रुन्धाताम्' रूप सिद्ध होता है।

रुन्धताम्–'रुध्', लोट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, बहु व० में लट् के समान ही 'रुन्धते' बनने पर 'आमेतः' से एकार को 'आम्' आदेश होकर 'रुन्धताम्' रूप सिद्ध होता है।

रुन्त्स्व

रुध्	लोट्, आत्मनेपद, म०पु०, एक व० में 'थास्' को 'थासः से' से 'से' आदेश, 'रुधादिभ्यः श्नम्' से 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप
रु न ध् से	'सार्वधातुकमपित्' से अपित् सार्वधातुक 'से' के ङित् होने पर 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप हुआ
रु न् ध् से	'नश्चापदान्तस्य झलि' से अपदान्त नकार को, 'झल्' परे रहते, अनुस्वार हुआ
रुं ध् से	'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्ण और 'खरि च' से चर्त्व अर्थात् 'ध्' को 'त्' हुआ
रुन्त् से	'सवाभ्यां वामौ' से सकार से उत्तर एकार के स्थान में वकार आदेश होकर
रुन्त्स्व	रूप सिद्ध होता है।

रुणधै

रुध्	लोट्, आत्मनेपद, उ० पु०, एक व० में 'इट्', 'रुधादिभ्यः श्नम्' से 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप
रु न ध् इ	'आडुत्तमस्य पिच्च' से 'इट्' को पित् 'आट्' आगम, 'टित आत्मने०' से 'टि'-भाग इकार को एत्व, 'एत ऐ' से लोट् सम्बन्धी एकार को 'ऐ' आदेश हुआ
रु न ध् आ ऐ	'आटश्च' से 'आट्' से उत्तर 'अच्' परे रहते वृद्धि और 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर
रुणधै	सिद्ध होता है।

रुणधावहै, रुणधामहै—रुध्, लोट्, आत्मनेपद, उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में 'वहि' और 'महि', 'रुधादिभ्यः श्नम्' से 'श्नम्', 'आडुत्तमस्य पिच्च' से पित् 'आट्' आगम, 'टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग को एकार आदेश, 'एत ऐ' से एकार को 'ऐ' आदेश और 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर 'रुणधावहै' और 'रुणधामहै' रूप सिद्ध होते हैं।

अरुणत्, अरुणद्

रुध् — लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार का लोप हुआ

रुध् त् — 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से एक अल् रूप प्रत्यय 'त्' की अपृक्त संज्ञा, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घा०' से हलन्त से उत्तर 'ति' के अपृक्त संज्ञक 'हल्' (तकार) का लोप, 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व, 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम, 'झलां जश् झशि' से जश्त्व तथा 'वाऽवसाने' से अवसान में विकल्प से चर्त्व 'द्' को 'त्' होकर

अरुणत्, अरुणद् — रूप सिद्ध होते हैं।

अरुन्धाम्—'रुध्', लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'श्नम्', 'तस्थस्थ०' से 'तस्' को 'ताम्' आदेश, 'तस्' के ङित् होने से 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप, 'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'त्' को 'ध्', 'झलां जश्०' से 'ध्' को 'द्' आदेश, 'झरो झरि सवर्णे' से 'द्' का लोप और अडागम होकर 'अरुन्धाम्' रूप सिद्ध होता है।

अरुन्धन्—'रुध्', लङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'इतश्च' से इकार-लोप, 'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्', 'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश, 'संयोगान्तस्य लोपः' से 'त्' का लोप, 'सार्वधातुकमपित् से 'झि' के ङित् होने से 'श्नसोरल्लोपः' से ङित् सार्वधातुक परे रहते 'श्न' के अकार का लोप तथा अडागम होकर 'अरुन्धन्' रूप सिद्ध होता है।

अरुणत्

रुध् — लङ्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'रुदादिभ्यः०' से श्नम्' अनुबन्ध-लोप और 'इतश्च' से इकार-लोप हुआ

रु न ध् स् — 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'सि' के 'अपृक्त' सकार का लोप, 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व, 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व, 'ध्' को 'द्', 'वाऽवसाने' से अवसान में विकल्प से चर्त्व तथा अडागम होकर

अरुणत् — रूप सिद्ध होता है।

चर्त्वाभाव पक्ष में

अरुण:

अरु ण ध्	'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व 'ध्' को 'द्' हुआ
अरु ण द्	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'सिप्' को निमित्त मान कर 'दश्च' से 'सिप्' परे रहते दकारान्त धातु पद के अन्तिम अल् 'द्' को 'रु' आदेश और 'खरवसानयो:०' से रेफ को विसर्ग होकर
अरुण:	रूप सिद्ध होता है।

अरुन्ध–'रुध्', लङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'रुधादिभ्य: श्नम्' से 'श्नम्', 'सार्वधातुकमपित्' से 'त' के ङित् होने से 'श्नसोरल्लोप:' से 'श्नम्' के अकार का लोप, 'झषस्तथोर्धोऽध:' से तकार को धकार आदेश होने पर 'रु+न्+ध्+ध' इस स्थिति में 'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार, 'झलां जश् झशि' से धातु के धकार को दकार आदेश, 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्ण (नकार) आदेश, 'झरो झरि सवर्णे' से दकार का लोप और 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से 'अट्' आगम होकर 'अरुन्ध' रूप सिद्ध होता है।

अरुन्धत–'रुध्', लङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'श्नम्', 'आत्मनेपदेष्वनत:' से 'झ्' को 'अत्' आदेश तथा शेष कार्य पूर्ववत् जानें।

अरुन्धा:

रुध्	लङ्, आत्मनेपद, म० पु०, एक व० में 'थास्', 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप
रु न ध् थास्	'थास्' के ङित् होने से 'श्नसो०' से अकार-लोप,
रु न् ध् थास्	'झषस्तथो०' से 'झष्' से उत्तर 'थ्' को 'ध्' आदेश हुआ
रुन्ध् धास्	'नश्चापदान्तस्य०' से 'न्' को अनुस्वार, 'झलां जश् झशि' से धातु के 'ध्' को 'द्' आदेश और 'अनुस्वारस्य०' से अनुस्वार को परसवर्णादेश हुआ 'झरो झरि०' से दकार का विकल्प से लोप, 'ससजुषो रु:' से सकार को रुत्व, 'खरवसानयो:०' से रेफ को विसर्ग और 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से 'अट्' आगम होकर
अरुन्धा:	रूप सिद्ध होता है।

रुन्ध्यात्

रुध्	लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्नम्', 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्' और 'सुट् तिथो:' से 'सुट्' आगम हुआ
रु न ध् यासुट् सुट् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप और 'लिङ:

सलोपोऽनन्त्यस्य' से सार्वधातुक लिङ् के अनन्त्य सकारों का लोप हुआ

रु न ध् या त् — 'यासुट्' से ङित् होने से 'श्नसो०' से अकार-लोप, 'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार आदेश और 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्ण (पुनः नकार) आदेश होकर

रुन्ध्यात् — रूप सिद्ध होता है।

रुन्धीत–'रुध्', लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'श्नम्', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप, 'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप, 'श्नसोरल्लोपः' से अकार-लोप और 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप होकर 'रुन्धीत' रूप सिद्ध होता है।

रुत्सीष्ट–आ० लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सीयुट्', 'सुट्' अनुबन्ध-लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'खरि च' से चर्त्व, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'रुत्सीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अरुधत्

रुध् — लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि', 'इरितो वा' से इरित् धातु से उत्तर 'च्लि' के स्थान में विकल्प से 'अङ्' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप

रुध् अ त् — 'अङ्' के ङित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध तथा अडागम होकर

अरुधत् — रूप सिद्ध होता है।

अरौत्सीत्

अरुध् स् त् — अङभाव पक्ष में– 'च्लेः सिच्' से 'सिच्' आदेश, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'सिच्' से उत्तर अपृक्त 'त्' को ईडागम, 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से वृद्धि और 'खरि च' से चर्त्व होकर

अरौत्सीत् — रूप सिद्ध होता है।

अरुद्ध

रुध् — लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि', जब 'इरितो वा' से 'च्लि' के स्थान मे वैकल्पिक 'अङ्' नहीं हुआ तो 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश, अनुबन्ध-लोप

रुध् स् त — 'झलो झलि' से सकार-लोप, 'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'त्' को 'ध्', 'झलां जश् झशि' से 'ध्' को 'द्' तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर

अरुद्ध — रूप सिद्ध होता है।

अरुत्साताम्–'रुध्', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', 'खरि च' से चर्त्व 'ध्' के स्थान में 'त्' आदेश तथा अडागम होकर 'अरुत्साताम्' जानें।

अरोत्स्यत्, अरोत्स्यत–'रुध्', लृङ्, दोनों पदों के प्र० पु०, एक व० में क्रमशः 'तिप्' तथा 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'पुगन्तलघूपधस्य च' गुण, 'खरि च' से चर्त्व तथा अडागम होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

भिदिर्-विदारणे, (फाड़ना) **छिदिर्**-द्वैधीकरणे, (दो टुकड़े करना) **युजिर्** योगे (जोड़ना-मिलाना) इत्यादि सभी धातुओं के रूप पूर्ववत् जानें।

(रिचिर् विरेचने-निकालना व खाली करना)

रिणक्ति

रिच्	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप
रि न च् ति	'चोः कुः' से कुत्व और 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर
रिणक्ति	रूप सिद्ध होता है।

रिङ्क्ते

रिच्	लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप
रि न च् त	'सार्वधातुकमपित्' से 'त' के ङित् (ङिद्वत्) होने पर 'श्नसोरल्लोपः' से ङित् परे रहते 'श्न' के अकार का लोप और 'चोः कुः' से कुत्व 'च्' को 'क्' हुआ
रिन्क्त	'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्णादेश 'ङ्' तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर
रिङ्क्ते	रूप सिद्ध होता है।

रिरेच–'रिच्', लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्', 'लिटि धातो०' से द्वित्व, अभ्यास-कार्य तथा 'पुगन्तलघू०' से गुण होकर 'रिरेच' सिद्ध होता है।

रेक्ता–'रिच्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' आदेश, स्यतासी०' से 'तास्', डित्करण सामर्थ्य से 'टि' भाग 'आस्' का लोप, लघूपध गुण और 'चोः कुः' से 'च्' को 'क्' आदेश होकर 'रेक्ता' रूप सिद्ध होता है।

रेक्ष्यति–'रिच्', लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'चोः कुः' से कुत्व, 'आदेशप्रत्यययोः' षत्व तथा लघूपध गुण होकर 'रेक्ष्यति' रूप सिद्ध होता है।

अरिणक्–'रिच्', लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', श्नम्', 'हल्ड्याब्भ्यो०' से हलन्त 'च्' से उत्तर अपृक्त 'त्' का लोप, 'चोः कुः' से कुत्व, 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व तथा 'अट्' आगम होकर 'अरिणक्' रूप सिद्ध होता है।

अरिचत्, अरैक्षीत्–'रिच्', लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि' के स्थान पर 'इरितो वा' से विकल्प से 'अङ्' और 'अट्' आगम होकर 'अरिचत्' तथा 'अङ्' अभाव पक्ष में 'सिच्', 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'ईट्', 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से वृद्धि, 'चोःकुः' से कुत्व, 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व और 'अट्' आगम होकर 'अरैक्षीत्' रूप सिद्ध होते हैं।

अरिक्त

रिच् — लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', अनुबन्ध-लोप

रि च् स् त — 'झलो झलि' से सकार का लोप, 'चोः कुः' से कुत्व तथा अडागम होकर

अरिक्त — रूप सिद्ध होता है।

विचिर् (पृथग्भावे–अलग करना, पृथक करना) धातु से **विनक्ति और विङ्क्ते'** की सिद्धि-प्रक्रिया 'रिणक्ति' और 'रिङ्क्ते' के समान जानें।

क्षुदिर् (सम्पेषणे-मसलना, पीसना, रौंदना, चूर्ण करना) धातु से भी **'क्षुणत्ति'**, **'क्षुन्ते'**, **'क्षोत्ता'** इत्यादि 'रुणद्धि 'रुन्धे', 'रोद्धा' इत्यादि के समान जानें।

(**उच्छृदिर्** दीप्तिदेवनयोः–चमकना और खेलना)

छृणत्ति

उच्छृदिर् — 'उकार' की 'उपदेशेऽजनुना०' से इत्संज्ञा, 'हलन्त्यम्' से 'र्' की इत्संज्ञा, 'उपदेशेऽज०' से इकार की इत्संज्ञा, तथा 'तस्य लोपः' से 'इत्संज्ञकों का लोप हुआ[1]

छृद् — लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप

छृ न द् ति — 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से णत्व और 'खरि च' से 'द्' को 'त्' होकर

छृणत्ति — रूप सिद्ध होता है।

छृन्ते–'छृद्', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'श्नम्', 'सार्वधातुकमपित्' से 'त' के ङित् होने से 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्नम्' के अकार का लोप, 'नश्चापदान्तस्य०' से 'न्' को अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्ण, 'झरो झरि०' से दकार का लोप और 'टित आत्मने०' से टिभाग को एत्त्व होकर 'छृन्ते' रूप सिद्ध होता है।

चच्छर्द

छृद् — लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्',

१. 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' परिभाषा से 'तुक्' के निमित्त उकार के हट जाने पर 'तुक्' भी स्वतः ही निवृत्त हो जाता है।

	'लिटि धातोरन०' से द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' में अभ्यास से ऋवर्ण को अकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
छर्‌द् छृ द् अ	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
छ छृद् अ	'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में 'झल्' को 'चर्' हुआ
च छृद् अ	'छे च' ये छकार परे रहते ह्रस्व को 'तुक' आगम और 'पुगन्तलघू०' से 'ऋ' को गुण 'अर्' हुआ
च तुक् छर् द् अ	अनुबन्ध-लोप, 'स्तोः श्चुना श्चुः' से 'त्' को 'च्' आदेश होकर
चच्छर्द	रूप सिद्ध होता है।

चच्छृत्से, चच्छृदिसे–'छृद्', लिट्, म० पु०, एक व० में 'थास्' को 'थासः से' से 'से' आदेश, 'सेऽसिचि कृतचृतच्छृदतृदनृतः' से 'छृद्' धातु से उत्तर सिच्-भिन्न सकारादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' हुआ, पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर इडभाव पक्ष में 'चच्छृत्से' तथा इट्पक्ष में 'चच्छृदिसे' रूप सिद्ध होते हैं।

छर्दिता–'छृद्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, डित्करण सामर्थ्य से टिभाग का लोप, 'पुन्तलघूपधस्य च' से 'ऋ' को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'छर्दिता' रूप सिद्ध होता है।

छर्दिष्यति, छर्त्स्यति–'छृद्', लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'सेऽसिचि कृतचृतच्छृद०' से 'छृद्' धातु से उत्तर सिच्-भिन्न सकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इडागम, 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व, लघूपध गुण, रपर होकर 'छर्दिष्यति' और इडभाव पक्ष में 'खरि च' से चर्त्व होकर 'छर्त्स्यति' रूप सिद्ध होते हैं।

अच्छृदत्–'छृद्', लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि', 'इरितो वा' से इरित् धातु से उत्तर 'च्लि' के स्थान में विकल्प से 'अङ्' आदेश, अडागम, 'छे च' से 'तुक्' और 'स्तोः श्चुना०' से श्चुत्व होकर 'अच्छृदत्' रूप सिद्ध होता है।

अच्छर्दीत्–अङ्भाव पक्ष में 'सिच्', 'अस्तिसिचो०' से 'सिच्' से उत्तर अपृक्त 'त्' को ईडागम, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'पुगन्तलघूप०' से 'ऋ' को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ, 'इट ईटि' से सकार-लोप, 'अकः सवर्णे०' से सवर्ण दीर्घैकादेश, अडागम, 'छे च' से 'तुक्' और 'स्तोः श्चुना०' से श्चुत्व 'त्' को 'च्' होकर 'अच्छर्दीत्' रूप सिद्ध होता है।

अच्छर्दिष्ट–लुङ्, आत्मनेपद, पु०, प्र०, एक व० में 'त', 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'पुगन्तलघू०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर तथा अडागम, 'छे च' से 'तुक्' और 'स्तोः श्चुना०' से श्चुत्व, 'आदेशप्रत्य०' से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'अच्छर्दिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

उतृदिर् (हिंसाऽनादरयो०:–हिंसा करना, अनादर करना) धातु से **'तृणत्ति', 'तृन्ते'** इत्यादि० सभी रूप 'छृणत्ति', 'छृन्ते' के समान जानें।

कृणत्ति	
कृत्	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'रुधादिभ्यः श्नम्' से 'श्नम्',
	'मिदचोऽन्त्यात्परः' से अन्तिम अच् 'ऋ' के बाद हुआ
कृ श्नम् त् तिप्	अनुबन्ध–लोप
कृ न त् ति	'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से णत्व होकर
कृणत्ति	रूप सिद्ध होता है।

६६७. तृणह इम् ७।३।९२

तृहः श्नमि कृते इमागमो हलादौ पिति सार्वधातुके। तृणेढि, तृण्ढः। ततर्ह। तर्हिता। अतृणेट्।

प० वि०–तृणहः ६।१। इम् १।१।। **अनु०**–पिति, सार्वधातुके, हलि।

अर्थ–'तृह्' (हिंसायाम्–हिंसा करना) धातु से 'श्नम्' प्रत्यय करने पर हलादि पित् को सार्वधातुक (तिप्, सिप् और मिप्) परे रहते **'इम्'** आगम होता है

तृणेढि	
तृह्	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्',
	अनुबन्ध–लोप
तृ न ह् ति	'तृणह इम्' से 'तृह्' धातु को 'श्नम्' कर चुकने पर हलादि
	पित् सार्वधातुक परे रहते इमागम, अनुबन्ध–लोप
तृ न इ ह् ति	'आद् गुणः' से अवर्ण से उत्तर 'अच्' परे रहते पूर्व और पर वर्ण
	के स्थान पर गुण एकादेश हुआ
तृनेह् ति	'हो ढः' से धातु के हकार को ढकार, 'झषस्तथो०' से तकार
	को धकार और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व धकार को ढकार हुआ
तृनेढ् ढि	'ढो ढे लोपः' से ढकार परे रहते प्रथम ढकार का लोप
तृनेढि	'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से णत्व होकर
तृणेढि	रूप सिद्ध होता है।

तृण्ढः–'तृह्', लट्', प्र० पु०, द्वि व० में 'तृनह्+तस्' यहाँ हलादि पित् सार्वधातुक परे न होने से इमागम नहीं हुआ। 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप, 'हो ढः' से हकार को ढकार, 'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'त्' को 'ध्', 'ष्टुना ष्टुः' से 'ध्' को 'ढ्', 'ढो ढे लोपः' से ढकार का लोप और 'ऋवर्णान्नस्य०' से णत्व होकर 'तृण्ढः' सिद्ध होता है।

ततर्ह, तर्हिता–'तृह्' धातु से लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'ततर्ह' तथा लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तर्हिता' की सिद्धि–प्रक्रिया 'ततर्प' और 'तर्पिता' (६५७) के समान जानें।

अतृणेट्

तृह्	लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप
तृ न ह् त्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'ति' के 'अपृक्त' संज्ञक 'त्' का लोप हुआ
तृ न ह्	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से 'तिप्' को निमित्त मान कर 'तृणह इम्' से 'इम्' आगम, अनुबन्ध-लोप
तृ न इ ह्	'आद् गुणः' से अवर्ण से 'अच्' परे रहते गुण एकादेश हुआ
तृनेह्	'हो ढः', से 'ह्' को 'ढ्', 'झलां जशोऽन्ते से 'ढ्' को 'ड्', 'वाऽवसाने' से अवसान में विकल्प से चर्त्व 'ड्' को 'ट्' आदेश अडागम तथा 'ऋवर्णान्नस्य०' से णत्व होकर
अतृणेट्	रूप सिद्ध होता है।

६६८. श्नान्नलोपः ६।४।२३

श्नमः परस्य नस्य लोपः स्यात्। हिनस्ति। जिहिंस। हिंसिता।

प०वि०–श्नात् ५।१।। नलोपः १।१।।

अर्थ–'श्नम्' से उत्तर नकार का लोप होता है।

(**हिसि** हिंसायाम्–हिंसा करना)

हिनस्ति

हिसि	'उपदेशेऽज०' से इकार की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से इत्संज्ञक इकार का लोप और 'इदितो नुम् धातोः' से नुमागम हुआ
हि नुम् स्	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप
हि न् स् ति	'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप
हि न न् स् ति	'श्नान्नलोपः' से 'श्नम्' से उत्तर नकार का लोप होकर
हिनस्ति	रूप सिद्ध होता है।

जिहिंस–'हिस्' धातु को 'इदितो नुम्०' से 'नुम्' आगम, 'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार, लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्', 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व, अभ्यासादि कार्य, 'कुहोश्चुः' से 'अभ्यास' में 'ह्' को 'झ्' और 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में 'झ्' को 'ज्' होकर 'जिहिंस' रूप सिद्ध होता है।

हिंसिता–'हिस्' धातु को 'इदितो नुम्०' से 'नुम्' आगम, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'आस्' भाग का लोप और 'नश्चापदान्तस्य०' से 'न्' को अनुस्वार होकर 'हिंसिता' रूप सिद्ध होता है।

६६९ तिप्यनस्तेः ८।२।७३

पदान्तस्य सस्य दः स्यात् तिपि न तु अस्तेः। 'ससजुषो रुः' (१०५) इत्यस्यापवादः। अहिनत्, अहिनद्। अहिंस्ताम्। अहिंसन्।

प० वि०—तिपि ७।१।। अनस्तेः ६।१।। **अनु०**—अन्ते, सः, दः, पदस्य।

अर्थ—'तिप्' परे रहते धातु के पदान्त सकार के स्थान पर दकार होता है, परन्तु 'अस्' धातु के पदान्त सकार को दकार नहीं होता।

यह सूत्र 'ससजुषो रुः' का अपवाद है।

अहिनत्, अहिनद्

हिस्	'इदितो नुम् धातोः' से इदित् धातु को नुमागम, लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप
	'रुधादिभ्यः श्नम्' से 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप
हि न् स् त्	'श्नान्नलोपः' से 'श्नम्' से उत्तर नकार का लोप हुआ
हि न न् स् त्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर अपृक्त तकार का लोप
हिनस् त्	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से 'तिप्' को निमित्त मानकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'तिप्यनस्तेः' से 'तिप्' परे रहते धातु के पदान्त सकार को दकार हुआ
हिनस्	
हिनद्	'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व तथा अडागम होकर
अहिनत्, अहिनद्	दो रूप सिद्ध होते हैं।

अहिंस्ताम्—'हिस्' धातु, 'इदितो नुम्०' से 'नुम्' आगम, लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'श्नम्', 'तस्थस्थमिपां०' से तस्' को 'ताम्', 'श्नान्नलोपः' से 'नुम्' के नकार का लोप, 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्नम्' के अकार का ङित् परे रहते लोप, 'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार होने पर अडागम होकर 'अहिंस्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

अहिंसन्—'हिस्' धातु, 'इदितो नुम्०' से 'नुम्' आगम, लङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश, 'श्नान्नलोपः' से 'नुम्' के नकार का लोप, 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्नम्' के अकार का ङित् परे रहते लोप, 'नश्चापदान्त०' से नकार को अनुस्वार, 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त तकार का लोप और अडागम होकर 'अहिंसन्' रूप सिद्ध होता है।

६७०. सिपि धातो रुर्वा ८।२।७४

पदान्तस्य धातोः सस्य रुः स्याद् वा (सिपि)। पक्षे दः। अहिनः, अहिनत्, अहिनद्। उन्दी क्लेदने ।१३। उनत्ति। उन्तः। उन्दन्ति। उन्दाञ्चकार। औनत्। औन्ताम्। औन्दन्। औनः, औनत्। औनदम्। अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु ।१४। अनक्ति, अङ्क्तः, अञ्जन्ति। आनञ्ज। आनञ्जिथ, आनङ्क्थ। अञ्जिता, अङ्क्ता। अङ्ग्धि। अनजानि। आनक्।

प०वि०–सिपि ७।१। धातोः ६।१।। रुः १।१।। वा अ०।। **अनु०**–अन्ते, पदस्य, सः।

अर्थ–'सिप्' परे रहते धातु के पदान्त **सकार को** विकल्प से **'रु'** आदेश होता है। पक्ष में **दकार** आदेश भी होता है।

अहिनः

हिस्	'इदितो नुम्धातोः' से 'नुम्' आगम, लङ्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप
हि न न् स् स्	'श्नान्नलोपः' से 'श्न' से उत्तर नकार का लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'सि' के अपृक्त 'स्' का लोप, 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'सिप्' को निमित्त मानकर 'सिपि धातो रुर्वा' से 'सिप्' परे रहते धातु के पदान्त सकार को 'रु' आदेश हुआ
हिनरु	'उपदेशेऽज०' से उकार की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से उकार का लोप, 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग और 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर
अहिनः	रूप सिद्ध होता है।

अहिनद्, अहिनत्–'रु' अभाव पक्ष में 'झलां जशोऽन्ते' से धातु के पदान्त सकार को दकारादेश और 'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व होकर **'अहिनद्'** और **'अहिनत्'** रूप सिद्ध होते हैं।

(उन्दी क्लेदने–गीला करना)

उनत्ति

उन्दी	'उपदेशेऽज०' से 'ईकार की इत्संज्ञा' और 'तस्य लोपः' से ईकार का लोप हुआ
उन्द्	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्' हुआ
उ श्नम् न्द् ति	अनुबन्ध-लोप, 'श्नान्नलोपः' से 'श्नम्' से उत्तर नकार का लोप हुआ
उ न द् ति	'खरि च' से चर्त्व 'द्' को 'त्' होकर
उनत्ति	रूप सिद्ध होता है।

उन्तः

उन्द्	लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' आया
उन्द् तस्	'रुधादिभ्यः श्नम्' से 'श्नम्' प्रत्यय, 'मिदचोऽन्त्यात्०' से अन्तिम अच् 'उकार' से उत्तर 'श्नम्' हुआ

उ श्नम् न्द् तस्	अनुबन्ध-लोप, 'श्नान्नलोपः' से 'श्नम्' से उत्तर नकार का लोप
उन द् तस्	'सार्वधातुकमपित्' से 'तस्' के ङित् होने पर 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप हुआ
उन्द् तस्	'झरो झरि सवर्णे' से हल् से उत्तर 'झर्' (द्) का लोप हुआ सवर्ण 'झर्' (त्) परे रहते
उन्तस्	'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयो०' से अवसान में रेफ को विसर्ग होकर रूप सिद्ध होता है।
उन्तः	

उन्दन्ति–'उन्द्' धातु से लट्, प्र०, पु०, बहु व० में 'झि' के 'झ्' को 'झोऽन्तः' से अन्तादेश, 'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्', 'श्नान्नलोपः' से नकार-लोप तथा 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप होकर 'उन्दन्ति' रूप सिद्ध होता है।

उन्दाञ्चकार

उन्द् लिट्	'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' से इजादि गुरुमान् धातु से 'लिट्', परे रहते 'आम्' हुआ
उन्द् आम् लिट्	'आमः' से 'आम्' से उत्तर 'लिट्' का लुक् हुआ
उन्द् आम्	'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' से आमन्त से उत्तर लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग हुआ
उन्द् आम् कृ लिट्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
उन्द् आम् कृ तिप्	'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान पर 'णल्', अनुबन्ध-लोप
उन्द् आम् कृ अ	'अचो ञ्णिति' से वृद्धि प्राप्त थी जिसका 'द्विर्वचनेऽचि' से निषेध होने पर 'लिटि धातोर०' से 'कृ' को द्वित्व हुआ
उन्द् आम् कृ कृ अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' से 'ऋ' को ह्रस्व अकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
उन्द् आम् कर् कृ अ	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में 'क्' को 'च्' हुआ
उन्द् आम् च कृ अ	'अचो ञ्णिति' से णित् परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' को 'आर्' हुआ
उन्दाम् च कार् अ	'मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार और 'वा पदान्तस्य' से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्ण 'ञ्' होकर
उन्दाञ्चकार	रूप सिद्ध होता है।

औनत्, औनद्

उन्द्	लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप
उ न - द् त्	'श्नान्नलोपः' से 'श्नम्' से उत्तर नकार का लोप हुआ

उनद् त्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'अपृक्त' संज्ञक तकार का लोप हुआ
उनद्	'आडजादीनाम्' से 'लङ्' परे रहते अजादि धातु को 'आट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
आ उनद्	'आटश्च' से 'आट्' से उत्तर 'अच्' परे रहते वृद्धि एकादेश 'औ' हुआ
औनद्	'वाऽवसाने' से अवसान में विकल्प से चर्त्व 'द्' को 'त्' होकर
औनत्, औनद्	दो रूप सिद्ध होते हैं।

औन्ताम्–'उन्द्', लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश और 'श्नम्' होने पर 'उनन्द्+ताम्' इस स्थिति में 'श्नान्नलोपः' से 'श्नम्' से उत्तर नकार का लोप, 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप, 'झरो झरि सवर्णे' से दकार का लोप होकर पूर्ववत् 'आट्' आगम और वृद्धि होने पर 'औन्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

औन्दन्– 'उन्द्', लङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', श्नम्, 'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश, 'संयोगान्तस्य लोपः' से तकार का लोप, 'श्नान्नलोपः' से नकार का लोप, 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप होकर पूर्ववत् 'आट्' आगम और वृद्धि होने पर 'औन्दन्' रूप सिद्ध होता है।

औनः–'उन्द्', लङ्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'श्नम्', 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सिप्' के अपृक्त सकार का लोप, 'श्नान्नलोपः' से नकार का लोप, 'प्रत्यलोपे प्रत्यय०' से लुप्त 'सिप्' को निमित्त मानकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'सिपि धातो रुर्वा' से दकार को विकल्प से 'रु' आदेश, 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्ग, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम और 'आटश्च' से वृद्धि होकर 'औनः' रूप सिद्ध होता है।

औनत्–'रु' अभाव पक्ष में 'हलङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'सिप्' के सकार का लोप और 'वाऽवासाने' से 'विकल्प से द्' को 'त्' होकर पूर्ववत् 'औनत्' रूप सिद्ध होता है।

औनदम्–'उन्द्', लङ्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' को 'तस्थस्थमिपां०' से 'अम्', 'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्' और 'श्नान्नलोपः' से नकार का लोप आदि पूर्ववत् जानें।

(**अञ्जू**–व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु–विवेचन करना, स्निग्ध करना, चमकना, गमन करना)

अनक्ति

अञ्जू	'उपदेशेऽज०' से ऊकार की इत्संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से ऊकार का लोप हुआ
अञ्ज्	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप

अ न ञ् ति	'श्नान्नलोपः' से 'श्नम्' से उत्तर नकार (अकार) का लोप हुआ
अ न ज् ति	'चोः कुः' से कुत्व 'ज्' को 'ग्' आदेश तथा 'खरि च' से चर्त्व 'ग्' को 'क्' होकर
अनक्ति	रूप सिद्ध होता है।

अङ्क्तः–'अञ्ज्', लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'श्नम्', 'श्नान्नलोपः' से 'श्नम्' से उत्तर नकार का लोप, 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप, 'चोः कुः' से कुत्व 'ज्' को 'ग्', 'खरि च' से चर्त्व 'ग्' को 'क्', 'नश्चापदान्तस्य०' से 'न्' को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि०' से परसवर्णादेश होकर 'अङ्क्तः' रूप सिद्ध होता है।

अञ्जन्ति–'अञ्ज्', लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश, 'श्नम्', 'श्नान्नलोपः' से नकार का लोप, 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप, 'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि०' से परसवर्ण (ञकार) आदेश होकर 'अञ्जन्ति' रूप सिद्ध होता है।

आनञ्ज

अञ्ज्	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से तिप् को 'णल्', 'लिटि धातो०' से 'अञ्ज्' को द्वित्व, 'अभ्यास' संज्ञा और 'हलादिः शेषः' से अभ्यास के अनादि हलों का लोप हुआ
अ अञ्ज् अ	'अत आदेः' से अभ्यास के आदि 'अ' को दीर्घ हुआ
आ अञ्ज् अ	'तस्मान्नुड् द्विहलः' से दो हल् वाली धातु के दीर्घीभूत अभ्यास के अकार से उत्तर 'नुट्' आगम हुआ
आ नुट् अञ्ज् अ	अनुबन्ध–लोप होकर
आनञ्ज	रूप सिद्ध होता है।

आनञ्जिथ, आनङ्क्थ–'अञ्ज्', लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'थल्' आदेश, 'स्वरतिसूति०' से ऊदित् धातु से उत्तर वलादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्', पूर्ववत् द्वित्व, 'अत आदेः' से अभ्यास के अकार को दीर्घ और नुडागम आदि कार्य होकर 'आनञ्जिथ' और इडभाव पक्ष में 'आनङ्क्थ' रूप सिद्ध होते हैं।

अञ्जिता, अङ्क्ता–'अञ्ज्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'स्वरतिसूतिसूयति०' से ऊदित् धातु से उत्तर वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इडागम, डित्करण सामर्थ्य से 'टि' भाग का लोप होकर 'अञ्जिता' और इडभाव पक्ष में 'अञ्ज्+त्+आ' यहाँ 'चोः कुः' से कुत्व 'ज्' को 'ग्', 'खरि च' से चर्त्व 'ग्' को 'क्', 'नश्चापदान्तस्य०' से 'न्' को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि०' से परसवर्ण 'ङ्' आदेश होकर 'अङ्क्ता' रूप सिद्ध होते हैं।

अङ्ग्धि	
अञ्ज्	लोट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' आया
अञ्ज् सिप्	'सर्ह्यपिच्च' से 'सि' को अपित् 'हि' आदेश, 'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप
अ न ञ्ज् हि	'श्नान्नलोपः' से 'श्नम्' से उत्तर नकार (ञकार) का लोप और 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप हुआ
अन्ज् हि	'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से झलन्त से उत्तर 'हि' को 'धि' आदेश हुआ
अन्ज् धि	'चोः कुः' से कुत्व 'ज्' को 'ग्' आदेश, 'नश्चापदान्त०' से नकार को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य०' से अनुस्वार को परसवर्णादेश 'ङ्' होकर
अङ्ग्धि	रूप सिद्ध होता है।

अनजानि–लोट्, उ० पु०, में 'मिप्' को 'मेर्निः' से 'नि' आदेश, 'आडुत्तमस्य०' से 'आट्' आगम, पूर्ववत् 'श्नम्', 'श्नान्नलोपः' से 'श्न' से उत्तर नकार (ञकार) का लोप होकर 'अनजानि' रूप सिद्ध होता है।

आनक्	
अञ्ज्	लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप
अ न ञ्ज् त्	'श्नान्नलोपः' से नकार का लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त तकार का लोप, 'चोः कुः' से कुत्व 'ज्' को 'ग्', 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
आ अनग्	'आटश्च' से वृद्धि और 'वाऽवसाने' से अवसान में 'ग्' को 'क्' होकर
आनक्	रूप सिद्ध होता है।

६७१. अञ्जेः सिचि ७।२।७१

अञ्जेः सिचो नित्यमिट् स्यात्। आञ्जीत्। तञ्चू संकोचने।१५। तनक्ति। तङ्क्ता, तञ्चिता। ओविजी भयचलनयोः। १६। विनक्ति। (६६५) विज इटिति ङित्त्वम्। विविजिथ। विजिता। अविनक्। अविजीत्। शिषॢ विशेषणे।१७। शिनष्टि। शिंष्टः। शिंषन्ति। शिनक्षि। शिशेष। शिशेषिथ। शेष्टा। शेक्ष्यति। हेर्धिः। शिण्ढि। शिनषाणि। अशिनट्। शिंष्यात्। शिष्यात्। अशिषत्। एवं पिषॢ संचूर्णने।१८। भञ्जो आमर्दने। १९। (६६८) श्नान्नलोपः–भनक्ति। बभञ्जिथ, बभङ्क्थ। भङ्क्ता। भङ्ग्धि। अभाङ्क्षीत्। भुज पालनाभ्यवहारयोः॥२०॥ भुनक्ति। भोक्ता। भोक्ष्यति। अभुनक्।

प०वि०–अञ्जेः ५।१॥ सिचि ७।१॥ **अनु०**–इट्।

अर्थ–'**अञ्ज्**' धातु से उत्तर **सिच्** को नित्य '**इट्**' आगम होता है।

आञ्जीत्	
अञ्ज्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि' और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' हुआ
अञ्ज् सिच् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'सिच्' से उत्तर अपृक्त 'त्' को ईडागम, 'स्वरतिसूतिसूयति०' से 'ऊदित्' धातु से उत्तर वलादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' आगम की प्राप्ति को बाधकर 'अञ्जेः सिचि' से 'अञ्ज्' धातु से उत्तर 'सिच्' को नित्य 'इट्' आगम हुआ
अञ्ज् इट् स् ई त्	अनुबन्ध-लोप, 'इट ईटि' से सकार-लोप, 'अकः सवर्णे०' से सवर्ण दीर्घ, 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि होकर
आञ्जीत्	रूप सिद्ध होता है।

तनक्ति, तङ्क्ता और **तञ्चिता** की सिद्धि-प्रक्रिया 'अनक्ति', 'अङ्क्ता' और 'अञ्जिता' (६७०) के समान जानें।

(**ओविजी** भयचलनयोः-डरना या डर से कांपना)

विनक्ति-'विज्', लट्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'अनक्ति' के समान जानें।

विविजिथ

विज्	लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'थल्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
विज् थ	'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् द्वित्व और अभ्यास कार्य आदि होने पर
वि विज् इ थ	'विज इट्' से 'विज्' धातु से उत्तर 'इट्' आदि प्रत्यय ङिद्वत् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध होकर
विविजिथ	रूप सिद्ध होता है।

विजिता-'विज्', 'लुट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भोग का लोप, 'विज इट्' से 'इडादि' प्रत्यय ङित् होने से 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध होकर 'विजिता' रूप सिद्ध होता है।

अविनक्, अविजीत् की सिद्धि-प्रक्रिया 'आनक्' (६७०) और 'आञ्जीत्' के समान जानें।

(**शिष्लृ** विशेषणे-विशेषित करना)।

शिनष्टि

शिष्लृ	'उपदेशेऽजनुना०' से 'लृ' की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से 'इत्'

	संज्ञक 'लृ' का लोप, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्' हुआ
शि श्नम् ष् ति	अनुबन्ध-लोप, 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व 'त्' को 'ट्' होकर
शिनष्टि	रूप सिद्ध होता है।

शिंष्टः–'शिष्', लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'श्नम्, 'सार्वधातुकमपित्' से 'तस्' के ङित् होने से 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप, 'नश्चापदान्तस्य झलि' से 'न्' को अनुस्वार, 'ष्टुना ष्टुः' से 'त्' को 'ट्' तथा सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'शिंष्टः' रूप सिद्ध होता है।

शिंषन्ति–'शिष्लृ' धातु से लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'श्नम्', 'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश, पूर्ववत् 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप और नकार को अनुस्वारादेश होकर 'शिंषन्ति' रूप सिद्ध होता है।

शिनक्षि–'शिष्लृ', लट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'श्नम्', 'षढोः कः सि' से सकारादि प्रत्यय परे रहते षकार को ककारादेश और 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'शिनक्षि' रूप सिद्ध होता है।

शिशेष–'शिष्लृ', लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' आदेश, 'लिटि धातोरन०' से द्वित्वादि कार्य तथा 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण होकर 'शिशेष' रूप सिद्ध होता है।

शिशेषिथ–'शिष्लृ', लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'थल्', क्रादि नियम से इडागम होने पर सभी कार्य पूर्ववत् जानें।

शेष्टा–लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'शेष्टा' रूप सिद्ध होता है।

शेक्ष्यति–'शिष्लृ', लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'षढोः कः सि' से सकारादि प्रत्यय परे रहते षकार को ककारादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व और 'पुगन्तलघू०' से गुण होकर 'शेक्ष्यति' रूप सिद्ध होता है।

शिण्ढि

शिष्लृ	अनुबन्ध-लोप, लोट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप
शि न ष् सि	'सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को अपित् 'हि' आदेश और 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप हुआ
शि न् ष् हि	'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से झलन्त से उत्तर 'हि' को 'धि' आदेश
शिन्ष् धि	'ष्टुना ष्टुः' से 'ध्' को 'ढ', 'नश्चापदान्तस्य०' से 'न्' को अनुस्वार, 'झलां जश् झशि' से 'ष्' को 'ड्', 'अनुस्वारस्य०'

से अनुस्वार को परसवर्णादेश (णकार) और 'झरो झरि सवर्णे' से 'ड्' का विकल्प से लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

शिण्ढ

शिनषाणि–'शिष्', लोट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्' को 'मेर्निः' से 'नि' आदेश, 'श्नम्', 'आडुत्तमस्य०' से 'आट्' आगम और 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर 'शिनषाणि' रूप सिद्ध होता है।

अशिनट्	
शिष्	लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्', अनुबन्ध–लोप
शि न ष् त्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर अपृक्त तकार का लोप और 'झलां जशोऽन्ते' से 'ष्' को 'ड्' आदेश हुआ
शि न ड्	'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व 'ड्' को 'ट्' और 'अट्' आगम होकर
अशिनट्	रूप सिद्ध होता है।

शिंष्यात्–'शिष्लृ', वि० लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्नम्' 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्' आगम, 'सुट् तिथोः' से सुडागम, अनुबन्ध-लोप और 'लिङः सलोपोऽनन्त्य०' से दोनों सकारों का लोप, 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप और 'नश्चाऽपदान्तस्य०' से 'न्' को अनुस्वार होकर 'शिंष्यात्' रूप सिद्ध होता है।

शिष्यात्–'शिष्', आ० लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट्', 'सुट्' और 'स्कोः संयोगाद्यो०' से दोनों सकारों का लोप होकर 'शिष्यात्' रूप सिद्ध होता है।

अशिषत्	
शिष्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'चिल', 'च्लि' के स्थान में 'पुषादिद्युताद्य०' से 'अङ्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
शिष् अ त्	'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अशिषत्	रूप सिद्ध होता है।

पिष्लृ (संचूर्णने–पीसना) धातु से सभी रूप 'शिष्लृ' के रूपों के समान जानें।

भञ्जो (आमर्दने–तोड़ना) धातु से '**भनक्ति**', '**बभञ्जिथ**', '**बभङ्क्थ**', '**भङ्क्ता**', '**भङ्ग्धि**' इत्यादि रूप 'अनक्ति', 'आनञ्जिथ', 'आनङ्क्थ', 'अङ्क्ता' और 'अङ्ग्धि' इत्यादि के समान जानें। केवल 'लिट्' लकार में दीर्घीभूत अकार न होने से नुडागम नहीं होता।

अभाङ्क्षीत्	
भञ्ज्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते'

	से अपृक्त 'त्' को 'ईट्' आगम और 'वदव्रजहलन्तस्याच:' से वृद्धि हुई
भाञ्ज् स् ई ट् त्	अनुबन्ध-लोप, 'चो: कु:' से कुत्व 'ज्' को 'ग्', 'खरि च' से 'ग्' को 'क्', 'आदेशप्रत्य०' से षत्व और 'नश्चापदान्तस्य०' से 'न्' को अनुस्वार हुआ
भं क् षीत्	'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्णदेश तथा 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अभाङ्क्षीत्	रूप सिद्ध होता है।

भुनक्ति–'भुज्' (पालनाऽभ्यवहारयो:–पालन करना, भक्षण करना) धातु से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'रुधादिभ्य:०' से 'श्नम्', 'चो: कु:' से 'ज्' को 'ग्' आदेश और 'खरि च' से 'ग्' को 'क्' होकर 'भुनक्ति' रूप सिद्ध होता है।

भोक्ता–'भुज्', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुट: प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्करण सामर्थ्य से टिभाग (आस्) का लोप, 'चो: कु:' से कुत्व, 'खरि च' से 'ग्' को 'क्' और 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध अङ्ग के 'इक्' को गुण होकर 'भोक्ता' रूप सिद्ध होता है।

भोक्ष्यति–'भुज्', लृट्, प्र० पु०, एक व०, में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'पुगन्तलघू०' से गुण, 'चो: कु:' से 'ज्' को 'ग्', 'खरि च' से 'ग्' को 'क्' और 'आदेशप्रत्यययो:' से षत्व होकर 'भोक्ष्यति' रूप सिद्ध होता है।

अभुनक् की सिद्धि-प्रक्रिया 'आनक्' (६७०) के समान जानें।

६७२ भुजोऽनवने १।३।६६

तङानौ स्त:। ओदनं भुङ्क्ते। अनवने किम् ? महीं भुनक्ति। ञिइन्धी दीप्तौ। २१। इन्धे। इन्धाते। इन्धते। इन्त्से। इन्ध्वे। इन्धाञ्चक्रे। इन्धिता। इन्धाम्। इन्धाताम्। इनधै। ऐन्ध। ऐन्धाताम्। ऐन्धा:। विद विचारणे।२२। विन्ते। वेत्ता।

।। इति रुधादय:।।

प०वि०–भुज: ५।१।। अनवने ७।१।। **अनु०**–आत्मनेपदम्।

अर्थ–(अनवन) 'पालन करना' अर्थ से भिन्न अर्थ में '**भुज्**' धातु से आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय होते हैं।

भुङ्क्ते	(खाता है)
भुज्	लट्, 'पालन' से भिन्न अर्थ होने से 'भुजोऽनवने' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'रुधादिभ्य:०' से 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप
भु न ज् त	'चो: कु:' से कुत्व 'ज्' को 'ग्', 'खरि च' से चर्त्व 'ग्' को 'क्', 'श्नसोरल्लोप:' ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते 'श्न'

के अकार का लोप, 'नश्चाऽपदान्तस्य०' से 'न' को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्ण 'ङ्' आदेश हुआ

'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर

भु ङ् क् त
भुङ्क्ते — रूप सिद्ध होता है।

अनवने किम्—सूत्र में प्रयुक्त 'अनवने' पद से क्या तात्पर्य है? 'भुज्' धातु के दो अर्थ हैं 'पालना करना' तथा 'खाना', जिसमें से केवल 'भोजन करना' अर्थ में ही 'भुज्' धातु से आत्मनेपद होगा, दूसरे अर्थ 'पालन करना' में परस्मैपद ही रहेगा।

(ञिइन्धी दीप्तौ—दीप्त होना, चमकना)

इन्धे

ञिइन्धी — 'आदिर्ञिटुडवः' से आदि 'ञि' की इत्संज्ञा, 'उपदेशेऽज०' से अन्तिम 'ई' की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से इत्-संज्ञकों का लोप हुआ

इन्ध् — लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'रुधादिभ्यः०' से 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप

इ न न्ध् त — 'श्नान्नलोपः' से 'श्नम्' से उत्तर नकार का लोप हुआ

इ न ध् त — 'श्नसोरल्लोपः' से ङित् सार्वधातुक 'त' परे रहते 'श्न' के अकार का लोप हुआ

इन्ध् त — 'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'त्' को 'ध्', 'झलां जश् झशि' से पूर्ववर्ती 'ध्' को 'द्', 'झरो झरि सवर्णे०' से सवर्ण 'झर्' परे रहते 'द्' का लोप और 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर

इन्धे — रूप सिद्ध होता है।

इन्धाते—(लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्'), **इन्धते** (प्र० पु०, बहु व० में 'झ') और **इन्त्से** (म० पु०, एक व० में 'थास्') में सर्वत्र 'श्नान्नलोपः' से 'श्नम्' से उत्तर नकार का लोप, 'श्नसोरल्लोपः' से 'श्न' के अकार का लोप, 'आत्मनेपदेष्वनतः' से 'झ्' को 'अत्' और 'खरि च' से 'ध्' को 'त्' होकर उक्त सभी रूप सिद्ध होते हैं।

इन्धाञ्चक्रे

इन्ध् — लिट्, 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' से इजादि गुरुमान् धातु 'इन्ध्' से 'आम्' प्रत्यय हुआ

इन्ध् आम् लिट् — 'आमः' से 'आम्' से उत्तर 'लिट्' का लुक् और 'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' से लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग हुआ

इन्ध् आम् कृ लिट् — अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया

इन्ध् आम् कृ त	'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'त' को 'एश्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
इन्ध् आम् कृ ए	'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'लिट्' परे रहते 'कृ' को द्वित्व हुआ
इन्ध् आम् कृ कृ ए	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' से अभ्यास में 'ऋ' को अकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
इन्ध् आम् कर् कृ ए	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में 'क्' को 'च्' हुआ
इन्ध् आम् च कृ ए	'इको यणचि' से 'इक्' (ऋ) को 'यण्' (र्) आदेश हुआ
इन्ध् आम् च क्रे	'मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार और 'वा पदान्तस्य' से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्ण 'ञ्' होकर
इन्धाञ्चक्रे	रूप सिद्ध होता है।

इन्धिता–'इन्ध्', आत्मनेपद, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम और डित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप होकर 'इन्धिता' रूप सिद्ध होता है।

इन्धाम्, इन्धाताम्–'इन्ध्', लोट्, प्र० पु०, एक व० और द्वि व० में 'त' और 'आताम्' आकर 'लट्' के समान ही 'इन्धे' और 'इन्धाते' रूप बनने पर 'आमेतः' से लोट् सम्बन्धी एकार को 'आम्' आदेश होकर दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

इनधै–'इन्ध्', लोट्, उ० पु०, एक व० में 'इट्', 'श्नम्', 'श्नान्नलोपः' से धातु के नकार का लोप, 'आडुत्तमस्य पिच्च' से 'इट्' को पित् 'आट्' आगम, 'टित आत्मने०' से 'इ' को एत्व, 'एत ऐ' से 'ए' को 'ऐ' और 'आटश्च' से 'आट्' से उत्तर 'अच्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में वृद्धि 'ऐ' एकादेश होने पर 'इनधै' रूप सिद्ध होता है।

ऐन्ध

इन्ध्	लङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'श्नम्', अनुबन्ध-लोप
इ न न्ध् त	'श्नान्नलोपः' से 'श्नम्' से उत्तर नकार का लोप हुआ
इ न ध् त	'श्नसोरल्लोपः' से ङित् सार्वधातुक परे रहते 'श्न' के अकार का लोप और 'झषस्तथो०' से 'झष्' (ध्) से उत्तर 'त्' को 'ध्' आदेश हुआ
इन्ध् ध	'झलां जश्०' से पूर्ववर्ती 'ध्' को 'द्' और 'झरो झरि सवर्णे' से 'हल्' से उत्तर 'झर्' वर्ण 'ध्' का विकल्प से लोप हुआ सवर्ण 'झर्' परे रहते
इन्ध	'आडजादीनाम्' से 'लङ्' परे रहते अजादि धातु को 'आट्' आगम हुआ, अनुबन्ध-लोप
आ इन्ध	'आटश्च' से वृद्धि एकादेश होकर
ऐन्ध	रूप सिद्ध होता है।

ऐन्धाताम्, –'इन्ध्', लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'आटश्च' से 'ऐ' वृद्धि, तथा **'ऐन्धाः'** –म० पु०, एक व० में 'थास्' के 'थ्' को 'झषस्तथोः०' से 'ध्', 'झलां जश्०' से 'ध्' को 'द्', 'झरो झरि०' से 'ध्' का लोप, सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

विन्ते, वेत्ता–(विद् विचारणे–विचार करना) 'लट्,' तथा 'लुट्,' प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् ही जानें।

॥ रुधादिगण समाप्त॥

अथ तनादिर्गणः

तनु विस्तारे ।१।

६७३. तनादिकृञ्भ्य उः ३।१।७९

शपोऽपवादः। तनोति, तनुते। ततान, तेने। तनितासि, तनितासे। तनिष्यति, तनिष्यते। तनोतु, तनुताम्। अतनोत्, अतनुत। तनुयात्, तन्वीत। तन्यात्, तनिषीष्ट। अतानीत्-अतनीत्।

प० वि०–तनादिकृञ्भ्यः ५।३।। उः १।१।। **अनु०**– सार्वधातुके, कर्तरि।

अर्थ–कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते **तनादि** गण में पठित धातुओं से तथा '**कृञ्**' धातु से उत्तर '**उ**' प्रत्यय होता है।

(**तनु** विस्तारे-विस्तार करना, फैलाना)

तनोति

तनु	'उपदेशेऽज०' से उकार की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से उकार का लोप हुआ, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
तन् तिप्	'तनादिकृञ्भ्य उः' से कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे रहते धातु से 'उ' प्रत्यय हुआ
तन् उ तिप्	अनुबन्ध-लोप, सार्वधातुक प्रत्यय 'तिप्' परे रहते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण होकर
तनोति	रूप सिद्ध होता है।

तनुते–'तन्', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'तनादिकृञ्भ्य उः' से 'उ' प्रत्यय और 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'तनुते' रूप सिद्ध होता है।

ततान–'तन्', लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्', द्वित्व, अभ्यासि कार्य होकर 'त+तन् अ' यहाँ 'अत उपधायाः' से णित् प्रत्यय परे रहते उपधा को वृद्धि होकर 'ततान' रूप सिद्ध होता है।

तेने

तन्	लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्' आदेश, द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा और 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा

त तन् ए 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'एश्' के कित् होने पर 'अत एकहल्मध्ये०' से कित् 'लिट्' परे रहते अनादेश आदि 'अङ्ग' के दो असंयुक्त हलों के मध्य में विद्यमान अकार को एकार आदेश तथा अभ्यास लोप होकर
तेने रूप सिद्ध होता है।

तनितासि–'तन्', लुट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'तासस्त्योर्लोपः' से सकारादि प्रत्यय परे रहते 'तास्' के सकार का लोप होकर 'तनितासि' रूप सिद्ध होता है।

तनितासे–'तन्' धातु, लुट्, आत्मनेपद, म० पु०, एक व० में 'थास्' को 'थासः से' से 'से' आदेश होने पर शेष कार्य पूर्ववत् जानें।

तनिष्यति–'तन्', लृट्, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम और 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'तनिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

तनिष्यते–'तन्', लृट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्य', 'इट्' आगम और 'टित आत्मने०' से 'टि' भाग को एत्व होकर 'तनिष्यते' रूप सिद्ध होता है।

तनोतु, तनुताम्–'तन्', लोट्, प्र० पु०, एक व० में दोनों पदों में 'लट्,' के समान ही 'तनोति' और 'तनुते' रूप बनने पर क्रमशः 'एरुः' से 'इकार' को उकार आदेश और 'आमेतः' से 'ए' को 'आम्' होकर दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

अतनोत्–'तन्', लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तनादिकृञ्भ्य उः' से 'उ' आने पर 'अट्+तन्+उ+त्' यहाँ 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण होकर 'अतनोत्' रूप सिद्ध होता है।

अतनुत–'तन्', लङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'अट्+तन्+उ+त' इस स्थिति में ङित् सार्वधातुक परे रहते 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

तनुयात्–'तन्', वि० लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तनादिकृञ्भ्य उः' से 'उ' प्रत्यय, 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से सुडागम और 'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप होकर 'तनुयात्' रूप सिद्ध होता है।

तन्वीत–'तन्', विधि लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'तनादिकृञ्भ्य०' से 'उ', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' आगम, 'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप और 'इको यणचि' से यणादेश 'उ' के स्थान पर 'व्' होकर 'तन्वीत' रूप सिद्ध होता है।

तनिषीष्ट–'तन्', आ० लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'सीयुट्', 'सुट्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'तनिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अतानीत्-अतनीत्

तन्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', 'अस्तिसिचो०' से ईडागम, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, अनुबन्ध-लोप
तन् इ स् ई त्	'अतो हलादेर्लघोः' से हलादि अङ्ग के लघु अकार को विकल्प से वृद्धि हुई
तान् इ स् ई त्	'इट ईटि' से सकार-लोप, 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ तथा अडागम होकर
अतानीत्, अतनीत्	दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

६७४. तनादिभ्यस्तथासोः २।४।७९

तनादेः सिचो वा लुक् स्यात् तथासोः। अतत, अतनिष्ट। अतथाः, अतनिष्ठाः। अतनिष्यत्, अतनिष्यत। षणु दाने ।२। सनोति, सनुते।

प०वि०–तनादिभ्यः ५।३। तथासोः ७।२॥ **अनु०**–सिचः, लुक्, विभाषा।

अर्थ–तनादिगण की धातुओं से उत्तर **'सिच्'** का, **'त'** तथा **'थास्'** परे रहते, विकल्प से **'लुक्'** होता है।

अतत

तन्	लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', अनुबन्ध-लोप
तन् स् त	'तनादिभ्यस्तथासोः' से 'त' परे रहते 'तन्' धातु से उत्तर 'सिच्' का विकल्प से लुक् हुआ
तन् त	'सार्वधातुकमपित्' से 'त' के ङित् होने पर 'अनुदात्तोपदेशवनति०' से झलादि ङित् सार्वधातुक परे रहते अनुदात्तोपदेश धातु के नकार का लोप तथा 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से 'अट्' आगम होकर
अतत	रूप सिद्ध होता है।

'सिच्'-लुक् अभाव पक्ष में

अतनिष्ट–'अ+तन्+स्+त' इस स्थिति में 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'आदेशप्रत्य०' से षत्व तथा ष्टुत्व होकर 'अतनिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अतथाः, अतनिष्ठाः–'तन्', लुङ्, म० पु०, एक व० में 'थास्' आने पर 'अतत' के समान **अतथाः** और 'अतनिष्ट' के समान **अतनिष्ठाः** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

अतनिष्यत्–'तन्', लृङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'आदेशप्रत्य०' से षत्व तथा अडागम होकर 'अतनिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

अतनिष्यत—'तन्', लृङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर भी सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

सनोति, सनुते—(षणु दाने-देना) 'धात्वादेः षः सः' से सत्व होने पर णकार के नकार बन जाने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'तनोति' और 'तनुते' के समान जानें।

६७५. ये विभाषा ६।४।४३

जन-सन-खनाम् आत्त्वं वा यादौ क्ङिति। सायात्, सन्यात्। असानीत्, असनीत्।

प० वि०—ये ७।१।। विभाषा १।१।। **अनु०**—जनसनखनाम्, आत्, क्ङिति।

अर्थ—जन् (प्रादुर्भावे-उत्पन्न होना), **सन्** (दाने-देना) और **खन्** (अवदारणे-खोदना) धातुओं के **नकार** को विकल्प से **आकार आदेश** होता है यकारादि कित् और ङित् प्रत्यय परे रहते।

सायात्	'आशिषि लिङ्लोटौ' से आर्शीवाद अर्थ में लिङ्, प्र० पु०, एक
सन्	व० में 'तिप्', 'यासुट्' और 'सुट्' आने पर
सन् यासुट् सुट् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'यासुट्' प्रत्यय 'किदाशिषि' के अनुसार कित् है अतः 'ये विभाषा' से 'कित्' परे रहते 'सन्' धातु के नकार को विकल्प से आकार आदेश हुआ
स आ यास् स् त्	'अकः सवर्णे०' से सवर्णदीर्घ एकादेश और 'स्कोः संयोगाद्यो०' से सकारों का लोप होकर
सायात्	रूप सिद्ध होता है।

सन्यात्—आकार के अभाव पक्ष में पूर्ववत् 'यासुट्', 'सुट्' आदि होकर 'सन्यात्' रूप सिद्ध होता है।

असानीत्, असनीत्—'सन्' धातु से लुङ्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया क्रमशः 'अतानीत्' और 'अतनीत्' (६७३) के समान जानें।

६७६. जनसनखनां सञ्झलोः ६।४।४२

एषाम् आकारोऽन्तादेशः स्यात् सनि झलादौ क्ङिति। असात, असनिष्ट। असाथाः, असनिष्ठाः। क्षणु हिंसायाम् ।३। क्षणोति, क्षणुते। (४६६) ह्म्यन्तेति न वृद्धिः। अक्षणीत्, अक्षत, अक्षणिष्ट। अक्षथाः, अक्षणिष्ठाः। क्षिणु च।४। उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा—क्षेणोति-क्षिणोति। क्षेणिता। अक्षेणीत्। अक्षित, अक्षेणिष्ट। तृणु अदने।५। तृणोति, तर्णोति। तृणुते, तर्णुते। डुकृञ् करणे।६। करोति।

प०वि०—जनसनखनाम् ६।३।। सञ्झलोः ७।२।। **अनु०**—आत्, क्ङिति।

अर्थ—जन्, सन् और **खन्** धातुओं के अन्त्य अल् के स्थान पर आकार आदेश होता है, 'सन्' अथवा झलादि कित् या ङित् प्रत्यय परे रहते।

असात

सन्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि' और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' हुआ
सन् सिच् त	अनुबन्ध-लोप, 'तनादिभ्यस्तथासोः' से 'त' परे रहते 'सिच्' का लुक्, 'सार्वधातुकमपित्' से 'त' के ङित् होने से 'जनसनखनां०' से झलादि ङित् 'त' परे रहते 'सन्' के 'न्' को आकार आदेश हुआ
स आ त	'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश और 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
असात	रूप सिद्ध होता है।

आकारा देश अभाव पक्ष में

असनिष्ट–'सन्', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' और 'च्लि' को 'सिच्' आदेश, जब 'तनादिभ्यस्तथासोः' से 'सिच्' का लुक् नहीं हुआ तो 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व, 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व और 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से 'अट्' आगम होकर 'असनिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

असाथाः–'सन्', लुङ्, आत्मनेपद, म० पु०, एक व० में 'थास्' और 'च्लि' को 'सिच्' होने पर 'तनादिभ्यस्तथासोः' से 'थास्' परे रहते विकल्प से 'सिच्'-लुक्, 'जनसनखनां०' से 'सन्' के नकार को आकार आदेश, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'असाथाः' रूप सिद्ध होता है।

असनिष्ठाः–'सन्', लुङ्, आत्मनेपद, म० पु०, एक व० में 'थास्' आने पर जब 'तनादिभ्यस्तथासोः से वैकल्पिक सिच्'-लुक् नहीं होगा तो 'इट्' आगम, षत्व, ष्टुत्व, और 'अट्' आगम आदि 'असनिष्ट' के समान होकर 'असनिष्ठाः' रूप सिद्ध होता है।

क्षणोति-क्षणुते–क्षणु-'हिंसायाम्-हिंसा करना' धातु से सिद्धि-प्रक्रिया 'तनोति' और 'तनुते' के समान जानें।

अक्षणीत्

क्षणु	अनुबन्ध-लोप, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि' और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश हुआ
क्षण् सिच् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचो०' से ईडागम, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
क्षण् इ स् ई त्	'इट ईटि' से सकार-लोप, 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ तथा 'ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृ०' से इडादि 'सिच्' प्रत्यय परे रहते 'क्षण्' धातु को हलन्तलक्षण वृद्धि का निषेध और अडागम होकर
अक्षणीत्	रूप सिद्ध होता है।

अक्षत, अक्षणिष्ट और अक्षथाः, अक्षणिष्ठाः—'क्षण्', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० और म० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'अतत', 'अतनिष्ट' और 'अतथाः', 'अतनिष्ठाः' (६७४) के समान जानें।

क्षिणु च—क्षिणु धातु भी हिंसार्थक है।

उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा—अर्थ—उप्रत्यय परे रहते लघूपध गुण विकल्प से होता है। इसीलिए गुण होने पर 'क्षेणोति' तथा गुण-अभाव पक्ष में 'क्षिणोति' रूप सिद्ध होते हैं।

क्षेणिता, अक्षेणीत्, अक्षित अक्षेणिष्ट—'क्षिण्' धातु से लुट्, प्र० पु०, एक व०, परस्मैपद में 'क्षेणिता', लुङ्, प्र० पु०, एक व० परस्मैपद में 'अक्षेणीत्', लुङ् आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'तनादिभ्ययस्तथासोः' से 'सिच्' का वैकल्पिक लुक् होने पर 'अक्षित' तथा लुक्-अभाव पक्ष में 'इट्' आगम होने पर अक्षेणिष्ट रूप सिद्ध होते हैं।

तृणु अदने धातु उदित, उभयपदी तथा सेट् है।

तृणोति, तर्णोति, तृणुते, तर्णुते—'तृण्' धातु से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' 'तनादिकृञ्भ्य उः' से 'उ' होने पर 'उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा' से विकल्प से लघूपध गुण होने पर 'तृणोति' तथा 'तर्णोति' दो रूप तथा आत्मनेपद में भी 'तृणुते' तथा 'तर्णुते' रूप सिद्ध होते हैं।

डुकृञ् करणे—'कृ' धातु 'करने' अर्थ में प्रयुक्त होती है। 'ञित्' होने के कारण यह उभयपदी है।

करोति

कृ	'भूवादयो धातवः' से धातु संज्ञा होने पर 'लट्', परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप
कृ ति	'तनादिकृञ्भ्य उः' से कर्त्तावाची सार्वधातुक परे रहते 'कृ' धातु से 'उ' प्रत्यय आया
कृ उ ति	'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से आर्धधातुक 'उ' परे रहते 'ऋ' को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'अर्' हुआ
कर् उ ति	सार्वधातुक 'ति' परे रहते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'उ' को गुण 'ओ' होकर
करोति	रूप सिद्ध होता है।

६७७. अत उत्सार्वधातुके ६।४।११०

उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽकारस्य उ स्यात् सार्वधातुके क्ङिति। कुरुतः।

प०वि०—अतः ६।१।। उत् १।१।। सार्वधातुके ७।१।। **अनु०**—उतः, प्रत्ययात्, करोतेः, क्ङिति।

अर्थ—उप्रत्ययान्त 'कृञ्' धातु के ह्रस्व अकार के स्थान पर ह्रस्व उकारादेश होता है कित् और ङित् सार्वधातुक परे रहते।

कुरुतः

कृ	लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'तनादिकृञ्भ्य०' से 'उ' प्रत्यय
कृ उ तस्	'सार्वधातुकार्ध०' से इगन्त अङ्ग को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'ऋ' के स्थान पर 'अर्' हुआ
कर् उ तस्	'सार्वधातुकमपित्' से 'तस्' के ङित् होने से 'अत उत् सार्वधातुके' से 'उ' प्रत्ययान्त 'कृञ्' धातु के अकार के स्थान पर उकारादेश हुआ ङित् प्रत्यय परे रहते
कुर् उ तस्	'ससजुषो रुः' से 'स्' को रुत्व तथा 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्गादेश होकर
कुरुतः	रूप सिद्ध होता है।

६७८ न भकुर्छुराम्। ८।२।७९

भस्य कुर्छुरोरुपधाया न दीर्घः। कुर्वन्ति।

प०वि०—न अ०। भकुर्छुराम् ६।३।। **अनु०**—र्वोः उपधायाः, दीर्घः।

अर्थ—रेफान्त **कुर्** और **छुर्** की उपधा को तथा भसंज्ञक अङ्ग की उपधा को दीर्घ नहीं होता।

कुर्वन्ति

कृ	लट्, परमस्मैपद, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'तनादिकृञ्भ्य०' से 'उ' और 'झोऽन्तः' से प्रत्यय के 'झ्' के स्थान पर 'अन्त्' आदेश हुआ
कृ उ अन्ति	'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
कर् उ अन्ति	'इको यणचि' से यणादेश और 'अत उत्सार्वधातुके' से उप्रत्ययान्त 'कृ' धातु के अकार के स्थान पर उकारादेश
कुर् व् अन्ति	'हलि च' से रेफान्त की उपधा को दीर्घत्व की प्राप्ति थी, किन्तु 'न भकुर्छुराम्' से 'कुर्' की उपधा को दीर्घ का निषेध होकर
कुर्वन्ति	रूप सिद्ध होता है।

६७९ नित्यं करोतेः ६।४।१०८

करोतेः प्रत्ययोकारस्य नित्यं लोपो म्वोः परयोः। कुर्वः, कुर्मः। कुरुते। चकार, चक्रे। कर्त्ता। करिष्यति, करिष्यते। करोतु, कुरुताम्। अकरोत्, अकुरुत।

प०वि०—नित्यम् २।१।। करोतेः ५।१।। **अनु०**—उतः, प्रत्ययाद्, लोपः, म्वोः।

अर्थ०–'**कृ**' धातु से उत्तर प्रत्यय के उकार का नित्य लोप होता है, मकार और वकार परे रहते।

कुर्वः	
कृ	लट्, उ० पु०, द्वि व० में 'वस्', 'तनादिकृञ्भ्य:०' से 'उ', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपर:' से रपर हुआ
कर् उ वस्	'अत उत् सार्वधातुके' से 'उ' प्रत्ययान्त 'कृ' धातु के अकार को उकारादेश हुआ ङित् परे रहते
कुर् उ वस्	'नित्यं करोते:' से 'वस्' का वकार परे रहते 'कृ' धातु से उत्तर प्रत्यय के उकार का लोप, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
कुर्वः	रूप सिद्ध होता है।

कुर्मः–'कृ' लट्, उ० पु०, बहु व० में 'मस्' आने पर सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

कुरुते–'कृ', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'तनादिकृञ्भ्य०' से 'उ', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपर:' से रपर, 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व और 'अत उत् सार्वधातुके' से अकार को उकारादेश होकर 'कुरुते' रूप सिद्ध होता है।

चकार–सिद्धि-प्रक्रिया 'जहार' (५४५) के समान जानें।

कर्त्ता, करिष्यति इत्यादि की सिद्धि प्रक्रिया 'हर्त्ता', 'हरिष्यति' (५४५) इत्यादि के समान जानें।

करोतु, कुरुताम्–'कृ', लोट्, प्र० पु०, एक व० में दोनों पदों में 'लट्' के समान ही 'करोति' तथा 'कुरुते' रूप बनने पर क्रमशः 'एरु:' से इकार को उकारादेश तथा 'आमेत:' से एकार को 'आम्' आदेश होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

अकरोत्–'कृ', लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'इतश्च' से इकार-लोप, 'तनादिकृ०' से 'उ' प्रत्यय, 'सार्वधातुकार्ध०' से 'ऋ' को गुण, 'उरण् रपर:' से रपर, 'सार्वधातुकार्ध०' से 'उ' को गुण 'ओ' तथा अडागम होकर 'अकरोत्' रूप सिद्ध होता है।

अकुरुत–'कृ', लङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'तनादिकृ०' से 'उ', 'सार्वधातुकार्ध०' से ऋकार को गुण, 'उरण् रपर:' से रपर, 'अत उत्सार्वधातुके' से अकार को उकारादेश तथा अडागम होकर 'अकुरुत' रूप सिद्ध होता है।

६८०. ये च ६।४।१०९

कृञ उलोपः स्यात् यादौ प्रत्यये परे। कुर्यात्, कुर्वीत। क्रियात्, कृषीष्ट। अकार्षीत्, अकृत। अकरिष्यत्, अकरिष्यत।

प०वि०–ये ७।१।। च अ०। **अनु०**–करोते:, प्रत्ययस्य, उत:, लोप:।

अर्थ–यकारादि प्रत्यय परे होने पर '**कृञ्**' धातु से उत्तर '**उ**' प्रत्यय का लोप होता है।

कुर्यात्

कृ	वि० लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'तनादिकृञ्भ्यः०' से 'उ' प्रत्यय, 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', अनुबन्ध-लोप
कृ उ यास् स् त्	'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से सार्वधातुक 'लिङ्' के अनन्त्य सकारों का लोप हुआ
कृ उ या त्	'सार्वधातुकार्ध०' से ऋकार को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
कर् उ या त्	'अत उत्सार्वधातुके' से 'कृ' धातु के अकार को उकारादेश हुआ
कुर् उ या त्	'ये च' से यकारादि प्रत्यय परे रहते धातु से उत्तर उकार का लोप होकर
कुर्यात्	रूप सिद्ध होता है।

कुर्वीत

कृ	लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, में एक व० में 'त', तनादिकृञ्भ्यः०' से 'उ', 'सीयुट्', 'सुट्', अनुबन्ध-लोप
कृ उ सीय् स् त	'लिङः सलोपो०' से दोनों सकारों का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से ऋकार को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
कर् उ ई त	'अत उत् सार्वधातुके' से 'कृ' धातु के अकार को उकारादेश और 'इको यणचि' से प्रत्यय उकार को यणादेश 'व्' होकर
कुर्वीत	रूप सिद्ध होता है।

क्रियात्–आ० लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट्', 'सुट्', 'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोगादि सकारों का लोप और 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' से धातु के ऋकार को 'रिङ्' आदेश होकर 'क्रियात्' रूप सिद्ध होता है।

कृषीष्ट–'कृ', आशिषिलिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सीयुट्', 'सुट्', 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप होने पर 'कृ+सी+स्+त' इस स्थिति में 'उश्च' से झलादि लिङ् के कित् होने पर 'क्ङिति च' से गुण का निषेध, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'कृषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अकार्षीत्

कृ	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'इतश्च' से इकार-लोप, 'च्लि लुङि' से 'च्लि' और 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश हुआ
कृ सिच् त्	अनुबन्ध-लोप, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से ईडागम, अनुबन्ध-लोप

कृ स् ई त्	'सिचि वृद्धिः परस्मै०' से इगन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' के स्थान में 'आर्' और 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व हुआ
कार्षीत्	'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अकार्षीत्	रूप सिद्ध होता है।
अकृत	
कृ	लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि' और 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश हुआ
कृ सिच् त	अनुबन्ध-लोप, 'तनादिभ्यस्तथासोः' से तनादि गण में पठित धातु 'कृ' से उत्तर 'त' परे रहते 'सिच्' का विकल्प से लुक् हुआ
कृ त	'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
अकृत	रूप सिद्ध होता है।

अकरिष्यत्–'कृ', लृङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण और 'लुङ्लङ्लृङ्०' से 'अट्' आगम होकर 'अकरिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

अकरिष्यत–'कृ', लृङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

६८१. सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे ६।१।१३७

प० वि०–सम्परिभ्याम् ५।२।। करोतौ ७।१।। भूषणे ७।१।। **अनु०**–सुट्, कात्, पूर्वः।

अर्थ–**'सम्'** तथा **'परि'** उपसर्ग से उत्तर **भूषण** (सजाना) अर्थ में वर्तमान **'कृञ्'** धातु के ककार से पूर्व **'सुट्'** आगम होता है।

६८२. समवाये च ६।१।१३८

सम्परिपूर्वस्य करोतेः सुट् स्याद् भूषणे सङ्घाते चार्थे। संस्करोति अलङ्करोतीत्यर्थः। संस्कुर्वन्ति–सङ्घीभवन्तीत्यर्थः। सम्पूर्वस्य क्वचिद् अभूषणेऽपि सुट्–'संस्कृतं भक्षाः' (१०३७) इति ज्ञापकात्।

प०वि०–समवाये ७।१।। च अ०।। **अनु०**–सुट्, कात्, पूर्वः, सम्परिभ्यां, करोतौ, भूषणे।

अर्थः–**'सम्'** और **'परि'** उपसर्ग से उत्तर **संघात** (समूह) अर्थ में विद्यमान **'कृ'** धातु के ककार से पूर्व **'सुट्'** आगम होता है।

संस्करोति	(सजाता है)
सम् करोति	'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे' से 'सजाना' अर्थ में 'सम्' उपसर्ग से

	उत्तर 'कृञ्' धातु को 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
सम् स् करोति	'समः सुटि' से 'सुट्' परे रहते 'सम्' के मकार को 'रु' आदेश हुआ
स रु स् करोति	'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' से जब 'रु' से पूर्व वर्ण को अनुनासिक आदेश नहीं हुआ तो 'अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः' से अनुस्वार आगम हुआ
सं रु स् करोति	अनुबन्ध-लोप, 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग आदेश हुआ
संः स् करोति	'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' (वा०) से विसर्ग को सकार होकर
संस्करोति	रूप सिद्ध होता है।

संस्कुर्वन्ति–इसी प्रकार समवाय अर्थ में भी 'सामवाये च' से 'सम्' से उत्तर 'कृ' को 'सुट्' आगम होकर 'संस्कुर्वन्ति' भी जानें।

६८३. उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु च ६।१।१३९

उपात्कृञः सुट् स्याद् एष्वर्थेषु, चात् प्रागुक्तयोरर्थयोः। प्रतियत्नो गुणाऽऽधानम्। विकृतमेव वैकृतम् विकारः। वाक्याऽध्याहार आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम्। उपस्कृता कन्या। उपस्कृता ब्राह्मणाः। एधो दकस्योपस्कुरुते। उपस्कृतं भुङ्क्ते। उपस्कृतं ब्रूते। वनु याचने ।७। वनुते। ववने। मनु अवबोधने ।९। मनुते। मेने। मनिता। मनिष्यते। मनुताम्। अमनुत। मन्वीत। मनिषीष्ट। अमनिष्ट, अमत। अमनिष्यत।?

॥ इति तनादयः॥

प०वि०–उपात् ५।१॥ प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु ७।३॥ च अ०॥

अनु०–सुट्, कात्, पूर्वः, करोतौ, भूषणे, समवाये।

अर्थ–'उप' से उत्तर **भूषण** (सजाना), **समवाय** (समूह या इकट्ठा होना), **प्रतियत्न** (गुणों को ग्रहण करना), **वैकृत** (विकार) और **वाक्याध्याहार** (अभीष्ट वाक्य के एकादेश को पूरा करना) अर्थों में विद्यमान **'कृ'** धातु के ककार से पूर्व 'सुट्' आगम होता है।

'वन्' (याचने-मांगना) और 'मन्' (अवबोधने-समझना, जानना) धातुओं से **वनुते, ववने, मनुते, मेने, मनिता, मनिष्यते, मनुताम्, अमनुत, मन्वीत** इत्यादि सभी की सिद्धि-प्रक्रिया 'तनुते', 'तेने', 'तनिता', 'तनिष्यते', 'तनुताम्' इत्यादि (६७३) के समान जानें।

ववने–'वन्', लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'न शशददवादिगुणानाम्' से एत्व और अभ्यास-लोप का निषेध होकर 'ववने' सिद्ध होता है।

॥ तनादिगण समाप्त॥

अथ क्र्यादिगण:

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये ।१।

६८४. क्र्यादिभ्यः श्ना ३।१।८१

शपोऽपवादः। क्रीणाति। 'ई हल्यघोः' (६१८) क्रीणीतः। श्नाऽभ्यस्तयोरातः (६१९)–क्रीणन्ति। क्रीणासि, क्रीणीथः, क्रीणीथ। क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः। क्रीणीते, क्रीणाते, क्रीणते। क्रीणीषे, क्रीणाथे, क्रीणीध्वे। क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे। चिक्राय। चिक्रियतुः। चिक्रियुः। चिक्रयिथ, चिक्रेथ। चिक्रिये। क्रेता। क्रेष्यति, क्रेष्यते। क्रीणातु, क्रीणीतात्। क्रीणीताम्। अक्रीणात्। अक्रीणीत। क्रीणीयात्, क्रीणीत। क्रीयात्, क्रेषीष्ट। अक्रैषीत्, अक्रेष्ट। अक्रेष्यत्, अक्रेष्यत। प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च। २। प्रीणाति, प्रीणीते। श्रीञ् पाके।३। श्रीणाति। श्रीणीते। मीञ् हिंसायाम्।४।

प०वि०–क्र्यादिभ्यः ५।३। श्ना १।१। **अनु०**–कर्त्तरि, सार्वधातुके।

अर्थ–कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते 'क्री' आदि धातुओं से उत्तर 'श्ना' प्रत्यय होता है।

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये–द्रव्यों का परिवर्तन करना

क्रीणाति

डुक्रीञ्	'आदिर्ञिटुडवः' से उपदेश में आदि 'डु' की 'इत्' संज्ञा, 'हलन्त्यम्' से ञकार की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से दोनों का लोप हुआ
क्री	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'क्र्यादिभ्यः श्ना' से कर्तावाची सार्वधातुक परे रहते धातु से उत्तर 'श्ना' प्रत्यय हुआ
क्री श्ना तिप्	अनुबन्ध–लोप, 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर
क्रीणाति	रूप सिद्ध होता है।

क्रीणीतः–'क्री', लट्, प्र०पु०, द्वि व० में 'तस्', 'क्र्यादिभ्यः श्ना' से 'श्ना' प्रत्यय, 'ई हल्यघोः' से हलादि ङित् (तस्) परे रहते 'श्ना' के आकार को ईकारादेश, 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'क्रीणीतः' रूप सिद्ध होता है।

क्रीणन्ति–'क्री', लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि. 'श्ना', 'झोऽन्तः' से 'झ्' को 'अन्त्' आदेश, 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' से ङित् सार्वधातुक परे रहते 'श्ना' प्रत्यय के आकार का लोप और 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर 'क्रीणन्ति' रूप सिद्ध होता है।

क्रीणासि–'क्री', लट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' आने पर सिद्धिप्रक्रिया 'क्रीणाति' के समान जानें।

क्रीणीथः, क्रीणीथ–'क्री', लट्, म० पु०, द्वि व० और बहु व० में क्रमशः में 'थस्' और 'थ' आने पर सिद्धि–प्रक्रिया 'क्रीणीतः' के समान जानें।

क्रीणामि–'क्री', लट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्', 'क्र्यादि०' से 'श्ना', सिद्धि–प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

क्रीणीवः, क्रीणीमः–'क्री', लट्, उ० पु०, द्वि व० और बहु व० में क्रमशः 'वस्', 'मस्', 'क्र्यादि०' से 'श्ना', 'ई हल्यघोः' से हलादि ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते 'श्ना' के आकार को ईकारादेश, 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

क्रीणीते

क्री	लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' और 'क्र्यादिभ्यः०' से 'श्ना' आया
क्री श्ना त	अनुबन्ध–लोप, 'ई हल्यघोः' से हलादि ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते आकार को ईकारादेश, 'टित आत्मने०' एत्व और 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर
क्रीणीते	रूप सिद्ध होता है।

क्रीणाते–'क्री', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'क्र्यादिभ्यः०' से 'श्ना', 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' से अजादि ङित् सार्वधातुक परे रहते 'श्ना' के आकार का लोप, 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व और 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग 'आम्' को एत्व होकर 'क्रीणाते' रूप सिद्ध होता है।

क्रीणते–'क्री', लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झ', 'आत्मनेपदेष्वनतः' से 'झ्' को 'अत्', पूर्ववत् 'श्ना', 'श्नाऽभ्यस्तयो०' से आकार का लोप, टिभाग को एत्व और णत्व होकर 'क्रीणते' रूप सिद्ध होता है।

क्रीणीषे–'क्री', लट्, म० पु०, एक व० में 'थास्', 'श्ना', 'थासः से' से 'से' आदेश, 'ई हल्यघोः' से हलादि ङित् सार्वधातुक परे रहते 'श्ना' के आकार को ईकारादेश और 'आदेशप्रत्य०' से षत्व होकर 'क्रीणीषे' रूप सिद्ध होता है।

क्रीणाथे–'क्री', लट्, म० पु०, द्वि व० में 'आथाम्' आने पर सिद्धि–प्रक्रिया 'क्रीणाते' के समान जानें।

क्रीणीध्वे–'क्री', लट्, म०पु०, बहु व० में 'ध्वम्', 'क्र्यादिभ्य०' से 'श्ना', 'ई हल्य०' से 'श्ना' के आकार को ईकारादेश, 'टित आत्मने०' से टिभाग को एत्व और 'अट्कुप्वाड्०' से णत्व होकर 'क्रीणीध्वे' रूप सिद्ध होता है।

क्रीणे–'क्री', लट्, उ०पु०, एक व० में 'इट्', 'क्र्यादि०' से 'श्ना', 'श्नाऽभ्यस्तयो०'

से अजादि ङित् सार्वधातुक पर रहते 'श्ना' के आकार का लोप, 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व और टिभाग को एत्व होकर 'क्रीणे' रूप सिद्ध होता है।

क्रीणीवहे, क्रीणीमहे–'क्री', लट्, उ० पु०, द्वि व० तथा बहु व० में 'वहि' और 'महिङ्', 'श्ना', 'ई हल्यघोः' से 'श्ना' के आकार को ईकारादेश, णत्व और 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'क्रीणीवहे' और 'क्रीणीमहे' रूप सिद्ध होते हैं।

चिक्राय

क्री — लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां णलतुस्०' से 'णल्' और 'लिटि धातो०' से 'क्री' को द्वित्व हुआ

क्री क्री अ — 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'ह्रस्वः' से अभ्यास के 'अच्' को ह्रस्व हुआ

कि क्री अ — 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में कवर्ग को चवर्गादेश हुआ

चि क्री अ — 'अचो ञ्णिति' से णित् परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि और 'एचोऽयवायावः' से 'ऐ' को 'आय्' आदेश होकर

चिक्राय — रूप सिद्ध होता है।

चिक्रियतुः–'क्री', लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'अतुस्', 'लिटि धातो०' से द्वित्व, अभ्यासादि कार्य, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'अतुस्' के कित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होने पर 'अचि श्नुधातु०' से इकार को इयङादेश, सकार को रुत्व और विसर्ग होकर 'चिक्रियतुः' रूप सिद्ध होता है।

चिक्रियुः–'क्री', लिट्, प्र० पु० बहु व० में 'झि' को 'परस्मैपदानां०' से 'उस्' होने पर सिद्धि- प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

चिक्रयिथ, चिक्रेथ–'क्री', लिट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'थल्', भारद्वाज नियम ('ऋतो भारद्वाजस्य') से विकल्प से 'थल्' को इडागम, द्वित्व, अभ्यास आदि कार्य पूर्ववत्, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण और 'एचोऽयवायावः' से 'अय्' आदेश होकर 'चिक्रयिथ' और इडभाव पक्ष में गुण होकर 'चिक्रेथ' रूप सिद्ध होते हैं।

चिक्रिये

क्री — लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्' आदेश, 'लिटि धातो०' से 'क्री' को द्वित्त्व, अभ्यासादि कार्य, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'ह्रस्वः' से अभ्यास में 'ई' को ह्रस्व हुआ

कि क्री ए — 'कुहोश्चुः' से 'क्' को 'च्' आदेश और 'अचि श्नुधातु०' से ईकार को इयङादेश होकर

चिक्रिये — रूप सिद्ध होता है।

क्रेता–'क्री', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा'

आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्करण सामर्थ्य से टिभाग का लोप और 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण होकर 'क्रेता' रूप सिद्ध होता है।

क्रेष्यति–'क्री' लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण और 'आदेशप्रत्य०' से षत्व होकर 'क्रेष्यति' रूप सिद्ध होता है।

क्रेष्यते–'क्री', लृट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्य', गुण और 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व पूर्ववत् जानें।

क्रीणातु–'क्री', लोट्, प्र० पु०, एक व० में लट् के समान ही 'क्रीणाति' रूप बनने पर 'एरुः' से लोट् सम्बन्धी इकार को उकारादेश होकर 'क्रीणातु' रूप सिद्ध होता है।

क्रीणीतात्–'क्री', 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद में लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'तु' को 'तुह्योस्तातङाशिष्य०' से 'तातङ्' आदेश और 'ई हल्यघोः' से हलादि ङित्प्रत्यय परे रहते 'श्ना' के आकार को ईकारादेश होकर 'क्रीणीतात्' रूप सिद्ध होता है।

क्रीणीताम्–'क्री', लोट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'तस्थस्थमिपां० से 'ताम्' आदेश, 'श्ना' तथा 'ई हल्यघोः' के आकार को ईकार आदेश होकर 'क्रीणीताम्' रूप सिद्ध होता है।

अक्रीणात्–'क्री', लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'क्र्यादिभ्यः०' से 'श्ना', 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व तथा अडागम होकर 'अक्रीणात्' रूप सिद्ध होता है।

अक्रीणीत–'क्री', लङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'क्र्यादिभ्यः०' से 'श्ना', 'ई हल्यघोः' से हलादि ङित्सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते 'श्ना' के आकार को ईकारादेश और 'अट्' आगम होकर 'अक्रीणीत' रूप सिद्ध होता है।

क्रीणीयात्

क्री	विधि लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'क्र्यादिभ्यः०' से 'श्ना' प्रत्यय आया
क्री श्ना तिप्	'यासुट् परस्मैपदेषू०' से ङित् 'यासुट्' और 'सुट् तिथोः' से सुडागम हुआ
क्री श्ना यासुट् सुट् तिप्	अनुबन्ध-लोप
क्री ना यास् स् त्	'लिङः सलोपो०' से सार्वधातुक लिङ् के अनन्त्य सकारों को लोप हुआ
क्री ना या त्	'ई हल्यघोः' से हलादि ङित् सार्वधातुक परे रहते 'श्ना' के आकार को ईकारादेश और 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर
क्रीणीयात्	रूप सिद्ध होता है।

क्रीणीत–'क्री', लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'श्ना', 'सीयुट्', 'सुट्', सकारों का लोप, 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' से अजादि ङित् परे रहते 'श्ना' के आकार का लोप आदि पूर्ववत् होकर 'क्रीणीत' रूप सिद्ध होता है।

क्रीयात्–'क्री', आ० लिङ्, प्र० पु०, एक में 'तिप्', 'यासुट्', 'सुट्' और 'स्कोः संयोगाद्योः०' से सकारों का लोप होकर 'क्रीयात्' रूप सिद्ध होता है।

क्रेषीष्ट–'क्री', आ० लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सीयुट्', 'सुट्', 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'क्रेषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अक्रैषीत्–'क्री', लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि', 'सिच्', 'अस्तिसिचो०' से ईडागम, 'सिचि वृद्धि०' से वृद्धि, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा अडागम होकर 'अक्रैषीत्' रूप सिद्ध होता है।

अक्रेष्ट–'क्री', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि', 'सिच्', गुण, 'षत्व', 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व तथा अडागम होकर 'अक्रेष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अक्रेष्यत्–'क्री', लृङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा अडागम होकर 'अक्रेष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

अक्रेष्यत–'क्री', लृङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' प्रत्यय आने पर शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

प्रीञ् (तर्पणे कान्तौ–तृप्त करना, तृप्त होना, चमकना) धातु से **प्रीणाति, प्रीणीते** और **श्रीञ्** (पाके–पकाना) धातु से **श्रीणाति, श्रीणीते** की सिद्धि-प्रक्रिया 'क्रीणाति' और 'क्रीणीते' के समान जानें।

६८५. हिनुमीना ८।४।१५

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य एतयोर्नस्य णः स्यात्। प्रमीणाति, प्रमीणीते। मीनातिमिनोति० (६३८) इत्यात्त्वम्। ममौ। मिम्यतुः। ममिथ, ममाथ। मिम्ये। माता। मास्यति। मीयात्। मासीष्ट। अमासीत्। अमासिष्याम्। अमास्त। षिञ् बन्धने।५। सिनाति, सिनीते। सिषाय। सिष्ये। सेता। स्कुञ् आप्लवने।६।

प०वि०–हिनुमीना (लुप्तषष्ठ्यन्त निर्देश)। **अनु०**–उपसर्गात्, रषाभ्याम्, नः, णः।

अर्थ–उपसर्गस्थ निमित्त (रेफ और षकार) से उत्तर 'हिनु' ('श्नु' प्रत्ययान्त 'ही' धातु) और 'मीना' ('श्ना' प्रत्ययान्त 'मी' धातु) के नकार को णकार आदेश होता है।

प्रमीणाति

प्र मी	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'क्र्यादिभ्यः०' से 'श्ना' आया, अनुबन्ध-लोप
प्र मी ना ति	'हिनुमीना' से उपसर्गस्थ णत्व के निमित्त रेफ से उत्तर 'मीना' के नकार को णकारोदश होकर
प्रमीणाति	रूप सिद्ध होता है।

प्रमीणीते–'प्र+मी', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर पूर्ववत् 'श्ना', 'ई हल्यघोः' से ईत्व और 'हिनुमीना' से णत्व होकर 'प्रमीणीते' रूप सिद्ध होता है।

ममौ

मी	'मीनातिमिनोति०' से शिद्भिन्न प्रत्यय परे रहते एच् करने के विषय में 'मी' धातु के ईकार को आकारादेश हुआ
मा	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्' अनुबन्ध-लोप
मा अ	'आत औ णलः' आकारान्त धातु से उत्तर 'णल्' को औकारादेश, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'मा' को द्वित्त्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा और 'ह्रस्वः' से आकार को ह्रस्व आदेश हुआ
म मा औ	'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश होकर
ममौ	रूप सिद्ध होता है।

मिम्यतुः–'मी', लिट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'परस्मैपदानां०' से 'अतुस्', 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व, 'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व करने पर 'मि+मी+अतुस्' इस स्थिति में 'एरनेकाचोऽसंयोग०' से यणादेश होकर 'मिम्यतुः' रूप सिद्ध होता है।

मिम्ये–लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्', 'लिटि धातोरन०' से द्वित्त्व, 'अभ्यास' संज्ञा, 'ह्रस्वः' से अभ्यास में ह्रस्वादेश और 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' से यणादेश होकर 'मिम्ये' रूप सिद्ध होता है।

'मी' धातु से एज्निमित्तक 'तास्' और 'स्य' आदि प्रत्यय का विषय बनने पर 'मीनातिमिनोति०' से ईकार को आकार आदेश होने पर 'मा' धातु से–**माता, मास्यति, मीयात्, मासीष्ट** इत्यादि की सिद्धि-प्रक्रिया **दाता, दास्यति, दासीष्ट** (६२२, ६२३) इत्यादि के समान जानें।

अमासीत्

मी	'लुङ्' लकार में सिच्' आने पर गुण होकर 'एच्' की प्राप्ति होगी ऐसा विषय बनने पर 'मीनातिमिनोति०' से 'मी' धातु के ईकार को आकार आदेश, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', 'अस्तिसिचो०' से ईडागम, अनुबन्ध-लोप
मा स् ई त्	'यमरमनमातां सक् च' से आकारान्त धातु को 'सक्' आगम तथा 'सिच्' को इडागम हुआ
मा सक् इट् स् ई त्	अनुबन्ध-लोप, 'इट ईटि' से सकार का लोप हुआ
मा स् इ ई त्	'अकः सवर्णे०' से दीर्घ तथा अडागम होकर
अमासीत्	रूप सिद्ध होता है।

अमासिष्टाम्–'मी', 'मीनातिमिनोति०' से ईकार को आकार आदेश, लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' आदेश, 'सिच्', 'यमरमनामातां०' से 'मा' धातु को 'सक्' आगम तथा 'सिच्' को इडागम, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व, 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व तथा अडागम होकर 'अमासिष्टाम्' रूप सिद्ध होता है।

अमास्त–'मी', 'मीनातिमिनोति०' से 'एच्' (गुण) के निमित्त 'सिच्' का विषय बनने पर 'मी' धातु के ईकार को आकार आदेश, लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' तथा अडागम होकर 'अमास्त' रूप सिद्ध होता है।

षिञ् (बन्धने-बांधना) धातु से **सिनाति, सिनीते, सिषाय, सिष्ये** और **सेता** की सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

६८६. स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु-स्कुञ्भ्यः श्नुश्च ३।१।८२

एभ्यः श्नुप्रत्ययः स्यात् चात् श्ना। स्कुनोति, स्कुनाति। स्कुनुते, स्कुनीते। चुस्काव, चुस्कुवे। स्कोता। अस्कौषीत्। अस्कोष्ट। स्तन्भ्वादयश्चत्वारः सौत्राः। सर्वे रोधनार्थाः परस्मैपदिनः।

प०वि०–स्तन्भुस्तुन्भुस्कन्भुस्कुन्भुस्कुञ्भ्यः ५।३।। श्नुः १।१।। च अ०।। **अनु०**–श्ना, कर्त्तरि, सार्वधातुके।

अर्थ–**स्तन्भु, स्तुन्भु, स्कन्भु, स्कुन्भु** तथा **स्कुञ्** धातुओं से उत्तर कर्त्रर्थक सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते **'श्नु'** प्रत्यय और **'श्ना'** प्रत्यय होते हैं।

स्कुनोति

स्कु	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्तुन्भुस्तुन्भु०' से कर्त्रर्थक सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते 'श्नु' प्रत्यय हुआ
स्कु श्नु तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण होकर
स्कुनोति	रूप सिद्ध होता है।

स्कुनाति–'स्कु' धातु से 'श्ना' पक्ष में सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

स्कुनुते, स्कुनीते–'स्कु' धातु से 'श्नु' पक्ष में लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'स्कुनुते' तथा 'श्ना' पक्ष में हलादि ङित् परे रहते 'ईहल्यघोः' से आकार को ईकारादेश होकर 'स्कुनीते' रूप सिद्ध होते हैं।

चुस्काव

स्कु	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को परस्मैपदानां० से 'णल्', अनुबन्ध-लोप और 'लिटि धातोरन०' से 'स्कु' को द्वित्व हुआ
स्कु स्कु अ	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'शर्पूर्वाः खयः' से अभ्यास में शर्पूर्वक 'खय्' प्रत्याहार 'क्' शेष रहने पर अन्य हलों का लोप हुआ
कु स्कु अ	'कुहोश्चुः' से अभ्यास में कवर्ग को चवर्गादेश हुआ

चु स्कु अ	'अचो ञ्णिति' से णित् पर रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि 'औ' और 'एचोऽयवायावः' से 'औ' को 'आव्' आदेश होकर
चुस्काव	रूप सिद्ध होता है।

चुस्कुवे–'स्कु', लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्', 'अचि श्नुधातु०' से अभ्यास से उत्तर धातु के उकार को 'उवङ्' आदेश तथा शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

स्कोता–'स्कु', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्करण सामर्थ्य से टिभाग का लोप और 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण होकर 'स्कोता' रूप सिद्ध होता है।

अस्कौषीत्–'स्कु', लुङ्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि–प्रक्रिया 'अकार्षीत्' (६८०) के समान जानें।

अस्कोष्ट–'स्कु', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सिच्', गुण, षत्व, ष्टुत्व और 'अट्' आगम आदि कार्य 'अक्रोष्ट' (६८४) के समान जानें।

६८७. हलः श्नः शानज्झौ ३।१।८३

हलः परस्य श्नः शानजादेशः स्याद् हौ परे। स्तभान।।

प०वि०–हलः ५।१।। श्नः ६।१।। शानच् १।१।। हौ ७।१।।

अर्थ–हल् (व्यञ्जन) से उत्तर **'श्ना'** के स्थान पर **'शानच्'** आदेश होता है 'हि' परे रहते।

स्तभान

स्तन्भ्	लोट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्', 'क्र्यादिभ्य०' से 'श्ना' और 'सेर्ह्यपिच्च' से 'सिप्' को अपित् 'हि' आदेश हुआ
स्तन्भ् श्ना हि	'अनिदितां हल०' से ङित् परे रहते अनिदित् हलन्त अङ्ग की उपधा नकार का लोप और 'हलः श्नः शानज्झौ' से 'हि' परे रहते हल् से उत्तर 'श्ना' के स्थान पर 'शानच्' आदेश हुआ
स्तभ् शानच् हि	अनुबन्ध–लोप, 'अतो हेः' से अदन्त अङ्ग से उत्तर 'हि' का लुक् होकर
स्तभान	रूप सिद्ध होता है।

६८८. जॄस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च ३।१।५८

च्लेरङ् वा स्यात्।

प०वि०–जॄस्तन्भु. . . .भ्यः ५।३। च अ०।। **अनु०**–च्लेः, अङ्, वा।

अर्थ–**जॄ** (जीर्ण होना), **स्तम्भु** (रोकना), **म्रुचु** (जाना), **म्लुचु** (जाना), **ग्रुचु** (चुराना), **ग्लुचु** (चुराना), **ग्लुञ्चु** (जाना) और **श्वि** (गति करना और बढ़ना)–इन धातुओं से उत्तर **'च्लि'** के स्थान पर विकल्प से **'अङ्'** आदेश होता है।

६८९. स्तम्भेः ८।३।६७

स्तम्भेः सौत्रस्य सस्य षः स्यात्। व्यष्टभत्। अस्तम्भीत्। युञ् बन्धने।७। युनाति, युनीते। योता। क्नूञ् शब्दे।८। क्नूनाति, क्नूनीते। क्नविता। द्रूञ् हिंसायाम्।९। द्रूणाति, द्रूणीते। दूञ् हिंसायाम्।१०। दूणाति, दूणीते। पूञ् पवने।।११।

प०वि०–स्तम्भे ६।१। **अनु०**–उपसर्गात्, सः, मूर्धन्यः।

अर्थ–उपसर्गस्थ षत्व के निमित्त 'इण्' से उत्तर सौत्र धातु 'स्तम्भ्' के सकार को षकार आदेश होता है।

व्यष्टभत्

वि स्तन्भ्	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि' और 'जृस्तन्भुम्रुचुम्लुचु०' से 'स्तम्भ्' धातु से उत्तर 'च्लि' के स्थान पर विकल्प से 'अङ्' आदेश हुआ
वि स्तन्भ् अङ् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'अनिदितां हल०' से उपधा के नकार का लोप, 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम, अनुबन्ध-लोप
वि अ स्तभ् अ त्	'इको यणचि' से यणादेश, 'स्तन्भेः' सूत्र से उपसर्गस्थ षत्व के निमित्त 'इण्' (इ) से उत्तर 'अट्' का व्यवधान होने पर भी 'स्तन्भ्' के सकार को षकार आदेश और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर
व्यष्टभत्	रूप सिद्ध होता है।

अस्तम्भीत्

अस्तम्भ् स् त्	उपसर्ग अभाव में लुङ्, प्र० पु०, एक व० में जब 'च्लि' को 'अङ्' आदेश नहीं हुआ तो 'च्लेः सिच्' से 'सिच्', 'अस्तिसिचो०' से ईडागम, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'इट ईटि' से सकार-लोप तथा 'अकः सवर्णे०' से सवर्ण दीर्घ करने पर
अस्तन्मीत्	रूप सिद्ध होता है।

युञ् (बन्धने-बांधना) धातु से **युनाति, युनीते, योता** की सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जाननी चाहिए।

क्नूञ् (शब्दे-शब्द करना) धातु से **क्नूनाति, क्नूनीते, क्नविता** तथा **द्रूञ्** (हिंसायाम्- हिंसा करना) धातु से **द्रूणाति, द्रूणीते** की सिद्धि-प्रक्रिया 'क्रीणाति' (६८४) आदि के समान जानें।

६९०. प्वादीनां ह्रस्वः ७।३।८०

पूञ्-लूञ्-स्तृञ्-कृञ्-वृञ्-धूञ्-शृ-पृ-वृ-भृ-मृ-दृ-जृ-झृ-धृ-नृ-कृ-ॠ-गृ-ज्या-री-ली-व्ली-प्लीनां चतुर्विंशतेः शिति ह्रस्वः। पुनाति। पुनीते। पविता। लूञ्

छेदने।१२। लुनाति, लुनीते। स्तृञ् आच्छादने।१३। स्तृणाति। शपूर्वाः खयः (६४८) तस्तार, तस्तरतुः। तस्तरे। स्तरीता, स्तरिता। स्तृणीयात्। स्तृणीत। स्तीर्यात्।

प०वि०–प्वादीनाम् ६।३।। ह्रस्वः १।१।। **अनु०**–शिति।

अर्थ–**पू** (पवने-पवित्र करना), **लू** (छेदने-करना), **स्तृ** (आच्छादने-ढकना), **कॄ** (हिंसयाम-हिंसा करना), **वॄ** (वरणे-स्वीकार करना), **धू** (कम्पने-कांपना), **शॄ** (हिंसायाम्-हिंसा करना), **पॄ** (पालनपूरणयोः-पालन, भरना), **वॄ** (वरणे-स्वीकारना), **भॄ** (भर्त्सने-झिड़कना), **मॄ** (हिंसायाम्-हिंसा करना), **दॄ** (विदारणे-फाड़ना), **जॄ** (वयोहानौ-जीर्ण होना), **झॄ** (वयोहानौ-जीर्ण होना), **धॄ** (वयोहानौ-जीर्ण होना), **नॄ** (नये-ले जाना), **कॄ** (हिंसायाम् हिंसा करना), **ॠ** (गतौ-गमन करना), **गॄ** (शब्दे-शब्द करना), **ज्या** (वयो हानौ जीर्ण होना), **री** (गतिरेषणयोः-जाना, शब्द करना), **ली** (श्लेषणे-मिलना), **व्ली** (वरणे-स्वीकार करना) और **प्ली** (गतौ-गमन करना) धातुओं के अन्त्य 'अच्' को ह्रस्व होता है, शित् परे रहते।

पुनाति	(पवित्र करता)
पू	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'क्र्यादिभ्यः०' से 'श्ना' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप
पू ना ति	'प्वादीनां ह्रस्वः' से शित् परे रहते 'पू' धातु के अन्तिम अच् 'ऊ' के स्थान में ह्रस्व 'उ' आदेश होकर
पुनाति	रूप सिद्ध होता है।

पुनीते–लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'श्ना,' पूर्ववत् 'प्वादीनां०' से शित् प्रत्यय परे रहते ह्रस्वादेश, 'ई हल्यघोः' से हलादि ङित् प्रत्यय परे रहते आकार को ईकारादेश तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर 'पुनीते' रूप सिद्ध होता है।

पविता–'पूञ्' धातु से लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', डित्करणसामर्थ्य से टिभाग का लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण और 'एचोऽयवायावः' से अवादेश होकर 'पविता' रूप सिद्ध होता है।

लूञ् (छदने-काटना) धातु से 'लुनाति', 'लुनीते' की सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

स्तृणाति–स्तृञ् (आच्छादने-ढंकना), लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्ना', शित् परे होने पर 'प्वादीनां ह्रस्वः' से 'ॠ' को ह्रस्वादेश और 'रषाभ्यां नो णः०' से णत्व होकर 'स्तृणाति' रूप सिद्ध होता है।

तस्तार, तस्तरतुः–'स्तृ', लिट्, प्र० पु०, एक व० और द्वि व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'तस्तार', 'तस्तरतुः' (६४८) के समान जानें।

तस्तरे–'स्तृ' धातु से लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' के स्थान में 'लिटस्तझयो०' से एश् आदेश विशेष जानें, शेष प्रक्रिया पूर्ववत्।

स्तरीता-स्तरिता—'स्तॄ' धातु से लुट्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'परीता', 'परिता' (६१५) के समान जानें।

स्तृणीयात्—'स्तॄ', वि० लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्ना', 'प्वादीनां०' से शित् परे रहते धातु को ह्रस्वादेश, 'यासुट्', 'सुट्', 'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप, 'यासुट्' के ङित् एवं हलादि होने से 'ई हल्यघोः' से 'श्ना' के आकार को ईकारादेश तथा णत्व होकर 'स्तृणीयात्' रूप सिद्ध होता है।

स्तृणीत—'स्तॄ', वि० लिङ्, आत्मनेपद , प्र० पु०, एक व० में 'त', 'श्ना', 'प्वादीनां०' से धातु के अन्त्य 'अच्' को ह्रस्व, 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट तिथोः' से सुडागम, 'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप, 'श्नाऽभ्यस्तयो०' से अजादि ङित् सार्वधातुक परे रहते 'श्ना' के आकार का लोप और 'रषाभ्यां०' से णत्व होकर 'स्तृणीत' रूप सिद्ध होता है।

स्तीर्यात्

स्तॄ	आ० लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट्', 'सुट्', अनुबन्ध-लोप
स्तॄ यास् स् त्	'स्कोः संयोगाद्यो०' से 'झल्' परे होने पर पदान्त में संयोग के आदि सकारों का लोप
स्तॄ या त्	'किदाशिषि' के अनुसार 'यासुट्' के कित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होने पर 'ॠत इद्धातोः' से ॠकार को ह्रस्व इकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
स्तिर् या त्	'हलि च' से 'हल्' परे रहते रेफान्त की उपधा को दीर्घ होकर
स्तीर्यात्	रूप सिद्ध होता है।

६९१. लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु ७।२।४२

वृङ्वृञ्भ्याम् ॠदन्ताच्च परयोर्लिङ्सिचोरिड् वा स्यात्तङि।

प०वि०—लिङ्सिचोः ६।२।। आत्मनेपदेषु ७।३।। **अनु०**—वृतः, इट्, वा।

अर्थ—'**वृङ्**' संभक्तौ-सेवा करना और '**वृञ्**' वरणे-स्वीकारना तथा ॠकारान्त धातुओं से उत्तर लिङ् और सिच् को विकल्प से '**इट्**' आगम होता है।

६९२. न लिङि ७।२।३९

वृत इटो लिङि न दीर्घः। स्तरिषीष्ट। 'उश्च' (५४४) इत्यनेन कित्त्वम्-स्तीर्षीष्ट। 'सिचि च परस्मैपदेषु' (६१६) अस्तारीत्, अस्तारिष्टाम्, अस्तारिषुः। अस्तरीष्ट-अस्तरिष्ट-अस्तीर्ष्ट। कॄञ् हिंसायाम् ।१४। कृणाति। कृणीते। चकार। चकरे। वृञ् वरणे।१५। वृणाति। वृणीते। ववार। ववरे। वरिता, वरीता। 'उदोष्ठ्य० (६११) इत्युत्त्वम्। वूर्यात्। वरीषीष्ट, वूर्षीष्ट। अवारीत्। अवारिष्टाम्। अवरिष्ट,

अवरीष्ट, अवूर्ष्ट। धूञ् विधूनने ।१६। धुनाति। धुनीते। धोता, धविता। अधावीत्। अधविष्ट, अधोष्ट। ग्रह उपादाने ।१७। गृह्णाति। गृह्णीते। जग्राह। जगृहे।

प०वि०–न अ०।। लिङि ७।१।। **अनु०**–वृतः, इट्, दीर्घः।

अर्थ–लिङ् परे रहते **वृङ्** संभक्तौ–सेवा करना, **वृञ्** वरणे–स्वीकार करना तथा **ॠ**दन्त (दीर्घ **ॠ**कारान्त) धातु से उत्तर 'इट्' को दीर्घ नहीं होता।

विषेश–यह सूत्र 'वृतो वा' से प्राप्त वैकल्पिक दीर्घ का अपवाद है।

स्तरिषीष्ट

स्तृ	'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', 'स्वरितञितः०' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
स्तृ त	'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्' तथा 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' आगम हुआ
स्तृ सीयुट् सुट् त	अनुबन्ध–लोप
स्तृ सीय् स् त	'लोपो व्योर्वलि' से यकार–लोप, 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' से आत्मनेपद में ॠकारान्त धातु से उत्तर 'लिङ्' को विकल्प से 'इट्' आगम हुआ
स्तृ इट् सी स् त	अनुबन्ध–लोप, 'वृतो वा' से दीर्घ ॠकारान्त से उत्तर 'इट्' को विकल्प से दीर्घ प्राप्त था, जिसका 'न लिङि' से लिङ् परे होने पर निषेध हो गया, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'ॠ' को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ॠ' के स्थान में 'अर्' हुआ
स्तर् इ सी स् त	'आदेशप्रत्यययोः' से दोनों सकारों को मूर्धन्य षकार आदेश हुआ
स्तरिषीष् त	'ष्टुना ष्टुः' से 'त्' को 'ट्' होकर
स्तरिषीष्ट	रूप सिद्ध होता है।

स्तीर्षीष्ट

स्तृ	आशिषि लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
स्तृ त	'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', अनुबन्ध–लोप और 'लोपो व्योर्वलि' से यकार–लोप हुआ
स्तृ सी स् त	जब 'लिङ्सिचोरात्मने०' से वैकल्पिक 'इट्' नहीं हुआ तब 'उश्च' से ॠकार से उत्तर झलादि 'लिङ्' कित् हुआ, अतः 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होने पर 'ॠत इद्धातोः' से 'ॠ' को ह्रस्व इकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
स्तिर् सी स् त	'हलि च' से रेफान्त की उपधा इकार को दीर्घ, 'आदेशप्रत्य०'

	से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व अर्थात् 'त्' को 'ट्' आदेश होकर
	रूप सिद्ध होता है।
स्तीर्षीष्ट	
अस्तारीत्	
स्तृ	लुङ्, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
स्तृ तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'च्लि लुङि' से 'लुङ्' परे रहते 'च्लि' हुआ
	'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश हुआ
स्तृ च्लि त्	
स्तृ सिच् त्	अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से 'इट्' आगम, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'अपृक्त' संज्ञक 'त्' को 'ईट्' आगम, अनुबन्ध-लोप
स्तृ इ स् ई त्	'वृतो वा' से दीर्घ ॠकारान्त धातु से उत्तर 'इट्' को विकल्प से दीर्घ प्राप्त था जिसका, 'सिचि च परस्मैपदेषु' से परस्मैपद परे होने पर दीर्घ ॠकार से उत्तर 'इट्' को दीर्घत्व का, निषेध हुआ, 'सिचि वृद्धिः०' से परस्मैपदपरक 'सिच्' परे रहते इगन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ॠ' को 'आर्' हुआ
स्तार् इ स् ई त्	'इट ईटि' से सकार-लोप हुआ
स्तार् इ ई त्	'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ एकादेश और 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से 'अट्' आगम होकर
अस्तारीत्	सिद्ध होता है।

अस्तारिष्टाम्–'स्तृ', लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' आदेश, 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'वृतो वा' से प्राप्त 'इट्' के दीर्घत्व का 'सिचि च परस्मैपदेषु' से निषेध, 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से 'ॠ' को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ॠ' के स्थान पर 'आर्' हुआ, 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य (ष्) आदेश, 'ष्टुना ष्टुः' से 'त्' को 'ट्' आदेश और 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से 'अट्' आगम होकर 'अस्तारिष्टाम्' सिद्ध होता है।

अस्तारिषुः–'स्तृ', लुङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', पूर्ववत् 'च्लि' को 'सिच्' आदेश होने पर 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से 'सिच्' से उत्तर 'झि' को 'जुस्' आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'सिचि वृद्धिः परस्मै०' से वृद्धि और 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य षकार, 'जुस्' के सकार को रुत्व, रेफ को विसर्ग और 'अट्' आगम होकर 'अस्तारिषुः' सिद्ध होता है।

अस्तरीष्ट--'स्तृ', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सिच्',

'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' से आत्मनेपद परे रहते ॠकारान्त धातु से उत्तर 'सिच्' को विकल्प से 'इट्' आगम, 'वृतो वा' से 'इट्' को विकल्प से दीर्घ, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ॠ' को 'अर्', 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व, 'ष्टुना ष्टुः' से 'त्' को 'ट्' और 'अट्' आगम होकर 'अस्तरीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अस्तरिष्ट—जब 'वृतो वा' से 'इट्' को दीर्घ नहीं होगा तब उक्त रूप सिद्ध होगा।

अस्तीर्ष्ट—'स्तृ', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सिच्', 'लिङ्सिचोरात्मने०' से वैकल्पिक 'इट्' के अभाव पक्ष में 'उश्च' से ऋकार से उत्तर झलादि 'सिच्' के कित् होने पर 'क्ङिति च' से गुण का निषेध, 'ॠत इद्धातोः' से 'ॠ' को ह्रस्व इकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ, 'हलि च' से उपधा को दीर्घ, षत्व, ष्टुत्व और 'अट्' आगम होकर 'अस्तीर्ष्ट' सिद्ध होता है।

कॄञ्—हिंसायाम् धातु ञित् होने से उभयपदी है और प्वादि के अन्तर्गत आती है।

कृणाति—'कॄ', लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'क्र्यादिभ्यः श्ना' से 'श्ना', 'प्वादीनां ह्रस्वः', से शित् परे रहते 'ॠ' को ह्रस्व और 'ऋवर्णान्नस्य णत्वम्०' से णत्व होकर 'कृणाति' रूप सिद्ध होता है।

कृणीते—'कॄ', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'क्र्यादिभ्यः०' से 'श्ना', 'सार्वधातुकमपित्' से 'त' के ङित् होने से 'ई हल्यघोः' से 'श्ना' के आकार को ईकार आदेश, 'ऋवर्णान्नस्य णत्वम्०' से णत्व और 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'कृणीते' रूप सिद्ध होता है।

चकार—'कॄ', लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां णलतुस्०' से 'तिप्' को 'णल्', 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि प्राप्त हुई, जिसका 'द्विर्वचनेऽचि' से द्विर्वचन के विषय में निषेध होने पर 'लिटि धातोरन०' से 'कॄ' को द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'ह्रस्वः' से 'ॠ' को ह्रस्व, 'उरत्' से अभ्यास में ऋकार को ह्रस्व अकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'कुहोश्चुः' से 'क्' को 'च्' आदेश, 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि और 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'चकार' रूप सिद्ध होता है।

चकरे—'कॄ', लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'त' को 'एश्' आदेश, पूर्ववत् द्वित्व तथा अन्य अभ्यास-कार्य होने पर 'च कॄ+ए' यहाँ 'ऋच्छत्यृताम्' से 'लिट्' परे रहते 'ॠ' को गुण और 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'चकरे' रूप सिद्ध होता है।

वॄञ्—वरणे धातु भी उभयपदी है और प्वादि के अन्तर्गत आती है।

वृणाति, वृणीते, ववार और **ववरे** की सिद्धि-प्रक्रिया क्रमशः 'कृणाति', 'कृणीते', 'चकार' और 'चकरे' के समान जानें।

वरीता, वरिता—'वॄ', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः'

से 'तिप्' को 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'वृतो वा' से 'इट्' को विकल्प से दीर्घ, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपर:' से रपर हुआ, डित्करण सामर्थ्य से टि भाग (आस्) का लोप होकर 'वरीता' और 'इट्' को दीर्घ-अभाव पक्ष में 'वरिता' सिद्ध होते हैं।

वूर्यात्–'वृ', आशिषि लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'यासुट्', 'सुट्', 'स्को: संयोगाद्यो०' से दोनों सकारों का लोप, 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से ओष्ठ्य वर्ण पूर्व वाले 'ॠ' को ह्रस्व उकार आदेश, 'उरण् रपर:' से रपर होने पर 'हलि च' से रेफान्त की उपधा को दीर्घ होकर 'वूर्यात्' सिद्ध होता है।

वरिषीष्ट, वूर्षीष्ट, अवारीत्, अवारिष्टाम्, अवरीष्ट, अवरिष्ट और अवूर्ष्ट की सिद्धि-प्रक्रिया क्रमश: 'स्तरिषीष्ट,' 'स्तरीषीष्ट', 'अस्तारीत्', 'अस्तारिष्टाम्', 'अस्तरीष्ट', 'अस्तरिष्ट' और 'अस्तीर्ष्ट' के समान जाने।

विशेष–जहाँ 'वृ' धातु के रूपों में ऊकार दिखाई देता है वहाँ सर्वत्र 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से ओष्ठ्यवर्ण पूर्व में होने से ॠकार को ह्रस्व उकार आदेश हो जाता है।

'धूञ्–कम्पने' धातु भी उभयपदी है। प्वादि में पठित होने से 'श्ना' परे रहते इसे भी ह्रस्व हो जाता है। 'धूञ्' धातु से उत्तर आर्धधातुक प्रत्ययों को 'स्वरतिसूति०' से विकल्प से 'इट्' आगम होता है।

धुनाति, धुनीते और **धविता** की सिद्धि-प्रक्रिया 'पुनाति', 'पुनीते' और पविता (६९०) के समान जानें।

धोता–'धू', लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लुट: प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', स्वरतिसूति०' से प्राप्त वैकल्पिक 'इट्' का अभाव होने पर डित्करण सामर्थ्य से 'टि' भाग का लोप और 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण होकर 'धोता' रूप सिद्ध होता है।

अधावीत्, अधविष्ट और **अधोष्ट** की सिद्धि-प्रक्रिया स्वादि-गण में पठित 'धूञ्' धातु (६५०) के रूपों के समान जानें।

ग्रह–उपादाने-ग्रहण करना धातु स्वरितेत् होने से उभयपदी है।

गृह्णाति

ग्रह्	लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'क्र्यादिभ्य: श्ना' से 'श्ना' आया
ग्रह् श्ना तिप्	अनुबन्ध-लोप
ग्रह् ना ति	'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' से 'श्ना' की 'सार्वधातुक' संज्ञा होने से 'सार्वधातुकमपित्' से वह ङित्वत् भी होता है, 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से ङित् परे रहते 'ग्रह्' को सम्प्रसारण 'र्' के स्थान पर 'ऋ' आदेश हुआ

ग् ऋ अ ह् ना ति	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण 'ऋ' से 'अच्' (अ) परे रहते 'अच्' को पूर्वरूप एकादेश हुआ
गृह् ना ति	'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा०) से 'न्' को 'ण्' होकर
गृह्णाति	रूप सिद्ध होता है।

गृह्णीते—'ग्रह्', लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'क्र्यादिभ्य:०' से 'श्ना', 'ग्रहिज्यावयि०' से सम्प्रसारण होकर 'र्' को 'ऋ' आदेश, 'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप एकादेश, णत्व और 'टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग को एत्व होकर 'गृह्णीते' रूप सिद्ध होता है।

जग्राह

ग्रह्	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
ग्रह् तिप्	'परस्मैपदानां णलतुस्०' से 'तिप्' को 'णल्' आदेश हुआ
ग्रह् णल्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातोरन०' से 'ग्रह्' को द्वित्व हुआ
ग्रह् ग्रह् अ	'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' से लिट् परे रहते 'ग्रह्' के अभ्यास को सम्प्रसारण 'र्' को 'ऋ' आदेश हुआ
गृ अ ह् ग्रह् अ	'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप एकादेश हुआ
गृ ह् ग्रह् अ	'उरत्' से अभ्यास में 'ऋ' को 'अ' आदेश, 'उरण् रपर:' से रपर हुआ
गर् ह् ग्रह् अ	'हलादि: शेष:' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
ग ग्रह् अ	'कुहोश्चु:' से अभ्यास में गकार को जकार आदेश और 'अत उपधाया:' से णित् प्रत्यय परे रहते उपधावृद्धि होकर
जग्राह	रूप सिद्ध होता है।

जगृहे

ग्रह्	लिट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
ग्रह् त	'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'त' को 'एश्' आदेश हुआ
ग्रह् एश्	अनुबन्ध-लोप, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से असंयोगान्त धातु 'ग्रह्' से उत्तर अपित् लिट् के कित् होने से 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से कित् परे रहते 'ग्रह्' को सम्प्रसारण 'र्' को 'ऋ' हुआ
ग् ऋ अ ह् ए	'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप एकादेश हुआ
गृह् ए	'लिटि धातो०' से 'लिट्' परे रहते 'गृह्' को द्वित्व हुआ
गृह् गृह् ए	'उरत्' से अभ्यास में 'ऋ' को ह्रस्व अकार आदेश, 'उरण् रपर:' से रपर होने पर 'हलादि: शेष:' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
ग गृ ह् ए	'कुहोश्चु:' से अभ्यास में चुत्व अर्थात् 'ग्' को 'ज्' होकर
जगृहे	रूप सिद्ध होता है।

६९३. ग्रहोऽलिटि दीर्घः ७।२।३७

एकाचो ग्रहेर्विहितस्य इटो दीर्घः, न तु लिटि। ग्रहीता। गृह्णातु। हलः श्नः शानज्झौ (६८७) गृहाण। गृह्यात्। ग्रहीषीष्ट। ह्म्यन्त०, (४६६) इति न वृद्धिः-अग्रहीत्। अग्रहीष्टाम्। अग्रहीष्ट। अग्रहीषाताम्। कुष निष्कर्षे।१८। कुष्णाति। कोषिता। अश भोजने॥१९॥ अश्नाति। आश। अशिता। अशिष्यति। अश्नातु। अशान। मुष स्तेये॥२०॥ मुष्णाति। मोषिता। मुषाण। ज्ञा अवबोधने।२१। जज्ञौ। वृङ् संभक्तौ।२२। वृणीते। ववृषे। ववृढ्वे। वरिता, वरीता, अवरीष्ट, अवरिष्ट, अवृत।

॥ इति क्र्यादिर्गणः॥

प०वि०–ग्रहः ५।१॥ अलिटि ७।१॥ दीर्घः १।१॥ **अनु०**–इट्, एकाचः।

अर्थ–एकाच् 'ग्रह्' (उपादाने-ग्रहण करना) धातु से उत्तर विधान किये गये 'इट्' को दीर्घ होता है, लिट् को छोड़कर।

ग्रहीता

ग्रह् — लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा' आदेश हुआ

ग्रह् डा — 'स्यतासी०' से 'तास्' तथा 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'तास्' को इडागम हुआ

ग्रह् इट् तास् डा — अनुबन्ध-लोप, डित्करण सामर्थ्य से टिभाग (आस्) का लोप तथा 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' से एकाच् 'ग्रह्' धातु से उत्तर 'इट्' को दीर्घ होकर

ग्रहीता — रूप सिद्ध होता है।

गृह्णातु–'ग्रह्', लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'श्ना' आदि होकर लट् के समान ही 'गृह्णाति' रूप बनने पर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होकर 'गृह्णातु' रूप सिद्ध होता-है।

गृहाण–'ग्रह्', लोट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' को 'सेर्ह्यपिच्च' से अपित् 'हि' आदेश तथा 'हलः श्नः शानज्झौ' से 'हि' परे रहते हलन्त से उत्तर 'श्ना' के स्थान पर 'शानच्' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप, 'अतो हेः' से अदन्त से उत्तर 'हि' का लुक्, 'ग्रहिज्यावयि०' से सम्प्रसारण 'र्' को 'ऋ', 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप एकादेश और 'ऋवर्णान्नस्य०' से णत्व होकर 'गृहाण' रूप सिद्ध होता है।

गृह्यात्–'ग्रह्' धातु से 'आशिषि लिङ्लोटौ' से लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'यासुट्', 'सुट्', 'स्कोः संयोगाद्यो०' से सकारों का लोप, 'यासुट्' के कित् होने से 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से सम्प्रसारण और 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप होकर 'गृह्यात्' रूप सिद्ध होता है।

ग्रहीषीष्ट

ग्रह् — आशीर्लिङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सीयुट्' और 'सुट्' आगम होने पर

	'लिङाशिषि' से आशिषि लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होने से
ग्रह सीयुट सुट् त	'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, अनुबन्ध-लोप
	'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' से इकार
ग्रह् इ सीय् स् त	'ग्रह्' धातु से उत्तर लिट्-भिन्न 'इट्' को दीर्घ हुआ
	'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर
ग्रही सीस् त	रूप सिद्ध होता है।
ग्रहीषीष्ट	
अग्रहीत्	
ग्रह	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' ,'च्लि', 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
ग्रह स् त्	'अस्तिसिचोऽपृक्ते०' से ईट् तथा 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'वदव्रजहलन्तस्याचः' से प्राप्त वृद्धि का 'नेटि' से निषेध होने पर 'अतो हलादेर्लघोः' से विकल्प से वृद्धि प्राप्त हुई, जिसका 'ह्म्यन्तक्षण०' से निषेध हुआ
ग्रह इ स् ई त्	'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' से 'ग्रह्' से उत्तर लिट्-भिन्न 'इट्' को दीर्घ हुआ
ग्रह ई स् ई त्	'इट ईटि' से 'इट्' से उत्तर सकार का लोप हुआ 'ईट्' परे रहते, यद्यपि पूर्व में 'इट्' को दीर्घ होने पर 'ईट्' हो चुका है, तथापि 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' से वह 'इट्' ही माना जाता है अन्य नहीं। अतः सकार का लोप हो गया
ग्रह् ई ई त्	'अकः सवर्णे०' से दीर्घ तथा 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अग्रहीत्	रूप सिद्ध होता है।

अग्रहीष्टाम्–'ग्रह्', लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' को 'ताम्' आदेश, 'सिच्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'ग्रहोऽलिटि०' से इट् को दीर्घ, 'ह्म्यन्तक्षण०' से वृद्धि का निषेध, षत्व, ष्टुत्व तथा अडागम होकर 'अग्रहीष्टाम्' रूप सिद्ध होता है।

अग्रहीष्ट–'ग्रह्', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सिच्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'ग्रहोऽलिटि०' से 'इट्' को दीर्घ, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व, ष्टुत्व तथा अडागम होकर 'अग्रहीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अग्रहीषाताम्–'ग्रह्', लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्' और 'सिच्' आने पर सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

कुष् (निष्कर्षे-बाहर निकालना) धातु से **कुष्णाति, कोषिता** की सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

अश् (भोजने-भोजन करना) धातु से **अश्नाति, आश, अशिता, अशिष्यति,**

अश्नातु और **अशान** की सिद्धि-प्रक्रिया **मीनाति** (६८५) इत्यादि के समान पूर्ववत् जानें।

आश–'अश्', लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'णल्', 'लिटि धातो०' से अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को द्वित्व प्राप्त हुआ, जो द्वितीय एकाच् न मिलने से व्यपदेशिवद्भाव से 'अश्' को ही द्वित्व हुआ, अभ्यास-कार्य, 'अत आदेः' से अभ्यास के आदि अकार को दीर्घ तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ करने पर 'आश' रूप सिद्ध होता है।

मुष् (स्तेये-चुराना) धातु से **मुषाण** की सिद्धि-प्रक्रिया 'गृहाण' के समान जानें।

जज्ञौ

ज्ञा	लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' को 'परस्मैपदानां०' से 'णल्', 'आत औ णलः' से आकारान्त धातु से उत्तर 'णल्' को 'औ' आदेश हुआ
ज्ञा औ	'लिटि धातो०' से 'ज्ञा' को द्वित्व, अभ्यास कार्य, 'ह्रस्वः' से अभ्यास में ह्रस्वादेश और 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
ज ज्ञा औ	'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' परे रहते वृद्धि एकादेश होकर
जज्ञौ	रूप सिद्ध होता है।

वृणीते–'वृङ्' (संभक्तौ-पूजा करना, सेवा करना) धातु से लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'श्ना', 'ई हल्यघोः' से हलादि ङित् परे रहते 'श्ना' के आकार को ईकारादेश और 'ऋवर्णान्नस्य णत्वम्०' से णत्व होकर 'वृणीते' रूप सिद्ध होता है।

ववृषे–'वृ', लिट्, म० पु०, एक व० में 'थास्' को 'थासः से' सूत्र से 'से' आदेश, 'लिटि धातो०' से 'वृ' को द्वित्व, 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' से अभ्यास में ऋवर्ण को अकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'ववृषे' रूप सिद्ध होता है।

ववृढ्वे–'वृ', लिट्, आत्मनेपद, म०पु०, बहु व० में 'ध्वम्', पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यास कार्य, 'इणः षीध्वंलुङ्लिटां०' से इणन्त से उत्तर लिट् के 'ध्वम्' के आदि वर्ण 'ध्' को मूर्धन्यादेश और टिभाग को एत्व होकर 'ववृढ्वे' रूप सिद्ध होता है।

वरिता-वरीता–'वृ', लुट्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया **परिता** और **परीता** (६१६) के समान जानें।

॥ **क्र्यादिगण समाप्त**॥

अथ चुरादिर्गणः

चुर स्तेये ।१।

६९४. सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्ण चुरादिभ्यो णिच् ३।१।२५

एभ्यो णिच् स्यात्। चूर्णान्तेभ्यः 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे०' (गणसूत्रम्) इत्येव सिद्धे तेषामिह ग्रहणं प्रपञ्चार्थम्। चुरादिभ्यस्तु स्वार्थे। 'पुगन्त०' (४५१) इति गुणः, 'सनाद्यन्ताः०' (४६८) इति धातुत्वम्। तिप्-शबादि, गुणायादेशौ-चोरयति।

प०वि०—सत्यापपाश. . . . चुरादिभ्यः ५।३।। णिच् १।१।। **अनु०**—प्रत्ययः, परश्च, धातोः।

अर्थ—सत्याप, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोमन्, त्वच, वर्मन्, वर्ण और **चूर्ण** प्रातिपदिकों से और चुरादिगण में पठित धातुओं से **'णिच्'** प्रत्यय होता है।

'सत्याप' से लेकर 'चूर्ण' पर्यन्त प्रातिपादिकों से 'णिच्' प्रत्यय का विधान (तत्करोति तदाचष्टे) इत्यादि अर्थों में किया गया है। यद्यपि सिद्धान्तकौमुदीकार इत्यादि का मानना है कि **'प्रातिपःदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवत्'** (ग०सू० २०३) इस गणसूत्र से सिद्ध ही है पुनः सूत्र में इन शब्दों का ग्रहण प्रपञ्च के लिए मानना चाहिए। चुरादियों से 'णिच्' प्रत्यय का विधान किसी विशेष अर्थ में नहीं किया गया है, अतः किसी अर्थान्तर का निर्देश न होने से 'णिच्' प्रत्यय **स्वार्थ** अर्थात् **धातु के अर्थ** में ही होता है।

सूत्र की व्याख्या में 'पुगन्तलघू०' से गुण के विधान का संकेत करके यह सूचित करना चाहते हैं कि प्रस्तुत सूत्र में भी धातु की अनुवृत्ति आ रही है अतः धातु के अधिकार में विहित होने से 'आर्धधातुक' संज्ञक 'णिच्' परे रहते लघूपधगुण इत्यादि हो ही जायेंगे।

'सन्' आदि प्रत्ययों के अन्तर्गत 'णिच्' प्रत्यय के परिगणित होने से 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा होगी और धातु से उत्पन्न 'लट्' आदि के स्थान में तिबाद्युत्पत्ति, शप्, गुण और 'आय्' आदेश होकर 'चोरयति' रूप सिद्ध होता है, जिसकी सिद्धि-प्रक्रिया इस प्रकार है—

चोरयति

चुर

'उपदेशेऽज०' से अकार की इत्संज्ञा, 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञक अकार का लोप हुआ, 'भूवादयो धातवः' से 'चुर्' की धातु 'संज्ञा' हुई

चुर्	'सत्यापपाशरूपवीणा०' से 'चुर्' धातु से स्वार्थ में 'णिच्' प्रत्यय हुआ
चुर् णिच्	अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकं शेषः' से 'णिच्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा और 'पुगन्तलघू०' से 'णिच्' परे रहते लघूपध अङ्ग के 'इक्' को गुण हुआ
चोर् इ	'सनाद्यन्ता धातवः' से णिजन्त (चोरि) की धातु संज्ञा होने से 'वर्तमाने लट्' से 'लट्' आया
चोरि लट्	अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्'
चोरि तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'कर्त्तरि शप्' से कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते धातु से 'शप्' हुआ
चोरि शप् ति	अनुबन्ध-लोप, 'शप्' परे रहते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से इकार को गुण हुआ
चोर् ए अ ति	'एचोऽयवायावः' से 'अच्' परे रहते एच् 'ए' को 'अय्' आदेश होकर
चोरयति	रूप सिद्ध होता है।

६९५. णिचश्च १।३।७४

णिजन्तादात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले। चोरयते। चोरयामास। चोरयिता। चोर्यात्। चोरयिषीष्ट। 'णिश्रि०' (५२८) इति चङ्। 'णौ चङि०' (५३०) इति ह्रस्वः। 'चङि' (५३१) इति द्वित्वम्। 'हलादिः' शेषः (३९६) 'दीर्घो लघोः' (५३४) इत्यभ्यासस्य दीर्घः। अचूचुरत्, अचूचुरत। कथ वाक्यप्रबन्धे।२। अल्लोपः।

प०वि०–णिचः ५।१।। च अ०।। **अनु०**–आत्मनेपदम्, कर्त्रभिप्राये, क्रियाफले।

अर्थ–क्रिया का फल कर्त्तृगामी होने पर णिजन्त धातु से 'आत्मनेपद' संज्ञक प्रत्यय होते हैं।

आत्मनेपद होने पर णिजन्त 'चुर्' धातु के 'चोरि' बनने पर जब क्रिया का फल कर्त्ता को मिलेगा तो धातु से 'आत्मनेपद' के प्रत्यय होने पर लट्, लिट्, और लुट्, में क्रमशः चारयते, **चोरयामास** और **चोरयिता** रूप सिद्ध होते हैं। आशिषि लिङ् में **चोर्यात्** और **चोरयिषीष्ट** तथा लुङ् लकार में 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ्' से 'चङ्', 'णौ चङि०' से चङ्परक 'णि' परे रहते उपधा को ह्रस्व, 'चङि' से द्वित्व तथा 'दीर्घो लघोः' से अभ्यास में लघु 'अच्' को दीर्घ होकर परस्मैपद तथा आत्मनेपद में **अचूचुरत्** और **अचूचुरत** रूप सिद्ध होते हैं।

चोरयते–'चुर्' धातु से 'णिच्', पूर्ववत् 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'लट्' के स्थान में तिबाद्युत्पत्ति होकर क्रिया का फल कर्तृगामी होने पर 'णिचश्च' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'कर्तरि शप्' से 'शप्', 'सार्वधातुकार्धधातु०' से इकार को गुण,

'एचोऽयवा०' से 'ए' को 'अय्' आदेश और 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर सिद्धि-प्रक्रिया 'चोरयति' के समान जानें।

चोरयामास

चुर्	पूर्ववत् णिजन्त 'चोरि' धातु बनने पर 'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' आया
चोरि लिट्	'कास्यनेकाचो आम् वक्तव्यो लिटि' (वा०) से अनेकाच् धातु से लिट् परे रहते 'आम्' हुआ
चोरि आम् लिट्	'अयामन्ताल्वा०' से 'आम्' परे रहते 'णि' (इकार) को अयादेश तथा 'आमः' से 'लिट्' का लुक् हुआ
चोरय् आम्	'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' से लिट् परक 'अस्' का अनुप्रयोग
चोरय् आम् अस् लिट्	तिबाद्युत्पत्ति से 'लिट्' के स्थान में 'तिप्' और 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' हुआ
चोरय् आम् अस् णल्	अनुबन्ध-लोप, 'लिटि धातोः०' से 'अस्' को द्वित्त्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा और 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
चोरयाम् अ अस् अ	'अत आदेः' से अभ्यास के आदि अकार को दीर्घ हुआ
चोरयाम् आ अस् अ	'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश होने पर
चोरयामास	रूप सिद्ध होता है।

चोरयिता—णिजन्त 'चोरि' धातु से लुट्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'भविता' के समान जानें।

चोर्यात्—णिजन्त 'चोरि' की 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'आशिषि लिङ्लोटौ' से 'लिङ्', तिबाद्युत्पत्ति से 'तिप्', 'यासुट्', 'लिङाशिषि' से 'लिङ्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा करने पर 'णेरनिटि' से इकार का लोप, 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' आगम और 'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोगादि सकारों का लोप होकर 'चोर्यात्' रूप सिद्ध होता है।

चोरयिषीष्ट

चुर्	'भूवादयो०' से 'चुर्' की 'धातु' संज्ञा, 'सत्यापपाश०' से स्वार्थ में 'णिच्' होकर 'चोरि' बनने पर 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा, पूर्ववत् 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्' आया
चोरि लिङ्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, 'णिचश्च' से आत्मनेपद होकर प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
चोरि त	'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्' और 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' आगम, अनुबन्ध-लोप

चोरि सीय् स् त	'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'सार्वधातुकार्ध०' से 'चोरि' के इकार को गुण और 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप हुआ
चोरे इ सी स् त	'एचोऽयवा०' से 'ए' को अयादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर
चोरयिषीष्ट	रूप सिद्ध होता है।
अचूचुरत्	
चुर्	णिजन्त 'चोरि' बनने पर 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा होकर लुङ्, परस्मैपद, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
चोरि तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप और 'च्लि लुङि' से 'च्लि' प्रत्यय हुआ
चोरि च्लि त्	'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः०' से णिजन्त से उत्तर 'च्लि' को 'चङ्' आदेश हुआ
चोरि चङ् त्	अनुबन्ध-लोप, 'णेरनिटि' से अनिडादि आर्धधातुक 'चङ्' परे रहते 'णि' का लोप तथा 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' से चङ्परक 'णि' परे रहते उपधा को ह्रस्व[1] 'उ' हुआ
चुर् अ त्	'चङि' से 'चङ्' परे रहते 'चुर्' को द्वित्त्व हुआ, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
चु चुर् अ त्	'दीर्घो लघोः' से चङ्परक 'णि' परे रहते जो अङ्ग, उसका जो लघुपरक अभ्यास, उसको दीर्घ होता है अतः अभ्यास के उकार को दीर्घ ऊकारादेश तथा 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अचूचुरत्	रूप सिद्ध होता है।

अचूचुरत–णिजन्त 'चोरि' धातु से 'णिचश्च' से आत्मनेपद होने पर लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त' आकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

कथ (वाक्यप्रबन्धे–बोलना, कहना) धातु अकारान्त होने से 'अतो लोपः' से आर्धधातुक परे रहते अकार का लोप होता है।

६९६. अचः परस्मिन्पूर्वविधौ १।१।५६

परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत् स्यात् स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्त्तव्ये। इति स्थानिवत्त्वान्नोपधावृद्धिः–कथयति। अग्लोपित्वाद् दीर्घसन्वद्भावौ न–अचकथत्।। गण संख्याने।३। गणयति।

---

१. 'एच इग्घ्रस्वादेशे' से 'एच्' के स्थान में ह्रस्वादेश 'इक्' (इ,उ,ऋ,लृ) होते हैं।

प० वि० अचः ६।१।। परस्मिन् ७।१।। पूर्वविधौ ७।१।। अनु०–आदेशः, स्थानिवत्।

अर्थ–पर को निमित्त मानकर 'अच्' के स्थान पर हुआ आदेश स्थानिवत् होता है, पूर्वविधि के विषय में। अर्थात् यदि वह विधि या कार्य स्थानीरूप 'अच्' से पूर्व में विद्यमान के स्थान में किया जा रहा हो तो। यथा–

कथयति

कथ	पूर्ववत् 'सत्यापपाशरूपवीणा०' से स्वार्थ में 'णिच्', अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकं शेषः' से 'णिच्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने से 'अतो लोपः' से णिच् परे रहते 'कथ' के अकार का लोप हुआ
कथ् इ	यहाँ 'अत उपधायाः' से वृद्धि प्राप्त थी, परन्तु 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से णिच् को निमित्त मानकर किया गया अकार-लोप पूर्व-विधि (वृद्धि) के विषय में स्थानिवत् हो जाने से उपधा में अकार नहीं मिलता, अतः वृद्धि भी नहीं होती। 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'वर्तमाने लट्' से लट् तथा तिबाद्युत्पत्ति होकर प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
कथि तिप्	'कर्त्तरि शप्' से कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते 'शप्' हुआ
कथि शप् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से 'शप्' परे रहते इकार को गुण 'ए' और 'एचोऽयवा०' से 'ए' को अयादेश होकर
कथयति	रूप सिद्ध होता है।

अचकथत्

कथ	पूर्ववत् णिजन्त धातु 'कथि' बनने पर 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप तथा 'इतश्च' से इकार लोप हुआ
कथि त्	'च्लि लुङि' से 'च्लि' तथा 'णिश्रिद्रुस्रु०' से 'च्लि' के स्थान में 'चङ्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
कथि अ त्	'णेरनिटि' से अनिडादि आर्धधातुक 'चङ्' परे रहते 'णि' का लोप हुआ
कथ् अ त्	'चङि' से 'चङ्' परे रहते 'कथ्' को द्वित्त्व हुआ
क थ् कथ् अ त्	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में 'क्' को 'च्' आदेश हुआ
च कथ् अ त्	'अतो लोपः' से किया गया अकार-लोप अग्लोप है इसलिए 'सन्वल्लघुनिचङ्परेऽनग्लोपे' से अभ्यास को सन्वद्भाव नहीं

हुआ तथा सन्वद्भाव के अभाव में 'सन्यतः' से अभ्यास में इकारादेश भी नहीं होता। 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर रूप सिद्ध होता है।

अचकथत्

गणयति–'गण' (संख्याने–गिनना) धातु भी अदन्त है अतः अकार–लोप होने पर णिजन्त 'गणि' से लट्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि–प्रक्रिया 'कथयति' के समान ही जानें।

६९७. ई च गणः ७।४।९७

गणयतेरभ्यासस्य ईत् स्याच्चङ्परे णौ, चादत्। अजीगणत्, अजगणत्।

इति चुरादयः।

प०वि०–ई लुप्तप्रथमान्त।। च अ०।। गणः ६।१।। **अनु०**–अभ्यासस्य, णौ, चङ्परे, अत्।

अर्थ–चङ्परक 'णि' परे रहते 'गण' धातु के अभ्यास को ईकारादेश होता है तथा (सूत्र में) 'च' के ग्रहण से ह्रस्व अकार आदेश भी होता है।

अजीगणत्–'अचकथत्' के समान णिजन्त 'गणि' बनने पर लुङ्, प्र० पु०, एक व० में चङ्परक 'णि' परे रहते 'गण' धातु के अभ्यास को विकल्प से ईकारादेश होकर 'अजीगणत्' बनता है।

अजगणत्–जब ईकारादेश नहीं होता तो अभ्यास में 'अ' के स्थान में पुनः ह्रस्व अकार आदेश होकर 'अजगणत्' रूप सिद्ध होता है।

।। चुरादिगण समाप्त ।।

अथ ण्यन्तप्रक्रिया

६९८. स्वतन्त्रः कर्ता १।४।५४

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्।

प०वि०–स्वतन्त्रः १।१।। कर्त्ता १।१।। **अनु०**–कारके।

अर्थ--क्रिया की सिद्धि में स्वतन्त्र रूप से विवक्षित (कहा जाने वाला) अर्थ कारक **'कर्त्ता'** कहलाता है।

यहाँ कर्त्ता की इस परिभाषा में वक्ता की इच्छा ही किसी कारक के कर्तृत्व के निर्धारण में मुख्य तत्त्व होता है। क्योंकि वक्ता अपनी इच्छा के अनुसार 'करण' तथा 'अधिकरण' आदि कारकों को भी कर्त्ता के रूप में प्रस्तुत कर सकता है। जैसे– **'स्थाल्यां पचति'** के स्थान पर वक्ता अधिकरण **'स्थाली'** को कर्त्ता के रूप में कह सकता है– **'स्थाली पचति'** इति। यही कारण है कि कारकों के सम्बन्ध में कहा जाता है– **'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति'** अर्थात् कारक वक्ता की विवक्षा के अधीन होते हैं।

६९९. तत्प्रयोजको हेतुश्च १।४।५५

कर्त्तुः प्रयोजको हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च स्यात्।

प०वि०–तत्प्रयोजकः १।१।। हेतुः १।१।। च अ०।। **अनु०**–कर्त्ता।

अर्थ–उस (स्वतन्त्र) कर्त्ता के प्रयोजक अर्थात् प्रेरक की **'हेतु'** तथा **'कर्ता'** दोनों संज्ञायें होती हैं।

७००. हेतुमति च ३।१।२६

प्रयोजकव्यापारे प्रेषणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात्। भवन्तं प्रेरयति– भावयति।

प०वि०–हेतुमति ७।१।। च अ०।। **अनु०**–धातोः, णिच्।

अर्थ–(हेतुमति) प्रयोजक के प्रेषणादि व्यापार अर्थात् प्रेरणा के वाच्य होने पर धातु से 'णिच्' प्रत्यय होता है।

भावयति	(भवन्तं प्रेरयति)
भू	'हेतुमति च' से प्रयोजक का व्यापार (प्रेरणा) वाच्य होने पर 'णिच्' प्रत्यय हुआ
भू णिच्	अनुबन्ध-लोप, 'अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि हुई

भौ इ	'एचोऽयवायावः' से 'औ' को 'आव्' आदेश हुआ
भावि	'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा, पूर्ववत् लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', अनुबन्ध-लोप
भावि अ ति	'सार्वधातुकार्ध०' से गुण इकार के स्थान में 'ए' होने पर 'एचोऽयवायावः' से एकार को 'अय्' आदेश होकर
भावयति	रूप सिद्ध होता है।

७०१. ओः पुयण्ज्यपरे ७।४।८०

सनि परे यदङ्गं तदवयवाभ्यासस्योकारस्य इत् स्यात् पवर्ग-यण् जकारेष्ववर्णपरेषु परतः। अबीभवत्। ष्ठा गतिनिवृत्तौ।

प०वि०–ओः ६।१।। पुयणजि ७।१।। अपरे ७।१।। **अनु०**–सनि, इत्, अभ्यासस्य, अङ्गस्य।

अर्थ–'सन्' परे रहते जो अङ्ग, उस अङ्ग के अभ्यास के उकार के स्थान में ह्रस्व इकार आदेश होता है अवर्णपरक (अवर्ण परे है जिससे ऐसा) पवर्ग, यण् और जकार परे रहते।

अबीभवत्

भू	'हेतुमति च' से प्रेरक का व्यापार वाच्य होने पर धातु से 'णिच्', अनुबन्ध-लोप
भू इ	यहाँ 'णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये' परिभाषा के कारण 'चङि' से भविष्य में होने वाले द्वित्व को ध्यान में रखकर 'णिच्' परे रहते अजादेश (वृद्धि आदि) नहीं होते, 'सनाद्यन्ता धातवः' से धातु संज्ञा[1], लुङ्, प्र० पु०, के एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'णिश्रिद्रुस्रुभ्य०ः' से 'च्लि' के स्थान में चङादेश, अनुबन्ध-लोप
भू इ अ त्	'चङि' से अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच् 'भू' को द्वित्त्व हुआ
भू भू इ अ त्	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा', 'ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व और 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में 'भ्' का 'ब्' हुआ
बु भू इ अ त्	'अचो ञ्णिति' से 'णिच्' परे रहते उकार को वृद्धि होकर 'औ' हुआ

---

१. इस परिभाषा से, जहाँ भविष्य में द्वित्व किया जाना है वहाँ, 'णिच्' को निमित्त मानकर अच् के स्थान में आदेश नहीं होते द्वित्व करने के विषय में। इसलिए प्रकृत सन्दर्भ में 'अचो ञ्णिति' आदि से वृद्धि आदि कार्य न करके पहले 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा करके 'लुङ्' आदि किये जाते हैं।

बु भौ इ अ त्	'एचोऽयवा०' से 'औ' को 'आव्' आदेश हुआ
बु भा व् इ अ त्	'णौ चङ्युपधाया:०' से चङ्परक णि परे रहते उपधा 'आ' को ह्रस्व 'अ' आदेश हुआ
बु भवि अ त्	'णेरनिटि' से अनिडादि आर्धधातुक परे रहते 'णि' का लोप हुआ
बु भव् अ त्	'सन्वल्लघुनि०' से अभ्यास को सन्वद्भाव होने पर 'ओ: पुयण्ज्यपरे' से अवर्णपरक पवर्ग परे रहते सन्परक अङ्ग के अवयव अभ्यास के उकार के स्थान में इकार आदेश हुआ
बि भव् अ त्	'दीर्घो लघो:' से सन्वद्भावविषय में लघु अभ्यास को दीर्घ आदेश तथा 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्०' से अडागम होकर
अबीभवत्	रूप सिद्ध होता है।

७०२. अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुग्णौ ७।३।३६

स्थापयति।

प०वि०–अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्याताम् ६।३।। पुक् १।१।। णौ ७।१।।

अनु०–अङ्गस्य।

अर्थ–**'णि'** परे रहते **ऋ** (गतौ–गति करना), **ह्री** (लज्जायाम्–शर्मिंदा करना), **व्ली** (वरणे–स्वीकार करना), **री** (श्रवणे–सुनना), **क्नूयी** (शब्दे–शब्द करना), **क्ष्मायी** (विधूनने–कांपना) तथा आकारान्त धातुओं को 'पुक्' आगम होता है।

'कित्' होने से 'पुक्' आगम इन धातुओं का अन्तावयव बनता है।

स्थापयति

ष्ठा	'धात्वादे: ष: स:' से षकार को सकार आदेश होने पर ठकार के निमित्त षकार के हट जाने पर ठकार अपने पूर्वरूप में आकर थकार हो गया
स्था	'हेतुमति च' से प्रेरक का व्यापार वाच्य होने पर धातु से 'णिच्', अनुबन्ध–लोप
स्था इ	'अर्तिह्रीव्लीरी०' से आकारान्त धातु को 'णि' परे रहते 'पुक्' का आगम हुआ
स्था पुक् इ	अनुबन्ध–लोप, 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
स्थापि तिप्	अनुबन्ध–लोप, 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण और 'एचोऽयवा०' से 'अय्' आदेशादि होकर
स्थापयति	रूप सिद्ध होता है।

७०३. तिष्ठतेरित् ७।४।५

उपधाया इदादेशः स्याच्चङ्परे णौ। अतिष्ठिपत्। घट चेष्टायाम्।

प०वि०–तिष्ठतेः ६।१।। इत् १।१।। **अनु०**–णौ, चङि, उपधायाः।

अर्थ–चङ्परक **'णि'** परे रहते **'स्था'** धातु की उपधा को ह्रस्व इकारादेश होता है।

अतिष्ठिपत्	
स्था	'हेतुमति च' से 'णिच्', 'अर्त्तिह्रीव्ली०' से 'णि' परे रहते आकारान्त 'स्था' धातु को 'पुक्' आगम, अनुबन्ध-लोप
स्था प् इ	'सनाद्यन्ता०' से णिजन्त की 'धातु' संज्ञा, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि लुङि' से 'च्लि' और 'णिश्रिद्रुस्रु०' से 'च्लि' के स्थान में 'चङ्' आदेश हुआ
स्था पि चङ् त्	अनुबन्ध-लोप, 'णेरनिटि' से अनिडादि आर्धधातुक परे रहते 'णि' का लोप हुआ
स्थाप् अ त्	'तिष्ठतेरित्' से चङ्परक 'णि' परे रहते 'स्थाप्' की उपधा 'आ' को ह्रस्व इकारादेश हुआ
स्थिप् अ त्	'चङि' से 'चङ्' परे रहते धातु के प्रथम एकाच् 'स्थिप्' को द्वित्त्व हुआ
स्थिप् स्थिप् अ त्	'शर्पूर्वाः खयः' से शर्पूर्वक अभ्यास में 'खय्' (थकार) शेष रहा
थि स्थिप् अत्	'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में चर्त्व 'थ्' को 'त्' हुआ
ति स्थिप् अत्	'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य षकारादेश, 'ष्टुना ष्टुः' से 'थ्' को 'ठ्' तथा 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
अतिष्ठिपत्	रूप सिद्ध होता है।

७०४. मितां ह्रस्वः ६।४।९२

घटादीनां ज्ञपादीनां च उपधाया ह्रस्वः स्याण्णौ। घटयति। ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च। ज्ञपयति। अजिज्ञपत्।

इति ण्यन्तप्रक्रिया।

प०वि०–मिताम् ६।३।। ह्रस्वः १।१।। **अनु०**–उपधायाः, णौ।

अर्थ–'णि' परे रहते मितों अर्थात् घटादि तथा ज्ञपादि धातुओं की उपधा को ह्रस्व होता है।[1]

---

१. धातुपाठ में कुछ गण-सूत्र पढ़े गये हैं, ऐसे ही दो सूत्रों 'घटादयो मित्' और 'ज्ञपमिच्च' का सूत्र की वृत्ति में संकेत किया गया है।

घटयति–'घट्' धातु से 'हेतुमति च' से 'णिच्' तथा 'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि होने पर 'घाट्+इ' इस स्थिति में 'घटादयो मित्' से 'घट्' धातु के मित् होने से 'मितां ह्रस्वः' से 'णि' परे रहते धातु को ह्रस्व होकर 'घट्+इ' बनने पर लट्, प्र० पु०, एक व० में शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'कथयति' (६९६) के समान जानें।

ज्ञपयति–इसी प्रकार 'ज्ञपयति' में उपधा वृद्धि होने पर 'ज्ञपमिच्च' से 'ज्ञप' धातु के 'मित्' होने से 'मितां ह्रस्वः' से ह्रस्व होने पर शेष सिद्धि–प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

अजिज्ञपत्–णिजन्त 'ज्ञप्' धातु से 'ज्ञापि' रूप बनने पर 'ज्ञपमिच्च' गणसूत्र से 'ज्ञप' धातु के 'मित्' होने से 'मितां ह्रस्वः' से ह्रस्व होकर 'ज्ञपि' धातु बनने पर लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'च्लि' को 'णिश्रिद्रुस्रु०' से चङादेश, 'चङि' से द्वित्व, 'णेरनिटि' से 'णि' का लोप और 'सन्वल्लघूनि०' से सन्वद्भाव होने पर 'सन्यतः' से अभ्यास में अकार को इत्व होकर 'अजिज्ञपत्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष–संयोग परे रहते ह्रस्व भी 'गुरु' होता है अतः अभ्यास में लघु न मिलने से 'दीर्घो लघोः' से दीर्घ नहीं होता।

॥ ण्यन्त-प्रक्रिया समाप्ता ॥

अथ सन्नन्तप्रक्रिया

७०५. धातोः कर्मणः समानकर्त्तृकादिच्छायां वा ३।१।७

इषिकर्मण इषिणैककर्तृकाद्धातोः सन्प्रत्ययो वा स्यादिच्छायाम्। पठ व्यक्तायां वाचि।

प०वि०—धातोः ५।१।। कर्मणः ५।१।। समानकर्तृकात् ५।१।। इच्छायाम् ७।१।। वा अ०।। **अनु०**—सन्।

अर्थ—ऐसी धातु जो **इष्** (इच्छायाम्-इच्छा करना) धातु का कर्म हो और **इष्** धातु के साथ समानकर्तृक भी हो तो उस धातु से इच्छा अर्थ में विकल्प से **'सन्'** प्रत्यय होता है।

७०६. सन्यङोः ६।१।९

सन्नन्तस्य यङन्तस्य च प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य। 'सन्यतः' (५३३) पठितुमिच्छति–पिपठिषति। कर्मणः किम्? गमनेनेच्छति। समानकर्तृकादिति किम्? शिष्याः पठन्तु इतीच्छति गुरुः। 'वा'-ग्रहणाद् वाक्यमपि। लुङ्सनोर्घस्लृ (५५८)।

प०वि०—सन्यङोः ६।२।। **अनु०**—एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य, धातोः, अनभ्यासस्य।

अर्थ—'सन्' प्रत्ययान्त और 'यङ्' प्रत्ययान्त अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है, यदि धातु अजादि हो तो उसके द्वितीय एकाच् समुदाय को द्वित्व होता है।

पिपठिषति	(पठितुमिच्छति–पढ़ना चाहता है)
पठ्	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'धातोः कर्मणः०' से पढ़ने की इच्छा का तथा पढ़ने की क्रिया का कर्त्ता एक होने से इच्छा अर्थ में धातु से विकल्प से 'सन्' प्रत्यय हुआ
पठ् सन्	'आर्धधातुकस्येड्०' से वलादि आर्धधातुक 'सन्' को इडागम, अनुबन्ध-लोप
पठ् इ स	'सन्यङोः' से सन्नन्त के प्रथम एकाच् समुदाय 'पठ्' को द्वित्व हुआ
पठ् पठ् इ स	'पूर्वोऽभ्यासः,' से 'अभ्यास' संज्ञा तथा 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
पपठिस	'सन्यतः' से 'सन्' परे रहते अभ्यास में ह्रस्व अकार को इकारादेश हुआ
पिपठिस	'आदेशप्रत्यययोः' से 'इण्' से उत्तर प्रत्यय के 'स्' को मूर्धन्य 'ष्' हुआ

पिपठिष	'सनाद्यन्ता धातवः' से सन्नन्त की धातु संज्ञा, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', शप्' और 'अतो गुणे' से पररूप होकर रूप सिद्ध होता है।
पिपठिषति	

कर्मणः किम्—सूत्र के वृत्ति भाग में 'कर्मणः किम्' कहकर पूर्वसूत्र 'धातोः कर्मणः०' में पठित 'कर्मणः' पद के प्रयोजन के विषय में प्रश्न किया गया है। जिसके उत्तर में कहा है—**'गमनेनेच्छति' इति**, कहने का आशय यह है कि यदि सूत्र में 'कर्मणः' पद का पाठ नहीं करते तो इच्छा के साथ समानकर्त्ता वाली धातु से 'सन्' प्रत्यय होता अर्थात् इच्छा का कर्त्ता और किसी अन्य क्रिया (गमन) का कर्त्ता एक ही होता तो 'गम्' धातु से 'सन्' प्रत्यय हो जाता और 'गमनेनेच्छति' यहाँ भी 'सन्' प्रत्यय होने लगता जो कि अनिष्ट होता।

समानकर्तृकादिति किम्—सूत्र में **'समानकर्तृकात्'** पद का प्रयोजन क्या है? इसका उत्तर देते हुए वृत्ति में कहा है—**'शिष्याः पठन्त्वितीच्छति गुरुः'**, इसका आशय यह है कि यदि **धातोः कर्मण इच्छायाम्** इतना ही सूत्र होता तो 'इष्' धातु के कर्मभूत 'पठन्' क्रिया के वाचक 'पठ्' धातु से भी सन् प्रत्यय होता चाहे 'इच्छा' का और 'पठन्' क्रिया का कर्ता क्रमशः गुरु और शिष्य भिन्न-भिन्न ही क्यों न हो; जो कि अनिष्ट होता। इस अनिष्ट निवारण के लिए 'समानकर्तृकात्' पद का ग्रहण सूत्र में किया गया है।

'वा' ग्रहण का प्रयोजन है कि 'सन्' प्रत्यय के अभाव पक्ष में 'पठितुमिच्छति' यह वाक्य भी बन सके।

७०७. सः स्यार्धधातुके ७।४।४९

सस्य तः स्यात् सादावार्धधातुके। अत्तुमिच्छति—जिघत्सति। 'एकाचः०' (४७५) इति नेट्।

प०वि०—सः ६।१।। सि ७।१।। आर्धधातुके ७।१।। **अनु०**—तः।

अर्थ—सकारादि आर्धधातुक परे रहते सकार के स्थान मे तकारादेश होता है।

जिघत्सति	(अत्तुमिच्छति)
अद्	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'धातोः कर्मणः०' से इच्छा अर्थ में 'सन्' प्रत्यय, 'लुङ्सनोर्घस्लृ' से 'सन्' परे रहते 'अद्' को 'घस्लृ' आदेश, अनुबन्ध-लोप
घस् स	'आर्धधातुकं शेषः' से 'सन्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा वलादि 'इट्' का 'एकाच उपदेशे०' से निषेध होने पर 'सः स्यार्धधातुके' से सकारादि आर्धधातुक परे रहते सकार को तकारादेश हुआ
घत् स	'सन्यङोः' से सन्नन्त के प्रथम एकाच् 'घत्स्' को द्वित्व हुआ
घत्स् घत्स	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में 'घ्' को 'झ्' आदेश हुआ

झ षत्स	'अभ्यासे चर्च' से 'झ्' को 'ज्' तथा 'सन्यतः' से 'सन्' परे रहते अभ्यास में ह्रस्व अकार को इकारादेश हुआ
जिषत्स	'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्' तथा 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर रूप सिद्ध होता है।
जिषत्सति	

७०८. अज्झनगमां सनि ६।४।१६

अजन्तानां हन्तेरजादेशगमेश्च दीर्घो झलादौ सनि।

प०वि०–अज्झनगमाम् ६।३।। सनि ७।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, झलि, दीर्घः।

अर्थ–झलादि 'सन्' प्रत्यय परे रहते अजन्त (स्वर अन्त वाले) अङ्ग, 'हन्' तथा 'गम्' धातु को दीर्घ होता है।

'अचश्च' परिभाषा के कारण अचों को ही दीर्घ होता है।

७०९. इको झल् १।२।९

इगन्ताज्झलादिः सन् कित् स्यात्। ॠत इद् धातोः (६६०)। कर्तुमिच्छति-चिकीर्षति।

प०वि०–इकः ५।१।। झल् १।१।। **अनु०**–सन्, कित्।

अर्थ–इगन्त (इ, उ, ऋ और लृ अन्त वाली) धातु से उत्तर झलादि 'सन्' कित् होता है।

चिकीर्षति	(कर्तुमिच्छति)
कृ	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'धातोः कर्मणः०' से करने की इच्छा और 'करना' क्रिया का कर्त्ता एक होने पर इच्छा अर्थ में 'कृ' धातु से 'सन्' प्रत्यय हुआ, अनुबन्ध-लोप
कृ स	'सार्वधातुकार्ध०' से आर्धधातुक संज्ञक 'सन्' परे रहते गुण प्राप्त हुआ, जिसका, 'इको झल्' से इगन्त धातु से उत्तर झलादि 'सन्' के कित् होने के कारण, 'क्ङिति च' से निषेध हो गया। तब 'अज्झनगमां सनि' से अजन्त अङ्ग को झलादि 'सन्' परे रहते दीर्घ हुआ
कॄ स	'ॠत इद्धातोः' से 'ॠ' के स्थान में ह्रस्व इकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ, 'हलि च' से रेफान्त की उपधा 'इक्' को दीर्घ और 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य षकारादेश हुआ
कीर् ष	'सन्यङोः' से सन्नन्त के प्रथम एकाच् 'कीरष्' को द्वित्व, 'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा हुई
कीरष् किरष	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'कुहोश्चुः'

	से अभ्यास में 'क्' को 'च्', 'ह्रस्व:' से अभ्यास में 'ई' को ह्रस्व, 'सनाद्यन्ता धातव:' से 'धातु' संज्ञा, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'शप्' आया
चिकीर्ष् शप् तिप्	अनुबन्ध-लोप, 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर
चिकीर्षति	रूप सिद्ध होता है।

७१०. सनि ग्रहगुहोश्च ७।२।१२

ग्रहेर्गुहेरुगन्ताच्च सन इण् न स्यात्। बुभूषति।

॥ इति सन्नन्तप्रक्रिया ॥

प०वि०–सनि ७।१।। ग्रहगुहो: ६।१।। च अ०।। **अनु०**–न, इट्, उक:, अङ्गस्य।

अर्थ–ग्रह् (उपादाने-ग्रहण करना), **गुह्** (संवरणे-छिपाना) तथा **उगन्त** (उ, ऋ और लृ अन्त वाले) अङ्ग से उत्तर सन् को **'इट्'** आगम नहीं होता।

बुभूषति	(भवितुमिच्छति)
भू	'धातो० कर्मण:०' से होने की इच्छा का कर्त्ता और 'भू' (होने) का कर्त्ता एक ही होने से 'भू' धातु से इच्छा अर्थ में 'सन्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप
भू स	'आर्धधातुकस्येड्०' से 'सन्' को इडागम प्राप्त था, परन्तु 'सनि ग्रहगुहोश्च' से उगन्त धातु से उत्तर 'सन्' को इडागम का निषेध हो गया, 'सार्वधातुकार्ध०' से 'सन्' परे रहते 'भू' को गुण प्राप्त हुआ, 'इको झल्' से इगन्त धातु से उत्तर झलादि सन् के कित् हो जाने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध हो गया। 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व हुआ
भू ष	'सन्यङो:' से सन्नन्त के प्रथम एकाच् 'भूष्' को द्वित्व और 'पूर्वोऽभ्यास:' से 'अभ्यास' संज्ञा हुई
भूष् भूष	'हलादि: शेष:' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'ह्रस्व:' से अभ्यास के 'अच्' को ह्रस्वादेश और 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में 'झल्' को 'जश्' अर्थात 'भ्' को 'ब्' हुआ
बु भूष	'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा होकर लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', अनुबन्ध-लोप और 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश आदि कार्य पूर्ववत् होकर
बुभूषति	रूप सिद्ध होता है।

॥ सन्नन्तप्रक्रिया समाप्ता॥

अथ यङन्तप्रक्रिया

७११. धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ३।१।२२

पौनःपुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ् स्यात्।

प०वि०—धातोः ५।१।। एकाचः ५।१।। हलादेः ५।१।। क्रियासमभिहारे ७।१।। यङ् १।१।।

अर्थ—'क्रियासमभिहार' अर्थात् क्रिया के बार-बार होने या अतिशय होने को द्योतित करने के लिए एकाच् हलादि धातु से 'यङ्' प्रत्यय होता है।

विशेषः—'यङ्' प्रत्यय के विधान हेतु तीन शर्तें पूरी करना आवश्यक हैं। (१) धातु एकाच् (एक अच् वाली) होनी चाहिए (२) धातु का आरम्भिक वर्ण 'हल्' अर्थात् व्यञ्जन होना चाहिए और (३) क्रियासमभिहार अर्थ द्योतित होना चाहिए।

७१२. गुणो यङ्लुकोः ७।४।८२

अभ्यासस्य गुणो यङि यङ्लुकि च। ङिदन्तत्वादात्मनेपदम्। पुनः पुनः अतिशयेन वा भवति-बोभूयते। बोभूयाञ्चक्रे। अबोभूयिष्ट।

प०वि०—गुणः १।१।। यङ् लुको ७।२।। **अनु०**—अभ्यासस्य।

अर्थ—'यङ्' या यङ्लुक् परे रहते अभ्यास को गुण होता है।

'इको गुणवृद्धी' परिभाषा से गुण अभ्यास के 'इक्' को ही होता है।

बोभूयते	(पुनः पुनः अतिशयेन वा भवति)
भू	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'धातोरेकाचो०' से क्रियासमभिहार अर्थ में एकाच् हलादि धातु से 'यङ्' प्रत्यय हुआ
भू यङ्	अनुबन्ध-लोप, 'सन्यङोः' से यङन्त के प्रथम एकाच् को द्वित्व हुआ
भूय् भूय	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा, 'अभ्यासे चर्च' से 'भ्' को 'ब्' तथा 'गुणो यङ्लुकोः' से 'यङ्' परे रहते अभ्यास को गुण हुआ
बो भूय	'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा, 'वर्तमाने लट्' से लट्, तिबाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से 'यङ्' के ङित् होने से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आया

बोभूय त	'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', अनुबन्ध-लोप, 'अतो गुणे' से पररूप और 'टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग को एत्त्व होकर रूप सिद्ध होता है।
बोभूयते	

बोभूयाञ्चक्रे

भू	'धातोरेकाचो हलादे:०' से 'भू' धातु से क्रियासमभिहार अर्थ में 'यङ्' आकर द्वित्त्व आदि कार्य होकर पूर्ववत् 'बोभूय' बना
बोभूय	'सनाद्यन्ता धातव:' से 'धातु' संज्ञा, 'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' आया
बोभूय लिट्	'कास्यनेकाचो आम्वक्तव्यो लिटि' से लिट् परे रहते अनेकाच् धातु 'बोभूय' से 'आम्' प्रत्यय हुआ
बोभूय आम् लिट्	'अतो लोप:' से आर्धधातुक 'आम्' परे रहते अकार का लोप तथा 'आम:' से 'लिट्' का लुक् हुआ
बोभूय् आम्	'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' से लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग
बोभूय् आम् कृ लिट्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, 'आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य' से आम्प्रत्यय की प्रकृति 'बोभूय' के समान अनुप्रयुक्त 'कृ' से भी आत्मनेपद होकर प्र० पु०, एक व० में 'त' आया
बोभूय् आम् कृ त	'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्' आदेश और 'लिटि धातो०' से लिट् परे रहते 'कृ' को द्वित्त्व हुआ
बोभूय आम् कृ कृ ए	'पूर्वोऽभ्यास:' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' से अभ्यास में ऋकार के स्थान में अकारादेश, 'उरण् रपर:' से रपर हुआ
बोभूय् आम् कर् कृ ए	'हलादि: शेष:' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'कुहोश्चु:' से अभ्यास में 'क् को 'च्' हुआ
बोभूय् आम् च कृ ए	'इको यणचि' से यणादेश 'ऋ' को 'र्', 'मोऽनुस्वार:' से मकार को अनुस्वार और 'वा पदान्तस्य' से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्णादेश 'ञ्' होकर
बोभूयाञ्चक्रे	रूप सिद्ध होता है।

अबोभूयिष्ट–'भू' धातु से पूर्ववत् यङन्त 'बोभूय' धातु बनने पर लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि' तथा 'च्लि' के स्थान में 'सिच्', 'आर्धधातुकास्येड्०' से 'सिच्' को इडागम, 'अतो लोप:' से 'सिच्' परे रहते अकार का लोप, 'आदेशप्रत्यययो:' से षत्व, 'ष्टुना ष्टु:' से ष्टुत्व तथा अडागम होकर 'अबोभूयिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

७१३. नित्यं कौटिल्ये गतौ ३।१।२३

गत्यर्थात् कौटिल्य एव यङ् स्यात्, न तु क्रियासमभिहारे।

प०वि०–नित्यम् २।१।। कौटिल्ये। ७।१।। गतौ ७।१।। **अनु०**–धातो:, यङ्।

अर्थ–गत्यर्थक धातु से कुटिल-गमन अर्थ अभिप्रेत होने पर नित्य 'यङ्' प्रत्यय होता है, क्रियासमभिहार अर्थ में नहीं।[1]

विशेष–सूत्र में 'नित्य' पद का प्रयोग नियमार्थ होने से गत्यर्थक धातुओं से केवल कौटिल्य अर्थ में ही 'यङ्' होगा, 'समभिहार' आदि में नहीं।

७१४. दीर्घोऽकितः ७।४।८३

अकितोऽभ्यासस्य दीर्घो यङि यङ्लुकि च। कुटिलं व्रजति–वाव्रज्यते।

प०वि०–दीर्घः १।१।। अकितः ६।१।। **अनु०**–अभ्यासस्य, यङ्लुकोः।

अर्थ–अकित् (कित्-भिन्न) अभ्यास को दीर्घ होता है, 'यङ्' और यङ्लुक् परे रहते। 'अचश्च' परिभाषा के कारण अभ्यास के 'अच्' को दीर्घ होगा।

वाव्रज्यते–(कुटिलं व्रजति) 'व्रज गतौ' गत्यर्थक धातु से 'नित्यं कौटिल्ये गतौ' से 'यङ्' होकर पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यास-कार्य तथा 'दीर्घोऽकितः' से अभ्यास के 'अच्' को दीर्घ होकर 'वाव्रज्य' धातु बनने पर 'लट्', आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग को एत्व होकर 'वाव्रज्यते' रूप सिद्ध होता है।

७१५. यस्य हलः ६।४।४९

यस्येति संघातग्रहणम्। हलः परस्य यशब्दस्य लोप आर्धधातुके। आदेः परस्य (७२), अतो लोपः (४७०)–वाव्रजाञ्चक्रे। वाव्रजिता।

प०वि०–यस्य ६।१।। हलः ५।१।। **अनु०**–लोपः, आर्धधातुके।

अर्थ–'हल्' (व्यञ्जन) से उत्तर 'य' (अकार सहित यकार) का लोप होता है आर्धधातुक परे रहते।[2]

वाव्रजाञ्चक्रे–'व्रज्' धातु से 'नित्यं कौटिल्ये०' से 'यङ्' प्रत्यय और द्वित्वादि कार्य होकर 'वाव्रज्य' धातु बनने पर लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिटस्तझयो०' से 'त' को 'एश्' आदेश, 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यो०' वार्तिक से 'आम्' होने पर 'वाव्रज्य+आम्+लिट्' इस स्थिति में 'यस्य हलः' से आर्धधातुके परे रहते 'हल्' से उत्तर यकार का लोप, 'अतो लोपः' से अकार-लोप होकर 'वाव्रज्+आम्+लिट्' बनने शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'बोभूयाञ्चक्रे' (७१२) के समान जानें।

वाव्रजिता–पूर्ववत् यङन्त 'वाव्रज्य' धातु बनने पर लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'त' के स्थान में 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्', इडागम, 'यस्य हलः'

---

१. भैमी व्याख्या का कथन है कि यहाँ 'नित्यम्' शब्द अवधारणात्मक 'एव' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (सूत्र ७१३)

२. 'हलः' में पञ्चमी होने के कारण 'आदेः परस्य' से 'हल्' से उत्तर कहा गया 'य' का लोप 'य' संघात के आदि अवयव 'य्' का ही होगा, अकार का नहीं।

से आर्धधातुक परे रहते यकार का लोप, 'अतो लोपः' से अकार का लोप तथा ङित्करण सामर्थ्य से 'आस्' भाग का लोप होकर 'वाव्रजिता' रूप सिद्ध होता है।

७१६. रीगृदुपधस्य च ७।४।९०

ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगागमो यङि यङ्लुकि च। वरीवृत्यते। वरीवृताञ्चक्रे। वरीवृतिता।

प०वि०—रीक् १।१।। ऋदुपधस्य ६।१।। च अ०।। **अनु०**—अभ्यासस्य, यङ्लुकोः, अङ्गस्य।

अर्थ—ह्रस्व ऋकार उपधा वाले अङ्ग (धातु) के अभ्यास को 'रीक्' आगम होता है 'यङ्' और यङ्लुक् परे रहते।

वरीवृत्यते

वृत्	'धातोरेकाचो०' से एकाच् हलादि धातु से क्रियासमभिहार अर्थ में 'यङ्', अनुबन्ध-लोप और 'सन्यङोः' से यङन्त के प्रथम एकाच् को द्वित्त्व हुआ
वृत् वृत् य	'पूर्वोभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' से अभ्यास में ऋकार को अकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
वर्त् वृत् य	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
व वृत् य	'रीगृदुपधस्य च' से 'यङ्' परे होने पर ऋदुपध धातु के अभ्यास को 'रीक्' आगम हुआ
व रीक् वृत् य	अनुबन्ध-लोप, 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश तथा 'टित आत्मने०' से एत्व होकर
वरीवृत्यते	रूप सिद्ध होता है।

वरीवृताञ्चक्रे--पूर्ववत् यङन्त धातु 'वरीवृत्य' बनने पर लिट्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि-प्रक्रिया 'वाव्रजाञ्चक्रे' (७१५) के समान जानें।

७१७. क्षुभ्नादिषु च ८।४।३८

णत्वं न। नरीनृत्यते। जरीगृह्यते।

॥ इति यङन्तप्रक्रिया ॥

प०वि०—क्षुभ्नादिषु ७।३।। च अ०।। **अनु०**—नः, णः, न।

अर्थ—क्षुभ्नादि गण में पठित शब्दों के नकार को णकार नहीं होता।

नरीनृत्यते—'नृत्' धातु से क्रिया-समभिहार अर्थ में 'यङ्' होकर द्वित्त्व तथा अभ्यास कार्य 'वरीवृत्यते' के समान होकर 'नरीनृत्यते' बनने पर 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व प्राप्त था, जिसका 'क्षुभ्नादिषु च' से निषेध होकर 'नरीनृत्यते' रूप ही बनता है।

जरीगृह्यते	
ग्रह्	'धातोरेकाचो०' से क्रियासमभिहार अर्थ में 'यङ्', अनुबन्ध-लोप
ग्रह् य	'ग्रहिज्यावयि०' से 'ङित्' परे रहते 'ग्रह्' को सम्प्रसारण होकर रेफ के स्थान में 'ऋ' हुआ
ग् ऋ अ ह् य	'सम्प्रसारणच्च' से सम्प्रसारण से 'अच्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हुआ
गृ ह् य	'सन्यङोः' से 'गृह्' को द्वित्व, 'उरत्' से अभ्यास के 'ऋ' के स्थान में अकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष रहा
ग गृह् य	'कुहोश्चुः' से अभ्यास में 'ग्' को 'ज्' हुआ
ज गृह् य	'रीगृदुपधस्य०' से 'यङ्' परे रहने पर ह्रस्व ऋकार उपधा वाली धातु के अभ्यास को 'रीक्' आगम हुआ
ज रीक् गृह्य	अनुबन्ध-लोप, 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा होने पर लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर रूप सिद्ध होता है।
जरीगृह्यते	

॥ यङन्त प्रक्रिया समाप्ता॥

अथ यङ्लुगन्तप्रक्रिया

७१८. यङोचि च २।४।७४

यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्याच्चकारात्तं विनापि क्वचित्। अनैमित्तिकोऽयम् अन्तरङ्गत्वादादौ भवति। ततः प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वाद् द्वित्त्वमभ्यासकार्यम्। धातुत्वाल्लडादयः। (३८०) शेषात्कर्त्तरीति परस्मैपदम्। 'चर्करीतं च' इत्यदादौ पाठाच्छपो लुक्।

प० वि०—यङः ६।१।। अचि ७।१।। च अ०।। **अनु०**—लुक्, बहुलम्।

अर्थः—अजादि प्रत्यय परे होने पर 'यङ्' का लुक् होता है तथा चकार से बिना किसी निमित्त के भी 'यङ्' का लुक् हो जाता है।

विशेषः—अनिमित्तक यङ्लुक् चकार के द्वारा 'बहुलम्' की अनुवृत्ति लाने के कारण होता है। अन्तरङ्ग होने के कारण अनिमित्तक यङ्लुक् अन्य सभी कार्यों से पहले हो जाता है। यङ्लुक् होने के पश्चात् 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा के कारण लुप्त यङ् को निमित्त मानकर द्वित्व तथा अभ्यास-कार्य हो जाते हैं।

धातुत्वाल्लडादयः—सनादि में पठित होने के कारण यङन्त की, 'यङ्' का लुक् हो जाने पर भी, 'सनाद्यन्ता धातवः' से धातु-संज्ञा होने पर लडादि प्रत्यय होते हैं। यङ्लुगन्त से 'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद ही होगा। क्योंकि 'यङ्' का लुक् होने पर 'यङ्' का ङित्व धर्म यङ्लुगन्त में नहीं आता[1]।

चर्करीतं च—यह गण-सूत्र धातुपाठ में अदादि गण में पढ़ा गया है। 'चर्करीतं' शब्द यङ्लुगन्त के लिए प्रयुक्त होता है, अतः अदादिगण में पठित धातुओं से परे 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से किया जाने वाला 'शप्' का लुक् अदादिगण की धातुओं के समान ही यङ्लुगन्त धातुओं से उत्तर भी होता है।

७१९. यङो वा ७।३।९४

यङ्लुगन्तात् परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य इड् वा स्यात्। (४४०) भूसुवोरिति गुणनिषेधो यङ्लुकि भाषायां न। 'बोभूतु-तेतिक्ते इति छन्दसि निपातनात्। बोभवीति, बोभोति। बोभूतः (६०६) अदभ्यस्तात्, बोभुवति। बोभवाञ्चकार,

---

१. प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम्' से 'भू' के ग्रहण से ही यङ्लुगन्त 'बोभू' का ग्रहण जानना चाहिए।

बोभवामास। बोभविता। बोभविष्यति। बोभवीतु, बोभोतु, बोभूतात्। बोभूताम्। बोभुवतु। बोभूहि। बोभवानि। अबोभवीत्, अबोभोत्। अबोभूताम्। अबोभवुः। बोभूयात्। बोभूयाताम्। बोभूयुः। बोभूयात्। बोभूयास्ताम्। बोभूयासुः। (४३९) गातिस्थेति सिचो लुक्। (७१९) यङो वेति ईट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् वुक्। अबोभूवीत्। अबोभोत्, अबोभूताम्। अबोभूवुः। अबोभविष्यत्।

॥ इति यङ्लुगन्ताः॥

प० वि०–यङः ५।१॥ वा अ०॥ **अनु०**–हलि, पिति, सार्वधातुके, ईट्।

अर्थः–यङ्लुगन्त से उत्तर हलादि पित् सार्वधातुक को विकल्प से 'ईट्' आगम होता है।

बोभवीति, बोभोति इत्यादि में 'भूसुवोस्तिङि' सूत्र से गुण का निषेध यङ्लुगन्त धातु को भाषा में नहीं होता। 'दाधर्त्ति-दर्धर्त्ति०' (७-४-६५) सूत्र में वैदिक भाषा में 'बोभूतु' शब्द की सिद्धि-प्रक्रिया में गुण का अभाव निपातन से किया गया है, इससे यह सिद्ध होता है कि 'भू' धातु को किया गया गुण का निषेध यङ्लुगन्त 'बोभू' धातु से नहीं होता। जिसे 'बोभवीति' की सिद्धि-प्रक्रिया में देखा जा सकता है।

बोभवीति

भू	'भूवादयो धातवः' से धातु संज्ञा, 'धातोरेकाचो हलादेः०' से क्रियासमभिहार अर्थ में धातु से 'यङ्' प्रत्यय हुआ
भू यङ्	द्वित्वादि की अपेक्षा अन्तरङ्ग होने के कारण 'यङोऽचि च' से बिना किसी निमित्त के 'यङ्' का लुक् हुआ
भू	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा से लुप्त यङ् को निमित्त मानकर 'सन्यङोः' से 'भू' को द्वित्व हुआ
भू भू	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'गुणो यङ्लुकोः' से यङ्लुक् परे होने पर अभ्यास के 'इक्' को गुण तथा 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में झलों को 'जश्' अर्थात् 'भ्' को 'ब्' आदेश हुआ
बो भू	'सनाद्यन्ता धातवः' से यङन्त (यङ् लुगन्त) की 'धातु' संज्ञा होने पर 'वर्त्तमाने लट्' से वर्त्तमान काल में होने वाली क्रिया-वाचक धातु से 'लट्' प्रत्यय हुआ
बो भू लट्	क्रिया-वाचक धातु से 'लट्' प्रत्यय हुआ क्रिया-वाचक धातु से 'लट्' प्रत्यय हुआ

बो भू ति	'यङो वा' से यङ्लुगन्त से उत्तर हलादि पित् सार्वधातुक 'ति' को विकल्प से 'ईट्' आगम हुआ
बो भू ईट् ति	अनुबन्ध-लोप
बो भू ई ति	'प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम्' परिभाषा के कारण 'भूसुवोस्तिङि' सूत्र द्वारा 'भू' धातु को किये गये गुण का निषेध यङ्लुगन्त धातु में भी होने लगा, जिसका निषेध 'बोभूतु' निपातन के ज्ञापक द्वारा हो जाता है। इसीलिए 'सार्वधातुकार्धधातु०' से सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण हुआ
बो भो ई ति	'एचोऽयवायाव:' से ईकार परे होने पर 'ओ' को अवादेश होकर
बोभवीति	रूप सिद्ध होता है।

बोभोति–'यङो वा' से वैकल्पिक 'ईट्' न होने पर 'बोभोति' बनता है।

बोभूत:–यङ्-लुगन्त 'बोभू' धातु बनने पर लट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'शप्', 'आदिप्रभृति०' से 'शप्' का लुक्, 'सार्वधातुकमपित्' से 'तस्' के 'ङित् होने पर 'क्ङिति च' से गुण का निषेध तथा सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'बोभूत:' रूप सिद्ध होता है।

बोभुवति–लट्, प्र० पु०, बहु व० में 'बोभू+झि' यहाँ 'उभे अभ्यस्तम्' से 'बोभू' की 'अभ्यस्त' संज्ञा होने पर 'अदभ्यस्तात्' से अभ्यस्त से उत्तर 'झ्' को 'अत्' आदेश 'अचि श्नुधातु ०' से अजादि प्रत्यय परे रहते उकार को उवङादेश होकर 'बोभुवति' रूप सिद्ध होता है।

बोभवाञ्चकार–यङ्-लुगन्त 'बोभू' धातु से 'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' आने पर 'बोभू+लिट्' यहाँ 'कास्यनेकाच आम्वक्तव्यो लिटि' से 'आम्' प्रत्यय आने पर 'बोभू+आम्+लिट्,' यहाँ 'आम:' से 'लिट्' का लुक्, 'सार्वधातुकार्धधातुकयो:' से गुण तथा 'एचोऽयवा०' से 'अव्' आदेश होकर 'बोभवाम्' बनने पर 'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' से लिट्-परक 'कृ' धातु का अनुप्रयोग होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'गोपायाञ्चकार' (४७३) के समान जानें।

बोभवामास–यङ्लुगन्त 'बोभू' धातु से लिट्, आमादि होकर 'लिट्' का लुक् तथा लिट्-परक 'अस्' का अनुप्रयोग होने पर 'बोभवाम्+अस्+लिट्,' इस स्थिति में द्वित्वादि होने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'चोरयामास' (६९५) के समान जानें।

बोभविता–यङ्लुगन्त 'बोभू' से लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'लुट: प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, गुण, अवादेश और डित्करण समार्थ्य से 'टि' (आस्) का लोप होकर 'बोभविता' सिद्ध होता है।

बोभविष्यति–'बोभू' से लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'स्यतासी०' से 'स्य', इडागम, गुण, अवादेश तथा 'आदेशप्रत्यययो:' से षत्व होकर 'बोभविष्यति' सिद्ध होता है।

बोभवीतु, बोभोतु–'बोभू' से लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्' आदि होकर 'यङो वा' से वैकल्पिक 'ईट्' पक्ष में 'बोभवीति' तथा 'ईट्' न होने पर 'बोभोति' बनने पर 'एरुः' से इकार को उकार आदेश होकर 'बोभवीतु' तथा 'बोभोतु' रूप सिद्ध होते हैं।

बोभूताम्–'बोभू' से लोट्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्', 'लोटो लङ्वत्' से लोट् को लङ्वत् मानने पर 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' आदेश होने पर शेष प्रक्रिया 'बोभूतः' के समान जानें।

बोभुवतु–'बोभू' से लोट्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि', 'शप्', शब्लुक्, 'अदभ्यस्तात्' से 'झ्' को 'अत्', 'अचि श्नुधातु०' से उकार को 'उवङ्' आदेश होकर 'एरुः' से इकार को उकारादेश होने पर 'बोभुवति' के समान 'बोभुवतु' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

बोभूहि–'बोभू' से लोट्, म० पु०, एक व० में 'सिप्' के स्थान में 'सेर्ह्यपिच्च' से 'हि' तथा 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' का लुक् होकर 'बोभूहि' रूप सिद्ध होता है।

बोभवानि–'बोभू' से लोट्, उ० पु०, एक व० में 'मिप्', 'मेर्निः' से 'मि' को 'नि' आदेश, 'शप्', शब्लुक्, 'आडुत्तमस्य पिच्च' से 'आट्' आगम, गुण तथा अवादेश होकर 'बोभवानि' रूप सिद्ध होता है।

अबोभवीत्, अबोभोत्–'बोभू', लङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'इतश्च' से 'तिप्' के इकार का लोप, 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से शब्लुक्, 'यङो वा' से विकल्प से 'ईट्', गुण, अवादेश, 'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम आदि शेष सभी कार्य 'बोभवीति' के समान होकर 'अबोभवीत्' तथा 'ईट्' आगम न होने पर 'अबोभोत्' रूप सिद्ध होते हैं।

अबोभूताम्–'बोभू', लङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' के स्थान में 'तस्थस्थ०' से 'ताम्' तथा अडागम होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'बोभूतः' के समान जानें।

बोभूयात्–'बोभू' से वि० लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'इतश्च' से इकार लोप, 'शप्', 'अदिप्रभृति०' से शब्लुक्, 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' और 'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप होकर 'बोभूयात्' रूप सिद्ध होता है।

बोभूयाताम्–यहाँ 'तस्' को 'ताम्' होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

बोभूयुः–'बोभू', वि० लिङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' को 'झेर्जुस्' से 'जुस्', 'शप्', 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से शब्लुक्, 'यासुट्', 'लिङः सलोपो०' से सकार-लोप, 'उस्यपदान्तात्' से अपदान्त अकार से उत्तर 'उस' परे रहते पररूप एकादेश, सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर 'बोभूयुः' रूप सिद्ध होता है।

बोभूयात्

बोभू	यङ्लुगन्त 'बोभू' धातु से 'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्', तिबाद्युत्पति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
बोभू तिप्	'यासुट् परस्मै०' से यासुडागम, 'सुट् तिथोः' से सुडागम, अनुबन्ध-लोप
बोभू यास् स् त्	'लिङाशिषि' से लिङ् के आर्धधातुक होने से 'शप्' का अभाव, 'स्कोः संयोगाद्यो०' से संयोगादि सकारों का पदान्त में लोप होने पर
बोभूयात्	रूप सिद्ध होता है।

बोभूयास्ताम्—आशीर्लिङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्थस्थमिपां०' से 'तस्' को 'ताम्' आदेश, 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्', 'सुट् तिथोः' से 'सुट्' तथा 'स्कोः संयोगाद्यो०' से 'झल्' परे रहते संयोगादि प्रथम सकार का लोप होकर 'बोभूयास्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

बोभूयासुः—आ० लिङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' को 'झेर्जुस्' से 'जुस्' आदेश, 'यासुट्', सकार को रुत्त्व और रेफ को विसर्ग होकर 'बोभूयासुः' रूप सिद्ध होता है।

अबोभूवीत्

बोभू	लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', अनुबन्ध-लोप, 'इतश्च' से इकार-लोप, 'च्लि लुङि' से 'च्लि' तथा 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' आदेश हुआ
बोभू सिच् त्	'गातिस्थाघुपाभूभ्यः०' से 'भू' से उत्तर कहा गया 'सिच्' का लुक् 'बोभू' से उत्तर भी हो जाता है।[1]
बोभू त्	'यङो वा' से हलादि पित् सार्वधातुक को विकल्प से ईडागम, अनुबन्ध-लोप, 'भुवो वुक् लुङ्०' से अजादि लुङ् परे रहते 'बोभू' को वुकागम हुआ
बोभू वुक् ई त्	अनुबन्ध-लोप
बोभू व् ई त्	'लुङ्लङ्लृङ्०' से अडागम होकर
अबोभूवीत्	रूप सिद्ध होता है।

अबोभोत्—'यङो वा' से वैकल्पिक 'ईट्' न होने पर 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण होकर 'अबोभोत्' रूप सिद्ध होगा।

अबोभूताम्—'बोभू' धातु से लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'तस्' के स्थान में 'तस्थस्थ०'

---

१. प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम्।

से 'ताम्' आदेश, 'गातिस्थाघुपा०' से 'सिच्' का लुक् तथा अडागम होकर 'अबोभूताम्' रूप सिद्ध होता है।

अबोभूवुः–'बोभू', लुङ्, प्र० पु०, बहु व० में 'झि' को 'सिजभ्यस्तविदि०' से 'जुस्' आदेश, 'भुवो वुक्०' से 'वुक्' आगम तथा अडागम आदि होकर 'अबोभूवुः' रूप सिद्ध होता है।

अबोभविष्यत्–'बोभू', लृङ्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'इतश्च' से इकार-लोप, 'स्यतासी०' से 'स्य', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम, 'सार्वधातुका०' से गुण, 'एचोऽयवायावः' से 'अव्' आदेश तथा 'अट्' आगम होकर 'अबोभविष्यत्' सिद्ध होता है।

।। यङ्लुगन्तप्रक्रिया समाप्ता।।

अथ नामधातवः

जैसा कि इस प्रकरण के नाम 'नामधातु' से ही प्रकट होता है कि ऐसा प्रकरण जहाँ नाम अर्थात् संज्ञा या प्रातिपादिकों का प्रयोग धातु के रूप में किया जाता है 'नामधातु' कहलाते हैं।

संस्कृत-व्याकरण की महत्त्वपूर्ण विशेषता है उसका नियमबद्ध होना। उसकी यह नियमबद्धता इस शास्त्र में पदे-पदे परिलक्षित होती है। नाम अथवा प्रातिपदिकों से धातु बनाकर उनका क्रिया-पद के रूप में प्रयोग करने के लिए भी विशेष नियमों का विधान किया गया है। किन्हीं विशेष अर्थों में ही नाम अथवा प्रातिपदिकों को धातु के रूप में प्रयोग किया जाता है इसके लिए पाणिनि ने विभिन्न विशिष्ट अर्थों के द्योतक 'क्यच्', 'क्यङ्' आदि प्रत्ययों का विधान किया है। 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र ऐसे ही विशिष्ट प्रत्ययान्त शब्दों की धातु संज्ञा का विधान करता है। जिसका विस्तृत विवेचन इस प्रकरण में देखा जा सकता है।

७२०. सुप आत्मनः क्यच् ३।१।८

इषिकर्मण एषितुः सम्बन्धिनः सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यच् प्रत्ययो **वा स्यात्।**

प० वि०—सुपः ५।१।। आत्मनः ६।१।। क्यच् १।१।। **अनु०**—प्रत्ययः, परश्च, कर्मणः, इच्छायाम्, वा।

अर्थः—'इष्' धातु के कर्म तथा इच्छा करने वाले के सम्बन्धी सुबन्त से इच्छा अर्थ में विकल्प से 'क्यच्' प्रत्यय होता है। अर्थात् 'इच्छति' क्रियापद का जो कर्म, वह कर्म यदि इच्छा के करने वाले कर्त्ता का सम्बन्धी भी हो तो उसके (कर्म के) वाचक सुबन्त से 'चाहता है' इस अर्थ में विकल्प से 'क्यच्' प्रत्यय होता है।

जैसे—**'आत्मनः पुत्रमिच्छति'** इस वाक्य में 'इच्छति' क्रिया का कर्म **पुत्र** है तथा वह पुत्र आत्म-सम्बन्धी कर्त्ता या इच्छा क्रिया के कर्त्ता से सम्बन्धित भी है। अतः 'पुत्र' सुबन्त से विकल्प से 'क्यच्' प्रत्यय होकर 'पुत्रीयति' रूप सिद्ध होता है।

७२१. सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१

एतयोरवयवस्य सुपो लुक्।

प० वि०—सुपः ६।१।। धातुप्रातिपदिकयोः ६।२।। **अनु०**—लुक्।[1]

अर्थः—धातु तथा प्रतिपदिक के अवयव सुपों का लुक् होता है।

१. 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' से प्रत्यय के अदर्शन की 'लुक्' संज्ञा होती है।

७२२. क्यचि च ७।४।३३

अवर्णस्य ईः। आत्मनः पुत्रमिच्छति–पुत्रीयति।

प० वि०–क्यचि ७।१।। च अ०।। **अनु०**–अस्य, ई, अङ्गस्य।

अर्थः–अकारान्त अङ्ग को (दीर्घ) ईकारादेश होता है 'क्यच्' परे रहते।

पुत्रीयति	(आत्मनः पुत्रमिच्छति–अपने पुत्र को चाहता है)
पुत्र अम्	'सुप आत्मनः क्यच्' से इच्छा क्रिया के कर्म, जो कि आत्मा अर्थात् इच्छा क्रिया का कर्त्ता भी है, से सम्बन्धित सुबन्त 'पुत्र' से 'क्यच्' प्रत्यय हुआ
पुत्र अम् क्यच्	अनुबन्ध–लोप, 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'क्यच्' प्रत्ययान्त की 'धातु' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से धातु के अवयव सुप् (अम्) का लुक् हुआ
पुत्र य	'क्यचि च' से 'क्यच्' परे रहते अकार को ईकारादेश हुआ
पुत्री य	'वर्त्तमाने लट्' से 'लट्', तिबाद्युत्पति होकर प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', अनुबन्ध–लोप
पुत्रीय अ ति	'अतो गुणे' से अपदान्त अकार से गुण परे रहते पररूप होकर
पुत्रीयति	रूप सिद्ध होता है।

७२३. नः क्ये १।४।१५

क्यचि क्यङि च नान्तमेव पदं नान्यत्। न लोपः–राजीयति। नान्तमेवेति किम्? वाच्यति। 'हलि च' (६१२) –गीर्यति। पूर्यति। धातोरित्येव, नेह–दिवमिच्छति दिव्यति।

प० वि०–नः १।१। क्ये ७।१।। **अनु०**–पदम्।

अर्थः–**क्यच्** और **क्यङ्** परे रहते नकारान्त की ही **'पद'** संज्ञा होती है अन्य की नहीं[1]।

राजीयति	(आत्मनः राजानमिच्छति–अपने से सम्बन्धित को राजा बनाना चाहता है)।
राजन् अम्	'सुप आत्मनः क्यच्' से 'क्यच्', अनुबन्ध–लोप, 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति का लुक् हुआ
राजन् य	'नः क्ये' से 'क्यच्' परे रहते नकारान्त की 'पद' संज्ञा होने पर 'नलोपः प्राति०' से 'न्' का लोप हुआ

---

१. 'क्यच्' और 'क्यङ्' प्रत्यय जहाँ भी होते हैं वहाँ 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से सुपों का लुक् हो जाता है। लुक् होने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा से लुप्त सुपों को निमित्त मानकर 'पद' संज्ञा सिद्ध ही है फिर भी 'क्यच्' और 'क्यङ्' परे रहते नकरान्त की 'पद' संज्ञा करने का प्रयोजन नियम विधान के लिए है अर्थात् 'क्यच्' और 'क्यङ्' परे रहते यदि 'पद' संज्ञा हो तो नकारान्त की ही हो अन्य की नहीं।

राज य — 'क्यचि च' से अकार को दीर्घ ईकारादेश, 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा होने पर लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'पुत्रीयति' (७२२) के समान होकर

राजीयति — रूप सिद्ध होता है।

नान्तमेवेति किम्—प्रकृत सूत्र में नकारान्त की ही 'पद' संज्ञा क्यों की गई? इसका उत्तर यह है कि यदि लुप्त 'सुप्' को निमित्त मानकर सामान्यतः सर्वत्र 'पद' संज्ञा होने दी जाती तो 'आत्मनो वाचमिच्छति'—'**वाच्यति**' आदि में 'सुप्' का लुक् होने पर 'पद' संज्ञा होने के कारण 'चोःकुः' से पदान्त 'च्' को 'क्' तथा 'झलां जशोऽन्ते से' ककार को गकारादेश होकर अनिष्ट रूप सिद्ध होता है, जिसके निवारण के लिए यह नियम बनाया गया है।

गीर्यति—(आत्मनो गिरम् इच्छति—अपने लिए वाणी चाहता है) 'गिर्+अम्' यहाँ पूर्ववत् 'क्यच्', धातु संज्ञा, 'सुप्' का लुक् और 'हलि च' से रेफान्त धातु की उपधा को दीर्घ होकर सनाद्यन्त 'गीर्य' धातु बनने पर लट्, प्र० पु०, एक व० में तिप्', 'शप्' और 'अतो गुणे' से पररूप होकर 'गीर्यति' रूप सिद्ध होता है।

पूर्यति—(आत्मनः पुरम् इच्छति—अपने लिए आवास चाहता है) की सिद्धि-प्रक्रिया 'गीर्यति' के समान जानें।

धातोरित्येव—'हलि च' सूत्र में 'धातोः' की अनुवृत्ति मानी जाती है यही कारण है कि 'आत्मनो दिवमिच्छति' (अपने लिए स्वर्ग चाहता है) 'दिव्+अम्+क्यच्' यहाँ सुप् का लुक् होने पर 'हलि च' से वकारान्त की उपधा को दीर्घ नहीं होता क्योंकि यह उपधा-दीर्घ वकारान्त धातु को होता है, जबकि यहाँ 'दिव्' प्रातिपदिक है धातु नहीं, अतः 'दिव्यति' रूप ही बनता है।

७२४. क्यस्य विभाषा ६।४।५०

हलः परयो क्यच्क्यङोर्लोपो वाऽऽर्धधातुके। 'आदेः परस्य' (७२)। 'अतो लोपः' (४७०)। तस्य स्थानिवत्त्वाल्लघूपधगुणो न। समिधिता, समिध्यिता।

प० वि०—क्यस्य ६।१।। विभाषा १।१।। **अनु०**—हलः, लोपः, आर्धधातुके।

अर्थः—'हल्' (व्यञ्जन) से उत्तर '**क्यच्**', '**क्यङ्**' तथा '**क्यष्**' का विकल्प से लोप होता है आर्धधातुक परे रहते।

'आदेः परस्य' परिभाषा के कारण 'हल्' से उत्तर 'क्यच्', 'क्यङ्' और 'क्यष्' को कहा गया लोप उनके आदि 'अल्' यकार के स्थान में होता है, जिससे केवल अकार शेष रहता है। उस शेष बचे अकार का भी 'अतो लोपः' से आर्धधातुक परे रहते लोप हो जाता है। इस प्रकार 'क्यच्', 'क्यङ्' और 'क्यष्' का कुछ भी शेष नहीं बचता।

समिधिता — (आत्मनः समिधम् एष्टा-अपने से सम्बन्धित लकड़ी चाहता है)

समिध् अम्	'सुप आत्मनः क्यच्' से आत्मसम्बन्धी सुबन्त कर्म से 'इच्छा' अर्थ में विकल्प से 'क्यच्', अनुबन्ध-लोप
समिध् अम् य	'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से 'अम्' का लुक् हुआ
समिध् य	'अनद्यतने लुट्' से 'लुट्', तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' आया
समिध् य तिप्	'लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' को 'डा' आदेश, 'स्यतासी०' से 'तास्', अनुबन्ध-लोप और डित्करणसामर्थ्य से 'टि' (आस्) का लोप हुआ
समिध् य त् आ	'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, अनुबन्ध-लोप
समिध् य इ त् आ	'आर्धधातुकं शेषः' से 'तास्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने पर 'क्यस्य विभाषा' से 'क्यच्' का विकल्प से लोप प्राप्त हुआ, 'आदेः परस्य' से आदि 'अल्' यकार का लोप हुआ
समिध् अ इ त् आ	'अतो लोपः' से आर्धधातुक परे रहते अकार का लोप, 'पुगन्तलघू०' से 'तास्' परे रहते 'समिध्' के उपधाभूत इकार को गुण प्राप्त हुआ, परन्तु 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' परिभाषा से 'अच्' अर्थात् अकार के स्थान में किये गए लोप रूपी आदेश के स्थानविद् होने से उपधा में इकार नहीं मिलता अतः लघूपध गुण भी नहीं होता । इस प्रकार
समिधिता	रूप सिद्ध होता है।

समिध्यिता–'समिध्+य+इ+त्+आ' जब यहाँ 'क्यस्य विभाषा' से यकार का वैकल्पिक लोप नहीं हुआ तो 'अतो लोपः' से अकार का लोप होकर 'समिध्यिता' रूप बनेगा।

७२५. काम्यच्च ३।१।९

उक्तविषये काम्यच् स्यात्। पुत्रम् आत्मन इच्छति-पुत्रकाम्यति। पुत्रकाम्यिता।

प० वि०–काम्यच् १।१।। च अ०।। **अनु०**–सुपः, आत्मनः, कर्मणः, इच्छायाम्, वा।

अर्थः–'इष्' धातु के कर्म तथा इच्छा करने वाले के सम्बन्धी सुबन्त से 'इच्छा' अर्थ में विकल्प से **'काम्यच्'** प्रत्यय होता है।

पुत्रकाम्यति	(आत्मनः पुत्रम् इच्छति-अपने पुत्र को चाहता है)।
पुत्र अम्	'काम्यच्च' से 'इष्' धातु के कर्म, जो कि इच्छा क्रिया के कर्ता

	का सम्बन्धी है, के वाचक सुबन्त 'पुत्र' से 'इच्छा करने' अर्थ में विकल्प से 'काम्यच्' प्रत्यय हुआ
पुत्र अम् काम्यच्	अनुबन्ध-लोप[१], 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्ति का लुक् हुआ
पुत्र काम्य	'वर्त्तमाने लट्' से लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्', अनुबन्ध-लोप
पुत्र काम्य अ ति	'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर
पुत्रकाम्यति	रूप सिद्ध होता है।

पुत्रकाम्यिता—पूर्ववत् 'पुत्रकाम्य' धातु बनने पर लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' के स्थान में 'डा', 'तास्', 'इट्' आगम तथा डित्सामर्थ्य से टि भाग का लोप होकर 'पुत्रकाम्यिता' रूप सिद्ध होता है।

७२६. उपमानादाचारे ३।१।१०

उपमानात् कर्मणः सुबन्ताद् आचारेऽर्थे क्यच् स्यात्। पुत्रमिवाचरति-पुत्रीयति छात्रम्। विष्णूयति द्विजम्। (वा०) सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः। 'अतो गुणे' (२७४)। कृष्ण इव आचरति-कृष्णति। स्व इव आचरित-स्वति। सस्वौ।

प० वि०—उपमानात् ५।१।। आचारे ७।१।। **अनु०**—सुपः, क्यच्, कर्मणः, वा।

अर्थः—उपमानवाची सुबन्त कर्म से 'आचरण करना' अर्थ में विकल्प से **'क्यच्'** प्रत्यय होता है।

पुत्रीयति—(पुत्रमिवाचरति छात्रम् - छात्र के साथ पुत्र के समान व्यवहार करता है)। 'पुत्र+अम्' यहाँ 'उपमानादाचारे' से विकल्प से 'क्यच्' प्रत्यय, 'सनाद्यन्ता०' से धातु संज्ञा होने पर सिद्धि-प्रक्रिया (७२०) में देखें।

विष्णूयति—('विष्णुम् इव आचरति द्विजम्'—ब्राह्मण के साथ विष्णु की तरह आचरण करता है) 'विष्णु+अम्' यहाँ 'उपमानादाचारे' से 'क्यच्' प्रत्यय, 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् तथा 'अकृत्सार्वधातु०' से कृत्-भिन्न तथा सार्वधातुक-भिन्न यकारादि प्रत्यय परे अजन्त अङ्ग को दीर्घ होकर 'विष्णूय' बनने पर लट्, प्र० पु०, एक व० में 'विष्णूयति' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः—**अर्थः**—उपमानवाची सभी प्रातिपदिकों से 'आचार' अर्थ में विकल्प से **'क्विप्'** प्रत्यय होता है।

कृष्णति—('कृष्ण इव आचरति'-कृष्ण के समान आचरण करता है) 'कृष्ण+सु' यहाँ (वा०) 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः' से उपमानवाची प्रातिपदिक 'कृष्ण'

---

१. 'काम्यच्च' के ककार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा प्राप्त थी, जो प्रयोजन अभाव के कारण नहीं होती अतः 'काम्य' शेष रहता है।

से 'क्विप्' प्रत्यय, 'क्विप्' का सर्वापहारी लोप होने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा के बल से 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा होने पर लट्, प्र० पु०, एक व० में 'कृष्णति' रूप सिद्ध होता है।

स्वति–'स्व इव आचरति'–अपनी तरह आचरण करता है)। 'स्वति' की सिद्धि–प्रक्रिया भी 'कृष्णति' के समान जानें।

सस्वौ–('स्व इव आचचार'–अपनी तरह आचरण किया)। 'स्व+सु' यहाँ 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः०' से 'क्विप्', 'क्विप्' का सर्वापहारी लोप, 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से 'सुप् का लुक्, लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान मे णल्', 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होने पर 'स+स्व+अ' इसी स्थिति में 'अचो ञ्णिति' से अकार को वृद्धि (आकार) होने पर 'स स्वा+अ' इस स्थिति में 'आत औ णलः' से 'णल्' के स्थान में 'औ' आदेश तथा 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश होकर 'सस्वौ' रूप सिद्ध होता है।

७२७. अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति ६।४।१५

अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घः स्यात् क्वौ झलादौ च क्ङिति। इदमिवाऽऽचरति इदामति। राजेव (आचरति)–राजानति। पन्था इव (आचरति)–पथीनति।

प० वि०–अनुनासिकस्य ६।१।। क्विझलोः ७।२।। क्ङिति ७।१।। **अनु०**–उपधायाः, दीर्घः, अङ्गस्य।

अर्थः–अनुनासिकान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है 'क्वि' तथा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते।

इदामति–('इदमिवाऽऽचरति'–इसके समान आचरण करता है) 'इदम्+सु' यहाँ 'सर्वप्रातिपदि०' से 'क्विप्', क्विप् का सर्वापहारी लोप, 'सनाद्यन्ता०' से धातु संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से सुब्लुक् होने पर 'अनुनासिकस्य क्विझलोः०' से 'क्विप्' परे रहते 'इदम्' की उपधा अकार को दीर्घ होने पर लट्, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' तथा 'शप्' आदि आने पर 'इदामति' रूप सिद्ध होता है।

राजानति–('राजा इव आचरति'–राजा के समान आचरण करता है) की सिद्धि–प्रक्रिया 'इदामति' के समान जानें।

पथीनीति–('पन्था इव आचरति'–मार्ग की तरह आचरण करता है) 'पथिन्' शब्द से 'क्विप्' प्रत्यय होकर सिद्धि–प्रक्रिया 'इदामति' के समान जानें।

७२८. कष्टाय क्रमणे ३।१।१४

चतुर्थ्यन्तात् कष्टशब्दुत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात्। कष्टाय क्रमते-कष्टायते। पापं कर्तुमुत्सहते इत्यर्थः।

प० वि०–कष्टाय ४।१।। क्रमणे ७।१।। **अनु०**–क्यङ्, वा।

अर्थ:—चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से 'क्रमण' अर्थात् 'उत्साह करना' अर्थ में विकल्प से 'क्यङ्' प्रत्यय होता है।

कष्टायते—('कष्टाय क्रामते'-पाप करने के लिए उत्साह करता है) 'कष्ट+ङे' यहाँ प्रकृत सूत्र से 'क्यङ्' प्रत्यय होने पर 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से धातु के अवयव सुप् का लुक् तथा 'अकृत्सार्वधातुकयो:०' से दीर्घ होकर 'कष्टाय' धातु बनने पर 'क्यङ्' प्रत्यय के ङित् होने से 'अनुदात्तङित आत्मने०' से आत्मनेपद होकर लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'टि' भाग को 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'कष्टायते' रूप सिद्ध होता है।

७२९. शब्दवैरकलहाऽभ्रकण्वमेघेभ्य: करणे ३।१।१७

एभ्य: कर्मभ्य: करोत्यर्थे क्यङ् स्यात्। शब्दं करोति-शब्दायते। (गण सू०) 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्। (गण सू०) प्रातिपदिकाद् धात्वार्थे बहुलमिष्ठवच्च।। प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे णिच् स्यात्। इष्ठे यथा प्रातिपदिकस्य पुंवद्भाव-रभाव-टिलोप-विन्मतुब्लोप-यणादिलोप-प्र-स्थ-स्फाद्यादेश-भसञ्ज्ञास्तद्वण्णावपि स्यु:। इत्यल्लोप:। घटं करोत्याचष्टे वा-घटयति।

।। इति नामधातव:।।

प० वि०—शब्दवैरकलहाऽभ्रकण्वमेघेभ्य: ५।३।। करणे ७।१।। **अनु०**—कर्मभ्य:, क्यङ्, वा।

अर्थ:—**शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व** और **मेघ** कर्मों से उत्तर 'करण' अर्थात् 'करना' अर्थ में विकल्प से **'क्यङ्'** प्रत्यय होता हैं।[१]

शब्दायते—(शब्दं करोति-शब्द करता है) 'शब्द+अम्' यहाँ 'शब्दवैरकलहाभ्र०' सूत्र से 'करना' अर्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'कष्टायते' (७२८) के समान जानें।

(ग० सू०)—तत्करोति तदाचष्टे—अर्थ—'उसे करता है' तथा 'उसे कहता है' इन अर्थों में प्रातिपदिक से उत्तर 'णिच्' प्रत्यय होता है।

(ग० सू०) प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे०—अर्थ—प्रातिपदिक से उत्तर धातु के अर्थ में बहुल करके अर्थात् विकल्प से 'णिच्' प्रत्यय होता है, तथा 'इष्ठन्' प्रत्यय परे रहते प्रातिपदिक को जो कार्य होते हैं वैसे ही 'णिच्' परे रहते भी प्रातिपादिक को सभी कार्य होते हैं। अर्थात् 'णिच्' प्रत्यय को 'इष्ठन्' प्रत्यय के समान माना जाता है।

---

१. प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में 'कर्मणोरोमन्थतपोभ्याम्०' से 'कर्मण:' पद की अनुवृत्ति दिखलाई है, अत: कर्मत्व के द्योतक अमादि प्रत्ययान्तों से ही यहाँ 'क्यङ्' प्रत्यय दिखलाया गया है। भैमी व्याख्याकार ने प्रयोजन अभाव को हेतु देते हुए तथा 'सुप:' की अनुवृत्ति न होने के कारण 'शब्द- वैर-कलह०' इत्यादि से केवल प्रातिपदिकों से 'क्यङ्' माना है। हमने इस स्थल पर भट्टोजिदीक्षित का अनुकरण किया है।

जैसे–'इष्ठन्' प्रत्यय परे रहते प्रातिपदिक को पुंवद्भाव, 'र ऋतो हलादे:०' से ऋकार के स्थान में 'र' आदेश, 'टे:' से टिभाग का लोप, 'विन्मतोर्लुक्' से 'विन्' और 'मतुप्' प्रत्ययों का लुक्, 'स्थूलदूरयुवह्रस्व०' से यणादि भाग का लोप तथा पूर्व को गुण, 'प्रियस्थिरस्फिरोरु०' से 'प्रिय', 'स्थिर', 'स्फिर' आदि शब्दों के स्थान पर 'प्र', 'स्थ', 'स्फ' आदि आदेश, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा आदि कार्य होते हैं, वे सभी कार्य 'णिच्' प्रत्यय परे रहते भी जानने चाहियें।

घटयति ('घटं करोति, घटम् आचष्टे वा'–घड़े को बनाता है या कहता है)

घट अम् 'तत्करोति तदाचष्टे' से 'तत् करोति' (करता है) अर्थ में 'णिच्', प्रत्यय हुआ

घट अम् णिच् अनुबन्ध–लोप, 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से 'अम्' का लुक् हुआ

घट इ 'प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' (वा०) से 'णिच्' को 'इष्ठन्' के समान मानने पर 'यचि भम्' से भसंज्ञा तथा 'यस्येति च' से 'घट' के अन्तिम अकार का लोप हुआ

घट् इ यहाँ 'अत उपधाया:' से वृद्धि नहीं होती क्योंकि 'यस्येति च' से किया गया यकार–लोप 'अच: परस्मिन् पूर्वविधौ' से स्थानिवत् मान लिया जाता है इसलिए उपधा में ह्रस्व अकार नहीं मिलता 'वर्तमाने लट्' से 'लट्', प्र० पु०, एक व० में 'तिप्' और 'शप्' आया

घट् इ शप् तिप् अनुबन्ध–लोप

घट् इ अ ति 'सार्वधातुकार्धधातुकयो:' से 'शप्' परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण 'ए' हुआ

घट् ए अ ति 'एचोऽयवायाव:' से 'ए' को अयादेश होकर

घटयति रूप सिद्ध होता है।

।। नामधातु–प्रक्रिया समाप्ता।।

अथ कण्ड्वादयः

पाणिनीय धातु पाठ में भ्वादि, अदादि तथा जुहोत्यादिगणों के समान कण्ड्वादिगण का पाठ भी किया गया है। अतः कण्ड्वादि में पढ़े सभी शब्द धातुसंज्ञक भी हैं। इस कण्ड्वादिगण में पढ़ी गई धातुएं पाणिनीय गणपाठ में भी पढ़ी गयी हैं जोकि धातुसंज्ञक न होकर प्रातिपदिकसंज्ञक हैं। इस प्रकार धातुपाठ तथा गणपाठ दोनों में परिगणित होने के कारण कण्ड्वादिगण के अन्तर्गत पढ़े गये शब्दों की **धातु** तथा **प्रातिपदिक** दोनों संज्ञाएं होती हैं। प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण इनके रूप सातों विभक्तियों में चलते हैं। परन्तु जब इनकी 'धातु' संज्ञा अभीष्ट होती है तो उस स्थिति में कण्ड्वादिगण के लिए विशेष स्वार्थिक प्रत्यय 'यक्' होकर इनके तिङन्त रूप दशों लकारों और सभी प्रक्रियाओं में चलते हैं।

७३०. कण्ड्वादिभ्यो यक् ३।१।२७

एभ्यो धातुभ्यो नित्यं यक् स्यात् स्वार्थे। कण्डूञ् गात्रविघर्षणे।१। कण्डूयति, कण्डूयते इत्यादि।

इति कण्ड्वादयः

प० वि०–कण्ड्वादिभ्यः ५।३।। यक् १।१।। **अनु०**–धातोः।

अर्थः–कण्ड्वादि गण में पठित धातुओं से स्वार्थ में नित्य 'यक्' प्रत्यय होता है। (**कण्डूञ्** गात्रविघर्षणे-खुजली करना)

कण्डूयति

कण्डू	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा और 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' से स्वार्थ में 'यक्' प्रत्यय हुआ
कण्डू यक्	अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण प्राप्त था जिसका 'क्ङिति च' से निषेध हो गया। 'सनाद्यन्ता०' से 'यक्' प्रत्ययान्त की 'धातु' संज्ञा होने पर 'वर्त्तमाने लट्' से 'लट्', आया, अनुबन्ध-लोप
कण्डू य ल् कण्डूयति	तिबाद्युत्पत्ति, प्र० पु०, एक व० में 'तिप्', 'शप्' आदि होकर रूप सिद्ध होता है।

कण्डूयते–'कण्डूञ्' धातु ञित् है अतः जब क्रिया का फल कर्तृगामी होगा तो 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' से स्वार्थ में यक्, 'स्वरितञितः कर्त्रभि०' से आत्मनेपद होकर लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'कण्डूयते' रूप सिद्ध होता है।

॥ कण्ड्वादिगण समाप्त॥

अथ आत्मनेपदप्रक्रिया

७३१. कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे १।३।१४

क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्त्तरि आत्मनेपदम्। व्यतिलुनीते—अन्यस्य योग्यं लवनं करोतीत्यर्थः।

प० वि०—कर्त्तरि ७।१।। कर्मव्यतिहारे ७।१।। **अनु०**—आत्मनेपदम्, धातोः।

अर्थः—कर्मव्यतिहार अर्थात् क्रिया के परस्पर विनिमय के द्योत्य होने पर कर्तृवाच्य में धातु से आत्मनेपद होता है।

विशेष—कर्मव्यतिहार अथवा **क्रियाव्यतिहार** निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है।

१. जब किसी व्यक्ति के द्वारा किये जाने वाले कार्य को दूसरा व्यक्ति करे तो उसे कर्मव्यतिहार कहा जाता है। जैसे—**ब्राह्मणः क्षेत्रम् व्यतिलुनीते**—यहाँ वैश्य अथवा शूद्रों के करने योग्य कार्य (खेतों की कटाई) को ब्राह्मण के द्वारा किया जा रहा है, अतः यहाँ कर्मव्यतिहार है।

२. जब दो व्यक्ति बदले में एक दूसरे के कार्यों को करते हैं तो वहाँ भी कर्मव्यतिहार होता है; जैसे—**'व्यतिलुनते कृषकाः क्षेत्रम्'** इस उदाहरण में कृषक परस्पर एक दूसरे के खेत को काटते हैं।

व्यतिलुनीते—इस उदाहरण में 'वि' तथा 'अति' उपसर्गपूर्वक 'लू' धातु 'लवन' क्रिया के व्यतिहार अर्थात् परस्पर विनिमय को द्योतित करती है अतः यहाँ 'कर्त्तरि कर्मव्यति०' से आत्मनेपद जानना चाहिए।

७३२. न गतिहिंसार्थेभ्यः १।३।१५

व्यतिगच्छन्ति। व्यतिघ्नन्ति

प० वि०—न अ० ।। गतिहिंसार्थेभ्यः ५।३। **अनु०**-कर्त्तरि, आत्मनेपदम्, धातोः।

अर्थः—गति अर्थ वाली तथा हिंसा अर्थ वाली धातुओं से कर्मव्यतिहार अर्थ में (कर्तृवाच्य में) आत्मनेपद नहीं होता।

जैसे—व्यतिगच्छन्ति—यहाँ परस्पर एक दूसरे की तरफ चलने में क्रिया में विनिमय होने के कारण 'कर्त्तरि कर्मव्यति०' से आत्मनेपद प्राप्त था जिसका गत्यर्थक धातु में निषेध हो गया।

व्यतिघ्नन्ति–'वि' और 'अति' उपसर्ग पूर्वक 'हन्' परस्पर हिंसा क्रिया की द्योतक होने से यहाँ 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे' से आत्मनेपद प्राप्त था, जिसका 'न गतिहिंसा०' से निषेध हो गया।

७३३. नेर्विशः १।३।१७

निविशते।

प० वि०–नेः ५।१।। विशः ५।१।। **अनु०**–आत्मनेपदम्, धातोः।

अर्थः–'नि' उपसर्ग पूर्वक 'विश्' धातु से आत्मनेपद होता है।

यहाँ 'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद प्राप्त था, जिसे बाधकर 'नेर्विशः' से आत्मनेपद का विधान कर दिया गया।

७३४. परिव्यवेभ्यः क्रियः १।३।१८

परिक्रीणीते। विक्रीणीते। अवक्रीणीते।

प० वि०–परिव्यवेभ्यः ५।३।। क्रियः ५।१।। **अनु०**–आत्मनेपदम्, धातोः।

अर्थः–**'परि'**, **'वि'** और **'अव'** उपसर्गों से उत्तर **'क्री'** धातु से आत्मनेपद होता है।

परिक्रीणीते। विक्रीणीते। अवक्रीणीते–इन उदाहरणों में क्रमशः 'परि', 'वि' और 'अव' उपसर्ग से उत्तर **'क्री'** धातु से आत्मनेपद होता है।

विशेष–'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' धातु ञित् होने के कारण क्रियाफल कर्तृगामी होने पर तो 'स्वरितञितः०' से ही आत्मनेपद सिद्ध है, अतः प्रकृत सूत्र कर्त्तृ-भिन्नगामी क्रियाफल की स्थिति में भी आत्मनेपद हो जाये इसके लिए विधान किया गया है।

७३५. विपराभ्यां जेः १।३।१९

विजयते। पराजयते।

प० वि०–विपराभ्याम् ५।२।। जेः ५।१।। **अनु०**–आत्मनेपदम्, धातोः।

अर्थः–**'वि'** अथवा **'परा'** उपसर्ग से उत्तर **'जि'** धातु से 'आत्मनेपद होता है। **विजयते, पराजयते**–यहाँ 'जि' से 'शेषात्कर्त्तरि परस्मै०' से परस्मैपद प्राप्त था, जिसे बाधकर 'विपराभ्यां जेः' से 'वि' और 'परा' उपसर्ग से उत्तर 'जि' धातु से आत्मनेपद का विधान कर दिया गया है।

७३६. समवप्रविभ्यः स्थः १।३।२२

सन्तिष्ठते। अवतिष्ठते। प्रतिष्ठते। वितिष्ठते।

प० वि०–समवप्रविभ्यः ५।३।। स्थः ५।१।। अनु०–धातोः, आत्मनेपदम्।

अर्थः–**'सम्'**, **'अव'**, **'प्र'** तथा **'वि'** उपसर्गों से उत्तर **'स्था'** धातु से आत्मनेपद होता है।

संतिष्ठते, अवतिष्ठते, प्रतिष्ठते, वितिष्ठते–यहाँ 'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्' से

'स्था' धातु से परस्मैपद की प्राप्ति थी, किन्तु 'सम्', 'अव', 'प्र' तथा 'वि' उपसर्गों से उत्तर 'स्था' धातु से प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद का विधान किया है।

७३७. अपह्नवे ज्ञः १।३।४४

शतमपजानीते, अपलपतीत्यर्थः।

प० वि०–अपह्नवे ७।१।। ज्ञः ५।१।। **अनु०**–आत्मनेपदम्, धातोः।

अर्थः–'**ज्ञा**' धातु से 'छिपाना' या 'इन्कार करना' अर्थ में आत्मनेपद होता है।

'ज्ञा' धातु का अपह्नव अर्थ या छिपाना अर्थ 'अप' उपसर्ग पूर्वक ही होता है अतः 'अप' उपसर्ग पूर्वक 'ज्ञा' धातु से ही आत्मनेपद होगा।

शतमपजानीते–(सौ को छिपाता है) यहाँ 'अप' पूर्वक 'ज्ञा' धातु का अर्थ 'छिपाना' है, अतः यहाँ प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होता है।

७३८. अकर्मकाच्च १।३।४५

सर्पिषो जानीते, सर्पिषोपायेन प्रवर्त्तत इत्यर्थः।

प० वि०–अकर्मकात्, ५।१।। च अ०।। **अनु०**–ज्ञः, आत्मनेपदम्, धातोः।

अर्थः–अकर्मक '**ज्ञा**' धातु से भी आत्मनेपद होता है।

विशेषः–ज्ञानार्थ 'ज्ञा' धातु सकर्मक है अतः तद्भिन्न अर्थों ('प्रवृत होना' आदि) में जब 'ज्ञा' धातु अकर्मक होगी तभी आत्मनेपद होगा। यथा–'**सर्पिषो जानीते**' (घृत के कारण भोजन में प्रवृत्त होता है) यहाँ 'ज्ञा' धातु प्रवृत्त्यर्थक होने से अकर्मक है, अतः प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होता है।

७३९. उदश्चरः सकर्मकात् १।३।५३

धर्ममुच्चरते, उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः।

प० वि०–उदः ५।१।। चरः ५।१।। सकर्मकात् ५।१।। **अनु०**–आत्मनेपदम्, धातोः।

अर्थः–'**उद्**' उपसर्ग से उत्तर सकर्मक '**चर्**' धातु से आत्मनेपद होता है,

धर्ममुच्चरते–(धर्म का उल्लंघन करता है) यहाँ 'चर्' धातु का कर्म 'धर्मम्' है। अतः 'उद्' उपसर्गपूर्वक 'चर्' धातु के सकर्मक होने से प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद हो जाता है।

७४०. समस्तृतीयायुक्तात् १।३।५४

रथेन सञ्चरते।

प० वि०–समः ५।१।। तृतीयायुक्तात् ५।१।। **अनु०**–चरः, आत्मनेपदम्, धातोः।

अर्थः–'**सम्**' पूर्वक '**चर्**' धातु से आत्मनेपद होता है, यदि वह तृतीयान्त से युक्त हो तो।

रथेन सञ्चरते–(रथ से सञ्चरण करता है) यहाँ 'चर्' धातु तृतीयान्त 'रथेन' से

युक्त है तथा 'सम्' पूर्वक है, अतः प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद हो जाता है। किन्तु जहाँ तृतीयान्त पद नहीं होगा वहाँ 'सम्' पूर्वक 'चर्' धातु से आत्मनेपद नहीं होता।

७४१. दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे १।३।५५

सम्पूर्वाद् दाणस्तृतीयान्तेन युक्तादुक्तम् स्यात्, तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे। दास्या संयच्छते कामी।

प० वि०—दाणः ५।१।। च अ०।। सा १।१।। चेत् अ०।। चतुर्थ्यर्थे ७।१।।

अनु०—समः, तृतीयायुक्तात्, आत्मनेपदम्, धातोः।

अर्थः—यदि 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'दाण्' धातु तृतीयन्त से युक्त हो तो उस 'दाण्' धातु से आत्मनेपद होता है, यदि वह तृतीया विभक्ति चतुर्थी के अर्थ में प्रयुक्त हुई हो तो।

दास्या संयच्छते कामी—(कामी पुरुष दासी को देता है) 'दासी के लिए देता है' इस 'दास्या' पद में तृतीया विभक्ति चतुर्थ्यर्थ में प्रयुक्त हुई है। 'दाण्' धातु के योग में चतुर्थी विभक्ति प्रयुक्त होती है किन्तु **'अशिष्ट व्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया'** इस वार्तिक से अशिष्ट व्यवहार (दासी को काम की इच्छा से देना) में 'दाण्' धातु से चतुर्थी के अर्थ में तृतीया होती है। इस प्रकार तृतीयान्त से युक्त 'सम्' पूर्वक 'दाण्' धातु से आत्मनेपद, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', शित् परे रहते 'पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्०' से 'दाण्' को 'यच्छ्' आदेश और 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'संयच्छते' रूप सिद्ध होता है।

७४२. पूर्ववत्सनः १।३।६२

सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्यं सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात्। एदिधिषते।

प० वि०—पूर्ववत् अ०।। सनः ५।१।। **अनु०**—आत्मनेपदम्, धातोः।

अर्थः—'सन्' प्रत्यय होने से पहले जो प्रकृतिभूत धातु आत्मनेपदी उसी के समान सन्नन्त धातु से भी आत्मनेपद होता है। अर्थात्—सन् की प्रकृतिभूत धातु यदि आत्मनेपदी होगी तो सन्नन्त धातु से भी आत्मनेपद होगा।

एदिधिषते—(बढ़ने की इच्छा करता है) यहाँ 'एध्' धातु अनुदात्तेत् होने से 'अनुदात्तङित आत्मने०' से आत्मनेपदी है अतः 'सन्' प्रत्ययान्त 'एदिधिष' धातु बनने पर 'पूर्ववत् सनः' से आत्मनेपद का विधान किया गया है।

७४३. हलन्ताच्च १।२।१०

इक्समीपाद्धलः परो झलादिः सन् कित्। निविविक्षते।

प० वि०—हलन्तात् ५।१।। च अ०।। **अनु०**—इकः, झल्, सन्, कित्।

अर्थः—'इक्' के समीप जो 'हल्', उस 'हल्' से उत्तर झलादि 'सन्' कित् होता है।

निविविक्षते—'नि' पूर्वक 'विश्' धातु से उत्तर 'सन्' आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते

'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण प्राप्त था, 'हलन्ताच्च' सूत्र से 'इक्' (इकार) के समीपवर्ती 'हल्' (शकार) से उत्तर झलादि 'सन्' के कित् होने के कारण 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध हो जाता है। 'नि+विश्+स' इस स्थिति में 'सन्यङोः' से 'विश्' को द्वित्व, अभ्यास-कार्य, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से शकार के स्थान में षकार, 'षढोः कः सि' से सकार परे रहते षकार के स्थान में ककार आदेश, 'आदेशप्रत्यय०' से सकार को षकार होकर 'निविविक्ष' बनने पर 'सनाद्यन्ता धातवः' से धातु संज्ञा, लट्, 'पूर्ववत्सनः' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'शप्', 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश और 'टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग को एत्व होकर 'निविविक्षते' रूप सिद्ध होगा।

७४४. गन्धनाऽवक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः १।३।३२

गन्धनम्-सूचनम्, उत्कुरुते-सूचयतीत्यर्थः। अवक्षेपणम्-भर्त्सनम्, श्येनो वर्त्तिकामुत्कुरुते-भर्त्सयतीत्यर्थः। हरिम् उपकुरुते-सेवत इत्यर्थः। परदारान् प्रकुरुते-तेषु सहसा प्रवर्तते। एधो दकस्योपस्कुरुते-गुणमाधत्ते। कथाः प्रकुरुते-कथयतीत्यर्थः। शतं प्रकुरुते-धर्मार्थं विनियुङ्क्ते। एषु किम्? कटं करोति। भुजोऽनवने (६७२) आदेनं भुङ्क्ते। अनवने किम्? महीं भुनक्ति।

॥ इति आत्मनेपदप्रक्रिया ॥

प० वि०—गन्धनाऽवक्षेपण.......प्रकथनोपयोगेषु ७।३।। कृञः ५।१।।
अनु०—आत्मनेपदम्, धातोः।

अर्थः—**गंधन** (दूसरे का दोष खोलना), **अवक्षेपण** (फटकारना या वश में करना), **सेवन** (सेवा करना), **साहसिक्य** (बलपूर्वक वश में करना, सहसा प्रवृत्त होना) **प्रतियत्न** (किसी वस्तु में नए गुणों का आधान करना), **प्रकथन** (प्रवचन या विस्तार से कहना) और **उपयोग** (धर्मादि कार्यों में व्यय करना) अर्थों में **'कृ'** धातु से आत्मनेपद होता है।

उत्कुरुते—यहाँ उत्पूर्वक 'कृ' धातु दूसरों के 'दोष प्रदर्शन' अथवा 'चुगली' अर्थ में प्रयुक्त होने से प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद हुआ है। इसी प्रकार **'श्येनो वर्तिकामुत्कुरुते'** यहाँ 'उत्' पूर्वक 'कृ' धातु का अर्थ 'वश में करना', **'हरिमुपकुरुते'** यहाँ उपपूर्वक 'कृ' धातु का अर्थ 'सेवा करना', **'परदारान् प्रकुरुते'** यहाँ 'प्र' पूर्वक 'कृ' धातु का अर्थ 'बलपूर्वक निन्दित कर्म में प्रवृत्त होना', **'एधो दकस्योपस्कुरुते'** यहाँ 'उप' पूर्वक 'कृ' धातु का अर्थ 'प्रतियत्न' अर्थात् गुणों का आधान करना, **'कथाः प्रकुरुते'** यहाँ 'प्र' पूर्वक 'कृ' धातु का अर्थ 'प्रकथन' अर्थात् अच्छी तरह समझाना और **'शतम् प्रकुरुते'** यहाँ 'प्र' पूर्वक 'कृ' धातु का अर्थ 'उपयोग करना' होने से सर्वत्र **'कृ'** धातु से प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होता है।

एषु किम्—इन अर्थों से अतिरिक्त अर्थों मे यह सूत्र आत्मनेपद का विधान नहीं करता। अन्यत्र 'शेषात्कर्त्तरि०' से परस्मैपद ही होता है। यथा **'कटं करोति'** में 'निर्माण' अर्थ वाली 'कृ' धातु से परस्मैपद ही होता है।

लघुसिद्धान्तकौमुदीकार पूर्व व्याख्यायित आत्मनेपद विधायक सूत्र का पुनः स्मरण कराने के लिए उल्लेख करते हैं। **'भुजोऽनवने'**- **अर्थः**–'भुज्' धातु से 'पालन–भिन्न' अर्थ में 'अर्थात् (भोजनादि अर्थों में) आत्मनेपद होता है।

ओदनं भुङ्क्ते–यहाँ 'भुज्' धातु का अर्थ 'भोजन करना' है अतः 'पालन -भिन्न' अर्थ में प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद हुआ है।

अनवने किम्–सूत्र में 'अनवने' पद का प्रयोजन क्या है? यदि 'भुजः' इतना ही सूत्र बनाते तो 'भुज्' धातु से सभी अर्थों में सामान्य रूप से आत्मनेपद होने लगता जो कि 'पालन करना' अर्थ में इष्ट नहीं है। अतः 'रक्षण' या 'पालन' अर्थवाली **'भुज्'** धातु से आत्मनेपद न हो जाए इसलिए **'अनवने'** पद का समावेश किया है। जैसे–**'महीं भुनक्ति'** पृथ्वी का पालन करता है, यहाँ भुज्' धातु 'पालन' से भिन्नार्थक नहीं अपितु पालनार्थक ही है। अतः यहाँ 'भुनक्ति' में परस्मैपद हुआ है।

॥ आत्मनेपदप्रक्रिया समाप्ता॥

अथ परस्मैपदप्रक्रिया

७४५. अनुपराभ्यां कृञः १।३।७९

कर्तृगे च फले गन्धनादौ च परस्मैपदं स्यात्। अनुकरोति, पराकरोति।

प० वि०—अनुपराभ्यां ५।२।। कृञः ५।१।। **अनु०**—परस्मैपदम्, धातोः।

अर्थः—**'अनु'** तथा **'परा'** पूर्वक **'कृ'** धातु से क्रियाफल कर्तृगामी होने पर भी परस्मैपद होता है और गन्धन, अवक्षेपण आदि अर्थों में भी।

विशेष—'डुकृञ् करणे' धातु ञित् है। अतः क्रियाफल कर्तृगामी होने की स्थिति में 'स्वरितञितः कर्त०' से आत्मनेपद प्राप्त था। इसके अतिरिक्त **गन्धन, अवक्षेपण** और **सेवन** आदि अर्थों में भी सामान्य रूप से (क्रियाफल कर्तृगामी होने तथा न होने पर भी) 'गन्धनावक्षेण०' से आत्मनेपद प्राप्त था। यह सूत्र इन दोनों का ही अपवाद है, अतः कर्तृगामी क्रियाफल होने पर और गन्धानादि अर्थों में भी 'अनु' और 'परा' पूर्वक 'कृ' धातु से परस्मैपद ही होता है, आत्मनेपद नहीं। यथा— **'अनुकरोति'** तथा **'पराकरोति'** में 'अनु' तथा 'परा' पूर्वक 'कृ' धातु से परस्मैपद ही होता है।

७४६. अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः १।३।८०

क्षिप प्रेरणे। स्वरितेत्। अभिक्षिपति।

प० वि०—अभिप्रत्यतिभ्यः ५।३।। क्षिपः ५।१।। **अनु०**—परस्मैपदम्, धातोः।

अर्थः—**'अभि'**, **'प्रति'** तथा **'अति'** उपसर्गों से उत्तर **'क्षिप्'** धातु से परस्मैपद होता है।

अभिक्षिपति—यहाँ 'क्षिप्' धातु तुदादिगण में स्वरितेत् पढ़ी गई है। अतः 'स्वरितञितः०' से स्वरितेत् धातु से क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद प्राप्त था, जिसे बाधकर प्रकृत सूत्र से 'अभि', 'प्रति' तथा 'अति' उपसर्गों से उत्तर स्वरितेत् 'क्षिप्' धातु से परस्मैपद होता है।

७४७. प्राद्वहः १।३।८१

प्रवहति।

प० वि०—प्राद् ५।१।। वहः ५।१।। **अनु०**—परस्मैपदम्, धातोः।

अर्थः—**'प्र'** उपसर्ग से उत्तर **'वह्'** धातु से परस्मैपद होता है।

प्रवहति–उदाहरण में 'वह प्रापणे' धातु भ्वादिगण में स्वरितेत् पठित है, अतः 'स्वरितञितः०' से क्रियाफल कर्तृगामी होने पर स्वरितेत् धातु से आत्मनेपद प्राप्त था, जिसे बाधकर प्रकृत सूत्र द्वारा 'प्र' पूर्वक 'वह्' धातु से क्रियाफल कर्तृगामी होने पर भी परस्मैपद का विधान किया गया है।

७४८. परेर्मृषः १।३।८२

परिमृष्यति।

प० वि०–परेः ५।१।। मृषः ५।१।। **अनु०**–परस्मैपदम्, धातोः।

अर्थः–'**परि**' उपसर्ग से उत्तर '**मृष**' धातु से परस्मैपद होता है।

परिमृष्यति–यहाँ 'मृष तितिक्षायाम्' धातु दिवादिगण में स्वरितेत् पठित होने से क्रियाफल कर्तृगामी होने पर 'स्वरितञितः०' से आत्मनेपद की प्राप्ति थी, जिसे बाधकर क्रियाफल कर्तृगामी होने पर भी प्रकृत सूत्र द्वारा 'परि' पूर्वक 'मृष' धातु से परस्मैपद विधान किया गया है।

७४९. व्याङ्परिभ्यो रमः १।३।८३

रमु क्रीडायाम्। विरमति।

प० वि०–व्याङ्परिभ्यः ५।३।। रमः ५।१।। **अनु०**–परस्मैपदम्, धातोः।

अर्थः–'**वि**', '**आङ्**' तथा '**परि**' उपसर्ग से उत्तर '**रम्**' धातु से परस्मैपद होता है।

विरमति–(रुकता है, विरत होता है) यहाँ 'रमु क्रीडायाम्' धातु के भ्वादिगण में अनुदात्तेत् पठित होने से 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से आत्मनेपद की प्राप्ति थी, किन्तु 'वि', 'आङ्' और 'परि' उपसर्गों से उत्तर 'रम्' धातु से प्रकृत सूत्र से परस्मैपद का विधान किया गया है।

७५०. उपाच्च १।३।८४

यज्ञदत्तमुपरमति। उपरमयतीत्यर्थः। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम्।

॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

॥ इति पदव्यवस्था ॥

प० वि०–उपात् ५।१।। च अ०।। **अनु०**–रमः, परस्मैपदम्, धातोः।

अर्थः–'**उप**' उपसर्ग पूर्वक '**रम्**' धातु से परस्मैपद होता है।

यज्ञदत्तमुपरमति (यज्ञदत्त को हटाता है, मारता है)

विशेष–अष्टाध्यायी में प्रकृत सूत्र के अनन्तर सूत्र 'विभाषाऽकर्मकात्' से 'उप' पूर्वक अकर्मक 'रम्' धातु से विकल्प से परस्मैपद का विधान किया गया है, जबकि प्रकृत सूत्र से 'उप' पूर्वक 'रम्' धातु से नित्य ही परस्मैपद का विधान किया गया है। पूर्व सूत्र में अकर्मक 'रम्' धातु से विकल्प से परस्मैपद का विधान होने के कारण प्रकृत सूत्र को सकर्मक 'रम्' धातुविषयक मानना चाहिए। 'रम्' धातु स्वभावतः अकर्मक है, ऐसी

स्थिति में 'रम्' धातु के सकर्मकत्व का एक ही आधार हो सकता है, और यह है अन्तर्भावित णिजर्थ स्वीकार कर लेना। अर्थात् उपपूर्वक 'रम्' धातु में बिना 'णिच्' प्रत्यय के 'णिच्' के अर्थ **प्रेरणा** या **प्रयोज्य-प्रयोजक भाव** को स्वीकार कर लेना।

इस प्रकार 'उप' पूर्वक 'रम्' धातु का अर्थ 'विरत होना' या 'रुकना' के स्थान पर 'विरत करना' या 'रोकना' मान लिया जायेगा। जिससे अन्तर्भावित णिजर्थ वाली 'रम्' धातु सकर्मक हो जायेगी। इस स्थिति में ही यहाँ परस्मैपद होगा। जैसे– **'यज्ञदत्तमुपरमति'** इत्यादि उदाहरणों में 'उपरमति' का अर्थ 'उपरमयति' होगा। जिसका कर्म होगा 'यज्ञदत्त' इस प्रकार सकर्मक अन्तर्भावित णिजर्थक 'रम्' धातु से परस्मैपद हो सकेगा।

॥ परस्मैपद-प्रक्रिया समाप्ता॥

अथ भावकर्मप्रक्रिया

वाक्य संरचना में क्रियापद सामान्यतः तीन अर्थों की ओर संकेत करते हुए दिखाई देते हैं जिसे पाणिनि ने 'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' (३७३) के द्वारा स्पष्ट करते हुए बताया है कि लकार सकर्मक धातुओं से **कर्त्ता** और **कर्म** में तथा अकर्मक धातुओं से **कर्त्ता** तथा **भाव** में होते हैं। यहाँ जिन 'भाव' और 'कर्म' अर्थों को लकार के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, उनमें **कर्म** व्याकरण का पारिभाषिक शब्द है जिसे 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र के द्वारा परिभाषित किया गया है। 'भाव' धातु के अर्थ को ही कहा जाता है। क्रियापद के द्वारा इङ्गित अर्थ को आधार बनाकर भाषा विश्लेषण में तीन वाच्य, क्रमशः **कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य** और **भाववाच्य** स्वीकार किये जाते हैं।

जब वाक्य में क्रिया पद के द्वारा 'कर्म' के पुरुष और वचन सम्बन्धी जानकारी दी जाती है या क्रियापद के पुरुष और वचन कर्म के अनुसार होते हैं तो वह **कर्मवाच्य** कहलाता है।

जब वाक्य में क्रियापद के द्वारा कर्त्ता अथवा कर्म के विषय में कुछ भी सूचना नहीं मिलती, वह केवल धातु के अर्थ (भाव मात्र) को अभिव्यक्त करता है तो वह **भाववाच्य** कहलाता है। चूँकि 'भाव' अर्थात् क्रिया में पुरुष अथवा वचन का भेद-भाव नहीं होता इसलिए भाववाच्य में प्रथम पुरुष, एक वचन की क्रिया का ही प्रयोग होता है। जिसे आगे भाव और कर्म प्रक्रिया में देखा जा सकेगा।

७५१. भावकर्मणोः १।३।१३

लस्यात्मनेपदम्।

प० वि०—भावकर्मणोः ७।२।। **अनु०**—आत्मनेपदम्।

अर्थः—भाव और कर्म में लकार के स्थान में आत्मनेपदसंज्ञक (त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्) प्रत्यय होते हैं।

विशेषः—कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में सभी धातुओं से, चाहे वह परस्मैपदी हो या आत्मनेपदी, सर्वत्र आत्मनेपद ही होता है।

७५२. सार्वधातुके यक् ३।१।६७

धातोर्यक् भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके। भावः क्रिया, सा च भावार्थक-लकारेणाऽनूद्यते। युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याऽभावात् प्रथमः पुरुषः। तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि। किन्त्वेकवचन-मेवोत्सगर्तः। त्वया मयाऽन्यैश्च भूयते। बभूवे।

प० वि०—सार्वधातुके ७।१।। यक् १।१।। **अनु०**-भावकर्मणोः, धातोः।

अर्थः—भाव या कर्मवाची सार्वधातुक परे रहते धातु से **'यक्'** प्रत्यय होता है।

भाव शब्द धातु के अर्थ, 'क्रिया' का वाचक है, उस क्रिया अर्थात् भाव का भावार्थक लकार के द्वारा अनुवाद किया जाता है। भाववाच्य में लकार के स्थान में होने वाले 'तिङ्' प्रत्यय का अर्थ धात्वर्थ क्रिया-मात्र होता है, अतः 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के साथ उसकी एकाधिकरणता भी नहीं हाती। यही कारण है कि 'शेषे प्रथमः' से केवल प्रथम पुरुष ही होता है। जहाँ तक वचन का सम्बन्ध है, वह भी, तिङ्वाच्य क्रिया का मूर्त्तरूप न होने के कारण, संभव नहीं है। अतः अनिमित्तक औत्सर्गिक एक वचन का प्रयोग भाववाच्य में किया जाता है, द्विवचन और बहु वचन का नहीं । इसीलिए प्रस्तुत उदाहरण– **'त्वया मयाऽन्यैश्च भूयते'** में 'त्वया', 'मया' और 'अन्यैः' के साथ लट्, प्र० पु०, एक व० 'भूयते' क्रियापद ही प्रयुक्त होता है।

भूयते

भू	'भूवादयो०' से धातु' संज्ञा, 'वर्त्तमाने लट्' से 'लट्' प्रत्यय, 'लः कर्मणि च भावे०' से भाव में आया
भू लट्	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, 'भावकर्मणोः' से धातु से उत्तर लकार के स्थान में आत्मनेपद, 'शेषे प्रथमः' से प्रथम पुरुष तथा भाव में औत्सर्गिक एक वचन होने पर 'त' आया
भू त	'सार्वधातुके यक्' से भाववाची सार्वधातुक परे रहते धातु से 'यक्' प्रत्यय हुआ, अनुबन्ध-लोप
भू य त	'टित आत्मनेपदानां टेरेः' से टिभाग 'अ' को एत्त्व होकर
भूयते	रूप सिद्ध होता है।

बभूवे–'भू' धातु से 'परोक्षे लिट्' से 'लिट्', 'लः कर्मणि च भावे०' से भाव में हुआ, 'भावकर्मणोः' से आत्मनेपद, प्रथम पुरुष, एक व० में 'त' आने पर 'लिटस्तझयो०' से 'त' के स्थान में 'एश्', 'भुवो वुक्०' से 'वुक्' आगम तथा 'बभूव' (३९९) के समान द्वित्व तथा अभ्यास-कार्य होकर 'बभूवे' रूप सिद्ध होता है।

७५३. स्य-सिच्-सीयुट्-तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च ६।४।६२

उपदेशे योऽच् तदन्तानां हनादीनां च चिणीव अङ्गकार्यं वा स्यात् स्यादिषु

भावकर्मणोर्गम्यमानयोः, स्यादीनामिडागमश्च। चिण्वद्भावपक्षेऽयमिट्। चिण्वद्भावाद् वृद्धिः—भाविता, भविता। भाविष्यते, भविष्यते। भूयताम्, अभूयत। भूयेत। भाविषीष्ट, भविषीष्ट।

प० वि०—स्यसिच्.....तासिषु ७।३।। भावकर्मणोः ७।२।। उपदेशे ७।१।। अज्झनग्रहदृशाम् ६।३।। वा अ०।। चिण्वत् अ०।। इट् १।१।। च अ०।।

अर्थः—भाव और कर्म का विषय बनने पर स्य, 'सिच्', 'सीयुट्' और 'तास्' परे रहने पर उपदेश में जो अच्, तदन्त अङ्ग को तथा **हन्, ग्रह्** और **दृश्** धातुओं को विकल्प से चिण्वत् कार्य होते हैं तथा चिण्वत् पक्ष में 'स्य', 'सिच्' आदि को 'इट्' आगम भी होता है।

अर्थात्—भाव और कर्मवाच्य में अजन्त धातुओं तथा हन्, ग्रह् और दृश् धातुओं से उत्तर 'स्य', 'सिच्', 'सीयुट्' और 'तास्' को विकल्प से इडागम होता है तथा 'चिण्' परे रहते अङ्ग को जो कार्य प्राप्त होते हैं, वे ही कार्य 'स्य' आदि परे रहते भी होते हैं।

जैसे—णित् परे रहते 'अचो ञ्णिति' आदि से वृद्धि, 'आतो युक् चिण्कृतोः' से आकारान्त धातु को 'युक्' आगम, 'हो हन्ते०' से हकार को घकार तथा 'चिण्णमुलोः दीर्घोऽन्यतरस्याम्' से मित् अङ्ग की उपधा को दीर्घ आदि कार्य भाव और कर्म में इडादि 'स्य', 'सिच्', 'सीयुट्' और 'तास्' परे रहते भी हो जाते हैं।

भाविता—'भू' धातु से भाव तथा कर्मवाच्य में लुट्, 'भावकर्मणोः' से आत्मनेपद प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लुटः प्रथमस्य०' से 'त' को 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्' आने पर 'भू+तास्+डा' इस स्थिति में 'स्यसिच्सीयुट्०' से विकल्प से चिण्वद्भाव तथा 'इट्' आगम होने पर 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि 'औ', 'एचोऽयवायावः' से 'औ' को आवादेश तथा डित्सामर्थ्य से 'टि' भाग 'आस्' का लोप होकर 'भाविता' रूप सिद्ध होता है।

भविता—चिण्वद्भाव के अभाव पक्ष में गुण तथा अवादेश होकर 'भविता' रूप सिद्ध होता है।

भाविष्यते, भविष्यते—यहाँ भाव अथवा कर्म में 'लृट्' लकार में 'स्य' को चिण्वद्भाव होने पर वृद्धि, आवादेश तथा 'टित आत्मने०' से एत्व होकर 'भाविष्यते' तथा अभाव पक्ष में 'भविष्यते' रूप सिद्ध होते हैं।

भूयताम्—भाव-कर्म में लोट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्', 'टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग को एत्व तथा 'आमेतः' से एकार को 'आम्' आदेश होकर 'भूयताम्' रूप सिद्ध होता है।

भूयेत—भाव अथवा कर्म में वि० लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', 'सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्', 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्', 'लिङः सलोपो०' से सकारों का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप और 'आद् गुणः' से गुण होकर **भूयेत** रूप सिद्ध होता है।

भाविषीष्ट, भविषीष्ट—भाव अथवा कर्म में आशीर्वाद अर्थ में लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्', इडागम, 'सुट् तिथोः' से 'सुट्', 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप होने पर 'भू+इ+सी+स्+त' यहाँ 'स्यसिच्सीयुट् तासिषु०' से चिण्वद्भाव होने पर 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि, आवादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से दोनों सकारों को मूर्धन्य षकार तथा ष्टुत्व होकर 'भाविषीष्ट' एवं चिण्वद्भाव न होने पर गुण तथा अवादेश होकर 'भविषीष्ट' रूप सिद्ध होते हैं।

७५४. चिण् भाव-कर्मणोः ३।१।६६

च्लेश्चिण् स्याद् भावकर्मवाचिनि तशब्दे परे। अभावि। अभाविष्यत, अभविष्यत। अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात् सकर्मकः। अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण, त्वया मया च। अनुभूयेते। अनुभूयन्ते। त्वम् अनुभूयसे। अहमनुभूये। अन्वभावि। अन्वभाविषाताम्, अन्वभविषाताम्। णिलोपः-भाव्यते। भावयाञ्चक्रे, भावयाम्बभूवे, भावयामासे। चिण्वदिट्-भाविता, आभीयत्वेनासिद्धत्वाण्णिलोपः। भावयिता। भावयिषीष्ट। अभावि। अभाविषाताम्, अभावयिषाताम्। बुभूष्यते। बुभूषाञ्चक्रे। बुभूषिता। बुभूषिष्यते। बोभूयते। बोभूय्यते। अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (४८३) स्तूयते विष्णुः। स्ताविता, स्तोता। स्ताविष्यते, स्तोष्यते। अस्तावि। अस्ताविषाताम्। अस्तोषाताम्। ऋगतौ। 'गुणोऽर्त्ति०' (४९८) इति गुणः-अर्यते स्मृ स्मरणे। स्मर्यते। सस्मरे। उपदेशग्रहणाच्चिण्वदिट्-आरिता, अर्ता। स्मारिता, स्मर्ता। 'अनिदिताम्०' (३३४) इति नलोपः-स्रस्यते। इदितस्तु नन्द्यते। सम्प्रसारणम्-इज्यते।

प० वि०—चिण् १।१।। भावकर्मणोः ७।२।। **अनु०**—ते, च्लेः।

अर्थः—भाव और कर्मवाची **'त'** शब्द परे रहते **'च्लि'** के स्थान पर **'चिण्'** आदेश होता है।

अभावि—'भू' धातु से भाव में 'लुङ्', 'भावकर्मणोः' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर 'च्लि लुङि' से 'च्लि' हुआ। 'भू+च्लि+त' यहाँ 'चिण् भावकर्मणोः' से भाववाची 'त' शब्द परे रहते 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' आदेश, 'अचो ञ्णिति' से 'उ' को वृद्धि, 'औ' आवादेश और अडागम होने पर 'अभावि+त' यहाँ 'चिणो लुक्' से 'चिण्' से उत्तर 'त' का लुक् होकर 'अभावि' रूप सिद्ध होता है।

अभाविष्यत—'भू' धातु से भाव या कर्म में लृङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्यतासी०' से 'स्य', 'स्यसिच्सीयुट्०' से 'स्य' को विकल्प से चिण्वद्भाव और इडागम होने पर 'भू+इ+स्य+त' यहाँ 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि, आवादेश तथा अडागम होकर 'अभाविष्यत' रूप सिद्ध होता है।

अभविष्यत—चिण्वद्भाव-अभाव पक्ष में वलादिलक्षण 'इट्', गुण तथा अवादेश होकर 'अभविष्यत' रूप सिद्ध होता है।

'भू' धातु यद्यपि अकर्मक है तथापि उपसर्गों के कारण अर्थ परिवर्तन हो जाने से

और इडागम दोनों के आभीय कार्य होने से 'असिद्धवदत्राभात्' से 'णेरनिटि' से प्राप्त णि–लोप की दृष्टि में 'स्यसिच्०' से किया गया इडागम असिद्ध हो जाता है, अतः 'तास्' को अनिडादि मानकर 'णेरनिटि' से 'णि' का लोप होने पर 'भाव्+इ तास्+आ' यहाँ डित्सामर्थ्य से टिभाग 'आस्' का लोप होकर 'भाविता' रूप सिद्ध होता है।

भावयिता–चिण्वद्भाव के अभाव पक्ष में 'भावि+तास्+डा' इस स्थिति में 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम होने पर 'णि' लोप का अभाव, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण 'ए', 'एचोऽयवा०' से अयादेश तथा डित्सामर्थ्य से टिभाग का लोप होकर 'भावयिता' रूप सिद्ध होता है।

भावयिषीष्ट–आशीर्लिङ् में चिण्वद्भाव तथा 'इट्' के अभाव पक्ष में 'भावि+सी+स्+त' इस स्थिति में 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, अयादेश, षत्व तथा ष्टुत्व होकर 'भावयिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अभावि–णिजन्त 'भावि' धातु से लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'भावि+च्लि+त' इस स्थिति में 'चिण् भावकर्मणोः' से 'च्लि' को 'चिण्', 'णेरनिटि' से णिलोप, 'चिणो लुक्' से 'त' का लुक् तथा अडागम होकर 'अभावि' रूप सिद्ध होता है।

अभाविषाताम्–'भावि', लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्' तथा 'सिच्' आने पर 'भावि+स्+आताम्' यहाँ 'सिच्' को विकल्प से चिण्वद्भाव तथा इडागम होने पर, 'स्यसिच्सीयुट्०' तथा 'णेरनिटि' के आभीय प्रकरण में होने से इडागम के 'असिद्धवदत्राऽभात्' से असिद्ध हो जाने पर 'णेरनिटि' से 'णि' का लोप, 'आदेशप्रत्यय०' से मूर्धन्य षकार तथा अडागम होकर 'अभाविषाताम्' रूप सिद्ध होता है।

अभावयिषाताम्–चिण्वद्भाव तथा 'इट्' के अभाव पक्ष में 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्', 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, अयादेश, अडागम तथा षत्व होकर 'अभावयिषाताम्' रूप सिद्ध होता है।

बुभूष्यते–सन्नन्त 'बुभूष' धातु से भाववाच्य, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्', 'अतो लोपः' से आर्धधातुक परे रहते अकार का लोप तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'बुभूष्यते' रूप सिद्ध होता है।

बुभूषाञ्चक्रे–सन्नन्त 'बुभूष' धातु से भाववाच्य, लिट्, प्र० पु०, एक व० में सिद्धि–प्रक्रिया 'बोभूयाञ्चक्रे' (७१२) के समान जानें।

बुभूषिता–सन्नन्त 'बुभूष' धातु से भाववाच्य, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'तास्', लुटः प्रथमस्य०' से 'त' के स्थान में 'डा' तथा इडागम होने पर 'बुभूष+इ+तास्+आ' इस स्थिति में 'अतो लोपः' से अकार का लोप तथा डित्सामर्थ्य से टिभाग 'आस्' का लोप होकर 'बुभूषिता' रूप सिद्ध होता है।

बुभूषिष्यते–'बुभूष' धातु से लृट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'स्य' को इडागम,

'अतो लोप:' से अकार लोप, 'आदेशप्रत्यययो:' से षत्व तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर 'बुभूषिष्यते' रूप सिद्ध होता है।

बोभूय्यते–यङन्त 'बोभूय' धातु से भाव में लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', सार्वधातुके यक्' से 'यक्', 'अतो लोप:' से आर्धधातुक परे रहते अकार-लोप और 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'बोभूय्यते' रूप सिद्ध होता है।

बोभूयते–यङ्लुगन्त 'बोभू' धातु से भाव में लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त' आने पर 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्' तथा 'टित-आत्मनेपद०' से एत्व होकर 'बोभूयते' रूप सिद्ध होता है।

स्तूयते–'स्तु' धातु से कर्मवाच्य, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', और 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्' आने पर 'अकृत्सार्वधातु०' से 'कृत्' और 'सार्वधातुक' से भिन्न यकारादि प्रत्यय 'यक्' परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ तथा 'टित आत्मने०' से एत्व होकर 'स्तूयते' रूप सिद्ध होता है।

स्ताविता, स्तोता–'स्तु' धातु से कर्मवाच्य, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'तास्', 'लुट: प्रथमस्य०' से 'त' को 'डा' आदेश, 'स्यसिच्सीयुट्०' से 'तास्' को विकल्प से इडागम तथा चिण्वद्भाव होने पर 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि तथा आवादेश होकर 'स्ताविता' और चिण्वद्भाव तथा 'इट्' के अभाव-पक्ष में केवल गुण होकर 'स्तोता' रूप जानें।

अस्तावि की सिद्धि-प्रक्रिया 'अभावि' के समान जानें।

अस्ताविषाताम्–अस्तोषाताम्–यहाँ 'स्तु', कर्मवाच्य, लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'सिच्', 'स्यसिच्सीयुट्०' से 'सिच्' को इडागम तथा चिण्वद्भाव होने पर पूर्ववत् वृद्धि तथा आवादेशादि होकर 'अस्ताविषाताम्' और चिण्वद्भाव-अभाव तथा 'इट्' अभाव पक्ष में गुण होकर 'अस्तोषाताम्' रूप सिद्ध होते हैं।

अर्यते–'ऋ गतौ' धातु से कर्मवाच्य, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त' और 'यक्' आने पर 'ऋ+य+त' इस स्थिति में 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्यो:' से 'ऋ' धातु को 'यक्' परे रहते गुण, 'उरण् रपर:' से रपर तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'अर्यते' रूप सिद्ध होता है

स्मर्यते–इसी प्रकार 'स्मृ' धातु से 'स्मर्यते' की सिद्धि-प्रक्रिया जाननी चाहिए।

सस्मरे–'स्मृ', लिट्, 'भावकर्मणो:' से आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'लिटस्तझयो०' से 'त' के 'एश्' आदेश, 'लिटि धातोरन०' से द्वित्व, 'हलादि: शेष:' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष, 'उरत्' से 'ऋ' को ह्रस्व 'अ' आदेश, उरण् रपर: से रपर हुआ, पुन: 'हलादि: शेष:', 'ऋतश्च संयोगादेर्गुण:' से संयोगादि ऋकारान्त अङ्ग को लिट् परे रहते गुण, 'उरण् रपर:' से रपर होकर 'सस्मरे' रूप सिद्ध होता है।

'स्यसिच्सीयुट्०' सूत्र में 'उपदेशे' पद का प्रयोजन यह है कि उपदेश में अजन्त 'स्मृ' तथा 'ऋ' आदि धातुओं से उत्तर 'स्य', 'सिच्' तथा 'तास्' आदि को विकल्प से चिण्वद्भाव और इडागम होकर–**आरिता, अर्ता** तथा **स्मारिता, स्मर्ता** आदि बन सकें।

सकर्मक हो जाती है। इसलिए 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'भू' धातु के 'अनुभूयते', 'अनुभूयेते' तथा 'अनुभूयन्ते' आदि रूपों के समान अन्य सभी लकारों के तीनों पुरुषों तथा तीनों वचनों में रूप दिखाई देते हैं।

'अनुभूयते' की सिद्धि–प्रक्रिया 'अनु' उपसर्ग पूर्वक 'भू' धातु से 'भूयते' के समान ही जाननी चाहिए।

अन्वभावि–'अनु' उपसर्ग पूर्वक 'भू' धातु से कर्मवाच्य में लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'अभावि' बनने पर 'अनु' के उकार को 'इको यणचि' से यणादेश होकर 'अन्वभावि' रूप सिद्ध होता है।

अन्वभाविषाताम्–'अनु' उपसर्ग पूर्वक 'भू' धातु से कर्मवाच्य में लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'आताम्', 'सिच्' और 'इट्' आदि होने पर 'अनु+भू+इ+स+आताम्' यहाँ 'स्यसिच्सीयुट्०' से कर्मवाच्य में 'सिच्' को विकल्प से चिण्वद्भाव होने पर 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि, आवादेश, अडागम, 'इको यणचि' से यणदेश तथा 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'अन्वभाविषाताम्' रूप सिद्ध होता है।

अन्वभविषाताम्–चिण्वद्भाव के अभाव पक्ष में वलादिलक्षण 'इट्', गुण और अवादेश होकर 'अन्वभविषाताम्' रूप सिद्ध होता है।

कर्मवाच्य, 'लिट्' लकार में 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'भू' धातु से **'अनुबभूवे'**, **'अनुबभूवाते'** आदि की सिद्धि–प्रक्रिया 'बभूवे' (७५२) के समान जानें।

भाव्यते–'भू' धातु से 'हेतुमति च' से 'णिच्' और 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि होकर 'भावि' बनने पर 'सनाद्यन्ता०' से 'धातु' संज्ञा, भाववाच्य लट्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त' तथा 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्' आने पर 'भावि+य+त' इस स्थिति में 'णेरनिटि' से अनिडादि आर्धधातुक परे रहते 'णि' का लोप तथा 'टित आत्मने०' से एत्व होकर 'भाव्यते' रूप सिद्ध होता है।

भावयाञ्चक्रे–णिजन्त 'भावि' धातु से 'लिट्' परे रहते 'कास्यनेकाचो आम् वक्तव्यो लिटि' से 'आम्', 'णेरनिटि' से प्राप्त होने वाले णिलोप को बाधकर 'अयामन्ताल्वाय्ये०' से 'णि' के इकार को अयादेश होकर 'भावयाम्+लिट्' बनने पर 'आमः' से लिट् का लुक्, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' से लिट् परक 'कृ' का अनुप्रयोग होने पर शेष सिद्धि–प्रक्रिया 'एधाञ्चक्रे (५१३) के समान जानें।

भावयाम्बभूवे, भावयामासे–इसी प्रकार लिट् परक 'भू' और 'अस्' का अनुप्रयोग होने पर 'भावयाम्बभूवे' तथा भावयामासे' की सिद्धि–प्रक्रिया जानें।

भाविता–णिजन्त 'भावि' धातु से लुट्, 'तास्', 'त' और 'त' के स्थान में 'डा' होने पर 'स्यसिच्सीयुट्०' से विकल्प से 'इट्' आगम तथा चिण्वद्भाव कार्य होने पर 'तास्' के इडादि होने से 'णेरनिटि' से 'णि' का लोप नहीं हो सकता था, परन्तु 'णेरनिटि' (६. ४.५१) से होने वाला 'णि' का लोप तथा 'स्यसिच्सीयुट्०' (६.४.६२) से प्राप्त चिण्वद्भाव

स्रस्यते–'स्रंस्' धातु से भाव अथवा कर्म वाच्य में लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त' और 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्' करने पर 'अनिदितां हल०' से कित् परे रहते उपधाभूत नकार का लोप तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' भाग को एत्व होकर 'स्रस्यते' रूप बनता है।

नन्द्यते–'टुनदि' समृद्धौ' धातु को 'इदितो नुम् धातोः' से 'नुम्' आगम, कर्म वाच्य, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त' और 'यक्' आने पर 'नन्द्+य+त' यहाँ 'अनिदितां हल०' से, धातु के इदित् होने से, उपधाभूत नकार का लोप न होने से 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'नन्द्यते' रूप सिद्ध होता है।

इज्यते–'यज्' धातु से कर्मवाच्य, लट्, प्र० पु० एक व० में 'त', 'यक्' परे रहते 'वचिस्वपि०' से यकार को सम्प्रसारण (इकार), 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'इज्यते' सिद्ध होता है।

७५५. तनोतेर्यकि ६।४।४४

आकारान्तादेशो वा स्यात्। तायते, तन्यते।

प० वि०–तनोतेः ६।१।। यकि ७।१।। **अनु०**–आत्, विभाषा।

अर्थः–**'यक्'** परे रहते **'तन्'** धातु को विकल्प से आकार आदेश होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से आकार आदेश अन्तिम अल् (नकार) के स्थान में होता है।

तन्यते, तायते–'तन्' धातु से भाव या कर्म में लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्', 'तनोतेर्यकि' से 'यक्' परे रहते नकार को विकल्प से आकार आदेश तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'तायते' तथा आकार आदेश न होने परे 'तन्यते' रूप सिद्ध होते हैं।

७५६. तपोऽनुतापे च ६।१।६५

तपश्चलेश्चिण् न स्यात् कर्मकर्तरि अनुतापे च। अन्वतप्त पापेन। घुमास्था० (५८८) इतीत्त्वम्-दीयते। धीयते। ददे।

प० वि०–तपः ५।१।। अनुतापे ७।१।। च अ०।। **अनु०**–च्लेः, चिण्, न, कर्मकर्तरि।

अर्थः–कर्मकर्त्ता में अथवा **अनुताप** अर्थात् **पश्चात्ताप** अर्थ में 'तप्' (सन्तापे) धातु से उत्तर 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' आदेश नहीं होता।

यथा–**अन्वतप्त पापेन** (पाप से अनुतप्त या दुःखी किया गया) यहाँ 'अनु' पूर्वक 'तप्' धातु का प्रयोग पश्चात्ताप अर्थ में हुआ है।

अन्वतप्त–'अनु' पूर्वक 'तप्' धातु से कर्मवाच्य, लुङ्, आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि' तथा 'अट्' आने पर 'अनु+अट्+तप्+च्लि+त' इस स्थिति में 'चिण्

भावकर्मणोः' से 'च्लि' को 'चिण्' प्राप्त था, जिसका 'तपोऽनुतापे च' से अनुतापार्थक 'तप्' से उत्तर निषेध होने पर 'च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्', 'झलो झलि' से सकार-लोप तथा 'इको यणचि' से यणादेश उकार को वकार होकर 'अन्वतप्त' रूप सिद्ध होता है।

दीयते, धीयते—घुसंज्ञक 'दा' एवं 'धा' धातुओं से कर्मवाच्य, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्', 'घुमास्थागापा०' से 'यक्' परे रहते आकार को ईकार आदेश तथा 'टि' भाग को एत्व होकर 'दीयते' तथा 'धीयते' रूप सिद्ध होते हैं।

ददे—'दा', लिट्, प्र० पु०, एक व० में 'त' को 'लिटस्तझयो०' से 'एश्', द्वित्व और अभ्यास कार्य होने पर 'द दा +ए' इस स्थिति में 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'एश्' के स्थानिवद्भाव से कित् होने के कारण 'आतो लोप इटि च' से अजादि कित् आर्धधातुक परे रहते आकार का लोप होकर 'ददे' रूप सिद्ध होता है।

७५७. आतो युक् चिण्कृतोः ७।३।३३

आदन्तानां युगागमः स्यच्चिचणि ञ्णिति कृति च। दायिता-दाता। दायिषीष्ट-दासीष्ट। अदायि। आदयिषाताम्। (अदिषाताम्) भज्यते।

प० वि०—आतः ६।१।। युक् १।१।। चिण्कृतोः ७।२।। **अनु०**-ञ्णिति, अङ्गस्य।

अर्थः—आकारान्त अङ्ग को **'युक्'** आगम होता है चिण् परे रहते या ञित्, णित् कृत् प्रत्यय परे रहते।

दायिता, दाता—'दा' धातु से कर्मवाच्य, लुट्, प्र० पु०, एक व० में 'त' के स्थान में 'लुटः प्रथमस्य०' से 'डा', 'स्यतासी०' से 'तास्' आने पर 'स्यसिच्सीयुट्०' से कर्मवाच्य में 'तास्' को विकल्प से इडागम तथा चिण्वद्भाव होने पर आकारान्त 'दा' धातु को 'आतो युक् चिण्कृतोः' से 'युक्' आगम और डित्-करण सामर्थ्य से टि-लोप होकर 'दायिता' और चिण्वद्भाव तथा 'इट्' न होने पर 'दाता' रूप सिद्ध होते हैं।

दायिषीष्ट--'दा' धातु से कर्मवाच्य, आशीर्लिङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सीयुट्' तथा 'सुट्' आगम होने पर 'दा+सीयुट्+सुट्+त' इस स्थिति में 'स्यसिच्सीयुट्०' से विकल्प से चिण्वद्भाव और 'इट्' होने पर 'आतो युक् चिण्कृतोः' से 'युक्' आगम, 'लोपो व्योर्वलि' से यकार-लोप, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होने पर 'दायिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

दासीष्ट—चिण्वद्भाव तथा 'इट्' के अभाव पक्ष में 'दासीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

अदायि—'दा' धातु, कर्मवाच्य, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'दा+च्लि+त' यहाँ 'चिण् भावकर्मणोः' से 'च्लि' को 'चिण्' होने पर 'चिणो लुक्' से 'त' का लुक्, 'आतो युक्०' से 'युक्' तथा अडागम होकर 'अदायि' रूप सिद्ध होता है।

अदायिषाताम्—'दा', कर्मवाच्य, लुङ्, प्र० पु०, द्वि व० में 'दा+सिच्'+आताम्' यहाँ 'स्यसिच्सीयुट्०' से 'सिच्' को विकल्प से इडागम तथा चिण्वद्भाव होने पर 'आतो

युक्०' से 'युक्', 'आदेशप्रत्यय०' से षत्व तथा अडागम होकर 'अदायिषाताम्' रूप सिद्ध होता है।

अदिषाताम्–चिण्वद्भाव तथा उससे सम्बद्ध 'इट्' का अभाव होने पर 'स्थाघ्वोरिच्च' से आत्मनेपद परे रहते घुसंज्ञक 'दा' धातु के अन्तिम 'अल्' आकार को ह्रस्व इकारादेश तथा झलादि 'सिच्' कित् होकर 'अदिषाताम्' रूप सिद्ध होता है।

भज्यते–'भञ्ज्' धातु से कर्मवाच्य, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त' परे रहते 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्', 'अनिदितां हल उपधाया: क्ङिति' से कित् प्रत्यय परे रहते उपधाभूत नकार (ञकार) का लोप तथा 'टित आत्मनेपदानां०' से टिभाग को एत्व होकर 'भज्यते' रूप सिद्ध होता है।

७५८. भञ्जेश्च चिणि ६।४।३३

नलोपो वा स्यात्। अभाजि, अभञ्जि। लभ्यते।

प० वि०–भञ्जे: ६।१।। च अ०।। **अनु०**–विभाषा, नलोप:।

अर्थ:–**'चिण्'** परे रहते **'भञ्ज्'** धातु के नकार का विकल्प से लोप होता है।

अभाजि–'भञ्ज्' धातु से लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'भञ्ज्+च्लि+त' यहाँ 'चिण् भावकर्मणो:' से 'च्लि' को 'चिण्' आदेश, 'चिणो लुक्' से 'चिण्' से उत्तर 'त' का लुक्, 'भञ्जेश्च चिणि' से 'चिण्' परे रहते 'भञ्ज्' धातु के नकार का विकल्प से लोप, 'अत उपधाया:' से अकार को वृद्धि तथा अडागम होकर 'अभाजि' रूप सिद्ध होता है।

अभञ्जि–जिस पक्ष में 'भञ्जेश्च०' से नकार-लोप नहीं होगा वहाँ उपधा-वृद्धि नहीं होगी, अत: 'अभञ्जि' रूप ही रहेगा।

लभ्यते–'लभ्' धातु से कर्मवाच्य, लट्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्' तथा टिभाग को एत्व होकर 'लभ्यते' रूप सिद्ध होता है।

७५९. विभाषा चिण्णमुलो: ७।१।६९

लभेर्नुमागमो वा स्यात्। अलम्भि, अलाभि।

।। इति भावकर्मप्रक्रिया ।।

प० वि०–विभाषा १।१।। चिण्णमुलो: ७।२।। **अनु०**–लभे:, नुम्।

अर्थ:–**'चिण्'** और **'णमुल्'** प्रत्यय परे रहते **'लभ्'** धातु को विकल्प से 'नुम्' आगम होता है।

अलम्भि–'लभ्', कर्मवाच्य, लुङ्, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि' के स्थान में 'चिण् भावकर्मणो:' से 'चिण्' आदेश होने पर 'विभाषा चिण्णमुलो:' से 'लभ्' धातु को 'चिण्' परे रहते 'नुम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्पर:' से अकार के पश्चात् हुआ। 'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्णादेश, 'चिणो लुक्' से 'त' का लुक् तथा अडागम होकर 'अलम्भि' रूप सिद्ध होता है।

अलाभि–जब 'विभाषा चिण्णमुलोः' से 'लभ्' को 'नुम्' नहीं होगा तो 'अत उपधायाः' से उपधा-वृद्धि तथा 'चिणो लुक्' से 'त' का 'लुक्' होकर 'अलाभि' रूप सिद्ध होता है।

॥भावकर्मप्रक्रिया समाप्ता॥

अथ कर्मकर्तृप्रक्रिया

भाषा में वाक्य-संरचना सर्वथा वक्ता के अधीन ही होती है। यही कारण है कि वक्ता वाक्य के विभिन्न घटकतत्वों को अपनी इच्छा के अनुसार भिन्न-भिन्न कारकों के रूप में प्रयुक्त करता है। इसी बात को व्याकरण-परम्परा में **'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति'** इस सर्वस्वीकृत सिद्धान्त के रूप में उद्धृत किया जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि वक्ता कभी-कभी प्रयोजनवश कर्म तथा करण आदि कारकों को भी कर्त्ता के रूप में प्रयोग करता हुआ दिखाई देता है। जैसे– **'परशुश्छिनत्ति'** यहाँ यद्यपि 'छेदन' अथवा काटने की क्रिया में परशु (कुल्हाड़ी) करण होता है तथापि वक्ता सौकर्यातिशय को द्योतित करने के लिए 'परशु' को कर्त्ता कारक के रूप में वाक्य में प्रयुक्त करता है।

इसी प्रकार **'स्थाली पचति'** में वस्तुतः 'स्थाली' कर्मद्वारा 'पचन' क्रिया का 'आधार' है तथापि वक्ता इसे कर्त्ता के रूप में वाक्य में प्रयुक्त करता है।

इसी प्रकार जब वक्ता किसी क्रिया के 'कर्म' को कर्म के रूप में न कहकर सौकर्यातिशय की विवक्षा अथवा अन्य प्रयोजन से उसे वाक्य में 'कर्त्ता' बना देता है तो उस प्रक्रिया को 'कर्मकर्तृ-प्रक्रिया' कहा जाता है। ऐसी स्थिति में वह कर्त्ता जो वस्तुतः कर्म था उसको, अर्थात् कर्म से परिवर्तित हुए कर्त्ता को, भी कर्म को प्राप्त होने वाले कुछ कार्य प्राप्त हो जायें इसके लिए 'कर्मकर्तृ-प्रक्रिया' को प्रारम्भ किया गया है।

कर्म के कर्त्ता बन जाने पर क्रिया के स्वरूप में किस प्रकार का परिवर्तन आता है, इसे ग्रन्थकार ने यहाँ स्पष्ट करने का उपक्रम किया है।

यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं तदा सकर्मकाणामपि अकर्मकत्वात् कर्त्तरि भावे च लकारः॥

अर्थः—जब वक्ता का **कर्म** को **कर्त्ता** के रूप में कहना इष्ट हो तो सकर्मक धातुएँ भी अकर्मक बन जाती हैं। अतः धातुओं के अकर्मक बन जाने से उन धातुओं से लकार **कर्त्ता** और **भाव** में ही होते हैं, **कर्म** में ही नहीं।

७६०. कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः ३।१।८७

कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्त्ता कर्मवत् स्यात्। कार्यातिदेशोऽयम्। तेन यगात्मनेपदचिण्चिण्वदिटः स्युः। पच्यते फलम्। भिद्यते काष्ठम्। अपाचि। अभेदि। भावे तु भिद्यते काष्ठेन।

॥ इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ॥

प० वि०–कर्मवत् अ०।। कर्मणा ३।१।। तुल्यक्रियः १।१।। **अनु०**–कर्त्ता।

अर्थः–कर्मस्थ क्रिया के साथ तुल्यक्रिया वाला कर्त्ता कर्मवत् होता है। अर्थात् जिस क्रिया का आश्रय पहले कर्म था उसी क्रिया का आश्रय कर्म से परिवर्तित होकर बना हुआ कर्त्ता भी हो तो उस कर्त्ता को वे सभी कार्य जाते है, जो पहले कर्म को होते थे।

कहने का आशय यह है कि जब कर्म, कर्त्ता बन जाता है तो उसे कर्त्ता को प्राप्त होने वाले कार्य स्वाभाविक रूप से होने चाहिएं, कर्म को प्राप्त होने वाले कार्य नहीं। परन्तु भाषा में यह देखा जाता है कि सौकर्यातिशय की विवक्षा होने पर कर्म से परिवर्तित होकर बनने वाले कर्त्ता को कर्त्ता के रूप में स्वीकार करने पर भी कर्म को विहित कार्य भी दिखाई देते हैं। जिनका अतिदेश प्रकृत सूत्र के द्वारा किया जा रहा है।

'पच्यते फलम्' इत्यादि में 'फल' कर्त्ता है जो कि ('कालः फलम् पचति' में) पहले 'कर्म' था। यहाँ विशेष ध्यातव्य यह है कि जैसे हि 'फल' कर्त्ता बना तो लकार 'लः कर्मणि च०' से कर्त्ता में होने लगा, जिससे 'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद, 'कर्त्तरि शप्' से कर्त्तावाची सार्वधातुक परे रहते 'शप्' आदि कार्य प्राप्त होने लगे। तब कर्तृवाच्य से सम्बन्धित कार्यों को बाधकर कर्मवाच्य सम्बन्धी कार्यों का अतिदेश 'कर्मवत्कर्मणा०' के द्वारा करके कर्मवाच्य में होने वाला 'भावकर्मणोः' से आत्मनेपद, 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्' प्रत्यय, 'स्यसिच्सीयुट्०' से 'सीयुट्' आदि को विकल्प से चिण्वद्भाव और चिण्वत् पक्ष में 'स्य' आदि को इडागम तथा 'चिण्भावकर्मणोः' से 'च्लि' को 'चिण्' आदेश आदि कार्य प्राप्त कराये गए हैं।

पच्यते	(फलम्)
पच्	'वर्तमाने लट्,' से लट् लकार सौकर्यातिशय के कारण 'फल' **कर्म** के **कर्त्ता** बन जाने से 'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्म०' से कर्त्ता में आया
पच् लट्,	अनुबन्ध-लोप, तिबाद्युत्पत्ति, यहाँ लकार कर्त्ता में होने के कारण 'शेषात्कर्त्तरि०' से परस्मैपद के प्रत्यय प्राप्त थे, परन्तु 'कर्मवत् कर्मणा०' के द्वारा कर्त्ता को कर्मवत् अतिदेश कर देने के कारण 'भावकर्मणोः' से कर्मवाच्य में होने वाला आत्मनेपद यहाँ कर्तृ-वाच्य में भी अतिदिष्ट हो गया, 'शेषे प्रथमः' से प्र० पु०, 'द्व्येकयोर्द्विवचनैक०' से एक व० की विवक्षा में 'त' आया
पच् त	कर्मवत् अतिदेश के कारण ही 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्', अनुबन्ध-लोप
पच् य त	'टित आत्मनेपदानां०' से आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्यय के 'टि' भाग को एत्व होकर
पच्यते	रूप सिद्ध होता है।

'पच्यते' के सामन ही सौकर्यातिशय की विवक्षा में कर्म के कर्त्ता बन जाने पर **'भिद्यते'** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

अपाचि–'पच्' धातु के कर्म 'ओदन' आदि के सौकर्यातिशय की विवक्षा में कर्त्ता बन जाने पर 'लुङ्' सूत्र से होने वाला 'लुङ्' लकार, 'लः कर्मणि च भावे०' सूत्र से कर्त्ता में आया, तब 'कर्मवत् कर्मणा०' से कर्मवद्भाव होने पर आत्मनेपद, प्र० पु०, एक व० में 'त', 'च्लि लुङि' से 'च्लि', 'चिण् भावकर्मणोः' से 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्', 'चिणो लुक्' से 'त' का लुक्, 'अत उपधायाः' से वृद्धि तथा अडागम होकर 'अपाचि' रूप सिद्ध होता है।

विशेष–उपर्युक्त उदाहरणों में **'पच्यते, अपाचि वा फलम्'** तथा **'भिद्यते, अभेदि वा काष्ठम्'** में सर्वत्र लकार कर्त्ता में हुआ है अतः लकार के द्वारा कर्तृत्व के उक्त होने पर 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण०' से प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति अथवा 'अभिहिते प्रथमा' इस वार्तिक से अभिहित कर्त्ता कारक में सर्वत्र प्रथमा विभक्ति ही होती है।

भाववाच्य में तो कर्म-कर्त्ता के समान 'भिद्यते' रूप बनने पर भी लकार के द्वारा भाव अर्थात् धात्वर्थ ही उक्त होता है, कर्त्ता नहीं। अतः 'भिद्यते काष्ठेन' यहाँ अनुक्त कर्त्ता में 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से 'तृतीया' विभक्ति दिखाई देती है।

॥ कर्मकर्तृप्रक्रिया समाप्ता॥

अथ लकारार्थप्रक्रिया

लकार विधायक सामान्य सूत्रों में 'वर्तमाने लट्', 'अद्यतने लङ्', 'लृट् शेषे च' आदि सूत्रों के द्वारा लकारों के समान्य अर्थों का कथन तिङन्त प्रकरण में कर दिया है। अब उन्हीं लकारों का किसी विशेष अर्थ में प्रयोग जैसे-भविष्यत्काल में प्रयुक्त होने वाले 'लृट्' का प्रयोग भूतकाल में हो जाए इसके लिए यह लकारार्थ-प्रक्रिया नामक प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है।

७६१. अभिज्ञावचने लृट् ३।२।११२

स्मृतिबोधिन्युपपदे भूताऽनद्यतने धातोर्लृट्। लङोऽपवादः। वस निवासे। स्मरसि कृष्ण! गोकुले वत्स्यामः। एवं बुध्यसे, चेतयसे इत्यादि प्रयोगेऽपि।

प० वि०—अभिज्ञावचने ७।१।। लृट् १।१।। **अनु०**-भूते, अनद्यतने, धातोः।

अर्थः—अभिज्ञा-वचन अर्थात् स्मृतिबोधक पद उपपद में हो तो अनद्यतन भूत अर्थ में धातु से 'लृट्' होता है।

यह सूत्र 'अनद्यतने लङ्' से प्राप्त 'लङ्' का अपवाद है। यथा—**'स्मरसि कृष्ण! गोकुले वत्स्यामः'** (हे कृष्ण! क्या तुम्हे याद है कि हम गोकुल में रहते थे) यहाँ अभिज्ञा अर्थात् स्मृति का बोधक 'स्मरसि' पद उपपद में है अतः अनद्यतन भूतकाल में **लृट्** लकार (वत्स्यामः) का प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ है—**रहते थे**। इसी प्रकार स्मरणार्थक 'बुध्यसे', 'चेतयसे' इत्यदि का प्रयोग होने पर भी अनद्यतन भूत अर्थ में 'लृट्' का प्रयोग जानना चाहिए।

७६२. न यदि ३।२।११३

यद्योगे उक्तं न। अभिजानासि कृष्ण। यद्वने अभुञ्जमहि।

प० वि०—न अ०।। यदि ७।१ **अनु०**-अभिज्ञावचने लृट्, भूते, अनद्यतने, धातोः।

अर्थः—'यत्' शब्द का प्रयोग होने पर अभिज्ञावचन अर्थात् स्मृति-बोधक पद उपपद में होने पर अनद्यतन भूत अर्थ में धातु से 'लृट्' नहीं होता।

यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है। अतः 'लृट्' न होने की स्थिति में सामान्यतः प्राप्त होने वाला 'लङ्' यहाँ प्राप्त होता है। यथा—**अभिजनासि कृष्ण! यद्वने अभुञ्जमहि'** (कृष्ण क्या तुम जानते हो कि हमने वन में भोजन किया था) यहाँ 'अभिजानासि' स्मृति-बोधक पद उपपद में रहते 'अभज्ञावचने लृट्' से 'लृट्' प्राप्त था, जिसका 'न यदि' से 'यत्' के योग में निषेध होने पर 'अभुञ्जमहि' पद में 'लङ्' लकार का प्रयोग हुआ है।

७६३. लट् स्मे ३।२।११८

लिटोऽपवादः। यजति स्म युधिष्ठिरः।

प० वि०—लट् १।१।। स्मे ७।१।। **अनु०**-भूते, धातोः, अनद्यतने, परोक्षे।

अर्थः—'स्म' पद उपपद में रहते भूत अनद्यतन परोक्ष अर्थ में धातु से 'लट्' प्रत्यय होता है।

यह सूत्र 'परोक्षे लिट्' का अपवाद है।

यथा— **'यजति स्म युधिष्ठिरः'** (युधिष्ठिर यज्ञ करते थे) युधिष्ठिर के यज्ञ करने की घटना परोक्ष भूतकाल में घटित होने के कारण यहाँ 'परोक्षे लिट्' से 'लिट्' प्राप्त था, जिसे बाधकर 'स्म' के योग में 'यज्' धातु से 'लट्' का प्रयोग प्रकृत सूत्र से हो गया है।

७६४. वर्तमानसामीप्ये वर्तमानद्वा। ३।३।१३१

वर्त्तमाने ये प्रत्यया उक्तास्ते वर्त्तमानसमीप्ये भूते भविष्यति च वा स्युः। कदाऽऽगतोऽसि? अयमागच्छामि, अयमागमं वा। कदा गमिष्यसि? एष गच्छामि, गमिष्यामि वा।

प० वि०—वर्त्तमानसमीप्ये ७।१।। वर्त्तमानवत् अ०।। वा अ०।।

अर्थः—वर्त्तमान के समीपवर्ती भूतकाल तथा भविष्यत्काल में वर्त्तमान-काल की तरह ही विकल्प से (लट् आदि) प्रत्यय होते हैं।

यथा— **'कदाऽऽगतोऽसि? अयमागच्छामि, अयमागमं वा।** 'कब आये हो?' यह प्रश्न पूछे जाने पर **'अयमागच्छामि'** कहकर उत्तर दिया गया है। जिसका अर्थ है 'अभी आया हूँ' यहाँ अभी-अभी आने की घटना घटित हो चुकी है, जो कि भूतकाल का विषय है। अतः यहाँ 'लुङ्' का प्रयोग होना चाहिए था, जिसे विकल्प से बाधकर वर्त्तमान के समीपवर्ती भूतकाल में वर्तमान के समान 'लट्' लकार 'आगच्छामि' का प्रयोग हो गया है। वैकल्पिक पक्ष में **'आगमम्'** यह 'लुङ्' लकार भी प्रयुक्त हुआ है।

इसी प्रकार वर्तमान के समीपवर्ती भविष्यत्विषयक प्रश्न पूछे जाने पर वर्तमान के समीपवर्ती भविष्यत्काल में भी विकल्प से वर्तमान-काल के समान 'लट्' लकार 'गच्छामि' का वैकल्पिक प्रयोग दिखाई देता है। यथा— **'कदा गमिष्यसि'? एष गच्छामि, गमिष्यामि वा'**। यहाँ 'गमिष्यामि' के अर्थ में ही 'गच्छामि' का प्रयोग किया गया है।

७६५. हेतुहेतुमतोर्लिङ् ३।३।१५६

वा स्यात्। कृष्णं नमेच्चेत् सुखं यायात्। कृष्णं नंस्यति चेत् सुखं यास्यति। भविष्यत्येवेष्यते-नेह, हन्तीति पलायते। (४२५) विधिनिमन्त्रणेति लिङ्। विधिः-प्रेरणम्=भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम्, यजेत। निमन्त्रणं-नियोगकरणमावश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम्-इह भुञ्जीत। आमन्त्रणं-कामचाराऽनुज्ञा-इहासीत।

अधीष्टः=सत्कारपूर्वको व्यापारः—पुत्रमध्यापयेद् भवान्। सम्प्रश्नः=सम्प्रधारणम्-किं भो वेदमधीयीय उत तर्कम्। प्रार्थनं=याच्ञा-भो भोजनं लभेय। एवं लोट्।

॥ इति लकारार्थप्रक्रिया ॥

॥ इति तिङन्तम् ॥

प० वि०—हेतुहेतुमतोः ७।२।। लिङ् १।१।। **अनु०**-विभाषा, धातोः।

अर्थः—हेतु (कारण) और **हेतुमत्** (कार्य) अर्थात् कारण-कार्यभाव के द्योत्य होने पर भविष्यत् काल में धातु से विकल्प से **'लिङ्'** होता है।

लिङ् के अभाव पक्ष मे भविष्यत्-काल में सामान्य रूप से विहित 'लृट् शेषे च' (४०८) से 'लृट्' भी हो जाएगा।

यथा— 'कृष्णं नमेत् चेत् सुखं यायात्' (यदि कृष्ण को नमस्कार करोगे तो सुख प्राप्त करोगे) यहाँ नमस्कार करना 'हेतु' तथा सुख प्राप्त करना 'हेतुमत्' (कार्य) हैं। अतः यहाँ हेतुहेतुमद्भाव द्योतित होने के कारण दोनों धातुओं, 'नम्' तथा 'या' से विकल्प से 'लिङ्' होता है। 'लिङ्' के अभाव पक्ष में भविष्यत्काल में सामान्यतः विहित 'लृट्' भी हो जाएगा— **'कृष्णं नंस्यति चेत् सुखं यास्यति'।**

हेतुहेतुमद्भाव में विहित 'लिङ्' भविष्यत्काल में ही होता है, भूत अथवा वर्तमान कालिक हेतुहेतुमद्भाव में नहीं होता। यथा— **'हन्तीति पलायते'** (वह) मारता है इसलिए भागता है। यहाँ 'मारना' हेतु तथा 'भागना' हेतुमत् है जोकि वर्तमान-काल से सम्बद्ध है। अतः यहाँ भविष्यत्काल का अभाव होने के कारण 'लिङ्' नहीं होता, अपितु 'वर्तमाने लट्' (३७४) से 'लट्' ही होता है। ग्रंथकार 'वरदराज' ने **'विधिनिमन्त्रणे लिङ्—**इत्यादि के द्वारा 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्' (४२५) सूत्र में प्रयुक्त 'विधि' आदि शब्दों के अर्थों को पुनः व्याख्यायित किया है। जो इस प्रकार हैं—

विधि—प्रेरणा देना, अर्थात् अपने से छोटे सेवक आदि को आज्ञा देना, यथा—'यजेत'=(वह) यज्ञ करे।

निमन्त्रण—अवश्य करने योग कार्य (श्राद्ध-भोजन आदि) में अधिकारी व्यक्ति को प्रवृत्त करना। यथा- **'इह भुञ्जीत'**=आप यहाँ भोजन करें।

आमन्त्रण—ऐसा अनुरोध जिसे मानना या न मानना समाने वाले श्रोता की इच्छा पर निर्भर करता हो। यथा— **'इहासीत भवान्'**=आप यहाँ बैठें। यहाँ बैठना या न बैठना श्रोता की इच्छा पर निर्भर है।

अधीष्ट—किसी सम्माननीय व्यक्ति को कोई कार्य करने के लिए निवेदन करना। यथा— **'पुत्रमध्यापयेद् भवान्'**=आप कृपया मेरे पुत्र को पढ़ायें।

सम्प्रश्न—उपलब्ध विकल्पों में से किसी एक विषय का निश्चय करने हेतु किया गया प्रश्न 'सम्प्रधारण' या 'सम्प्रश्न' कहलाता है। यथा— **'किं भो वेदमधीयीय उत तर्कम्'**=क्या मैं वेद पढ़ूं या तर्क शास्त्र।

प्रार्थना—माँगना अथवा याच्ञा ही प्रार्थना कहलाती है। यथा—**'भो भोजनं लभेय'**=मैं भोजन प्राप्त करना चाहता हूँ।

इसी प्रकार 'लोट्' का प्रयोग भी विध्यादि अर्थों में जानना चाहिए।

॥ लकारार्थप्रक्रिया समाप्ता ॥

*** तिङन्त-प्रकरण समाप्त ***

अथ कृदन्तप्रकरणम्

कृत्यप्रक्रिया

७६६. धातोः ३।१।९१

आतृतीयाध्यायसमाप्त्यन्तं प्रत्ययास्ते धातोः परे स्युः। 'कृदतिङ्' इति कृत्संज्ञा।

प०वि०—धातोः ५।१।।

यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से प्रारम्भ करके तृतीय अध्याय की समाप्ति पर्यन्त जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है वे धातु के बाद होते हैं। 'कृदतिङ्' सूत्र से धातु से विहित तिङ् से भिन्न प्रत्ययों की 'कृत्' संज्ञा होती है।

७६७. वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ३।१।९४

अस्मिन्धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात् स्त्र्यधिकारोक्तं विना।

प०वि०—वा अ०।। असरूपः १।१।। अस्त्रियाम् ७।१।। **अनु०**—धातोः।

अर्थ—इस धातु के अधिकार में असरूप प्रत्यय (अनुबन्ध-लोप करने के बाद असमान रूप वाले प्रत्यय) उत्सर्ग के विकल्प से बाधक होते हैं, 'स्त्रियाम्' (३।३।९४) के अधिकार में विधान किये गए प्रत्ययों को छोड़कर। अर्थात् 'स्त्रियाम्' के अधिकार में तो असरूप प्रत्यय नित्य ही बाधक होते हैं।

यथा—'ण्वुल्तृचौ' से धातुओं से सामान्य रूप से 'ण्वुल्' और 'तृच्' प्रत्ययों का विधान किया गया है। जिसके अपवाद रूप में 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' से इक् उपधा वाली धातुओं, 'ज्ञा', 'पृ' तथा 'कृ' से 'कः' प्रत्यय का विधान किया गया है, जिसका अनुबन्ध-लोप होने पर 'अ' शेष रहता है। यह 'क' (अ) प्रत्यय 'ण्वुल्' तथा 'तृच्' का असरूप है। 'वाऽसरूपोऽस्त्रि०' के कारण 'क' (अ) प्रत्यय असरूप अपवाद होने के कारण 'ण्वुल्' तथा 'तृच्' का विकल्प से बाधक होता है। इसलिए 'वि' उपसर्गपूर्वक 'क्षिप्' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'विक्षिपः' तथा 'ण्वुल्' और 'तृच्' होकर क्रमशः 'विक्षेपकः' और 'विक्षेप्ता' रूप सिद्ध होते हैं।

समान रूप वाले अपवाद प्रत्यय तो उत्सर्ग के नित्य बाधक होते हैं। जैसे—'कर्मण्यण्'

सामान्य (उत्सर्ग) सूत्र है जो कर्म उपपद में रहते धातु से 'अण्' (अ) प्रत्यय का विधान करता है। इसका अपवाद 'आतोऽनुपसर्गे कः' है जो 'क' (अ) प्रत्यय का विधान करता है। दोनों प्रत्ययों के अनुबन्ध-लोप करने पर 'अ' शेष रहता है इसलिए ये सरूप प्रत्यय हैं। सरूप अपवाद होने के कारण 'कः' प्रत्यय 'अण्' का नित्य ही बाधक होता है। इसलिए उपसर्ग रहित आकारान्त धातु से 'कः' प्रत्यय ही होता है 'अण्' नहीं, इस प्रकार 'गोदः', 'कम्बलदः' आदि रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार 'स्त्रियाम्' के अधिकार में असरूप अपवाद प्रत्यय, उत्सर्ग के नित्य ही बाधक होते हैं। जैसे–'स्त्रियाम् क्तिन्' उत्सर्ग सूत्र है जो धातु मात्र से स्त्रीलिंग में 'क्तिन्' का विधान करता है। इसका अपवाद 'अ प्रत्ययात्' है जो प्रत्ययान्त धातु से स्त्रीलिंग में 'अ' प्रत्यय का विधान करता है। 'अ' प्रत्यय असरूप अपवाद होने पर भी 'क्तिन्' का नित्य ही बाधक होता है, इसीलिए 'चिकीर्ष' तथा 'जिहीर्ष' आदि प्रत्ययान्त धातुओं से 'अ' ही होता है और 'चिकीर्षा' तथा 'जिहीर्षा' आदि रूप ही सिद्ध होते हैं।

७६८. कृत्याः ३।१।९५

'ण्वुल्तृचौ' इत्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः।

प०वि०–कृत्याः १।३।।

यह अधिकार सूत्र है, इस सूत्र से लेकर 'ण्वुल्तृचौ' से पूर्व तक जिन **तव्यत्**, तव्य और **अनीयर्** आदि प्रत्ययों का विधान किया जाएगा वे **'कृत्य'** संज्ञक होंगे।

७६९. कर्तरि कृत् ३।४।६७

कृत्प्रत्ययः कर्तरि स्यात्। इति प्राप्ते–

प०वि०–कर्तरि ७।१।। कृत्, १।१।। **अनु०**–धातोः।

अर्थ–धातु से विहित 'कृत्' प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होते हैं।

यह 'कृत्' प्रत्ययों के अर्थनिर्धारणविषयक सामान्य सूत्र है, अग्रिम सूत्र इसका अपवाद है।

७७०. तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३।४।७०

एते भावकर्मणोरेव स्युः।

प०वि०–तयोः ७।२।। एव अ०।। कृत्यक्तखलर्थाः १।३।।

अर्थ–'कृत्य' संज्ञक, **क्त** तथा खल् अर्थ वाले प्रत्यय, उन दोनों अर्थों में अर्थात् **भाव** और **कर्म** अर्थों में होते हैं। आशय यह है कि अकर्मक धातुओं से परे उपर्युक्त प्रत्यय 'भाव' में तथा सकर्मक धातुओं से 'कर्म' में होते हैं।

विशेष–सूत्र में पठित 'तयोः' पद पूर्ववर्ती सूत्र 'लः कर्मणि०' में पठित 'भावे' तथा 'कर्मणि' का ग्राहक है।

७७१. तव्यत्तव्यानीयरः ३।१।९६

धातोरेते प्रत्ययाः स्युः। एधितव्यम्, एधनीयं त्वया। भावे औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वञ्च। चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया। (वा०) केलिमर उपसंख्यानम्। पचेलिमा माषाः, पक्तव्या इत्यर्थः। भिदेलिमाः सरलाः, भेत्तव्या इत्यर्थः। कर्मणि प्रत्ययः।

प०वि०–तव्यत्तव्यानीयरः १।३।। **अनु०**–धातोः, कृत्याः।

अर्थ–धातु से परे **'तव्यत्'**, **'तव्य'** और **'अनीयर्'** प्रत्यय होते हैं और ये **'कृत्य'** संज्ञक होते हैं।

यह सूत्र 'कृत्याः' (३.१.९५) के अधिकार में हैं, इसलिए इन सभी की 'कृत्य' संज्ञा है। **'एधनीयम्, एधितव्यम् त्वया'** यहाँ 'एध्' धातु अकर्मक है इसलिए यहाँ 'भाव' में प्रत्यय होते हैं। भाव में सामान्यरूप से नपुंसकलिंग तथा एक वचन होता है। **'चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया'** यहाँ 'चि' धातु सकर्मक है इसलिए 'कर्म' (धर्मः) के अनुसार लिंग और वचन होते हैं।

(वा०) केलिमर०–अर्थ–**'केलिमर्'** प्रत्यय का भी उपसंख्यान करना चाहिए। अर्थात् 'केलिमर्' प्रत्यय का भी कृत्यसंज्ञक प्रत्ययों में विधान करना चाहिए।

यथा–**'पचेलिमा माषाः'** यहाँ 'पचेलिमाः' का अर्थ है 'पक्तव्याः', पकाने के योग्य। **'भिदेलिमाः सरलाः'** में 'भिदेलिमाः' का वही अर्थ है जो 'भेत्तव्याः' का है अर्थात् 'भेदन करने के योग्य' यहाँ सकर्मक 'भिद्' धातु से 'केलिमर्' प्रत्यय 'कर्म' में हुआ है।

एधितव्यम्	(बढने योग्य या बढना चाहिए)
एध	'उपदेशेऽजनु०' से 'अ' की इत् संज्ञा, 'तस्य लोपः' से इत्संज्ञक 'अ' का लोप, 'भूवादयो धातवः' से 'एध्' की धातु संज्ञा होने पर 'तव्यत्तव्यानीयरः' से 'एध्' धातु से 'तव्यत्' प्रत्यय, 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः से 'भाव' में हुआ
एध् तव्यत्	अनुबन्ध–लोप, 'आर्धधातुकं शेषः' से धातु से विहित सार्वधातुक प्रत्ययों से भिन्न प्रत्यय 'तव्यत्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने पर 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से वलादि आर्धधातुक 'तव्य' को 'इट्' आगम हुआ, 'आद्यन्तौ टकितौ' से 'टित्' आगम 'तव्यत्' का आदि अवयव बना
एध् इट् तव्य	अनुबन्ध–लोप
एधितव्य	'कृत्तद्धि–'कृदतिङ्' से 'तव्य' आदि प्रत्यय 'कृत्' संज्ञक हैं अतः 'कृत्तद्धितसमासाश्च से कृत्प्रत्ययान्त 'एधितव्य' की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'स्वौजसमौट्छष्टा०' आदि स्वाद्युत्पत्ति प्रक्रिया के सभी सूत्र लगकर 'रामः' की सिद्धि–प्रक्रिया के समान 'प्रातिपदिकार्थ०'

	से प्रथमा विभक्ति तथा 'द्व्येकयोर्द्वि०' से एक वचन की विवक्षा में 'सु' आया
एधितव्य सु	भाव में सामान्यत: नपुंसकलिंग होता है इसलिए 'अतोऽम्' से ह्रस्व अकारान्त नपुंसक से उत्तर 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश हुआ
एधितव्य अम्	'अमि पूर्व:' से 'अक्' से उत्तर 'अम्' का अच् परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होकर
एधितव्यम्	रूप सिद्ध होता है।

विशेष–'तव्यत्' तथा 'तव्य' प्रत्ययों में सिद्धि–प्रक्रिया तथा सिद्ध शब्दरूप एक समान ही होते हैं। केवल 'तव्यत्' में 'त्' की इत् संज्ञा होने के कारण 'तित् स्वरितम्' से 'स्वरित' हो जाता है।

एधनीयम्	(बढने योग्य या बढना चाहिए)
एध्	पूर्ववत् 'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'तव्यत्तव्यानीयर:' से 'अनीयर्' प्रत्यय, 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्था:' से भाव में हुआ, अनुबन्ध लोप
एध् अनीय	वलादि न होने से 'अनीय' प्रत्यय को 'इट्' आगम नहीं होता
एधनीय	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश और 'अमि पूर्व:' से पूर्वरूप एकादेश होने पर
एधनीयम्	रूप सिद्ध होता है।
चेतव्य:	(चयन किया जाना चाहिए या चयन करने योग्य)
चि	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'तव्यत्तव्यानीयर:' से 'तव्यत्' प्रत्यय हुआ
चि तव्यत्	अनुबन्ध–लोप, 'आर्धधातुकं शेष:' से 'तव्य' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने पर 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम प्राप्त हुआ, 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से उपदेश में एकाच् तथा अनुदात्त धातु (चि) से उत्तर 'इट्' आगम का निषेध हो गया
चि तव्य	'सार्वधातुकार्धधातुकयो:' से आर्धधातुक प्रत्यय (तव्य) परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण 'ए' हुआ
चेतव्य	स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'राम:' के समान प्रथमा-विभक्ति, एक व० में 'सु' आया
चेतव्य सु	अनुबन्ध–लोप, 'ससजुषो रु:' से सकारान्त पद के अन्तिम 'अल्' सकार को 'रु' आदेश हुआ
चेतव्य रु	अनुबन्ध–लोप

चेतव्य र् — 'विरामोऽवसानम्' से 'अवसान' संज्ञा और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से अवसान में 'र्' को विसर्ग होकर रूप सिद्ध होता है।

चेतव्यः

चयनीयः — (चयन किया जाना चाहिए या चयन करने योग्य)

चि — 'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा संज्ञा होने पर 'तव्यत्तव्यानीयरः' से 'अनीयर्' प्रत्यय आया

चि अनीयर् — अनुबन्ध–लोप, 'आर्धधातुकं शेषः' से 'आर्धधातुक' संज्ञा तथा 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से इकार को गुण 'ए' हुआ

चे अनीय — 'एचोऽयवायावः' से अच् परे रहते 'ए' को 'अय्' आदेश हुआ

च् अय् अनीय — 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से कृदन्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होने पर रूप सिद्ध होता है।

चयनीयः

पचेलिमाः (माषाः) — (पकाने योग्य उड़द)

पच् — 'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'केलिमर उपसंख्यानम्' से कर्म में 'केलिमर्' प्रत्यय हुआ

पच् केलिमर् — 'लशक्वतद्धिते' से प्रत्यय के आदि ककार की तथा 'हलन्त्यम्' से रेफ की 'इत्' संज्ञा हुई, 'तस्य लोपः' से दोनों 'इत्' संज्ञकों का लोप हुआ

पच् एलिम — 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'रामाः' के स्थान 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' से प्रथमा विभक्ति तथा 'बहुषु बहुवचनम्' से बहुवचन की विवक्षा में 'जस्' आया

पचेलिम जस् — 'चुटू' से 'ज्' की इत् संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से 'ज्' का लोप हुआ

पचेलिम अस् — 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से 'अक्' से उत्तर प्रथमा सम्बन्धी 'अच्' परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ

पचेलिमास् — 'ससजुषो रुः' से सकारान्त पद के 'स्' को 'रु' आदेश तथा 'खरवसानयो०' से 'रु' के 'र्' को विसर्ग होकर

पचेलिमाः — रूप सिद्ध होता है।

'भिदेलिमाः सरलाः' यहाँ 'भिद्' धातु से 'केलिमर्' प्रत्यय होकर सिद्धि–प्रक्रिया 'पचेलिमाः' के समान ही जाननी चाहिए। केवल 'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध हो जाता है क्योंकि 'केलिमर्' प्रत्यय 'कित्' है।

७७२. कृत्यल्युटो बहुलम् ३।३।११३

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥
स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम्। दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः।

प०वि०—कृत्यल्युटः १।३।। बहुलम् १।१।।

अर्थ—कृत्यसंज्ञक प्रत्यय तथा 'ल्युट्' प्रत्यय बहुल करके होते हैं। अर्थात् भाव और कर्म के अतिरिक्त अर्थों में भी इनका विधान देखा जाता है।

बहुलम्—'बहुल' शब्द से केवल विकल्प ही नहीं होता, अपितु इसके अर्थ का विस्तार विकल्प से कहीं अधिक है। जिसे मूल में 'क्वचित्प्रवृत्ति०' कारिका के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

कारिकार्थ—कहीं सूत्र की प्रवृति होती है, कहीं पर सूत्र की सभी शर्तें घटने पर भी किसी प्रयोग विशेष में सूत्र का प्रवृत्त न होना, किसी स्थान पर नित्य प्राप्ति में विकल्प की प्रसक्ति और कहीं पर सर्वथा असम्भव दिखाई देने वाले कार्य की प्रवृत्ति, इस प्रकार विधि के विधान को अनेक प्रकार से देखकर अर्थात् शिष्ट लोक में प्रचलित प्रयोगों के अनेक रूपों को देखकर चार प्रकार की स्थितियों के लिए 'बहुल' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

जैसे—**'स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम्'** इस उदाहरण में 'स्ना' धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय का प्रयोग 'करण' कारक के अर्थ में 'कृत्यल्युटो बहुलम्' सूत्र से हुआ है। यदि यह सूत्र बहुल करके कृत्य विषयक विधान न करता तो केवल 'भाव' अथवा 'कर्म' अर्थ में ही 'अनीयर्' प्रत्यय हो पाता, अन्य 'करण' आदि अर्थों में नहीं।

इसी प्रकार **'दीयतेऽस्मै इति दीनायो विप्रः'** यहाँ भी सूत्र में बहुल ग्रहण के कारण 'सम्प्रदान' अर्थ में 'अनीयर्' प्रत्यय का विधान हुआ है।

'स्नानीयम्' और **'दानीयः'** की सिद्धि–प्रक्रिया में केवल इतना विशेष होगा कि 'कृत्यल्युटो बहुलम्' से 'स्ना' धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय 'करण' अर्थ में तथा 'दा' धातु से 'सम्प्रदान' अर्थ में होगा। शेष सभी कार्य 'एधनीयम्' और 'चयनीयः' के समान जानें।

७७३. अचो यत् ३।१।९७

अजन्ताद्धातोर्यत् स्यात्। चेयम्।

प०वि०—अचः ५।१।। यत् १।१।। **अनु०**—धातोः।

अर्थ—अजन्त धातु से ('भाव' और 'कर्म' में) 'यत्' प्रत्यय होता है।

चेयम् (चुनने योग्य)

चि 'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा और 'अचो यत्' से अजन्त धातु से 'भाव' में **'यत्'** प्रत्यय हुआ

चि यत्

अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकं शेषः' से 'यत्' की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने से 'सार्वधातुकार्ध०' से इगन्त अङ्ग को गुण हुआ

चे य

'कृदतिङ्' से 'यत्' की 'कृत्' संज्ञा हुई अतः 'कृत्तद्धित-समा०' से कृदन्त 'चेय' की प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' से प्रातिपदिकार्थ मात्र की विवक्षा में प्रथमा विभक्ति और 'द्व्येकयो०' से एक व० में 'सु' आया

चेय सु

'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्व रूप एकादेश होकर

चेयम्

रूप सिद्ध होता है।

७७४. ईद्यति ६।४।६५

यति परे आत ईत्स्यात्। देयम्। ग्लेयम्।

प०वि०—ईत् १।१।। यति ७।१।। **अनु०**—आतः, अङ्गस्य।

अर्थ—'यत्' परे रहते आकारान्त अङ्ग को ईकारादेश होता है। **'अलोऽन्त्यस्य'** से यह आदेश अन्तिम 'अल्' (आकार) के स्थान पर होता है।

देयम्

डुदाञ्

'आदिर्ञिटुडवः' से उपदेश में आदिभूत 'डु' की तथा 'हलन्त्यम्' से 'ञ्' की इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से दोनों का लोप हुआ

दा

'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा होकर 'अचो यत्' से 'यत्' प्रत्यय हुआ

दा यत्

अनुबन्ध-लोप, 'यस्मात्प्रत्ययविधि०' से 'यत्' प्रत्यय परे रहते 'दा' की अङ्ग संज्ञा होती है अतः 'ईद्यति' से 'यत्' परे रहते आकारान्त अङ्ग को ईकारादेश हुआ

दी य

'सार्वधातुकार्ध०' से ईकार को गुण 'ए' हुआ

दे य

पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'सु' के स्थान में 'अतोऽम्' से 'अम्' और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होने पर

देयम्

रूप सिद्ध होता है।

ग्लेयम्—यहाँ 'ग्लै' धातु को 'अशित्' विषय में 'आदेच उपदेशेऽशिति' से 'ऐ' के स्थान में आकारादेश होकर 'ग्ला' बनने पर 'अचो यत्' से 'यत्' प्रत्यय, 'ईद्यति' से आकार को ईकारादेश तथा 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण आदि कार्य 'देयम्' के समान होकर 'ग्लेयम्' रूप सिद्ध होता है।

७७५. पोरदुपधात् ३।१।९८

पवर्गान्तादुपधाद्यत् स्यात्। ण्यतोऽपवादः। शप्यम्, लभ्यम्।

प०वि०—पोः ५।१।। अदुपधात् ५।१।। **अनु०**—यत्, धातोः।

अर्थ—पवर्ग अन्त में हो तथा अकार उपधा में हो तो धातु से 'यत्' प्रत्यय होता है। यह सूत्र **'ऋहलोर्ण्यत्'** से प्राप्त 'ण्यत्' प्रत्यय का अपवाद है।

शप्यम्—(शाप के योग्य) 'शप्' धातु के पवर्गान्त तथा अकार उपधा में होने से 'पोरदुपधात्' से 'यत्' प्रत्यय हुआ। 'शप्+य (यत्)' यहाँ 'चेयम्' के समान स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' और 'अतोऽम्' से 'सु' के स्थान में अमादि होकर 'शप्यम्' रूप सिद्ध होता है।

लभ्यम्—(प्राप्त करने योग्य) इसी प्रकार 'लभ्' धातु से 'लभ्यम्' की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

७७६. एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् ३।१।१०९

एभ्यः क्यप् स्यात्।

प०वि०—एतिस्तुशास्वृदृजुषः ५।१।। क्यप् १।१।। **अनु०**—धातोः।

अर्थ—**एति** (इण् गतौ-गति करना), **स्तु** (ष्टुञ् स्तुतौ-स्तुति करना) **शास्** (शासु अनुशिष्टौ-अनुशासन करना), **वृ** (वृञ् वरणे-स्वीकार करना), **दृ** (दृङ् आदरे-आदर करना) तथा **जुष्** (जुष प्रीतिसेवयनयोः-प्रीति तथा सेवा करना) इन धातुओं से **'क्यप्'** प्रत्यय होता है।

यह सूत्र **'ऋहलोर्ण्यत्'** से प्राप्त 'ण्यत्' प्रत्यय का तथा **'अचो यत्'** से प्राप्त 'यत्' प्रत्यय का अपवाद है।

७७७. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१

इत्यः। स्तुत्यः। शासु अनुशिष्टौ।

प०वि०—ह्रस्वस्य ६।१।। पिति ७।१।। कृति ७।१।। तुक् १।।।

अर्थ—पित् 'कृत्' प्रत्यय परे रहते ह्रस्व को **'तुक्'** का आगम होता है।

इत्यः	(गमन योग्य)
इण्	'हलन्त्यम्' से 'ण्' की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञक का लोप हुआ
इ	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'एतिस्तुशास्वृ०' से कर्म में 'क्यप्' प्रत्यय हुआ
इ क्यप्	'लशक्वतद्धिते' से प्रत्यय के आदि ककार की तथा 'हलन्त्यम्' से पकार की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से इत्संज्ञकों का लोप हुआ
इ य	'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से पित् कृत् 'क्यप्' प्रत्यय परे रहते ह्रस्व 'इ' को 'तुक्' आगम हुआ

इ तुक् य	अनुबन्ध-लोप
इत्य	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर सकार को रुत्व तथा विसर्गादि होकर
इत्यः	रूप सिद्ध होता है।

स्तुत्यः–(स्तुति करने योग्य) 'स्तु' धातु से 'क्यप्' प्रत्यय तथा पित् कृत 'क्यप्' प्रत्यय परे रहते ह्रस्व उकार को तुगागम आदि 'इत्यः' के समान होकर 'स्तुत्यः' रूप सिद्ध होता है।

७७८. शास इदङ्हलोः ६।४।३४

शास उपधाया इत्स्यादङि हलादौ क्ङिति। शिष्यः। वृत्यः। आदृत्यः। जुष्यः।

प०वि०–शासः ६।१।। इत् १।१।। अङ्हलोः ७।२।। **अनु०**–उपधायाः, अङ्गस्य, क्ङिति।

अर्थ–'अङ्' और हलादि कित्-ङित् (प्रत्यय) परे होने पर **'शास्'** अङ्ग की उपधा के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश होता है।

शिष्यः	(शिक्षा देने के योग्य)
शास्	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'एतिस्तुशास्वृदृ०' से 'क्यप्' प्रत्यय हुआ
शास् क्यप्	अनुबन्ध-लोप
शास् य	'शास इदङ्हलोः' से हलादि कित् परे रहते 'शास्' अङ्ग की उपधा आकार को इकार आदेश हुआ
शिस् य	'शासिवसिघसीनां च' से 'शास्' धातु के सकार को मूर्धन्य षकार हुआ
शिष् य	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर तथा 'सु' के सकार को रुत्व और रेफ को विसर्गादि कार्य होकर
शिष्यः	रूप सिद्ध होता है।

'वृत्यः' (वरण करने योग्य) और **आदृत्यः** (आदर करने योग्य) यहाँ क्रमशः **'वृ'** से तथा **'आ'** उपसर्ग पूर्वक **'दृ'** धातु से 'एतिस्तुशास्०' से 'क्यप्' प्रत्यय होने पर तुगागम, स्वाद्युत्पत्ति तथा विसर्गादि कार्य 'इत्यः' (७७७) के समान जानें।

जुष्यः–'जुष्' धातु से पूर्ववत् 'क्यप्'–'जुष्+य (क्यप्)' स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' तथा सकार के स्थान में रुत्व और रेफ के स्थान में विसर्ग आदि होकर 'जुष्यः' रूप सिद्ध होता है।

७७९. मृजेर्विभाषा ३।१।११३

मृजेः क्यब्वा। मृज्यः।

प०वि०—मृजे: ५।१।। विभाषा १।१।। **अनु०**—धातो:, क्यप्।

अर्थ—**'मृज्'** धातु से विकल्प से **'क्यप्'** प्रत्यय होता है।

मृज्य:—'मृज्' धातु से प्रकृत सूत्र से विकल्प से 'क्यप्' प्रत्यय होने पर शेष कार्य 'जुष्य:' के समान जानें।

७८०. ऋहलोर्ण्यत् ३।१।१२४

ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च धातोर्ण्यत्। कार्यम्। हार्यम्। धार्यम्।

प०वि०—ऋहलो: ६।२।। ण्यत् १।१।। **अनु०**—धातो:।

अर्थ—ऋवर्णान्त तथा हलन्त धातु से **'ण्यत्'** प्रत्यय होता है।

कार्यम्	(करने योग्य)
डुकृञ्	'आदिर्ञिटुडव:' से उपदेश में आदिभूत 'डु' की इत्संज्ञा और 'हलन्त्यम्' से 'ञ्' की इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोप:' से दोनों का लोप हुआ
कृ	'ऋहलोर्ण्यत्' से ऋवर्णान्त 'कृ' धातु से 'ण्यत्' प्रत्यय हुआ
कृ ण्यत्	णकार की 'चुटू' से तथा तकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होने पर 'तस्य लोप:' से दोनों का लोप हुआ
कृ य	'अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि 'उरण् रपर:' से रपर होकर 'ऋ' को 'आर्' वृद्धि हुई
कार् य	'कृत्तद्धितसमासाश्च' से कृदन्त की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'चेयम्' के समान सुबुत्पत्ति से 'सु', 'अतोऽम्' से 'सु' को अमादेश तथा 'अमि पूर्व:' से पूर्वरूप एकादेश आदि होकर
कार्यम्	रूप सिद्ध होता है।

हार्यम् (हरण करने योग्य) और **धार्यम्** (धारण करने योग्य) में क्रमश: 'हृ' तथा 'धृ' धातु से 'कार्यम्' के समान सभी कार्य जानें।

७८१. चजो: कु घिण्ण्यतो: ७।३।५२

चजो: कुत्वं स्यात् घिति ण्यति च परे।

प० वि०— चजो: ६।२।। कु लुप्तप्रथमान्त।। घिण्ण्यतो: ७।२।।

अर्थ—'घित्' और 'ण्यत्' परे होने पर चकार और जकार के स्थान में कवर्गादेश होता है।

'स्थानेऽन्तरतम:' परिभाषा से चकार के स्थान में कवर्ग का अन्तरतम वर्ण ककार और जकार के स्थान में गकार आदेश होते हैं।

७८२. मृजेर्वृद्धिः ७।२।११४

मृजेरिको वृद्धिः सार्वधातुकार्धधातुकयोः। मार्ग्यः।

प०वि०—मृजेः ६।१।। वृद्धिः १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य।

अर्थ—सार्वधातुक तथा आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते 'मृज्' अङ्ग के 'इक्' को वृद्धि होती है।

मार्ग्यः

मृज्	'भूवादयो धातवः' से 'धातु' संज्ञा, जहाँ 'मृजेर्विभाषा' से वैकल्पिक 'क्यप्' प्रत्यय नहीं होता वहाँ 'ऋहलोर्ण्यत्' से 'ण्यत्' प्रत्यय हुआ
मृज् ण्यत्	अनुबन्ध लोप, 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' से 'ण्यत्' प्रत्यय परे रहते 'ज्' के स्थान में कवर्ग 'ग्' आदेश हुआ
मृग् य	'मृजेर्वृद्धिः' से 'मृज्' अङ्ग के 'इक्' को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' के स्थान में 'आर्' हुआ
मार्ग् य	पूर्ववत् सुबुत्पत्ति से 'सु', रुत्व तथा विसर्गादि कार्य होकर
मार्ग्यः	रूप सिद्ध होता है।

७८३. भोज्यं भक्ष्ये ७।३।३९

भोग्यमन्यत्।

॥ इति कृत्यप्रक्रिया ॥

प०वि०—भोज्यम् १।१।। भक्ष्ये ७।१।।

अर्थ—भक्ष्य अर्थ में **'भुज्'** धातु से **'ण्यत्'** प्रत्यय परे रहते कुत्व का अभाव निपातन से होकर **'भोज्यम्'** शब्द सिद्ध होता है।

भोग्यम्—(भोगने या पालन करने योग्य) 'भोज्य' अर्थात् 'भक्षण करने योग्य' अर्थ के अतिरिक्त तो 'चजोः कु०' से कुत्व तथा 'पुगन्तलघू०' से गुण होकर सुबुत्पत्ति आदि होने पर 'भोग्यम्' ही बनता है।

॥ कृत्यप्रक्रिया समाप्ता॥

अथ पूर्व-कृदन्तप्रकरणम्

७८४. ण्वुल्तृचौ ३।१।१३३

धातोरेतौ स्तः। कर्त्तरि कृदिति कर्त्रर्थे।

प०वि०—ण्वुल्तृचौ १।२।। **अनु०**—धातोः।

अर्थ—धातु से **'ण्वुल्'** और **'तृच्'** प्रत्यय होते हैं।

'कृर्त्तरि कृत्' परिभाषा से ये प्रत्यय **'कर्त्ता'** अर्थ में होते हैं।

७८५ युवोरनाकौ ७।१।१

यु वु—एतयोरनाकौ स्तः। कारकः। कर्त्ता।

प०वि०—युवोः ६।२।। अनाकौ १।२।।

अर्थ—**'यु'** और **'वु'** के स्थान पर क्रमशः **'अन'** और **'अक'** आदेश होते हैं। 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा से 'यु' के स्थान पर 'अन' और 'वु' पर 'अक' होता है।

कारकः	(करने वाला)
डुकृञ्	अनुबन्ध-लोप, 'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा होकर 'ण्वुल्तृचौ' से कर्त्ता अर्थ में 'ण्वुल्' प्रत्यय हुआ
कृ ण्वुल्	अनुबन्ध-लोप, 'युवोरनाकौ' से 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश हुआ
कृ अक	'अचो ञ्णिति' से 'णित्' प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'ऋ' को 'आर्' वृद्धि हुई
कार् अक	कृदन्त की प्रातिपदिक संज्ञा होने से पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्रथमा विभक्ति, एक व० में 'सु', 'सु' के सकार के स्थान में रुत्व तथा रेफ के स्थान में विसर्गादि कार्य होकर रूप सिद्ध होता है।
कारकः	
कर्त्ता	
डुकृञ्	अनुबन्ध-लोप, 'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा होकर 'ण्वुल्तृचौ' से कर्त्ता अर्थ में 'तृच्' प्रत्यय हुआ

कृ तृच्	अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से वलादि आर्धधातुक 'तृच्' को 'इट्' आगम प्राप्त होता है जिसका 'एकाच उपदेशे अनुदात्तात्' से निषेध हुआ। 'सार्वधातुकार्ध०' से आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' को 'अर्' गुण हुआ
कर् तृ	'कृत्तद्धितसमासाश्च' से कृदन्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर 'प्रातिपदिकार्थ०' से प्रथमा विभक्ति तथा 'द्व्येकयो०' से एक वचन की विवक्षा में 'सु' आया
कर्तृ सु	'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' से 'सु' परे रहते ऋकारान्त अङ्ग को 'अनङ्' आदेश हुआ। ङित् होने के कारण 'ङिच्च' से अन्तिम अल् 'ऋ' के स्थान में 'अनङ्' हुआ
कर्त् अनङ् सु	अनुबन्ध-लोप, 'सुडनपुंसकस्य' से 'सु' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'अप्तृन्तृच्स्वसृ०' से सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते तृजन्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हुआ
कर्त् आन् सु	अनुबन्ध लोप 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से 'स्' की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर
कर्त् आन् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'सु' के अपृक्त 'स्' का लोप हुआ
कर्तान्	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'सु' को निमित्त मान कर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'न लोपः प्राति०' से 'न्' का लोप होकर
कर्ता	रूप सिद्ध होता है।

७८६. नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ३।१।१३४

नन्द्यादेर्ल्युः, ग्रह्यादेर्णिनि, पचादेरच् स्यात्। नन्दयतीति नन्दनः, जनमर्दयतीति जनार्दनः, लवणः। ग्राही, स्थायी, मन्त्री। (पचः।) पचादिराकृतिगणः।

प०वि०–नन्दि....दिभ्यः ५।३।। ल्युणिन्यचः १।३।। अनु०–धातोः।

अर्थ–'**नन्दि**' आदि धातुओं से '**ल्यु**', '**ग्रह्**' आदि से '**णिनि**' तथा **पचादि** से '**अच्**' प्रत्यय होते हैं।

सूत्र में निर्दिष्ट **पचादि** आकृति गण है। 'नन्दि' से णिजन्त का ग्रहण है।

नन्दनः	(नन्दयति इति)
टुनदि	'आदिर्ञिटुडवः' से 'टु' की तथा 'उपदेशे०' से इकार की इत् संज्ञा, 'तस्य लोपः' से दोनों का लोप हुआ

नद् — 'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'इदितो नुम् धातोः' से इदित् धातु को 'नुम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से अकार के बाद 'नुम्' हुआ

न नुम् द — अनुबन्ध-लोप, 'हेतुमति च' से हेतुमान् का अभिधान करने के लिए धातु से 'णिच्' हुआ

नन्द् णिच् — अनुबन्ध-लोप, 'नन्दिग्रहिपचा०' से णिजन्त 'नन्दि' से कर्ता अर्थ में 'ल्यु' प्रत्यय हुआ

नन्द् इ ल्यु — अनुबन्ध-लोप, 'णेरनिटि' से अनिडादि आर्धधातुक परे रहते 'णि' का लोप और 'युवोरनाकौ' से 'यु' के स्थान में 'अन' आदेश हुआ

नन्द् अन — 'कृदतिङ्' से 'यु' की 'कृत्' संज्ञा होने के कारण कृदन्त की 'कृत्तद्धित०' से पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग आदि होकर

नन्दनः — रूप सिद्ध होता है।

जनार्दनः — (जनानर्दयति इति)

जन आम्[1] अर्द् इ(णिच्) — 'उपपदमतिङ्' से उपपद का अतिङन्त के साथ समास होने पर 'कृत्तद्धित०' से प्रातिपदिक संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से 'आम्' विभक्ति का लुक् हुआ

जन अर्द इ — 'नन्दिग्रहिपचादि०' से कर्ता अर्थ में 'ल्यु' प्रत्यय आया

जन अर्द् इ ल्यु — अनुबन्ध-लोप, 'णेरनिटि' से 'णि' का लोप हुआ

जन अर्द् यु — 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ और 'युवोरनाकौ' से 'यु' को 'अन' आदेश हुआ

जनार्द् अन — पूर्ववत् कृदन्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होकर

जनार्दनः — रूप सिद्ध होता है।

विशेष—नन्दादि गण में कुछ धातुए णिजन्त तथा कुछ अणिजन्त पढ़ी गई है।

लवणः—'लू' (ञ्) धातु से 'नन्दिग्रहि०' से 'ल्यु' प्रत्यय आने पर 'युवोरनाकौ' से 'यु' को 'अन' आदेश, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'एचोऽयवायावः' से 'ओ' के स्थान में अवादेश होने पर निपातन से णत्व होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होकर 'लवणः' रूप सिद्ध होता है।

ग्राही — (गृह्णाति इति, ग्रहण करने वाला)

ग्रह् — 'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'नन्दिग्रहिपचा०' से 'ग्रह' धातु से कर्ता में 'णिनि' प्रत्यय हुआ

---

१. 'कर्तृकर्मणोः कृति' से यहाँ 'कृत्' प्रत्यय 'णिच्' के योग में कर्म में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

ग्रह् णिनि — अनुबन्ध-लोप, 'अत उपधायाः' से णित् परे रहते उपधा में अकार को वृद्धि हुई

ग्राह् इन् — 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होकर स्वाद्युत्पत्ति से प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया

ग्राहिन् सु — 'सौ च' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते इन्नन्त की उपधा को दीर्घ हुआ

ग्राहीन् सु — 'उपदेशेऽज०' से उकार की 'इत्' संज्ञा, 'तस्य लोपः' से लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के 'अपृक्त' संज्ञक सकार का लोप तथा 'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप होकर

ग्राही — रूप सिद्ध होता है।

स्थायी–(तिष्ठतीति, ठहरने वाला) 'स्था' (ष्ठा–गतिनिवृत्तौ) से 'नन्दिग्रहिपचा०' से 'णिनि' होने पर 'आतो युक् चिण्कृतोः' से णित् 'कृत्' प्रत्यय परे रहते 'स्था' को 'युक्' आगम होकर 'स्था+युक्+णिनि' बनने पर शेष प्रक्रिया 'ग्राही' के समान जानें।

मन्त्री–(मन्त्रयते इति, मन्त्रणा करने वाला) 'मत्रि' (गुप्तपरिभाषणे) में 'इदितो नुम्धातोः' से 'नुम्' आगम होने पर 'मन्त्' धातु से चुरादि 'णिच्' होकर 'मन्त्रि' बनने पर 'नन्दिग्रहि०' से 'णिनि' होकर 'णेरनिटि' से 'णि' का लोप होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'ग्राही' के समान जानें।

पचः–(पचतीति, पकाने वाला) 'पच्' धातु से 'नन्दिग्रहि०' से 'अच्' प्रत्यय होने पर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर 'पचः' सिद्ध होता है।

७८७. इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः कः ३।१।१३५

एभ्यः कः स्यात्। बुधः। कृशः। ज्ञः। प्रियः। किरः।

प०वि०–इगुपधज्ञाप्रीकिरः ५।१।। कः १।१।। **अनु०**–धातोः।

अर्थ–'इक्' (इ, उ, ऋ, लृ) उपधा वाली धातुओं से, 'ज्ञा', 'प्री' और 'कृ' धातुओं से 'क' प्रत्यय होता है।

बुधः — (बुध्यते–ज्ञानं करोतीति)

बुध् — 'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा और 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' से 'इक्' उपधा वाली 'बुध्' धातु से 'क' प्रत्यय हुआ

बुध् क — अनुबन्ध-लोप, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त लघूपध गुण का 'क' प्रत्यय के कित् होने के कारण 'क्ङिति च' से निषेध हो गया

बुध् अ — 'कृदतिङ्' से 'क' प्रत्यय के 'कृत्' संज्ञक होने से 'कृत्तद्धितसमा' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होकर पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर

बुधः — रूप सिद्ध होता है।

कृशः–(कृश्यति, तनूकरोतीति) की सिद्धि-प्रक्रिया 'बुधः' के समान जानें।

ज्ञः	(जानाति इति,)
ज्ञा	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'इगुपधज्ञाप्री०' से 'क' प्रत्यय
ज्ञा क	अनुबन्ध लोप, 'आतो लोप इटि च' से आकारान्त अङ्ग का अजादि कित् आर्धधातुक परे रहते लोप हुआ
ज्ञ् अ	'कृत्तद्धितसमा०' से प्रातिपदिक संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा विभक्ति, एक व० में 'सु' आने पर रुत्व तथा विसर्ग आदि होकर
ज्ञः	रूप सिद्ध होता है।
प्रियः	(प्रीणाति, तृप्तिं गमयतीति, प्रसन्न करने वाला)
प्री	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'इगुपधज्ञाप्री०' से कर्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप
प्री अ	'अचि श्नुधातुभ्रु०' से ईकार को 'इयङ्' आदेश तथा शेष स्वाद्युत्पत्ति आदि पूर्ववत् होकर
प्रियः	सिद्ध होता है।

किरः–(किरति, विक्षेपं करोतीति) 'कृ' धातु से 'इगुपधज्ञाप्री०' से 'क' प्रत्यय करने पर 'ॠत इद्धातोः' से 'ॠ' के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'किर्+अ' बनने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत जानें।

७८८. आतश्चोपसर्गे ३।१।१३६

प्रज्ञः, सुग्लः।

प०वि०–आतः ५।१।। च अ०।। उपसर्गे ७।१।। **अनु०**–धातोः।

अर्थ–उपसर्ग उपपद में रहते आकारान्त धातु से (कर्ता अर्थ में) 'क' प्रत्यय होता है।

प्रज्ञः–(प्रकर्षेण जानाति इति, पण्डित) 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु से 'आतश्चोपसर्गे' से 'कः' प्रत्यय होने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'ज्ञः' (७८७) के समान जानें।

सुग्लः–(सुष्ठु ग्लायति इति, अत्यन्त थका हुआ) 'सु' उपसर्गपूर्वक 'ग्लै' धातु, 'आदेच उपदेशेऽशिति' से 'ऐ' को आकार आदेश होकर 'सुग्ला' बनने पर 'आतश्चोपसर्गे' से 'क' प्रत्यय होने पर 'आतो लोप इटि च' से आकार का लोप आदि कार्य 'ज्ञः' (७८७) के समान जानें।

७८९. गेहे कः ३।१।१४४

गेहे कर्तरि ग्रहेः कः स्यात्। गृहम्।

प०वि०–गेहे ७।१।। कः १।१।। **अनु०**–धातोः, ग्रहः।

अर्थ–'घर' अभिधेय होने पर '**ग्रह**' धातु से (कर्ता अर्थ में) '**क**' प्रत्यय होता है।

	(गृह्णाति धान्यादिकम् इति, घर)
गृहम्	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'गेहे कः' से घर अभिधेय होने पर
ग्रह्	'ग्रह्' धातु से कर्त्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ
ग्रह् क	अनुबन्ध-लोप, 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से 'ग्रह्' धातु को कित् परे रहते सम्प्रसारण हुआ। 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से 'यण्' (र्) के स्थान में 'इक्' (ऋ) हुआ
ग् ऋ अह् अ	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण से 'अच्' परे रहते पूर्व (ऋ) और पर (अ) के स्थान में पूर्वरूप (ऋ) हुआ
गृह् अ	'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा विभक्ति, एकवचन में 'सु' आया
गृह सु	'अतोऽम्' से ह्रस्व अकारान्त नपुंसक से उत्तर 'सु' को 'अम्' आदेश हुआ
गृह अम्	'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
गृहम्	रूप सिद्ध होता है।

७९०. कर्मण्यण् ३।२।१

कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययः स्यात्। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः।

प०वि०–कर्मणि ७।१।। अण् १।१। **अनु०**–धातोः।

अर्थ–कर्म उपपद में रहते धातु से (कर्ता अर्थ में) '**अण्**' प्रत्यय होता है।

कुम्भकारः	(कुम्भं करोतीति कुम्हार)
कुम्भ ङस्[1] कृ	'कर्मण्यण्' से कर्म उपपद में रहते धातु से 'अण्' हुआ
कुम्भ ङस् कृ अण्	अनुबन्ध-लोप, 'अचो ञ्णिति' से णित् परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' के स्थान में 'आर्' हुआ
कुम्भ ङस् क् आर् अ	'उपपदमतिङ्' से उपपद का अतिङन्त के साथ समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमा०' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से 'सुपो धातुप्राति०' से 'प्रातिपदिक' के अवयव 'ङस्' का लुक् हुआ
कुम्भकार	स्वाद्युत्पत्ति, प्रथमा विभक्ति, एक वचन में 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर
कुम्भकारः	रूप सिद्ध होता है।

---

१. **कुम्भकारः**–'कर्तृकर्मणोः कृति' से 'कृत्' प्रत्यय 'अण्' के योग में कर्म में षष्ठी विभक्ति हुई है।

७९१. आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३

आदन्ताद्धातोरनुपसर्गात्कर्मण्युपपदे कः स्यात्। अणोऽपवादः। आतो लोपः०। गोदः। कम्बलदः। अनुपसर्गे किम्? गोसन्दायः। (वा०) मूलविभुजादिभ्यः कः। मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रथः। आकृतिगणोऽयम्। महीध्रः, कुध्रः।

प०वि०—आतः ५।१।। अनुपसर्गे ७।१।। कः १।१।। **अनु०**—धातोः, कर्मणि।

अर्थ—उपसर्ग रहित आकारान्त धातु से कर्म उपपद में रहते **'कः'** प्रत्यय होता है।

गोदः	(गां ददातीति, गाय देने वाला)
गो ङस् दा	'आतोऽनुपसर्गे कः' से उपसर्ग रहित आकारान्त 'दा' धातु से कर्म उपपद में रहते 'क' प्रत्यय हुआ
गो ङस् दा क	अनुबन्ध-लोप, 'आतो लोप इटि च' से अजादि कित् परे रहते आकारान्त अङ्ग का लोप हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से 'आ' का लोप हुआ
गो ङस् द् अ	'उपपदमतिङ्' से उपपद का अतिङन्त के साथ समास, 'कृत्तद्धित०' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से 'ङस्' विभक्ति का लुक् हुआ
गोद	स्वाद्युत्पति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर रुत्व और विसर्ग आदि कार्य पूर्ववत् होकर
गोदः	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'कम्बलदः'** की सिद्धि जानें।

अनुपसर्गे किम्—अनुपसर्ग ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'गोसन्दायः' आदि में उपसर्ग सहित आकारान्त धातु से 'क' न हो, 'अण्' ही हो। 'गो ङस्+सम् दा' यहाँ 'सम्' उपसर्ग उपपद में होने के कारण 'क' प्रत्यय न होकर 'कर्मण्यण्' से 'अण्' होता है। 'आतो युक् चिण्कृतोः' से 'युक्' आगम होकर 'सम्' के 'म्' को 'नश्चापदान्त०' से अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' से परसवर्ण होकर 'गो ङस् सन्दाय् अ' बनने पर 'उपपदमतिङ्' से समासादि होकर शेष सम्पूर्ण प्रक्रिया 'कुम्भकारः' (७९०) के समान जानें।

(वा०) मूलविभुजादिभ्यः कः—**अर्थ**—**'मूलविभुज'** आदि शब्दों से **'क'** प्रत्यय होता है। मूलविभुजादि आकृति गण है, अतः जहाँ इस प्रकार के 'क' प्रत्ययान्त शब्द दिखाई दें उन्हें मूलविभुजादि गण में मानकर उनका व्याख्यान करना चाहिए। जैसे-**महीध्रः** (महीं धरति इति), **कुध्रः** (कुं पृथ्वीं धरति इति) इत्यादि शब्दों को मूलविभुजादि में मानकर 'क' प्रत्यय किया जाता है।

मूलविभुजः (मूलानि विभुजतीति, जड़ो को तोड़ने वाला)—'मूल आम् विभुज्' यहाँ 'मूलविभुजा०' वार्तिक से 'क' प्रत्यय होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'गोदः' के समान जानें।

७९२. चरेष्टः ३।२।१६

अधिकरणे उपपदे। कुरुचरः।

प०वि०—चरेः ५।१।। टः १।१।। **अनु०**—धातोः, सुपि, अधिकरणे।

अर्थ—अधिकरणवाची सुबन्त उपपद में रहते 'चर्' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है।

कुरुचरः — (कुरुषु चरतीति, कुरु देश में घूमने वाला)

कुरु सुप् चर् — 'चरेष्टः' से अधिकरणवाची सुबन्त उपपद में रहते 'चर्' धातु से 'ट' प्रत्यय हुआ

कुरु सुप् चर् ट — अनुबन्ध-लोप, 'उपपदमतिङ्' से उपपद का अतिङन्त के साथ समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति का लुक् हुआ

कुरुचर् अ — स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा-एकवचन में 'सु', रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर

कुरुचरः — रूप सिद्ध होता है।

७९३. भिक्षासेनाऽऽदायेषु च ३।२।१७

भिक्षाचरः। सेनाचरः। आदायेति ल्यबन्तम्-आदायचरः।

प०वि०—भिक्षासेनाऽऽदायेषु ७।३।। च अ०।। **अनु०**—धातोः, सुपि, चरेष्टः।

अर्थ—सुबन्त **'भिक्षा'**, **'सेना'** और **'आदाय'** उपपद रहते **'चर्'** धातु से **'ट'** प्रत्यय होता है।

भिक्षाचरः (भिक्षां चरति)—'भिक्षा ङस् चर्' यहाँ 'भिक्षासेनाऽऽदा०' से 'भिक्षा' उपपद में रहते 'चर्' धातु से 'ट' प्रत्यय करने पर 'उपपदमतिङ्' से समासादिकार्य 'कुरुचरः' (७९२) के समान होकर 'भिक्षाचरः' सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'सेनाचरः'**-(सेनायां चरति) में 'सेना ङि चर्' यह अलौकिक विग्रह करने पर 'भिक्षासेनाऽऽदाये०' से 'ट' प्रत्यय होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'कुरुचरः' के समान जानें।

आदायचरः—इसी तरह 'आदाय चरति—'आदायचरः' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

७९४. कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु ३।२।२०

एषु द्योत्येषु करोतेष्टः स्यात्।

प०वि०—कृञः ५।१।। हेतु-ताच्छील्यानुलोम्येषु ७।३।। **अनु०**—धातोः, कर्मणि, टः।

अर्थ—**हेतु** (कारण), **ताच्छील्य** (स्वभाव) तथा **आनुलोम्य** अर्थात् अनुकूलता द्योत्य हो तो कर्म उपपद में रहते **'कृ'** धातु से **'ट'** प्रत्यय होता है।

७९५. अतः कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णीष्वनव्ययस्य ८।३।४६

आदुत्तरस्यानव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सादेशः करोत्यादिषु परेषु। यशस्करी विद्या। श्राद्धकरः। वचनकरः।

प०वि०—अतः ५।१।। कृ-कमि....कर्णिषु ७।३।। अनव्ययस्य ६।१।। **अनु०**—विसर्जनीयस्य, सः, नित्यं, समासेऽनुत्तरपदस्थस्य।

अर्थ—समास में अव्यय से भिन्न अनुत्तरपद में स्थित (उत्तरपद से भिन्न पद (पूर्वपद) में स्थित) ह्रस्व अवर्ण के बाद जो विसर्ग उसके स्थान में नित्य ही सकारादेश होता है, **कृ**, **कमि** (धातु), **कंस**, **कुम्भ**, **पात्र**, **कुशा** और **कर्णी** शब्द परे हो तो।

यशस्करी	(यशः करोति इति विद्या)
यशस् ङस् कृ	'कृञो हेतुताच्छील्य०' से हेतु द्योत्य होने पर 'कृ' धातु से 'ट' प्रत्यय हुआ
यशस् ङस् कृ ट	अनुबन्ध-लोप, 'उपपदमतिङ्' से समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से पूर्ववत् 'ङस्' विभक्ति का लुक् हुआ
यशस् कृ अ	'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'ट' आर्धधातुक परे रहते 'ऋ' को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' के स्थान पर 'अर्' गुण हुआ
यशस् कर् अ	'ससजुषो रुः' से 'यशस्' के सकार को 'रु' आदेश, अनुबन्ध-लोप और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'खर्' परे रहते रेफ को विसर्ग हुआ
यशः कर् अ	'अतः कृकमिकंस०' से अव्यय से भिन्न अनुत्तरपद (यशः) में स्थित ह्रस्व अकार से उत्तर विसर्ग को 'स्' आदेश हुआ 'कृ' (कर) परे रहते
यशस्कर् अ	'टिड्ढाणञ्द्वय०' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ट' प्रत्ययान्त से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ
यशस्कर अ ङीप्	अनुबन्ध-लोप
यशस्कर् अ ई	'यचि भम्' से अजादि प्रत्यय 'ई' परे रहते पूर्व की 'भ' संज्ञा तथा 'यस्येति च' से ईकार परे रहते 'भ' संज्ञक के अकार का लोप हुआ
यशस्कर् ई	ङ्यन्त होने के कारण स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा विभक्ति, एक वचन में 'सु' आकर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप आदि 'गौरी' (२२६) के समान होकर
यशस्करी	रूप सिद्ध होता है।

श्राद्धकरः तथा **वचनकरः** की सिद्धि-प्रक्रिया में 'श्राद्ध ङस् कृ' तथा 'वचन ङस् कृ' यहाँ 'कृञो हेतुताच्छी०' से 'ट' होने पर शेष प्रक्रिया 'कुरुचरः' (७९२) के समान जानें।

७९६. एजेः खश् ३।२।२८

ण्यन्तादेजेः खश् स्यात्।

प०वि०—एजेः ५।१।। खश् १।१।। **अनु०**—धातोः, कर्मणि।

अर्थ—कर्म उपपद में रहते ण्यन्त **'एज्'** धातु से **'खश्'** प्रत्यय होता है।

विशेष—'एजृ'-कम्पने धातु अकर्मक है अतः कर्म तभी उपपद में होगा जब णिजन्त धातु हो, यही कारण है कि णिजन्त 'एज्' धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है। तथा 'एजेः' यहाँ 'इक्' प्रत्यय से निर्देश नहीं है अपितु णिजन्त 'एज्' का निर्देश है।

७९७. अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ६।३।६७

अरुषो द्विषतोऽजन्तस्य च मुमागमः स्यात् खिदन्ते परे न त्वव्ययस्य। शित्वाच्छबादिः। जनमेजयतीति जनमेजयः।

प०वि०—अरुर्द्विषदजन्तस्य ६।१।। मुम् १।१।। **अनु०**—खिति, अनव्ययस्य, उत्तरपदे।

अर्थ—खिदन्त उत्तरपद परे रहते **अरुस्** (मर्म), **द्विषत्** (शत्रु) और अव्ययभिन्न अजन्त को **'मुम्'** आगम होता है।

'मिदचोऽन्त्यात्परः' से मित् होने के कारण 'मुम्' अन्तिम अच् से परे होता है।

जनमेजयः	(जनानेजयति, लोगों को कंपा देने वाला)
जन आम् एज् णिच्	अनुबन्ध-लोप, 'एजेः खश्' से कर्म उपपद में रहते णिजन्त 'एज्' धातु से 'खश्' प्रत्यय हुआ
जन आम् एजि खश्	अनुबन्ध-लोप, 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' से 'खश्' की सार्वधातुक संज्ञा होती है तथा 'कर्तरि कृत्' से 'खश्' कर्त्ता में हुआ है इसलिए 'कर्तरि शप्' से कर्त्तावाची सार्वधातुक परे रहते धातु से 'शप्' हुआ
जन आम् एजि शप् अ	अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से इकार को गुण हुआ
जन आम् एजे अ अ	'एचोऽयवायावः' से 'ए' को 'अय्' आदेश हुआ
जन आम् एजय् अ अ	'अतो गुणे' से अपदान्त ह्रस्व अकार से गुण परे रहते पररूप एकादेश हुआ
जन आम् एजय	'उपपदमतिङ्' से उपपद का अतिङन्त 'एजय' के साथ समास, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से 'आम्' विभक्ति का लुक् हुआ

जन एजय	'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' से खिदन्त परे रहते अव्यय-भिन्न अजन्त अनुत्तरपद (जन) को 'मुम्' आगम हुआ
जन मुम् एजय	अनुबन्ध-लोप
जनम् एजय	स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर
जनमेजयः	रूप सिद्ध होता है।

७९८. प्रियवशे वदः खच् ३।२।३८

प्रियंवदः। वशंवदः।

प०वि०—प्रियवशे ७।१।। वदः ५।१।। खच् १।१।। **अनु०**—धातोः, कर्मणि।

अर्थ—'**प्रिय**' और '**वश**' कर्म उपपद में रहते '**वद्**' धातु से '**खच्**' प्रत्यय होता है।

प्रियंवदः	(प्रियं वदति इति, मधुरभाषी)
प्रिय ङस् वद्	'प्रियवशे वदः खच्' से 'प्रिय' कर्म उपपद में रहते 'वद्' धातु से 'खच्' प्रत्यय हुआ
प्रिय ङस् वद् खच्	अनुबन्ध-लोप, 'उपपदमतिङ्' से उपपद सुबन्त का अतिङन्त के साथ समास होने पर 'कृत्तद्धितस०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातु०' से विभक्ति (ङस्) का लुक् हुआ
प्रिय वद	'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' से खिदन्त (वद) परे रहते अजन्त अनव्यय को 'मुम्' आगम हुआ
प्रिय मुम् वद	अनुबन्ध-लोप
प्रियम् वद	'मोऽनुस्वारः' से पदान्त 'म्' को अनुस्वार होने पर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होने पर
प्रियंवदः	रूप सिद्ध होता है।

वशंवदः (आयत्तमात्मानं वदतीति) की सिद्धि-प्रक्रिया '**प्रियवंदः**' के समान ही जानें।

७९९. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ३।२।७५

मनिन्, क्वनिप्, वनिप्, विच्-एते प्रत्ययाः धातोः स्युः।

प०वि०—अन्येभ्यः ५।३।। अपि अ०।। दृश्यन्ते।।[१]

अनु०—धातोः, विच्, आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च, सुपि, उपसर्गे।

अर्थ—सुबन्त और उपसर्ग उपपद में रहते आकारान्त से भिन्न धातुओं से भी '**मनिन्**', '**क्वनिप्**', '**विनप्**' और '**विच्**' प्रत्यय होते हैं।

---

१. यह 'दृश्' धातु का कर्मवाच्य का रूप है।

८००. नेड् वशि कृति ७।२।८

वशादेः कृत इण् न स्यात्। शृ हिंसायाम्–सुशर्मा। प्रातरित्वा।

प०वि०–न अ०।। इट् १।१।। वशि ७।१।। कृति ७।१।।

अर्थ–वशादि ('वश्' प्रत्याहार में आने वाले वर्ण आदि में है जिसके ऐसे) 'कृत्' प्रत्यय को इडागम नहीं होता।

सुशर्मा	(सुष्ठु शृणाति, हिनस्ति इति)
सु शृ	'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' से उपसर्ग उपपद में रहते आकारान्त से भिन्न धातु 'शृ' से 'मनिन्' प्रत्यय हुआ
सु शृ मनिन्	अनुबन्ध–लोप
सु शृ मन्	यहाँ 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से इडागम प्राप्त था, 'नेड् वशि कृति' से 'कृत्' संज्ञक वशादि प्रत्यय 'मन्' को इडागम का निषेध हो गया। 'सार्वधातुकार्ध०' से इगन्त अङ्ग को गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ॠ' को 'अर्' हुआ
सु श् अर् मन्	'कृत्तद्धित०' से कृदन्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' से प्रथमा विभक्ति तथा 'द्व्येकयो० से एक व० की विवक्षा में 'सु' आया
सुशर्मन् सु	'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान 'सु' परे रहते नान्त की उपधा को दीर्घ हुआ
सुर्शमान् सु	अनुबन्ध–लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप तथा 'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप होकर
सुशर्मा	रूप सिद्ध होता है।
प्रातरित्वा	(प्रातरेति, गच्छति इति, सवेरे जाने वाला)
प्रातर् इ (ण्)	'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' से आकारान्त से भिन्न धातु 'इण्' से कर्ता अर्थ में 'क्वनिप्' प्रत्यय हुआ
प्रातर् इ क्वनिप्	अनुबन्ध–लोप
प्रातर् इ वन्	'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से पित् कृत् संज्ञक 'वन्' परे रहते ह्रस्व 'इ' को 'तुक्' आगम हुआ
प्रातरि तुक् वन्	अनुबन्ध–लोप
प्रातरि त्वन्	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि० एक व० में 'सु' आया
प्रातरित्वन् सु	'सर्वनामस्थाने०' से नकारान्त की उपधा को दीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप तथा 'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप होकर
प्रातरित्वा	सिद्ध होता है।

८०१. विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत् ६।४।४१

अनुनासिकस्याऽऽत् स्यात्। विजायत इति इजावा। ओणृ अपनयने-अवावा। विच्-रुष-रिष हिंसायाम्। रोट्। रेट्। सुगण्।

प०वि०—विड्वनो: ७।२।। अनुनासिकस्य ६।१।। आत् १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य।

अर्थ—'**विट्**' और '**वन्**' प्रत्यय परे रहते अनुनासिकान्त अङ्ग को आकार अन्तादेश होता है।

विजावा	(विजायते इति विजावा, अनेक रूपेण प्रभवति)।
वि जन्	'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' से 'वनिप्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप
वि जन् वन्	यहाँ 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' आगम प्राप्त हुआ जिसका 'नेड् वशि कृति' से निषेध हो गया। 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि०' से 'वन्' परे रहते 'विजन्' की अङ्ग संज्ञा होने से 'विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत्' से 'वनिप्' का 'वन्' परे रहते अनुनासिकान्त अङ्ग को आकारादेश, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' नकार के स्थान में हुआ
वि ज आ वन्	'अक: सवर्णे दीर्घ:' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ
विजा वन्	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर 'सर्वनामस्थाने०' से उपधा को दीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप तथा 'न लोप:०' से नकार-लोप होने पर
विजावा	रूप सिद्ध होता है।

अवावा—'ओण्' धातु से 'अन्येभ्योऽपि०' से 'वनिप्' प्रत्यय, 'विड्वनो०' से 'ओण्' से णकार को आकारादेश तथा 'एचोऽयवायाव:' से 'ओ' को अवादेश होने पर 'अवावन्+सु' यहाँ 'सर्वनामस्थाने०' से नकारान्त की उपधा को दीर्घ, सकार तथा नकार का लोप आदि कार्य 'विजावा' के समान जानें।

रोट्—'रुष्' धातु से 'अन्येभ्यो०' से 'विच्' प्रत्यय, 'विच्' का सर्वापहारी लोप, प्रत्ययलक्षण से लुप्त 'विच्' को निमित्त मान कर 'पुगन्तलघूपध०' से गुण, प्रथमा विभक्ति, एक व० में 'सु', 'सु' का हल्ङ्यादि लोप, 'झलां जशोऽन्ते' से 'ष्' को 'ड्' तथा 'वाऽवसाने' से 'ड्' को 'ट्' होकर 'रोट्' रूप सिद्ध होता है।

रेट्—(रेषति हिनस्तीति, हिंसा करने वाला) इसी प्रकार 'रिष्' धातु से 'विच्' प्रत्यय होने पर 'रोट्' के समान ही 'रेट्' की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

सुगण् (सुष्ठु गणयति)—'सु' उपसर्ग पूर्वक 'गण' धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' से 'विच्' प्रत्यय, 'विच्' का सर्वापहारी लोप, लुप्त 'विच्' को निमित्त मानकर 'अतो लोप:' से अदन्त 'गण' के अन्तिम अकार का लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आने पर 'स्' का हल्ङ्यादि लोप होकर 'सुगण्' रूप सिद्ध होता है।

८०२. क्विप् च ३।२।७६

अयमपि दृश्यते। उखास्रत्। पर्णध्वत्। वाहभ्रट्।

प०वि०–क्विप् १।१।। च अ०।। **अनु०**–धातोः, दृश्यन्ते, सुपि, अन्येभ्यः।

अर्थ–सुबन्त उपपद रहते सभी धातुओं से **'क्विप्'** प्रत्यय होता है।

विशेषः–यहाँ 'दृश्यते' की अनुवृत्ति होने के कारण प्रचलित प्रयोगों को देखकर सुबन्त आदि उपपद में न होने पर भी सभी धातुओं से 'क्विप्' प्रत्यय का विधान होता है।

उखास्रत्	(उखायाः स्रंसते इति)
उखा ङसि स्रंस्	'क्विप् च' से 'उखा' उपपद में रहते 'स्रंस्' धातु से कर्ता अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय हुआ
उखा ङसि स्रंस् क्विप्	'लशक्वतद्धिते', 'हलन्त्यम्' और 'उपदेशे०' से क्रमशः ककार, पकार और इकार की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से इत्संज्ञक वर्णों का लोप होने पर 'व्' शेष रहता है, जिसका 'वेरपृक्तस्य' से लोप हुआ
उखा ङसि स्रंस्	प्रत्ययलक्षण से 'क्विप्' को निमित्त मान कर 'अनिदितां हल उपधायाः०' से अनिदित हलन्त अङ्ग की उपधा नकार (अनुस्वार) का, कित् 'क्विप्' परे रहते, लोप हुआ
उखा ङसि स्रस्	'उपपदमतिङ्' से उपपद का अतिङन्त के साथ समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति का लुक् हुआ
उखा स्रस्	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
उखा स्रस् सु	अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप होने पर 'वसुस्रंसुध्वंसु०' से पदान्त में 'स्रंस्' के सकार को दकारादेश हुआ
उखास्रद्	'वाऽवसाने' से अवसान में 'द्' को 'त्' आदेश होकर
उखास्रत्	रूप सिद्ध होता है।

'पर्णेभ्यः ध्वंसते' इति **'पर्णध्वत्'**। 'वाहात् भ्रशंते' इति **'वाहभ्रट्'** की सिद्धि-प्रक्रिया 'उखास्रत्' के समान जानें।

८०३. सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ३।२।७८

अजात्यर्थे सुपि धातोर्णिनिस्ताच्छील्ये द्योत्ये। उष्णभोजी।

प०वि०–सुपि ७।१।। अजातौ ७।१।। णिनिः १।१।। ताच्छील्ये ७।१।। **अनु०**–धातोः।

अर्थ–अजाति वाचक सुबन्त उपपद रहते **स्वभाव** अर्थ में धातु से **'णिनि'** प्रत्यय होता है।

उष्णभोजी (उष्णं भुङ्क्ते तच्छील:)

उष्ण ङस् भुज् 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' से अजातिवाची सुबन्त उपपद में रहते धातु से 'णिनि' प्रत्यय हुआ

उष्ण ङस् भुज् णिनि अनुबन्ध-लोप, 'पुगन्तलघूपधस्य०' से लघूपध अङ्ग के 'इक्' को गुण हुआ

उष्ण ङस् भोज् इन् 'उपपदमतिङ्' से समास तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् होने पर पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया

उष्ण भोजिन् सु अनुबन्ध-लोप, 'सौ च' से सम्बुद्धि -भिन्न 'सु' परे रहते इन्नन्त की उपधा को दीर्घ, 'सु' के सकार का हल्ङ्यादि लोप तथा 'न लोपः प्रातिपदि०' से नकार का लोप होकर

उष्णभोजी रूप सिद्ध होता है।

८०४. मनः ३।२।८२

सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात्। दर्शनीयमानी।

प०वि०—मनः ५।१।। **अनु०**—धातोः, सुपि, णिनि।

अर्थ—सुबन्त उपपद रहते **'मन्'** धातु (दिवादि) से **'णिनि'** प्रत्यय होता है।

दर्शनीयमानी (दर्शनीयं मन्यते)

दर्शनीय ङस् मन् 'मनः' से सुबन्त उपपद रहते 'मन्' धातु से 'णिनि' प्रत्यय हुआ

दर्शनीय ङस् मन् णिनि अनुबन्ध-लोप, 'अत उपधायाः' से णित् परे रहते उपधा में अकार को वृद्धि हुई

दर्शनीय ङस् मान् इन् पूर्ववत् 'उपपदमतिङ्' से समास, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक्, स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'सौ च' से उपधा दीर्घ तथा हल्ङ्यादि से सकार लोप आदि सभी कार्य 'उष्णभोजी' के समान होकर

दर्शनीयमानी रूप सिद्ध होता है।

८०५. आत्ममाने खश्च ३।२।८३

स्वकर्मके मनने वर्त्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्यात्। चाण्णिनिः। पण्डितमात्मानं मन्यते—पण्डितंमन्यः, पण्डितमानी।

प०वि०—आत्ममाने ७।१।। खश् १।१।। च अ०।। **अनु०**—मनः, णिनि, सुपि।

अर्थ—'अपने आपको मानना' इस अर्थ में वर्त्तमान **'मन्'** धातु से सुबन्त उपपद रहते **'खश्'** प्रत्यय होता है और **'णिनि'** भी।

पण्डितंमन्यः (आत्मानं पण्डितं मन्यते, अपने को पण्डित मानने वाला)

पण्डित ङस् मन्	'आत्ममाने खश्च' से सुबन्त उपपद में रहते 'स्वयं को मानने' के अर्थ में 'मन्' धातु से 'खश्' प्रत्यय हुआ
पण्डित ङस् मन् खश्	अनुबन्ध-लोप, 'तिङ्शित् सार्वधातु०' से 'खश्' की सार्वधातुक संज्ञा है अतः 'दिवादिभ्यः श्यन्' से कर्तावाची सार्वधातुक परे रहते धातु से 'श्यन्' हुआ
पण्डित ङस् मन् श्यन् अ	अनुबन्ध-लोप, 'अतो गुणे' से अपदान्त ह्रस्व अकार से गुण परे रहते पररूप एकादेश हुआ
पण्डित ङस् मन्य	पूर्ववत् 'उपपदमतिङ्' से समास, विभक्तियों का लुक् आदि होकर
पण्डित मन्य	'अरुर्द्विषदजन्तस्य०' से खिदन्त 'मन्य' परे रहते अजन्त को 'मुम्' आगम हुआ
पण्डित मुम् मन्य	अनुबन्ध-लोप
पण्डित म् मन्य	'मोऽनुस्वारः' से पदान्त 'म्' को अनुस्वार, पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'सु' के सकार को रुत्त्व एवं विसर्ग होकर
पण्डितंमन्यः	रूप सिद्ध होता है।

पण्डितमानी–(आत्मानं पण्डितं मन्यते) में 'आत्ममाने खश्च' से 'णिनि' प्रत्यय होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'दर्शनीयमानी' (८०४) के समान जानें।

८०६. खित्यनव्ययस्य ६।३।६६

खिदन्ते परे पूर्वपदस्य ह्रस्वः, न त्वव्ययस्य। ततो मुम्। कालिंमन्या।

प०वि०–खिति ७।१।। अनव्ययस्य ६।१।। **अनु०**–ह्रस्वः, उत्तरपदे।

अर्थ–खिदन्त उत्तरपद परे रहते अव्यय-भिन्न पूर्वपद के अन्तिम 'अच्' को ह्रस्व होता है।

कालिंमन्या–(आत्मानं कालीं मन्यते) 'काली+ङस्+मन्' में 'आत्ममाने खश्च' से 'खश्' होने पर 'श्यन्' आदि होकर पूर्ववत् 'मन्य' बनने पर 'उपपदमतिङ्' से समास, विभक्ति लोपादि कार्य होने पर 'खित्यनव्ययस्य' से खिदन्त उत्तरपद 'मन्य' परे रहते पूर्वपद के अन्तिम 'अच्' को ह्रस्व, 'अरुर्द्विषदज०' से खिदन्त परे रहते मुमागम, मकार को अनुस्वार, स्त्रीत्व-विवक्षा में 'टाप्' (आ) होकर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सु-लोप होकर 'कालिंमन्या' रूप सिद्ध होता है।

८०७. करणे यजः ३।२।८५

करणे उपपदे भूतार्थयजेर्णिनिः कर्त्तरि। सोमेनेष्टवान् सोमयाजी। अग्निष्टोमयाजी।

प०वि०–करणे ७।१।। यजः ५।१।। **अनु०**–धातोः, भूते, णिनि।

अर्थ–करण कारक उपपद रहते भूत अर्थ में **'यज्'** धातु से **'णिनि'** प्रत्यय होता है।

सोमयाजी (सोमेन यागं कृतवान्)

सोम टा यज् — 'करणे यजः' से करण उपपद में रहते 'यज्' धातु से भूतार्थ में 'णिनि' प्रत्यय हुआ

सोम टा यज् णिनि — अनुबन्ध-लोप, 'अत उपधायाः' से णित् प्रत्यय परे रहते उपधा में अकार को वृद्धि हुई

सोम टा याजिन् — पूर्ववत् 'उपपदमतिङ्' से समास और 'सुपो धातुप्राति०' से 'टा' विभक्ति का लुक् हुआ

सोम याजिन् — स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा-एक व० में 'सु' आने पर 'सौ च' से उपधा को दीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप तथा 'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप होकर

सोमयाजी — रूप सिद्ध होता है।

अग्निष्टोमयाजी (अग्निष्टोमेन यागं कृतवान्) की सिद्धि-प्रक्रिया भी 'सोमयाजी' के समान जाननी चाहिए।

८०८. दृशेः क्वनिप् ३।२।९४

कर्मणि भूते। पारं दृष्टवान्-पारदृश्वा।

प०वि०–दृशेः ५।१।। क्वनिप् १।१।। **अनु०**–धातोः, कर्मणि, भूते।

अर्थ–कर्म उपपद में रहते भूत अर्थ में **'दृश्'** धातु से **'क्वनिप्'** प्रत्यय होता है।

पारदृश्वा (पारं दृष्टवान्, पार देख लिया है)।

पार ङस् दृश् — 'दृशेः क्वनिप्' से कर्म उपपद रहते भूत अर्थ में 'दृश्' धातु से 'क्वनिप्' प्रत्यय हुआ

पार ङस् दृश् क्वनिप् — अनुबन्ध-लोप

पार ङस् दृश् वन् — 'उपपदमतिङ्' से उपपद का अतिङन्त के साथ समास और 'सुपो धातुप्राति०' से 'ङस्' विभक्ति का लुक् हुआ

पार दृश् वन् — समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया

पार दृश् वन् सु — अनुबन्ध-लोप, 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से नान्त की उपधा को दीर्घ हुआ

पार दृश्वान् स् — 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार-लोप तथा 'न लोपः०' से नकार का लोप होकर

पारदृश्वा — रूप सिद्ध होता है।

८०९. राजनि युधिकृञः ३।२।९५

क्वनिप् स्यात्। युधिरन्तर्भावितण्यर्थः। राजानं योधितवान्–राजयुध्वा। राजकृत्वा।

प०वि०–राजनि ७।१।। युधिकृञः ५।१।। **अनु०**–धातोः, भूते, क्वनिप्।

अर्थ–'राजन्' कर्म–उपपद रहने पर भूत अर्थ में **'युध्'** और **'कृञ्'** धातुओं से **'क्वनिप्'** प्रत्यय होता है।

राजयुध्वा	(राजानं योधितवान्–राजा को लड़वाया)
राजन् ङस् युध्	'राजनि युधिकृञः' से 'राजन्' उपपद में रहते भूत अर्थ में अन्तर्भावितणिजर्थक 'युध्' धातु से 'क्वनिप्' प्रत्यय हुआ
राजन् ङस् युध् क्वनिप्	अनुबन्ध–लोप
राजन् ङस् युध् वन्	'उपपदमतिङ्' से समास, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति का लुक्, 'न लोपः०' से 'राजन्' के नकार का लोप होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'सर्वनामस्थाने०' से नान्त की उपधा को दीर्घ आदि शेष सभी कार्य 'पारदृश्वा' (८०८) के समान होकर
राजयुध्वा	रूप सिद्ध होता है।

राजकृत्वा–(राजानं कृतवान्) की सिद्धि–प्रक्रिया भी इसी प्रकार जानें।

८१०. सहे च ३।२।९६

कर्मणीति निवृत्तम्। सह योधितवान्–सहयुध्वा। सहकृत्वा।

प०वि०–सहे ७।१।। च अ०।। **अनु०**–धातोः, क्वनिप्, युधिकृञः, भूते।

अर्थ–'सह' उपपद में रहने पर भूत अर्थ में **'युध्'** और **'कृ'** धातु से **'क्वनिप्'** प्रत्यय होता है।

सहयुध्वा–(सह योधितवान् साथ लड़ाया है!) तथा **सहकृत्वा**–(सह कारितवान् साथ करवाया है) में 'सह' उपपद रहते 'युध्' तथा 'कृ' धातु से 'क्वनिप्' प्रत्यय होकर शेष सिद्धि–प्रक्रिया 'राजयुध्वा' (८०९) के समान जानें।

८११. सप्तम्यां जनेर्डः ३।२।९७

प०वि०–सप्तम्याम् ७।१।। जनेः ५।१।। डः १।१।। **अनु०**–धातोः, भूते।

अर्थ–सप्तम्यन्त उपपद में रहते **'जन्'** धातु से भूत अर्थ में **'ड'** प्रत्यय होता है।

८१२. तत्पुरुषे कृति बहुलम् ६।३।१३

ङेरलुक्। सरसिजम्। सरोजम्।

प०वि०–तत्पुरुषे ७।१।। कृति ७।१।। बहुलम् १।१।। **अनु०**–सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे।

अर्थ–तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तरपद परे रहते सप्तमी विभक्ति का बहुल करके अलुक् होता है।

सरसिजम् (सरसि जातम्, तालाब में उत्पन्न हुआ)

सरस् ङि जन्	'सप्तम्यां जनेर्डः' से सप्तम्यन्त उपपद रहते 'जन्' धातु से 'ड' प्रत्यय हुआ
सरस् ङि जन् ड	अनुबन्ध-लोप, 'ड' प्रत्यय के डित् होने से डित्व सामर्थ्य से बिना भसंज्ञा के भी 'टि' भाग (अन्) का लोप हुआ। 'अचोऽन्त्यादि०' से 'अन्' की 'टि' संज्ञा है
सरस् ङि ज् अ	'उपपदमतिङ्' से उपपद का अतिङन्त के साथ समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से प्रातिपदिक के अवयव 'ङि' का लुक् प्राप्त हुआ, जिसका 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' से कृत् प्रत्ययान्त उत्तरपद में रहते ('सप्तमी') का 'अलुक्' अर्थात् 'लुक्' का निषेध हो गया
सरस् ङि ज	अनुबन्ध-लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्रथमा वि०, एक व० में 'सु' आया
सरस् इ ज सु	'अतोऽम्' से 'सु' के स्थान में अमादेश और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
सरसिजम्	रूप सिद्ध होता है।

सरोजम्—जिस पक्ष में 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' से सप्तमी का 'अलुक्' नहीं हुआ तो 'ङि' का लुक् होने पर 'सरस्+ज' यहाँ 'ससजुषो रुः' से 'स्' को 'रु' आदेश, 'हशि च' से 'रु' के स्थान में 'उ', 'आद् गुणः' से गुण तथा स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'सरोजम्' रूप सिद्ध होता है।

८१३. उपसर्गे च संज्ञायाम् ३।२।९९

'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने'।

प०वि०—उपसर्गे ७।१।। च अ०।। संज्ञायाम् ७।१।। **अनु०**—धातोः, भूते, जनेः, डः।।

अर्थ—उपसर्ग उपपद में रहते भूतकाल में **'जन्'** धातु से **'ड'** प्रत्यय होता है, संज्ञा अर्थ में।

प्रजा	(सन्तान)
प्र जन्	'उपसर्गे च संज्ञायाम्' से उपसर्ग उपपद में रहते 'जन्' धातु से संज्ञा अर्थ में 'ड' प्रत्यय हुआ
प्र जन् ड	अनुबन्ध-लोप, डित् सामर्थ्य से बिना 'भ' संज्ञा के भी 'टि' भाग 'अन्' का लोप हुआ
प्र ज् अ	कृदन्त की प्रातिपदिक संज्ञा होकर स्त्रीत्व विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' प्रत्यय आया
प्र ज् अ टाप्	अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे०' से सवर्ण दीर्घ एकादेश होने

पर प्रथमा वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त 'स्' का लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

प्रजा

८१४. क्तक्तवतू निष्ठा १।१।२५

एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः।

प०वि०–क्तक्तवतू १।२।। निष्ठा १।१।।

अर्थ–**'क्त'** और **'क्तवतु'** (प्रत्यय) **'निष्ठा'** संज्ञक होते हैं।

८१५. निष्ठा ३।२।१०२

भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात्। तत्र (७७०) 'तयोरेव०' इति भावकर्मणोः क्तः। ७३९ 'कर्त्तरि कृत्' इति कर्त्तरि क्तवतुः। उकावितौ। स्नातं मया। स्तुतस्त्वया विष्णुः। विश्वं कृतवान् विष्णुः।

प०वि०–निष्ठा १।१।। **अनु०**–भूते, धातोः।

अर्थ–भूतकाल में होने वाली क्रिया-वाचक धातु से **निष्ठा** अर्थात् **'क्त'** और **'क्तवतु'** प्रत्यय होते हैं।

'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' सूत्र से 'क्त' प्रत्यय **भाव** और **कर्म** में होता है तथा 'कर्त्तरि कृत्' सूत्र के अनुसार 'क्तवतु' प्रत्यय कृत्संज्ञक होने से **कर्त्ता** अर्थ में होता है।

स्नातम् (नहाया गया)

ष्णा — 'भूवादयो धातवः' से 'ष्णा' की धातु संज्ञा है अतः 'धात्वादेः षः सः' से षकार के स्थान में सकारादेश हुआ, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' से निमित्त (षकार) के हट जाने पर उसके कारण बना हुआ णत्व भी अपने पूर्व स्वरूप नकार में परिवर्तित हो गया

स्ना — 'निष्ठा' से भूतार्थ में धातु से निष्ठासंज्ञक 'क्त' प्रत्यय हुआ, 'क्तक्तवतू निष्ठा' से 'क्त' की निष्ठा संज्ञा है

स्ना क्त — अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर

स्नातम् — रूप सिद्ध होता है।

कृतवान्

कृ — 'निष्ठा' से भूतार्थ में धातु से 'निष्ठा' संज्ञक 'क्तवतु' प्रत्यय हुआ। 'क्तक्तवतू निष्ठा' से 'क्तवतु' निष्ठासंज्ञक है।

कृ क्तवतु — अनुबन्ध-लोप

कृ तवत् — 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम की प्राप्ति थी, जिसका 'एकाच

	उपदेशोऽनु०' से निषेध हो गया, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
कृ तवत् सु	'अत्वसन्तस्य चाऽधातोः' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते अत्वन्त की उपधा को दीर्घ, 'सु' की 'सुडनपुंसकस्य' से 'सर्वनामस्थान' संज्ञा है इसलिए 'उगिदचां सर्वनामस्थाने चाऽधातोः' से 'सर्वनामस्थान' संज्ञक 'सु' परे रहते उगित् अङ्ग को 'नुम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से अन्तिम अच् से परे 'नुम्' हुआ
कृ तवा नुम् त् सु	अनुबन्ध-लोप
कृत वान्त् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार-लोप और 'संयोगान्तस्य लोपः' से तकार का लोप होने पर
कृतवान्	रूप सिद्ध होता है।

स्तुतः—'ष्टुञ् स्तुतौ' धातु से 'धात्वादेःषः सः' से दन्त्य सकार होने पर पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय आकर, स्वाद्युत्पत्ति से 'सु', 'सु' के स्थान में रुत्त्व एवं विसर्ग होकर 'स्तुतः' रूप सिद्ध होता है।

८१६. रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ८।२।४२

रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य न स्यात्, निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च। शृ हिंसायाम्। '६६०-ॠत इत्०'। रपरः, णत्वम्-शीर्णः। भिन्नः। छिन्नः।

प०वि०—रदाभ्याम् ५।२।। निष्ठातः ६।१।। नः १।१।। पूर्वस्य ६।।१।। च अ०।। दः ६।१।।

अर्थ—रेफ और दकार से उत्तर **निष्ठा** अर्थात् **'क्त'** और **'क्तवतु'** के तकार के स्थान में नकार होता है तथा उससे पूर्ववर्ती दकार के स्थान में भी नकार आदेश होता है।

शीर्णः	(हिंसित)
शॄ	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'निष्ठा' से भूत अर्थ में धातु से 'निष्ठा' संज्ञक 'क्त' प्रत्यय आया
शॄ क्त	अनुबन्ध-लोप, 'ॠत इद्धातोः' से 'ॠ' को इकार आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
शिर् त	'हलि च' से 'हल्' परे रहते रेफान्त की उपधा को दीर्घ हुआ
शीर् त	'रदाभ्यां निष्ठातो०' से रेफ से उत्तर निष्ठा के 'त्' को 'न्' हुआ
शीर् न	'रषाभ्यां नो णः०' से रेफ से उत्तर नकार को णत्व हुआ
शीर्ण	कृदन्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व तथा विसर्ग होने पर
शीर्णः	रूप सिद्ध होता है।

(तोड़ा हुआ)

भिन्नः	अनुबन्ध-लोप, 'रदाभ्यां निष्ठातो नः०' से 'द्' से परे निष्ठा
भिद् क्त	'त्' को 'न्' आदेश तथा पूर्ववर्ती 'द्' को भी 'न्' आदेश हुआ
भिन् न	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर रुत्व तथा विसर्ग होकर
भिन्नः	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'छिद्' धातु से 'छिन्नः' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

८१७. संयोगादेरातो धातोर्यणवतः ८।२।४३

निष्ठा तस्य नः स्यात्। द्राणः। ग्लानः।

प०वि०—संयोगादेः ५।१।। आतः ५।१।। धातोः ५।१।। यण्वतः ५।१।।

अनु०—निष्ठातः, नः।

अर्थ—संयोगादि आकारान्त जो धातु यण्वान्, उससे उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है।

द्राणः—'द्रा+क्त' यहाँ 'द्रा' धातु संयोगादि, आकारान्त तथा यणवान् भी है अतः 'संयोगादेरातो०' से 'निष्ठा' संज्ञक 'क्त' के 'त्' को 'न्' होकर 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होने पर पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'द्राणः' सिद्ध होता है।

ग्लानः—'ग्लै' धातु के 'ऐ' को 'आदेच उपदेशेऽशिति' से 'आ' आदेश होकर 'ग्ला+त' बनने पर 'संयोगादेरातो०' से 'क्त' के 'त्' को 'न्' होकर 'ग्लानः' की सिद्धि पूर्ववत् जानें।

८१८. ल्वादिभ्यः ८।२।४४

एकविंशतेर्लूञादिभ्यः प्राग्वत्। लूनः। ज्याधातुः। 'ग्रहिज्या०' इति सम्प्रसारणम्।

प०वि०—ल्वादिभ्यः ५।३।। **अनु०**—निष्ठातः, नः।

अर्थ—'लूञ्' आदि इक्कीस धातुओं से परे **निष्ठा** (क्त, क्तवतु) के तकार को नकार आदेश होता है।

लूञादि इक्कीस धातुओं में 'ज्या-वयोहानौ' भी आती है। उससे 'क्त' प्रत्यय परे रहते 'ग्रहिज्यावयि०' से सम्प्रसारण हो जाता है। अग्रिम सूत्र में 'जीनः' की सिद्धि-प्रक्रिया में इसे स्पष्ट किया जाएगा।

लूनः—'लू (ञ्)+त (क्त)'—'ल्वादिभ्यः' से निष्ठा 'क्त' के 'त्' को 'न्' होकर पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति आदि होकर 'लूनः' रूप सिद्ध होता है।

८१९. हलः ६।४।२

अङ्गावयवाद्धलः परं यत् सम्प्रसारणं तदन्तस्य दीर्घः। जीनः।

प०वि०—हलः ५।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, सम्प्रसारणस्य, दीर्घः।

अर्थ—अङ्ग के अवयव 'हल्' से परे जो सम्प्रसारण, तदन्त (अङ्ग) को दीर्घ होता है।

विशेषः–'अचश्च' और 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषाओं के बल से यह दीर्घ अन्तिम 'अच्' के स्थान पर होता है।

जीनः	(बूढ़ा)
ज्या	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'निष्ठा' से भूत अर्थ में धातु से 'क्त' प्रत्यय हुआ
ज्या क्त	अनुबन्ध-लोप, 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से कित् परे रहते 'ज्या' को सम्प्रसारण हुआ, 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से 'यण्' (य्) के स्थान में 'इक्' (इ) हुआ
ज् इ आ त	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण (इ) से 'अच्' (आ) परे रहते पूर्व और पर को पूर्वरूप (इ) एकादेश हुआ
जि त	'हलः' से अङ्ग के अवयव 'हल्' (ज्) से परे जो सम्प्रसारण, तदन्त अङ्ग के 'अच्' (इ) को दीर्घ हुआ
जीत	'ल्वादिभ्यः' से 'लू' आदि में पठित 'ज्या' धातु से उत्तर 'निष्ठा' संज्ञक 'क्त' के तकार को नकार आदेश होने पर पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'सु आकर रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
जीनः	रूप सिद्ध होता है।

८२०. ओदितश्च ८।२।४५

भुजो–भुग्नः। टुओश्वि–उच्छूनः।

प०वि०–ओदितः ५।१।। च अ०।। **अनु०**–निष्ठातः, नः, धातोः।

अर्थ–ओदित् अर्थात् ओकार जिसका 'इत्' संज्ञक है ऐसी धातु से परे निष्ठा ('क्त' और 'क्तवतु') के तकार को नकार आदेश होता है।

भुग्नः–'भुजो–कौटिल्ये' धातु में 'ओ' की 'उपदेशेऽज०' से 'इत्' संज्ञा होने से 'भुज्+त' यहाँ 'चोः कुः' से 'ज्' को 'ग्' होने पर 'ओदितश्च' से 'त्' को 'न्' आदेश होकर सुबुत्पत्ति आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

उच्छूनः	(फूला हुआ, सूजा हुआ)
उत् टुओश्वि	'आदिर्ञिटुडवः' से 'टु' की और 'उपदेशेऽजनु०' से 'ओ' की 'इत्' संज्ञा और 'तस्य लोपः' से उनका लोप हुआ
उत् श्वि	'निष्ठा' से भूतकाल में 'क्त' प्रत्यय आया
उत् श्वि क्त	अनुबन्ध-लोप, 'वचिस्वपियजादीनां किति' से कित् परे रहते यजादि में होने के कारण 'श्वि' को सम्प्रसारण, 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से 'व्' को 'उ' हुआ
उत् श् उ इ त	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण से 'अच्' परे रहते पूर्वरूप एकादेश हुआ

उत् श् ङ त — 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम प्राप्त था जिसका 'श्वीदितो निष्ठायाम्' से निषेध हो गया। 'हलः' से अङ्ग के अवयव 'हल्' से उत्तर सम्प्रसारणान्त को दीर्घ हुआ

उत् श् ऊ त — 'ओदितश्च' से ओदित् धातु से परे निष्ठा के 'त्' को 'न्' आदेश हुआ

उत् शून — 'स्तोः श्चुना श्चुः' से शकार के योग में तकार के स्थान में चकार आदेश हुआ

उच् शून — 'शश्छोऽटि' से 'झय्' से उत्तर शकार को छकार आदेश हुआ, 'अट्' परे रहते

उच्छून — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० मे 'सु' आने पर 'सु' के सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर

उच्छूनः — रूप सिद्ध होता है।

८२१. शुषः कः ८।२।५१

निष्ठा तस्य कः। शुष्कः।

प०वि०–शुषः ५।१।। कः १।१।। **अनु०**–निष्ठातः, धातोः।

अर्थ–'शुष्' (सूखना) धातु से उत्तर **निष्ठा** अर्थात् 'क्त' और 'क्तवतु' के **'त्'** को **'क्'** आदेश होता है।

शुष्कः–'शुष्' धातु से उत्तर 'निष्ठा' सूत्र से 'क्त' आने पर 'शुषः कः' से 'त्' को 'क्' आदेश होकर पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'सु', रुत्व एवं विसर्गादि होकर **शुष्कः** रूप सिद्ध होता है।

८२२. पचो वः ८।२।५२

पक्वः। क्षै हर्षक्षये–

प०वि०–पचः ५।१।। वः १।१।। **अनु०**–निष्ठातः, धातोः।

अर्थ–'पच्' धातु से उत्तर **निष्ठा** ('क्त' और 'क्तवतु') के **'त्'** को **'व्'** आदेश होता है।

पक्वः — (पका हुआ)

पच् — 'निष्ठा' से भूतकाल में धातु से 'क्त' प्रत्यय हुआ

पच् क्त — अनुबन्ध-लोप, 'चोः कुः' से कुत्व तथा 'पचो वः' से 'त्' को 'व्' आदेश प्राप्त हुए, दोनों ही कार्य त्रिपादी के हैं इसलिए 'पूर्वत्रासिद्धम्' से 'चोः कुः' (पूर्व सूत्र) की दृष्टि में पर सूत्र 'पचोः वः' असिद्ध होता है अतः पहले 'चोः कुः' से कुत्व हुआ

पच् त	'पचो वः' से निष्ठा संज्ञक 'क्त' के 'त्' को 'व्' आदेश हुआ
पक्व	स्वाद्युत्पत्ति से 'सु', रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
पक्वः	रूप सिद्ध होता है।

८२३. क्षायो मः ८।२।५३

क्षामः।

प०वि०—क्षायः ५।१। मः १।१।। **अनु०**—निष्ठातः, धातोः।

अर्थ—**'क्षै'** धातु से उत्तर निष्ठा के **'त्'** के स्थान पर **'म्'** आदेश होता है।

क्षामः—'क्षै' धातु को 'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व होने पर 'निष्ठा' से 'क्त' प्रत्यय तथा 'क्षायो मः' से 'क्षै' धातु से उत्तर निष्ठा (क्त) के 'त्' को 'म्' आदेश होने पर पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति आदि होकर 'क्षामः' रूप सिद्ध होता है।

८२४. निष्ठायां सेटि ६।४।५२

णेर्लोपः। भावितः। भावितवान्। दृह–हिंसायाम्–

प०वि०—निष्ठायाम् ७।१।। सेटि ७।१।। **अनु०**—णेः, लोपः।

अर्थ—इट् सहित निष्ठा अर्थात् **'क्त'** और **'क्तवतु'** परे रहते **'णि'** का लोप होता है।

भावितः

भू	'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'हेतुमति च' से 'णिच्' प्रत्यय आया
भू णिच्	अनुबन्ध-लोप, 'अचो ञ्णिति' से अजन्त अङ्ग को वृद्धि हुई
भौ इ	'एचोऽयवायावः' से 'औ' को 'आव्' आदेश हुआ
भाव् इ	'सनाद्यन्ता धातवः' से णिजन्त की 'धातु' संज्ञा होने पर 'निष्ठा' से भूतकाल में 'क्त' प्रत्यय हुआ
भावि क्त	अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम
भावि इट् त	अनुबन्ध-लोप, 'निष्ठायां सेटि' से सेट् निष्ठा (क्त) परे रहते 'णि' का लोप हुआ
भाव् इ त	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' के सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
भावितः	रूप सिद्ध होता है।

भावितवान्—'भू' धातु से 'णिच्' प्रत्यय आकर 'भावि' रूप बनने पर 'निष्ठा' से 'क्तवतु' प्रत्यय, 'भावितः' के समान 'इट्' आगम तथा 'णि' का लोप होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'कृतवान्' (८१५) के समान जानें।

८२५. दृढः स्थूलबलयोः ७।२।२०

स्थूले बलवति च निपात्यते।

प०वि०—दृढः १।१।। स्थूलबलयोः ७।२।।

अर्थ—स्थूल और बलवान अर्थ में **'दृढ'** शब्द का निपातन होता है।

दृढः—'दृंह्' धातु से 'क्त' प्रत्यय होने पर 'इट्' आगम का अभाव, नकार का लोप, हकार का लोप तथा तकार के स्थान पर ढकार निपातन से होते हैं।

८२६. दधातेर्हिः ७।४।४२

तादौ किति। हितम्।

प०वि०—दधातेः ६।१।। हिः १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, ति, किति।

अर्थ—तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते **'धा'** धातु (अङ्ग) के स्थान में **'हि'** आदेश होता है।

हितम्—'धा' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर 'दधातेर्हिः' से 'धा' को 'हि' आदेश होकर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'हितम्' रूप सिद्ध होता है।

८२७. दो दद् घोः ७।४।४६

घुसंज्ञकस्य दा इत्यस्य 'दद्' स्यात् तादौ किति। चर्त्वम्-दत्तः।

प० वि०—दः ६।१।। दद् १।१।। घोः ६।१।। **अनु०**—ति, किति।

अर्थ—तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते घुसंज्ञक **'दा'** धातु को **'दद्'** आदेश होता है। 'दद्' आदेश अनेकाल् होने के कारण 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण 'दा' के स्थान पर होता है।

दत्तः—'दा+क्त' यहाँ 'दाधाघ्वदाप्' से 'दा' धातु की 'घु' संज्ञा है इसलिए 'दो दद् घोः' से तकारादि कित् 'क्त' परे रहते 'दा' को 'दद्' हुआ, 'खरि च' से 'द्' को 'त्' आदेश होकर 'सु' आकर रुत्व तथा विसर्ग होकर 'दत्तः' रूप सिद्ध होता है।

८२८. लिटः कानज्वा ३।२।१०६

प०वि०—लिटः ६।१।। कानच् १।१।। वा अ०।। **अनु०**—छन्दसि।

अर्थ—वेद में **'लिट्'** के स्थान में विकल्प से **'कानच्'** होता है।

विशेष—'तङानावात्मनेपदम्' से 'आन' (शानच् व कानच्) की 'आत्मनेपद' संज्ञा होती है इसलिए 'लिट्' के स्थान में 'कानच्' प्रत्यय केवल आत्मनेपदी धातुओं से परे ही होता है।

८२९. क्वसुश्च ३।२।१०७

लिटः कानच् क्वसुश्च वा स्तः। तङानावात्मनेपदम् (३७७)। चक्राणः।

प०वि०—क्वसुः १।१।। च अ०।। **अनु०**—छन्दसि, लिटः।

अर्थ—छन्द अर्थात् वेद में 'लिट्' के स्थान में 'क्वसु' और 'कानच्' आदेश विकल्प से होते हैं।

चक्राणः

कृ	'परोक्षे लिट्' से परोक्ष भूतकालिक क्रिया वाचक धातु से 'लिट्' आने पर 'लिटः कानज्वा' से 'लिट्' के स्थान पर विकल्प से 'कानच्' आदेश हुआ
कृ कानच्	'लशक्वतद्धिते' से 'क्' की तथा 'हलन्त्यम्' से 'च्' की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से दोनों का लोप हुआ
कृ आन	'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'लिट्' परे रहते 'कृ' को द्वित्व हुआ
कृ कृ आन	'पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'कृ' की 'अभ्यास' संज्ञा, 'उरत्' से अभ्यास में 'ऋ' को अकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
कर् कृ आन	'हलादिः शेषः' से अभ्यास का आदि 'हल्' शेष और 'कुहोश्चुः' से अभ्यास में 'क्' को 'च्' आदेश हुआ
च कृ आन	'इको यणचि' से 'ऋ' को यणादेश 'र्' हुआ
च क् र् आन	'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से 'न्' को 'ण्' हुआ
चक्राण	'कानच्' प्रत्यय 'कृत्' संज्ञक है अतः 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से कृदन्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने के कारण 'रामः' के समान स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
चक्राणः	रूप सिद्ध होता है।

८३०. म्वोश्च ८।२।६५

मान्तस्य धातोर्नत्वं म्वो परतः। जगन्वान्।

प०वि०—म्वोः ७।२।। च अ०।। **अनु०**—मो नो धातोः।

अर्थ—मकार और वकार परे रहते मकारान्त धातु के अन्तिम अल् (म्) को नकार आदेश होता है।

जगन्वान्

गम्	'परोक्षे लिट्' से परोक्ष भूत अर्थ में विद्यमान धातु से 'लिट्' प्रत्यय हुआ
गम् लिट्	'क्वसुश्च' से 'लिट्' के स्थान में 'क्वसु' आदेश हुआ
गम् क्वसु	अनुबन्ध-लोप
गम् वस्	'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से लिट् परे रहते 'गम्' को द्वित्व हुआ

गम् गम् वस्	'पूर्वोऽभ्यासः' से 'अभ्यास' संज्ञा, 'हलादिः शेषः' से आदि 'हल्' शेष और 'कुहोश्चुः' से 'ग्' को 'ज्' आदेश हुआ
जगम् वस्	'म्वोश्च' से वकार परे रहते मकारान्त धातु के 'म्' को 'न्' आदेश हुआ
जगन्वस्	स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
जगन्वस् सु	'उगिदचां सर्वनामस्थाने०' से उगिदन्त को 'नुम्' आगम हुआ
जगन्व नुम् स् सु	अनुबन्ध-लोप
जगन्व न् स् स्	'सान्तमहतः संयोगस्य' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सर्वनामस्थान' परे रहते सकारान्त संयोग के नकार की उपधा को दीर्घ हुआ
जगन्वान् स् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त सकार का लोप होकर रूप सिद्ध होता है।
जगन्वान्	

८३१. लटः शतृ-शानचावप्रथमासमानाधिकरणे ३।२।१२४

अप्रथमान्तेन समानाधिकरणे लट एतौ वा स्तः। शबादिः। पचन्तं चैत्रं पश्य।

प०वि०–लटः ६।१।। शतृशानचौ १।२।। अप्रथमासमानाधिकरणे ७।१।।

अनु०–विभाषा।

अर्थ–प्रथमा-विभक्ति से भिन्न अर्थात् द्वितीया, तृतीया आदि के साथ सामानाधिकरण्य गम्यमान होने पर **'लट्'** के स्थान पर विकल्प से **'शतृ'** और **'शानच्'** आदेश से होते हैं। अर्थात् जब 'लट्' परस्मैपदी धातुओं से उत्तर होगा तो 'शतृ' और आत्मनेपदी धातुओं से उत्तर होगा तो 'शानच्' विकल्प से होंगे।

'पचन्तम् चैत्रं पश्य'–यहाँ 'चैत्रम्' द्वितीयान्त के साथ 'पचन्' क्रिया का सामानाधिकरण्य है।

पचन्तम्

पच्	'वर्तमाने लट्' से 'लट्' प्रत्यय, 'लटः शतृशानचावप्रथमा०' से द्वितीयान्त 'चैत्रम्' के साथ सामानाधिकरण्य होने के कारण 'लट्' के स्थान में 'शतृ' आदेश हुआ
पच् शतृ	अनुबन्ध-लोप, 'कर्त्तरि शप्' से कर्तावाची सार्वधातुक परे रहते धातु से 'शप्' हुआ
पच् शप् अत्	अनुबन्ध-लोप, 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हुआ
पचत्	स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति तथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनै०' से एकवचन में 'अम्' आया
पचत् अम्	'सुडनपुंसकस्य' से 'अम्' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'उगिदचां सर्वनाम०' से उगिदन्त को नुमागम हुआ

पच नुम् त् अम्	अनुबन्ध-लोप होकर 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अपदान्त नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को पर सवर्ण पुनः नकार होने पर
पचन्तम्	रूप सिद्ध होता है।

८३२. आने मुक् ७।२।८२

अदन्ताङ्गस्य मुगागमः स्यादाने परे। पचमानं चैत्रं पश्य। लडित्यनुवर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित्। सन् द्विजः।

प०वि०—आने ७।१।। मुक् १।१।। **अनु०**—अतः, अङ्गस्य।

अर्थ—'आन' अर्थात् 'शानच्' और 'कानच्' का **'आन'** परे रहते ह्रस्व अकारान्त अङ्ग को **'मुक्'** आगम होता है।

लडित्यनुवर्तमाने०—पूर्व सूत्र **'लटः शतृशानचाव०'** में 'लट्' की अनुवृत्ति 'वर्तमाने लट्' से आ ही जाती पुनः 'लटः' पद का पाठ विशेष प्रयोजन से किया गया है। प्रयोजन यह है कि कहीं-कहीं प्रथमा के साथ सामानाधिकरण्य होने पर भी 'लट्' के स्थान में 'शतृ' और 'शानच्' होते हैं। जैसे—**'सन् द्विजः'** यहाँ प्रथमान्त 'द्विजः' के साथ सामानाधिकरण्य होने पर भी 'अस्' धातु से उत्तर 'लट्' के स्थान पर 'शतृ' देखा जाता है।

पचमानम्	(पकाते हुए को)
पच लट्	'लटः शतृशानचाव०' से 'शानच्' तथा 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्' हुआ
पच् शप् शानच्	अनुबन्ध-लोप
पच् अ आन	'आने मुक्' से 'आन' परे रहते अदन्त अङ्ग को 'मुक्' आगम हुआ
पच मुक् आन	अनुबन्ध-लोप
पचम् आन	स्वाद्युत्पत्ति से द्वितीया विभक्ति, एक वचन में 'अम्' प्रत्यय आया
पचमान अम्	'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
पचमानम्	रूप सिद्ध होता है।

८३३. विदेः शतुर्वसुः ७।१।३६

वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा। विदन्। विद्वान्।

प०वि०—विदेः ५।१।। शतुः ६।१।। वसुः १।१।। **अनु०**—अन्यतरस्याम्।

अर्थ—**'विद्'** धातु से उत्तर **'शतृ'** के स्थान पर विकल्प से **'वसु'** आदेश होता है।

विद्वान्	पूर्ववत् 'वर्तमाने लट्' से 'लट्', 'लटः शतृ०' से 'शतृ' आदेश,
विद् शतृ	'कर्तरि शप्' से 'शप्' आने पर 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से 'शप्' का लुक् और 'विदेः शतुर्वसु' से 'विद्' धातु से उत्तर 'शतृ' के स्थान में 'वसु' आदेश हुआ
	अनुबन्ध-लोप
विद् वसु	स्वाद्युत्पत्ति से प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया
विद् वस्	अनुबन्ध-लोप, 'उगिदचां सर्वनाम०' से नुमागम हुआ
विद् वस् सु	अनुबन्ध-लोप
विद् व नुम् स् स्	पूर्ववत् 'सान्तमहतः संयोगस्य' से सकारान्त संयोग के नकार
विद् वन् स् स्	की उपधा को दीर्घ हुआ
विद् वान् स् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप तथा 'सयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद के अन्तिम 'अल्' (सकार) का लोप होकर
विद्वान्	रूप सिद्ध होता है।

'वसु' अभाव पक्ष में

विदन्

विद् शतृ	अनुबन्ध-लोप
विदत्	पूर्ववत् 'कर्तरि शप्' से 'शप्' आकर 'अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' का लुक् होने पर प्र० वि०, एक व० में 'सु' तथा 'उगिदचां०' से नुमागम हुआ, अनुबन्ध लोप
विदन्त् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार-लोप और 'संयोगान्तस्य०' से तकार का लोप होकर
विदन्	रूप सिद्ध होता है।

८३४. तौ सत् ३।२।१२७

तौ शतृशानचौ सत्संज्ञौ स्तः।

प०वि०—तौ १।२।। सत् १।१।।

अर्थ—वे दोनों अर्थात् **'शतृ'** और **'शानच्'** प्रत्यय **'सत्'** संज्ञक होते हैं।

८३५. लृटः सद्वा ३।३।१४

व्यवस्थितविभाषेयम्। तेनाऽप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः सम्बोधने लक्षणहेत्वोश्च नित्यम्। करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य।

प०वि०—लृटः ६।१।। सत् १।१।। वा अ०।।

अर्थ–लृट् के स्थान पर विकल्प से 'सत्' संज्ञक प्रत्यय अर्थात् 'शतृ' और **'शानच्'** प्रत्यय होते हैं।

यह व्यवस्थित विभाषा है। अतः प्रथमा-भिन्न विभक्तियों का सामानाधिकरण्य होने पर, प्रत्यय और उत्तरपद परे रहते, सम्बोधन, लक्षण और हेतु अर्थ में 'लृट्' के स्थान में 'सत्' संज्ञक 'शतृ' और 'शानच्' आदेश नित्य होते हैं।

करिष्यन्तम्

कृ	'लृट् शेषे च' से भविष्यत् सामान्य में 'लृट्' आया
कृ लृट्	'स्यतासी लृलुटोः' से 'स्य' तथा 'ऋद्धनोः स्ये' से ऋकारान्त धातु से उत्तर 'स्य' को 'इट्' आगम हुआ
कृ इट् स्य ल्	अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' के स्थान में 'अर्' गुण हुआ
कर् इ स्य ल्	'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य आदेश हुआ
करिष्य ल्	'लृटः सद् वा' से 'लृट्' के स्थान में 'सत्' संज्ञक 'शतृ' आदेश हुआ
करिष्य शतृ	अनुबन्ध-लोप होने पर 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हुआ
करिष्यत्	'कृत्तद्धितसमासाश्च' से कृदन्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर स्वाद्युत्पत्ति होकर 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति तथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनै०' से एक व० में 'अम्' आया
करिष्यत् अम्	'सुडनपुंसकस्य' से 'अम्' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'उगिदचां सर्वनाम०' से 'नुम्' आगम हुआ
करिष्य नुम् त् अम्	अनुबन्ध-लोप, 'नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' से परसवर्ण आदेश होकर
करिष्यन्तम्	रूप सिद्ध होता है।

करिष्यमाणम्–'कृ+लृट्' यहाँ 'लृटः सद्वा' से 'लृट्' को 'शानच्' आदेश होने पर पूर्ववत् 'स्य', 'इट्', षत्व होकर 'करिष्य+आन' बनने पर शेष मुगागमादि कार्य 'पचमानम्' (८३२) के समान जानें।

८३६. आक्वेस्तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु ३।२।१३४

क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः।

प० पि०–आ अ०।। क्वेः ५।१।। तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ७।३।।

अर्थ–यहाँ से लेकर 'क्विप्' प्रत्यय के अधिकार की समाप्ति पर्यन्त सभी प्रत्यय **तच्छील** (किसी कार्य को करने का स्वभाव), **तद्धर्म** (उसका कर्तव्य) और **तत्साधुकारिता** (किसी कार्य को निपुणता से करना) अर्थों में प्रयुक्त होते हैं।

८३७. तृन् ३।२।१३५

कर्त्ता कटान्।

प०वि०—तृन् १।१।। **अनु०**—धातोः, आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु।

अर्थ—**तच्छील, तद्धर्म** और **तत्साधुकारी** अर्थों में धातु से कर्ता में **'तृन्'** प्रत्यय होता है।

कर्त्ता कटान्—(कटान् साधुकरणं शीलं, धर्मं वा अस्य)

कर्त्ता

कृ	'तृन्' से तच्छीलादि अर्थों में 'तृन्' प्रत्यय हुआ
कृ तृन्	अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकस्येड्०' से प्राप्त इडागम का 'एकाच उपदेशे०' से निषेध, गुण, स्वाद्युत्पत्ति तथा अनङादि सभी कार्य होकर तृजन्त 'कर्त्ता' (७८५) के समान होकर
कर्त्ता	रूप सिद्ध होता है।

८३८. जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः षाकन् ३।२।१५५

प०वि०—जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः ५।१।। षाकन् १।१।। **अनु०**— धातोः, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु।

अर्थ—**तच्छील, तद्धर्म** और **तत्साधुकारी** कर्ता अर्थों में **जल्प्, भिक्ष्, कुट्ट्, लुण्ट्** और वृ धातुओं से **'षाकन्'** प्रत्यय होता है।

८३९. षः प्रत्ययस्य १।३।६

प्रत्ययस्यादिः ष इत्संज्ञः स्यात्। जल्पाकः, भिक्षाकः। कुट्टाकः। लुण्टाकः। वराकः, वराकी।

प०वि०—षः १।१।। प्रत्यस्य ६।१।। **अनु०**—उपदेशे, आदिः, इत्।

अर्थ—उपदेश में प्रत्यय का आदि षकार इत्संज्ञक होता है।

जल्पाकः

जल्प्	'जल्पभिक्षकुट्ट०' से तच्छीलादि अर्थों में 'षाकन्' प्रत्यय हुआ
जल्प् षाकन्	'षः प्रत्ययस्य' से प्रत्यय के आदि षकार की और 'हलन्त्यम्' से नकार की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से दोनों का लोप हुआ
जल्प् आक	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व तथा रेफ को विसर्ग आदि कार्य होकर
जल्पाकः	रूप सिद्ध होता है।

भिक्षाकः, कुट्टाकः, लुण्टाकः और **वराकः** की सिद्धि-प्रक्रिया 'जल्पाकः' के समान जानें।

वराकी—'वृ' धातु से 'षाकन्' प्रत्यय आने पर 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण्

रपर:' से रपर होकर 'वराक' बनने पर 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' आने पर 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा, 'यस्येति च' से ईकार परे रहते अकार का लोप, ङ्यन्त से स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा वि०, एक व० में 'सु' आने पर सकार का हल्ङ्यादि लोप होकर 'वराकी' रूप सिद्ध होता है।

८४०. सनाशंसभिक्ष उः ३।२।१६८

चिकीर्षुः। आशंसुः। भिक्षुः।

प०वि०–सनाशंसभिक्षः ५।१।। उः १।१।। **अनु०**–धातोः, तच्छीलद्धर्मतत्साधु-कारिषु

अर्थ–'सन्' प्रत्ययान्तों से, **आशंस्** और **भिक्ष्** धातु से **'उः'** प्रत्यय होता है **तच्छील, तद्धर्म** और **तत्साधुकारी** कर्त्ता अर्थ में।

चिकीर्षुः	यहाँ 'कृ' धातु से इच्छा अर्थ में 'धातोः कर्मणः०' से 'सन्' प्रत्यय आने पर द्वित्वादि कार्य होकर सन्नन्त 'चिकीर्ष' रूप सिद्ध होता है।
चिकीर्ष	'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'सनाशंसभिक्ष उः' से सन्नन्त 'चिकीर्ष' धातु से 'उ' प्रत्यय आया
चिकीर्ष उ	'अतो लोपः' से आर्धधातुक परे रहते अकार-लोप हुआ
चिकीर्ष् उ	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति से 'सु', 'सु' के सकार को रुत्त्व तथा विसर्ग होकर
चिकीर्षुः	रूप सिद्ध होता है

इसी प्रकार 'भिक्ष्' तथा 'आङ्' पूर्वक 'शसि' धातु से 'उ' प्रत्यय होकर पूर्ववत् 'सु' को रुत्त्व और विसर्ग होकर **'भिक्षुः'** और **'आशंसुः'** रूप सिद्ध होते हैं।

८४१. भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जु-ग्रावस्तुवः क्विप् ३।२।१७७

विभ्राट्। भाः।

प०वि०–भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः ५।१।। क्विप् १।१।। **अनु०**–धातोः, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु।

अर्थ–**तच्छील, तद्धर्म** और **तत्साधुकारी** कर्त्ता अर्थ में **'भ्राज्'** (चमकना), **'भ्रास्'** (चमकना), **'धुर्व्'** (दुःख देना), **'द्युत्'** (चमकना), **'ऊर्ज्'** (शक्तिमान होना), **'पॄ'** (पालन-पोषण करना), **'जु'** (तीव्र गति से चलना) तथा **'ग्रावन्'** उपपदपूर्वक **'स्तु'** (पत्थर की स्तुति करना) धातुओं से **'क्विप्'** प्रत्यय होता है।

विभ्राट्–'वि' उपसर्ग पूर्वक 'भ्राज्' धातु से 'भ्राजभासधुर्वि०' से 'क्विप्' होकर उसका सर्वापहारी लोप होने पर 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होकर 'सु' आकर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप, 'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से 'ज्' को 'ष्' आदेश, 'झलां जशोऽन्ते' से 'ष्' को 'ड्' एवं 'वाऽवसाने' से चर्त्व 'ट्' होकर 'विभ्राट्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **भाः**—'भास्' धातु से 'भ्राजभासधुर्वि०' से 'क्विप्', उसका सम्पूर्ण लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' के सकार का हल्ङ्यादि लोप तथा धातु के 'सकार' को विसर्ग होकर 'भाः' रूप सिद्ध होता है।

८४२. राल्लोपः ६।४।२१

रेफाच्छ्वोर्लोपः क्वौ झलादौ क्ङिति। धूः। विद्युत्। ऊर्क्। पूः। दृशिग्रहणस्यापकर्षाज्जवतेर्दीर्घः। जूः। ग्रावस्तुत्।

(वा०) क्विब् वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रूजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च। वक्तीति-वाक्।

प०वि०—रात् ५।१।। लोपः १।१।। **अनु०**—च्छ्वोः, क्विझलोः, क्ङिति।

अर्थ—रेफ से उत्तर '**च्छ्**' तथा '**व्**' का लोप होता है, 'क्विप्' तथा झलादि कित्-ङित् प्रत्यय परे रहते।

धूः—(धूर्वति, हन्ति इति) 'धूर्व्' धातु से 'भ्राजभासधुर्वि०' से 'क्विप्' तथा उसका लोप होने पर लुप्त 'क्विप्' को निमित्त मानकर 'राल्लोपः' से रेफ से परे 'व्' का लोप पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप, 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' से रेफ की उपधा 'इक्' को दीर्घ और रेफ को विसर्ग होने पर 'धूः' रूप सिद्ध होता है।

विद्युत्—(विशेषेण द्योतते इति) 'वि' उपसर्गपूवर्क 'द्युत्' धातु से 'भ्राजभास०' से 'क्विप्' होकर उसका लोप, स्वाद्युत्पत्ति तथा 'सु' के सकार का हल्ङ्यादि लोप होकर 'विद्युत्' रूप सिद्ध होता है।

ऊर्क्-(ऊर्जति इति) 'ऊर्ज्' धातु से पूर्ववत् 'क्विप्', उसका सर्वापहारी लोप, स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' के 'स्' का हल्ङ्यादि लोप, 'चोः कुः' से पदान्त में कुत्व 'ज्' को 'ग्' आदेश और 'वाऽवसाने' से चर्त्व 'ग्' को 'क्' होकर 'ऊर्क्' रूप सिद्ध होता है।

पूः	(पिपर्ति, पालयति इति)
पृ	'भ्राजभासधुर्विद्युतो०' से तच्छील आदि अर्थों में 'क्विप्' प्रत्यय हुआ
पृ क्विप्	'क्विप्' का सर्वापहारी लोप होने पर 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से ओष्ठ्य वर्ण पूर्व में रहते धातु के 'ॠकार' को ह्रस्व 'उ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर हुआ
पुर्	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
पुर् सु	अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के सकार का लोप, 'र्वोरुपधाया दीर्घः०' से पदान्त में रेफान्त की उपधा 'इक्' को दीर्घ और 'खरवसानयो०' से अवसान में रेफ को विसर्ग होकर
पूः	रूप सिद्ध होता है।

जूः—'जु' धातु से 'भ्राजभासधुर्विद्युतो॰' से 'क्विप्', उसका लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' को रुत्व एवं विसर्ग होने पर 'जुः' बनना चाहिए था परन्तु वरदराज का कथन है कि यहाँ अग्रिम सूत्र 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' से 'दृश्यते' का अपकर्ष करके विध्यन्तर अर्थात् 'दीर्घ' का भी यहाँ समावेश किया जाता है इसलिए दीर्घ होकर 'जूः' रूप सिद्ध होता है।

ग्रावस्तुत्	(ग्रावाणं स्तौति)
ग्रावन् ङस् स्तु	'भ्राजभासधुर्वि॰' से तच्छील आदि अर्थों में 'क्विप्' प्रत्यय आया
ग्रावन् ङस् स्तु क्विप्	'क्विप्' का सम्पूर्ण लोप होने पर 'उपपदमतिङ्' से समास और 'सुपो धातुप्राति॰' से विभक्ति का 'लुक्' हुआ
ग्रावन् स्तु	'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार-लोप, प्रत्ययलक्षण से लुप्त 'क्विप्' को निमित्त मान कर 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से 'तुक्' आगम, अनुबन्ध-लोप
ग्राव स्तु त्	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर 'हल्ङ्याब्भ्यो॰' से सकार का लोप होकर
ग्रावस्तुत्	रूप सिद्ध होता है।

(वा॰) **क्विब् वचिप्रच्छ्यायस्तुकटप्रुजश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च—अर्थः**— 'वच्', 'प्रच्छ्', 'आयत' पूर्वक 'स्तु', 'कट' पूर्वक 'प्रु', 'जु' और 'श्रि' इन धातुओं से 'क्विप्' प्रत्यय और धातुओं को दीर्घ होता है और सम्प्रसारण भी नहीं होता।

वाक्	(वक्तीति, वाणी)
वच्	'क्विब्वचिप्रच्छ्यायत॰' से 'वच्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय, धातु को दीर्घ और सम्प्रसारण का अभाव हुआ
वाच् क्विप्	'क्विप्' का सर्वापहारी लोप होकर प्र॰ वि॰, एक व॰ में 'सु' आया
वाच् सु	'सु' के सकार का हल्ङ्यादि लोप होने पर 'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में 'च्' को 'ज्' होने पर 'चोः कुः' से कुत्व 'ज्' को 'ग्' आदेश, 'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व 'ग्' को 'क्' आदेश होकर
वाक्	रूप सिद्ध होता है।

८४३. च्छ्वोः शूडनुनासिके च ६।४।१९

सतुक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात् 'श्, ऊठ्, इत्यादेशौ स्तोऽनुनासिके क्वौ झलादौ च क्ङिति। पृच्छतीति—प्राट्। आयतं स्तौतीति—आयतस्तूः। कटं प्रवते—कटप्रूः। जूरुक्तः। श्रयति हरिं—श्रीः।

प॰वि॰—च्छ्वोः ६।२।। शूड् १।१।। अनुनासिके ७।१।। च अ॰।। **अनु॰**—क्विझलोः क्ङिति।

अर्थ–अनुनासिक, 'क्विप्' और झलादि कित्-ङित् प्रत्यय परे रहते 'च्छ्' और 'व्' के स्थान पर क्रमशः **'श्'** और **'ऊठ्'** आदेश होते हैं।

	(पृच्छतीति, पूछने वाला है)
प्राट्	
प्रच्छ्	'क्विब् वचिप्रच्छ्यायत०' वार्तिक से 'प्रच्छ्' से 'क्विप्' प्रत्यय, 'प्रच्छ्' को दीर्घ और सम्प्रसारण का अभाव हुआ
प्राच्छ् क्विप्	'हलन्त्यम्' से पकार की, 'लशक्वतद्धिते' से ककार की और 'उपदेशेऽजनु०' से इकार की 'इत्' संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से इत्संज्ञको का लोप होने पर 'व्' शेष रहा, जिसकी 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'वेरपृक्तस्य' से लोप हुआ
प्राच्छ्	'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' से लुप्त 'क्विप्' को निमित्त मानकर 'च्छ्' के स्थान में 'श्' आदेश हुआ
प्रा श्	स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
प्राश् सु	अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप होकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा हुई
प्राश्	'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः' से पदान्त में 'श्' को 'ष्' आदेश हुआ
प्राष्	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में 'ष्' को 'ड्' आदेश हुआ
प्राड्	'वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व 'ड्' के स्थान में 'ट्' होकर
प्राट्	रूप सिद्ध होता है।
आयतस्तूः	(आयतं स्तौति, चारण या भाट)
आयत ङस् स्तु	'क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकट०' से 'आयत' पूर्वक 'स्तु' से 'क्विप्' प्रत्यय तथा धातु के उकार को दीर्घ हुआ
आयत ङस् स्तू क्विप्	'क्विप्' का सम्पूर्ण लोप, 'उपपदमतिङ्' से समास, 'कृत्तद्धित०' से कृदन्त की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से 'ङस्' का लुक् हुआ
आयत स्तू	स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर
आयतस्तूः	रूप सिद्ध होता है।

कटप्रूः (कटं प्रवते, श्मशान में रहने के स्वभाव वाला, शिव) की सिद्धि- प्रक्रिया 'आयतस्तूः' के समान जानें।

श्रीः–(श्रयति हरिम्, लक्ष्मी) 'श्रिञ् सेवायाम्' से 'क्विब्वचिप्रच्छ्यायत०' से 'क्विप्' प्रत्यय तथा धातु के इकार को दीर्घ होकर 'क्विप्' का सर्वापहारी लोप, स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर **'श्रीः'** रूप सिद्ध होता है।

८४४. दाम्नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-दश-नहः करणे। ३।२।१८२

दाबादेः ष्ट्रन् स्यात्करणेऽर्थे। दात्यनेन-दात्रम्। नेत्रम्।

प०वि०—दाम्नीशस..नहः ५।१।। करणे ७।१।। **अनु०**—धातोः,ष्ट्रन्।

अर्थ—**दाप्** (लवने), **णीञ्** (प्रापणे), **शसु** (हिंसायाम्), **यु** (मिश्रणामिश्रणयोः), **युजिर्** (योगे), **ष्टुञ्** (स्तुतौ), **तुद** (व्यथने), **सिञ्** (बन्धने), **सिच** (सेचने), **मिह** (मूत्रत्यागे), **पत्लृ** (गतौ), **दंश** (दंशने) तथा **नह** (बन्धने) धातुओं से करण अर्थ में **'ष्ट्रन्'** प्रत्यय होता है।

दात्रम्	(दाति अनेनेति, दरांती आदि)
दाप्	अनुबन्ध-लोप, 'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा, 'दाम्नीशस०' से 'दाप्' धातु से करण अर्थ में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय हुआ
दा ष्ट्रन्	अनुबन्ध-लोप, 'ष्' का लोप होने पर उसके निमित्त से बना हुआ 'ट्र' अपने पूर्वरूप 'त्र' में आ गया
दा त्र	स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा वि०, एक व० में 'सु' आया
दात्र सु	नपुंसकलिंग में 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
दात्रम्	रूप सिद्ध होता है।

नेत्रम्—(नीयतेऽनेनेति, आँख, रस्सी) 'नी+त्र' यहाँ 'सार्वधातुककार्ध०' से गुण होकर शेष सिद्धि 'दात्रम्' के समान जानें।

८४५ ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु च ७।२।९

एषां दशानां कृत्प्रत्ययानामिण् न। शस्त्रम्। योत्रम्। योक्त्रम्। स्तोत्रम्। तोत्त्रम्। सेत्रम्। सेक्त्रम्। मेढ्रम्। पत्त्रम्। दंष्ट्रा। नद्ध्री।

प०वि०—तितुत्रतथ...सेषु ७।३। च अ०।। **अनु०**—न, इट्।

अर्थ—**ति** (क्तिन् और क्तिच्), **तु** (तुन्), **त्र** (ष्ट्रन्), **त** (तन्), **थ** (क्थन्), **सि** (क्सि), **सु**, **सर** (सरन्), **क** (कन्) और **स** इन दश प्रत्ययों को (वलादि आर्धधातुक होने पर भी) 'इट्' आगम नहीं होता।

शस्त्रम्—(शसति अनेनेति) 'शस्' धातु से 'दाम्नीशस०' से 'ष्ट्रन्' होकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'त्र' शेष रहता है जिसे 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से 'इट्' आगम प्राप्त था जिसका 'तितुत्रत०' से निषेध होकर 'दात्रम्' के समान 'शस्त्रम्' बनता है।

योत्रम्—'यु+त्र(ष्ट्रन्)' प्रकृत सूत्र से 'इट्' निषेध, 'सार्वधातुककार्ध०' से गुण तथा सुबुत्पत्ति आदि होकर 'योत्रम्' रूप सिद्ध होता है।

योक्त्रम्—'युज्+त्र' यहाँ 'त्रितुत्रतथ०' से 'इट्' का निषेध होने परे 'पुगन्तलघूप०'

से गुण, 'चोः कुः' से कुत्व (ग्) एवं 'खरि च' से चर्त्व (क्) और सुबुत्पत्ति आदि होकर 'योक्त्रम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'स्तोत्रम्', 'सेक्त्रम्', 'तोत्त्रम्', 'सेत्रम्'** आदि की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

मेढ्रम् (मिहति अनेनेति, मूत्रेन्द्रिय)

मिह् — 'दाम्नीशस०' से करण अर्थ में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप

मिह् त्र — 'तितुत्रतथ०' से इडागम का निषेध होने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' से इकार को गुण (ए) हुआ

मेह् त्र — 'हो ढः' से 'ह्' को 'ढ्' तथा 'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'त्' को 'ध्' आदेश हुआ

मेढ् ध् र् अ — 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व 'ध्' को 'ढ्' आदेश हुआ

मेढ् ढ् र — 'ढो ढे लोपः' से ढकार परे रहते ढकार का लोप हुआ

मेढ्र — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति से प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया

मेढ्र सु — 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर

मेढ्रम् — रूप सिद्ध होता है।

दंष्ट्रा (दशति अनेन, दाढ़)

दंश् त्र (ष्ट्रन्) — पूर्ववत् 'दाम्नीशस०' से करण अर्थ में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय तथा 'तितुत्रतथ०' से इडागम का निषेध होने पर 'व्रश्चभ्रस्जसृज०' से शकार को षकार आदेश हुआ

दंष् त्र — 'ष्टुना ष्टुः' से 'त्' को 'ट्' आदेश हुआ

दंष्ट्र — स्त्रीत्व की विपक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' आया

दंष्ट्र टाप् — अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश होने पर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से आबन्त से उत्तर 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर

दंष्ट्रा — रूप सिद्ध होता है।

नद्ध्री (नह्यते, बध्नाति अनया इति, रस्सी)

नह् — 'दाम्नीशसयु०' से करण अर्थ में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप

नह् त्र — 'तितुत्रतथसि०' से इडागम का निषेध तथा 'नहो धः' से 'नह्' धातु के 'ह्' को 'ध्' आदेश हुआ

नध् त्र — 'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'झष्' से उत्तर 'त्' को 'ध्' हुआ

नध् ध्र — 'झलां जश् झशि' से 'झश्' (ध्) परे रहते पूर्ववर्ती 'ध्' को 'द्' आदेश आदेश हुआ

नद् ध्र	स्त्रीत्व की विवक्षा में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से 'ङीष्' आया
नद् ध्र ङीष्	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होकर 'यस्येति च' से ईकार परे रहते अकार का लोप हुआ
नद् ध्र् ई	स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से ङ्यन्त से उत्तर 'सु' के अपृक्त सकार का लोप आदि गौरी (२२६) के समान होकर
नद्ध्री	रूप सिद्ध होता है।

८४६. अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चर इत्रः ३।२।१८४

अरित्रम्। लवित्रम्। धुवित्रम्। सवित्रम्। खनित्रम्। सहित्रम्। चरित्रम्।

प०वि०—अर्तिलूधु....चरः ५।१॥ इत्रः १।१॥ **अनु०**—धातोः, करणे।

अर्थ—**ऋ** (गतौ), **लूञ्** (छेदने), **धूञ्** (विधूनने), **सू** (प्रेरणे), **खन** (खनने), **सह** (मर्षणे) और **चर** (गतिभक्षणयोः) इन सात धातुओं से करण कारक में '**इत्र**' प्रत्यय होता है।

अरित्रम्	(ऋच्छति, गच्छति अनेन, चप्पू)
ऋ	'अर्तिलूधूसू०' से करण कारक में 'इत्र' प्रत्यय हुआ
ऋ इत्र	'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' को 'अर्' हुआ
अर् इत्र	'कृत्तद्धित०' से प्रातिपदिक संज्ञा होकर स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
अर् इत्र सु	'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
अरित्रम्	रूप सिद्ध होता है।

लवित्रम्—(लुनाति अनेन, दरांति आदि) 'लू+इत्र', यहाँ 'सार्वधातु०' से गुण, 'एचोऽयवा०' से 'ओ' को 'अव्' होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'अरित्रम्' के समान जानें।

धुवित्रम्—(धुवति अनेनेति, पंखा) **सवित्रम्**—(सुवति अनेनेति) आदि रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होते हैं।

८४७. पुवः संज्ञायाम् ३।२।१८५

पवित्रम्।

॥ इति पूर्वकृदन्तप्रकरणम् ॥

प०वि०—पुवः ५।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ **अनु०**—धातोः, करणे, इत्रः।

अर्थ—संज्ञा कार्य में करण कारक में **पू** (**पूञ्**—पवने तथा **पूङ्** पवने) धातुओं से '**इत्र**' प्रत्यय होता है।

	(पुनाति अनेन इति)
पवित्रम्	'पुवः संज्ञायाम्' से 'पू' धातु से संज्ञा गम्यमान होने पर करण अर्थ में 'इत्र' प्रत्यय आया
पू	'सार्वधातुकार्ध०' से इगन्त अङ्ग को गुण 'ओ' हुआ
पू इत्र	'एचोऽयवायावः' से 'ओ' को 'अव्' आदेश हुआ
पो इत्र	'कृत्तद्धित०' से कृदन्त की प्रातिपदिक संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
पव् इत्र	
पवित्र सु	'अतोऽम्' से अदन्त नपुंसक से उत्तर 'सु' को 'अम्' आदेश हुआ
पवित्र अम्	'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
पवित्रम्	रूप सिद्ध होता है।

॥ पूर्वकृदन्तप्रकरण समाप्त॥

अथ उणादयः

पूर्वकृदन्त प्रकरण समाप्त होने पर उत्तरकृदन्त को प्रारम्भ करने से पूर्व मध्य में 'वरदराज' ने उणादि प्रकरण का अत्यन्त संक्षेप में केवल एक सूत्र देकर उल्लेख मात्र किया है। पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी में मात्र एक सूत्र 'उणादयो बहुलम्' के द्वारा उणादि प्रकरण का संकेत मात्र किया है। इतना संक्षिप्त होने पर भी 'उणादि प्रकरण' भाषा के सतत विकास तथा भाषा के प्रति पाणिनि के उदात्त और उदार दृष्टिकोण को रेखांकित करने के कारण भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'उणादि' का संकेत मात्र किया है तथापि उन्होंने 'उणादिकोष' या 'उणादिपाठ' नाम से स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना करके इसके अतिरिक्त महत्त्व को भी स्वीकार किया है। उणादि-कोष में कुल पाँच पाद हैं जिनमें कुल ७२६ सूत्र हैं।

'उणादयो बहुलम्' सूत्र कृदन्त प्रकरण में पठित होने से 'उण्' आदि प्रत्यय सामान्यतः 'कर्तरि कृत्' सूत्र की व्यवस्था से कर्त्ता में होने चाहिएँ, परन्तु 'उणादयो बहुलम्' कहकर उपर्युक्त व्यवस्था के नियमन से उणादि प्रत्ययों को मुक्त सा कर दिया है। इसके अतिरिक्त उणादि-सूत्रों से विहित प्रत्ययों के अर्थनिर्धारण के लिए पाणिनि ने 'ताभ्यामन्यत्रोणादयः' कहकर 'सम्प्रदान' एवं 'अपादान' से भिन्न किसी भी अर्थ में उणादि प्रत्ययों के विधान को स्वीकार किया है।

लघुसिद्धान्तकौमुदीकार ने इस प्रकरण के प्रारम्भ में उणादिकोष के प्रथम पाद के प्रथम सूत्र का उदाहरणों सहित उल्लेख करके यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि उणादिकोष एक स्वतंत्र ग्रन्थ (पुस्तक) होने पर भी पाणिनीय व्याकरण का अभिन्न अङ्ग है और इसी का संकेत 'उणादयो बहुलम्' सूत्र में किया गया है।

(उ०) कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूभ्य उण्। करोतीति-कारुः। वातीति-वायुः। पायुर्गुदम्। जायुरौषधम्। मायुः पित्तम्। स्वादुः। साध्नोति परकार्यमिति साधुः। आशु-शीघ्रम्।

'उण्' प्रत्यय आदि में होने के कारण ही इसे 'उणादि' कहा जाता है।

अर्थ–**कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद्, साध्**, तथा **अश्** धातु से **'उण्'** प्रत्यय कर्त्ता, कर्म आदि यथेष्ट तथा यथासम्भव अर्थों में होता है।

कारुः (करोतीति, शिल्पकार या कारीगर)

कृ	'भूवादयो०' से धातु संज्ञा, 'कृवापाजिमिस्वदि०' से कर्ता अर्थ में 'उण्' प्रत्यय आया
कृ उण्	'हलन्त्यम्' से णकार की 'इत्' संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से उसका लोप हुआ। 'अचो ञ्णिति' से 'णित्' परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'आर्' वृद्धि हुई
कार् उ	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर
कारुः	रूप सिद्ध होता है।
वायुः	(वातीति)
वा	पूर्ववत् 'कृवापाजिमि०' से कर्ता अर्थ में 'उण्' प्रत्यय हुआ
वा उण्	अनुबन्ध-लोप, 'आतो युक् चिण्कृतोः' से णित्-कृत् प्रत्यय परे रहते आकारान्त अङ्ग को 'युक्' आगम हुआ
वा युक् उ	अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर
वायुः	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **पायुः**—(पाति, रक्षति इति, गुदा), **जायुः**—(जयति रोगान् इति, औषधि) आदि की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

८४८. उणादयो बहुलम् ३।३।१

एते वर्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः। केचिदविहिताप्यूह्याः।

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।

कार्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥

॥ इत्युणादयः॥

प०वि०—उणादयः १।३॥ बहुलम् १।१॥ **अनु०**—वर्तमाने, संज्ञायाम्, धातोः।

अर्थ—उणादि प्रत्यय वर्तमान काल में, संज्ञा अर्थ में धातु से बहुल करके होते हैं।

उणादि प्रत्ययों का वैशिष्ट्य यह है कि उणादिकोष में पढ़े गये प्रत्यय तो निदर्शन मात्र हैं। उन्हीं के सादृश्य पर नवीन प्रचलित प्रयोगों को देखकर उनमें प्रकृति (धातु) प्रत्यय आदि की ऊहा (कल्पना) करनी चाहिए।

(का०) **संज्ञासु इति—अर्थ**—संज्ञा शब्दों में धातु रूप अर्थात् प्रकृति, प्रकृति से परे प्रत्यय की कल्पना शब्द के स्वरूप को देखकर करनी चाहिए। शब्द में दिखाई देने वाले गुण, वृद्धि आदि कार्यों को देखकर तत्तदनुसार उनके अनुबन्धों ञित्, णित्, किदादि की कल्पना करके शब्द का विश्लेषण करना यही वास्तव में उणादि शास्त्र का कार्य है।

वृत्ति एवं व्याख्या ग्रन्थों में 'बहुल' का अर्थ निम्न कारिका के द्वारा स्पष्ट किया है।

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति।।

(कहीं पर प्रवृत्त होना, कहीं पर प्रवृत्ति का अभाव, कहीं पर विहित कार्य का विकल्प से होना और कहीं पर अन्य के स्थान में अन्य कार्य का हो जाना अर्थात् सर्वथा अनपेक्षित कार्य हो जाना-इस प्रकार चार प्रकार की स्थिति को अभिव्यक्त करने के लिए 'बहुल' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

।। उणादिप्रकरण समाप्त।।

अथ उत्तरकृदन्त-प्रकरणम्

८४९. तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३।३।१०

क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्तः। मान्तत्वादव्ययत्वम्। कृष्णं द्रष्टुं याति। कृष्णं दर्शको याति।

प०वि०—तुमुन्ण्वुलौ १।२।। क्रियायाम् ७।१।। क्रियार्थायाम् ७।१।।

अनु०—धातोः, भविष्यति।

अर्थ—क्रिया के लिए क्रिया उपपद में रहते भविष्यत् अर्थ में धातु से 'तुमुन्' और 'ण्वुल्' प्रत्यय होते हैं।

यथा—**'कृष्णं द्रष्टुं याति'** (कृष्ण को देखने के लिए जाता है) यहाँ जाने की क्रिया देखने की क्रिया के लिए हो रही है इसलिए 'गमन' क्रियावाचक 'याति' उपपद में रहते 'दृश्' धातु से भविष्यत् अर्थ में 'तुमुन्' प्रत्यय होता है।

द्रष्टुम्	(देखने के लिए)
दृश्	'तुमुन्ण्वुलौ क्रिया०' से 'देखना' क्रिया के लिए क्रिया (गमन) उपपद में रहते 'दृश्' धातु से भविष्यत् अर्थ में 'तुमुन्' प्रत्यय हुआ
दृश् तुमुन्	'हलन्त्यम्' से नकार की तथा 'उपदेशेऽज०' से उकार की 'इत्' संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से दोनों का लोप हुआ
दृश् तुम्	'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से प्राप्त 'इट्' आगम का 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से निषेध होने पर 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' से अकित् झलादि प्रत्यय परे रहते 'दृश्' को 'अम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्०' से 'ऋ' के बाद हुआ
दृ अम् श् तुम्	अनुबन्ध-लोप, 'इको यणचि' से 'ऋ' को यणादेश 'र्' हुआ
द्र श् तुम्	'व्रश्चभ्रस्जसृज्०' से 'श्' को 'ष्' आदेश हुआ
द्रष् तुम्	'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'त्' को 'ट्' हुआ
द्रष्टुम्	स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'स' आया

द्रष्टुम् सु — 'कृन्मेजन्तः' से मकारान्त कृदन्त की 'अव्यय' संज्ञा होने से 'अव्ययादाप्सुपः' से अव्यय से उत्तर 'सु' का लुक् होकर

द्रष्टुम् — रूप सिद्ध होता है।

दर्शकः—'दृश्+ण्वुल्', अनुबन्ध-लोप, 'युवोरनाकौ' से 'वु' को 'अक', 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण होकर 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर 'दर्शकः' रूप सिद्ध होता है।

८५०. कालसमयवेलासु तुमुन् ३।३।१६९

प० वि०—काल समयवेलासु ७।३।। तुमुन् १।१।। **अनु०**—धातोः

कालार्थेषुपपदेषु तुमुन्। कालः समयो वेला वा भोक्तुम्।

अर्थ—**'काल'**, **'समय'** और **'वेला'** शब्द उपपद में रहते धातु से **'तुमुन्'** प्रत्यय होता है।

कालो भोक्तुम् (भोजन का समय)—'भुज्' धातु से 'कालसमयवेलासु तुमुन्' से 'तुमुन्' प्रत्यय, 'पुगन्लघू०' से गुण, 'चोः कुः' से कुत्व 'ज्' को 'ग्', 'खरि च' से चर्त्व 'ग्' को 'क्' आदेश होकर 'भोक्तुम्' बनने पर 'कृन्मेजन्तः' से 'भोक्तुम्' की 'अव्यय' संज्ञा होने से 'द्रष्टुम्' के समान 'सु' आकर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होने पर 'भोक्तुम्' रूप सिद्ध होता है।

८५१. भावे ३।३।१८

सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ्। पाकः

प०वि०—भावे ७।१।। **अनु०**—धातोः, घञ्।

अर्थ—जब धात्वर्थ सिद्ध अवस्था में हो तो उसके वाच्य होने पर धातु से **'घञ्'** प्रत्यय होता है।

पाकः — (पच्यते इति)

पच् — 'भूवादयो०' से 'धातु' संज्ञा होने पर 'भावे' से भाव अर्थ में धातु से 'घञ्' प्रत्यय हुआ

पच् घञ् — अनुबन्ध-लोप, 'अत उपधायाः' से ञित् प्रत्यय परे रहते उपधा अकार को वृद्धि 'आ' आदेश हुआ

पाच् अ — 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' से घित् परे रहते कुत्व होकर 'च्' को 'क्' आदेश हुआ

पाक — स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर

पाकः — रूप सिद्ध होता है।

८५२. अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् ३।३।१९

कर्तृभिन्ने कारके घञ् स्यात्।

प०वि०—अकर्तरि ७।१।। च अ०।। कारके ७।१।। संज्ञायाम् ७।१।। अनु०—धातोः, घञ्।

अर्थ—संज्ञा अर्थ में कर्त्ताभिन्न कारक में धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है।

८५३. घञि च भावकरणयोः ६।४।२७

रञ्जेर्नलोपः स्यात्। रागः। अनयोः किम्? रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः।

प० वि०—घञि ७।।१।। च अ०।। भावकरणयोः ७।२।। अनु०—रञ्जेः, न लोपः।

अर्थ—भाव और करण अर्थ में विहित '**घञ्**' प्रत्यय परे रहते '**रञ्ज्**' धातु के नकार का लोप होता है।

रागः	(रज्यतेऽनेनेति)
रञ्ज्	'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' से 'रञ्ज्' धातु से करण अर्थ में 'घञ्' हुआ
रञ्ज् घञ्	अनुबन्ध-लोप, 'घञि च भावकरणयोः' से करणार्थक 'घञ्' परे रहते 'रञ्ज्' के नकार (ञकार) का लोप हुआ
रज् अ	'अत उपधायाः' से ञित् प्रत्यय परे रहते उपधा अकार को वृद्धि हुई
राज् अ	'चजोः कु घिण्ण्यतोः' से 'घित्' परे रहते 'ज्' को कुत्व 'ग्' आदेश हुआ
राग	पूर्ववत् 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर
रागः	रूप सिद्ध होता है।

अनयोः किम्—अर्थात् भाव और करणार्थक घञ् परे रहते ही 'रञ्ज्' के 'न्' का लोप क्यों कहा? इसका प्रयोजन है कि **अधिकरण** अर्थ में 'घञ्' परे रहते नकार का लोप न हो। अतः **'रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः'** सिद्ध होता है।

८५४. निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः ३।३।४१

एषु चिनोतेर्घञ् आदेश्च ककारः। उपसमाधानम्—राशीकरणम्। निकायः। कायः। गोमयनिकायः।

प०वि०—निवासचितिशरीरोपसमाधानेषु ७।३।। आदेः ६।१।। च अ०।। कः १।१।। अनु०—धातोः, अकर्त्तरि, च, कारके, संज्ञायाम्, चेः, घञ्।

अर्थ—निवास, चिति (चेतना), **शरीर** और **उपसमाधान** (राशीकरण या ढेर लगाना) अर्थ में '**चिञ्**' धातु से कर्त्ताभिन्न कारक में संज्ञा का विषय बनने पर '**घञ्**' प्रत्यय होता है और आदि वर्ण के स्थान में ककार आदेश होता है।

निकायः	(निचीयन्ते मनुष्या अस्मिन्निति)
नि चि	'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः' से 'निवास' आदि

	अर्थों में 'चि' धातु से 'घञ्' प्रत्यय हुआ तथा आदि चकार को ककारादेश हुआ
नि कि घञ्	अनुबन्ध-लोप, 'अचो ञ्णिति' से ञित् प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि हुई
नि कै अ	'एचोऽयवायावः' से 'ऐ' को 'आय्' आदेश होने पर पूर्ववत् 'सु' आकर रुत्त्व एवं विसर्ग होकर
निकायः	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'कायः'** (शरीर) तथा **'गोमयनिकायः'** इत्यादि की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

८५५. एरच् ३।३।५६

इवर्णान्ताद् अच्। चयः। जयः।

प०वि०—एः ५।१।। अच् १।१।। **अनु०**—धातोः, भावे, अकर्त्तरि, च, कारके, संज्ञायाम्।

अर्थ—इवर्णान्त धातु से भाव में और कर्त्ता-भिन्न कारक में संज्ञा अर्थ में **'अच्'** प्रत्यय होता है।

चयः (चयनं चयः)—'चि' धातु से 'एरच्' से 'अच्' प्रत्यय, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण 'इ' को 'ए' आदेश, 'एचोऽयवा०' से 'ए' को अयादेश, स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'सु' को रुत्त्व एवं विसर्ग होकर 'चयः' बनता है।

इसी प्रकार 'जि' धातु से 'अच्' प्रत्यय करके **'जयः'** रूप सिद्ध होता है।

८५६. ॠदोरप् ३।३।५७

ॠदन्तादुवर्णान्ताद् अप्। करः। गरः। यवः। लवः। स्तवः। पवः। (वा०) घञर्थे कविधानम्। प्रस्थः। विघ्नः।

प०वि०—ॠदोः ५।१।। अप् १।१। **अनु०**—धातोः, भावे, अकर्त्तरि, च, कारके, संज्ञायाम्।

अर्थ—ॠकारान्त और उवर्णान्त धातु से भाव में और कर्त्ता-भिन्न कारक में संज्ञा के विषय में **'अप्'** प्रत्यय होता है।

करः (करणं करः)—'कॄ' विक्षेपे धातु से 'ॠदोरप्' से 'अप्' प्रत्यय होने पर 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ॠ' के स्थान में 'अर्' होने पर 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर 'करः' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'गॄ' धातु से **'गरः'**, 'यु' धातु से 'अप्' प्रत्यय होकर गुण तथा अवादेश होने पर **'यवः'**, 'लू' धातु से **'लवः'**, 'स्तु' धातु से **'स्तवः'** और 'पू' धातु से **'पवः'** आदि रूप सिद्ध होते हैं।

(वा०) घञर्थे कविधानम्—**अर्थ**—घञर्थ अर्थात् कर्त्ता-भिन्न संज्ञा अर्थ में और भाव में धातु से **'क'** प्रत्यय होता है।

प्रस्थः (प्रतिष्ठन्ति धान्यानि अस्मिन्)–'प्र' उपसर्गपूर्वक 'स्था' धातु से अधिकरण अर्थ में (वा०) 'घञर्थे कवि०' से 'क' प्रत्यय, 'आतो लोप इटि च' से अजादि कित् आर्धधातुक परे रहते आकार का लोप होकर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर 'प्रस्थः' रूप सिद्ध होता है।

	(विशेषण हन्यन्ते कार्याणि अनेन)
विघ्नः	'घञर्थे कविधानम्' से करण अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ
वि हन्	अनुबन्ध-लोप, 'गमहनजनखन०' से 'कित्' प्रत्यय 'क' परे
वि हन् क	रहते 'हन्' की उपधा अकार का लोप हुआ
	'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' से नकार परे रहते 'हन्' धातु के हकार को
वि ह्न् अ	कवर्गादेश हुआ, 'स्थानेऽन्तरतमः' से हकार को घकार होकर
	पूर्ववत् 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होने पर
विघ्नः	रूप सिद्ध होता है।

८५७. ड्वितः क्त्रिः ३।३।८८

प०वि०–ड्वितः ५।१। क्त्रिः १।१।। **अनु०**–धातोः, भावे, अकर्त्तरि, च, कारके।

अर्थ–जिस धातु का 'डु' इत्संज्ञक हो, उससे भाव में और कर्त्ता-भिन्न कारक में संज्ञा अर्थ में **'क्त्रि'** प्रत्यय होता है।

८५८. क्त्रेर्मम् नित्यम् ४।४।२०

क्त्रिप्रत्ययान्ताद् मम् निर्वृत्तेऽर्थे। पाकेन निर्वृत्तं–पक्त्रिमम्। डुवप–उप्त्रिमम्।

प०वि०–क्त्रेः ५।१।। मम् १।१।। नित्यम् १।१।। **अनु०**–तद्धिताः, निर्वृत्ते।

अर्थ–निर्वृत्त (सिद्ध) अर्थ में **'क्त्रि'**-प्रत्ययान्त से 'तद्धित' संज्ञक **'मप्'** प्रत्यय नित्य ही होता है।

पक्त्रिमम्	(पाकेन निर्वृत्तम्)
डुपचष्	'आदिर्ञिटुडवः' से 'डु' की, 'हलन्त्यम्' से षकार की और 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से अकार की इत्संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञक वर्णों का लोप हुआ
पच्	'पच्' धातु का 'डु' इत्संज्ञक होने से 'ड्वितः क्त्रिः' से करण कारक में 'क्त्रि' प्रत्यय हुआ
पच् क्त्रि	अनुबन्ध-लोप, 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से सर्वनामस्थान से भिन्न स्वादि प्रत्यय 'क्त्रि' परे रहते 'पच्' की 'पद' संज्ञा होने से पदान्त में 'चोः कुः' से 'च्' को 'क्' आदेश होकर 'पक्त्रि' बनता है। अब यहाँ 'करण' कारक में तृतीया-एक व० में 'टा' आने पर

पक् त्रि टा	'क्त्रेर्मम् नित्यम्' से 'क्त्रि' प्रत्ययान्त से 'निर्वृत्त' अर्थ में नित्य ही 'तद्धित' संज्ञक 'मप्' प्रत्यय हुआ
पक्त्रि टा मप्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से तद्धितान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से 'टा' का लुक् हुआ
पक्त्रि म	पूर्ववत् 'सु' आकर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
पक्त्रिमम्	रूप सिद्ध होता है।

उप्त्रिमम्—इसी प्रकार 'डुवप्' धातु से 'क्त्रि' प्रत्यय, 'वचिस्वपियजा०' से 'व' को सम्प्रसारण 'उ' तथा 'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप होकर 'उप्त्रि' बनने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'पक्त्रिमम्' के समान होकर 'उप्त्रिमम्' रूप सिद्ध होता है।

८५९. ट्वितोऽथुच् ३।३।८९

टुवेपृ कम्पने। वेपथुः।

प०वि०—ट्वितः ५।१।। अथुच् १।१।। **अनु०**—धातोः, भावे, अकर्त्तरि, च, कारके, संज्ञायाम्।

अर्थ—जिस धातु का 'टु' इत्संज्ञक हो, उससे भाव में और कर्त्ता-भिन्न कारक में संज्ञा के विषय में **'अथुच्'** प्रत्यय होता है।

वेपथुः	(वेपनं कम्पनम्)
टुवेपृ	'आदिर्ञिटुडवः' से 'टु' की इत्संज्ञा, 'उपदेशेऽज०' से ऋकार की, और 'हलन्त्यम्' से 'प्' की इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञक वर्णों का लोप होने पर 'ट्वितोऽथुच्' से 'वेप्' धातु से भाव में 'अथुच्' प्रत्यय हुआ
वेप् अथुच्	अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् 'सु' आकर रुत्व तथा विसर्ग होकर
वेपथुः	रूप सिद्ध होता है।

८६०. यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् ३।३।९०

यज्ञः। याच्ञा। यत्नः। विश्नः। प्रश्नः। रक्ष्णः।

प०वि०—यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षः ५।१।। नङ् १।१।। **अनु०**—धातोः, भावे, अकर्त्तरि, च, कारके, संज्ञायाम्।

अर्थ—भाव में और कर्त्ता-भिन्न कारक में संज्ञा का विषय बनने पर **यज्** (यज्ञ करना), **याच्** (मांगना), **यत्** (प्रयत्न करना), **विच्छ्** (चमकना), **प्रच्छ्** (पूछना) और **रक्ष्** (रक्षा करना) धातुओं से **'नङ्'** प्रत्यय होता है।

यज्ञः	(इज्यन्ते देवाः अस्मिन्निति)

यज्	'यजयाचयत०' से कर्ता-भिन्न कारक अधिकरण में संज्ञा अर्थ में 'नङ्' प्रत्यय हुआ
यज् नङ्	अनुबन्ध-लोप, 'स्तोः श्चुना श्चुः' से चवर्ग 'ज्' के योग में तवर्ग 'न्' को चवर्ग 'ञ्' आदेश हुआ
यज् ञ	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर रुत्व और विसर्ग होकर
यज्ञः	रूप सिद्ध होता है।
याच्ञा	(याचनं याच्ञा)
याच्	'यजयाचयतविच्छप्रच्छ०' से भाव में संज्ञा के विषय में 'नङ्' प्रत्यय हुआ
याच् नङ्	अनुबन्ध-लोप, 'स्तोः श्चुना श्चुः' से पूर्ववत् 'न्' को 'ञ्' आदेश हुआ
या च् ञ	स्त्रीत्व की विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' प्रत्यय हुआ
याच्ञ टाप्	अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश होने पर स्वाद्युत्पत्ति, प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया
याच्ञा सु	अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर
याच्ञा	रूप सिद्ध होता है।
विश्नः	(दिष्विग्गमनशीलः, विच्छानं वा)
विच्छ्:	'यजयाचयतविच्छ०' से पूर्ववत् संज्ञा अर्थ में या भाव में 'नङ्' प्रत्यय हुआ
विच्छ् नङ्	अनुबन्ध-लोप
विच्छ् न	'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' से अनुनासिक (नकार) परे रहते 'च्छ्' के स्थान में 'श्' आदेश होने पर 'शात्' से श्चुत्व का निषेध हुआ
विश्न	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आने पर 'सु' के सकार को रुत्व एवं रेफ को विसर्ग होकर
विश्नः	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'प्रच्छनं-**प्रश्नः**' और 'रक्षणं-**रक्ष्णः**' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

८९१. स्वपो नन् ३।३।९१

स्वप्नः।

प०वि०-स्वपः ५।१।। नन् १।१।। **अनु०**-धातोः, भावे, अकर्त्तरि, च, कारके, संज्ञायाम्।

अर्थ—भाव में और कर्त्ता-भिन्न कारक में संज्ञा के विषय में **'स्वप्'** धातु से 'नन्' प्रत्यय होता है।

स्वप्नः (स्वप्नं स्वप्नः)—'स्वप्' धातु से 'स्वपो नन्' से भाव में 'नन्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप, स्वाद्युत्पत्ति से आए हुए 'सु' के सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'स्वप्नः' रूप सिद्ध होता है।

८६२. उपसर्गे घोः किः ३।३।९२

प्रधिः। उपधिः।

प०वि०—उपसर्गे ७।१।। घोः ५।१।। किः १।१।। **अनु०**—धातोः, भावे, अकर्त्तरि च, कारके, संज्ञायाम्।

अर्थ—भाव में और कर्त्ता-भिन्न कारक में संज्ञा के विषय में उपसर्ग उपपद रहते 'घु' संज्ञक ('दा' और 'धा') धातुओं से **'कि'** प्रत्यय होता है।

प्रधिः

प्र धा	'दाधाघ्वदाप्' से आकारान्त 'धा' धातु की घुसंज्ञा होने से 'उपसर्गे घोः किः' से 'कि' प्रत्यय हुआ
प्र धा कि	अनुबन्ध-लोप, 'आतो लोप इटि च' से अजादि कित् आर्धधातुक परे रहते आकार का लोप हुआ
प्र ध् इ	पूर्ववत् 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर
प्रधिः	रूप सिद्ध होता है।

उपधिः—इसी प्रकार 'उप' पूर्वक 'धा' धातु से 'कि' प्रत्यय होकर 'उपधिः' रूप सिद्ध होता है।

८६३. स्त्रियां क्तिन् ३।३।९४

स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिन् स्यात्। घञोऽपवादः। कृतिः। स्तुतिः।

(वा०) ॠल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः। तेन नत्वम्। कीर्णिः। लूनिः। धूनिः। पूनिः। (वा०) सम्पदादिभ्यः क्विप्। संपत्। विपत्। आपत्। क्तिन्नपीष्यते। सम्पत्तिः। विपत्तिः। आपत्तिः।

प०वि०—स्त्रियाम् ७।१।। क्तिन् १।१।। **अनु०**—धातोः, भावे, अकर्त्तरि, च, कारके, संज्ञायाम्।

अर्थ—स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में और कर्त्ता-भिन्न कारक में संज्ञा के विषय में धातु से **'क्तिन्'** प्रत्यय होता है।

कृतिः, स्तुतिः—'कृ' तथा 'स्तु' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' से 'क्तिन्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप, स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' तथा रुत्व और विसर्ग होकर 'कृतिः' तथा 'स्तुतिः' रूप सिद्ध होते हैं।

(वा०) ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः। तेन नत्वम्।

अर्थ—ऋकारान्त और 'लूञ् छदने' आदि धातुओं से उत्तर '**क्तिन्**' को निष्ठा के समान मानना चाहिए।

इसका प्रयोजन यह है कि 'रदाभ्यां निष्ठातो०' तथा 'ल्वादिभ्यः' से होने वाला निष्ठा के तकार को नकारादेश 'क्तिन्' के तकार को भी हो जाये।

कीर्णिः	(बिखेरना)
कृ	'स्त्रियां क्तिन्' से भाव और कर्त्ता-भिन्न कारक में संज्ञा अर्थ में स्त्रीलिङ्ग में 'क्तिन्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप
कॄ ति	'ऋत इद्धातोः' से दीर्घ ऋकारान्त को इकारादेश, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'इर्' आदेश हुआ
किर् ति	'हलि च' से रेफान्त की उपधा को दीर्घ हुआ
कीर्ति	(वा०) 'ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्०' से 'क्तिन्' को निष्ठवद् भाव होने पर 'रदाभ्यां निष्ठातो नः०' से 'त्' को 'न्' आदेश हुआ
कीर्नि	'रषाभ्यां नो णः०' से रेफ से उत्तर नकार को णत्व हुआ
कीर्णि	पूर्ववत् 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर
कीर्णिः	रूप सिद्ध होता है।

लूनिः—इसी प्रकार 'लू+क्तिन्' आदि में भी 'क्तिन्' को निष्ठावद्भाव होने से 'ल्वादिभ्यः' से तकार को नकारादेश होकर 'लूनिः' आदि रूप सिद्ध होते हैं।

(वा०) संपदादिभ्यः क्विप्—**अर्थ**—'संपद्' आदि अर्थात् सम्पूर्वक 'पद्' आदि धातुओं से भाव में और कर्त्ताभिन्न कारक में संज्ञा के विषय में 'क्विप्' प्रत्यय होता है।

संपत्—सम्पूर्वक 'पद्' धातु से 'संपदादिभ्यः०' से 'क्विप्' प्रत्यय, 'क्विप्' का सर्वापहारी लोप, स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' का हल्ङ्यादि लोप, 'वाऽवसाने' से 'संपद्' को चर्त्व होकर '**सपंत्**' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार '**विपत्**' और '**आपत्**' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

क्तिन्नपीष्यते—'सम्' आदि उपसर्गपूर्वक 'पद्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय भी होता है और 'संपत्तिः', 'विपत्तिः', 'आपत्तिः' आदि रूप भी बनते हैं।

८६४. ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च ३।३।९७

एते निपात्यन्ते।

प०वि०—ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयः १।३।। च अ०।।

अर्थ—ऊति, यूति, जूति, साति, हेति और कीर्त्ति ये शब्द '**क्तिन्**' प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध होते हैं।

ऊतिः—'अव्' रक्षणे धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय का अनुबन्ध लोप होने पर

'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च' से झलादि प्रत्यय 'ति' परे रहते उपधा और वकार के स्थान में 'ऊठ्' आदेश होकर 'ऊ ति' बनने पर पूर्ववत् 'सु' आने पर 'सु' को रुत्व और विसर्ग होकर 'ऊतिः' रूप सिद्ध होता है। इसमें निपातन से 'ऊ' को उदात्त हुआ है।

'यूतिः', **'जूतिः'** आदि में दीर्घत्व निपातन से होता है। **'सातिः'** में 'षो' अन्तकर्मणि' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होने पर 'आदेच उपदेशेऽशिति' से 'ओ' को आकारादेश होने पर, 'द्यतिस्यतिमा०' से इकारादेश प्राप्त था, जिसका निपातन से निषेध हो गया।

हेतिः–'हन्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर 'अनुदात्तोपदेशवनति०' से अनुनासिक का लोप होकर 'हति' बनना चाहिए था, परन्तु निपातन से नकार के स्थान में इकारादेश तथा 'आद् गुणः' से गुण होकर 'हेतिः' रूप सिद्ध होता है।

कीर्त्तिः–णिजन्त 'कृ' धातु से 'ण्यासश्रन्थो युच्' से 'युच्' प्रत्यय प्राप्त था, जिसे बाधकर 'क्तिन्' प्रत्यय, 'ॠत इद्धातोः' से 'ॠ' को 'इर्' आदेश और 'हलि च' से दीर्घादि होकर 'कीर्त्ति' बनने पर 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर 'कीर्त्तिः' रूप सिद्ध होता है।

८६५. ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवामुपधायाश्च ६।४।२०

एषामुपधावकारयोरूठ् अनुनासिके, क्वौ, झलादौ क्ङिति च। अतः क्विप्। जूः। तूः। स्रूः। ऊः। मूः।

प०वि०–ज्वरत्वरस्रिव्यविमवाम् ६।३।। उपधायाः ६।१।। च अ०।।

अनु०–वः, ऊठ्, अनुनासिके, क्विझलोः, क्ङिति।

अर्थ–**क्विप्**, अनुनासिक और झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते, **ज्वर्** (रोगे), **त्वर्** (सम्भ्रमे), **स्रिव्** (गतिशोषणयोः), **अव्** (रक्षणे) और **मव्** (बन्धने) इन पाँच धातुओं के वकार तथा उपधा के स्थान में **'ऊठ्'** आदेश होता है।

जूः	(ज्वरणं जूः)
ज्वर्	'संपदादिभ्यः क्विप्' से संपदादि गण आकृति गण होने के कारण 'ज्वर्' धातु से भाव में 'क्विप्' प्रत्यय हुआ
ज्वर् क्विप्	'क्विप्' का सर्वापहारी लोप, 'ज्वरत्वरस्रिव्यवि०' से लुप्त 'क्विप्' को निमित्त मानकर 'ज्वर्' धातु के वकार और उपधा अकार के स्थान में 'ऊठ्' आदेश हुआ
ज् ऊठ् र्	अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया
जूर् सु	अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के सकार का लोप होने पर 'खरवसानयो०' से 'जूर्' के रेफ के स्थान में विसर्ग होकर
जूः	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'त्वर्' धातु से **'तूः'** और 'स्रिव्' धातु से **'स्रूः'** आदि की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

८६६. इच्छा ३।३।१०१

इषेर्निपातोऽयम्।

प०वि०—इच्छा १।१।। **अनु०**—स्त्रियाम्, भावे।

अर्थ—स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में '**इच्छा**' शब्द निपातन से सिद्ध होता है।

सिद्धि-प्रक्रिया—'इष्' धातु से निपातन से 'श' प्रत्यय होकर 'इषुगमियमां छः' से षकार के स्थान में छकार आदेश, 'छे च' से ह्रस्व को 'तुक्' आगम, 'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व, 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश होने पर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के सकार लोप होकर 'इच्छा' सिद्ध होता है।

८६७. अ प्रत्ययात् ३।३।१०२

प्रत्ययान्तेभ्यः धातुभ्यः स्त्रियामकारः प्रत्ययः स्यात्,। चिकीर्षा, पुत्रकाम्या।

प०वि०—अ १।१।। प्रत्ययात् ५।१।। **अनु०**—धातोः, स्त्रियाम्, भावे, अकर्त्तरि, च, कारके, संज्ञायाम्।

अर्थ—प्रत्ययान्त धातु से स्त्रीत्व की विवक्षा में भाव और कर्त्ताभिन्न कारक में संज्ञा अर्थ में 'अ' प्रत्यय होता है।

चिकीर्षा (कर्त्तुम् इच्छा)

'कृ' धातु से 'सन्' प्रत्यय होकर द्वित्व आदि कार्य होने पर सन्नन्त धातु 'चिकीर्ष' बनती है।

चिकीर्ष — 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा होने पर स्त्रीत्व विशिष्ट भाव की विवक्षा में 'स्त्रियां क्तिन्' से 'क्तिन्' प्राप्त था, जिसे बाधकर 'अ प्रत्ययात्' से प्रत्ययान्त धातु से 'अ' प्रत्यय हो गया

चिकीर्ष अ — 'अतो लोपः' से आर्धधातुक परे रहते अकार का लोप होने पर 'अजाद्यतष्टाप्' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय हुआ

चिकीर्ष् अ टाप् — अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ

चिकीर्षा — स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार लोप होकर

चिकीर्षा — रूप सिद्ध होता है।

पुत्रकाम्या (आत्मनः पुत्रस्य इच्छा)—'काम्यच्' प्रत्ययान्त 'पुत्रकाम्य'[1] धातु से पूर्ववत् 'अ प्रत्ययात्' से 'अ' प्रत्यय तथा शेष कार्य 'चिकीर्षा' के समान होकर 'पुत्रकाम्या' रूप सिद्ध होता है।

---

१. 'काम्यच्' प्रत्ययान्त 'पुत्रकाम्य' धातु की सिद्धि-प्रक्रिया सूत्र संख्या ७२५ (काम्यच्च) में देखें।

८६८. गुरोश्च हलः ३।३।१०३

गुरुमतो हलन्तात्स्त्रियाम् 'अ' प्रत्ययः स्यात्। ईहा।

प०वि०—गुरोः ५।१।। च अ०।। हलः ५।१।। **अनु०**—स्त्रियाम्, धातोः, भावे, अकर्त्तरि, च, कारके, संज्ञायाम्।

अर्थ—गुरुमान् और हलन्त धातु से कर्त्ता-भिन्न कारक में स्त्रीत्वविशिष्ट भाव और संज्ञा अर्थ में **'अ'** प्रत्यय होता है।

ईहा	(ईहनं चेष्टा)
ईह्	'गुरोश्च हलः' से गुरुमान् (यहाँ ईकार गुरु है) धातु 'ईह्' से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में 'अ' प्रत्यय हुआ
ईह् अ	'चिकीर्षा' के समान टाबादि एवं स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर
ईहा	रूप सिद्ध होता है।

८६९. ण्यासश्रन्थो युच् ३।३।१०७

अकारस्यापवादः। कारणा, हारणा।

प०वि०—ण्यासश्रन्थः ५।१।। युच् १।१।। **अनु०**—भावे, अकर्त्तरि, च, कारके, संज्ञायाम्, स्त्रियाम्।

अर्थ—स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में अथवा कर्त्ता-भिन्न कारक में संज्ञा अर्थ में णिजन्त धातुओं से तथा **आस्** और **श्रन्थ्** धातुओं से **'युच्'** प्रत्यय होता है।

कारणा	(कारयतीति)
कृ	'हेतुमति च' से हेतुमान् का अभिधान करने के लिए 'णिच्' प्रत्यय हुआ
कृ णिच्	अनुबन्ध-लोप, 'अचो ञ्णिति' से 'णित्' परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' के स्थान पर 'आर्' वृद्धि हुई
कार् इ	'सनाद्यन्ता धातवः' से णिजन्त 'कारि' की धातु संज्ञा होने पर 'ण्यासश्रन्थो युच्' से णिजन्त धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव की विवक्षा में 'युच्' प्रत्यय हुआ
कारि युच्	अनुबन्ध-लोप, 'युवोरनाकौ' से 'यु' के स्थान में 'अन' आदेश हुआ
कारि अन	'णेरनिटि' से अनिडादि आर्धधातुक परे रहते 'णि' का लोप होकर 'अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णत्व, 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्', स्वाद्युत्पत्ति 'सु' आने पर हल्ङ्यादि लोपादि सभी कार्य 'चिकीर्षा' (८६७) के समान होकर

कारणा

रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार णिजन्त 'हृ' धातु से 'हारणा' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

८७०. नपुंसके भावे क्तः ३।३।११४

प०वि०—नपुंसके ७।१।। भावे ७।१।। क्तः १।१। अनु०—धातोः।

अर्थ—नपुंसकत्वविशिष्ट भाव अर्थ में धातु से 'क्त' प्रत्यय होता है।

८७१. ल्युट् च ३।३।११५

हसितम्। हसनम्।

प० वि०—ल्युट् १।१।। च अ०।। **अनु०**—नपुंसके, भावे, धातोः।

अर्थ—नपुसंकलिङ्ग विशिष्ट भाव अर्थ में धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय भी होता है।

हसितम्—'हस्' धातु से 'नपुंसके भावे क्तः' से भाव अर्थ में नपुंसकलिङ्ग में 'क्त' प्रत्यय, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम, स्वाद्युत्पत्ति से 'सु', 'अतोऽम्' से 'सु' को अमादेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'हसितम्' रूप सिद्ध होता है।

हसनम्—'हस्' धातु से 'ल्युट् च' से भाव अर्थ में नपुंसकलिङ्ग में 'ल्युट्' होकर 'युवोरनाकौ' से 'यु' को 'अन' आदेश, 'सु' आकर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप होकर 'हसनम्' रूप सिद्ध होता है।

८७२. पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ३।३।११८

प०वि०—पुंसि ७।१।। संज्ञायाम् ७।१।। घः १।१।। प्रायेण ३।१।।

अनु०—धातोः, करणाधिकरणयोः।

अर्थ—करण और अधिकरण कारक में धातु से पुंल्लिंग में संज्ञा अर्थ में **'घ'** प्रत्यय होता है।

८७३. छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ६।४।९६

द्विप्रभृत्युपसर्गहीनस्य छादेर्ह्रस्वो घे परे। दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति-दन्तच्छदः। आकुर्वन्त्यस्मिन्निति-आकरः।

प०वि०—छादेः ६।१।। घे ७।१।। अद्व्युपसर्गस्य ६।१।। **अनु०**—उपधायाः, ह्रस्वः, अङ्गस्य।

अर्थः—दो उपसर्गों से हीन जो णिजन्त 'छद्' (छाद्) धातु अङ्ग, उसकी उपधा को ह्रस्व होता है **'घ'** प्रत्यय परे रहते।

दन्तच्छदः—(दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छः) 'छद्' धातु से चुरादि 'णिच्' करने पर 'छादि' बनता है। जिसकी 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'धातु' संज्ञा होती है। अब 'दन्त' कर्म उपपद में रहते 'छदि' धातु से 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' से 'घ' प्रत्यय होता है तब 'दन्त+आम्+छादि+घ' यहाँ 'णेरनिटि' से 'णि' का लोप, 'उपपदमतिङ्' से समास, 'सुपो धातुप्राति०' से अन्तरवर्तिनी विभक्ति 'आम्' का लुक् होने पर 'छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य' से 'घ' परे रहते दो उपसर्ग-रहित

'छाद्' धातु की उपधा को ह्रस्व हुआ, 'छे च' से 'तुक्' आगम, 'स्तोः श्चुना श्चुः' से 'त्' को 'च्' आदेश होने पर 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होकर 'दन्तच्छदः' रूप सिद्ध होता है।

आकरः (आकुर्वन्ति अत्र इति)

आ कृ 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' से अधिकरण में संज्ञा अर्थ में 'घ' प्रत्यय आया

आ कृ घ अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' को 'अर्' हुआ

आ कर् अ 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होने पर

आकरः रूप सिद्ध होता है।

८७४. अवे तॄस्त्रोर्घञ् ३।३।१२०

अवतारः कूपादेः। अवस्तारो जवनिका।

प०वि०—अवे ७।१।। तॄस्त्रोः ६।२।। घञ् १।१।। **अनु०**—धातोः, करणाधिकरणयोः, पुंसि, संज्ञायाम्।

अर्थ—'अव' उपसर्ग उपपद में रहते **'तॄ'** (प्लवनसंतरणयोः) और **'स्तॄ'** (आच्छादने) धातुओं से करण और अधिकरण कारक में पुंल्लिङ्ग विशिष्ट संज्ञा अर्थ में **'घञ्'** प्रत्यय होता है।

अवतारः (अवतरन्ति जनाः यस्मिन्निति)

अव तॄ 'अवे तॄस्त्रोर्घञ्' से 'अव' उपसर्ग उपपद में रहते 'तॄ' धातु से अधिकरण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय हुआ

अव तॄ घञ् अनुबन्ध-लोप, 'अचो ञ्णिति' से अजन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ॠ' को 'आर्' वृद्धि हुई

अवतार् अ पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति से 'सु', 'सु' के सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर

अवतारः रूप सिद्ध होता है

इसी प्रकार **'अवस्तारः'** (अवस्तीर्यन्ते जनाः अनेनेति) में करण अर्थ में 'अव' पूर्वक 'स्तॄ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय आदि कार्य 'अवतारः' के समान होकर 'अवस्तारः' रूप सिद्ध होता है।

८७५. हलश्च ३।३।१२१

हलन्ताद् घञ्। घाऽपवादः। रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति–रामः। अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिरिति–अपामार्गः।

प०वि०—हलः ५।१।। च अ०।। **अनु०**—धातोः, करणाधिकरणयोः, पुंसि, संज्ञायाम्, घञ्।

अर्थ–करण और अधिकरण कारक में हलन्त (व्यञ्जनान्त) धातु से पुंल्लिङ्गविशिष्ट संज्ञा अर्थ में **'घञ्'** प्रत्यय होता है। यह 'घ' का अपवाद है।

	(रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति)
रामः	'हलश्च' से हलन्त धातु से अधिकरण अर्थ में पुल्लिंग विशिष्ट
रम्	संज्ञा अभिधेय होने पर 'घञ्' प्रत्यय हुआ
	अनुबन्ध-लोप, 'अत उपधायाः' से उपधा 'अ' को वृद्धि
रम् घञ्	स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'सु' के सकार को रुत्व और रेफ को
राम् अ	विसर्गादि होकर
	रूप सिद्ध होता है।
रामः	
	(अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिरिति)
अपामार्गः	'हलश्च' से हलन्त धातु से करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय आया
अप मृज्	अनुबन्ध-लोप, 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' से घित् प्रत्यय परे रहते
अप मृज् घञ्	'ज्' को 'ग्' आदेश और 'मृजेर्वृद्धिः' से 'मृज्' अङ्ग के इक्
	'ऋ' के स्थान में 'आर्' वृद्धि हुई
	'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' से घञन्त उत्तरपद 'मार्ग' परे
अपमार्ग	रहते अमनुष्य अभिधेय होने पर पकार के उत्तरवर्ती अकार को
	बहुल करके दीर्घ हुआ
अपामार्ग	पूर्ववत् 'सु' आकर, रुत्व और विसर्ग होकर
अपामार्गः	रूप सिद्ध होता है।

८७६. ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ३।३।१२६

करणाधिकरणयोरिति निवृत्तम्। एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु खल्। तयोरेवेति भावे कर्मणि च। कृच्छ्रे–दुष्करः कटो भवता। अकृच्छ्रे–ईषत्करः। सुकरः।

अनु०–धातोः।

प०वि०–ईषद्दुः सुषु ७।३।। कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु ७।३।। खल् १।१।।

अर्थ–ईषत्, **दुस्** और **सु** उपपद में रहते धातु से 'कृच्छ्र' और 'अकृच्छ्र' अर्थ में भाव और कर्म में **'खल्'** प्रत्यय होता है।

दुष्करः	(दुःखेन क्रियते इति)
दुस् कृ	'ईषद्दुःसुषु०' से कृच्छ्र अर्थात् दुःखसाध्य अर्थ में धातु से
	'खल्' प्रत्यय हुआ
दुस् कृ खल्	अनुबन्ध-लोप, 'सार्वधातुकार्ध०' से 'ऋ' को गुण, 'उरण् रपरः'
	से रपर होकर 'ऋ' के स्थान में 'अर्' हुआ
दुस् कर् अ	'ससजुषो रुः' से 'दुस्' के 'स्' को 'रु' आदेश हुआ
दुरु कर् अ	अनुबन्ध-लोप, 'खरवसानयो०' से 'खर्' (क्) परे रहते रेफ
	को विसर्ग हुआ

दु: कर	'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' से प्रत्यय-भिन्न इकार उकार उपधा वाले विसर्ग को षकारादेश हुआ, कवर्ग परे रहते
दुष्कर	पूर्ववत् प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व तथा विसर्ग होकर
दुष्कर:	रूप सिद्ध होता है।

ईषत्कर:, सुकर: की सिद्धि-प्रक्रिया भी इसी प्रकार जानें।

८७७. आतो युच् ३।३।१२८

खलोऽपवाद:। ईषत्पान: सोमो भवता। दुष्पान:। सुपान:।

प०वि०—आत: ५।१।। युच् १।१।। **अनु०**—धातो:, ईषद्दु:सुषु, कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु

अर्थ—ईषत्, दुस्, और **सु** उपपद रहते आकारान्त धातु से 'कृच्छ्र' (दु:ख) और अकृच्छ्र (सुख) अर्थ में '**युच्**' प्रत्यय होता है।

यह सूत्र 'खल्' प्रत्यय का अपवाद है।

ईषत्पान:	(ईषत् पीयते भवता सोम:)
ईषद् पा	'आतो युच्' से ईषत् पूर्वक आकारान्त 'पा' धातु से अकृच्छ्र अर्थ में 'युच्' प्रत्यय हुआ
ईषद् पा युच्	अनुबन्ध-लोप, 'युवोरनाकौ' से 'यु' को 'अन' आदेश हुआ
ईषद् पा अन	'अक: सवर्णे दीर्घ:' से दीर्घ तथा 'खरि च' से 'खर्' (प्) के रहते 'द्' को 'त्' आदेश हुआ
ईषत् पान	स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर, रुत्व एवं विसर्ग होकर
ईषत्पान:	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'सुपान:'** और **'दुष्पान:'** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

८७८. अलंखल्वो: प्रतिषेधयो: प्राचां क्त्वा ३।४।१८

प्रतिषेधार्थयोरलंखल्वोरुपपदयो: क्त्वा स्यात्। प्राचां ग्रहणं पूजार्थम्, अमैवाव्ययेनेति नियमान्नोपपदसमास:। दो दद् घो: (८२७)—अलं दत्वा। 'घुमास्था० (५८८)' इतीत्त्वम्—पीत्वा खलु। अलंखल्वो: किम्? मा कार्षीत्। प्रतिषेधयो: किम्? अलंकार:।

प०वि०—अलंखल्वो: ७।२।। प्रतिषेधयो: ७।२।। प्राचाम् ६।३।। क्त्वा १।१।। **अनु०**—धातो:।

अर्थ—प्रतिषेधार्थक **'अलम्'** और **'खलु'** शब्द उपपद में रहते धातु से **'क्त्वा'** प्रत्यय होता है प्राचीन आचार्यों के मत में अर्थात् विकल्प से।

सूत्र में 'प्राचाम्' पद का ग्रहण प्राचीन आचार्यों के सम्मान के लिए है।

अलं दत्त्वा	
अलम् दा	‘अलंखल्वोः प्रतिषेध०’ से प्रतिषेधार्थक ‘अलम्’ उपपद में रहते ‘दा’ से ‘क्त्वा’ हुआ
अलम् दा क्त्वा	अनुबन्ध-लोप, ‘दो दद् घोः’ से तकारादि कित् परे रहते ‘घु’ संज्ञक ‘दा’ को ‘दद्’ आदेश हुआ
अलम् दद् त्वा	‘खरि च’ से चर्त्व होकर ‘द्’ को ‘त्’ आदेश हुआ
अलम् दत्त्वा	‘अमैवाऽव्ययेन’ नियम से अव्यय का यदि उपपद समास हो तो केवल ‘अमन्त’ का ही हो अन्य का नहीं। अतः ‘उपपदमतिङ्’ से दत्त्वा का समास नहीं हुआ, क्योंकि ‘क्त्वातोसुनकसुनः’ से क्त्वान्त ‘दत्त्वा’ की अव्यय संज्ञा है। स्वाद्युत्पत्ति से प्र० वि०, एक व० में ‘सु’ आकर ‘अव्ययादाप्सुपः’ से अव्यय से उत्तर ‘सु’ का लुक् होने पर ‘मोऽनुस्वारः’ से पदान्त ‘म्’ को अनुस्वार आदेश होकर
अलं दत्त्वा	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **‘पीत्वा खलु’** यहाँ ‘पा’ धातु से ‘क्त्वा’ प्रत्यय होकर ‘घुमास्थागा०’ से ईत्व होकर ‘पीत्वा’ की सिद्धि-प्रक्रिया ‘दत्त्वा’ के समान जानें।

अलंखल्वोः किम्? सूत्र में ‘अलंखल्वोः’ ग्रहण का प्रयोजन यह है कि अन्य प्रतिषेधार्थक अव्यय ‘मा’ आदि के योग में ‘क्त्वा’ न हो।

प्रतिषेधयोः किम? सूत्र में ‘प्रतिषेधयोः’ पद का प्रयोजन यह है कि ‘अलम्’ जब प्रतिषेध से भिन्न ‘आभूषण’ आदि अर्थों में होगा तो ‘क्त्वा’ नहीं होगा। जैसे–अलङ्करणम्-‘अलंकारः’ आदि में भाव में ‘घञ्’ होता है, ‘क्त्वा’ नहीं। यहाँ ‘अलम्’ शब्द ‘आभूषण’ अर्थ में है ‘प्रतिषेध’ अर्थ में नहीं।

८७९. समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ३।४।२१

समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा स्यात्। भुक्त्वा व्रजति। द्वित्वमतन्त्रम्। भुक्त्वा पीत्वा व्रजति।

प०वि०–समानकर्तृकयोः ७।२।। पूर्वकाले ७।१।। **अनु०**–धातोः, क्त्वा।

अर्थ–समान है कर्ता जिनका ऐसी दो धातुओं में से पूर्वकाल में होने वाली क्रियार्थक धातु से **‘क्त्वा’** प्रत्यय होता है।

यथा–**‘भुक्त्वा व्रजति’** यहाँ ‘खाना’ क्रिया तथा ‘जाना’ क्रिया दोनों का कर्त्ता एक ही है इसलिए पहले घटित होने वाली ‘खाना’ क्रियार्थक ‘भुज्’ धातु से ‘क्त्वा’ प्रत्यय होता है।

भुक्त्वा	(खाकर)
भुज्	‘समानकर्तृकयोः०’ से पूर्वकालिक क्रियार्थक धातु से ‘क्त्वा’ प्रत्यय हुआ

भुज् क्त्वा	अनुबन्ध-लोप, 'चोः कुः' से 'झल्' परे रहते कुत्व होकर 'ज्' को 'ग्' आदेश हुआ
भुग् त्वा	'खरि च' से 'खर्' परे रहते चर्त्व होकर 'ग्' को 'क्' आदेश हुआ
भुक्त्वा	स्वाद्युत्पत्ति एवं 'सु' का लुक् आदि कार्य 'दत्त्वा' (८७८) के समान होकर
भुक्त्वा	रूप सिद्ध होता है।

पीत्वा की सिद्धि-प्रक्रिया पूर्वसूत्र में देखें।

द्वित्वमतन्त्रम्–इसका आशय यह है कि 'समानकर्तृकयोः' पद में द्वित्व का उल्लेख मुख्य नहीं है अर्थात् दो से अधिक क्रियाओं में पूर्वकालिक क्रिया-वाचक धातु से भी 'क्त्वा' प्रत्यय हो जाता है। इसीलिए- '**भुक्त्वा पीत्वा व्रजति**' यहाँ तीन क्रिया होने पर भी 'क्त्वा' प्रत्यय हो रहा है।

८८०. न क्त्वा सेट् १।२।१८

सेट् क्त्वा किन्न स्यात्। शयित्वा। सेट् किम्? कृत्वा।

प०वि०–न अ०।। क्त्वा १।१।। सेट् १।१।। **अनु०**–कित्।

अर्थ–जिस 'क्त्वा' प्रत्यय को 'इट्' आगम हुआ हो वह '**कित्**' नहीं होता।

शयित्वा	(सो कर)
शी	'समानकर्तृकयोः०' से पूर्वकालिक क्रियार्थक धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय हुआ
शी क्त्वा	अनुबन्ध-लोप, 'आर्धधातुकं शेषः' से 'क्त्वा' की आर्धधातुक संज्ञा होने पर 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से वलादि आर्धधातुक को 'इट्' आगम हुआ
शी इट् त्वा	अनुबन्ध लोप, 'क्त्वा' कित् है इसलिए 'क्ङिति च' से गुण का निषेध प्राप्त था परन्तु 'न क्त्वा सेट्' से सेट् 'क्त्वा' के कित्व का निषेध हो जाने से गुण का निषेध भी नहीं होता, अतः 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण हुआ
शे इ त्वा	'एचोऽयवायावः' से 'ए' को 'अय्' आदेश हुआ
शयित्वा	स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर 'अव्ययादाप्सुपः' से उसका लोप आदि कार्य 'दत्त्वा' (८७८) के समान होकर
शयित्वा	रूप सिद्ध होता है।

सेट् किम्?–सूत्र में 'सेट्' पद का प्रयोजन यह है कि जहाँ 'क्त्वा' को इडागम नहीं होता वहाँ तो 'क्त्वा' को 'कित्' ही माना जाता है। इसलिए 'कृत्वा' आदि में 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होता ही है।

रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च १।२।२६

८८१. रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च इवर्णोवर्णोपधाद्धलादे रलन्तात्परौ क्त्वासनौ सेटौ वा कितौ स्तः। द्युतित्वा, द्योतित्वा। लिखित्वा, लेखित्वा। व्युपधात्किम्? वर्तित्वा। रलः किम्? सेवित्वा। हलादेः किम्? एषित्वा। सेट् किम्? भुक्त्वा।

प०वि०—रलः ५।१।। व्युपधात् ५।१।। हलादेः ५।१।। सन् १।१।। च अ०।।

अनु०—सेट्, क्त्वा, वा, कित्।

अर्थ—इकार तथा उकार उपधा वाली रलन्त (रल् प्रत्यहार जिसके अन्त में हो ऐसी) जो हलादि धातु, उससे उत्तर सेट् 'क्त्वा' और सेट् 'सन्' विकल्प से 'कित्' होते हैं।

द्युतित्वा	
द्युत् इट् क्त्वा	'द्युत्' धातु से पूर्ववत् 'समानकर्तृकयोः०' से 'क्त्वा' प्रत्यय तथा 'आर्धधातुकस्येड्०' से इडागम होने पर अनुबन्ध-लोप हुआ
द्युत् इ त्वा	यहाँ 'द्युत्' धातु रलन्त (तकारान्त) उकारोपध तथा हलादि है इसलिए 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च' से 'द्युत्' धातु से उत्तर 'सेट् क्त्वा' विकल्प से 'कित्' होता है। कित् पक्ष में 'क्ङिति च' से लघूपध गुण का निषेध होने पर पूर्ववत् सुबुत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'क्त्वातोसुन्कसुनः' से क्त्वान्त की 'अव्यय' संज्ञा होने पर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होकर
द्युतित्वा	रूप सिद्ध होता है।

द्योतित्वा—कित्त्व के निषेध पक्ष में 'पुगन्तलघूप०' से गुण होने पर **'द्योतित्वा'** रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **लिखित्वा** तथा **लेखित्वा** में भी 'लिख्' धातु रलन्त (खकारान्त), इकार उपधा वाली तथा हलादि भी है, अतः 'रलो व्युपधाद्धलादेः०' से सेट् 'क्त्वा' विकल्प से कित् होता है। कित् पक्ष में गुण का अभाव तथा कित् का अभाव होने पर लघूपध गुण आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

व्युपधात किम्? सूत्र में 'व्युपधात्' पद का प्रयोजन यह है कि जहाँ धातु हलादि और रलन्त तो है पर इकार उपधा वाली या उकार उपधा वाली नहीं हैं वहाँ सेट् 'क्त्वा' विकल्प से 'कित्' न हो, अपितु 'न क्त्वा सेट्' से नित्य ही 'अकित्' हो। जैसे—**'वर्तित्वा'** में 'वृत्+इ+त्वा' यहाँ 'वृत्' धातु की उपधा में इकार और उकार न होने से सेट् 'क्त्वा' विकल्प से कित् नहीं होता, अपितु 'न क्त्वा सेट्' से नित्य 'अकित्' होता है। इसीलिए 'पुगन्तलघूप०' से गुण होकर स्वाद्युत्पत्ति तथा 'सु' का लोप आदि पूर्ववत् होकर **'वर्तित्वा'** रूप सिद्ध होता है।

रल: किम्? सूत्र में 'रल:' पद का प्रयोजन यह है कि यदि धातु हलादि और इकार-उकार उपधा वाली होने पर भी रलन्त न हो तो इस सूत्र से सेट् 'सन्' और सेट् 'क्त्वा' विकल्प से 'कित्' न हों। जैसे—'सिव्+इ+त्वा' यहाँ वकार 'रल्' नहीं है इसलिए सेट् 'क्त्वा' विकल्प से कित् नहीं होता, अपितु 'न क्त्वा सेट्' से नित्य अकित् होता है, इसीलिए लघूपध गुण होकर **'सेवित्वा'** रूप सिद्ध होता है।

हलादे: किम्? यदि धातु रलन्त और इकार या उकार उपधा वाली होने पर भी हलादि नहीं हैं तो इस सूत्र से सेट् 'क्त्वा' विकल्प से 'कित्' नहीं होता। जैसे—'इष्+इ+क्त्वा' यहाँ 'इष्' धातु अजादि है इसलिए सेट् 'क्त्वा' विकल्प से कित् नहीं होता, अपितु यथाप्राप्त 'न क्त्वा॰' से नित्य अकित् होता है।

सेट् इति किम्? सेट् 'क्त्वा' को ही विकल्प से कित् विधान किया है। ऐसा 'क्त्वा' प्रत्यय जिसको इडागम नहीं हुआ हो वह रलन्त, व्युपध और हलादि धातु से उत्तर विकल्प से कित् नहीं होता, अपितु अपने गुणानुरूप नित्य ही कित् रहता है। जैसे—'**भुज्+क्त्वा**' यहाँ 'भुज्' धातु रलन्त, उकार उपधा वाली और हलादि होने पर भी 'क्त्वा' प्रत्यय विकल्प से 'कित्' नहीं होता क्योंकि यहाँ 'क्त्वा' को इडागम नहीं हुआ। 'क्त्वा' के नित्य ही कित् रहने से लघूपध गुण नहीं होता तथा **'भुक्त्वा'** रूप सिद्ध होता है।

८८२. उदितो वा ७।२।५६

उदित: परस्य क्त्व इड् वा। शमित्वा, शान्त्वा। देवित्वा, द्यूत्वा। दधातेर्हि: (८२६)। **हित्वा।**

प०वि०—उदित: ५।१।। वा अ०।। **अनु०**—क्त्व:, इट्।

अर्थ—उदित् अर्थात् ह्रस्व उकार 'इत्' हो जिसका, ऐसी धातु से उत्तर **'क्त्वा'** को विकल्प से **इडागम** होता है।

शमित्वा

शमु	'उपदेशेऽजनुना॰' से उकार की इत्संज्ञा, 'तस्य लोप:' से 'इत्' संज्ञक का लोप और 'समानकर्तृकयो:॰' से 'क्त्वा' प्रत्यय हुआ
शम् क्त्वा	'उदितो वा' से 'उदित्' धातु से उत्तर 'क्त्वा' को विकल्प से इडागम हुआ
शम् इट् क्त्वा	अनुबन्ध-लोप
शमित्वा	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'क्त्वातोसुन्कसुन:' से क्त्वान्त की 'अव्यय' संज्ञा तथा 'अव्ययादाप्सुप:' से 'सु' का लुक् होकर
शमित्वा	रूप सिद्ध होता है।

शान्त्वा—यहाँ 'शमु' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय करने पर 'उदितो वा' से जब इडागम नहीं हुआ तो 'अनुनासिकस्य क्विझलो:॰' से झलादि कित् परे रहते अनुनासिकान्त अङ्ग

की उपधा को दीर्घ, 'नश्चापदान्त०' से मकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार को परसवर्ण नकार होकर 'शान्त्वा' बनने पर स्वाद्युत्पत्ति तथा लोपादि कार्य 'शमित्वा' के समान जानें।

देवित्वा–'दिवु' के उकार की 'इत्' संज्ञा और लोप होने पर 'दिव्' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय करने पर 'उदितो वा' से विकल्प से इडागम हुआ। 'न क्त्वा सेट्' से सेट् 'क्त्वा' के कित्त्व का निषेध और 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण होकर सुबुत्पत्ति और सुब्लुक् आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'देवित्वा' रूप सिद्ध होता है।

द्यूत्वा–इडाभाव पक्ष में–कित् होने के कारण 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' से वकार के स्थान पर 'ऊठ्' तथा 'इको यणचि' से यणादेश होने पर 'द्यूत्वा' बनता है।

'हित्वा' की सिद्धि–प्रक्रिया अग्रिम सूत्र में देखें।

८८३. जहातेश्च क्त्वि ७।४।४३

हित्वा। हाङस्तु–हात्वा।

प०वि०–जहातेः ६।१।। च अ०।। क्त्वि ७।१।। अनु०– हि।

अर्थ–'**क्त्वा**' प्रत्यय परे रहते '**हा**'(ओहाक् त्यागे) धातु के स्थान पर '**हि**' आदेश होता है।

हित्वा–'हा' धातु से 'समानकर्तृकयोः०' से 'क्त्वा' प्रत्यय होने पर 'जहातेश्च क्त्वि' से 'हा' को 'हि' आदेश होकर 'हित्वा' रूप सिद्ध होता है। स्वाद्युत्पत्ति एवं लोपादि कार्य पूर्ववत् जानें।

सूत्र में 'जहाति' से 'ओहाक् त्यागे' धातु का ही ग्रहण होता है 'ओहाङ् गतौ' का नहीं, 'ओहाङ्' धातु के 'हा' से 'क्त्वा' परे रहते 'हि' आदेश नहीं होता अतः 'हात्वा' रूप सिद्ध होता है।

८८४. समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ७।१।३७

अव्ययपूर्वपदेऽनञ्समासे क्त्वो ल्यबादेशः स्यात्। तुक्–प्रकृत्य। अनञ् किम्? अकृत्वा।

प०वि०–समासे ७।१।। अनञ्पूर्वे ७।१।। क्त्वः ६।१।। ल्यप् १।१।।

अर्थ–नञ्–भिन्न[1] नञ् के सदृश अव्यय पूर्वपद में है जिसके ऐसे समास में '**क्त्वा**' के स्थान पर '**ल्यप्**' आदेश होता है।

प्रकृत्य– 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'समानकर्तृकयोः०' से 'क्त्वा' प्रत्यय करने पर 'कुगतिप्रादयः' से समास होता है। 'प्र कृ त्वा' इस स्थिति में 'प्र' पूर्वपद में है, जो 'नञ्' से भिन्न और 'नञ्' के सदृश अव्यय भी है, उससे उत्तर 'क्त्वा' के स्थान पर

१. सूत्र में 'अनञ्' पद में 'पर्युदास' प्रतिषेध मान लेने से 'नञ्' से भिन्न तथा नञ् के समान पूर्वपद अव्यय का ही ग्रहण किया जाता है।

'समासेऽनञ्पूर्वे०' से 'ल्यप्' आदेश होने पर 'प्रकृ+य' इस स्थिति में 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से 'तुक्' आगम होकर 'प्रकृत्य' बनने पर 'सु' आकर पूर्ववत् 'क्त्वा तोसुन्कसुनः' से 'क्त्वा' प्रत्ययान्त की (स्थानीवद्भाव से 'ल्यप्' प्रत्ययान्त की) 'अव्यय' संज्ञा और 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् आदि कार्य होकर 'प्रकृत्य' रूप सिद्ध होता है।

अनञ् किम्—'अकृत्वा' इत्यादि में 'नञ्' समास होने से 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' नहीं होता।

८८५. आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ३।४।२२

आभीक्ष्ण्ये द्योत्ये पूर्वविषये णमुल् स्यात् क्त्वा च।

प०वि०—आभीक्ष्ण्ये ७।१।। णमुल् १।१।। च अ०।। **अनु०**—धातोः, समानकर्तृकयोः, पूर्वकाले।।

अर्थ—आभीक्ष्ण्य अर्थात् क्रिया की बार-बार आवृत्ति को कहने के लिए समानकर्तृक पूर्वकालिक क्रियार्थक धातु से 'णमुल्' और 'क्त्वा' प्रत्यय पर्याय से होते हैं।

८८६. नित्य-वीप्सयोः ८।१।४

आभीक्ष्ण्ये वीप्सायां च द्योत्ये पदस्य द्वित्वं स्यात्। आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञकेषु कृदन्तेषु। स्मारं स्मारं नमति शिवम्। स्मृत्वा स्मृत्वा। पायं पायम्। भोजं भोजम्। श्रावं श्रावम्।।

प०वि०—नित्यवीप्सयोः ७।२।। **अनु०**—पदस्य, सर्वस्य द्वे।

अर्थ—नित्यता अर्थात् पौनःपुन्य और वीप्सा अर्थ द्योत्य होने पर सम्पूर्ण पद को द्वित्व होता है।

आभीक्ष्ण्य अर्थात् क्रिया की आवृत्ति या निरन्तरता केवल तिङन्त, अव्यय और कृदन्तों में ही जाननी चाहिए।

स्मारं स्मारं नमति शिवम्—(याद कर कर के शिव को प्रणाम करता है।) इस वाक्य में स्मरण क्रिया की आवृत्ति हो रही है जिसे 'णमुल्' प्रत्ययान्त 'स्मारं-स्मारम्' में देखा जा सकता है।

स्मारं स्मारम्

स्मृ	'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' से क्रिया की आवृत्ति अर्थ को द्योतित करने के लिए पूर्वकालिक क्रियार्थक धातु से 'णमुल्' प्रत्यय हुआ
स्मृ णमुल्	अनुबन्ध-लोप, 'अचो ञ्णिति' से णित् परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' के स्थान में 'आर्' वृद्धि हुई
स्मार् अम्	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया

स्मारम् सु	'कृन्मेजन्तः' से मकारान्त 'कृत्' प्रत्ययान्त की 'अव्यय' संज्ञा होने से 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् हुआ
स्मारम्	'नित्यवीप्सयोः' से आभीक्ष्ण्य अर्थ में सम्पूर्ण पद को द्वित्व हुआ
स्मारम् स्मारम्	'मोऽनुस्वारः' से 'हल्' परे रहते पदान्त 'म्' को अनुस्वार आदेश होकर
समारं स्मारम्	रूप सिद्ध होता है।

स्मृत्वा स्मृत्वा—'स्मृ' धातु से 'आभीण्क्ष्य' अर्थ में 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' से 'क्त्वा' प्रत्यय होकर 'स्मृत्वा' बनने पर 'नित्यवीप्सयोः' से 'स्मृत्वा' को द्वित्व होकर 'स्मृत्वा-२' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'पायं पायम्'** में 'पा' धातु से 'णमुल्' करने पर 'आतो युक् चिण्कृतोः' से 'युक्' आगम होकर 'पायम्' रूप सिद्ध होने पर द्वित्वादि कार्य पूर्ववत् जानें।

'भुज्' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय करने पर 'भोजम्' तथा 'श्रु' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय करने पर 'श्रावम्' बनते हैं तदानन्तर 'नित्यवीप्सयोः' से द्वित्व करने पर **'भोजं भोजम्'** तथा **'श्रावं श्रावम्'** रूप सिद्ध होते हैं।

८८७. अन्यथैवं-कथमित्थंसुसिद्धाऽप्रयोगश्चेत् ३।४।२७

एषु कृञो णमुल् स्यात् सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवम्भूतश्चेत् कृञ्। व्यर्थत्वात्प्रयोगानर्ह इत्यर्थः। अन्यथाकारम्। एवंकारम्। कथंकारम्। इत्थंकारं भुङ्क्ते। सिद्धेति किम्? शिरोऽन्यथाकृत्वा भुङ्क्ते।

॥ इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम् ॥

प०वि०—अन्यथैवंकथमित्थंसु ७।३।। सिद्धाऽप्रयोगः १।१।। चेत् अ०।। **अनु०**—धातोः, कृञः, णमुल्।

अर्थ—'अन्यथा', 'एवम्', 'कथम्' और **'इत्थम्'**—ये चार अव्यय उपपद रहते **'कृञ्'** धातु से **'णमुल्'** प्रत्यय होता है, यदि 'कृञ्' का अप्रयोग सिद्ध हो।

यहाँ 'कृञ्' के **अप्रयोग** से तात्पर्य यह है कि 'कृञ्' का प्रयोग किए बिना भी इष्ट अर्थ की प्रतीति हो रही हो तो। जैसे—'एवंकारम्' का अर्थ है 'इस प्रकार से' यह शब्द 'एवम्' पूर्वक 'कृ' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय आने पर बना है यदि बिना 'कृ' के केवल 'एवम्' का प्रयोग किया जाये तो भी 'एवंकारम्' वाला इष्ट अर्थ ही प्रतीत होता है।

अन्यथाकारम्—'अन्यथा' उपपदपूवर्क 'कृ' धातु से 'अन्यैवंकथमि०' से 'णमुल्' प्रत्यय करने पर, 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि होकर 'अन्यथाकारम्' बनता है स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर, मकारान्त कृत् प्रत्ययान्त की 'कृन्मेजन्तः' से 'अव्यय' संज्ञा होने के कारण, 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होकर 'अन्यथाकारम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार **'एवंकारम्', 'कथंकारम्'** इत्यादि की सिद्धि-प्रक्रिया समझनी चाहिए।

सिद्धेति किम्? 'सिद्धाऽप्रयोगः' पद का प्रयोजन यह है कि जहाँ 'कृ' का प्रयोग सिद्ध अर्थात् सार्थक होगा तो 'अन्यथा' आदि उपपद रहने पर भी 'कृ' धातु से 'णमुल्' नहीं होगा। जैसे– **'शिरोऽन्यथाकृत्वा भुङ्क्ते'** (शिर को अन्यथा करके खाता है) इस वाक्य में 'कृ' का प्रयोग न करने पर उसके अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती, इसीलिए यहाँ 'कृ' का प्रयोग **सिद्ध** अर्थात् **सार्थक** है। अतः यहाँ 'कृ' धातु से 'णमुल्' नहीं होता। 'णमुल्' के अभाव में 'क्त्वा' प्रत्यय होकर 'अन्यथाकृत्वा' रूप सिद्ध होता है।

॥ उत्तरकृदन्तप्रकरण समाप्त ॥

अथ विभक्त्यर्थ-प्रकरणम्

८८८. प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे प्रथमा २।३।४६

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये परिमाणमात्रे संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्। प्रातिपदिकार्थमात्रे-उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। लिङ्गमात्रे-तटः, तटी, तटम्। परिमाणमात्रे-द्रोणो व्रीहिः। वचनं संख्या-एकः, द्वौ, बहवः।

प०वि०—प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे ७।१।। प्रथमा १।१।।

प्रातिपदिकार्थ—प्रातिपदिक (शब्द) के उच्चारण करने पर जिस अर्थ की नियत रूप से उपस्थिति अर्थात् प्रतीति होती है वह अर्थ उस प्रातिपदिक (शब्द) का अर्थ 'प्रातिपदिकार्थ' कहलाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अभिधेयार्थ को ही प्रातिपदिकार्थ कहा जाता है, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को नहीं।

सूत्र में पठित 'मात्रे' पद का अन्वय समस्तपद के प्रत्येक घटक पद के साथ होता है।[१]

अर्थ—प्रातिपदिकार्थ मात्र में, (प्रातिपदिकार्थ के साथ) लिंग मात्र आदि की अधिकता होने पर, परिमाण मात्र में और वचन (संख्या) मात्र अर्थ में प्रथमा विभक्ति होती है।

१. **प्रातिपदिकार्थमात्रे**—प्रातिपदिकार्थ मात्र के उदाहरण बिना लिङ्ग वाले शब्द जैसे-उच्चैः, नीचैः आदि और निश्चित लिङ्ग वाले शब्द जैसे-कृष्णः (वासुदेव), श्रीः (लक्ष्मी) और ज्ञानम् आदि होंगे।

विशेष—नियत लिङ्ग वाले शब्दों में प्रातिपदिकार्थ के रूप में व्यक्ति, जाति और लिङ्ग तीनों का ही ग्रहण होता है क्योंकि शब्द का लिङ्ग निश्चित होने के कारण उसका बोध भी नियमित रूप से शब्द के श्रवण मात्र से होता है। जैसे-'कृष्णः' का अर्थ 'वसुदेव के पुत्र' हमेशा पुँल्लिंग अर्थ सहित प्रतीत होता है, इसलिए 'कृष्णः' प्रातिपदिकार्थ मात्र का उदाहरण होगा और यहाँ प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा होगी। परन्तु जहाँ 'कृष्ण' शब्द काले रंग का वाचक होकर किसी का विशेषण बनेगा तो वहाँ **कृष्णः, कृष्णा, कृष्णम्**

१. द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते।

तीनों ही लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होंगे। तीनों ही स्थानों पर 'कृष्ण' शब्द का लिङ्ग भिन्न-भिन्न होने से उसकी उपस्थिति प्रातिपदिक के श्रवण मात्र से नियत रूप से नहीं होती, इसलिए ऐसे स्थानों पर लिङ्गमात्रादि के आधिक्य होने पर 'प्रथमा' होगी।

२. **लिङ्गमात्रे**—लिङ्गमात्र की अधिकता के उदाहरण अनियत लिङ्ग वाले शब्द होंगे, जिनके उच्चारण से हर समय एक समान लिङ्ग की प्रतीति नहीं होती। जैसे-**तटः, तटी, तटम्** यहाँ 'तट' शब्द तीनों लिगों में प्रयुक्त होता है। इसका लिङ्ग नियत न होने से यहाँ लिङ्ग प्रातिपदिकार्थ का घटक नहीं होगा। इसलिए ऐसे स्थानों पर लिंग मात्र की अधिकता होने पर 'प्रथमा' होगी।

३. **परिमाणमात्रे**—'द्रोणो व्रीहिः' (द्रोण भर चावल) यहाँ 'द्रोणः' इस पद में 'सु' विभक्ति का अर्थ है परिमाण-सामान्य तथा प्रकृति 'द्रोण' का अर्थ है द्रोण नामक परिमाण-विशेष। यहाँ दोनों का अभेद सम्बन्ध से परस्पर अन्वय होता है। इसीलिए 'द्रोणः' पद से द्रोण से अभिन्न अर्थात् **द्रोणात्मक परिमाण** यह प्रतीति होती है।

४. **वचनमात्रे**—वचन-मात्र में जहाँ संख्या **संख्येय** में 'न' होकर केवल संख्यान मात्र में होती हैं वहाँ संख्या या वचन-मात्र में 'प्रथमा' होती है। जैसे-एकः, द्वौ, बहवः।

८८९. सम्बोधने च २।३।४७

प्रथमा स्यात्। हे राम!

प०वि०—सम्बोधने ७।१।। च अ०।। **अनु०**—प्रथमा।

अर्थ—प्रातिपदिकार्थ के साथ सम्बोधन अर्थ की अधिकता होने पर भी प्रथमा विभक्ति होती है।

सम्बोधन[1] का अर्थ है-सम्मुखीकरण या अपनी तरफ आकृष्ट करके कुछ कहना। जैसे- **'हे राम'** इत्यादि वाक्यों में वक्ता, राम को अपनी तरफ आकृष्ट करके कुछ ('मां पाहि'—मेरी रक्षा करो इत्यादि) कहना चाहता है। इसीलिए 'राम' में सम्बोधन अर्थ में प्रथमा (सु) आती है जिसका 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' इत्यादि से लोप हो जाता है।

८९० कर्तुरीप्सिततमं कर्म। १।४।४९

कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

प० वि०—कर्तुः ६।१।। ईप्सिततमम् १।१।। कर्म १।१।। **अनु०**—कारके।

अर्थ—कर्ता का क्रिया के द्वारा इष्टतम कारक 'कर्म' संज्ञक होता है। अर्थात्—कर्ता क्रिया के द्वारा जिसे विशेष रूप से चाहता है उसकी 'कर्म' संज्ञा होती है।

यथा—'भक्तः हरिं भजति'—यहाँ कर्ता 'भक्त' भजन क्रिया के द्वारा 'हरि' को चाहता है अर्थात् हरि को प्रसन्न करना चाहता है इसलिए हरि की 'कर्म' संज्ञा होती है तथा अग्रिम सूत्र 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होती है।

---

१. सम्बोधनमभिमुखीकृत्य ज्ञापनम्। (बा० म० ५३३)

८९१. कर्मणि द्वितीया २।३।२

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि प्रथमा-हरिः सेव्यते। लक्ष्म्या हरिः सेवितः।

प०वि०—कर्मणि ७।१।। द्वितीया १।१।। **अनु०**—अनभिहिते।

अर्थ—अनुक्त अर्थात् तिङ्, कृत्, तद्धित, समास और अव्यय के द्वारा अनुक्त कर्म में '**द्वितीया**' विभक्ति होती है।

यथा– '**हरिं भजति**' यहाँ 'भज्' धातु से 'वर्तमाने लट्' से आने वाला 'लट्' प्रत्यय 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' से कर्त्ता में आया है इसलिए लकार के द्वारा कर्त्ता-विषयक सूचना, (जैसे- कर्त्ता प्रथम पुरुष, एकवचन आदि) दिये जाने से 'कर्त्ता' **उक्त** हो जाता है और 'कर्म' के विषय में कोई सूचना लकार से न मिलने से वह **अनुक्त** रहता है। इसीलिए अनुक्त कर्म 'हरिम्' आदि में द्वितीया दिखाई देती है।

इसके विपरीत '**हरिः सेव्यते**' इस वाक्य में 'सेव्यते' क्रियापद 'सेव्' धातु से लट् लकार, कर्म-वाच्य, प्रथम- पुरुष, एकवचन का रूप है। सेव्यते' में 'वर्तमाने लट्' से 'लट्' प्रत्यय 'लः कर्मणि च०' सूत्र से 'कर्म' में आया है। यहाँ 'हरि' का कर्मत्व धातु से आने वाले 'लट्' तथा उसके स्थान में 'त' आदि आदेश के द्वारा उक्त होने से 'कर्म' अनुक्त नहीं रहता, इसीलिए 'हरिः सेव्यते' इस वाक्य में 'हरिः' पद में द्वितीया नहीं होती, अपितु प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा होती है।[1]

'**लक्ष्म्या हरिः सेवितः**' यहाँ 'सेवितः' पद में 'क्त' प्रत्यय 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' से कर्म में हुआ है जिससे कर्म उक्त हो जाता है इसीलिए 'हरिः' में द्वितीया विभक्ति नहीं हुई।

८९२. अकथितं च १।४।५१

अपादानादि विशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

''दुह्याच्-पच्-दण्ड्-रुधि-प्रच्छि-चि-ब्रू-शासु-जि-मथ्-मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नी-हृ-कृष्-वहाम्।।''

गां दोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। तण्डुलानोदनं पचति। गर्गान् शतं दण्डयति। व्रजमवरुणद्धि गाम्। माणवकं पन्थानं पृच्छति। वृक्षमवचिनोति फलानि। माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा। शतं जयति देवदत्तम्। सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्राममजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा। अर्थ निबन्धनेयं संज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्तीत्यादि।

प०वि०—अकथितम् १।१।। च अ०।। **अनु०**—कर्म, कारके।

---

१. 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इस सिद्धान्त के कारण जिसके 'कर्मत्व' का लकार आदि के द्वारा एक बार कथन कर दिया जाता है पुनः उसके कथन के लिए किसी अन्य विभक्ति आदि के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती।

अर्थ–अपादान आदि विशेषों से अविवक्षित कारक की '**कर्म**' संज्ञा होती है।

अविवक्षित का आशय यह है कि जब अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरणादि कारकों का विषय होने पर भी उन्हें कहने की इच्छा न हो और उनके स्थान पर कारकत्व मात्र को कहने की इच्छा हो तो ऐसे अविवक्षित कारक की 'कर्म' संज्ञा होती है।

अपादानादि की इस अविवक्षा में वक्ता सर्वथा अनियन्त्रित और निरंकुश न हो जाये तथा शिष्ट लोक में अप्रचलित और अस्वीकृत धातुओं के योग में अपादानादि कारकों की अविवक्षा और उनके स्थान पर 'कर्म' की विवक्षा न करने लगे, इसके लिए कुछ धातुओं का परिगणन मूल में उक्त कारिका में किया गया है।

प्रस्तुत कारिका का आशय यह है कि 'दुह् प्रपूरणे', 'याच् याच्ञायाम्' आदि सोलह धातुओं का जो ईप्सिततम कर्म है उससे सम्बन्धित वह अर्थ जिसके अपादानादि कारकत्व की अविवक्षा हो तो उसी अर्थ की 'कर्म' संज्ञा होती है। **जैसे**–

१. **'गां दोग्धि पयः'**–यहाँ 'पयः' (दूध) स्वाभाविक कर्म है जिसको 'दोहन' क्रिया के द्वारा (गो) गाय से पृथक् किया जाता है। यहाँ 'दोहन' क्रिया की अवधि होने से गाय की **अपादान** संज्ञा होनी चाहिए। यहाँ गाय मुख्य कर्म (पयः) 'दूध' से भी सम्बद्ध है इसीलिए 'दुह्' धातु के योग में उसके कर्म से सम्बद्ध कारक (गो) के अपादानत्व की अविवक्षा में 'कर्म' संज्ञा होती है। 'कर्म' संज्ञा होने से 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होकर **'गां दोग्धि पयः'** यह प्रयोग होता है।

२. **'बलिं याचते वसुधाम्'**–यहाँ 'वसुधा' मुख्य कर्म है। 'मांगना' क्रिया का अवधि-भूत 'बलि', मुख्य कर्म (वसुधा) से सम्बद्ध है। इसलिए 'बलि' की 'अपादान' संज्ञा होनी चाहिए, जिसकी अविवक्षा में 'बलि' की 'कर्म' संज्ञा का विधान किया जाता है। अतः यहाँ 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होती है।

३. **'तण्डुलानोदनं पचति'**–यहाँ 'तण्डुल' पाक-क्रिया का साधक है। अतः इसकी 'करण' संज्ञा होनी चाहिए। 'तण्डुल' के करणत्व की अविवक्षा में 'अकथितं चं' से 'कर्म' संज्ञा का विधान किया गया है यहाँ भी 'ओदन' कर्म के साथ 'तण्डुल' का सम्बन्ध भी रहता है। अतः यहाँ 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होती है।

४. **'गर्गान् शतं दण्डयति'**–यहाँ 'दण्ड' क्रिया का कर्म 'शतं' अर्थात् सौ रुपया आदि है, जिसे गर्गों से लिया जा रहा है। अतः 'दण्ड' क्रिया की अवधि बन जाने से गर्गों की 'अपादान' संज्ञा होनी चाहिए, जिसकी अविवक्षा में 'अकथितं चं' से कर्मत्व का विधान करने से यहाँ 'गर्गान्' में 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होती है।

५. **'व्रजमवरुणद्धि गाम्'**–यहाँ 'गो' कर्म के द्वारा 'अवरोध' क्रिया का आधार होने से 'व्रज' अधिकरण कारक होता है। 'रुध्' धातु के योग में अधिकरणत्व की अविवक्षा में मुख्य कर्म 'गो' से सम्बद्ध 'व्रज' की 'अकथितं च' से 'कर्म' संज्ञा होती है अतः उसमें 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त होती है।

६. **'माणवकं पन्थानं पृच्छति'**—यहाँ 'माणवक' की 'अपादान' की संज्ञा की अविवक्षा में 'प्रच्छ्' धातु के योग में माणवक की 'कर्म' संज्ञा होती है। इसीलिए यहाँ 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होती है।

७. **'वृक्षमवचिनोति फलानि'**—यहाँ 'चयन' की अवधि होने के कारण वृक्ष की 'अपादान' संज्ञा स्वाभाविक रूप से प्राप्त होती है। 'चि' धातु के योग में उसकी अविवक्षा होने पर 'अकथितं च' से 'कर्म' संज्ञा का विधान किया गया है, अतः कर्म में 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होती है।

८, ९. **'माणवकं धर्मं ब्रूते, शास्ति वा'**—यहाँ धर्मोपदेश या धर्म-शासन का उद्देश्य माणवक (बालक) है अतः उसकी 'संप्रदान' संज्ञा होनी चाहिए थी, 'ब्रू' और 'शास्' धातु के योग में माणवक के सम्प्रदानत्व की अविवक्षा में 'कर्म' संज्ञा का विधान किया गया है, अतः यहाँ 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होती है।

१०. **'शतं जयति देवदत्तम्'**—यहाँ देवदत्त से सौ रुपये जीत कर उससे उन सौ रुपयों को लेता (अलग करता) है अतः रुपयों के विश्लेष की अपेक्षा से अवधि होने के कारण देवदत्त की 'अपादान' संज्ञा सामान्य रूप से प्राप्त है, जिसकी अविवक्षा में 'अकथितं च' सूत्र से 'कर्म' संज्ञा का विधान किया गया है। इसलिए यहाँ 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होती है।

११. **'सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति**[१]'—यहाँ 'मन्थन' क्रिया का उद्देश्य सुधा-प्राप्ति है। इसलिए उसकी अवधि (क्षीरनिधि) की 'अपादान' संज्ञा प्राप्त होती है। जिसकी अविवक्षा में 'मथ्' धातु के योग में क्षीरनिधि की 'कर्म' संज्ञा का विधान 'अकथितं च' से किया गया है। अतः यहाँ 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होती है।

१२.**'देवदत्तं शतं मुष्णाति'**—यहाँ कर्त्ता चोर आदि 'देवदत्त' के सौ रुपये चोरी से उससे अलग करता है; अतः देवदत्त की 'अपादान' संज्ञा प्राप्त थी, 'मुष्' धातु के योग में अपादानत्व की अविवक्षा में देवदत्त की 'कर्म' संज्ञा का विधान किया गया है। अतः यहाँ 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होती है।

१३-१६ 'ग्रामं अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति'—यहाँ 'नयन', 'हरण', 'कर्षण' और 'वहन' क्रिया के द्वारा अजा (बकरी) को गाँव में ले जाता है अतः कर्म के द्वारा 'नयन', 'हरण' आदि क्रियाओं का आधार होने के कारण 'ग्राम' की 'अधिकरण' संज्ञा प्राप्त थी जिसकी अविवक्षा में 'कर्म' संज्ञा का विधान 'अकथितं च' से किया है। इसीलिए यहाँ 'ग्रामम्' में द्वितीया विभक्ति होती है।

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा—उक्त धातुओं के योग में अविवक्षित कारक की 'कर्म'

---

१. सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति—क्षीरोदधेः सकाशात् सुधां मन्थनदण्डभ्रमणेनोद्द्रावयतीत्यर्थः। व्यापारप्रयोज्योद्भवाश्रयत्वात् सुधा प्रधानकर्म। क्षीरोदधिस्तु उद्भवं प्रत्यपादानम्। तस्यापादानत्वमुपेक्ष्य सुधा द्वारा उद्भवाश्रयत्वात् कर्मत्वविक्षायां द्वितीया। (बा० म० ५३९)

संज्ञा केवल उपर्युक्त धातुओं के योग में ही नहीं होती, अपितु इन सोलह धातुओं के समानार्थक जो अन्य धातुएँ हैं, जिनका परिगणन कारिका में नहीं किया गया है, उनके योग में भी अपादानादि से अविवक्षित कारक की 'कर्म' संज्ञा होती है जैसे-'**बलिं भिक्षते वसुधाम्**' इस उदाहरण में 'भिक्ष्' धातु 'याच्' के समानार्थक है इसलिए 'भिक्ष्' के योग में भी 'बलिम्' की कर्म संज्ञा होने से द्वितीया विभक्ति हुई है। इसी प्रकार '**माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्तीत्यादि**' में भी अपरिगणित धातुओं के योग में 'माणवक' के सम्प्रदानत्व की अविवक्षा में 'कर्म' संज्ञा हो ही जाती है। क्योंकि 'भाष्' आदि सभी धातुएँ 'ब्रू' के समानार्थक हैं।

८९३. स्वतन्त्रः कर्त्ता १।४।५४

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात्।

प०वि०—स्वतन्त्र १।१।। कर्त्ता १।१।। **अनु०**—कारके।

अर्थ—क्रिया की सिद्धि में स्वतंत्र रूप से विवक्षित अर्थ '**कर्त्ता**' होता है।

स्वातन्त्र्य से अभिप्राय है—ऐसा कारक जो दूसरे के अधीन न हो अपितु दूसरे कारक उसके अधीन हों, या जो वक्ता को प्रधान रूप से विवक्षित हो। 'स्वातन्त्र्य' की इस व्याख्या के कारण 'देवदत्तः ओदनं पचति' तथा 'स्थाली पचति' दोनों वाक्यों में क्रमशः 'देवदत्त' तथा 'स्थाली' दोनों को कर्त्ता माना जाता है।[1]

८९४. साधकतमं करणम् १।४।४२

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात्।

प०वि०—साधकतमम् १।१।। करणम् १।१।। **अनु०**—कारके।

अर्थ—क्रिया की सिद्धि में जो अत्यन्त उपकारक कारक है उसकी '**करण**' संज्ञा होती है।

साधकतमम्—जिसके व्यापार के अनन्तर ही क्रिया की सिद्धि होती है उसे 'साधकतम' अर्थात् प्रकृष्टोपकारक कारक कहा जाता है। जैसे-'**परशुना काष्ठं छिनत्ति**' यहाँ 'परशु' के व्यापार (परशु और दारु के संयोग) के अनन्तर ही छेदन-क्रिया होती है अतः छेदन-क्रिया के अत्यन्त सहायक 'परशु' की 'करण' संज्ञा होगी।

८९५. कर्तृकरणयोस्तृतीया २।३।१८

अनभिहिते कर्त्तरि करणे च तृतीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो बाली।

प०वि०—कर्तृकरणयोः ७।२।। तृतीया १।१।। **अनु०**—अनभिहिते।

---

१. स्वातन्त्र्यमिह प्राधान्यमिति भाष्ये स्पष्टम्। ननु स्थाली पचतीत्यादौ कथं स्थाल्यादीनाम् कर्तृत्वं, स्वातन्त्र्याभावादित्यत आह-विवक्षितोऽर्थ इति। 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' इति भाष्यादिति भावः। (बा.म.)

अर्थ–अनभिहित अर्थात् तिङ्, कृत्, तद्धित और समास के द्वारा अनुक्त कर्त्ता और करण में **'तृतीया'** विभक्ति होती है।

'रामेण बाणेन हतो बाली' यहाँ हनन-क्रिया में स्वतन्त्र रूप से विवक्षित होने से 'स्वतन्त्रः कर्ता' से राम 'कर्त्ता' है और हनन-क्रिया में प्रकृष्ट उपकारक होने से 'साधकतमं करणम्' से बाण 'करण' है। अतः 'रामेण' और 'बाणेन' में क्रमशः 'कर्त्ता' और 'करण' में 'तृतीया' विभक्ति हुई है, क्योंकि 'हतः' पद में विहित 'क्त' प्रत्यय के द्वारा कर्म का अभिधान हुआ है। 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' से 'क्त' प्रत्यय का विधान कर्म में हुआ है। 'क्त' प्रत्यय के द्वारा 'कर्म' (बाली) के उक्त होने से 'कर्त्ता' (राम) और 'करण' (बाण) अनुक्त रहता है। इसलिए प्रकृत सूत्र से **अनुक्त कर्त्ता** और **अनुक्त करण** में **तृतीया** विभक्ति होती है।

८९६ कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् १।४।३२

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानसंज्ञः स्यात्।

प०वि०–कर्मणा ३।१।। यम् २।१।। अभिप्रैति (क्रियापदम्)।। सः १।१।। सम्प्रदानम् १।१।। **अनु०**–कारके।

अर्थः–दानक्रिया के कर्म के साथ कर्त्ता जिसको सम्बद्ध करना चाहता है उसकी 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है।

८९७. चतुर्थी सम्प्रदाने २।३।१३

विप्राय गां ददाति।

प०वि०–चतुर्थी १।१।। सम्प्रदाने ७।१।। **अनु०**–अनभिहिते।

अर्थ–अनभिहित सम्प्रदान में **चतुर्थी** विभक्ति होती है।

'विप्राय गां ददाति' यहाँ देने वाला (यजमान) दान क्रिया के कर्म 'गो' के साथ 'विप्र' को सम्बद्ध करना चाहता है, अतः 'विप्र' की 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है। सम्प्रदान संज्ञा होने से 'चतुर्थी सम्प्रदाने' से 'सम्प्रदान' में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

८९८. नमः-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधाऽलं-वषड्योगाच्च २।३।१६

एभिर्योगे चतुर्थी। हरये नमः। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा। अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्। तेन दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः, समर्थः, शक्त इत्यादि।

प०वि०–नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगात् ५।१।। च अ०।। **अनु०**–चतुर्थी।

अर्थ–नमः (नमस्कार), **स्वस्ति** (कल्याण), **स्वाहा** (देवताओं के निमित्त आहुति देना), **स्वधा** (पितरों के लिए तर्पण) और **अलम्** (पर्याप्ति और समर्थ) इन अव्ययों के योग में **'चतुर्थी'** विभक्ति होती है। अर्थात् जिन शब्दों के साथ इन अव्ययों का योग होता है उन शब्दों में चतुर्थी विभक्ति होती है।

यथा-**'हरये नमः'** में 'नमः' के साथ योग होने के कारण 'हरि' में चतुर्थी

विभक्ति हुई है। **'प्रजाभ्यः स्वस्ति'** यहाँ 'स्वस्ति' के योग में 'प्रजा' में चतुर्थी विभक्ति है। **'अग्नये स्वाहा'**, **'पितृभ्यः स्वधा'**, **'दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः, समर्थः, शक्तः'** इत्यादि उदाहरणों में सूत्र में पठित क्रमशः **स्वाहा, स्वधा** और **अलम्** के योग में क्रमशः **अग्नि, पितृ** और **दैत्य** शब्दों में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया है।

अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्–'अलम्' शब्द से (प्रकृत सूत्र में) 'पर्याप्त' या 'समर्थ' अर्थ वाले शब्दों का ही ग्रहण होता है, 'निषेध' अर्थ वाले 'अलम्' का नहीं।

८९९. ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४

अपायो विश्लेषः, तस्मिन्साध्ये यद् ध्रुवमवधिभूतं कारकं तदपादानं स्यात्।

प०वि०–ध्रुवम् १।१।। अपाये ७।१।। अपादानम् १।१।। **अनु०**–कारके।

अर्थ–'अपाय' अर्थात् विश्लेष या विभाग या अलग होने की क्रिया में जो ध्रुव अर्थात् अवधिभूत है उस अवधिभूत द्रव्य कारक की 'अपादान' संज्ञा होती है।

'अवधिभूत' से अभिप्राय है कि वह स्थान जहाँ से विश्लेष की क्रिया हो रही है अर्थात् सीमा।

जैसे–**'धावतोऽश्वात् पतति'** यहाँ दौड़ते हुए घोड़े से व्यक्ति का गिरना एक विश्लेष अर्थात् अलगाव की क्रिया को जन्म देता है। इस विश्लेष की क्रिया में गिरने वाला व्यक्ति तो गिरने की क्रिया का आधार होने के कारण ध्रुव (स्थिर) नहीं हो सकता, इसलिए जहाँ से वह गिर रहा है वह 'अश्व' ध्रुव होना चाहिए, उसी की **अपादान** संज्ञा का विधान सूत्र से होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि दौड़ता हुआ अश्व **ध्रुव** अर्थात् स्थिर कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि यहाँ **ध्रुव** का अर्थ स्थिर या निश्चय नहीं है, अपितु 'अवधि' अर्थात् विश्लेष की सीमा है। इस प्रकार पतन क्रिया की अवधि होने से दौड़ता हुआ अश्व भी 'ध्रुव' माना जायेगा तथा उसकी 'अपादान' संज्ञा होगी। अपादान संज्ञा होने के कारण 'अपादाने पञ्चमी' से 'अपादान' कारक 'अश्व' में पञ्चमी विभक्ति होकर **'धावतः अश्वात् पतति'** यह प्रयोग सिद्ध होगा।

९००. अपादाने पञ्चमी २।३।२८

ग्रामाद् आयाति। धावतोऽश्वात् पतति-इत्यादि।

प०वि०– अपादाने ७।१।। पञ्चमी १।१।। **अनु०**–अनभिहिते, कारके।

अर्थ–तिङ्, कृत्, तद्धित और समास के द्वारा अनभिहित अर्थात् अनुक्त **'अपादान'** कारक में **पञ्चमी** विभक्ति होती है।

यथा–**'ग्रामाद् आयाति'** में आगमन क्रिया से उत्पन्न होने वाले विभाग की अवधि 'ग्राम' होने के कारण उसकी 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' से 'अपादान' संज्ञा होगी तथा यह तिङ्, कृत्, तद्धित या समास के द्वारा उक्त भी नहीं है। इसलिए उसमें 'अपादाने

पञ्चमी' से पञ्चमी विभक्ति हो ही जायेगी। **'धावतोऽश्वात् पतति'** का विश्लेषण पूर्व सूत्र की व्याख्या में देखें।

१०१. षष्ठी शेषे २।३।५०

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिः सम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी। राज्ञः पुरुषः। कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव। सतां गतम्। सर्पिषो जानीते। मातुः स्मरति। एधो दकस्योपस्कुरुते। भजे शम्भोश्चरणयोः।

प०वि०—षष्ठी १।१।। शेषे ७।१।।

अर्थ—कारक तथा प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त, स्व-स्वामिभावादि सम्बन्ध को शेष शब्द के द्वारा कहा गया है। इसी शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है। **यथा**—'राज्ञः पुरुषः' में राजा और पुरुष के मध्य स्वामि-सेवक सम्बन्ध है। पुरुष 'सेवक' है तथा राजा उसका 'स्वामी' है। इसी 'स्वामी-सेवक' सम्बन्ध को कहने के लिए षष्ठी विभक्ति का विधान किया गया है।

कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव—कर्मादि कारकों की विवक्षा न होने पर सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है। अर्थात् जहाँ कर्म, करण, अधिकरणादि कारकों की सम्बन्ध-सामान्य मात्र के रूप में विवक्षा हो तो वहाँ भी **षष्ठी** विभक्ति होती है।

जैसे—**'सतां गतम्'** यहाँ भाव में 'क्त' प्रत्यय होने के कारण अनुक्त **कर्त्ता** में तृतीया विभक्ति होकर 'सद्भिः गतम्' प्रयोग होना चाहिए था, परन्तु कर्तृत्व की अविवक्षा तथा सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होकर 'सतां गतम्' ऐसा प्रयोग होता है।

'सर्पिषो जानीते' यहाँ करण **कारक** की अविवक्षा होने पर सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है।

'मातुः स्मरति' में 'स्मृ' धातु का कर्म होने के कारण 'मातरम् स्मरति' ऐसा प्रयोग होना चाहिए था, परन्तु सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा में यहाँ षष्ठी विभक्ति हुई है।

'एधोदकस्योपस्कुरुते' यहाँ 'एधस्' शब्द सकारान्त है। 'दकस्य' में कर्म की अविवक्षा में सम्बन्ध सामान्य की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है।

'भजे शम्भोश्चरणयोः' यहाँ 'भज्' क्रिया का कर्म होने के कारण 'चरण' शब्द में द्वितीया विभक्ति होनी चाहिए थी, जिसे वक्ता कर्म के रूप में न कहकर सम्बन्ध के रूप में कहता है इसलिए सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति होकर 'चरणयोः' रूप सिद्ध होता है।

१०२. आधारोऽधिकरणम् १।४।४५

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणं स्यात्।

प०वि०—आधारः १।१।। अधिकरणम्, १।१।। **अनु०**—कारके।

अर्थ–कर्त्ता और कर्म के द्वारा जो क्रिया का आधार होता है, उस कारक की '**अधिकरण**' संज्ञा होती है। क्रिया, कर्त्ता या कर्म के माध्यम से ही अपने आधार में रहती

१०३. सप्तम्यधिकरणे च २।३।३६

अधिकरणे सप्तमी स्यात्। चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः। औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा। कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। मोक्षे इच्छाऽस्ति। सर्वस्मिन्नात्माऽस्ति। वनस्य दूरे आन्तिके वा।

इति विभक्त्यर्थ-प्रकरणम्।

प०वि०–सप्तमी १।१।। अधिकरणे ७।१।। अ०।। **अनु०**–अनभिहिते, दूरान्तिकार्थेभ्यः।

अर्थ–अनुक्त 'अधिकरण' कारक में **सप्तमी** विभक्ति होती है और 'दूर' तथा 'समीप' अर्थ वाले शब्दों से भी **सप्तमी** विभक्ति होती है।

आधार तीन प्रकार का होता है–(१) औपश्लेषिक–जब कोई वस्तु अपने आधार में संयोग सम्बन्ध से रहती है तो वह 'औपश्लेषिक' आधार होता है। जैसे-'**कटे आस्ते**' यहाँ 'कट' (चटाई) के साथ उस पर बैठने वाले का सम्बन्ध संयोग होता है इसलिए 'कट' औपश्लेषिक आधार है।

(२) **वैषयिक**–जब किसी इच्छा अथवा विचार आदि का अपने आधार के साथ बौद्धिक सम्बन्ध होता है तो वह 'वैषयिक' आधार कहलाता है। जैसे-'**मोक्षे इच्छाऽस्ति**' यहाँ इच्छा का विषय 'मोक्ष' है इसीलिए इच्छा का अपने आधार 'मोक्ष' के साथ बौद्धिक सम्बन्ध होने के कारण मोक्ष, इच्छा का 'वैषयिक' आधार होता है।

(३) **अभिव्यापक आधार**–जब आधेय पदार्थ अपने आधार में व्याप्त होकर रहता है या व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से रहता है, तो उसे 'अभिव्यापक' आधार कहते हैं। जैसे-'**तिलेषु तैलं वर्त्तते**' यहाँ 'तैल' तिलों में व्याप्त होकर रहता है। 'तिल' का कोई भी अवयव ऐसा नहीं होता जहाँ तैल न रहता हो। इसीलिए तिल, तैल का 'अभिव्यापक' आधार होता है। इसी प्रकार '**सर्वस्मिन्नात्माऽस्ति**'–यहाँ आत्मा को व्यापक तत्त्व मानने के कारण 'सर्व' अर्थात् सभी पदार्थों में उसकी व्यापकता स्वीकार करने के कारण सर्व 'अभिव्यापक' आधार होता है।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के आधारों की 'अधिकरण' संज्ञा होने के कारण 'सप्तम्यधिकरणे च' से अनुक्त अधिकरण में **सप्तमी** विभक्ति होती है।

'दूर' तथा 'समीप' अर्थ के वाचक शब्दों में भी 'सप्तमी' विभक्ति होती है। जैसे–'**वनस्य दूरे अन्तिके वा**' इस वाक्य में दूर अर्थ के वाचक 'दूर' शब्द तथा समीप अर्थ के वाचक 'अन्तिक' शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है।

विशेष—अष्टाध्यायी में पाणिनि ने दूर और समीप अर्थ वाले शब्दों से द्वितीया, तृतीया और पञ्चमी विभक्ति का विधान 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' (२.३.३५) सूत्र के द्वारा पहले ही कर दिया है। इसलिए प्रकृत सूत्र में 'सप्तमी' विभक्ति का विधान करने से 'दूर' और 'समीप' अर्थ वाले शब्दों से कुल चार विभक्तियों का प्रयोग साधु समझना चाहिए।

॥ विभक्त्यर्थ-प्रकरण समाप्त ॥

अथ समासप्रकरणम्
केवलसमासः

समास प्रकरण के सूत्रों की व्याख्या से पहले ग्रन्थकार आचार्य वरदराज ने पूर्व पीठिका या प्रस्तावना के रूप में समास शब्द का अर्थ, समास के भेद तथा तत्तत् समास के वैशिष्ट्य पर विचार किया है।

[समासः पञ्चधा। तत्र समसनं समासः।]

समास पाँच प्रकार का होता है। **समसनम्** अर्थात् संक्षेप को समास कहा जाता है।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह अल्प परिश्रम से अधिक फल प्राप्त करना चाहता है। उसकी यह प्रवृत्ति भाषा के प्रयोग के सन्दर्भ में भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। समास का आधार भी यह प्रवृत्ति ही है, जहाँ वक्ता अनेक पदों को मिलाकर एक बना देता है तथा उनके मध्य में सम्बन्ध की विभिन्न अवस्थाओं को अभिव्यक्त करने वाली विभक्तियों अथवा 'सुप्' प्रत्ययों को छोड़ देता है। वक्ता न केवल समस्यमान पदों के अर्थों के मध्य सम्बन्धों की अभिव्यक्ति ही समस्त पद से करता है, अपितु अनेक बार समास में अप्रयुक्त पदों के अर्थों को भी समास के द्वारा अधिक प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त कर पाता है। जैसे:– **'विद्यालयः'** यहाँ दो पदों **'विद्यायाः+आलयः'** को मिला दिया गया है तथा समस्त पद में षष्ठी विभक्ति, जो कि विद्या और आलय (घर) के सम्बन्ध को अभिव्यक्त करती है, का लोप हो गया है।

'पीताम्बरः' इस समस्त–पद में मूलतः 'पीत' तथा 'अम्बर' केवल दो ही पद दृष्टिगोचर होते हैं, यह समस्त–पद इन दो पदों के साथ–साथ कुछ अधिक अर्थ को भी अभिव्यक्त कर रहा है। यह अधिक अर्थ है अन्यपद का अर्थ– **'पीतानि अम्बराणि यस्य सः'** पीले हैं वस्त्र जिसके (ऐसा कोई मनुष्य)। यहाँ 'जिसके' इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए किसी शब्द अथवा प्रत्यय का प्रयोग समस्त पद 'पीताम्बरः' में नहीं हुआ है। फिर भी समस्त–पद उपर्युक्त अर्थ को अभिव्यक्त कर रहा है यह समास का ही फल है,

[स च विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः।]

(समास के पाँच भेदों में) किसी विशेष संज्ञा से रहित होने के कारण वह **केवलसमास** प्रथम (भेद) होता है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ समास की कोई विशेष संज्ञा न की गई हो वह **'केवलसमास'** कहलाता है। जैसे–**'भूतपूर्वः'** यहाँ **'सह सुपा'** (९०६) से समास हुआ है, जो सुबन्त

का समर्थ सुबन्त के साथ समास तो करता है, पर किसी विशेष संज्ञा का विधान नहीं करता। जैसा कि समास विधायक अन्य सूत्रों **'अव्ययं विभक्ति समीप०'** (९०८) आदि में होता है। जहाँ समास विधान के साथ-साथ अव्ययीभावादि विशेष संज्ञाओं का विधान भी किया गया है।

[प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः।]

जिसमें प्रायः पूर्वपद के अर्थ की प्रधानता हो वह **अव्ययीभाव** नामक समास का दूसरा भेद होता है।

जैसे–**उपकूपम् वसति।** इस वाक्य का अर्थ है, कूप के समीप रहता है। यहाँ वक्ता कूप अर्थ की अपेक्षा उसके समीप्य को प्रदर्शित करना चाहता है। जो कि समस्तपद में प्रयुक्त पूर्वपद 'उप' का अर्थ है।

'प्रायेण' इस पद का प्रयोजन यह है कि कहीं-कहीं अव्ययीभाव समास में पूर्वपदार्थ से भिन्न पदार्थ की भी प्रधानता देखी जाती है। जैसे–**उन्मत्तगङ्गो देशः।** 'उन्मत्तगङ्गः' समस्तपद में अन्यपदार्थ (देश) की प्रधानता होने पर भी 'अव्ययीभाव' समास होता है। **'उन्मत्ता गङ्गा यत्र स उन्मत्तगङ्गो देशः'** यहाँ बहुव्रीहि समास नहीं होता क्योंकि समासविधायक सूत्र अव्ययीभाव के अधिकार में पठित है।

[प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः।]

जिसमें प्रायः उत्तरपद के अर्थ की प्रधानता होती है, वह **तत्पुरुष** संज्ञक समास होता है। यह समास का तीसरा भेद है।

जैसे– **'राजपुरुषम् आनय'** इस वाक्य को सुनकर श्रोता राजा को नहीं लाता, अपितु राजा से सम्बद्ध पुरुष को लाता है। इस प्रकार यहाँ पूर्वपद का अर्थ उत्तरपद के अर्थ का विशेषण बन रहा है। अतः यहाँ उत्तरपद की यहाँ प्रधानता है।

'प्रायेण' पद का प्रयोजन यह है कि तत्पुरुष के ही अवान्तर भेद 'द्विगु' में जहाँ समाहार अर्थ, जो कि उत्तर पद का अर्थ नहीं होता, की प्रधानता होने पर भी 'तत्पुरुष' समास देखा जाता है।

[तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः। कर्मधारयभेदो द्विगुः।]

तत्पुरुष का ही एक भेद **कर्मधारय** है तथा कर्मधारय का एक अवान्तर भेद **द्विगु** है। जहाँ-जहाँ विशेषण का विशेष्य के साथ समास होता है वह **कर्मधारय** समास कहलाता है।[१] जैसे– **'कृष्णसर्पः'** (कृष्णश्चासौ सर्पः) यहाँ 'कृष्ण' विशेषण है तथा 'सर्प' विशेष्य है अतः यहाँ कर्मधारय समास है।

जब कर्मधारय समास में विशेषण संख्यावाचक हो तो उस कर्मधारय की 'द्विगु' संज्ञा होती है। जैसे– **'पञ्चगवम्'** (पञ्चानां गवां समाहारः) यहाँ 'पञ्च' संख्यावाचक पद है अतः यह 'द्विगु' समास है।

१. विशेषणं विशेष्येण बहुलम्। अष्टा० २.१. ५७

[प्रायेणाऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः।]

जहाँ प्राय: अन्यपद के अर्थ की प्रधानता होती है वहाँ **'बहुव्रीहि'** समास होता है। यह समास का चौथा भेद है। जैसे— **'पीताम्बरः गच्छति'** यहाँ समस्यमान पद 'पीत' तथा 'अम्बर' दोनों ही अचेतन है जो गमन की क्षमता नहीं रखते अपितु गमन-क्रिया पीतवर्ण से युक्त वस्त्र को धारण करने वाला कोई पुरुष कर रहा है। 'पीताम्बर:' इस के दोनों घटक पदों के अर्थ अन्यपद (पुरुष) के अर्थ के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं इसलिए यहाँ अन्यपद के अर्थ की ही प्रधानता है।

'प्रायेण' पद का प्रयोजन है कि कुछ स्थानों पर जैसे—'द्वित्रा' आदि में अन्य पदार्थ की प्रधानता न होने पर भी बहुव्रीहि समास हो जाए।

[प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः।]

जिस समास में प्राय: दोनों ही पदों के अर्थों की प्रधानता हो वह **'द्वन्द्व'** संज्ञक होता है। यह समास का पञ्चम भेद होता है। जैसे— **'शिवकेशवौ'** यहाँ शिव और केशव दोनों ही पदों के अर्थों की प्रधानता है, इसलिए यहाँ 'द्वन्द्व' समास है।

यहाँ प्रायेण का प्रयोजन है कि जहाँ समाहार-द्वन्द्व होता है वहाँ 'समाहार' अर्थ की ही प्रधानता होती है, समस्यमान पद गौण रहते हैं।

९०४ समर्थः पदविधिः २।१।१

पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः।

प०वि०—समर्थः १।१।। पदविधिः १।१।।

अर्थ—पद सम्बन्धी जो विधि या कार्य (समासादि) वह समर्थ पदों के आश्रित ही होता है।

सामर्थ्य—समर्थ से अभिप्राय उन पदों से है जो परस्पर सम्बद्ध अर्थ वाले होते हैं, या एक-दूसरे की आकाङ्क्षा को पूरा करते हैं। जैसे—**राज्ञः पुरुषः** इन दो पदों के मध्य जब समास विधान किया जाता है, तब प्रकृत सूत्र, जो कि परिभाषा सूत्र है[१], यह सुनिश्चित करता है कि समस्यमान पद समर्थ होने चाहिए। जब हम **'राज्ञः'** इस पद के अर्थ पर विचार करते हैं तो 'राजा का' यह अर्थ मन में एक आकाङ्क्षा पैदा करता है—'क्या'? 'पुरुष:' पद सुनने के पश्चात् यह आकाङ्क्षा शान्त हो जाती है। इसी प्रकार केवल 'पुरुष:' पद भी मन में एक प्रकार की इच्छा को जन्म देता है—कैसा पुरुष? 'राजा का' यह पद या पदार्थ उस आकाङ्क्षा की निवृत्ति करता है तथा दोनों पद 'राजा का पुरुष' इस समग्र अर्थ की प्रतीति कराते हैं जो अपने आप में सम्पूर्ण होता है, अन्य अर्थ की अपेक्षा नहीं रखता। इस प्रकार दोनों पद अपने-अपने अर्थों की सम्पूर्णता हेतु परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। यह परस्पर सापेक्षता ही उन पदों का परस्पर **सामर्थ्य** है।

१. परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती कृत्स्नं शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत् तद्यथा प्रदीपः सुप्रज्वलित एकदेशस्थः सर्वं वेश्माभिज्वलयति। म० भा०- २.१.१

समास एक ऐसी विधि है जो दो या दो से अधिक पदों के मध्य होती है। इसलिए समास केवल उन्हीं पदों के मध्य होता है जो समर्थ होते हैं, अर्थात् परस्पर सापेक्ष या सम्बद्ध होते हैं, असमर्थ पदों के मध्य नहीं। उदाहरण के लिए—'**कम्बलं राज्ञः पुरुषः देवदत्तस्य**' यहाँ 'राज्ञः' और 'पुरुषः' का समास नहीं होता क्योंकि यहाँ 'राज्ञः' का सम्बन्ध 'कम्बलम्' के साथ है 'पुरुषः' के साथ नहीं। इसी प्रकार 'पुरुषः' की स्वाभाविक आकाङ्क्षा की तुष्टि 'देवदत्तस्य' षष्ठ्यन्त पद करता है न कि 'राज्ञः'। अतः **राज्ञः** तथा **पुरुषः** पद साथ-साथ पठित होने पर भी उनमें परस्पर सापेक्षता (सामर्थ्य) के अभाव में उनका समास नहीं होता।

यह सामर्थ्य दो प्रकार का होता है—१. व्यपेक्षा, २. एकार्थीभाव।

१. **व्यपेक्षा सामर्थ्य**—जहाँ विग्रह वाक्य आदि में पद अपने-अपने अर्थों की सार्थकता हेतु सम्बद्ध पदों की अपेक्षा रखते हैं, वहाँ व्यपेक्षा सामर्थ्य होता है।

२. **एकार्थी सामर्थ्यः**—समस्त पदों में पूर्वोत्तरपद मिलकर एक विशिष्ट अर्थ की प्रतीति कराते हैं वहाँ एकार्थीभाव सामर्थ्य होता है।

१०५ प्राक्कडारात् समासः २।१।३

'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते।

प०वि०—प्राक् अ०।। कडारात् ५।१। समासः १।१।

'कडाराः कर्मधारये' (२.२.३८) से पूर्व सूत्र (वाऽऽहिताग्न्यादिषु) तक 'समासः' इस पद का अधिकार जाएगा। अर्थात् आगे उक्त अवधि तक सभी सूत्रों में 'समास' पद की अनुवृत्ति जाएगी।

यह **अधिकार** सूत्र है।

अधिकार सूत्र की प्रायः अपने स्थान पर कुछ भी सार्थकता नहीं होती, अपितु वह उत्तरवर्ती सूत्रों के अर्थों को पूरा करने में ही अपनी सार्थकता रखता है।

१०६ सह सुपा २।१।४

सुप् सुपा सह वा समस्यते। समासत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुक्।

प०वि०—सह अ०।। सुपा ३।१।। **अनु०**—सुप्, प्राक्कडारात्, समासः।

समास के अधिकार के अन्तर्गत पठित इस सूत्र में 'सुबामन्त्रिते०' (२।१।२) से 'सुप्' की अनुवृत्ति भी आ रही है। समास दो या दो से अधिक पदों के मध्य होने वाला कार्य (विधि) है इसलिए इस समास-प्रकरण में जहाँ भी समास विधान किया जाएगा वह समर्थ पदों का ही होगा, असमर्थों का नहीं।

अर्थः—सुबन्त का (समर्थ) सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है।

परार्थाभिधानं वृत्तिः। कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्चवृत्तयः। वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः।

पर अर्थात् एकार्थीभाव रूप विशिष्ट अर्थ का अभिधान (कथन) जिस के द्वारा किया जाता है उसे **वृत्ति** कहते हैं। **कृत्, तद्धित, समास, एकशेष** तथा **सनाद्यन्त धातु** ये पाँच वृत्तियाँ होती हैं। वृत्ति के अर्थ का बोध कराने वाला वाक्य **विग्रह**[1] कहलाता है। जैसे– 'राजपुरुष:' इत्यादि समस्त पदों के अर्थ की प्रतीति 'राज्ञः पुरुष:' इत्यादि वाक्यों से होती है, अत: इसे विग्रह कहा जाता है।

स च लौकिकोऽलौकिकश्चेति द्विधा। तत्र 'पूर्वं भूत:' इति लौकिक:। 'पूर्व अम्+भूत सु' इत्यलौकिक:। भूतपूर्व:। भूतपूर्वे चरडिति निर्देशात् पूर्वनिपात:। (वा०) **इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च। वागर्थौ इव–वागर्थाविव।**

विग्रह दो प्रकार का होता है–लौकिक विग्रह तथा अलौकिक विग्रह। 'भूतपूर्व:' इस समस्तपद का लौकिक विग्रह 'पूर्वं भूत:' तथा अलौकिक विग्रह 'पूर्व अम्+भूत सु' इस प्रकार होगा। 'भूतपूर्व:' इस पद में 'भूत' शब्द का पूर्वनिपात (पूर्व प्रयोग) पाणिनि के 'भूतपूर्वे चरट्' इस सूत्र में प्रयोग को प्रमाण मानकर किया गया है।

(वा०) 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च'–अर्थ–'इव' इस अव्यय पद के साथ (समर्थ) सुबन्त का समास होता है और समास में अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का लोप नहीं होता है। जैसे–**'वागर्थौ इव'** यहाँ समास होने पर विभक्ति का 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो:' से लुक् (अदर्शन) प्राप्त था जो इस वार्तिक के द्वारा निषेध के कारण नहीं हुआ, इसलिए 'एचोऽयवायाव:' से 'औ' को 'आव्' आदेश होकर 'वागर्थाविव' रूप बना।

उदाहरणों की प्रक्रिया से पहले दो शब्द **लौकिक विग्रह** तथा **अलौकिक** विग्रह को जान लेना चाहिए।

लौकिक विग्रह:– समस्त पद के अर्थ को स्पष्ट करने हेतु जिस वाक्य का प्रयोग किया जाता है तथा भाषा में भी उसका उसी रूप में प्रयोग होता है वह लौकिक विग्रह कहलाता है। जैसे–'राजपुरुष:' इस समस्त पद के स्थान पर भाषा में 'राज्ञः पुरुष:' इस पद समूह का प्रयोग भी साधु माना जाता है इसलिए 'राज्ञः पुरुष:' लौकिक विग्रह है।

अलौकिक विग्रह:– व्याकरण की प्रक्रिया को प्रदर्शित करने के लिए जब समस्त-पद के घटक पदों को उसके मूल प्रातिपदिक तथा उसके साथ प्रयुक्त की जाने वाली विभक्तियों के मूल स्वरूप (सुपों) के साथ दिखाया जाता है तो वह **अलौकिक** विग्रह कहलाता है। इस विग्रह का लोकभाषा में प्रयोग नहीं किया जाता, केवल शब्दसिद्धि-प्रक्रिया के प्रदर्शन में ही इसका प्रयोग होता है। इसलिए इसे अलौकिक विग्रह कहा जाता है। जैसे–**'राजपुरुष:'** इस समस्तपद का 'अलौकिक विग्रह' **'राजन् ङस् पुरुष सु'** इस रूप में होगा।

प्रस्तुत सूत्र में प्रदत्त उदाहरण 'भूतपूर्व:' की सिद्धि-प्रक्रिया निम्न प्रकार से है-

भूतपूर्व:

पूर्वं भूत:　　　　　　　(लौ० वि०)

१.　विशेषेण गृह्यते=ज्ञायतेऽनेन समासार्थ इति विग्रह:। पदमञ्जरी (२.१.१)

पूर्व अम् भूत सु (अलौ० वि०) 'सह सुपा' से सुबन्त (पूर्व अम्) का समर्थ सुबन्त (भूत सु) के साथ विकल्प से समास हुआ है। समास की कोई विशेष संज्ञा अर्थात् अव्ययीभावादि न होने से यह **केवल समास है**। 'कृत्तद्धितसमासाश्च' कृदन्त तद्धितान्त तथा समास की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। अत: यहाँ समास होने के कारण 'पूर्व+अम् भूत+सु' इस समुदाय की '**प्रातिपदिक**' संज्ञा होने से 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो:' से प्रातिपदिक के अवयवभूत सुपों का ('अम्' तथा 'सु' का) 'लुक्' हुआ

पूर्व भूत **पूर्व** और **भूत** इन दोनों शब्दों में किस शब्द का पूर्व प्रयोग हो इसका निर्णय सामान्यत: समास में **उपसर्जन** पद को देखकर किया जाता है। 'उपसर्जन' संज्ञा विधायक सूत्र 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' यह बताता है कि समास विधायक सूत्र में जो प्रथमा से निर्दिष्ट पद है उसकी 'उपसर्जन' संज्ञा होती है। प्रस्तुत समास विधायक सूत्र 'सह सुपा' में प्रथमान्त 'सुप्' की अनुवत्ति है इस प्रकार वहाँ प्रथमा से निर्दिष्ट 'सुप्' अर्थात् सुबन्त की 'उपसर्जन' संज्ञा प्राप्त होगी। 'सुपा' तृतीयान्त पद में भी 'सुप्' प्रातिपदिक है। विग्रह वाक्य में 'पूर्व' तथा 'भूत' दोनों ही पद सुबन्त है। समस्यमान दोनों पदों के सुबन्त होने के कारण उन दोनों की ही 'उपसर्जन' संज्ञा होने लगेगी तथा 'उपसर्जनम् पूर्वम्' सूत्र से दोनों पदों का बारी-बारी से पूर्वप्रयोग प्राप्त होने लगेगा। इस प्रकार वहाँ किसी एक पद के पूर्वनिपात में कोई एकतरपक्षपातिनी युक्ति (विनिगमना) न होने से अव्यवस्था हो जायेगी। इसलिए इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए आचार्य के द्वारा प्रयुक्त 'भूतपूर्वे चरट्' सूत्र में 'भूत' शब्द के पूर्वनिपात को निदर्शन मानकर 'भूत' पद का पूर्वप्रयोग होता है।

भूत पूर्व 'भूतपूर्व' इसकी समास संज्ञा होने के कारण 'प्रातिपदिक' संज्ञा है इस कारण 'स्वौजस०' इत्यादि सूत्र से इक्कीस प्रत्यय प्राप्त हुए। स्वाद्युत्पत्ति की पूर्व प्रदर्शित प्रक्रिया की तरह यहाँ भी 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' से प्रातिपदिकार्थ मात्र की विवक्षा में प्रथमा विभक्ति तथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' से एकवचन की विवक्षा में 'सु' आया

भूतपूर्व सु 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से उकार की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोप:' से उसका लोप हुआ

भूतपूर्व स् 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'ससजुषो रु:' से सकारान्त पद के अन्तिम अल् सकार के स्थान में 'रु' आदेश हुआ

भूत पूर्व रु	'उपदेशेऽज०' से उकार की 'इत्' संज्ञा और 'तस्य लोपः' से उकार का लोप हुआ
भूतपूर्व र्	'विरामोऽवसानम्' से विराम की अवसान संज्ञा होने पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'अवसान' में रेफ को विसर्ग आदेश होकर
भूतपूर्वः	रूप सिद्ध होता है।

अथ अव्ययीभावः

९०७. अव्ययीभावः २।१।५

अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात्।

प०वि०–अव्ययीभावः १।१।।

यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार 'तत्पुरुषः' (२।१।२२) से पूर्व तक जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि इस सूत्र के अधिकार में पठित सूत्रों के द्वारा किये गये सभी समासों की 'अव्ययीभाव' संज्ञा होगी।

अव्ययीभाव[1]–यह अन्वर्थ संज्ञा हैं इसमें पूर्वपद के अर्थ की प्रधानता होती है।

९०८. अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्यया सम्प्रतिशब्द-प्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु। २।१। ६

विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह नित्यं समस्यते। प्रायेणाऽविग्रहो नित्यसमासः, प्रायेणास्वपदविग्रहो वा। विभक्तौ–'हरि ङि+अधि' इति स्थिते–

प०वि०–अव्ययं १।१।। विभक्तिसमीप-स्मृद्धि.........वचनेषु ७।३।।

अनु०–समासः, सुप्, सह, सुपा, अव्ययीभावः।

अर्थ–विभक्ति (सप्तमी आदि के अर्थ 'अधिकरण' आदि), समीप (के पास), समृद्धि (सम्पन्नता), व्यृद्धि (समृद्धि का नाश), अर्थाभाव (वस्तु का अभाव), अत्यय (नाश अथवा समाप्ति), असम्प्रति (अनुचित), शब्दप्रादुर्भाव (शब्द की अभिव्यक्ति पश्चात् (बाद में या पीछे), यथा (यथा के चार अर्थ–योग्यता, वीप्सा, पदार्थ–अनतिवृ.. और सादृश्य), आनुपूर्व्य (क्रमानुसार), यौगपद्य (एक साथ), सादृश्य (समानता), सम्पत्ति (वैभव), शाकल्य (सम्पूर्णता), और अन्तवचन (समाप्ति पर्यन्त) इन अर्थों में विद्यमान अव्ययों का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है और वह **'अव्ययीभाव'** संज्ञक होता है।

'अधिहरि' की सिद्धि-प्रक्रिया 'उपसर्जनं पूर्वम्' (९१०) की व्याख्या में देखें।

---

१. (क) अन्वर्थसंज्ञा चेयमिति–अनव्ययमव्ययं भवतीत्यव्ययीभावः'। बा० ०म०। २।१।५
(ख) अन्वर्थसंज्ञा चेयं महती पूर्वपदार्थप्राधान्यमव्ययीभावस्य दर्शयति। का० वृ० २।१।५

१०९. प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् १।२।४३

समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं स्यात्।

प०वि०–प्रथमानिर्दिष्टम् १।१।। समासे ७।१।। उपसर्जनम् १।१।।

यह संज्ञा सूत्र है

अर्थ–समासविधायक सूत्र में प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट जो पद, उसकी (विग्रह वाक्य में उस पद के वाच्य की) **'उपसर्जन'** संज्ञा होती है। जैसे–'अव्ययं विभक्ति० सूत्र में प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट पद 'अव्ययम्' है इसलिए विग्रह वाक्य में जो भी अव्यय होगा उसकी **उपसर्जन** संज्ञा हो जाएगी।

११०. उपसर्जनं पूर्वम् २।२।३०

समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम्। इत्यधेः प्राक् प्रयोगः। सुपो लुक्। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तिः। 'अव्ययीभावश्च' इत्यव्ययत्वात् सुपो लुक्–अधिहरि।

प० वि–उपसर्जनम् १।१।। पूर्वम् १।१।। **अनु०**–समासः।

अर्थ–समास में **उपसर्जन** संज्ञक का पूर्वनिपात होता है।

जैसे-'हरि ङि+ अधि' यहाँ 'अधि' अव्यय उपसर्जन संज्ञक है, इसलिए उसका प्रकृत सूत्र से पूर्वप्रयोग होता है। सुपों का लुक् होकर तत्पश्चात् एकदेशविकृतन्याय से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने के कारण स्वाद्युत्पत्ति होगी तथा 'अव्ययीभावश्च' सूत्र से अव्ययीभाव संज्ञा होने से सुपों का लुक् हो जाएगा। इस प्रकार 'अधिहरि' यह रूप सिद्ध होगा। 'अधिहरि' शब्द की सिद्धि–प्रक्रिया निम्नलिखत प्रकार से समझनी चाहिए–

अधिहरि	हरौ इति, लौ० वि० (हरि के विषय में)
हरि ङि अधि	(अलौकिक विग्रह) 'अव्ययं विभक्ति०' से विभक्ति, समीप, समृद्धि इत्यादि में विद्यमान अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है, यहाँ 'अधि' अव्यय 'सप्तमी विभक्ति' के अर्थ में विद्यमान है, इसलिए उसका समर्थ सुबन्त 'हरि' के साथ अव्ययीभाव समास हुआ। समास होने के कारण 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से प्रातिपदिक के अवयव सुपों का लुक् हुआ
हरि अधि	'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' से समास विधायक सूत्र में प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट पद की उपसर्जन संज्ञा होती है। चूंकि 'अव्ययं विभक्ति०' सूत्र में 'अव्ययम्' पद प्रथमा–निर्दिष्ट है, इसलिए अव्यय (अधि) की 'उपसर्जन' संज्ञा होने पर 'उपसर्जनं

	पूर्वम्' से उपसर्जन संज्ञक 'अधि' का समास में पूर्व प्रयोग हुआ
अधिहरि	समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' से प्रातिपदिकार्थ मात्र की विवक्षा में प्रथमा विभक्ति प्राप्त हुई तथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' से एकवचन की विवक्षा में 'सु' आया
अधिहरि सु	'अव्ययीभावश्च' से अव्ययीभाव समास की 'अव्यय' संज्ञा होने के कारण 'अव्ययादाप्सुप:' से अव्यय से उत्तर 'सु' का लुक् होकर
अधिहरि	रूप सिद्ध होता है।

९११. अव्ययीभावश्च २।४।१८

अयं नपुंसकं स्यात्। गाः पातीति गोपास्तस्मिन्–अधिगोपम्।

प०वि०–अव्ययीभावः १।१।। च अ०।। **अनु०**–नुपंसकम्।

अर्थ–अव्ययीभाव समास (में समस्त पद का लिङ्ग) नुपंसकलिङ्ग होता है।

'अधिगोपम्' शब्द की सिद्धि-प्रक्रिया 'नाऽव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' सूत्र में देखें।

९१२. नाऽव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः २।४।८३

अदन्तादव्ययीभावात्सुपां न लुक्, तस्य पञ्चमीं विना अमादेशः स्यात्।

प०वि०–न अ०।। अव्ययीभावात् ५।१।। अतः ५।१।। अम् १।१।। तु अ०।। अपञ्चम्याः ५।१।। **अनु०**–सुपः, लुक्।

अर्थ–ह्रस्व अकारान्त अव्ययीभाव से उत्तर 'सुप्' का लुक् नहीं होता, अपितु 'सुप्' के स्थान में अमादेश होता है, पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर।

अधिगोपम्	गोपि इति, लौ० वि०, (गोप के विषय में)
गोपा ङि अधि	(अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से पूर्ववत् विभक्त्यर्थ में विद्यमान 'अधि' का समास, 'कृतद्धितसमासा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से 'ङि' का लुक् हुआ
गोपा अधि	'प्रथमादिर्निष्टं समास उपसर्जनम्' से समास विधायक सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट 'अधि' अव्यय की 'उपसर्जन' संज्ञा होने पर 'उपसर्जनं पूर्वम्' से 'अधि' (उपसर्जन) का पूर्व प्रयोग हुआ
अधि गोपा	'अव्ययीभावश्च' से अव्ययीभाव समास का लिङ्ग नपुंसक होता है, इसलिए 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' से नपुंसकलिङ्ग जो

अजन्त प्रातिपदिक उसके अन्तिम 'अच्' के स्थान पर ह्रस्व होता है इसलिए 'आ' को ह्रस्व अकार हुआ

अधि गोप — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण०' से प्रथमा विभक्ति हुई तथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' से एकवचन की विवक्षा में 'सु' आया

अधि गोप सु — 'अव्ययीभावश्च' से अव्ययीभाव समास की भी 'अव्यय' संज्ञा होती है, इसलिए 'अव्ययादाप्सुपः' से अव्यय से उत्तर 'सुप्' अर्थात् 'सु' का लुक् प्राप्त हुआ जिसे बाधकर (रोककर) 'नाऽव्ययीभावादतो०' से अकारान्त अव्ययीभाव से उत्तर सुपों का लुक् नहीं होता, अपितु उसके स्थान में 'अम्' आदेश हो जाता है, पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर। इसीलिए यहाँ 'सु' के स्थान पर 'अम्' आदेश हुआ

अधि गोप अम् — 'अमि पूर्वः' से 'अक्' से उत्तर अम् सम्बन्धी 'अच्' परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर पूर्वरूप (अकार) एकादेश होकर

अधिगोपम् — रूप सिद्ध होता है।

९१३. तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् २।४।८४

अदन्तादव्ययीभावात्तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् अम्भावः स्यात्। उपकृष्णम्, उपकृष्णेन। मद्राणां समृद्धिः-सुमद्रम्। यवनानां व्यृद्धिः-दुर्यवनम्। मक्षिकाणामभावः-निर्मक्षिकम्। हिमस्यात्ययः-अतिहिमम्। निद्रा संप्रति न युज्यत इति अतिनिद्रम्। हरिशब्दस्य प्रकाशः-इतिहरि। विष्णोः पश्चात्-अनुविष्णु। योग्यता-वीप्सा-पदार्थाऽनतिवृत्ति-सादृश्यानि यथार्थाः रूपस्य योग्यम्-अनुरूपम्। अर्थमर्थं प्रति-प्रत्यर्थम्। शक्तिमनतिक्रम्य- यथाशक्ति।

प०वि०—तृतीयासप्तम्योः ६।२।। बहुलम् १।१।। **अनु०**—अव्ययीभावात्, अतः, अम्।

अर्थ—ह्रस्व अकारान्त अव्ययीभाव से उत्तर तृतीया तथा सप्तमी विभक्ति के स्थान पर बहुलता से **'अम्'** आदेश होता है।

यह सूत्र 'नाऽव्ययीभावा०' (९१२) का अपवाद है। यहाँ 'बहुलम्' कहने का अभिप्राय यह है कि तृतीया और सप्तमी विभक्ति के स्थान पर कभी 'अम्' आदेश हो जाता है और कभी नहीं भी होता।

बहुलम्—'बहुल' शब्द वस्तुतः केवल प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति अर्थ को ही नहीं कहता, अपितु विभाषा (विकल्प), व्यस्थित विकल्प अथवा व्याकरण के नियमों से अविहित कार्यों की ओर भी संकेत करता है। जैसा कि निम्नलिखित कारिका का अभिप्राय है—

क्वचित्प्रवृत्तिः, क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥

उपकृष्णम्, उपकृष्णेन	कृष्णस्य समीपम् तेन, लौकिक विग्रह
कृष्ण ङस् उप	(अलौ० वि०) पूर्ववत् 'अव्ययं विभक्ति०' से समीप अर्थ में 'उप' अव्यय का समास हुआ, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातु०' से सुपों का लुक् हुआ
कृष्ण उप	'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'उप' अव्यय की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
उपकृष्ण	समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से 'सु आदि इक्कीस प्रत्यय प्राप्त हुए। 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से अनभिहित कर्तृत्व की विवक्षा में तृतीया विभक्ति और 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' से एकवचन की विवक्षा में 'टा' आया
उप कृष्ण टा	'अव्ययीभावश्च' सूत्र से अव्ययीभाव समास की 'अव्यय' संज्ञा होती है, इसलिए 'अव्ययादाप्सुपः' से अव्यय से उत्तर 'टा' (सुप्) का लुक् प्राप्त हुआ। अपवाद होने के कारण 'नाऽव्ययीभावाद्०' ने (जिसे बाधकर) 'सुप्' (टा) के स्थान में नित्य 'अम्' आदेश प्राप्त कराया। इस सूत्र का अपवाद होने के कारण 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' ने अकारान्त अव्ययीभाव से उत्तर तृतीया और सप्तमी के स्थान में बहुल करके 'अम्' आदेश का विधान कर दिया। प्रस्तुत सन्दर्भ में तृतीया विभक्ति, एक व० 'टा' के स्थान पर बहुलता से 'अम्' आदेश हुआ
उप कृष्ण अम्	'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
उपकृष्णम्	रूप सिद्ध होता है।
उपकृष्णेन	
उप कृष्ण टा	जब 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' से 'टा' के स्थान पर अमादेश नहीं हुआ तब 'टाङसिङसामिनात्स्याः' से 'टा' के स्थान में 'इन' आदेश हुआ
उप कृष्ण इन	'आद् गुणः' से अवर्ण से अच् (इ) परे रहते पूर्व और पर के स्थान में गुण (ए) एकादेश होकर
उपकृष्णेन	रूप सिद्ध होता है।
सुमद्रम्	मद्राणां समृद्धिः, लौ० वि०। (मद्र देश के राजाओं की समृद्धि)
मद्र आम् सु	(अलौ० वि०) पूर्ववत् 'अव्ययं विभक्ति०' से समृद्धि अर्थ में विद्यमान अव्यय 'सु' का समास होकर 'कृत्तद्धितसमा०' से

	समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से सुपों का लुक् होने पर 'प्रथमा निर्दिष्टं०' से 'सु' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उपसर्जन का पूर्व प्रयोग हुआ
सु भद्र	पुनः पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदि-कार्थलिङ्ग०' से प्रथमा विभक्ति तथा 'द्वयेकयोर्द्वि०' से एकवचन की विवक्षा में 'सु' आया
सुमद्र सु	'नाऽव्ययीभावाद्०' से अदन्त अव्ययीभाव से उत्तर 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
सुमद्रम्	यह रूप सिद्ध होता है।
दुर्यवनम्	यवनानां व्यृद्धि, लौ० वि० (यवनों की समृद्धि का अभाव)
यवन आम् दुर्	(अलौ० वि०) सुमद्रम् के समान सभी समासादि कार्य होकर 'दुर्यवनम्' रूप सिद्ध होता है।
निर्मक्षिकम्	मक्षिकाणाम् अभावः, लौ० वि० (मक्खियों का अभाव)
मक्षिका आम् निर्	(अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' सूत्र से **अभाव** अर्थ में विद्यमान अव्यय 'निर्' का समर्थ सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास, पूर्ववत् विभक्तियों का लुक् होने पर 'निर्' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा उपसर्जन का पूर्व प्रयोग हुआ
निर् मक्षिका	'अव्ययीभावश्च' से अव्ययीभाव समास नपुंसकलिङ्ग में होने के कारण 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' से नपुंसकलिंग में विद्यमान प्रातिपादिक के अच् (आकार) को ह्रस्व (अ) हुआ
निर् मक्षिक	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्रथमा विभक्ति, एकवचन में 'सु' आया तथा 'नाऽव्ययीभावाद्०' से 'सु' को 'अम्' और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
निर्मक्षिकम्	रूप सिद्ध होता है।

अतिहिमम्—हिमस्य अत्ययः, लौ० वि०, 'हिम ङस् अति' (अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' सूत्र से **'अत्यय'** अर्थ में विद्यमान अव्यय 'अति' का समास होकर तथा 'सुमद्रम्' की तरह सभी कार्य होकर 'अतिहिमम्' रूप सिद्ध होता है।

अतिनिद्रम्—निद्रा सम्प्रति न युज्यते, लौ० वि० (इस समय निद्रा उचित नहीं है)। 'निद्रा सु अति' (अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से **'असम्प्रति'** अर्थ में समास होने पर विभक्तियों का लुक्, उपसर्जनसंज्ञक 'अति' का पूर्व प्रयोग तथा ह्रस्व इत्यादि सभी कार्य 'निर्मक्षिकम्' के समान होकर 'अतिनिद्रम्' रूप सिद्ध होता है।

इतिहरि—हरि शब्दस्य प्रकाशः, लौ० वि० (हरि शब्द का प्रादुर्भाव) 'हरि ङस्

इति' (अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' सूत्र से **'शब्द-प्रादुर्भाव'** अर्थ में विद्यमान 'इति' अव्यय का सुबन्त के साथ समास, पूर्ववत् विभक्तियों का लुक्, उपसर्जन संज्ञा, उपसर्जनसंज्ञक का पूर्व प्रयोग, स्वाद्युत्पत्ति होकर 'अव्ययादाप्सुपः से 'सु' का लुक् होकर 'अधिहरि' (९२०) के समान 'इतिहरि' रूप सिद्ध होगा।

अनुविष्णु—विष्णोः पश्चात्, लौ० वि० (विष्णु के पश्चात्) 'विष्णु ङस् अनु' (अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से **'पश्चात्'** अर्थ में विद्यमान अव्यय 'अनु' का समास होकर विभक्तिलुक् आदि कार्य 'अधिहरि' के समान होकर 'अनुविष्णु' रूप सिद्ध होता है।

नोट—आगे प्रदर्शित चारों उदाहरण यथा के अर्थ में विद्यमान अव्ययों के हैं। 'यथा' के चार अर्थ माने जाते हैं। १. योग्यता, २. वीप्सा, ३. पदार्थानतिवृत्ति, ४. सादृश्य।

अनुरूपम्	रूपस्य योग्यम्, लौ० वि० (रूप के योग्य)
रूप ङस् अनु	(अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से 'यथा' के अर्थ योग्यता के वाचक 'अनु' अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास, पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति का लुक्, 'प्रथमा निर्दिष्टं०' से अव्यय 'अनु' की 'उपसर्जन' संज्ञा और 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
अनु रूप	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा-एक वचन में 'सु' आया
अनु रूप सु	'अव्ययीभावश्च' से अव्ययीभाव समास की 'अव्यय' संज्ञा होने के कारण 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् प्राप्त था जिसे बाधकर 'नाऽव्ययीभावाद्०' से ह्रस्व अकारान्त अव्ययीभाव से उत्तर 'सु' के स्थान पर 'अम्' आदेश हुआ
अनु रूप अम्	'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
अनुरूपम्	रूप सिद्ध होता है।
प्रत्यर्थम्	अर्थम् अर्थं प्रति, लौ० वि० (एक-एक अर्थ को व्याप्त करके या प्रत्येक अर्थ में)
अर्थम् प्रति	(अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' सूत्र से 'वीप्सा' अर्थ में 'प्रति' अव्यय का समास हुआ। पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्तियों का लुक्, 'उपसर्जन' संज्ञा और उपसर्जन 'प्रति' का पूर्व प्रयोग होने पर
प्रति अर्थ	'इको यणचि' से 'अच्' परे रहते 'इक्' (इ) के स्थान पर यणादेश (य्) हुआ
प्रत्यर्थ	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्रथमा विभक्ति, एकवचन में 'सु' आने पर 'नाव्ययीभावादतो०' से ह्रस्व अकारान्त

अव्ययीभाव से उत्तर 'सु' को 'अम्' आदेश और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर

प्रत्यथम् — रूप सिद्ध होता है।

यथाशक्ति — शक्तिमनतिक्रम्य, लौ० वि० (शक्ति का अतिक्रमण न करके, शक्ति के अनुसार)

शक्ति अम् यथा — (अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से 'पदार्थानतिवृत्ति' अर्थ में वर्तमान 'यथा' अव्यय का सुबन्त के साथ समास हुआ। 'अधिहरि' (९१०) के समान विभक्तियों का लुक्, उपसर्जन संज्ञक 'यथा' अव्यय का पूर्व प्रयोग, पुनः स्वाद्युत्पत्ति प्रथमा विभक्ति, एक वचन में 'सु' आने पर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होकर

यथाशक्ति — रूप सिद्ध होता है।

९१४. अव्ययीभावे चाऽकाले ६।३।८१

सहस्य सः स्यादव्ययीभावे न तु काले। हरेः सादृश्यम् सहरि। ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येण इति अनुज्येष्ठम्। चक्रेण युगपत्–सचक्रम्। सदृशः सख्या–ससखि। क्षत्राणां संपत्तिः-सक्षत्रम्। तृणमप्यपरित्यज्य–सतृणमत्ति। अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते- साग्नि।

प०वि०–अव्ययीभावे ७।१।। च अ०।। अकाले ७।१।। **अनु०**–उत्तरपदे, सहस्य, सः।

अर्थः–यदि कालवाचक उत्तरपद परे न हो तो अव्ययीभाव समास में '**सह**' के स्थान पर '**स**' आदेश होता है।

सहरि — हरेः सादृश्यम्, लौ० वि० (हरि की समानता)

हरि ङस् सह — (अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से **सादृश्य** अर्थ में विद्यमान अव्यय 'सह' का 'हरि' सुबन्त के साथ समास, पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति का लुक्, 'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'सह' की उपसर्जन संज्ञा और 'उपसर्जनं पूर्वम्' से 'उपसर्जन' का पूर्व प्रयोग आदि कार्य होने पर

सह हरि — 'अव्ययीभावे चाऽकाले' से अव्ययीभाव समास में कालवाची उत्तरपद परे न होने पर 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश हुआ

सहरि — स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्रथमा विभक्ति, एकवचन में 'सु' आने पर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होकर

सहरि — रूप सिद्ध होता है।

अनुज्येष्ठम् — ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्येण, लौ० वि० (ज्येष्ठ (बड़े) के क्रम से)

ज्येष्ठ ङस् अनु — (अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से '**अनुक्रम**' अर्थ में विद्यमान अव्यय 'अनु' का 'ज्येष्ठ' के साथ समास हुआ,

	पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्ति का लुक्, 'उपसर्जन' संज्ञा, उसका पूर्व प्रयोग, स्वाद्युत्पत्ति से प्रथमा विभक्ति, एकवचन में 'सु' आने पर 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्व०' से 'सु' के स्थान में 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
अनुज्येष्ठम्	रूप सिद्ध होता है।
सचक्रम्	चक्रेण युगपत्, लौ० वि० (चक्र के एकदम साथ)
चक्र टा सह	(अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से 'यौगपद्य' अर्थ में 'सह' अव्यय का 'चक्र' के साथ समास होने पर पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'टा' विभक्ति का लुक्, 'सह' की 'उपसंर्जन' संज्ञा और उसका पूर्व प्रयोग हुआ
सह चक्र	'अव्ययीभावे चाऽकाले' से 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश हुआ
स चक्र	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'सु' के स्थान में 'नाव्ययीभावादतो चा०' से 'अम्' और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होने पर
सचक्रम्	रूप सिद्ध होता है।
ससखि	सख्या सदृशः, लौ० वि० (मित्र के समान)
सखि टा सह	(अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से **'सादृश्य'** अर्थ में विद्यमान अव्यय 'सह' का 'सखि' सुबन्त के साथ समास होने पर पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्ति का लुक्, 'उपसर्जन' संज्ञा और उपसर्जन का पूर्व प्रयोग हुआ
सह सखि	'अव्ययीभावे०' से 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश हुआ
ससखि	पूर्ववत् प्र० वि०, एक व० में 'सु' और 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् आदि कार्य होकर
ससखि	रूप सिद्ध होता है
सक्षत्त्रम्	क्षत्त्राणाम् संपत्तिः, लौ० वि० (क्षत्रियों की संपत्ति)
क्षत्त्र आम् सह	(अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से **'संपत्ति'** अर्थ में विद्यमान 'सह' अव्यय का सुबन्त के साथ समास हुआ। अन्य सभी कार्य 'सचक्रम्' के समान होकर
सक्षत्त्रम्	रूप सिद्ध होता है।
सतृणम्	तृणमप्यपरित्यज्य, लौ० वि० (तिनको को भी न छोड़कर)
तृण अम् सह	(अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से **'साकल्य'** (संपूर्णता)

	अर्थ में विद्यमान 'सह' अव्यय का 'तृण' सुबन्त के साथ समास हुआ। अन्य सभी कार्य 'सचक्रम्' के समान होकर
सतृणम्	रूप सिद्ध होता है।
साग्नि	अग्निना सह, लौ० वि० (अग्नि चयन ग्रन्थ तक)
अग्नि टा सह	(अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से **'अन्तवचन'** अर्थात् संकल्प की अपेक्षा से समाप्ति के अर्थ में विद्यमान अव्यय 'सह' का सुबन्त के साथ समास, **ससखि** के समान विभक्ति का लुक्, **सह** का पूर्व प्रयोग होने पर 'अव्ययीभावे चाकाले' से 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश हुआ
स अग्नि	'अकः सवर्णे दीर्घः' से 'अक्' से उत्तर सवर्ण 'अच्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में दीर्घ एकादेश हुआ
साग्नि	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति तथा 'सु' का लुक् आदि कार्य **ससखि** के समान होकर
साग्नि	रूप सिद्ध होता है।

११५. नदीभिश्च २।१।२०

नदीभिः सह संख्या समस्यते वा समाहारे चायमिष्यते। पञ्चगङ्गम्। द्वियमुनम्।

प०वि०–नदीभिः ३।३।। च अ०।। **अनु०**–संख्या, सह, सुप्, सुपा, अव्ययीभावः।

अर्थ–नदीवाची सुबन्तो के साथ संख्यावाची सुबन्तों का समास होता है और वह 'अव्ययीभाव' संज्ञक होता है।

(वा०)–'समाहारे चायमिष्यते'। अर्थ–यह समास 'समाहार' अर्थात् समुदाय अर्थ में होता है।

पञ्चगङ्गम्	पञ्चानां गङ्गानां समाहारः, लौ० वि० (पाँच गङ्गाओं का समूह)
पञ्चन् आम् गङ्गा आम्	(अलौ० वि०) 'नदीभिश्च' से नदीवाचक सुबन्त के साथ संख्यावाचक 'पञ्चन्' का 'अव्ययीभाव' समास हुआ पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक्, 'प्रथमा निर्दिष्टं०' से संख्या की 'उपसर्जन' संज्ञा[१] तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
पञ्चन् गङ्गा	'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से प्रातिपदिक संज्ञक जो पद, तदन्त नकार का लोप हुआ
पञ्च गङ्गा	'अव्ययीभावश्च' से अव्ययीभाव समास नपुंसकलिङ्ग में होता

१. 'प्रथमादिर्निष्टं समास उपसर्जनं' से समास विधायक सूत्र 'नदीभिश्च' में प्रथमान्त 'संख्या' पद की अनुवृत्ति होने से प्रथमा से निर्दिष्ट पद 'संख्या' के वाच्य 'पञ्चन्' की उपसर्जन संज्ञा होती है।

	है, इसलिए 'ह्रस्वो नपुंसके प्राति०' से नपुंसकलिङ्ग में विद्यमान अजन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हुआ
पञ्च गङ्ग	'निर्मक्षिकम्' के समान प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'नाव्ययीभावाद्०' से 'सु' को 'अम्' आदेश और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
पञ्चगङ्गम्	रूप सिद्ध होता है।
द्वियमुनम्	द्वयोः यमुनयोः समाहारः, लौ० वि० (दो यमुनाओं का समूह)
द्वि ओस् यमुना ओस्	(अलौ० वि०) 'नदीभिश्च' से समास होने पर पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्तियों का लुक्, 'उपसर्जन' संज्ञा तथा उपसर्जन का पूर्व-प्रयोग होने पर
द्वि यमुना	'अव्ययीभावश्च' से पूर्ववत् 'अव्यय' संज्ञा होने के कारण 'ह्रस्वो नपुं०' से 'आ' को ह्रस्व हुआ
द्वि यमुन	स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
द्वियमुन सु	'नाव्ययीभावाद्०' से 'सु' को 'अम्' आदेश हुआ
द्वियमुन अम्	'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
द्वियमुनम्	रूप सिद्ध होता है।

९१६. तद्धिताः ४।१।७६

आ पञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम्।

प०वि०—तद्धिताः १। ३।।

यह अधिकार-सूत्र है। इस सूत्र से लेकर पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, वे **'तद्धित'** संज्ञक होते हैं।

९१७. अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ५।४।१०७

शरदादिभ्यष्टच् स्यात् समासान्तोऽव्ययीभावे। शरदः समीपम्-उपशरदम्। प्रतिविपाशम् (ग० सू०) जरायाः जरस्। उपजरसमित्यादि।

प०वि०—अव्ययीभावे ७।१।। शरत्प्रभृतिभ्यः ५।३।। **अनु०**—तद्धिताः, समासान्ताः, टच्।

अर्थः—अव्ययीभाव समास में **'शरद्'**[१] आदि प्रातिपदिकों से 'तद्धित' संज्ञक समासान्त **'टच्'** प्रत्यय होता है।

---

१. पाणिनि ने अपने सूत्रों में अनेक स्थानों पर गणों का निर्देश किया है शरदादिगण भी गणपाठ में पठित अनेक शब्दों अथवा प्रातिपदिकों का समूह है, जिनके प्रारम्भ में 'शरद्' शब्द पढ़ा गया है।

उपशरदम् — शरदः समीपम्, लौ० वि० (शरद् के समीप)

शरद् ङस् उप — (अलौ वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से '**समीप**' अर्थ में विद्यमान 'उप' अव्यय का समास हुआ। पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति का लुक्, 'प्रथमा निर्दिष्टं०' से 'उप' की 'उपसर्जन' संज्ञा एवं 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्वप्रयोग हुआ

उप शरद् — 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' से 'शरद्' शब्द शरदादिगण में पठित होने के कारण समासान्त 'टच्' प्रत्यय हुआ

उप शरद् टच् — 'हलन्त्यम्' से चकार की तथा 'चुटू' से टकार की इत् संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से इत्संज्ञकों का लोप हुआ

उप शरद् अ — पूर्ववत् प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'नाव्ययीभावाद्०' से 'सु' के स्थान पर 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर

उपशरदम् — रूप सिद्ध होता है।

प्रतिविपशम् — विपाशम् प्रति, लौ० वि० (विपाशा व्यास नदी की तरफ)

विपाश् अम् प्रति — (अलौ० वि०) 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' से 'आभिमुख्य' (दिशासूचक) सूचक 'प्रति' अव्यय का चिह्नवाची सुबन्त 'विपाश्' के साथ अव्ययीभाव संज्ञक समास हुआ है। पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्तियों का लुक्, 'प्रति' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा उपसर्जन का पूर्व प्रयोग हुआ

प्रति विपाश् — 'विपाश्' शब्द शरदादिगण में पठित है इसलिए 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' से समासान्त 'टच्' प्रत्यय हुआ

प्रति विपाश् टच् — पूर्ववत् अनुबन्ध-लोप, स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' के स्थान पर 'नाव्ययीभावाद्०' से 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर

प्रतिविपाशम् — रूप सिद्ध होता है।

उपजरसम् — जरायाः समीपम्, लौ० वि० (वृद्धावस्था के समीप)

जरा ङस् उप — (अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से '**समीप**' अर्थ में विद्यमान अव्यय 'उप' का 'जरा' सुबन्त के साथ समास हुआ। पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्ति का लुक्, 'उपसर्जन' संज्ञा और उपसर्जन का पूर्व प्रयोग हुआ

उप जरा — 'जराया जरस् च' इस गणसूत्र से 'जरा' के स्थान में 'जरस्' आदेश तथा समासान्त 'टच्' प्रत्यय हुआ

उप जरस् टच् — अनुबन्ध-लोप

उप जरस् अ — स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्र० वि०, एक व० में 'सु'

	आकर 'नाऽव्ययीभावाद्०' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
उपजरसम्	रूप सिद्ध होता है।

९९८. अनश्च ५।४।१०८

अन्नन्तादव्ययीभावात् टच् स्यात्।

प०वि०—अनः ५।१।। च अ०।। **अनु०**—तद्धिताः, समासान्ताः, अव्ययीभावे, टच्।

अर्थः—अन्नन्त (अर्थात् जिसके अन्त में 'अन्' हो) अव्ययीभाव से समासान्त तद्धितसंज्ञक **'टच्'** प्रत्यय होता है।

९९९. नस्तद्धिते ६।४।१४४

नान्तस्य भस्यटेर्लोपस्तद्धिते। उपराजम्। अध्यात्मम्।

प०वि०—नः ६।१।। तद्धिते ७।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, भस्य, लोपः, टेः।

अर्थः—नकारान्त भसंज्ञक अङ्ग के **'टि'** भाग का लोप होता है तद्धित प्रत्यय परे रहते।

उपराजम्	राज्ञः समीपम्, लौ० वि० (राजा के पास)
राजन् ङस् उप	(अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से **समीप** अर्थ में विद्यमान अव्यय 'उप' का 'राजन्' सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास हुआ। पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक्, 'प्रथमानिर्दिष्टम्०' से 'उप' की 'उपसर्जन' संज्ञा और 'उपसर्जनं पूर्वम्' से 'उप' का पूर्व प्रयोग हुआ
उप राजन्	'अनश्च' से अन्नन्त अव्ययीभाव से 'टच्' प्रत्यय हुआ
उप राजन् टच्	अनुबन्ध-लोप
उप राजन् अ	'यचि भम्' से स्वादि में अजादि प्रत्यय 'टच्' परे रहते पूर्व की 'भ' संज्ञा होने पर 'नस्तद्धिते' से नकारान्त 'भ' संज्ञक अङ्ग के 'टि' अर्थात् 'अन्' भाग का लोप हुआ, तद्धित परे रहते
उप राज् अ	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
उप राज् अ सु	'नाऽव्ययीभावाद्०' से 'सु' के स्थान पर 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होने पर
उपराजम्	रूप सिद्ध होता है।
अध्यात्मम्	आत्मनि इति, लौ० वि० (आत्मा के विषय में)
आत्मन् ङि अधि	(अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से **विभक्त्यर्थ** में 'अधि' का समास होकर 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्तियों का लुक्, 'उपसर्जन' संज्ञा तथा उसका पूव प्रयोग, 'अनश्च' से 'टच्'

प्रत्यय, 'नस्तद्धिते से 'टि' भाग 'अन्' का लोप, 'इको यणचि' से यणादेश तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि सभी कार्य **उपराजम्** के समान होकर

अध्यात्मम् — रूप सिद्ध होता है।

१२०. नपुंसकादन्यतरस्याम् ५।४।१०९

अन्नन्तं यत् क्लीबं तदन्तादव्ययीभावात् टज्वा स्यात्। उपचर्मम्, उपचर्म।

प०वि०–नपुंसकात् ५।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। **अनु०**–टच्, अव्ययीभावे, अनः, समासान्ताः।

अर्थ–अन्नन्त जो नपुंसकलिङ्ग शब्द, तदन्त अव्ययीभाव से विकल्प से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है।

यह 'अनश्च' से नित्य प्राप्त होने वाले 'टच्' प्रत्यय का अपवाद है।

उपचर्मम्	चर्मणः समीपम्, लौ० वि० (चमड़े के समीप)
चर्मन् ङस् उप	(अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से **समीप** अर्थ में विद्यमान अव्यय 'उप' का समास हुआ। पूर्ववत् ('उपराजम्' (९१९) के समान) 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्तियों का लुक्, 'उपसर्जन' संज्ञा और उसका पूर्व प्रयोग होने पर
उप चर्मन्	यहाँ अन्नन्त होने से 'अनश्च' से नित्य समासान्त 'टच्' प्रत्यय प्राप्त था, परन्तु 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' सूत्र से अन्नन्त नपुंसक-लिङ्ग शब्द अन्त में है जिसके ऐसे अव्ययीभाव से विकल्प से 'टच्' प्रत्यय होता है। 'टच्' विधि पक्ष में
उप चर्मन् टच्	अनुबन्ध-लोप, 'नस्तद्धिते' से नकारान्त 'भ' संज्ञक के 'टि' का लोप, स्वाद्युत्पत्ति इत्यादि सभी कार्य 'उपराजम्' (९१९) के समान होकर
उपचर्मम्	रूप सिद्ध होता है।
उपचर्म	(यह टजभाव पक्ष का रूप है)
उपचर्मन्	इस स्थिति में जब 'नपुंसकाद्०' से 'टच्' नहीं हुआ तो स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया
उप चर्मन् सु	'अव्ययीभावश्च' से अव्ययीभाव समास की 'अव्यय' संज्ञा होने के कारण 'अव्ययादाप्सुपः से 'सु' का लुक् हुआ
उप चर्मन्	'सुप्तिङन्तं पदम्' से इसकी 'पद' संज्ञा और समास होने के कारण 'कृत्तद्धित०' से प्रातिपदिक संज्ञा भी है। इसलिए 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकारान्त जो प्रातिपदिक पद, उसका लोप होता है, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' नकार का लोप होने पर
उपचर्म	रूप सिद्ध होता है।

९२१. झयः ५।४।१११

झयन्तादव्ययीभावात् टच् वा स्यात्। उपसमिधम्, उपसमित्।

प०वि०–झयः ५।१।। **अनु०**–तद्धिताः, टच्, अव्ययीभावे, समासान्ताः, अन्यतरस्याम्।

अर्थ–झयन्त से (झ्, भ्, घ्, ढ् ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प् अन्त में हैं जिसके, उससे) अव्ययीभाव समास में विकल्प से समासान्त तद्धितसंज्ञक **'टच्'** प्रत्यय होता है।

उपसमिधम्	समिधः समीपम्, लौ० वि० (समिधा के पास)
समिध् ङस् उप	(अलौ० वि०) 'अव्ययं विभक्ति०' से **समीप** अर्थ में विद्यमान 'उप' अव्यय का अव्ययीभाव समास, पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्ति-लुक्, 'उपसर्जन' संज्ञा तथा उसका पूर्व प्रयोग हुआ
उप समिध्	'समिध्' शब्द झयन्त है, इसलिए 'झयः' से झयन्त अव्ययीभाव से समासान्त 'टच्' प्रत्यय विकल्प से होता है। 'टच्' विधि पक्ष में
उप समिध् टच्	अनुबन्ध-लोप
उप समिध् अ	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' तथा 'नाऽव्ययीभावाद्०' से 'सु' के स्थान पर 'अम्' आदेश और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
उपसमिधम्	रूप सिद्ध होता है।
उपसमित्	(यह 'टच्' अभाव पक्ष का रूप है)। समासादि सभी कार्य पूर्ववत् होने पर
उप समिध्	इस स्थिति में जब 'झयः' से 'टच्' नहीं हुआ तो स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्र० वि, एक व० में 'सु' आया
उप समिध् सु	'अव्ययीभावश्च' से अव्ययसंज्ञा और 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् हुआ
उपसमिध्	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में झलों के स्थान में 'जश्' 'स्थानेऽन्तरतमः' से धकार के स्थान में दकार हुआ
उपसमिद्	'विरामोऽवसानम्' से अवसान[1] संज्ञा होने पर 'वाऽवसाने' से अवसान में झलों के स्थान में विकल्प से 'चर्' आदेश 'स्थानेऽन्तरतमः' से दकार के स्थान में तकार होकर
उपसमित्	रूप सिद्ध होता है।

।। अव्ययीभाव-प्रकरण समाप्त।।

---

१. विराम अर्थात् जिसके पश्चात् कोई शब्द न हो उसकी अवसान संज्ञा होती है। जैसे-'बालकः अस्ति' इस वाक्य में 'ति' के पश्चात् कोई और वर्ण अथवा शब्द नहीं है इसीलिए इसकी अवसान संज्ञा होती है।

अथ तत्पुरुषः

१२२. तत्पुरुषः २।१।२२

अधिकारोऽयम् प्राग्बहुव्रीहेः।

प०वि०–तत्पुरुषः १।१।।

अर्थ–यह अधिकार सूत्र है। 'शेषो बहुव्रीहिः' (२.२.२३) सूत्र से पहले तक इसका अधिकार है, अर्थात् इसके बाद और 'शेषो बहुव्रीहिः' से पहले तक जो भी समास विधान किया जायेगा उसकी 'तत्पुरुष' संज्ञा होगी।

समास की पूर्व पीठिका (भूमिका) देते हुए तत्पुरुष के विषय में आचार्य वरदराज का कथन है–"**प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः**" जिस समास में उत्तरपद के अर्थ की प्रधानता होती है, वह 'तत्पुरुष' संज्ञक होता है। जैसे–'**राजपुरुषः**' (राज्ञः पुरुषः) शब्द में पुरुष की प्रधानता है। 'राजपुरुषमानय' यह कहने पर राजा से सम्बन्धित **पुरुष** को लाया जाता है। **राजा** को नहीं।

तत्पुरुष समास को सामान्यतः छः भागों में बाँटा जा सकता है–

१. **विभक्ति तत्पुरुष**–जहाँ विभक्ति को आधार बनाकर समास का विधान किया जाता है, उसे **विभक्ति तत्पुरुष** कहते हैं यह व्यधिकरण पदों का समास होता है। इसके 'द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी तत्पुरुष' ये छः भेद माने जाते हैं। **राजपुरुषः, कष्टश्रितः** आदि इसके उदाहरण होंगे।

२. **कर्मधारय तत्पुरुष**–जहाँ विशेषण और विशेष्यवाची पदों[१] का परस्पर समास होता है वह **'कर्मधारय'** समास कहलाता है। इसे समानाधिकरण तत्पुरुष भी कहा जाता है। जैसे–**कृष्णसर्पः** इत्यादि। कर्मधारय के विग्रह वाक्य में एकसमान

---

१. समानाधिकरणः–समानम् एकाधिकरणं ययोः पदयोः, ते समानाधिकरणे पदे, ते अस्य स्त इति समानाधिकरणः, मत्वर्थीय अर्श आद्यच्। (बा० म०)
दो भिन्न-भिन्न पदों का अधिकरण अर्थात् आधार एक ही होता है, तो वे समानाधिकरण पद कहलाते हैं। जैसे–'कृष्णः सर्पः' में कृष्णत्व और सर्पत्व का आधार **सर्प** एक ही है इसलिए **कृष्णः** और **सर्पः** समानाधिकरण पद कहलाते हैं। समानाधिकरण पदों में एक समान विभक्ति होती है।

विभक्ति होती है। कर्मधारय का एक भेद **द्विगु** भी है। विशेषणवाचक यदि संख्याबोधक हो तो उस समास की **द्विगु** संज्ञा भी होती है।

३. **नञ्तत्पुरुष समास**–जब निषेधार्थक अव्यय 'नञ्' का किसी पद के साथ समास होता है तो वह **'नञ्तत्पुरुष'** समास कहलाता है।

४. **प्रादितत्पुरुष**–जिस समास में पूर्वपद के रूप में 'प्र' आदि उपसर्ग आये हों वह **'प्रादितत्पुरुष'** कहलाता है। जैसे–प्रगतः आचार्यः–प्राचार्यः।

५. **गति समास**–'प्र' आदि के समान गतिसंज्ञकों का भी समास विधान किया गया है। जैसे–ऊरीकृत्य, शुक्लीकृत्य इत्यादि।

६. **उपपदसमास**–जिस तत्पुरुष समास में प्रथमपद उपपद और द्वितीय पद अतिङन्त हो उसे **'उपपदतत्पुरुष'** कहा जाता है। जैसे–कुम्भं कुरोति–कुम्भकारः।

९२३. द्विगुश्च २।१।२३

द्विगुरपि तत्पुरुषसंज्ञकः स्यात्।

प०वि०–द्गुिः १।१।। च अ०।। **अनु०**–तत्पुरुषः।

अर्थ–द्विगु समास की भी **'तत्पुरुष'** संज्ञा होती है।

९२४. द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः २।१।२४

द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह समस्यते वा, स च तत्पुरुषः। कृष्णं श्रितः–कृष्णश्रितः इत्यादि।

प०वि०–द्वितीया १।१।। श्रिता..........पन्नैः ३।३।। **अनु०**–समासः, सुप्, सुपा, तत्पुरुषः, विभाषा।

अर्थ–द्वितीयान्त सुबन्तों का **श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त** और **आपन्न** प्रकृति वाले सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है, और वह **'तत्पुरुष'** संज्ञक होता है।

कृष्णश्रितः — कृष्णं श्रितः, लौ० वि० (कृष्ण को प्राप्त)

कृष्ण अम् श्रित सु — (अलौ० वि०) 'द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' से द्वितीयान्त सुबन्त 'कृष्ण' के साथ 'श्रित' का तत्पुरुष समास हुआ। 'कृत्तद्धित०' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से प्रातिपदिक के अवयव सुपों का लुक्, 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' से समासविधायक सूत्र 'द्वितीया श्रित०' में प्रथमा से निर्दिष्ट जो पद **द्वितीया** उसके वाच्य (अर्थ) की (विग्रह वाक्य में द्वितीयान्त की) 'उपसर्जन' संज्ञा होने पर 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उपसर्जन का पूर्व प्रयोग हुआ

कृष्ण श्रित — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदिकार्थ०' से

	प्रथमा विभक्ति तथा 'द्व्येकयो०' से एकवचन की विवक्षा में 'सु' आया
कृष्णश्रित सु	'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से द्वन्द्व और तत्पुरुष समास का लिङ्ग बाद वाले पद के लिङ्ग के समान होता है इसलिए यहाँ तत्पुरुष समास का लिङ्ग 'श्रित' के समान पुल्लिङ्ग हुआ। 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से उकार की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञक उकार का लोप हुआ
कृष्ण श्रित स्	'सुप्तिङन्तं पदम्' से सुबन्त 'कृष्णश्रित स्' की 'पद' संज्ञा होती है इसलिए 'ससजुषो रुः' से पदान्त सकार को 'रु' आदेश हुआ
कृष्ण श्रित रु	अनुबन्ध-लोप
कृष्ण श्रित र्	'विरामोऽवसानम्' से विराम की 'अवसान' संज्ञा होने पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से अवसान में रेफ के स्थान में विसर्ग आदेश होकर
कृष्णश्रितः	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकर 'आशाम् अतीतः'=**आशातीतः**, 'नरकं पतितः'=**नरकपतितः**, 'स्वर्गं गतः'=**स्वर्गगतः**, 'कूपम् अत्यस्तः'=**कूपात्यस्तः**, 'सुखं प्राप्तः'=**सुखप्राप्तः**, 'संकटम् आपन्नः'=**संकाटापन्नः** शब्द भी सिद्ध होते हैं।

१२५. तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन २।१।३०

तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनार्थेन च सह वा प्राग्वत्। शंकुलया खण्डः-शंकुलाखण्डः। धान्येनार्थो धान्यार्थः। तत्कृतेति किम्? अक्ष्णा काणः।

प०वि०—तृतीया १।१।। तत्कृतार्थेन ३।१।। गुणवचनेन ३।१।।

अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सहसुपा, समासः।

अर्थ—तृतीयान्त सुबन्त का तृतीयान्त के अर्थ के द्वारा किये गुणवाचक सुबन्त के साथ और **'अर्थ'** शब्द के साथ विकल्प से समास होता है और उसकी **'तत्पुरुष'** संज्ञा होती है। जैसे—**शंकुलाखण्डः, धान्यार्थः।**

शङ्कुलाखण्डः	शङ्कुलया खण्डः, लौ० वि० (सरोते (आरे) के द्वारा किया हुआ टुकड़ा)
शङ्कुला टा खण्ड सु	(अलौ० वि०) 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' से तृतीयान्त पद के अर्थ सरोते के द्वारा किया गया जो गुण (खण्ड) उस गुणवाचक सुबन्त 'खण्ड+सु' के साथ तृतीयान्त पद 'शङ्कुला+टा' का विकल्प से तत्पुरुष समास हुआ। पूर्ववत् 'कृतद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक्, 'प्रथमा

	निर्दिष्टं समास०' से समास विधायक सूत्र में प्रथमा से निर्दिष्ट पद 'तृतीया' के वाच्य 'शङ्कुला' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
शङ्कुला खण्ड	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया, अनुबन्ध-लोप होने पर पूर्ववत् 'स्' के स्थान में 'रु' तथा रेफ के स्थान में विसर्ग होकर
शङ्कुलाखण्डः	रूप सिद्ध होता है।
धान्यार्थः	धान्येन अर्थः, लौ० वि० (धान्य से प्रयोजन)
धान्य टा अर्थ सु	(अलौ० वि०) 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' से तृतीयान्त के साथ 'अर्थ' शब्द का समास हुआ। पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्तियों का लुक्, उपसर्जन संज्ञा तथा 'उपसर्जन' का पूर्व प्रयोग होने पर
धान्य अर्थ	'अकः सवर्णे दीर्घः' से 'अक्' से उत्तर सवर्ण 'अच्' परे होने पर पूर्व और पर के स्थान में सवर्णदीर्घ 'आ' एकादेश हुआ
धान्यार्थ	'कृष्णश्रितः' के समान स्वाद्युत्पत्ति, 'सु', रुत्व और रेफ को विसर्ग इत्यादि कार्य होकर
धान्यार्थः	रूप सिद्ध होता है।

तत्कृत पद का प्रयोजन—

तत्कृतेतिकिम्?—प्रकृत सूत्र में यदि 'तत्कृत' पद का पाठ न किया जाये तो किसी भी गुणावाचक पद का तृतीयान्त सुबन्त के साथ समास होने लगेगा, चाहे वह गुण तृतीयान्त के द्वारा सम्पादित न हुआ हो। ऐसी स्थिति में 'अक्ष्णा काणः' आदि पदों का भी परस्पर समास होने लगेगा, क्योंकि 'अक्ष्णा' तृतीयान्त पद है और 'काणः' गुणवाचक सुबन्त है, जो कि अनिष्ट ही होगा। इसलिए 'तत्कृत' ग्रहण का प्रयोजन यही है कि यदि तृतीयान्त का गुणवाचक शब्द के साथ समास हो तो वह तृतीयान्त के अर्थ के द्वारा किये गये गुणवाचक सुबन्त के साथ ही हो, अन्य गुणवाचकों के साथ नहीं।

९२६. कर्त्तृकरणे कृता बहुलम् २।१।३२

कर्त्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत्। हरिणा त्रातः-हरित्रातः। नखैर्भिन्नः-नखभिन्नः (प०) कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्। नखैर्निर्भिन्नः-नखनिर्भिन्नः।

प०वि०—कर्त्तृकरणे ७।१।। कृता ३।१।। बहुलम् १।१। **अनु०**—तृतीया, तत्पुरुषः, सुप्, सह, सुपा, समासः।

अर्थ—कर्त्ता और **करण** में वर्तमान **तृतीयान्त** सुबन्त का **कृदन्त** के साथ बहुलता से समास होता है और वह **'तत्पुरुष'** संज्ञक होता है।

(प०)**कृद्ग्रहणे०—अर्थ**—'कृत्' के ग्रहण में गति और कारक पूर्व में है जिसके ऐसे कृत् का भी ग्रहण जानना चाहिए। इसीलिए कर्त्ता और करण अर्थ में विद्यमान तृतीयान्त सुबन्त का गति और कारक पूर्व कृदन्त के साथ भी समास होता है। जैसा कि **नखैर्निर्भिन्नः-नखनिर्भिन्नः** में देखा जा सकता है।

हरित्रातः — हरिणा त्रातः, लौ० वि० (हरि के द्वारा रक्षित)

हरि टा त्रात सु — (अलौ० वि०) 'कर्त्तृकरणे कृता बहुलम्' से **कर्त्ता** अर्थ में विद्यमान तृतीयान्त सुबन्त 'हरि' का 'क्त' प्रत्ययान्त 'त्रात' कृदन्त के साथ बहुलता से 'तत्पुरुष' समास हुआ, पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्तियों का लुक्, 'उपसर्जन' संज्ञा और उसका पूर्व प्रयोग हुआ

हरि त्रात — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर, प्र० वि०, एक व० में 'सु', उसके स्थान में 'रुत्व' तथा रेफ को विसर्गादेश होकर

हरित्रातः — रूप सिद्ध होता है।

नखभिन्नः — नखैः भिन्नः, लौ० वि० (नाखूनों से फाड़ा हुआ)

नख भिस् भिन्न सु — (अलौ० वि०) 'कर्त्तृकरणे कृता बहुलम्' से **करण** अर्थ में विद्यमान तृतीयान्त पद 'नख' का कृदन्त सुबन्त 'भिन्न' के साथ बहुलता से तत्पुरुष समास हुआ, 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्ति-लुक् और सुबुत्पत्ति आदि सभी कार्य 'हरित्रातः' के समान होकर

नखभिन्नः — रूप सिद्ध होता है।

नखनिर्भिन्नः — नखैः निर्भिन्नः, लौ० वि० (नाखूनों से फाड़ा गया)।

नख भिस् निर्भिन्न सु — (अलौ० वि०) यहाँ 'कर्त्तृकरणे कृता बहुलम्' से समास प्राप्त नहीं था। क्योंकि वह तृतीयान्त के साथ **कृदन्त** का समास विधान करता है जबकि यहाँ 'निर्भिन्न' शब्द गतिपूर्वक कृदन्त है और गतिपूर्वक के लिए समासविधायक कोई अन्य सूत्र नहीं है। इस तरह के स्थलों में भी सामान्य कृदन्त को कहे हुए समासादि कार्य हो जायें इसके लिऐ प्रस्तुत परिभाषा 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' का कथन है कि 'कृत्' के ग्रहण में गतिकारकपूर्वक 'कृत्' का भी ग्रहण होता है और इस प्रकार 'कर्त्तृकरणे०' इसी सूत्र से यहाँ गतिपूर्वक कृदन्त का भी तृतीयान्त सुबन्त के साथ समास हो जाता है। समास होने के कारण 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्तिलुक् और सुबुत्पत्ति आदि कार्य 'कृष्णाश्रितः' के समान होकर

नखनिर्भिन्नः — रूप सिद्ध होता है।

१२७. चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुखरक्षितैः २।१।३६

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत् तद्वाचिना, अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत्। यूपाय दारु-यूपदारु। तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः, तेनेह न-रन्धनाय स्थाली।

(वा०) अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्। द्विजार्थः सूपः। द्विजार्था यवागूः। द्विजार्थं पयः। भूतबलिः। गोहितम्। गोसुखम्। गोरक्षितम्।

प०वि०—चतुर्थी १।१।। तदर्थार्थ.......रक्षितैः ३।३।। **अनु०**—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह, सुपा, समासः।

अर्थ—चतुर्थ्यन्त के अर्थ (वाच्य) के लिए जो पदार्थ—तद्वाचक सुबन्त के साथ, तथा **अर्थ, बलि, हित, सुख** और **रक्षित** इन सुबन्तों के साथ चतुर्थ्यन्त सुबन्त का विकल्प से समास होता है और वह **'तत्पुरुष'** संज्ञक होता है।

सूत्र में पठित **'तदर्थ'** से **प्रकृति-विकृतिभाव** ही लिया जाता है। यहाँ 'तत्' पद से चतुर्थ्यन्त सुबन्त का ग्रहण होता है। इसलिए 'तदर्थ' का अर्थ है- चतुर्थ्यन्त सुबन्त के लिए। जैसे—**'यूपाय दारु'** (खम्भे के लिए लकड़ी) यहाँ **यूप** 'खम्भा' एक कार्य है उसके निर्माण में **'दारु'** अर्थात् लकड़ी उसकी प्रकृति होती है। इसलिए चतुर्थ्यन्त 'यूप' का 'दारु' के साथ समास हो जाता है। परन्तु यदि चतुर्थ्यन्त सुबन्त के लिए गृहीत वस्तु और चतुर्थ्यन्त पदार्थ (वस्तु) में परस्पर प्रकृति-विकृतिभाव सम्बन्ध नहीं होगा तो उनका आपस में समास भी नहीं होगा। जैसे—**'रन्धनाय स्थाली'** यहाँ चतुर्थ्यन्त पद 'रन्धन' का अर्थ पाक-क्रिया है जिसके लिए स्थाली (डेगची) एक द्रव्य है परन्तु डेगची और पचन क्रिया में प्रकृति-विकृतिभाव सम्बन्ध नहीं है, अतः यहाँ समास नहीं होता।

(वा०) 'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्'-अर्थ-'अर्थ' सुबन्त के साथ चतुर्थ्यन्त का नित्य समास होता है और समस्तपद का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है। 'महाविभाषा' अधिकार से प्राप्त विकल्प को रोकने के लिए यहाँ नित्य समास का विधान किया है।

विशेष्य के अनुसार लिङ्ग विधान का प्रयोजन यह है कि 'अर्थ' शब्द नित्य पुल्लिङ्ग में होता है इसलिए 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से तत्पुरुष-समास का लिङ्ग सर्वत्र पुल्लिङ्ग ही प्राप्त होता है, जो कि इष्ट नहीं है। प्रकृत वार्तिक से समस्त पद तीनों लिङ्गों में (अपने विशेष्य के अनुसार) हो जाता है। जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट है।

यूपदारु

	यूपाय दारु, लौ० वि० (खम्भे के लिए लकड़ी)
यूप ङे दारु सु	(अलौ० वि०) 'चतुर्थी तदर्थार्थबलि०' से चतुर्थ्यन्त सुबन्त 'यूप' का चतुर्थ्यन्त-अर्थ के लिए जो पदार्थ, तद्वाचक सुबन्त 'दारु' के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास हुआ, पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्तियों का लुक्, उपसर्जन संज्ञा तथा 'उपसर्जन' का पूर्व प्रयोग होने पर

स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदिकार्थ०' से प्र० वि०

यूप दारु
तथा 'द्व्येकयोर्द्वि०' से एक व० में 'सु' आया

यूप दारु सु
'दारु' शब्द नपुंसकलिङ्ग में होता है, इसलिए 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से समास का लिङ्ग भी नपुंसकलिङ्ग होने पर 'स्वमोर्नपुंसकात्' से नपुंसकलिङ्ग से उत्तर 'सु' का लुक् होकर रूप सिद्ध होता है।

यूपदारु

द्विजार्थः सूपः
द्विजाय अयम्, लौ० वि० (द्विज के लिए दाल)

द्विजार्थः

द्विज ङे अर्थ सु
(अलौ० वि०) चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः' से चतुर्थ्यन्त सुबन्त 'द्विज' का 'अर्थ' सुबन्त के साथ समास हुआ, 'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' वार्तिक से 'अर्थ' शब्द का चतुर्थ्यन्त सुबन्त के साथ नित्य समास हुआ और समस्त-पद का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार पुल्लिंग हुआ। पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्तियों का लुक्, 'उपसर्जन' संज्ञा और उसका पूर्व प्रयोग हुआ

द्विज अर्थ
'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ

द्विजार्थ
पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर पर प्रथमा के एकवचन में 'सु' आया

द्विजार्थ सु
उपर्युक्त वार्तिक 'अर्थेन नित्यसमासो०' के अनुसार समास का लिङ्ग अपने विशेष्य 'सूपः' के अनुसार पुँल्लिङ्ग ही हुआ। अनुबन्ध-लोप, 'ससजुषो रुः' से रुत्व और 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर

द्विजार्थः
रूप सिद्ध होता है।

द्विजार्था यवागूः
द्विजाय इयम्, लौ० वि० (द्विज के लिए दलिया)

द्विज ङे अर्थ सु
(अलौ० वि०) पूर्ववत् समासादि सभी कार्य होकर

द्विज अर्थ
'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' से समास का लिङ्ग अपने विशेष्य 'यवागूः' के अनुरूप स्त्रीलिङ्ग ही होगा। इसलिए 'अजाद्यतष्टाप्' से स्त्रीत्व की विवक्षा में अदन्त से 'टाप्' प्रत्यय हुआ

द्विजार्थ टाप्
अनुबन्ध-लोप

द्विजार्थ आ
'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हुआ

द्विजार्था
पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया

द्विजार्था सु
'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से उकार की 'इत्' संज्ञा और 'तस्य लोपः' से उकार का लोप हुआ

द्विजार्था स्
'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से एक 'अल्' रूप प्रत्यय 'स्' की

	'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' से आबन्त से उत्तर 'सु' के 'अपृक्त' संज्ञक 'हल्' सकार का लोप होकर
द्विजार्था	रूप सिद्ध होता है।
द्विजार्थं पयः	द्विजाय इदम्, लौ० वि० (द्विज के लिए दूध)
द्विज ङे अर्थ	'चतुर्थी तदर्थार्थबलि०' से पूर्ववत् समासादि सभी कार्य होकर तथा स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' आया
द्विजार्थ सु	'अर्थेन नित्य०' इत्यादि से नित्य समास और विशेष्य 'पयः' के अनुसार समास का लिङ्ग नपुंसकलिङ्ग होने से 'अतोऽम्' से 'सु' के स्थान में 'अम्' हुआ
द्विजार्थ अम्	'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
द्विजार्थम्	रूप सिद्ध होता है।
भूतबलिः	भूताय बलिः, लौ० वि० (प्राणी के लिए बलि)।
भूत ङे बलि सु	(अलौ० वि०) 'चतुर्थी तदर्थार्थबलि०' से 'बलि' सुबन्त का चतुर्थ्यन्त के साथ समास होकर अन्य सभी कार्य 'नखभिन:' के समान होकर
भूतबलिः	रूप सिद्ध होता है।
गोहितम्	गोभ्यः हितम्, लौ० वि० (गायों के लिए हितकारी)
गो भ्यस् हित सु	(अलौ० वि०) 'चतुर्थी तदर्थार्थबलि०' से 'हित' शब्द का चतुर्थ्यन्त के साथ समास हुआ, पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्तियों का लुक्, 'उपसर्जन' संज्ञा तथा उसका पूर्वप्रयोग होने पर
गोहित	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
गोहित सु	'हित' शब्द नपुंसकलिङ्ग में है, इसलिए 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से समास का लिङ्ग नपुंसकलिङ्ग होने से 'अतोऽम्' से अकारान्त नपुंसकलिङ्ग से उत्तर 'सु' के स्थान में 'अम्' हुआ
गोहित अम्	'अमि पूर्वः से पूर्वरूप एकादेश होकर
गोहितम्	रूप सिद्ध होता है।

गोसुखम्–'गोभ्यः सुखम्' (गायों के लिए सुखदायक) तथा **गोरक्षितम्**–'गोभ्यः रक्षितम्' (गायों के लिए रखा हुआ) शब्दों की सिद्धि–प्रक्रिया 'गोहितम्' के समान ही जानें।

१२८. पञ्चमी भयेन २।१।३७

चोराद् भयम्–चोरभयम्।

प०वि०–पञ्चमी १।१।। भयेन ३।१।। **अनु०**–तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह, सुपा, समासः।

अर्थ–पञ्चम्यन्त सुबन्त का **भयवाचक** सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह **'तत्पुरुष'** संज्ञक होता है

चोरभयम्	चोराद् भयम्, लौ० वि० (चोर से भय)
चोर ङसि भय सु	(अलौ० वि०) 'पञ्चमी भयेन' से पञ्चम्यन्त सुबन्त 'चोर' का भयवाची सुबन्त 'भय' के साथ विकल्प से समास हुआ। अन्य विभक्ति-लुक् और स्वाद्युत्पत्ति आदि सभी कार्य 'गोहितम्' (९२७) के समान होकर
चोरभयम्	रूप सिद्ध होता है।

१२९. स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन २।१।३९

प०वि०–स्तोक......कृच्छ्राणि १।३।। क्तेन ३।१।। **अनु०**–विभाषा, तत्पुरुषः, सुपः, सह, सुपा, समासः, पञ्चमी।

अर्थ–**स्तोक** (थोड़ा), **अन्तिक** (समीप), **दूर** अर्थ के वाचक और **कृच्छ्र** इन पञ्चम्यन्त सुबन्तों का 'क्त' प्रत्ययान्त सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह **'तत्पुरुष'** संज्ञक होता है।

उदाहरण–अग्रिम सूत्र में देखिए।

१३०. पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ६।३।२

अलुग्–उत्तरपदे। स्तोकान्मुक्तः। अन्तिकादागतः। अभ्याशादागतः। दूरादागतः। कृच्छ्रादागतः।

प०वि०–पञ्चम्याः ६।१।। स्तोकादिभ्यः ५।३।। **अनु०**–अलुक्, उत्तरपदे।

अर्थ–उत्तरपद परे रहते स्तोकादि से उत्तर पञ्चमी विभक्ति का **अलुक्** होता है, अर्थात् 'सुपो धातु०' से होने वाला विभक्तियों का लुक् नहीं होता।

स्तोकान्मुक्तः	स्तोकात् मुक्तः, लौ० वि० (थोड़े से ही छूट गया)
स्तोक ङसि मुक्त सु	(अलौ० वि०) 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' से पञ्चम्यन्त सुबन्त 'स्तोक' का 'क्त' प्रत्ययान्त 'मुक्त' के साथ विकल्प से समास, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से प्रातिपदिक के अवयव सुपों का लुक् प्राप्त हुआ, परन्तु 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' से स्तोकादि से उत्तर पञ्चमी विभक्ति का लुक् नहीं होता उत्तरपद

	परे रहते। यहाँ 'स्तोक' से उत्तर पञ्चमी विभक्ति 'ङसि' का लुक् नहीं हुआ, इसलिए केवल 'सु' का लुक् हुआ
स्तोक ङसि मुक्त	'टाङसिङसामिनात्स्याः' से ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से उत्तर 'ङसि' के स्थान में 'आत्' आदेश हुआ
स्तोक आत् मुक्त	'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ
स्तोकात् मुक्त	'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से अनुनासिक परे रहते 'यर्' (त्) को विकल्प से अनुनासिक (न्) आदेश हुआ
स्तोकान्मुक्त	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर 'कृष्णश्रितः' (६२४) के समान रुत्व और विसर्ग होकर
स्तोकान्मुक्तः	रूप सिद्ध होता है।
अन्तिकादागतः	अन्तिकाद् आगतः, लौ० वि० (समीप से आया हुआ)
अन्तिक ङसि आगत सु	(अलौ० वि०) 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि०' से पञ्चम्यन्त 'अन्तिक' शब्द का 'क्त' प्रत्ययान्त 'आगत' से समास हुआ। पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से प्रातिपदिक के अवयव सुपों का लुक् प्राप्त हुआ, किन्तु 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' से उत्तरपद परे रहते स्तोकादि से उत्तर पञ्चमी विभक्ति का लुक् नहीं होता। इसलिए यहाँ भी 'अन्तिक' से उत्तर पञ्चमी 'ङसि' का लुक् नहीं हुआ, केवल 'आगत' से उत्तर 'सु' का लुक् हुआ
अन्तिक ङसि आगत	'स्तोकान्मुक्तः' के समान 'टाङसिङसाम्०' से ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से उत्तर 'ङसि' के स्थान 'आत्' आदेश हुआ
अन्तिक आत् आगत	'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ
अन्तिकात् आगत	'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में झलों के स्थान में 'जश्' आदेश, 'स्थानेऽन्तरतमः' से तकार के स्थान में दकार हुआ
अन्तिकाद् आगत	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर 'कृष्णश्रितः' (९२४) के समान रुत्व और विसर्ग होकर
अन्तिकादागतः	रूप सिद्ध होता है।

अभ्याशादागतः--(अभ्याश से आया हुआ) 'अभ्याशाद् आगतः' लौ० वि०। 'अभ्याश ङसि आगत सु' (अलौ० वि०)। **कृच्छ्रादागतः** (कठिनाई से आया हुआ) 'कृच्छ्राद् आगतः' (लौ० वि०) 'कृच्छ्र ङसि आगत सु' (अलौ० वि०)। **दूरादागतः** (दूर से आया हुआ) 'दूरात् आगतः' (लौ० वि०) 'दूर ङसि आगत सु' (अलौ० वि०) शब्दों की सिद्धि-प्रक्रिया 'अन्तिकादागतः' के समान जानें।

१३१. षष्ठी २।२।८

सुबन्तेन प्राग्वत्। राजपुरुषः।

प०वि०—षष्ठी १।१।। **अनु०**—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह, सुपा, समासः।

अर्थ—षष्ठ्यन्त का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह 'तत्पुरुष' संज्ञक होता है।

राजपुरुषः	राज्ञः पुरुषः, लौ० वि० (राजा का पुरुष)
राजन् ङस् पुरुष सु	(अलौ० वि०) 'षष्ठी' सूत्र से षष्ठ्यन्त 'राजन्' का 'पुरुष' सुबन्त से समास हुआ। पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा, विभक्तियों का लुक्, 'उपसर्जन' संज्ञा तथा उसका पूर्वप्रयोग हुआ
राजन् पुरुष	'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप हुआ
राज पुरुष	पूर्ववत् प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर रुत्व और विसर्ग आदि सभी कार्य होकर
राजपुरुषः	रूप सिद्ध होता है।

१३२. पूर्वाऽपराऽधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे २।२।१

अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते, एकत्वसंख्याविशिष्टश्चेदवयवी। षष्ठीसमासाऽपवादः। पूर्वं कायस्य-पूर्वकायः। अपरकायः। एकाधिकरणे किम्? पूर्वश्छात्राणाम्।

प०वि०—पूर्वाऽपराऽधरोतरम् १।१।। एकदेशिना ३।१।। एकाधिकरणे ७।१।।

अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह, सुपा, समासः।

अर्थ—**पूर्व, अपर, अधर** और **उत्तर** इन एकदेशवाची अर्थात् अवयववाची सुबन्तों का एकदेशी अर्थात् अवयवीवाचक सुबन्त के साथ समास होता है। एकाधिकरण गम्यमान होने पर अर्थात् अवयवी के एकत्वसंख्या से युक्त होने पर।

यह सूत्र **षष्ठीसमास का अपवाद** है। अवयव का अवयवी के साथ समास 'षष्ठी' सूत्र से ही प्राप्त था, पुनः 'पूर्वाऽपरा०' इत्यादि सूत्र से अवयवी के साथ 'पूर्व' आदि अवयव वाचक सुबन्तों के समास विधान का प्रयोजन यह है कि अवयव-वाचक 'पूर्व' आदि का समस्तपद में पूर्व-प्रयोग हो जाये। यदि 'षष्ठी' सूत्र से समास करते तो षष्ठ्यन्त की 'उपसर्जन' संज्ञा होने के कारण अवयवी का पूर्व प्रयोग होने लगता। प्रकृतसूत्र से समासविधान करने पर सूत्र में निर्दिष्ट प्रथमान्त 'पूर्व' आदि की 'उपसर्जन' संज्ञा होती है और उन्हीं का प्रयोग होता है।

पूर्वकायः	कायस्य पूर्वम्, लौ० वि० (शरीर का पूर्वभाग)
काय ङस् पूर्व सु	(अलौ० वि०) 'पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे' से अवयववाची सुबन्त 'पूर्व' का अवयवीवाचक सुबन्त 'काय'

	के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास हुआ, पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा और विभक्तियों का लुक् हुआ
काय पूर्व	'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' से समास विधायक सूत्र में प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट 'पूर्व' की 'उपसर्जन' संज्ञा और 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उपसर्जन संज्ञक 'पूर्व' का पूर्व प्रयोग हुआ
पूर्वकाय	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु', रुत्व तथा विसर्ग होकर
पूर्वकायः	रूप सिद्ध होता है।

अपरकायः='कायस्य अपरम्' (शरीर का दूसरा भाग) की सिद्धि-प्रक्रिया 'पूर्वकायः' के समान समझनी चाहिए।

एकाधिकरणे किम्? प्रकृत सूत्र में **एकाधिकरणे** पद का प्रयोजन यह है कि समस्यमान अवयवीवाचक शब्द एकत्वसंख्याविशिष्ट ही होना चाहिए। यदि अवयवीवाचक शब्द एकत्वसंख्या विशिष्ट अर्थात् एकवचन में नहीं होगा तो उसका अवयववाचक के साथ समास भी नहीं होगा। इसके प्रत्युदाहरण के रूप में प्रदर्शित **'पूर्वश्छात्राणाम्'** यहाँ पर 'पूर्व' शब्द एकदेश अर्थात् **अवयव** का वाचक है तथा 'छात्र' शब्द समुदायपरक होने के कारण **अवयवी** का वाचक है जिसमें उद्भूत अवयव-समुदाय की अपेक्षा से बहुवचन के प्रत्यय 'आम्' का प्रयोग हुआ है। यदि प्रकृत सूत्र में 'एकाधिकरणे' पद का पाठ न किया जाता तो यहाँ मात्र अवयव-अवयवी वाचक सुबन्तों का समास हो जाता। परन्तु 'छात्राणाम्' में षष्ठी का बहुवचन होने के कारण समास नहीं होता, क्योंकि छात्रसमुदायरूप अवयवी एकत्वविशिष्ट अर्थात् एकवचन में नहीं है।

९३३. अर्धं नपुंसकम् २।२।२

समांशवाची अर्धशब्दो नित्यं क्लीबे, स प्राग्वत्। अर्धं पिप्पल्याः- अर्धपिप्पली।

प०वि०– अर्धम् १।१।। नपुंसकम् १।१।। **अनु०**– एकदेशिनैकाधिकरणे, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह, सुपा, समासः।

अर्थ–एकाधिकरण गम्यमान होने पर अर्थात् अवयवी के एकत्वसंख्या से युक्त होने पर नित्य नपुंसकलिङ्ग में विद्यमान समांशवाचक **अर्ध** शब्द (सुबन्त) का **एकदेशी** अर्थात् अवयवीवाचक सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह **'तत्पुरुष'** संज्ञक होता है।

अर्धं पिप्पली	पिप्पल्याः अर्धम्, लौ० वि० (पीपर का ठीक आधा भाग)
पिप्पली ङस् अर्ध सु	'अर्धं नपुंसकम्' से नपुंसकलिङ्ग में विद्यमान समांशवाची 'अर्ध' शब्द का अवयवीवाचक सुबन्त 'पिप्पली' के साथ, एकाधिकरण गम्यमान होने पर, 'तत्पुरुष' समास हुआ। पूर्ववत्

	'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु:०' से विभक्ति-लुक् हुआ
पिप्पली अर्ध	'प्रथमानिर्दिष्टं समास०' से समास विधायक सूत्र में प्रथमा से निर्दिष्ट पद 'अर्ध' की 'उपसर्जन' संज्ञा हुई तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उपसर्जन का पूर्वप्रयोग हुआ
अर्ध पिप्पली	समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने के कारण पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
अर्ध पिप्पली सु	'परवल्लिङ्गं द्वन्द्व०' से तत्पुरुष समास का लिङ्ग उत्तरपद **पिप्पली** के समान स्त्रीलिङ्ग हुआ। 'उपदेशेऽज०' से 'उ' की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोप' से 'इत्' संज्ञक उकार का लोप हुआ
अर्ध पिप्पली स्	'अपृक्त एकाल्प्रत्यय:' से एक अल्रूप प्रत्यय की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' से दीर्घ ङ्यन्त से उत्तर 'सु' के 'अपृक्त' हल् सकार का लोप होने पर रूप सिद्ध होता है।
अर्धपिप्पली	

१३४. सप्तमी शौण्डैः २।१।४०

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः[1] प्राग्वत्। अक्षेषु शौण्डः–अक्षशौण्डः इत्यादिः[2]। द्वितीया-तृतीयेत्यादियोगविभागादन्यत्रापि द्वितीयादिविभक्तीनां प्रयोगवशात् समासो ज्ञेयः।

प०वि०–सप्तमी १।१।। शौण्डैः ३।३।। **अनु०**–तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः।

अर्थ–सप्तम्यन्त सुबन्त का शौण्डादि सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह 'तत्पुरुष' संज्ञक होता है।

अक्षशौण्डः	अक्षेषु शौण्डः, लौ० वि० (जुआ खेलने में निपुण)
अक्ष सुप् शौण्ड सु	(अलौ० वि०) 'सप्तमी शौण्डैः' से सप्तम्यन्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास हुआ। पूर्ववत् 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्ति-लुक् हुआ

१. शौण्डादि गणपाठ में पठित एक शब्दसमूह है जिसका आदि शब्द 'शौण्ड' है जो क्रमशः इस प्रकार हैं–शौण्ड, धूर्त, कितव, व्याड, प्रवीण, अन्तर, पण्डित, कुशल, चपल, निपुण।

२. इत्यादि शब्द का प्रयोजन यह है कि जैसे सप्तम्यन्त 'अक्ष' के साथ 'शौण्ड' का समास होकर ''अक्षशौण्डः'' समस्त पद बनता है, वैसे ही शौण्डादिगण में पठित सभी शब्दों का सप्तम्यन्त सुबन्त के साथ समास होता है, और अक्षधूर्तः, अक्षकितवः इत्यादि रूप भी बनते हैं।

अक्ष शौण्ड	'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' से समास विधायक सूत्र में प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट 'सप्तमी' पद के वाच्य विग्रह वाक्य में सप्तम्यन्त 'अक्ष' की 'उपसर्जन' संज्ञा होने पर 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उपसर्जन का पूर्व प्रयोग हुआ
अक्ष शौण्ड	पूर्ववत् समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने के कारण स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदिकार्थ०' से प्रथमा विभक्ति तथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' से एकवचन की विवक्षा से 'सु' आया
अक्ष शौण्ड सु	'उपदेशेऽज०' से उकार की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से उकार का लोप हुआ
अक्ष शौण्ड स्	'ससजुषो रुः' से सकार के स्थान में 'रु' आदेश हुआ
अक्ष शौण्ड रु	उकार की इत्संज्ञा तथा लोप होने पर
अक्ष शौण्ड र्	'विरामोऽवसानम्' से वर्णों का अत्यन्त अभाव होने से 'अवसान' संज्ञा होने पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से अवसान में रेफ के स्थान में विसर्गादेश होकर
अक्षशौण्डः	रूप सिद्ध होता है।

भाषा मे द्वितीया, तृतीया-चतुर्थी आदि विभक्त्यन्त पदों का सूत्रों में विहित पदों के अतिरिक्त पदों के साथ भी समास देखा जाता है, जिसका किसी भी पाणिनीय सूत्र के द्वारा विधान नहीं मिलता, ऐसी स्थिति में या तो उन प्रयोगों को सिद्ध करने के लिए कुछ वार्तिकों और इष्टियों का विधान करना चाहिए या उन्हें अपाणिनीय प्रयोग कहकर अस्वीकार कर देना चाहिए। महाभाष्यकार पतञ्जलिमुनि ने भी इस समस्या को स्वयं अनुभव किया और इसका समाधान भी उपलब्ध पाणिनीय सूत्रों द्वारा ही करने की एक अद्‌भुत युक्ति (**योग-विभाग**)[१] का प्रयोग किया। उसी युक्ति का उल्लेख वरदराज ने **'द्वितीया तृतीयेत्यादियोगविभागाद्'** इत्यादि में किया है। इसका आशय भी यही है कि शिष्टलोक में प्रयुक्त समस्त पदों को देखकर **योग-विभाग** के द्वारा उन समस्त प्रयोगों का साधुत्व सिद्ध करना चाहिए।

---

१. **योग विभाग**—वैयाकरण-सम्प्रदाय में 'योग' का अर्थ है 'सूत्र'। जब एक सूत्र के दो हिस्से करके उन्हें दो स्वतन्त्र सूत्रों के रूप में मान लिया जाता है तो उसे योग विभाग कहते हैं। जैसे—'सप्तमी शौण्डैः' इस सूत्र में प्रथम पद 'सप्तमी' को एक सूत्र मान लिया जाता है और ऊपर से **समासः**, **सह**, **सुपा** आदि की अनुवृत्ति लाकर शौण्ड शब्द के बिना स्वतन्त्र रूप से व्याख्यान किया जाता है। जो इस प्रकार हो सकता है—सप्तम्यन्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

१३५. दिक्संख्ये संज्ञायाम् २।१।५०

संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम्। पूर्वेषुकामशमी। सप्तर्षयः। तेनेह न–उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणाः।

प०वि०–दिक्संख्ये १।२।। संज्ञायाम् ७।१।। **अनु०**–समानाधिकरणेन, समासः, तत्पुरुषः, सुप्, सह, सुपा।

यह नियमसूत्र है, जो दिशावाची और संख्यावाची शब्दों के समास का नियमन करता है। दिशावाचक और संख्यावाचक पदों का समास केवल संज्ञाविषय में ही होना है अर्थात् वहीं होता है जहाँ समस्त पद किसी की संज्ञा का बन रहा हो।

अर्थ–दिशावाची और **संख्यावाची** सुबन्तों का समानाधिकरण सुबन्तों के साथ संज्ञा विषय में ही **तत्पुरुष** समास होता है अर्थात् संज्ञा के अतिरिक्त दिशावाचक और संख्यावाचक शब्दों का सुबन्तों के साथ समास नहीं होता।

पूर्वेषुकामशमी	पूर्वा च असौ इषुकामशमी, लौ० वि० (यह किसी नगर की संज्ञा (नाम) है
पूर्वा सु इषुकामशमी सु	(अलौ० वि०) यहाँ 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' से समास प्राप्त था फिर भी 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' से समास विधान नियम के लिए है कि दिशावाचक और संख्यावाचक पदों का सुबन्त पदों के साथ समास केवल संज्ञा विषय में ही हो अन्यत्र नहीं।
	'कृत्तद्धितसमा०' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
पूर्वा इषुकामशमी	'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'पूर्वा' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
पूर्वा इषुकामशमी	समास में 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इस वार्तिक से सर्वनाम संज्ञक शब्द (पूर्वा) को पुंवद्भाव (पूर्व) हुआ
पूर्व इषुकामशमी	'आद् गुणः' से अवर्ण से 'अच्' (इ) परे रहते पूर्व और पर के स्थान में गुण (ए) एकादेश हुआ
पूर्वेषुकामशमी	स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
पूर्वेषुकामशमी सु	'उपदेशे०' से 'सु' के 'उ' की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से उकार का लोप हुआ
पूर्वेषुकामशमी स्	'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से 'स्' को 'अपृक्त' संज्ञा तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त 'स्' का लोप होकर
पूर्वेषुकामशमी	रूप सिद्ध होता है।

सप्तर्षयः	सप्त च ते ऋषयः, लौ० वि०(वशिष्ठादि सात ऋषियों के समूह की संज्ञा)
सप्तन् जस् ऋषि जस्	(अलौ० वि०) 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' से संख्यावाची सुबन्त 'सप्तन्' का 'ऋषि' सुबन्त से संज्ञा विषय में समास हुआ, पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
सप्तन् ऋषि	'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से प्रातिपदिक संज्ञक जो पद, तदन्त नकार का लोप हुआ
सप्त ऋषि	'आद् गुणः' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'अर्' एकादेश हुआ
सप्तर्षि	समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदिकार्थ०' से प्रथमा विभक्ति तथा 'बहुषु बहुवचनम्' से बहुवचन की विवक्षा में 'जस्' आया
सप्तर्षि जस्	अनुबन्ध-लोप होने पर 'अस्' शेष रहा
सप्तर्षि अस्	'जसि च' से 'जस्' परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हुआ
सप्तर्षे अस्	'एचोऽयवायावः' से 'अच्' परे रहते 'ए' के स्थान पर अयादेश हुआ
सप्तर्षय् अस्	'ससजुषो रुः' से सकार के स्थान में 'रु' तथा 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ को विसर्ग होकर
सप्तर्षयः	रूप सिद्ध होता है।

प्रकृत सूत्र से दिशावाचक और संख्यावाचक शब्दों का संज्ञाविषय में ही समास होता है यह नियम किस लिए बनाया गया है? इस प्रश्न को मन में रखकर ही लघुसिद्धान्तकार ने कहा है– **'तेनेह न–उत्तरा वृक्षाः पञ्च ब्राह्मणाः।'** अर्थात् दिशावाचक **उत्तर** शब्द तथा संख्यावाचक **पञ्च** शब्द का क्रमशः 'वृक्ष' और 'ब्राह्मण' शब्द के साथ समास इसीलिए नहीं होता कि ये समस्तपद किसी की संज्ञा नहीं बनते।

९३६. तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च २।१।५१

तद्धितार्थे विषये, उत्तरपदे च परतः, समाहारे च वाच्ये दिक्संख्ये प्रागवत्। पूर्वस्यां शालायां भवः-पूर्वाशाला। इति समासे जाते- (वा०) सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः।

प०वि०–तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे ७।१।। च अ०।। **अनु०**–दिक्संख्ये, समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह, सुपा, समासः।

अर्थ--तद्धितार्थ के विषय में, उत्तरपद परे रहते तथा समाहार वाच्य होने पर

दिशावाचक और संख्यावाचक सुबन्तों का समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह 'तत्पुरुष' संज्ञक होता है।

सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः—अर्थ—समास आदि वृत्तियों में सर्वनाम संज्ञक शब्दों को पुंवद्भाव होता है। अर्थात् समास आदि में प्रयुक्त 'सर्वनाम' संज्ञक शब्द यदि स्त्रीलिङ्ग में हो तो उसके स्थान में पुंल्लिङ्ग के समान रूप हो जाता है।

उदाहरण—'पूर्वस्यां शालायां भवः' इस उदाहरण में प्रकृत सूत्र से समास हो जाने पर विभक्तियों का लोपादि होकर 'पूर्वाशाला' शब्द बनता है। यहाँ पूर्वपद 'पूर्वा' है जिसे कि सर्वनाम होने के कारण 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' वार्तिक से समास में पुंवद्भाव हो जाता है।

विशेष—'पौर्वशालः' की सम्पूर्ण सिद्धि-प्रक्रिया विस्तार से 'तद्धितेष्वचामादेः' (१३८.) सूत्र की व्याख्या में देखें।

१३७. दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः ४।२।१०७

अस्माद् भवाद्यर्थे ञः स्यादसंज्ञायाम्।

प०वि०—दिक्पूर्वपदात् ५।१।। असंज्ञायाम् ७।१।। ञः १।१।।

अनु०—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च।

अर्थ—दिशावाचक शब्द पूर्व में है जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से 'भव' आदि 'शैषिक'[1] अर्थों में 'तद्धित' संज्ञक 'ञ' प्रत्यय होता है, यदि वह किसी की संज्ञा न हो तो।

१३८. तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७

ञिति णिति च तद्धितेऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात्। (२६६) यस्येति च। पौर्वशालः। पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ-द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्।

प०वि०—तद्धितेषु ७।३।। अचाम् ६।३।। आदेः ६।१।। **अनु०**—अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य।

अर्थ—ञित् या णित् तद्धित (प्रत्यय) परे रहते अङ्ग के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है।

यस्येति च—इवर्णान्त उवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग का लोप होता है ईकार और तद्धित परे रहते।

विशेष—पौर्वशालः की सिद्धि-प्रक्रिया।

पौर्वशालः — पूर्वस्यां शालायां भवः, लौ० वि० (पूर्वशाला में होने वाला)

पूर्वा ङि शाला ङि — (अलौ० वि०) भवार्थक तद्धित का विषय बनने के कारण

---

१. शैषिक अर्थों का विवरण 'शेषे' (१०६५) की व्याख्या में देखें।

	'तद्धितार्थोत्तर०' से दिशावाचक सुबन्त 'पूर्वा' का समर्थ सुबन्त के साथ समास हुआ। पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
पूर्वा शाला	'प्रथमानिर्दिष्टं समास०' से दिशावाचक पूर्वा की 'उपसर्जन' संज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग और 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' से समास नामक वृत्ति में सर्वनाम संज्ञक 'पूर्वा' को पुंवद्भाव होने पर 'पूर्व' आदेश हुआ
पूर्व शाला	'दिक्पूर्वपदादसञ्ज्ञायां ञः' से दिशावाचक 'पूर्व' शब्द पूर्वपद में रहते 'तत्र भवः' अर्थ में असंज्ञाविषय में 'ञ' प्रत्यय हुआ
पूर्व शाला ञ	'चुटू' से ञकार की इत्संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से ञकार का लोप हुआ
पूर्व शाला अ	'यचि भम्' से स्वादि में अजादि प्रत्यय परे रहते पूर्व की 'भ' संज्ञा तथा 'यस्येति च' से तद्धित परे रहते 'आ' का लोप हुआ
पूर्वशाल् अ	'तद्धितेष्वचामादेः' से ञित् तद्धित प्रत्यय परे रहते अचों में आदि अच् को वृद्धि, 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'उ' के स्थान में 'औ' वृद्धि हुई
पौर्वशाल् अ	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
पौर्वशाल् अ सु	अनुबन्ध-लोप होने पर 'ससजुषो रुः' से सकार को 'रु' तथा 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ के स्थान में विसर्ग होकर
पौर्वशालः	रूप सिद्ध होता है।
पञ्चगवधनः	पञ्च गावो धनं यस्य, लौ० वि० (पाँच गायें हैं धन जिसका)
पञ्चन् जस् गो जस् धन सु	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से अन्यपद के अर्थ में विद्यमान अनेक समर्थ सुबन्तों का बहुव्रीहि समास हुआ। 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
पञ्चन् गो धन	इस स्थिति में 'धन' उत्तर पद परे रहते 'पञ्चन्' और 'गो' शब्द के मध्य 'तद्धितार्थो० से समास हुआ। यह समास 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्' वार्तिक से नित्य होता है, विकल्प से नहीं, 'न लोपः प्रातिपदिका०' से नकार का लोप हुआ
पञ्च गो धन	'गोरतद्धितलुकि' से 'गो' पद अन्त में है जिसके, ऐसे तत्पुरुष समास से तद्धित प्रत्यय का लुक् न होने पर समासान्त 'टच्' प्रत्यय हुआ

पञ्च गो टच् घन	'हलन्त्यम्' से 'च्' की तथा 'चुटू' से टकार की इत्संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञक वर्णों का लोप हुआ
पञ्च गो अ घन	'एचोऽयवायावः' से 'अच्' परे रहते 'ओ' के स्थान पर अवादेश हुआ
पञ्च ग् अव् अ धन	समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने के कारण पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
पञ्चगवधन सु	अनुबन्ध-लोप, सकार को रुत्व और रेफ के स्थान में विसर्ग होकर
पञ्चगवधनः	रूप सिद्ध होता है।

१३९. गोरतद्धितलुकि ५।४।९२

गोऽन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात् समासान्तो न तु तद्धितलुकि। पञ्चगवधनः।

प०वि०—गोः ५।१।। अतद्धितलुकि ७।१।। **अनु०**—तत्पुरुषस्य, टच्, समासान्ताः।

अर्थ—गोशब्दान्त तत्पुरुष से **'टच्'** प्रत्यय होता है, किन्तु तद्धित प्रत्यय का लोप होने पर नहीं होता।

पञ्चगवधनः की सिद्धि-प्रक्रिया पूर्व-सूत्र की व्याख्या में देखें।

१४०. तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १।२।४२

प०वि०—तत्पुरुषः १।१।। समानाधिकरणः १।१।। कर्मधारयः १।१।।

अर्थ—**समानाधिकरण**[१] तत्पुरुष की **'कर्मधारय'** संज्ञा होती है।

१४१. संख्यापूर्वो द्विगुः २।१।५२

'तद्धितार्थ०' (१३६) इत्यत्रोक्तस्त्रिविधः संख्यापूर्वो द्विगुसंज्ञः स्यात्।

प०वि०—संख्यापूर्वः १।१।। द्विगुः १।१।।

अर्थ—तद्धितार्थ के विषय में, उत्तरपद परे रहते तथा समाहार वाच्य होने पर संख्यापूर्व वाला समास **'द्विगु'** संज्ञक होता है।

१४२. द्विगुरेकवचनम् २।४।१

द्विग्वर्थः समाहार एकवत् स्यात्।

प०वि०—द्विगुः १।१।। एकवचनम्। १।१।।

अर्थ—द्विगु अर्थ वाला समाहार **एकवत्** (एक वचन में) होता है।

१४३. स नपुंसकम् २।४।१७

---

१. समानम् एकमधिकरणं वाच्यं ययोः पदयोः, ते समानाधिकरणे पदे, ते अस्य स्त इति समानाधिकरणः, मत्वर्थीयः 'अर्श आद्यच्'। समानाधिकरणानेकपदावयवकस्तत्पुरुषः कर्मधारयसञ्ज्ञको भवतीत्यर्थः।। (बा०म०)

समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात्। पञ्चानां गवां समाहारः-पञ्चगवम्।

प०वि०—सः १।१।। नपुंसकम् १।१।।

अर्थ—समाहार अर्थ में द्विगु और द्वन्द्व समास **नपुंसक** लिङ्ग में होते हैं।

विशेषः—द्वन्द्व और तत्पुरुष समास का लिङ्ग उत्तरपद के अनुसार होता है।[1] परन्तु यह सूत्र इस उक्त नियम का अपवाद है।

पञ्चगवम्	पञ्चानां गवां समाहारः, लौ० वि० (पाँच गायों का समूह)
पञ्चन् आम् गो आम्	(अलौ० वि०) 'तद्धितार्थोत्तर०' से समाहार गम्यमान होने पर तत्पुरुष समास हुआ, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों कर लुक् हुआ
पञ्चन् गो	'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप हुआ
पञ्च गो	'गोरतद्धितलुकि' से गोशब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त 'टच्' प्रत्यय हुआ
पञ्च गो टच्	अनुबन्ध-लोप
पञ्च गो अ	'एचोऽयवायावः' से 'अच्' परे रहते 'ओ' को अवादेश हुआ
पञ्चगव	'संख्यापूर्वो द्विगुः' से संख्यापूर्वक समास की 'द्विगु' संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया क्योंकि 'द्विगुरेकवचनम्' से समाहार अर्थ वाला द्विगु समास एकवचन में होता है
पञ्च गव सु	'स नपुंसकम्' से समाहार अर्थ में द्विगु का नपुंसक लिङ्ग होने के कारण 'अतोऽम्' से ह्रस्व अकारान्त नपुंसक से उत्तर 'सु' को अमादेश हुआ
पञ्चगव अम्	'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
पञ्चगवम्	रूप सिद्ध होता है।

९४४. विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २।१।५७

भेदकं भेद्येन समानाधिकरणेन बहुलं प्राग्वत्। नीलमुत्पलम्-नीलोत्पलम्। बहुलग्रहणात् क्वचिन्नित्यम्-कृष्णसर्पः। क्वचिन्न-रामो जामदग्न्यः।।

प०वि०—विशेषणम् १।१।। विशेष्येण ३।१।। बहुलम् १।१।। अनु०-समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, सुप्, सह, सुपा, समासः।

अर्थ—विशेषण[2] वाची सुबन्त का समानाधिकरण वाले विशेष्यवाची सुबन्त के साथ बहुल करके समास होता है और वह **'तत्पुरुष'** संज्ञक होता है।

१. 'परवल्लिंगं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' ।अष्टा० २।४।२६.

२. **विशेषण**—विशिष्यते अनने इति विशेषणम्, इतरस्मात् व्यावर्त्तकम्। व्यावर्त्यं तु विशेष्यं भिन्नत्वेन ज्ञायमानम्। (बा० म०)

बहुल ग्रहण का प्रयोजन यह है कि विशेषण का विशेष्य के साथ समास कहीं पर विकल्प से होता है। जैसे–**नीलमुत्पलम्–नीलोत्पलम्।** कुछ स्थलों में नित्य ही समास होता है। जैसे–**कृष्णसर्पः**, तथा कहीं पर विशेषण–विशेष्य का समास सर्वथा नहीं होता। जैसे–**रामो जामदग्न्यः।**

नीलोत्पलम्	नीलञ्च तदुत्पलम्, लौ० वि० (नीला कमल)
नील सु उत्पल सु	(अलौ० वि०) 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' से विशेषणवाची 'नील' पद का विशेष्यवाची 'उत्पल' पद के साथ समास हुआ। 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
नील उत्पल	'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' से समास विधायक सूत्र में प्रथमा से निर्दिष्ट विशेषण पद के वाच्य 'नील' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
नील उत्पल	'आद् गुणः' से गुण एकादेश हुआ
नीलोत्पल	समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण०' से प्रथमा विभक्ति तथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनै०' से एकवचन की विवक्षा में 'सु' आया
नीलोउत्पल सु	'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से तत्पुरुष समास का लिङ्ग उत्तरपद के अनुसार होता है इसलिए यहाँ समस्तपद का लिङ्ग 'उत्पल' के अनुसार नपुंसकलिङ्ग होने पर 'अतोऽम्' से अदन्त नपुंसकलिङ्ग से उत्तर 'सु' के स्थान पर 'अम्' आदेश हुआ
नीलोत्पल अम्	'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
नीलोत्पलम्	रूप सिद्ध होता है।
कृष्णसर्पः	कृष्णश्चासौ सर्पः, लौ० वि० (काला सांप)
कृष्ण सु सर्प सु	(अलौ० वि०) पूर्ववत् 'विशेषणं विशेष्येण०' से समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक्, 'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'कृष्ण' की 'उपसर्जन' संज्ञा और 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
कृष्ण सर्प	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
कृष्ण सर्प सु	अनुबन्धा-लोप, 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्व०' से समास का लिङ्ग उत्तरपद 'सर्प' के अनुसार पुल्लिङ्ग होने के कारण 'ससजुषो रुः' से 'सु' के सकार के स्थान में 'रु' और 'खरवसानयोर्विस०' से रेफ को विसर्ग होकर
कृष्णसर्पः	रूप सिद्ध होता है।

विशेष–'कृष्णसर्पः' पद में बहुलग्रहण के कारण नित्य समास होता है, इसलिए लौकिक विग्रह का प्रदर्शन केवल समझाने के लिए किया जाता है। इस विग्रह-वाक्य का भाषा में प्रयोग नहीं किया जाता।

'रामो जामदग्न्यः' में 'जामदग्न्यः' और 'रामः' दोनों में विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध होने पर भी सूत्र में बहुल ग्रहण होने के कारण यहाँ समास का सर्वथा अभाव ही रहता है।

९४५. उपमानानि सामान्यवचनैः २।१।५५

घन इव श्यामो घनश्यामः।(वा०) शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योसंख्यानम्। शाकप्रियः पार्थिवः-शाकपार्थिवः। देवपूजको ब्राह्मणो-देवब्राह्मणः।

प०वि०–उपमानानि १।३।। सामान्यवचनैः ३।३।। **अनु०**–समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह, सुपा, समासः।

अर्थ–उपमानवाची सुबन्तों का सामान्यधर्म वाचक समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह 'तत्पुरुष' संज्ञक होता है।

विशेष–जिस प्रसिद्ध वस्तु से किसी वस्तु की समानता बताई जाए या उपमा दी जाये वह वस्तु **'उपमान'** कहलाती है। जिस वस्तु की उपमा दी जाती है या समानता बतलाई जाती है, **उपमेय** कहलाती है। उपमान और उपमेय में जिस समान गुण अथवा धर्म को लेकर उनकी समानता बताई जाती है उस धर्म का वाचक शब्द **सामान्यवचन** कहलाता है। जैसे–**'घन इव श्यामः देवदत्तः'** इस उदाहरण में घन अर्थात् बादलों से देवदत्त की समानता बताई गई है। यहाँ 'घन' उपमान तथा 'देवदत्त' उपमेय है दोनों में समानता के आधारभूत गुण श्यामत्व, जो कि दोनों में समानरूप से उपलब्ध है, का वाचक 'श्याम' शब्द 'सामान्यवचन' है।

घनश्यामः

घन सु श्याम सु	घन इव श्यामः, लौ० वि० (बादलों की तरह सांवला) (अलौ० वि०) 'उपमानानि सामान्य०' से उपमानवाचक 'घन' का समानाधिकरण सामान्यवाची 'श्याम' के साथ 'तत्पुरुष' समास हुआ। 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक्, 'प्रथमानिर्दिष्टं०' से समास विधायक सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट उपमानवाची पद 'घन' की 'उपसर्जन' संज्ञा और 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
घनश्याम	स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर पूर्ववत् (**कृष्णसर्पः** (९४४) के समान) प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर 'सु' के सकार
घनश्यामः	के स्थान में 'रु' तथा रेफ को विसर्गादि आदेश होकर रूप सिद्ध होता है।

(वा०) शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्–अर्थ–शाकपार्थिवादि गण में पठित सभी पदों की सिद्धि के लिए (पूर्वपदस्थ) उत्तरपद के लोप का उपसंख्यान (विधान) करना चाहिए।

शाकपार्थिवः	शाकप्रियश्चासौ पार्थिवः, लौ० वि०(शाक का प्रेमी राजा)
शाकप्रिय सु पार्थिव सु	(अलौ० वि०) 'विशेषणं विशेष्येण०' से विशेषणवाची पद 'शाकप्रिय' का विशेष्यवाची पद 'पार्थिव' के साथ समास हुआ। 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
शाकप्रिय पार्थिव	'प्रथमानिर्दिष्टं समास०' से विशेषणपद 'शाकप्रिय' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
शाकप्रिय पार्थिव	'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये०' वार्तिक से पूर्वपदस्थ उत्तरपद 'प्रिय' का लोप हुआ
शाक पार्थिव	समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
शाक पार्थिव सु	अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
शाकपार्थिवः	रूप सिद्ध होता है।
देवब्राह्मणः	देवपूजकः चासौ ब्राह्मणः, लौ० वि० (देवता की पूजा करने वाला ब्राह्मण)
देवपूजक सु ब्राह्मण सु	(अलौ० वि०) शाकपार्थिव के समान 'विशेषणं विशेष्येण०' से विशेषणवाची पद 'देवपूजक' का विशेष्यवाची पद 'ब्राह्मण' के साथ समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
देवपूजक ब्राह्मण	'प्रथमादिर्निष्टं०' से विशेषणवाची पद की 'उपसर्जन' संज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग होने पर 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये०' से शाकपार्थिवादि गण में पठित 'देवब्राह्मण' की सिद्धि के लिए पूर्वपद 'देवपूजक' में जो उत्तरपद 'पूजक' उसका लोप हुआ
देवब्राह्मण	समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
देवब्राह्मण सु	पूर्ववत् अनुबन्ध-लोप, रुत्व एवं विसर्ग होकर
देवब्राह्मणः	रूप सिद्ध होता है।

९४६. नञ् २।२।६

नञ् सुपा सह समस्यते।

प०वि०–नञ् १।१।। **अनु०**–तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह, सुपा, समासः।

अर्थ– 'नञ्' अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है और वह 'तत्पुरुष' संज्ञक होता है।

९४७. न लोपो नञः ६।३।७३

नञो नस्य लोप उत्तरपदे। न ब्राह्मणः अब्राह्मणः।

प०वि०–न लुप्तषष्ठ्यन्त।। लोपः १।१।। नञः ६।१।। **अनु०**–उत्तरपदे।

अर्थः–उत्तरपद परे होने पर 'नञ्' के नकार का लोप होता है।

अब्राह्मणः	न ब्राह्मणः, लौ० वि० (ब्राह्मण से भिन्न)
ब्राह्मण सु न	(अलौ० वि०) 'नञ्' से 'नञ्' अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास हुआ। 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा' और 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
न ब्राह्मण	'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'नञ्' (न) अव्यय की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
न ब्राह्मण	'न लोपो नञः' से उत्तरपद 'ब्राह्मण' परे रहते 'नञ्' के नकार का लोप हुआ
अ ब्राह्मण	समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' तथा उसके स्थान में रुत्व एवं विसर्ग होकर
अब्राह्मणः	रूप सिद्ध होता है।

९४८. तस्मान्नुडचि ६।३।७४

लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुडागमः स्यात्। अनश्वः। नैकधेत्यादौ तु 'न' शब्देन सह (९०६) सुप्सुपेति समासः।

प०वि०–तस्मात् ५।१।। नुट् १।१।। अचि ७।१।। **अनु०**–नञः, उत्तरपदस्य।

अर्थ–'नञ्' सम्बन्धी नकार का लोप होने पर उससे परवर्ती अजादि उत्तरपद को 'नुट्' आगम होता है।

अनश्वः	न अश्वः, लौ० वि० (घोड़े से भिन्न)
न अश्व सु	(अलौ० वि०)
न अश्व सु	'नञ्' सूत्र से 'नञ्' अव्यय का समर्थ सुबन्त 'अश्व' के साथ समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ

न अश्व	'प्रथमानिर्दिष्टं०' से समास विधायक सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट पद के वाच्य 'न' की 'उपसर्जन' संज्ञा और 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्वप्रयोग होने पर 'न लोपो नञः' से उत्तरपद 'अश्व' परे रहते 'नञ्' के नकार का लोप हुआ
अ अश्व	'तस्मान्नुडचि' से 'नञ्' के नकार का लोप होने पर उससे उत्तर अजादि उत्तरपद (अश्व) को 'नुट्' आगम हुआ, 'आद्यन्तौ टकितौ' से नुडागम टित् होने से 'अश्व' का आदि-अवयव बना
अ नुट् अश्व	अनुबन्ध-लोप
अ न् अश्व	पूर्ववत् समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' से प्र० वि० तथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनै०' से एक व०में 'सु' आया
अ न् अश्व सु	अनुबन्ध-लोप होने पर पूर्ववत् रुत्व एवं विसर्ग होकर
अनश्वः	रूप सिद्ध होता है।

नैकधा इत्यादि शब्दों में 'नञ्' अव्यय नहीं है अपितु 'न' प्रातिपदिक है। इसलिए निषेधार्थक 'न' के साथ 'एकधा' का समास 'नञ्' सूत्र से न होकर 'सह सुपा' सूत्र से होता है। पूर्वपद 'नञ्' न होने के कारण नकार का लोप भी नहीं होगा और नकार-लोप के अभाव में 'नुट्' का आगम भी नहीं हो सकेगा। इस प्रकार 'न+एकधा' यहाँ 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि होकर 'नैकधा' रूप सिद्ध होता है।

१४९. कुगतिप्रादयः २।२।१८

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते। कुत्सितः पुरुषः-कुपुरुषः।

प०वि०—कुगतिप्रादयः १।३।। **अनु०**—नित्यं, तत्पुरुषः, सुप्, सह, सुपा, समासः।

अर्थ—'कु शब्द, गतिसंज्ञक शब्द और **प्र, परा** आदि शब्दों का समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और वह **'तत्पुरुष'** संज्ञक होता है।

कुपुरुषः	कुत्सितः पुरुषः, लौ० वि० (निन्दित पुरुष)
कु पुरुष सु	(अलौ० वि०) 'कुगतिप्रादयः' से 'कु' अव्यय का सुबन्त 'पुरुष' के साथ समास हुआ। पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्ति का लुक् हुआ
कु पुरुष	'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'कु' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
कु पुरुष	पूर्ववत् समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदिकार्थ०' से प्र० वि० तथा 'द्व्येकयोर्द्वि०' से एक व० की विवक्षा में 'सु' आया

कु पुरुष सु	पूर्ववत् अनुबन्ध-लोप, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
कुपुरुषः	रूप सिद्ध होता है।

१५०. ऊर्यादिच्विडाचश्च १।४।६१

ऊर्यादयश्च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः। ऊरीकृत्य, शुक्लीकृत्य, पटपटाकृत्य। सुपुरुषः, (वा०) प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया। प्रगत आचार्यः-प्राचार्यः। (वा०) अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया। अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे-

प०वि०-ऊर्यादिच्विडाचः १।३।। च अ०।। **अनु०**-गतिः, क्रियायोगे।

अर्थ-'ऊरी' आदि शब्द, **'च्वि' प्रत्ययान्त** शब्द तथा **'डाच्' प्रत्ययान्त** शब्द क्रिया के योग **में 'गति'** संज्ञक होते हैं।

ऊरीकृत्य	ऊरी कृत्वा, लौ० वि० (स्वीकार करके)
ऊरी कृत्वा	(अलौ० वि०) 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' से ऊर्यादि गण में पठित 'ऊरी' शब्द की क्रिया के योग में 'गति' संज्ञा होने से 'कुगतिप्रादयः' से गतिसंज्ञक 'ऊरी' का समर्थ सुबन्त के साथ समास हुआ,
ऊरी कृत्वा	'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' से नञ्-भिन्न समास में 'क्त्वा' के स्थान में 'ल्यप्' हुआ
ऊरी कृ ल्यप्	अनुबन्ध-लोप, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से 'तुक्' आगम, अनुबन्ध-लोप
ऊरी कृत्य	'क्त्वातोसुन्कसुनः' से क्त्वान्त की 'अव्यय' संज्ञा होती है अतः स्थानीवद्भाव से ल्यबन्त की भी 'अव्यय' संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होकर
ऊरीकृत्य	रूप सिद्ध होता है।
शुक्लीकृत्य	अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं कृत्वा, (जो श्वेत नहीं उसे श्वेत बनाकर)
शुक्ली कृत्वा[1]	'ऊर्यादिच्विडाचश्च' से 'च्वि' प्रत्ययान्त की 'गति' संज्ञा होने

१. शुक्ली कृत्वा-'शुक्ल अम्+कृत्वा' यहाँ क्त्वान्त 'कृ' धातु के योग में अभूततदभाव अर्थ में 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य कर्तरि च्वि' से तद्धित' संज्ञक 'च्वि' प्रत्यय आने पर 'चुटू' से चकार की तथा 'उपदेशेज०' से इकार की 'इत्' संज्ञा, 'तस्य लोपः' से उनका लोप और 'वेरपृक्तस्य' से वकार का लोपः' होने से 'च्वि' का कुछ भी शेष नहीं रहता। तब 'शुक्ल+अम्' की लुप्त 'तद्धित' संज्ञक 'च्वि' को निमित्त मान कर, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति 'अम्' का लुक् होने पर 'अस्य च्वौ' से 'च्वि' को परे मान कर अकार को ईकार आदेश होकर 'शुक्ली कृत्वा' यह स्थिति बनती है।

	से 'कुगतिप्रादयः' से समास होने के कारण 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' से 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' आदेश हुआ
हुरुली कृ ल्यप्	अनुबन्ध-लोप, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से 'ल्यप्' परे रहते ह्रस्व 'ऋ' को 'तुक्' आगम हुआ
हुरुली कृ तुक् य	अनुबन्ध-लोप, स्थानीवद्भाव से 'क्त्वातोसुन्कसुनः' से ल्यबन्त की 'अव्यय' संज्ञा होने से प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होने पर
हुरुलीकृत्य	रूप सिद्ध होता है।
पटपटाकृत्य	पटत्-पटत् इति कृत्वा, लौ० वि० (पट-पट शब्द करके)
पटत् कृ त्वा	'अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्' से 'कृ' धातु के योग में दो 'अच्' वाले अव्यक्त के अनुकरण 'पटत्' से 'इति' परे न होने पर 'डाच्' की विवक्षा मात्र में 'डाचि बहुलं द्वे भवतः' वार्तिक से 'पटत्' को द्वित्व होने पर 'डाच्' प्रत्यय हुआ
पटत् पटत् डाच् कृ क्त्वा	अनुबन्ध-लोप
पटत् पटत् आ कृ त्वा	'तस्य परमाम्रेडितम्' से बाद वाले 'पटत्' की 'आम्रेडित' संज्ञा होने से 'नित्यमाम्रेडिते डाचि इति वक्तव्यम्' वार्तिक से डाच्परक आम्रेडित परे रहते पूर्व और पर वर्णों के स्थान में पररूप एकादेश होता है। यहाँ 'त्' और 'प्' के स्थान में पररूप 'प्' आदेश हुआ
पटपटत् आ कृ त्वा	'यचि भम्' से भसंज्ञा होने पर 'टेः' से 'डित्' परे रहते 'टि' भाग (अत्) का लोप हुआ
पटपट् आ कृ त्वा	'ऊर्यादिच्विडाचश्च' से पूर्ववत् 'डाच्' प्रत्ययान्त की 'गति' संज्ञा होने के कारण 'कुगतिप्रादयः' से 'गति' संज्ञक 'पटपटा' का समास होने पर 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' से नञ्भिन्न समास में 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' आदेश हुआ
पटपटा कृ ल्यप्	अनुबन्ध-लोप, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक् आगम, अनुबन्ध-लोप
पटपटा कृ त् य	पूर्ववत् 'क्त्वातोसुन्कसुनः' से ल्यबन्त की 'अव्यय' संज्ञा होने से प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होकर
पटपटाकृत्य	रूप सिद्ध होता है।
सुपुरुषः	शोभनः पुरुषः, लौ० वि० (सुन्दर पुरुष)
सु पुरुष सु	(अलौ० वि०) 'कुगतिप्रादयः' से 'सु' का, प्रादि में होने के

	कारण, समास हुआ। अन्य सभी कार्य 'कुपुरुष:' (९४९) के समान होकर
'सुपुरुष:'	रूप सिद्ध होता है

(वा) **'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया'–अर्थ**–प्र, परा आदि का प्रथमान्त समर्थ सुबन्त के साथ **'गत'** आदि अर्थों में समास होता है।

प्राचार्य:	प्रगत आचार्य:, लौ० वि० (प्रधानाचार्य)
प्र आचार्य सु	(अलौ० वि०) 'प्रादयो गताद्यर्थे०' वार्तिक से समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्ति 'सु' का लुक् हुआ
प्र आचार्य	'प्रथमानिर्दिष्टं समास०' से 'प्र' की 'उपसर्जन' संज्ञा होने पर 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उपसर्जन 'प्र' का पूर्व प्रयोग हुआ
प्र आचार्य	'अक: सवर्णे दीर्घ:' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ
प्राचार्य	समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व तथा विसर्ग होकर
प्राचार्य:	रूप सिद्ध होता है।

(वा०) **'अत्यादय: क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया'–अर्थ**–'अति' आदि निपातों का 'क्रान्त' आदि अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है।

इस वार्तिक के उदाहरण **'अतिमाल:'** की सिद्धि आगे (९५२) सूत्र में देखें।

९५१. एकविभक्ति[1] चापूर्वनिपाते १।२।४४

विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं स्यान्न तु तस्य पूर्वनिपात:।

प०वि०–एकविभक्ति १।१।। च अ०।। अपूर्वनिपाते ७।१।। **अनु०**–समासे, उपसर्जनम्।

अर्थ–विग्रह वाक्य में जो नियत विभक्त्यन्त पद हो, उसकी **'उपसर्जन'** संज्ञा होती है, किन्तु उसका पूर्वप्रयोग नहीं होता है।

९५२. गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १।२।४८

उपसर्जनं यो गोशब्द: स्त्री प्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्व: स्यात्। अतिमाल:।

(वा०) अवादय: क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया। अवक्रुष्ट: कोकिलया–अवकोकिल:। (वा०) पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या। परिग्लानोऽध्ययनाय–पर्यध्ययन: (वा०) निरादय: क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या। निष्क्रान्त: कौशाम्ब्या:–निष्कौशम्बि:।

प०वि०–गोस्त्रियो: ६।२। उपसर्जनस्य ६।१।। **अनु०**–ह्रस्व:, प्रातिपदिकस्य।

---

१. 'एकविभक्ति' पद नपुंसक लिङ्ग में विसर्गरहित होता है इसका विग्रह इस प्रकार होगा–'एका विभक्तिर्यस्य तददिमेकविभक्ति'।

अर्थ—उपसर्जन गोशब्दान्त तथा उपसर्जन स्त्री प्रत्ययान्त प्रातिपदिक के अन्तिम 'अच्' को ह्रस्व होता है।

अतिमालः मालाम् अतिक्रान्तः, लौ० वि० (माला का अतिक्रमण करने वाला)

माला अम् अति (अलौ० वि०) 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे०' से अतिक्रमण अर्थ में विद्यमान अव्यय 'अति' का द्वितीयान्त 'माला' पद के साथ समास, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् हुआ

माला अति 'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'अति' की 'उपसर्जन' संज्ञा होने पर 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ

अति माला प्रातिपदिक संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया

अति माला सु 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' से विग्रह वाक्य में नियत विभक्ति वाले 'माला' पद की 'उपसर्जन' संज्ञा हुई, परन्तु उपसर्जन होने पर उसका पूर्व प्रयोग नहीं हुआ। माला की 'उपसर्जन' संज्ञा होने के कारण 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से 'उपसर्जन' स्त्री प्रत्ययान्त माला के अन्तिम अच् 'आ' को ह्रस्व हुआ

अति माल सु पूर्ववत् प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर रुत्व एवं विसर्ग होकर

अतिमालः रूप सिद्ध होता है।

(वा०) **'अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया'**—**अर्थ**—'क्रुष्ट' आदि अर्थात् कूजित आदि अर्थों में विद्यमान **'अव'** आदि का तृतीयान्त समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है।

अवकोकिलः अवक्रुष्टः कोकिलया, लौ०वि० (कोयल से कुपित)

अव कोकिला टा (अलौ० वि०) 'अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे०' से 'अव' अव्यय का सुबन्त के साथ समास, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्त का लुक् हुआ

अव कोकिला 'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'अव' की 'उपसर्जन' संज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्वनिपात, 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' से विग्रह वाक्य में नियतविभक्तिक पद 'कोकिला' की 'उपसर्जन' संज्ञा हुई परन्तु उसका पूर्वनिपात नहीं हुआ, 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से स्त्रीप्रत्यान्त उपसर्जन 'कोकिला' के 'आ' को ह्रस्व हुआ

अव कोकिल समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति 'होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया

अवकोकिल सु अनुबन्ध-लोप, रुत्व तथा विसर्गादि होकर

अवकोकिलः रूप सिद्ध होता है।

(वा०) 'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या'—अर्थ—'ग्लानि' आदि अर्थों में विद्यमान 'परि' आदि का चतुर्थ्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है।

पर्यध्ययनः — ग्लानः अध्ययनाय, लौ० वि० (अध्ययन के लिए अनुत्साही)

परि अध्ययन ङे — (अलौ० वि०) 'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या' से ग्लानि अर्थ में विद्यमान 'परि' का चतुर्थ्यन्त 'अध्ययन' के साथ समास हुआ 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्ति 'ङे' का लुक् हुआ

परि अध्ययन — 'प्रथमानिर्दिष्टं समास०' से 'परि' की उपसर्जन संज्ञा और 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ

परि अध्ययन — 'इको यणचि' से यणादेश 'इ' के स्थान पर 'य्' हुआ

पर्यध्ययन — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' को रुत्व तथा विसर्ग होकर

पर्यध्ययनः — रूप सिद्ध होता है।

(वा०) 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या'—अर्थ—'निर्' आदि का 'क्रान्त' आदि अर्थ में पञ्चम्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है।

निष्कौशाम्बिः — निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः, लौ० वि० (कौशाम्बी से निकला हुआ)

निर् कौशाम्बी ङसि — (अलौ० वि०) 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' से 'निर्' अव्यय का पञ्चम्यन्त सुबन्त 'कौशाम्बी' के साथ समास, 'कृत्तद्धित-समासा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्ति का लुक् हुआ

निर् कौशाम्बी — 'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'निर्' की 'उपसर्जन' संज्ञा और 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ

निर् कौशाम्बी — 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' से विग्रह वाक्य में नियतविभक्ति वाले शब्द कौशाम्बी की 'उपसर्जन' संज्ञा हुई तथा 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से उपसर्जन स्त्री प्रत्ययान्त 'कौशाम्बी' के अन्तिम अच् 'ई' के स्थान पर ह्रस्व हुआ

निर् कौशाम्बि — 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'खर्' (ककार) परे रहते 'निर्' के रेफ के स्थान में विसर्ग हुआ

निः कौशाम्बि — 'इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य' से इकार उपधा वाले प्रत्ययभिन्न जो विसर्ग, उस विसर्ग के स्थान में षकारादेश हुआ कवर्ग परे रहते

निष् कौशाम्बि — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया

निष्कौशाम्बि सु — यहाँ तत्पुरुष समास होने के कारण 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः'

से समस्त पद का लिङ्ग उत्तरपद के अनुसार स्त्रीलिङ्ग होना चाहिए था, जिसका 'द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः' से निषेध हो गया तथा विशेष्य के अनुसार लिङ्ग पुल्लिङ्ग हुआ, अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर रूप सिद्ध होता है।

निष्कौशाम्बिः

१५३. तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ३।१।९२

सप्तम्यन्ते पदे कर्मणीत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं यत् कुम्भादि तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात्।

प०वि०—तत्र अ०।। उपपदम् १।१।। सप्तमीस्थम् १।१।। **अनु०**—धातोः।

अर्थ—धातु (**धातोः ३.१.९१**) के अधिकार में आने वाले सूत्रों में जो सप्तम्यन्त 'कर्मणि' आदि पद, उनके वाच्य के रूप में उपस्थित जो अर्थ (कुम्भ आदि वस्तु), उन अर्थ के वाचक पदों की 'उपपद' संज्ञा होती है।

१५४. उपपदमतिङ् २।२।१९

उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते, अतिङन्तश्चायं समासः। कुम्भं करोतीति-कुम्भकारः। अतिङ् किम्? मा भवान् भूत्, 'माङि लुङ्' इति सप्तमीनिर्देशान्माङुपपदम्। (प०) गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः। व्याघ्री। अश्वक्रीती। कच्छपीत्यादि।

प०वि०—उपपदम् १।१।। अतिङ् १।१।। **अनु०**—नित्यं, तत्पुरुषः, सुप्, सुपा, समासः।

अर्थ—उपपद सुबन्त का समर्थ के साथ नित्य **'तत्पुरुष'** ही समास होता है। यह समास तिङन्त के साथ नहीं होता।

कुम्भकारः	कुम्भं करोति इति, लौ० वि० (घड़ा बनाने वाला)
कुम्भ ङस् कृ	(अलौ० वि०) 'कर्मण्यण्' से कर्म उपपद में रहते धातु से 'अण्' प्रत्यय हुआ
कुम्भ ङस् कृ अण्	अनुबन्ध-लोप, 'अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय परे रहते इगन्त अङ्ग को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से 'अण्' के रपर होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ऋ' के स्थान में 'आर्' वृद्धि हुई
कुम्भ ङस् कार् अ	'उपपदमतिङ्' से उपपद सुबन्त का तिङ्भिन्न समर्थ के साथ समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमासा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से 'ङस्' विभक्ति का लुक् हुआ
कुम्भ कार् अ	'प्रथमानिर्दिष्टं०' से उपपद 'कुम्भ' की 'उपसर्जन' संज्ञा होने पर 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ

कुम्भ कार् अ	प्रातिपदिक संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' आकर सकार को रुत्व तथा विसर्ग होने पर
कुम्भकारः	रूप सिद्ध होता है।

अतिङ् किम?—सूत्र में अतिङ् ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'मा भवान् भूत्' इस उदाहरण में 'माङि लुङ्' सूत्र से 'लुङ्' लकार होता है। इस सूत्र में 'माङि' पद सप्तम्यन्त होने के कारण 'माङ्' की 'उपपद' संज्ञा है यदि 'उपपदम्' इतना ही सूत्र बनाते तो 'माङ्' इस उपपद के साथ 'भूत्' इस तिङन्त का भी समास हो जाता, जो कि अनिष्ट होता। इस अनिष्टापत्ति का वारण 'अतिङ्' कहकर किया है।

(परिभाषा) गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः
—**अर्थ**—गतिसंज्ञक, कारक और उपपद का कृदन्त शब्दों के साथ 'सुप्' (विभक्ति) की उत्पत्ति से पहले ही समास होता है।

व्याघ्री	वि=विशेषेण आ=समन्तात् जिघ्रति, लौ० वि० (बाघिन)
वि आ घ्रा	(अलौ० वि०) 'आतश्चोपसर्गे' से आकारान्त धातु से, उपसर्ग उपपद में रहते, 'क' प्रत्यय हुआ
वि आ घ्रा क	'लशक्वतद्धिते' से प्रत्यय के आदि में ककार की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से उसका लोप हुआ
वि आ घ्रा अ	'आतो लोप इटि च' से अजादि और इडादि कित्, ङित् अर्धधातुक परे रहते आकारान्त अङ्ग का लोप होता है, इसलिए 'क' (कित्) परे रहते 'आ' का लोप हुआ
वि आ घ्र् अ	'उपपदमतिङ्' से 'आ' के साथ 'घ्र' का समास हुआ
वि आघ्र	पुनः 'गतिश्च' से 'वि' की गति संज्ञा होने के कारण 'कुगतिप्रादयः' से 'वि' का 'आघ्र' के साथ समास होने पर 'इको यणचि' से यणादेश हुआ
व्याघ्र अ	'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' से यकार-भिन्न उपधा वाले और नियत स्त्रीलिङ्ग से भिन्न जातिवाचक 'व्याघ्र' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय आया
व्याघ्र ङीष्	अनुबन्ध-लोप, 'यस्येति च' से अकार-लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
व्याघ्री सु	अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार लोप होकर
व्याघ्री	रूप सिद्ध होता है।
अश्वक्रीती	(अश्वेन क्रीता, लौ० वि०) (घोड़े से खरीदी हुई)
अश्व टा क्रीत	(अलौ०वि०) 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' से करण में जो तृतीया,

	उसका कृदन्त के साथ बहुल करके समास होने पर 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् हुआ
अश्व क्रीत	'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'उपसर्जन' संज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' से 'अश्व' का पूर्व प्रयोग होने पर 'क्रीतात् करणपूर्वात्' से ह्रस्व अकारान्त 'करण' कारक पूर्व में रहने पर 'क्रीत' अन्त वाले शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय आया
अश्वक्रीत ङीष्	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा और 'यस्येति च' से अकार का लोप हुआ
अश्वक्रीती	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर सकार का हल्ङ्यादि लोप आदि कार्य 'व्याघ्री' के समान होकर
अश्वक्रीती	रूप सिद्ध होता है।
कच्छपी	कच्छेन पिबति, लौ० वि० (कछुवी)
कच्छ टा पा	(अलौ० वि०) 'सुपि स्थः' से सुबन्त उपपद रहते धातु (पा) से 'क' प्रत्यय हुआ। 'सुपि स्थः' सूत्र का योग-विभाग करके पूर्वपद 'सुपि' को स्वतंत्र सूत्र मानकर उपर्युक्त अर्थ किया गया है।
कच्छ टा पा क	अनुबन्ध-लोप, 'आतो लोप इटि च' से अजादि कित् आर्धधातुक परे रहते आकार का लोप, 'उपपदमतिङ्' से समास, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक्, प्रथमानिर्दिष्टं०' से उपपद 'कच्छ' की 'उपसर्जनं' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उपसर्जन का पूर्व प्रयोग हुआ
कच्छ प	'जातेरस्त्रीविषयादयोधात्' से यकार-भिन्न उपधा वाले नियत स्त्रीलिङ्ग से भिन्न जातिवाचक कच्छप से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय हुआ
कच्छप ङीष्	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा, 'यस्येति च' से अकार का लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर सकार का हल्ङ्यादि लोप होने पर
कच्छपी	रूप सिद्ध होता है।

९५५. तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः ५।४।८६

संख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य समासान्तोऽच् स्यात्।

द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम्। निर्गतमङ्गुलिभ्यः-निरङ्गुलम्।

प०वि०—तत्पुरुषस्य ६।१।। अङ्गुलेः ६।१।। संख्याव्ययादेः ६।१।। **अनु०**—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च।

अर्थ—संख्यावाचक शब्द या अव्यय-शब्द जिसके आदि में तथा 'अङ्गुलि' शब्द अन्त में हो, ऐसे तत्पुरुष से समासान्त **'अच्'** प्रत्यय होता है।

द्व्यङ्गुलम्	द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य तत्, लौ० वि० (दो अंगुली नाप है जिसका ऐसी दारु (लकड़ी) आदि)
द्वि औ अङ्गुलि औ	(अलौ० वि०) 'तद्धितार्थोत्तर०' से तद्धितार्थ (तदस्य प्रमाणम्) का विषय बनने पर संख्यावाचक का 'अङ्गुलि' सुबन्त के साथ समास, 'कृत्तद्धितसमासा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
द्वि अङ्गुलि	'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनं' से संख्यावाचक 'द्वि' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
द्वि अङ्गुलि	'इको यणचि' से यणादेश 'इ' के स्थान पर 'य्' हुआ
द्व्य् अङ्गुलि	'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्०' से 'इस परिमाण वाला' इस अर्थ में 'मात्रच्' प्रत्यय हुआ
द्व्य् अङ्गुलि मात्रच्	'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' वार्त्तिक से द्विगु समास से उत्तर प्रमाण अर्थ में विहित प्रत्ययों का लुक् होता है यहाँ 'संख्यापूर्वो द्विगुः' सूत्र से समास की 'द्विगु' संज्ञा होने से उससे उत्तर 'मात्रच्' का लुक् हुआ
द्व्य् अङ्गुलि	'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः' से संख्यादि अङ्गुल्यन्त तत्पुरुष से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हुआ
द्व्य् अङ्गुलि अच्	अनुबन्ध-लोप
द्व्य् अङ्गुलि अ	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से 'भ' संज्ञक के इकार का लोप हुआ, अजादि तद्धित परे रहते
द्व्यङ्गुल् अ	समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
द्व्यङ्गुल् अ सु	समस्तपद का लिङ्ग विशेष्य (दारु) के अनुसार नपुंसक लिङ्ग होने से अदन्त नपुंसक से उत्तर 'अतोऽम्' से 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
द्व्यङ्गुलम्	रूप सिद्ध होता है।
निरङ्गुलम्	निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः, लौ० वि० (अङ्गुलियों से निकली हुई)
निर् अङ्गुलि भ्यस्	(अलौ० वि०) 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' से 'निर्गत' अर्थ में विद्यमान 'निर्' का पञ्चम्यन्त अंगुलि के साथ समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ

निर् अङ्गुलि	'प्रथमानिर्दिष्ट०' से 'निर्' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
निर् अङ्गुलि	'तत्पुरुषस्याङ्गुले: संख्या०' से अव्ययादि अङ्गुल्यन्त तत्पुरुष से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हुआ
निर् अङ्गुलि अच्	अनुबन्ध-लोप
निर् अङ्गुलि अ	'भ' संज्ञा, इकार-लोप, स्वाद्युत्पत्ति आदि सभी कार्य द्व्यङ्गुलम् के समान होकर
निराङ्गुलम्	रूप सिद्ध होता है।

१५६. अह:सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रे: ५।४।८७

एभ्यो रात्रेरच् स्यात् चात् संख्याऽव्ययादे:। अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्।

प०वि०—अह:सर्वैक.......पुण्यात् ५।१।। च अ०।। रात्रे: ५।१।। **अनु०**—तत्पुरुषस्य, संख्याव्ययादे:, अच्, समासान्ता:, तद्धिता:, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्यय:, परश्च।

अर्थ—अहन्, सर्व, एकदेशवाचक, संख्यात, पुण्य, संख्यावाचक और **अव्यय** से परे जो **'रात्रि'** शब्द, तदन्त तत्पुरुष समास से समासान्त **'अच्'** प्रत्यय होता है।

सूत्र में **'अहन्'** के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'अहन्' शब्द के साथ 'रात्रि' का केवल द्वन्द्व समास ही सम्भव है इसलिए वहाँ भी समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो जाये।

१५७. रात्राऽह्नाऽहा: पुंसि २।४।२९

एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्येव। अहश्च रात्रिश्च-अहोरात्र:। सर्वरात्र:। संख्यातरात्र:। (वा०) संख्यापूर्वरात्रं क्लीबम्। द्विरात्रम्। त्रिरात्रम्।

प०वि०—रात्राऽह्नाऽहा: १।३।। पुंसि ७।१।। **अनु०**—द्वन्द्वतत्पुरुषयो:।

अर्थ—रात्र, अहन् और **अह** शब्द जिनके अन्त में हों, ऐसे द्वन्द्व और तत्पुरुष पुल्लिंग में ही होते हैं।

अहोरात्र:	अहश्च रात्रिश्च तयो: समाहार:, लौ० वि० (दिन-रात)
अहन् सु रात्रि सु	(अलौ० वि०) 'चार्थे द्वन्द्व:' से 'च' के (समाहार) अर्थ में द्वन्द्व समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् और 'अल्पाच्तरम्' से अल्पतर अच् वाले 'अहन्' का पूर्व प्रयोग हुआ
अहन् रात्रि	'रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्' वार्त्तिक से 'रात्रि' परे रहते 'अहन्' के नकार को 'रु' आदेश हुआ
अहरु रात्रि	'हशि च' से अप्लुत अकार से उत्तर 'रु' के स्थान में उकारादेश हुआ 'हश्' (रेफ) परे रहते
अह उ रात्रि	'आद् गुण:' से गुण एकादेश होकर 'ओ' हुआ

अहोरात्रि	'अहः सर्वैकदेशसंख्यात०' से सूत्र में 'अहन्' ग्रहण सामर्थ्य से, द्वन्द्व समास से 'अच्' प्रत्यय हुआ
अहो रात्रि अच्	अनुबन्ध-लोप
अहो रात्रि अ	पूर्ववत् 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा, 'यस्येति च' से इकार का लोप तथा स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
अहो रात्र् अ सु	अनुबन्ध-लोप, यहाँ 'स नपुंसकम्' से समाहारार्थक द्वन्द्व से नपुंसकलिङ्ग प्राप्त था उसे बाधकर 'रात्राह्नाहाः पुंसि:' से 'रात्र' शब्द अन्त में है जिसके, ऐसे द्वन्द्व समास का लिङ्ग पुल्लिंग होने से सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर
अहोरात्रः	रूप सिद्ध होता है।
सर्वरात्रः	सर्वा चासौ रात्रिः, लौ० वि० (सम्पूर्ण रात्रि)
सर्वा सु रात्रि सु	(अलौ० वि०) 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' से विशेषणवाची सुबन्त 'सर्वा' का विशेष्यवाची समर्थ सुबन्त 'रात्रि' से समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमासाश्च०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्तियों का लुक् हुआ
सर्वा रात्रि	'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' से 'सर्वा' की उपसर्जन संज्ञा और 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
सर्वा रात्रि	'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवंद्भावः' से 'सर्वा' को पुंवद्भाव होकर 'सर्व' आदेश हुआ
सर्व रात्रि	'अहःसर्वैकदेशसंख्यात०' से 'सर्व' शब्द से उत्तर 'रात्रि' अन्त वाले तत्पुरुष समास से तद्धित संज्ञक 'अच्' प्रत्यय हुआ
सर्व रात्रि अच्	अनुबन्ध-लोप
सर्व रात्रि अ	पूर्ववत्: 'यचि भम्' सें 'भ' संज्ञा तथा 'यस्येति च' से तद्धित परे रहते 'भ' संज्ञक अङ्ग के इकार का लोप हुआ
सर्व रात्र् अ	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
सर्व रात्र् अ सु	यहाँ 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से समास में स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था, परन्तु उसे बाधकर 'रात्राऽह्नाऽहाः पुंसि' से रात्र्यन्त तत्पुरुष होने से समास का लिङ्ग पुल्लिङ्ग हुआ। अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् सकार को रुत्व और विसर्गादि होकर
सर्वरात्रः	रूप सिद्ध होता है।
संख्यातरात्रः	संख्याता चासौ रात्रिः, लौ० वि० (गिनी हुई रात्रि)
संख्याता सु रात्रि सु	(अलौ० वि०) 'विशेषणं विशेष्येण०' से समास होने पर अन्य सभी कार्य **सर्वरात्रः** के समान होकर
संख्यातरात्रः	रूप सिद्ध होगा।

(वा०)–संख्यापूर्वरात्रं क्लीबम्–अर्थ–संख्यापूर्वक रात्र शब्द नपुंसकलिङ्ग में होता है।

द्विरात्रम्	द्वयो रात्र्योः समाहारः, लौ० वि० (दो रातें)
द्वि ओस् रात्रि ओस्	(अलौ० वि०) 'तद्धितार्थो०' से संख्यावाचक सुबन्त 'द्वि' का 'रात्रि' सुबन्त के साथ समाहार अर्थ में तत्पुरुष समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्ति–लुक् हुआ
द्वि रात्रि	'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'द्वि' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम् से उसका पूर्वनिपात हुआ
द्वि रात्रि	'अहस्सर्वैकदेश०' से पूर्ववत् समासान्त 'अच्' हुआ
द्वि रात्रि अच्	अनुबन्ध–लोप, 'यचि भम्' से भसंज्ञा, 'यस्येति च' से इकार–लोप पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति से प्रथमा–एक वचन में 'सु' आया
द्वि रात् अ सु	यहाँ 'परवल्लिङ्गं०' सूत्र से तत्पुरुष समास से उत्तरपद के अनुसार स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था जिसे 'रात्राऽह्नाऽहाः पुंसि' ने, अपवाद होने के कारण, बाध लिया और पुल्लिँङ्ग की प्राप्ति कराई, इस पुल्लिँङ्ग प्राप्ति को बाधकर 'संख्यापूर्वरात्रं क्लीबम्' से यहाँ नपुंसकलिङ्ग हो गया
द्वि रात् अ सु	'अतोऽम्' से ह्रस्व अकारान्त नपुंसक से उत्तर 'सु' और 'अम्' के स्थान में अमादेश होता है इसलिए यहाँ ह्रस्व अकारान्त **रात्र** शब्द से उत्तर 'सु' के स्थान पर अमादेश हुआ
द्वि रात्र अम्	'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
द्वि रात्रम्	रूप सिद्ध होता है।
त्रिरात्रम्	तिसृणां रात्रीणां समाहारः, लौ० वि० (तीन रातें)
त्रि आम् रात्रि आम्	(अलौ० वि०) 'तद्धितार्थोत्तर०' से समास होने पर अन्य सभी कार्य 'द्विरात्रम्' के समान होकर
त्रिरात्रम्	सिद्ध होता है।

९५८. राजाहःसखिभ्यष्टच् ५।४।९१

एतदन्तात् तत्पुरुषाट्टच् स्यात्। परमराजः।

प०वि०–राजाहःसखिभ्यः ५।३।। टच् १।१।। **अनु०**–तत्पुरुषः, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च।

अर्थ–यदि तत्पुरुष के अन्त में **राजन्, अहन्** तथा **सखि** शब्द हों तो उससे समासान्त **'टच्'** प्रत्यय होता है।

परमराजः	परमश्चासौ राजा, लौ० वि० (श्रेष्ठ राजा)
परम सु राजन् सु	(अलौ० वि०) 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' से सत्, महत्, परम, उत्तम तथा उत्कृष्ट शब्दों का पूज्यमानवाची समानाधिकरण के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है। यहाँ 'परम' का पूज्यमानवाची 'राजन्' के साथ समास हुआ
परम राजन्	'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः०' से विभक्ति-लुक् हुआ
परम राजन्	'प्रथमानिर्दिष्टं समा०' से 'परम' की 'उपसर्जनं' संज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व निपात होने पर 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' से राजन्नन्त तत्पुरुष से 'टच्' प्रत्यय हुआ
परम् राजन् टच्	अनुबन्ध-लोप
परम राजन् अ	'यचि भम्' से भसंज्ञा तथा 'नस्तद्धिते' से तद्धित प्रत्यय परे रहते नकारान्त 'भ' संज्ञक के टिभाग (अन्) का लोप हुआ,
परम् राज् अ	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति 'सु' आकर रुत्व और विसर्गादि होकर
परमराजः	रूप सिद्ध होता है।

९५९. आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।४६

महत आकारोऽन्तादेशः स्यात् समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे। महाराजः। प्रकारवचने जातीयर् (५.३.६९)। महाप्रकारो-महाजातीयः।

प०वि०—आत् १।१।। महतः ६।१। समानाधिकरणजातीययोः ६।१। **अनु०**—उत्तरपदे।

अर्थ—समानाधिकरण उत्तरपद और **'जातीय'** प्रत्यय परे होने पर **'महत्'** को आकारादेश होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश 'महत्' के अन्त्य अल् तकार के स्थान में होता है

महाराजः	महांश्चासौ राजा, लौ० वि० (सर्वश्रेष्ठ राजा)
महत् सु राजन् सु	(अलौ० वि०) 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टा०' से पूर्ववत् 'महत्', शब्द का समानाधिकरण पूज्यमानवाची उत्तरपद 'राजन्' के साथ तत्पुरुष समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमासा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
महत् राजन्	'प्रथमानिर्दिष्टं०' से महत् की 'उपसर्जन' संज्ञा और 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
महत् राजन्	'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' से समानाधिकरण उत्तरपद 'राजन्' परे रहते 'महत्' शब्द को आकरादेश हुआ। 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य अल् 'त्' के स्थान में 'आ' आदेश हुआ

महा आ राजन् — 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घैकादेश हुआ

महा राजन् — 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' से 'राजन्' अन्त वाले तत्पुरुष से समासान्त 'टच्' प्रत्यय हुआ

महा राजन् टच् — अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से भसंज्ञा तथा 'नस्तद्धिते' से तद्धित परे रहते नकारान्त भसंज्ञक के टिभाग 'अन्' का लोप हुआ

महा राज् अ — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर सकार को रुत्व और रेफ को विसर्गादि होकर

महाराजः — रूप सिद्ध होता है।

महाजातीयः — महान् इव, (बड़ों के समान पुरुष)

महत् — 'प्रकारवचने जातीयर्' से 'प्रकार' अर्थ में प्रातिपदिक से 'तद्धित' संज्ञक 'जातीयर्' प्रत्यय हुआ

महत् जातीयर् — अनुबन्ध-लोप, 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' से 'जातीयर्' प्रत्यय परे रहते 'महत्' शब्द के अन्तिम 'अल्' तकार को आकारादेश हुआ

महआ जातीय — 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश तथा स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर

महाजातीयः — यह रूप सिद्ध होता है।

९६०. द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ६।३।४७

आत् स्यात्। द्वौ च दश च द्वादश। अष्टाविंशतिः।

प०वि०—द्व्यष्टनः ६।१।। संख्यायाम् ७।१। बहुव्रीह्यशीत्योः ७।२।। **अनु०**—आत्, उत्तरपदे।

अर्थ—**'द्वि'** और **'अष्टन्'** शब्द को आकार अन्तादेश होता है संख्यावाची उत्तरपद परे रहते, किन्तु बहुव्रीहि समास में और 'अशीति' उत्तरपद परे रहते नहीं होता।

द्वादश — द्वौ च दश च, लौ० वि० (बारह)

द्वि औ दशन् जस् — (अलौ० वि०) 'चार्थे द्वन्द्वः' से 'च' के इतरेतर अर्थ में विद्यमान प्रथमान्त समर्थ सुबन्तों का समास हुआ 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् हुआ

द्वि दशन् — 'अल्पाच्तरम्' से अल्प अच् वाले पद 'द्वि' का पूर्व प्रयोग हुआ

द्वि दशन् — 'द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः' से संख्यावाची उत्तरपद परे रहते 'द्वि' शब्द को आकार आदेश, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्तिम 'अल्' इकार के स्थान में हुआ

द्वा दशन् — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया

द्वा दशन् सु	अनुबन्ध-लोप
द्वा दशन् स्	'अपृक्त एकल्प्रत्ययः' से सकार की 'अपृक्त' संज्ञा हुई तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' से 'अपृक्त' सकार का लोप हुआ
द्वा दशन्	प्रत्ययलक्षण से लुप्त 'सु' को निमित्त मान कर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप होकर
द्वादश	रूप सिद्ध होता है।
अष्टाविंशतिः	अष्टौ च विंशतिश्च, लौ० वि० (अट्ठाईस)
अष्टन् औ विंशति सु	(अलौ० वि०) 'चार्थे द्वन्द्वः' से 'च' के 'इतरेतर' अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त सुबन्तों का 'द्वन्द्व' समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमासा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् हुआ
अष्टन् विंशति	'अल्पाच्तरम्' से अल्पतर अच् वाला पद 'अष्टन्' पूर्व प्रयुक्त हुआ
अष्टन् विंशति	'द्व्यष्टनः संख्यायाम०' से संख्यावाची उत्तरपद परे रहते 'अष्टन्' शब्द को आकार अन्तादेश हुआ
अष्टा विंशति	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होकर
अष्टाविंशतिः	रूप सिद्ध होता है।

९६१. परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः २।४।२६

एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात्। कुक्कुटमयूर्याविमे। मयूरीकुक्कुटाविमौ। अर्धपिप्पली। (वा०) द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः-पुरोडाशः।

प०वि०—परवत् अ०।। लिङ्गम् १।१।। द्वन्द्वतत्पुरुषयोः ६।२।।

अर्थ—**द्वन्द्व** और **तत्पुरुष** समास का लिङ्ग उत्तरपद के लिङ्ग के समान होता है।

कुक्कुटमयूर्यौ	कुक्कुटश्च मयूरी च, लौ० वि० (मुर्गा और मोरनी)
कुक्कुट सु मयूरी सु	(अलौ० वि०) 'चार्थे द्वन्द्व' से 'इतरेतर' अर्थ में समास, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक हुआ
कुक्कुट मयूरी	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्र० वि० के द्वि व० में 'औ' आया

कुक्कुट मयूरी औ	'परवल्लिङ्गं द्वन्द्व०' से द्वन्द्व समास का लिङ्ग उत्तरपद 'मयूरी' के समान स्त्रीलिङ्ग होगा। 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घैकादेश प्राप्त था, जिसका 'दीर्घाज्जसि' से दीर्घ 'ई' से उत्तर 'इच्' (औ) परे रहते निषेध हो गया, अतः 'इको यणचि' से यणादेश 'ई' को 'य्' होकर
कुक्कुटमयूर्यौ	रूप सिद्ध होता है।
मयूरीकुक्कुटौ	मयूरी च कुक्कुटश्च, लौ० वि० (मोरनी और मुर्गा)
मयूरी सु कुक्कुट सु	(अलौ० वि०) पूर्ववत् समासादि सभी कार्य होकर विभक्तियों का लुक् होने पर
मयूरी कुक्कुट	स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्र० वि० के द्वि व० में 'औ' आया। 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से समास का लिङ्ग उत्तरपद 'कुक्कुट' के अनुसार पुल्लिङ्ग हुआ
मयूरी कुक्कुट औ	'प्रथमयोः पूर्वसर्वणः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त था, जिसका 'नादिचि' से निषेध होने पर 'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान में वृद्धि एकादेश होकर
मयूरीकुक्कुटौ	रूप सिद्ध होता है।
अर्धपिप्पली	
अर्धं पिप्पल्याः	इसकी सिद्धि-प्रक्रिया (९३३ अर्धं नपुंसकम्) की व्याख्या में देखें।

(वा०)–द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः–**अर्थ**–द्विगु समास में प्राप्त, आपन्न और अलंपूर्वक तत्पुरुष समास तथा गति-समास में समस्त पद का लिङ्ग उत्तरपद के समान नहीं होता अर्थात् इन में विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है।

(यह 'परवल्लिङ्गं०' का अपवाद है)

पञ्चकपालः	पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः, लौ० वि० (पाँच कपालों में संस्कार किया गया हवि)
पञ्चन् सुप् कपाल सुप्	(अलौ० वि०) यहाँ 'संस्कृतं भक्षाः'[1] सूत्र से तद्धितार्थ का विषय बन रहा है इसलिए 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' से संख्यावाची 'पञ्चन्' सुबन्त का समर्थ सुबन्त 'कपाल' के साथ

---

१. संस्कृतं भक्षा (अ० ४।२।१६) सप्तम्यन्त सुबन्त से 'संस्कृत' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है यदि वह संस्कृत पदार्थ भक्ष्य हो तो। प्रस्तुत उदाहरण में पाँच कपालों में संस्कृत पुरोडाश भक्ष्य है इसीलिए यहाँ तद्धितार्थ का विषय बन रहा है।

	समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्तियों का हुआ
पञ्चन् कपाल	'प्रथमानिर्दिष्टं समास०' से पञ्चन् की 'उपसर्जन' संज्ञा और 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
पञ्चन् कपाल	'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप हुआ
पञ्च कपाल	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' से प्रथमा विभक्ति और 'द्व्येकयोर्द्विवचनै०' से एकवचन की विवक्षा में 'सु' आया
पञ्च कपाल सु	द्विगुतत्पुरुष समास होने के कारण समास का लिङ्ग 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से उत्तरपद के अनुसार प्राप्त था, परन्तु 'द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः' से द्विगु समास में समस्तपद का लिङ्ग उत्तरपद के अनुसार नहीं होता, इसीलिए यहाँ द्विगु समास का लिङ्ग **विशेष्य के अनुसार** पुँल्लिङ्ग हुआ। अनुबन्ध-लोप, सकार को रुत्व तथा विसर्गादि कार्य पूर्ववत् होकर
पञ्चकपालः	रूप सिद्ध होता है।

९६२. प्राप्ताऽऽन्ने च द्वितीयया २।२।४

समस्येते अकारश्चानयोरन्तादेशः। प्राप्तो जीविकां–प्राप्तजीविकः। आपन्नजीवकः। **अलं कुमार्यै–अलङ्कुमारिः। अत एव ज्ञापकात् समासः।** निष्कौशाम्बिः।

प०वि०–प्राप्तापन्ने १।२।। च अ०।। द्वितीयया[1] ३।१।।

अनु०–तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः।

अर्थ–'**प्राप्त**' और '**आपन्न**' सुबन्तों का द्वितीयान्त सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष संज्ञक होता है। तथा **प्राप्त** और **आपन्न** शब्दों के अन्तिम वर्ण को अकार आदेश भी होता है।

प्राप्तजीविकः	प्राप्तो जीविकाम्, लौ० वि० (जीविका को प्राप्त)
प्राप्त सु जीविका अम्	(अलौ० वि०) 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया' से 'प्राप्त' सुबन्त का द्वितीयान्त सुबन्त 'जीविका' के साथ 'तत्पुरुष' समास तथा समस्त पद में 'प्राप्त' को अकारान्तादेश हुआ, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्ति-लुक् हुआ

---

१. प्राप्तापन्ने च द्वितीयया–यहाँ 'द्वितीयया' इस पद में 'द्वितीयया +अ=द्वितीयया' ऐसा प्रश्लिष्ट निर्देश होने के कारण अकारान्तादेश कहा गया है।
अकारान्त विधान का प्रयोजन **प्राप्ता जीविकम् इति प्राप्तजीविका** इत्यादि में आकार के स्थान पर अकार आदेश करना है। जिसका उदाहरण प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति मे ग्रन्थकार ने नहीं दिया है।

प्राप्त जीविका	'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'प्राप्त' की उपसर्जन संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
प्राप्त जीविका	विग्रह वाक्य में 'जीविकाम्' पद नियतविभक्तिक रहता है, इसलिए 'एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते' से 'जीविका' की उपसर्जन संज्ञा होने पर 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से उपसर्जन-संज्ञक स्त्री प्रत्ययान्त 'जीविका' के अन्तिम अच् 'आ' को ह्रस्व 'अ' आदेश हुआ
प्राप्त जीविक	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
प्राप्त जीविक सु	यहाँ 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से उत्तरपद के अनुसार समस्त पद का लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग होना चाहिए था, जिसका 'द्विगुप्राप्तापन्नालं०' वार्त्तिक से निषेध हो गया तथा विशेष्य के अनुसार ही समस्त पद का लिङ्ग पुल्लिङ्ग हुआ। अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
प्राप्तजीविकः	रूप सिद्ध होता है।
आपन्नजीविकः	आपन्नः जीविकाम्, लौ० वि० (जीविका को प्राप्त)
आपन्न सु जीविका अम्	(अलौ० वि०) 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया' से समास तथा 'आपन्न' को अकारान्तादेश हुआ। 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् हुआ
आपन्न जीविका	'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'आपन्न' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
आपन्न जीविका	विग्रह-वाक्य में 'जीविकाम्' पद नियतविभक्तिक होने से उसकी 'एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते' से उपसर्जन संज्ञा होती है, इसलिए 'गोस्त्रियोरुपसर्जन०' से उपसर्जनसंज्ञक स्त्रीप्रत्ययान्त जीविका के अन्तिम अच् 'आ' को ह्रस्व 'अ' आदेश हुआ
आपन्न जीविक	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
आपन्न जीविक सु	यहाँ 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्व०' से 'उत्तरपद के अनुसार समस्त पद का लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग होना चाहिए था जिसका 'द्विगुप्राप्तापन्नालं पूर्व०' से निषेध हो गया तथा विशेष्य के अनुसार ही समस्त पद का लिङ्ग पुँल्लिङ्ग हुआ। अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् सकार को रुत्व तथा विसर्गादि होकर रूप सिद्ध होता है।
आपन्नजीविकः	

अलङ्कुमारिः — अलं कुमार्यै, लौ० वि० (कुमारी के लिए सुयोग्य)

अलम् सु कुमारी ङे — (अलौ० वि०) यहाँ किसी भी पाणिनीय सूत्र से 'अलम्' पद का समास प्राप्त नहीं था, किन्तु अलंपूर्वक समास में परवत् लिङ्ग का निषेध वार्तिक के द्वारा किया गया है, जो कि इस बात का भी सूचक है कि 'अलम्' का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है अतः इस ज्ञापक के आधार पर समास हुआ। पूर्ववत् 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक् हुआ

अलम् कुमारी — 'प्रथमानिर्दिष्टं समास०' से 'अलम्' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से 'अलम्' का पूर्व प्रयोग हुआ

अलम् कुमारी — 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' से 'कुमारी' की भी 'उपसर्जन' संज्ञा होने पर 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से उपसर्जन स्त्री प्रत्ययान्त 'कुमारी' को ह्रस्व हुआ

अलम् कुमारि — 'मोऽनुस्वारः' से हल् परे रहते पदान्त मकार को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से 'यय्' पर रहते अनुस्वार को परसवर्ण (ङ्) हुआ

अलङ्कुमारि — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया

अलङ्कुमारि सु — यहाँ 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से समस्त पद का लिङ्ग उत्तरपद के लिङ्गानुसार स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था, जिसका 'प्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः' से निषेध हो गया तथा विशेष्य के अनुसार पुंल्लिङ्ग होने से 'सु' के स्थान पर पूर्ववत् रुत्व तथा विसर्गादि होकर

अलङ्कुमारिः — रूप सिद्ध होता है।

निष्कौशम्बिः की सिद्धि 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' सूत्र (९५२) में देखें।

९६३. अर्धर्चाः पुंसि च २।४।३१

अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः। अर्धर्चः, अर्धर्चम्। एवं ध्वज-तीर्थ-शरीर-मण्डप-यूप-देहाङ्कुश-पात्र-सूत्रादयः। सामान्ये नपुंसकम्। मृदु पचति। प्रातः कमनीयम्।

।। इति तत्पुरुषः।।

प० वि०–अर्धर्चाः १।३।। पुंसि ७।१।। च अ०।।

अर्थ–अर्धर्च आदि शब्द पुँल्लिंग और नपुंसक-लिंग में दोनों में होते है।

अर्धर्चः — ऋचः अधर्म्, लौ० वि० (मन्त्र का आधा भाग)

ऋच् ङस् अर्ध सु — (अलौ० वि०) 'अर्धं नपुंसकम्' से नित्य नपुंसकलिङ्ग में विद्यमान समांशवाचक 'अर्ध' शब्द का अवयवी वाचक सुबन्त 'ऋच्' के साथ समास हुआ, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति का लुक् हुआ

ऋच् अर्ध	'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'अर्ध' शब्द की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
अर्ध ऋच्	'ऋक्पूरबधू:पथामानक्षे' से 'ऋच्' अन्त वाले समास से 'अ' प्रत्यय हुआ
अर्ध ऋच् अ	'आद् गुण:' से अवर्ण से 'अच्' (ऋकार) परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान में गुण एकादेश प्राप्त हुआ, 'उरण् रपर:' से 'अण्' के रपर होने पर 'स्थानेन्तरतम:' से 'अर्' गुण हुआ
अर्धर्च् अ	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
अर्धर्च् अ सु	'अर्धर्चा: पुंसि च' से अर्धर्चादिशब्द पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग दोनों में होते हैं अत: एक बार 'अर्धर्च:' शब्द पुल्लिङ्ग में होने से 'सु' के स्थान में विसर्गादि होकर
अर्धर्च:	रूप सिद्ध होता है।
अर्धर्चम्	सभी कार्य **अर्धर्च:** के समान होने पर
अर्धर्च् अ सु	'अर्धर्चा: पुंसि च' से जिस पक्ष में नपुंसकलिङ्ग की प्राप्ति हुई तो 'अतोऽम्' से ह्रस्व अकारान्त नपुंसक से उत्तर 'सु' के स्थान में 'अम्' होकर
अर्धर्च अम्	'अमि पूर्व:' से पूर्वरूप एकादेश होने पर
अर्धर्चम्	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार, **ध्वज**, **तीर्थ**, **शरीर**, **मण्डप**, **यूप**, देह, **अङ्कुश**, **पात्र** तथा **सूत्र** आदि शब्द पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग दोनों में होते हैं।

॥ तत्पुरुषसमास समाप्त ॥

अथ बहुव्रीहिसमासः

९६४. शेषो बहुव्रीहिः २।२।२३

अधिकारोऽयं प्राग् द्वन्द्वात्।

प०वि०—शेषः १।१।। बहुव्रीहिः १।१।। **अनु०**—

अर्थ—यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार द्वन्द्व समास से पहले 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (२.२.२८) तक जायेगा। शेष अर्थात् द्वन्द्व, तत्पुरुष और अव्ययीभाव से भिन्न जो समास है वह 'बहुव्रीहि' संज्ञक होता है।

९६५. अनेकमन्यपदार्थे २।२।२४

अनेकं प्रथमान्तमन्यस्य[1] पदस्यार्थे वर्त्तमानं वा समस्यते, स बहुव्रीहिः।

प०वि०—अनेकम् १।१।। अन्यपदार्थे ७।१।। **अनु०**—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः।

अर्थ—अन्य पद के अर्थ में वर्तमान अनेक (प्रथमान्त) सुबन्तों का परस्पर विकल्प से समास होता है, और वह **'बहुव्रीहि'** संज्ञक होता है।

अन्यपद—अन्यपद से यहाँ समस्यमान पदों से भिन्न पद अभिप्रेत है। इसका अभिप्राय यह हुआ समस्यमान पद किसी अन्यपद् के विशेषण मात्र होते हैं जो समस्त होकर अन्यपद के विशिष्टार्थ का बोध कराते हैं। जैसे—**पीताम्बरः** यहाँ 'पीत' और 'अम्बर' दोनों अन्यपद के विशेषण हैं। 'पीतानि अम्बराणि यस्य सः=पीताम्बरः' यहाँ इस उदाहरण में **यत्** शब्द से संकेतित पुरुष (कृष्णादि) का 'अम्बर' विशेषण है तथा 'पीत' पद 'अम्बर' का विशेषण है। इस प्रकार 'पीत' भी परम्परा सम्बन्ध से 'अम्बर' के द्वारा अन्यपद का विशेषण बनता है। विशेष्यवाची कृष्णादि पद का प्रयोग समास में नहीं हुआ है इसलिए वह **अन्यपद** कहलाता है।

---

१. सूत्र में प्रथमान्त पद पठित न होने पर भी वृत्ति में प्रथमान्त का उल्लेख किया गया है। परन्तु पाणिनि को सूत्र का यह व्याख्यान इष्ट प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ' सूत्र में सप्तम्यन्त का पूर्व प्रयोग इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि प्रथमान्त से भिन्न पदों का भी 'बहुव्रीहि' समास पाणिनि को अभीष्ट है।

१६६. सप्तमी-विशेषणे बहुव्रीहौ २।२।३५

सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। अत एव ज्ञापकात् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः।

प०वि०–सप्तमीविशेषणे १।२।। बहुव्रीहौ ७।१।। **अनु०**–पूर्वम्।

अर्थ–बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त और विशेषणवाची पद का पूर्व प्रयोग होता है।

सूत्र में पठित 'सप्तमी' पद इस बात का ज्ञापक है कि प्रथमान्त से भिन्न पदों का भी 'बहुव्रीहि' समास होता है। यदि केवल प्रथमान्त पदों का समास होता तो यह सप्तम्यन्त का पूर्वप्रयोग-विधान व्यर्थ हो जाता।

१६७. हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् ६।३।९

हलन्तादन्दतात् सप्तम्या अलुक्। कण्ठेकालः। प्राप्तमुदकं यं प्राप्तोदको ग्रामः। ऊढरथोऽनड्वान्। उपहृतपशू रुद्रः। उद्धृतौदना स्थाली। पीताम्बरो हरिः। वीरपुरुषको ग्रामः।

(वा०) प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः। प्रपतितपर्णः– प्रपर्णः।

(वा०) नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः। अविद्यमानपुत्रः– अपुत्रः।

प०वि०–हलदन्तात् ५।१।। सप्तम्याः ६।१।। संज्ञायाम् ७।१।। **अनु०**– अलुगुत्तरपदे।

अर्थ–यदि समस्त पद से संज्ञा अभिधेय हो तो हलन्त और अकारान्त से परे सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है, उत्तरपद परे रहते।

कण्ठेकालः	कण्ठे कालः यस्य सः, लौ० वि० (शिव)
कण्ठ ङि काल सु	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से अनेक सुबन्तों का अन्यपद के अर्थ में विद्यमान होने पर 'बहुव्रीहि' समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्तिलुक् प्राप्त हुआ। परन्तु 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' से समस्त पद से संज्ञा अभिधेय होने पर सप्तमी विभक्ति का अलुक् हुआ। इसलिए केवल 'सु' का लुक् हुआ, 'ङि' का नहीं
कण्ठ ङि काल	अनुबन्ध-लोप
कण्ठ इ काल	'आद् गुणः' से गुण होने पर 'ए' एकादेश हुआ
कण्ठे काल	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त पद 'कण्ठे' का पूर्व प्रयोग हुआ
कण्ठे काल	पूर्ववत् 'सु' आकर 'ससजुषो रुः' से सकार के स्थान में रुत्व तथा 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ के स्थान में विसर्गादि होकर
कण्ठेकालः	रूप सिद्ध होता है।

प्राप्तोदकः (ग्रामः)	प्राप्तम् उदकं यम् ग्रामं सः, लौ० वि० (पहुँच गया है जल जिस गाँव तक)
प्राप्त सु उदक सु	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे०' से पूर्ववत् अन्यपद के अर्थ में बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्तिलुक् हुआ
प्राप्त उदक	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची पद 'प्राप्त' का बहुव्रीहि समास में पूर्व प्रयोग हुआ
प्राप्त उदक	'आद् गुणः' से गुण एकादेश 'ओ' हुआ
प्राप्तोदक	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर
प्राप्तोदकः	रूप सिद्ध होता है।
ऊढरथः (अनड्वान्)	ऊढो रथो येन सः, लौ० वि० (वहन किया गया है रथ जिसके द्वारा)
ऊढ सु रथ सु	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्य०' से पूर्ववत् बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धितसमासा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
ऊढ रथ	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची पद 'ऊढ' का बहुव्रीहि समास में पूर्व प्रयोग हुआ
ऊढ रथ	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' आकर सकार को रुत्व एवं विसर्गादि कार्य होने पर
ऊढरथः	रूप सिद्ध होता है।
उपहृतपशुः (रुद्रः)	उपहृतः पशुः यस्मै सः, लौ० वि० (समीप में लाया गया है, पशु जिसके लिए)
उपहृत सु पशु सु	(अलौ० वि०) पूर्ववत् 'अनेकमन्यपदार्थे' से बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्तियों का लुक् हुआ
उपहृत पशु	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची पद 'उपहृत' का पूर्व प्रयोग हुआ
उपहृत पशु	पूर्ववत् 'स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' आने पर सकार के स्थान में रुत्व तथा विसर्ग होकर
उपहृतपशुः	रूप सिद्ध होता है।
उद्धृतौदना (स्थाली)	उद्धृतः औदनः यस्याः सा, लौ० वि० (निकाला गया है औदन जिस स्थाली से वह)

उद्धृत सु ओदन सु	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से पूर्ववत् बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
उद्धृत ओदन	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची पद 'उद्धृत' का बहुव्रीहि समास में पूर्व प्रयोग हुआ
उद्धृत ओदन	'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से एच् (ओ) परे रहते पूर्व और पर के स्थान में वृद्धि 'औ' एकादेश हुआ, क्योंकि बहुव्रीहि समास अन्यपद के अर्थ में होता है तथा अन्यपद 'स्थाली' का लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग है अतः समस्त पद का लिङ्ग भी **स्त्रीलिङ्ग** होने से 'अजाद्यतष्टाप्' से अजादि और ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय आया
उद्धृतौदन टाप्	अनुबन्ध-लोप
उद्धृतौदन आ	'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ
उद्धृतौदना	पूर्ववत् समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया, अनुबन्ध-लोप
उद्धृतौदना स्	'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से एक अल्रूप प्रत्यय 'स्' की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' से आबन्त से उत्तर 'सु' के अपृक्त हल् 'स्' का लोप होकर
उद्धृतौदना	रूप सिद्ध होता है।
पीताम्बरः (हरिः)	पीतानि अम्बराणि यस्य सः, लौ० वि० (पीले हैं वस्त्र जिसके)
पीत जस् अम्बर जस्	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से पूर्ववत् बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्रातिपदि०' से विभक्ति-लुक् हुआ
पीत अम्बर	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची 'पीत' का पूर्व प्रयोग हुआ
पीत अम्बर	'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश होकर
पीताम्बर	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
पीताम्बर सु	अनुबन्ध-लोप, सकार को रुत्व तथा विसर्गादि होकर
पीताम्बरः	रूप सिद्ध होता है।
वीरपुरुषकः (ग्रामः)—	वीराः पुरुषाः यस्मिन् ग्रामे सः, लौ० वि० (वीर पुरुष जिस गाँव में हों)
वीर जस् पुरुष जस्	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से पूर्ववत् बहुव्रीहि समास,

	'कृत्तद्धितसमासा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
वीर पुरुष	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषण वाची पद 'वीर' का पूर्व प्रयोग हुआ
वीर पुरुष	'शेषाद्विभाषा' से **शेष** अर्थात् वह बहुव्रीहि जिससे किसी समासान्त प्रत्यय का विधान नहीं किया गया है, उससे विकल्प से समासान्त 'कप्' प्रत्यय हुआ
वीर पुरुष कप्	अनुबन्ध-लोप
वीर पुरुष क	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर सकार को रुत्व और रेफ को विसर्गादि होकर
वीरपुरुषकः	रूप सिद्ध होता है।

(वा०)–प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः। प्रपतितपर्णः– प्रपर्णः।

अर्थ–'प्र' आदि से उत्तर धातुज (धातु से निष्पन्न शब्द) प्रथमान्त पद का अन्यपद के साथ बहुव्रीहि समास होता है तथा उसके उत्तरपद का विकल्प से लोप होता है।

प्रपतितपर्णः	प्रपतितं पर्णं यस्मात्, लौ० वि० (जिसके पत्ते गिर चुके हों)
प्रपतित सु पर्ण सु	(अलौ० वि०) 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' से 'प्र' से उत्तर धातुज पद 'प्रपतित' (प्रथमान्त पद) का 'पर्ण' सुबन्त के साथ बहुव्रीहि समास हुआ तथा उसके उत्तरपद का विकल्प से लोप प्राप्त हुआ। लोप के अभाव पक्ष में– 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः' से विभक्तियों का लुक् हुआ
प्रपतित पर्ण	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची पद 'प्रपतित' का पूर्व प्रयोग हुआ
प्रपतित पर्ण	पूर्ववत् प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर सकार को रुत्व एवं विसर्गादि कार्य होकर
प्रपतितपर्णः	रूप सिद्ध होता है।
प्रपर्णः	
प्रपतित सु पर्ण सु	इस स्थिति में जब 'प्रादिभ्यो धातुजस्य०' वार्त्तिक से बहुव्रीहि समास तथा 'प्र' से उत्तर धातुज पद 'पतित' का वैकल्पिक लोप होने पर
प्रपर्ण	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'सु', रुत्व तथा विसर्गादि होकर
प्रपर्णः	रूप सिद्ध होता है।

(वा०) नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः। अविद्यमान- पुत्रः–अपुत्रः।

अर्थ–'नञ्' से उत्तर 'अस्ति' (विद्यमानता) अर्थ के वाचक पद का अन्य पद के साथ 'बहुव्रीहि' समास होता है और नञ् से उत्तरवर्त्ती पद का विकल्प से लोप होता है।

अपुत्रः	अविद्यमानः पुत्रो यस्य सः, लौ० वि० (जिसका पुत्र विद्यमान न हो)
अविद्यमान सु पुत्र सु	(अलौ० वि०) 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' से 'नञ्' से उत्तर 'अस्ति' अर्थ वाले पद 'विद्यमान' का अन्यपद के साथ बहुव्रीहि समास तथा नञ् से उत्तरवर्त्ती 'अस्ति' अर्थ वाले पद का विकल्प से लोप हुआ, उत्तरपद 'विद्यमान' के लोप पक्ष में
अ सु पुत्र सु	'कृत्तद्धितसमासा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः' से विभक्तियों का लुक् हुआ
अपुत्र	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर
अपुत्रः	रूप सिद्ध होता है।

अविद्यमानपुत्रः–लोप-अभाव पक्ष में 'नञ्' से उत्तर 'विद्यमान' पद का लोप नहीं होगा तथा 'अविद्यमानपुत्रः' यह रूप सिद्ध होगा।

९६८. स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्काद[1]नूङ् समानाधिकरणे स्त्रियाम-पूरणीप्रियादिषु ६।३।३४

उक्तपुंस्काद् अनूङ् ऊङोऽभावोऽस्यामिति बहुव्रीहिः, निपातनात् पञ्चम्या अलुक्, षष्ठ्याश्च लुक्। तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्कं तस्मात्पर ऊङोऽभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे, न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः। गोस्त्रियोरिति ह्रस्वः। चित्रगुः। रूपवद्भार्यः। अनूङ् किम्-वामोरूभार्यः।

प०वि०–स्त्रियाः ६।१।। पुवंद् अ०।। भाषितपुंस्काद् ५।१।। अनूङ् (लुप्त षष्ठ्यन्त)।। समानाधिकरणे ७।१।। स्त्रियाम् ७।१।। अपूरणीप्रियादिषु ७।३।। **अनु०**–उत्तरपदे।

अर्थ–भाषितपुंस्कशब्द अर्थात् जिस शब्द के प्रयोग का कारण (प्रवृत्तिनिमित्त) पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में तुल्य हो तथा जिसके परे ऊङ् प्रत्यय न हो, ऐसे स्त्री-वाचक

---

१. भाषितपुंस्क–ऐसा शब्द जिसका प्रयोग पुल्लिंग में किया गया हो उसी शब्द का प्रयोग यदि स्त्रीलिंग अथवा नपुंसकलिङ्ग में भी किया गया हो और उनका प्रवृत्तिनिमित्त भी एक हो तो वह शब्द 'भाषितपुंस्क' कहलाता है। जैसा कि बालमनोरमाकार कहते हैं–भाषितः पुमान् येन तद्भाषितपुंस्कम् तदस्यास्तीति अर्श आद्यच्। पुंस्त्वे स्त्रीत्वे च एकप्रवृत्तिनिमित्तकमिति यावत्।

शब्द का पुंवाचक के समान रूप हो, समानाधिकरण–स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे रहते, यदि 'पूरणी-संख्या' और 'प्रिया' आदि शब्द उससे परे हो तो पुंवद्भाव नहीं होता।

चित्रगुः	चित्रा गावो यस्य सः, लौ० वि० (चितकबरी गायें हैं जिसकी)
चित्रा जस् गो जस्	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से अनेक सुबन्तों का अन्यपद के अर्थ में वर्तमान होने पर परस्पर बहुव्रीहि समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
चित्रा गो	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची पद 'चित्रा' का पूर्व प्रयोग हुआ, 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से उपसर्जन संज्ञक 'गो' शब्द के ओकार को ह्रस्व हुआ, 'एच इग्घ्रस्वादेशे' से 'एच्' के स्थान में ह्रस्व आदेश करने हों तो 'इक्' होते हैं, अतः 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ओ' के स्थान में ह्रस्व 'उ' हुआ
चित्रा गु	'स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणी-प्रियादिषु' से ऊङ् प्रत्ययान्त और प्रियादि शब्दों से भिन्न स्त्रीलिङ्ग वाचक समानाधिकरण उत्तरपद 'गो' परे रहते भाषितपुंस्क-स्त्रीवाचीशब्द 'चित्रा' को पुंवद्भाव 'चित्र' हुआ
चित्रगु	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर सकार को रुत्व एवं विसर्गादि होकर
चित्रगुः	रूप सिद्ध होता है।
रूपवद्भार्यः	रूपवती भार्या यस्य सः, लौ० वि० (जिसकी पत्नी सुन्दर हो)
रूपवती सु भार्या सु	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से पूर्ववत् बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धितसमासा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातु-प्रातिपदि०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
रूवपती भार्या	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची 'रूपवती' का पूर्व प्रयोग हुआ
	'स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु' से पूर्ववत् 'रूपवती' शब्द को पुंवद्भाव 'रूपवत्' हुआ
रूपवत् भार्या	'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त 'भार्या' शब्द को ह्रस्वादेश हुआ
रूपवत् भार्य	'झलां जशोऽन्ते' से जशत्व अर्थात् तकार के स्थान में दकारादेश हुआ

रूपवद्धार्य — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' के सकार के स्थान में रुत्व तथा विसर्गादि होकर

रूपवद्धार्यः — रूप सिद्ध होता है।

अनूङ् किम्? सूत्र में 'अनूङ्' ग्रहण का प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'वामोरूभार्यः' में 'ऊङ्' प्रत्ययान्त भाषितपुंस्कस्त्री शब्द 'वामोरू' को पुंवद्भाव न हो, यदि सूत्र में 'अनूङ्' ग्रहण नहीं करते अर्थात् ऊङ् प्रत्ययान्त को पुवंद्भाव का निषेध नहीं करते तो 'वामोरूभार्यः' में भी ऊकार को ह्रस्व हो जाता, जो कि अनिष्ट होता।

१६१. अप् पूरणीप्रमाण्योः ५।४।११६

पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत् स्त्रीलिङ्गं तदन्तात् प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप्स्यात्। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः। स्त्री प्रमाणी यस्य स स्त्रीप्रमाणः। अप्रियादिषु किम्? कल्याणीप्रियः, इत्यादि।

प०वि०—अप् १।१।। पूरणीप्रमाण्योः ७।२।। **अनु०**—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च।

अर्थ—पूरणार्थक प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द या 'प्रमाणी' शब्द उत्तर पद में है जिसके, ऐसे बहुव्रीहि समास से समासान्त 'तद्धित' संज्ञक **'अप्'** प्रत्यय होता है।

कल्याणीपञ्चमा	कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः, लौ० वि० (जिन रात्रियों में पाँचवीं रात कल्याणी हो)
कल्याणी सु पञ्चमी सु	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से पूर्ववत् बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धितसमासा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः' से विभक्तियों का लुक् हुआ
कल्याणी पञ्चमी	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची शब्द 'कल्याणी' का पूर्व प्रयोग हुआ। यहाँ 'स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कात्०' से भाषितपुंस्क शब्द 'कल्याणी को पूरणी प्रत्ययान्त 'पञ्चमी' परे रहते पुंवद्भाव का निषेध होने पर 'अप् पूरणीप्रमाण्योः' से पूरणार्थक शब्द 'पञ्चमी' उत्तरपद में रहते बहुव्रीहि समास से समासान्त 'तद्धित' संज्ञक 'अप्' प्रत्यय हुआ
कल्याणी पञ्चमी अप्	अनुबन्ध-लोप
कल्याणी पञ्चमी अ	'यचि भम्' से अजादि प्रत्यय परे रहते पूर्व की 'भ' संज्ञा तथा 'यस्येति च' से ईकार का लोप हुआ
कल्याणी पञ्चम् अ	बहुव्रीहि समास में अन्यपद की प्रधानता होने के कारण समस्तपद का लिङ्ग भी अन्य पद के अनुसार स्त्रीलिङ्ग हुआ, इसलिए 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' प्रत्यय आया

कल्याणी पञ्चम टाप्	अनुबन्ध-लोप
कल्याणी पञ्चम आ	'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ
कल्याणी पञ्चमा	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, बहु व० में 'बहुषु बहुवचनम्' से 'जस्' आया
कल्याणी पञ्चमा जस्	अनुबन्ध-लोप
कल्याणी पञ्चमा अस्	यहाँ 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त था जिसका 'दीर्घाज्जसि च' से दीर्घ से 'जस्' परे रहते निषेध हो गया तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घादेश हुआ
कल्याणीपञ्चमास्	'ससजुषो रुः' से 'स्' के स्थान में रुत्व तथा 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्गादेश होने पर
कल्याणीपञ्चमाः	रूप सिद्ध होता है।
स्त्रीप्रमाणः	स्त्री प्रमाणी यस्य सः, लौ० वि० (स्त्री ही प्रमाण है जिसका)
स्त्री सु प्रमाणी सु	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से पूर्ववत् बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः' से विभक्तियों का लुक् हुआ
स्त्री प्रमाणी	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची पद 'स्त्री' का पूर्व प्रयोग हुआ। यहाँ स्त्रियाः पुवंद् भाषितपुंस्काद०' से पूर्वपद को पुंवद्भाव नहीं होता क्योंकि पूर्वपद (स्त्री) नित्य स्त्रीलिङ्ग का शब्द होने के कारण भाषितपुंस्क नहीं है। 'अप्पूरणीप्रमाण्योः' से 'प्रमाणी' शब्द उत्तरपद में रहते बहुव्रीहि समास से समासान्त 'अप्' प्रत्यय हुआ
स्त्री प्रमाणी अप्	अनुबन्ध-लोप
स्त्री प्रमाणी अ	'यचि भम्' से भसंज्ञा तथा 'यस्येति च' से ईकार का लोप हुआ
स्त्री प्रमाण् अ	समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर सकार को रुत्व तथा विसर्गादि होकर
स्त्रीप्रमाणः	रूप सिद्ध होता है।

अप्रियादिषु किम्? पूर्व सूत्र में 'अप्रियादिषु' पद का क्या प्रयोजन है? इसके उत्तर के रूप में **'कल्याणीप्रियः'** उदाहरण को प्रस्तुत किया गया है। इस उदाहरण में 'कल्याणी' पद भाषितपुंस्क है और 'प्रिया' शब्द स्त्रीवाची तथा 'कल्याणी' के साथ एकाधिकरण भी है। यदि यहाँ **अप्रियादिषु** पद के द्वारा 'प्रिया' आदि पद परे रहते बहुव्रीहि समास के पूर्वपद में विद्यमान भाषितपुंस्कस्त्री शब्द को पुंवद्भाव का निषेध न करते तो पूर्वपद 'कल्याणी' को पुंवद्भाव हो जाता और 'कल्याणप्रियः' रूप बनता, जो कि अनिष्ट होता।

१७०. बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् ५।४।११३

स्वाङ्गवाचिसक्थ्यक्ष्यन्ताद् बहुव्रीहेः षच् स्यात्। दीर्घसक्थः। जलजाक्षी। स्वाङ्गात् किम्? दीर्घसक्थि शकटम्। स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः। (९९१) 'अक्ष्णोऽदर्शनाद्' इति वक्ष्यमाणोऽच्।

प०वि०—बहुव्रीहौ ७।१।। सक्थ्यक्ष्णोः ६।२।। स्वाङ्गात् ५।१।। षच् १।१।।

अनु०—तद्धिताः, समासान्ताः, प्रत्ययः, परश्च।

अर्थ—स्व-अङ्गवाची '**सक्थि**' और '**अक्षि**' शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त 'तद्धित' संज्ञक '**षच्**' प्रत्यय होता है।

दीर्घसक्थः	दीर्घे सक्थिनी यस्य सः, लौ० वि० (जिसकी जंघाएँ लम्बी हों)
दीर्घ औ सक्थि औ	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से पूर्ववत् बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
दीर्घ सक्थि	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची 'दीर्घ' का पूर्व प्रयोग हुआ। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' से स्वाङ्गवाची 'सक्थि' शब्द परे रहते बहुव्रीहि समास से 'षच्' प्रत्यय हुआ
दीर्घ सक्थि षच्	'हलन्त्यम्' से 'च्' की इत्संज्ञा, 'षः प्रत्ययस्य' से प्रत्यय के आदि षकार की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से दोनों का लोप हुआ
दीर्घ सक्थि अ	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से 'तद्धित' संज्ञक 'षच्' प्रत्यय परे रहते इकार का लोप होने पर पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आने पर सकार को रुत्व तथा विसर्गादि होकर
दीर्घसक्थः	रूप सिद्ध होता है।
जलजाक्षी	जलजे इव अक्षिणी यस्याः सा, लौ० वि० (कमल के समान नेत्रों वाली स्त्री)
जलज औ अक्षि औ	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से प्रातिपदिक के अवयव सुपों का लुक् हुआ
जलज अक्षि	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची 'जलज' शब्द का पूर्वप्रयोग, 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' से 'अक्षि' अन्त वाले बहुव्रीहि समास से 'षच्' प्रत्यय हुआ
जलज अक्षि षच्	अनुबन्ध-लोप
जलज अक्षि अ	'यचि भम्' से भसंज्ञा और 'यस्येति च' से इकार का लोप हुआ

जलज अक्ष् अ	'अक: सवर्णे दीर्घ:' से 'अक्' से उत्तर सवर्ण 'अच्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ
जलजाक्ष	बहुव्रीहि समास अन्यपद के अर्थ में होने के कारण समस्त पद का लिङ्ग भी अन्यपद के अनुसार स्त्रीलिङ्ग होगा। षित् होने के कारण 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से 'ङीष्' प्रत्यय हुआ
जलजाक्ष ङीष्	अनुबन्ध-लोप
जलजाक्ष ई	पुन: 'ई' परे रहते पूर्ववत् 'यचि भम्' से भसंज्ञा तथा 'यस्येति च' से ईकार परे रहते अकार का लोप हुआ
जलजाक्षी	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र०वि०, एक व० में 'सु' आया
जलजाक्षी सु	'उपदेशऽजनुनासिक इत्' से उकार की इत्संज्ञा 'तथा 'तस्य लोप:' से उकार का लोप होने पर 'अपृक्त एकाल् प्रत्यय:' से 'स्' की 'अपृक्त' संज्ञा हुई तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से 'सु' के अपृक्त हल् 'स्' का लोप होकर
जलजाक्षी	रूप सिद्ध होता है।

स्वाङ्गात् किम्?—'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णो०' इत्यादि सूत्र में 'स्वाङ्गात्' पद का क्या प्रयोजन है? इस पद का प्रयोजन यह है कि जब 'सक्थि' और 'अक्षिणी' शब्द स्व-अङ्गवाची नहीं होंगे तो उन से समासान्त 'षच्' प्रत्यय नहीं होगा। जैसे—**'दीर्घसक्थि'** इस पद में 'सक्थि' पद का अर्थ **पहिया** होने के कारण स्वाङ्गवाची नहीं है। इसी प्रकार **'स्थूलाक्षा वेणुयष्टि:'** में (मोटी आंख वाली छड़ी) यह अर्थ है। यहाँ भी 'अक्षि' शब्द नेत्रवाचक न होकर बांस के पर्वों अर्थात् जोड़ के पास छोटी सी गांठ का वाचक है। इसलिए इन दोनों शब्दों से 'षच्' प्रत्यय न होकर 'अक्ष्णोदर्शनात्' से नेत्रभिन्न अर्थ वाले अक्षिपदान्त बहुव्रीहि से समासान्त 'अच्' प्रत्यय होता है।

९७१. द्वित्रिभ्यां ष: मूर्ध्न: ५।४।११५

आभ्यां मूर्ध्न: ष: स्याद् बहुव्रीहौ। द्विमूर्ध:, त्रिमूर्ध:।

प०वि०—द्वित्रिभ्याम् ५।२।। ष: १।१।। मूर्ध्न: ५।१।। **अनु०**—बहुव्रीहौ, तद्धिता:, समासान्ता:, प्रत्यय:, परश्च।

अर्थ—**'द्वि'** और **'त्रि'** से उत्तर **'मूर्धन्'** पद परे हो तो बहुव्रीहि समास में समासान्त तद्धितसंज्ञक **'ष'** प्रत्यय होता है।

द्विमूर्ध:	द्वौ मूर्धानौ यस्य स:, लौ० वि० (दो सिर वाला)
द्वि औ मूर्धन् औ	(अलौ०वि०) पूर्ववत् 'अनेकमन्यपदार्थे' से बहुव्रीहि समास, प्रातिपदिक संज्ञा तथा विभक्ति-लुक् हुआ
द्वि मूर्धन्	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची पद 'द्वि' का पूर्व

	प्रयोग हुआ। 'द्वित्रिभ्यां ष: मूर्ध्न:' से 'द्वि' से उत्तर 'मूर्धन्' पद होने से बहुव्रीहि समास में समासान्त 'ष' हुआ
	अनुबन्ध-लोप
द्वि मूर्धन् ष	'यचि भम्' से भसंज्ञा तथा 'नस्तद्धिते' से नकारान्त भसंज्ञक के
द्वि मूर्धन् अ	टिभाग (अन्) का लोप हुआ, तद्धित प्रत्यय परे रहते
	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
द्वि मूर्ध् अ	अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् 'सु' के सकार के स्थान में रुत्व तथा
द्वि मूर्ध् अ सु	विसर्ग होकर
द्विमूर्धः	रूप सिद्ध होता है।

त्रिमूर्धः—त्रय: मूर्धान: यस्य स:, लौ० वि०। (तीन सिर हैं जिसके) की सिद्धि-प्रक्रिया को **द्विमूर्धः** के समान जानें।

१७२. अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्न: ५।४।११७

आभ्यां लोम्नोऽप् स्यात् बहुव्रीहौ। अन्तर्लोम:। बहिर्लोम:।

प०वि०—अन्तर्बहिर्भ्याम् ५।२।। च अ०।। लोम्न: ५।१।। **अनु०**—प्रत्यय:, परश्च, तद्धिता:, समासान्ता:, अप्, बहुव्रीहौ।

अर्थ०—इन दोनों अर्थात् **'अन्तर्'** और **'बहिस्'** से उत्तर **'लोमन्'** शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त 'तद्धित' संज्ञक **'अप्'** प्रत्यय होता है।

अन्तर्लोम:	अन्तर् लोमानि यस्य स:, लौ० वि० (जिसके लोम अन्दर हो)
अन्तर् लोमन् जस्	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से अन्यपद के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तों का आपस में बहुव्रीहि समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति का लुक् हुआ
अन्तर् लोमन्	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची पद 'अन्तर्' का पूर्व प्रयोग हुआ
	'अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्न:' से 'अन्तर्' से उत्तर 'लोमन्' पद परे रहते बहुव्रीहि समास से तद्धितसंज्ञक 'अप्' प्रत्यय हुआ
अन्तर् लोमन् अप्	अनुबन्ध-लोप
अन्तर् लोमन् अ	'यचि भम्' से भसंज्ञा तथा 'नस्तद्धिते' से तद्धितसंज्ञक 'अप्' परे रहते नकारान्त 'भ' संज्ञक अङ्ग के टिभाग 'अन्' का लोप हुआ
अन्तर् लोम् अ	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
अन्तर्लोम सु	अनुबन्ध-लोप, सकार के स्थान में रुत्व तथा विसर्गादि पूर्ववत् होकर
अन्तर्लोम:	रूप सिद्ध होता है।

बहिर्लोमः—बहिर् लोमानि यस्य सः, लौ० वि० (जिसके लोम बाहर हों) 'बहिर् लोमन् जस्' (अलौ० वि०) की सम्पूर्ण सिद्धि-प्रक्रिया 'अन्तर्लोमः' के समान जानें।

विशेष—यहाँ 'बहिस्' अव्यय के सकार को 'ससजुषो रुः' से 'रु' आदेश होने पर 'र्' शेष बचता है।

९७३. पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ५।४।१३८

हस्त्यादिवर्जितादुपमानात् परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद् बहुव्रीहौ। व्याघ्रस्येव पादावस्य–व्याघ्रपात्। अहस्त्यादिभ्यः किम्? हस्तिपादः, कुसूलपादः।

प०वि०—पादस्य ६।१।। लोपः १।१।। अहस्त्यादिभ्यः ५।३।। **अनु०**— समासान्ताः, उपमानात्, बहुव्रीहौ,

अर्थ—बहुव्रीहि समास में हस्ति आदि से भिन्न उपमानवाचक शब्द से उत्तर 'पाद' शब्द का समासान्त लोप होता है।

'अलोऽन्त्यस्य' से 'पाद' के अन्तिम अल् (अकार) का लोप होता है।

व्याघ्रपात्	व्याघ्रस्य पादौ इव पादौ यस्य सः, लौ० वि० (बाघ के पैरों के समान पैर हैं जिसके)
व्याघ्रपाद औ पाद औ	(अलौ० वि०) 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च' वार्तिक से उपमानवाची पूर्वपद का पदान्तर के साथ बहुव्रीहि समास तथा पूर्वपदस्थ उत्तरपद का लोप होता है। इसलिए 'व्याघ्रपाद' में विद्यमान उत्तरपद 'पाद' शब्द का लोप हुआ
व्याघ्र औ पाद औ	पूर्ववत् 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो-धातु०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
व्याघ्र पाद	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची पद 'व्याघ्र' का पूर्व प्रयोग हुआ 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' से बहुव्रीहि समास में हस्ति आदि से भिन्न उपमान वाचक से उत्तर 'पाद' शब्द का लोप प्राप्त हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से 'पाद' के अन्तिम 'अल्' अकार का लोप हुआ
व्याघ्रपाद्	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
व्याघ्रपाद् सु	अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप हुआ
व्याघ्रपाद्	'वाऽवसाने' से अवसान में झलों के स्थान में विकल्प से चरादेश 'द्' को 'त्' होकर
व्याघ्रपात्	रूप सिद्ध होता है।

अहस्त्यादिभ्यः किम्? प्रकृत सूत्र में 'अहस्त्यादिभ्यः' पद का प्रयोजन यह है कि हस्ति-आदि गण में पठित शब्दों के उपमान बनने पर उत्तरपद में विद्यमान 'पाद' शब्द का लोप न हो। इसलिए 'हस्तिपादः' और 'कुसूलपादः' में 'हस्ति' और 'कुसूल' दोनों पद हस्त्यादिगण में पठित होने के कारण उनसे परे 'पाद' के अकार का लोप नहीं होता।

१७४. संख्या-सु-पूर्वस्य ५।४।१४०

पादस्य लोपः स्यात् समासान्तो बहुव्रीहौ। द्विपात्। सुपात्।

प०वि०—संख्यासुपूर्वस्य ६।१।। **अनु०**—पादस्य, लोपः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः।

अर्थ—संख्यावाचक शब्द तथा 'सु' अव्यय पूर्वक 'पाद' शब्द का (अन्त्य अकार का) बहुव्रीहि समास में समासान्त लोप होता है।

द्विपात्	द्वौ पादौ यस्य सः, लौ० वि० (दो पैर हों जिसके)
द्वि औ पाद औ	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से पूर्ववत् बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
द्वि पाद	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची पद 'द्वि' का पूर्व प्रयोग हुआ, 'संख्यासुपूर्वस्य' से संख्यापूर्वक 'पाद' शब्द के अन्तिम वर्ण अकार का समासान्त लोप हुआ
द्वि पाद्	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
द्वि पाद् सु	'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से उकार की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से लोप हुआ
द्वि पाद् स्	'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से एक अल्रूप प्रत्यय सकार की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से हलन्त से उत्तर 'सु' के अपृक्त सकार का लोप हुआ
द्विपाद्	'वाऽवसाने' से अवसान में झलों को विकल्प से चर् आदेश 'द्' को 'त्' होकर
द्विपात्	रूप सिद्ध होता है।

सुपात्—'शोभनौ पादौ यस्य सः', लौ० वि० (सुन्दर हैं पैर जिसके) 'सु+पाद औ' (अलौ० वि०) की सम्पूर्ण सिद्धि-प्रक्रिया 'द्विपात्' के समान जानें।

१७५. उद्विभ्यां काकुदस्य ५।४।१४८

लोपः स्यात्। उत्काकुत्। विकाकुत्।

प०वि०—उद्विभ्यां ५।२।। काकुदस्य ६।१।। **अनु०**—लोपः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में 'उद्' और 'वि' (निपातों) से उत्तर 'काकुद' शब्द के अन्तिम अकार का समासान्त लोप होता है।

उत्काकुत्	उद्गतम् काकुदं यस्य सः, लौ० वि० (उठा हुआ है, तालु जिसका)
उद्गत सु काकुद सु	(अलौ० वि०) 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (वार्त्तिक) से 'प्र' आदि से परे धातु से निष्पन्न प्रथमान्त पद का अन्यपद के साथ बहुव्रीहि समास होता है तथा उस बहुव्रीहि समास में प्रादि से उत्तर धातुज पद का विकल्प से लोप भी होता है। इस प्रकार उद् से उत्तरवर्त्ती 'गत' ('गम्' धातु से 'क्त' प्रत्ययान्त) का लोप हुआ तथा 'काकुद' शब्द के साथ समास भी हुआ
उद् सु काकुद सु	'कृत्तद्धित०' से प्रातिपदिक संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से पूर्ववत् विभक्तियों का लुक् हुआ
उद् काकुद	'सप्तमीविशेषणे बहु०' से विशेषणवाची पद 'उद्' का पूर्व प्रयोग हुआ। 'उद्विभ्यां काकुदस्य' से बहुव्रीहि समास में 'उत्' पूर्वक 'काकुद' शब्द के अन्तिम अकार का लोप हुआ
उद् काकुद्	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
उद् काकुद् सु	अनुबन्ध-लोप होने पर सकार की 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से अपृक्त संज्ञा तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त संज्ञक सकार का लोप हुआ
उद् काकुद्	'खरि च' से ककार परे रहते 'उद्' के दकार को तकार तथा 'वाऽवसाने' से पूर्ववत् चरादेश 'द्' को 'त्' होकर
उत्काकुत्	रूप सिद्ध होता है।

विकाकुत्–'विशिष्टं या विनष्टं, विकृतम् वा काकुदम् यस्य सः', लौ० वि० (विशिष्ट, विनष्ट या विकृत है तालु जिसका) की सिद्धि-प्रक्रिया 'उत्काकुत्' की तरह जानें।

९७६. पूर्णाद् विभाषा ५।४।१४९

पूर्णककुत्, पूर्णकाकुदः।

प०वि०–पूर्णात् ५।१।। विभाषा १।१।। **अनु०**–काकुदस्य, लोपः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः

अर्थ–'**पूर्ण**' शब्द से उत्तर '**काकुद**' शब्द का (अन्तिम अकार का) बहुव्रीहि समास में विकल्प से समासान्त लोप होता है।

पूर्णकाकुत्, पूर्णकाकुदः–'पूर्णम् काकुदम् यस्य सः', लौ० वि० (जिसका तालु पूरा हो)। बहुव्रीहि समास में 'पूर्ण' शब्द से उत्तर 'काकुद' के अकार का प्रकृत सूत्र से विकल्प से लोप होता है। अकार का लोप होने की स्थिति में सिद्धि-प्रक्रिया 'उत्काकुत्' के समान होगी तथा अकार का लोप न होने पर 'पूर्णकाकुद' इस अकारान्त समस्तपद से

स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' के सकार को रुत्व तथा रेफ को विसर्ग होकर 'पूर्णकाकुदः' रूप सिद्ध होता है।

१७७. सुहृद्-दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः ५।४।१५०

सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते।

सुहृद्-मित्रम्। दुर्हृद्-अमित्रः।

प०वि०-सुहृद्दुर्हृदौ १।२।। मित्राऽमित्रयोः ७।२।। **अनु०**-बहुव्रीहौ।

अर्थ-मित्र और अमित्र अर्थों में क्रमशः '**सुहृद्**' और '**दुर्हृद्**' शब्दों का निपातन होता है अथवा बहुव्रीहि समास में '**सु**' और '**दुर्**' से परे '**हृदय**' को '**हृद्**' आदेश होता है क्रमशः 'मित्र' और 'अमित्र' अर्थों में।

सुहृद्	शोभनम् हृदयम् यस्य सः, लौ० वि० (मित्र)
सु हृदय सु	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से पूर्ववत् बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धितसमासा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
सु हृदय	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची पद 'सु' का पूर्व प्रयोग, 'सुहृद्-दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः' से 'सु' पूर्वक 'हृदय' शब्द को 'हृद्' आदेश निपातन से हुआ
सु हृद्	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया, अनुबन्ध-लोप, 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से सकार की 'अपृक्त' संज्ञा तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्तसंज्ञक सकार का लोप होकर
सुहृद्	रूप सिद्ध होता है।

दुर्हृद्-'दुष्टम् हृदयम् यस्य सः', लौ० वि० (अमित्र) की सिद्धि-प्रक्रिया 'सुहृद्' के समान जानें

१७८. उरःप्रभृतिभ्यः कप् ५।४।१५१

प० वि०-उरःप्रभृतिभ्यः ५।३।। कप् १।१।। **अनु०**-बहुव्रीहौ, तद्धिताः, समासान्ताः, प्रत्ययः, परश्चः।

अर्थः-'**उरस्**' इत्यादि अन्त में हैं जिसके ऐसे बहुव्रीहि समास से समासान्त तद्धित-संज्ञक '**कप्**' प्रत्यय होता है।

१७९. कस्कादिषु च ८।३।४८

एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षः अन्यस्य तु सः। इति सः-व्यूढोरस्कः। प्रियसर्पिष्कः।

प०वि०–कस्कादिषु ७।३।। च अ०।। **अनु०**–सोऽपदादौ, षः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, पदस्य।

अर्थ–कस्कादिगण के शब्दों में अपदादि कवर्ग और पवर्ग परे होने पर विसर्जनीय (विसर्ग) के स्थान पर सकार आदेश होता है। यदि यह विसर्जनीय 'इण्' वर्ण के पश्चात् आता है तो उसके स्थान पर षकार आदेश होता है।

व्यूढोरस्कः	व्यूढम् उरः यस्य सः, लौ० वि० (विशाल है वक्षस्थल जिसका)
व्यूढ सु उर स् सु	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से पूर्ववत् बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्तियों का लुक् हुआ
व्यूढ उरस्	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची पद 'व्यूढ' का पूर्व प्रयोग हुआ 'उरः प्रभृतिभ्यः कप्' से 'उरस्' अन्त वाले बहुव्रीहि से समासान्त 'कप्' प्रत्यय हुआ
व्यूढ उरस् कप्	अनुबन्ध-लोप
व्यूढ उरस् क	'आद् गुणः' से गुण 'ओ' एकादेश हुआ
व्यूढोरस् क	'स्वादिष्वसर्व०' से 'कप्' परे रहते 'पद' संज्ञा होने पर 'ससजुषो रुः' से सकार के स्थान में 'रु' हुआ
व्यूढोररु क	अनुबन्ध-लोप, 'खरवसानयोः०' से 'खर्' (क्) परे रहते रेफ के स्थान में विसर्ग आदेश हुआ
व्यूढोरः क	'कस्कादिषु च' से कस्कादिगण में पठित शब्दों में इण् से उत्तर विसर्ग के स्थान में षकार तथा इण्-भिन्न से उत्तर विसर्ग के स्थान में सकार होता है, इसलिए यहाँ विसर्ग के स्थान में सकार आदेश हुआ
व्यूढोरस्क	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' आने पर सकार के स्थान में रुत्व तथा विसर्गादेश होकर
व्यूढोरस्कः	रूप सिद्ध होता है।
प्रियसर्पिष्कः	प्रियम् सर्पिः यस्य सः, लौ० वि० (घृत प्रिय है जिसको)।
प्रिय सु सर्पिस् सु	(अलौ० वि०) अन्य सभी कार्य 'व्यूढोरस्कः' के समान होकर 'कप्' प्रत्यय होने पर
प्रिय सर्पिः क	'कस्कादिषु च' से 'इण्' से उत्तर विसर्ग के स्थान में षकार आदेश होकर
प्रियसर्पिष्कः	रूप सिद्ध होता है।

९८०. निष्ठा २।२।३६

निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। युक्तयोगः।

प०वि०–निष्ठा १।१।। **अनु०**–बहुव्रीहौ, पूर्वम्।

अर्थ–बहुव्रीहि समास में निष्ठान्त (**क्त** और **क्तवतु** प्रत्ययान्त) का पूर्व निपात होता है।

युक्तयोगः	युक्तः योगः यस्य सः, लौ० वि० (युक्त अर्थात् सिद्ध है योग जिसका)
युक्त सु योग सु	(अलौ० वि०) पूर्ववत् 'अनेकमन्यपदार्थे' से समास 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्तियों का लुक् हुआ
युक्त योग	'निष्ठा' से क्त-प्रत्ययान्त 'युक्त' का पूर्व प्रयोग हुआ
युक्त योग	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति आदि सभी कार्य होकर
युक्तयोगः	रूप सिद्ध होता है।

९८१. शेषाद्विभाषा ५।४।१५४

अनुक्तसमासान्ताद् बहुव्रीहेः कप् वा। महायशस्कः, महायशाः।

प०वि०–शेषात् ५।१।। विभाषा १।१।। **अनु०**–कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः प्रत्ययः, परश्च।

अर्थ–शेष,[1] अर्थात् ऐसा बहुव्रीहि जिससे कोई भी समासान्त प्रत्यय नहीं किया है, उससे विकल्प से तद्धित संज्ञक समासान्त '**कप्**' प्रत्यय होता है।

महायशस्कः	महद् यशः यस्य सः, लौ० वि० (महान् है यश जिसका)
महत् सु यशस् स	(अलौ० वि०) पूर्ववत् 'अनेकमन्यपदार्थे' से बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्तियों का लुक् हुआ
महद् यशस्	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची पद 'महत्' का पूर्व प्रयोग हुआ
	'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' से 'महत्' शब्द को आकारान्तादेश हुआ, समानाधिकरण उत्तरपद परे रहते
मह आ यशस्	'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ
महा यशस्	'शेषाद्विभाषा' से बहुव्रीहि समास में समासान्त 'कप्' प्रत्यय विकल्प से हुआ
महा यशस् कप्	अनुबन्ध-लोप
महा यशस् क	'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से 'कप्' प्रत्यय परे रहते 'महायशस्' की 'पद' संज्ञा होने पर 'ससजुषो रुः' से सकारान्त पद के

---

१. यस्माद् बहुव्रीहेः समासान्तो न विहितः स शेषः–का०, ५।४।१५४

	अन्तिम 'अल्' सकार को रुत्व और 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग आदेश हुआ
महा यशः क	'सोऽपदादौ' से अपदादि कवर्ग परे रहते विसर्ग के स्थान में सकारादेश हुआ
महायशस्कः	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्गादेश होकर
महायशस्कः	रूप सिद्ध होता है।
महायशाः	
महत् सु यशस् सु	(यह रूप 'कप्' अभाव पक्ष में बनता है) 'अनेकमन्य०' से समास, विभक्ति-लुक्, 'सप्तमीविशेषणे०' से 'महत्' का पूर्व प्रयोग, 'आन्महतः०' से 'महत्' को आकार अन्तादेश, 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश और 'शेषाद्विभाषा' से वैकल्पिक 'कप्' न होने पर 'प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
महायशस् सु	'अत्वसन्तस्य चाधातोः' से **सम्बुद्धि**[१]-भिन्न 'सु' परे रहते धातु-भिन्न असन्त की उपधा को दीर्घ हुआ
महायशास् सु	अनुबन्ध-लोप
महायशास् स्	'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से सकार की 'अपृक्त' संज्ञा तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्तसंज्ञक 'हल्' सकार का लोप हुआ
महायशास्	प्रत्ययलक्षण से सुबन्त (महायशास्) की 'पद' संज्ञा होने पर 'ससजुषो रुः' से सकार के स्थान में रुत्व तथा रेफ को विसर्गादेश होकर
महायशाः	रूप सिद्ध होता है।

॥ बहुव्रीहि समास समाप्त॥

१. सम्बोधन के एकवचन की 'सम्बुद्धि' संज्ञा होती है (एकवचनं सम्बुद्धिः) अष्टा०, २।३।४९

अथ द्वन्द्वसमासः

९८२. चार्थे द्वन्द्वः २।२।२९

अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्त्तमानं वा समस्यते, स द्वन्द्वः। समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोग-समाहाराश्चार्थाः। तत्र 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इति परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः। 'भिक्षामट गां चाऽऽनय' इति अन्यतरस्याऽऽनुषङ्गिकत्वेनाऽन्वयोऽन्वाचयः। अनयोरसामर्थ्यात् समासो न। 'धवखदिरौ छिन्धि' इति मिलितानामन्वयः-इतरतरेयोगः। संज्ञापरिभाषम् इति समूहः-समाहारः।

प०वि०–च अ०।। अर्थे ७।१।। द्वन्द्वः १।१।। **अनु०**–विभाषा, सह, सुपा, समासः, अनेकम्।

अर्थ–'च' के अर्थ (केवल **इतरेतर** और **समाहार**) में विद्यमान अनेक सुबन्तों का समास होता है और वह **'द्वन्द्व'** संज्ञक होता है।

'च' के चार अर्थ हैं– १. समुच्चय, २. अन्वाचय, ३. इतरेतरयोग, ४. समाहार।

समुच्चय–परस्पर निरपेक्ष अनेक पदों का एक (द्रव्य, गुण या क्रिया) में अन्वय समुच्चय कहलाता है। जैसे–'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इस वाक्य में ईश्वर और गुरु पदार्थ परस्पर निरपेक्ष होते हुए स्वतंत्र रूप से भजन क्रिया से अन्वित होते हैं। अतः यहाँ 'च' का अर्थ **'समुच्चय'** है।

अन्वाचय–जब अनेक पदार्थों में से एक का क्रिया के साथ मुख्य रूप से अन्वय हो तथा दूसरे पदार्थ का आनुषङ्गिक अन्वय हो तो वह **अन्वाचय** कहलाता है। जैसे–'भिक्षामट गां चाऽऽनय' (भिक्षा के लिए जाओ और गाय भी ले आना) इस वाक्य का आशय यह है कि भिक्षाटन करते हुए यदि गाय मिल जाये तो उसे भी लेते आना। इस प्रकार मुख्य उद्देश्य तो भिक्षा है और गाय को लाना गौण कार्य है, क्योंकि गाय को लाने की बाध्यता इस आदेश में नहीं है। इस प्रकार समुच्चीयमान पदार्थों में गवानयन रूप अप्रधान पदार्थ का अन्वय होने से 'च' का अर्थ **'अन्वाचय'** है। इन दोनों (समुच्चय और अन्वाचय) अर्थों में सामर्थ्य न होने के कारण अर्थात् परस्पर निरपेक्ष होने के कारण समास नहीं होता।

इतरेतरयोग–जब पदार्थ परस्पर मिलकर (परस्पर सापेक्ष भाव से) अन्वित होते हैं तो वह **इतरेतर-योग** कहलाता है। जैसे–'धवखदिरौ छिन्धि' (धव और खैर को काटो) यहाँ 'धव' और 'खदिर' परस्पर मिलकर छेदन क्रिया में अन्वित होते हैं, इसलिए यहाँ 'च' का अर्थ **'इतरेतरयोग'** होता है।

समाहारः–परस्पर साहित्य अर्थात् समूह को **समाहार** कहा जाता है। समुच्चीयमान पदार्थ परस्पर मिलकर सामूहिक रूप से क्रिया से अन्वित होते हैं तो वहाँ 'च' का अर्थ '**समाहार**' होता है। ऐसे स्थलों में पदार्थों का क्रिया के साथ पृथक्-पृथक् अन्वय नहीं होता।

९८३. राजदन्तादिषु परम् २।२।३१

एषु पूर्वप्रयोगार्हं परम् स्यात्। दन्तानां राजा–राजदन्तः।

(वा०)–धर्मादिष्वनियमः। अर्थधर्मौ, धर्मार्थावित्यादि।

प०वि०–राजदन्तादिषु ७।३।। परम् १।१।। **अनु०**–उपसर्जनम्।

अर्थ–राजदन्तादिगण में पठित शब्दों में पूर्व प्रयोग के योग्य अर्थात् 'उपसर्जन' का पर प्रयोग होता है।

यह सूत्र 'उपसर्जनम् पूर्वम्' से प्राप्त उपसर्जन के पूर्वनिपात का अपवाद है।।

राजदन्तः	दन्तानां राजा, लौ० वि० (दाँतों में श्रेष्ठ)
दन्त आम् राजन् सु	(अलौ० वि०) 'षष्ठी' से षष्ठ्यन्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ 'तत्पुरुष' समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्तियों का लुक् हुआ
दन्त राजन्	'प्रथमानिर्दिष्टं०' से समास-विधायक सूत्र में प्रथमा से निर्दिष्ट 'षष्ठी' पद के वाच्य षष्ठ्यन्त 'दन्त' की 'उपसर्जन' संज्ञा होने पर 'उपसर्जनम् पूर्वम्' से षष्ठ्यन्त 'दन्त' शब्द का पूर्वनिपात प्राप्त हुआ, जिसे बाधकर 'राजदन्तादिषु परम्' से 'दन्त' शब्द का पर-निपात हुआ
राजन् दन्त	'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप हुआ
राज दन्त	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' के सकार के स्थान में 'ससजुषो रुः' से रुत्व तथा 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्गादेश होकर रूप सिद्ध होता है।
राजदन्तः	

(वा०)–धर्मादिष्वनियमः–**अर्थ**–धर्मादि पदों के समास में पूर्व निपात विषयक कोई नियम नहीं है। उसमें किसी का भी पूर्व निपात किया जा सकता है। जैसा कि **धर्मार्थौ** और **अर्थधर्मौ** दोनों ही प्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं।

धर्मार्थौ	धर्मश्च अर्थश्च, लौ० वि० (धर्म और अर्थ)
धर्म सु अर्थ सु	'चार्थे द्वन्द्वः' से 'च' के इतरेतरयोग अर्थ में 'द्वन्द्व' समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् हुआ

धर्म अर्थ — 'अजाद्यदन्तम्' से अजादि और अकारान्त होने के कारण 'अर्थ' शब्द का पूर्व प्रयोग प्राप्त था, जिसे बाधकर 'धर्मादिष्वनियमः' वार्तिक से धर्मादि के विषय में अनियम होने के कारण 'धर्म' शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ

धर्म अर्थ — 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हुआ

धर्मार्थ — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' से प्रातिपदिकार्थ मात्र की विवक्षा में प्र० वि०, और 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' से द्विवचन की विवक्षा में 'औ' आया

धर्मार्थ औ — यहाँ 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से 'अक्' से उत्तर प्रथमा सम्बन्धी 'अच्' परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त था, जिसका 'नादिचि' से अवर्ण से 'इच्' परे रहते निषेध हो गया। इसलिए 'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' परे रहते वृद्धि एकादेश होकर

धर्मार्थौ — रूप सिद्ध होता है।

इसी तरह '**अर्थधर्मौ**' में 'अर्थ' का पूर्व प्रयोग होने से 'अर्थधर्मौ' रूप सिद्ध होता है।

१८४. द्वन्द्वे घि २।२।३२

द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात्। हरिश्च हरश्च-हरिहरौ।

प०वि०–द्वन्द्वे ७।१।। घि १।१।। **अनु०**–पूर्वम्।

अर्थ–'**द्वन्द्व**' समास में घिसंज्ञक का पूर्व निपात होता है।

हरिहरौ — हरिश्च हरश्च, लौ० वि० (विष्णु और शिव)

हरि सु हर सु — (अलौ० वि०) 'चार्थे द्वन्द्वः' से इतरेतर अर्थ में द्वन्द्व समास, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से प्रातिपादिक के अवयव सुपों का लुक् हुआ

हरि हर — 'शेषो घ्यसखि' से 'नदी' संज्ञक से भिन्न ह्रस्व इकारान्त 'हरि' शब्द की 'घि' संज्ञा होने से 'द्वन्द्वे घि' से द्वन्द्व समास में 'घि' संज्ञक 'हरि' का पूर्व प्रयोग हुआ

हरि हर — समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, द्वि व० में 'औ' आया

हरि हर औ — 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त हुआ जिसका 'नादिचि' से अवर्ण से 'इच्' (औ) परे रहते निषेध होने पर 'वृद्धिरेचि' से अवर्ण से 'एच्' परे रहते वृद्धि एकादेश होकर

हरिहरौ — रूप सिद्ध होता है।

९८५. अजाद्यदन्तम् २।२।३३

इदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात्। ईश कृष्णौ।

प० वि०– अजाद्यदन्तम् १।१।। **अनु०**–द्वन्द्वे, पूर्वम्।

अर्थ–द्वन्द्व समास में अजादि (जिसके आदि में कोई स्वर-वर्ण हो) जो ह्रस्व अकारान्त पद उस का पूर्व प्रयोग होता है।

यथा–ईशकृष्णौ।

ईश कृष्णौ–(ईशश्च कृष्णश्च), 'ईश+सु कृष्ण+सु' यहाँ 'चार्थे द्वन्द्वः' से समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से सुपों का लुक् होने पर 'अजाद्यदन्तम्' से अजादि और ह्रस्व अकारान्त 'ईश' का पूर्व प्रयोग होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'हरिहरौ' (९८४) के समान जानें।

९८६. अल्पाच्तरम् २।२।३४

शिवकेशवौ।

प० वि०–अल्पाच्तरम् १।१।। **अनु०**–द्वन्द्वे, पूर्वम्।

अर्थ–द्वन्द्व समास में अल्पतर अच् वाले पद का पूर्व प्रयोग होता है।

यथा–शिवकेशवौ।

शिवकेशवौ–(शिवश्च केशवश्च), 'शिव+सु केशव+सु' यहाँ 'चार्थे द्वन्द्वः' से समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से प्रातिपदिक के अवयव सुपों का लुक् होने पर 'अल्पाच्तरम्' से अल्प अच् वले पद 'शिव' का पूर्व प्रयोग होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'हरिहरौ' (९८४) के समान जानें।

९८७. पिता मात्रा १।२।७०

मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते। माता च पिता च-पितरौ, मातापितरौ वा।

प०वि०–पिता १।१।। मात्रा ३।१।। **अनु०**–अन्यतरस्याम्, शेषः।

अर्थ–'माता' के साथ 'पिता' का कथन होने पर (अर्थात् 'मातृ' और 'पितृ' पदों का समास होने पर) **'पितृ'** शब्द विकल्प से शेष बचता है अर्थात् **'मातृ'** शब्द लुप्त हो जाता है।

पितरौ	माता च पिता च, लौ० वि० (माता और पिता)।
मातृ सु पितृ सु	(अलौ० वि०) 'चार्थे द्वन्द्वः' से पूर्ववत् इतरेतर अर्थ में द्वन्द्व समास, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्रति०' से सुपों का लुक् हुआ
मातृ पितृ	'पिता मात्रा' से 'माता' के साथ पिता का कथन होने पर विकल्प से 'पितृ' शब्द शेष रहा है अर्थात् 'मातृ' शब्द का लोप हो गया
पितृ	समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, द्वि व० की विवक्षा में 'औ' प्रत्यय आया
पितृ औ	'सुडनपुंसकस्य' से 'औ' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा है, इसलिए 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' से 'सर्वनामस्थान' परे रहते ऋकारान्त अङ्ग को गुण हुआ, 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ऋ' के स्थान पर 'अर्' गुण हुआ
पित् अर् औ	संहिता होने पर
पितरौ	रूप सिद्ध होता है।
माता-पितरौ	माता च पिता च, लौ० वि० (माता और पिता)।
मातृ सु पितृ सु	(अलौ० वि०) 'चार्थे द्वन्द्वः' से पूर्ववत् द्वन्द्व समास और विभक्तियों का लुक् होने पर वैकल्पिक एकशेष अभाव पक्ष में 'अभ्यर्हितं च' वार्त्तिक से अधिक पूजित होने के कारण 'मातृ' शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ
मातृ पितृ	'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' से उत्तरपद परे रहते 'योनि' सम्बन्ध वाले ऋकारान्तों के द्वन्द्व समास में पूर्वपद 'मातृ' को 'आनङ्' आदेश हुआ, 'आनङ्' ङित् होने के कारण 'ङिच्च' से अन्तिम अल् 'ऋ' के स्थान में हुआ
मात् आनङ् पितृ	अनुबन्ध-लोप
मात् आन् पितृ	'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप हुआ
माता पितृ	समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा विभक्ति के द्वि वचन में 'औ' आया
माता पितृ औ	'ऋतो ङिसर्वनाम०' से गुण आदि कार्य 'पितरौ' के समान होकर
मातापितरौ	रूप सिद्ध होता है।

९८८. द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम् २।४।२

एषां द्वन्द्व एकवत्। पाणिपादम्। मार्दङ्गिकवैणविकम्। रथिकाश्वारोहम्।

प०वि०—द्वन्द्वः १।१।। च अ०।। प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् ६।३।। **अनु०**—एकवचनम्।

अर्थ—प्राणी के अङ्गवाची शब्द, तूर्य के अङ्ग (मृदंग वंशी आदि) और सेना के अङ्ग (रथ, अश्व आदि) का द्वन्द्व **एकवत्** अर्थात् केवल समाहार अर्थ में ही (एकवचनान्त) होता है।

विशेष—सूत्र में पठित अङ्ग शब्द का सम्बन्ध प्राणी, तूर्य और सेना तीनों के साथ होता है।[1]

पाणिपादम्	पाणी च पादौ च, लौ० वि० (हाथ और पैर)
पाणि औ पाद औ	(अलौ० वि०) पूर्ववत् 'चार्थे द्वन्द्वः' से द्वन्द्व समास, 'कृत्तद्धित०' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातु०' से सुपों का लुक् हुआ, 'शेषो घ्यसखि' से 'पाणि' की 'घि' संज्ञा होने से 'द्वन्द्वे घि' से द्वन्द्व समास में घिसंज्ञक 'पाणि' का पूर्वप्रयोग हुआ
पाणि पाद	स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर प्राणी के अङ्गवाचियों का द्वन्द्व होने के कारण 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य०' से एकवद्भाव हुआ अर्थात् प्र० वि०, एक व० का प्रत्यय 'सु' आया
पाणि पाद सु	यहाँ एकवचन से अभिप्राय है कि प्राणी आदि के अङ्गों का समाहार अर्थ में ही 'द्वन्द्व' समास होता है इतरेतरयोग अर्थ में नहीं। इसलिए 'स नपुंसकम्' से समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास का लिङ्ग भी नपुंसकलिङ्ग होने से 'अतोऽम्' से ह्रस्व अकारान्त नपुंसक से उत्तर 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश हुआ
पाणि पाद अम्	'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
पाणिपादम्	रूप सिद्ध होता है
मार्दङ्गिकवैणविकम्	मार्दङ्गिकश्च वैणविकश्च, लौ० वि० (मृदङ्ग बजाने वाला तथा वंशी बजाने वाला)
मार्दङ्गिक सु वैणविक सु	(अलौ० वि०) सभी समासादि कार्य पूर्ववत् होकर समान अच् वाले शब्दों के द्वन्द्व समास में सामान्यतः कोई नियम न होने के कारण प्रयोगानुरूप 'मार्दङ्गिक' का पूर्व प्रयोग हुआ
मार्दङ्गिक वैणविक	'तूर्य' के अङ्गवाची शब्दों का समास होने के कारण 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' से एकवद्भाव हुआ अर्थात् एकवचन का प्रत्यय (सु) आया तथा सभी कार्य 'पाणिपादम्' के समान होकर
मार्दङ्गिकवैणविकम्	रूप सिद्ध होता है।

१. द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

रथिकाश्वारोहम्—(रथिकाश्च अश्वारोहाश्च) 'रथिक जस् अश्वारोह जस्'—यहाँ 'चार्थे द्वन्द्वः' से द्वन्द्व समास, 'कृत्तद्धित०' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से सुपों का लुक्, 'अल्पाच्तरम्' से अल्प अच् वाले 'रथिक' का पूर्व प्रयोग हुआ, सेना के अङ्ग वाचक शब्दों का समास होने के कारण 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' से एकवद्भाव होने से प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'स नपुंसकम्' से समास का लिङ्ग नपुंसक लिङ्ग होने से 'अतोऽम्' से 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'रथिकाश्वारोहम्' रूप सिद्ध होता है।

९८९. द्वन्द्वात् चु-द-ष-हान्तात् समाहारे ५।४।१०६

चवर्गान्ताद् दषहान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् स्यात् समाहारे। वाक् च त्वक् च-वाक्त्वचम्। त्वक्स्रजम्। शमीदृषदम् वाक्त्विषम्। छत्रोपानहम्। समाहारे किम्? प्रावृट्शरदौ।

प०वि०—द्वन्द्वात् ५।१।। चु-द-ष-हान्तात् ५।१।। समाहारे ७।१।। अनु०— टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, प्रत्ययः, परश्च।

अर्थ—समाहार अर्थ में जो चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त और हकारान्त द्वन्द्व, उससे समासान्त तद्धितसंज्ञक **'टच्'** प्रत्यय होता है।

वाक्त्वचम्	वाक् च त्वक् च, लौ० वि० (वाणी और त्वचा)
वाच् सु त्वच् सु	(अलौ० वि०) पूर्ववत् 'चार्थे द्वन्द्वः' से द्वन्द्व समास, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, तथा 'सुपो धातुप्राति०' से सुपों का लुक् हुआ, समान अच् वाले शब्दों के द्वन्द्व समास में पूर्वप्रयोगविषयक कोई सामान्य नियम न होने के कारण वक्ता की इच्छा के अनुरूप 'वाच्' का पूर्व-प्रयोग हुआ
वाच् त्वच्	'द्वन्द्वात् चु-द-ष-हान्तात् समाहारे' से चवर्गान्त द्वन्द्व से समाहार अर्थ में समासान्त 'टच्' प्रत्यय हुआ
वाच् त्वच् टच्	अनुबन्ध-लोप
वाच् त्वच् अ	'चोः कुः' से पदान्त में चवर्ग (वाच् के च्) के स्थान में कवर्गादेश (क्) हुआ
वाक् त्वच् अ	समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने से पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' से प्र० वि० तथा प्राणी के अङ्गवाची शब्दों का द्वन्द्व समास होने के कारण 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' से एकवद्भाव होने से 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' से एकवचन में 'सु' आया

वाक् त्वच् अ सु — पूर्ववत् 'अतोऽम्' से अदन्त नपुंसक से उत्तर 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर रूप सिद्ध होता है।

वाक्त्वचम्

इसी प्रकार **त्वक्स्रजम्** चवर्गान्त होने के कारण समासान्त 'टच्' प्रत्यय होकर सिद्ध होता है

शमीदृषदम् में 'दृषद्' शब्द दकारान्त, **वाक्त्विषम्** में 'त्विष्' शब्द षकारान्त और **छत्रोपानहम्** में 'उपानह्' शब्द हकारान्त होने के कारण सभी जगह समाहार द्वन्द्व समास में प्रकृत सूत्र से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है। इन सभी की सिद्धि-प्रक्रिया '**वाक्त्वचम्**' के समान जानें।

विशेष–शमीदृषदम् और **वाक्त्विषम्** में दोनों पदों में समान अच् होने के कारण द्वन्द्व समास में पूर्वप्रयोग विषयक कोई सामान्य नियम न होने के कारण यथाप्रयोग क्रमशः **शमी** और **वाक्** का पूर्वप्रयोग होता है।

'**छत्रोपानहम्**' में 'अल्पाच्तरम्' से 'छत्र' का पूर्वप्रयोग जानें।

समाहारे किम्? सूत्र में **समाहारे** पद का प्रयोजन यह है कि 'प्रावृट्शरदौ' में 'शरद्' शब्द यद्यपि दकारान्त है तथापि 'इतरेतरयोग' अर्थ में समास होने के कारण समासान्त 'टच्' प्रत्यय नहीं होता। 'इतरेतरयोग' अर्थ में द्विवचन का प्रत्यय 'औ' ही होता है, एकवचन का 'सु' नहीं। इस प्रकार 'प्रावृट्शरदौ' रूप सिद्ध होता है।

।। द्वन्द्वसमास समाप्त ।।

अथ समासान्ताः

९९०. ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ५।४।७४

'अ+अनक्षे' इतिच्छेदः। ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अ प्रत्ययोऽन्तावयवः स्यात्, अक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न। अर्धर्चः। विष्णुपुरम्। विमलापं-सरः। राजधुरा। अक्षे तु-अक्षधूः। दृढधूरक्षः। सखिपथः। रम्यपथो देशः।

प०वि०—ऋक्पूरब्धूःपथाम् ६।३।। अ लुप्तप्रथमान्त।। अनक्षे ७।१।। **अनु०**—समासान्ताः, तद्धिताः, प्रत्ययः, परश्च।

अर्थ—जिस समास के अन्त में **'ऋक्'**, **'पुर्'**, **'अप्'**, **'पथिन्'** और अक्ष-भिन्न अर्थ में **'धुर्'** शब्द हों उनसे समासान्त तद्धित संज्ञक **'अ'** प्रत्यय होता है।

अर्धर्चः की सिद्धि-प्रक्रिया 'अर्धर्चाः पुंसि च' (९६३) की व्याख्या में देखें।

विष्णुपुरम्	विष्णोः पूः, लौ० वि० (विष्णु भगवान् की नगरी)
विष्णु ङस् पुर् सु	(अलौ० वि०) पूर्ववत् 'षष्ठी' से तत्पुरुष समास 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
विष्णु पुर्	'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' से 'पुर्' अन्त वाले समास से समासान्त 'अ' प्रत्यय हुआ
विष्णु पुर् अ	समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
विष्णु पुर् अ सु	'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से 'तत्पुरुष' समास का लिङ्ग परशब्द के अनुसार होता है, यहाँ बाद का पद 'पुर्' नपुंसकलिङ्ग में है अतः समास का लिङ्ग भी नपुंसकलिंग हुआ 'अतोऽम्' से ह्रस्व अकारान्त नपुंसक से उत्तर 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
विष्णुपुरम्	रूप सिद्ध होता है।
विमलापम्	विमला आपो यस्मिन् सरसि तत्, लौ० वि० (निर्मल है जल जिस में ऐसा तालाब)

विमल जस् अप् जस्	(अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से पूर्ववत् बहुव्रीहि समास प्रातिपदिक संज्ञा तथा विभक्तियों का लुक् हुआ
विमला अप्	'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश हुआ
विमलाप्	'ऋक्पूरब्धू०' से 'अप्' अन्त वाले समास से पूर्ववत् 'अ' प्रत्यय हुआ
विमलाप् अ	बहुव्रीहि समास में अन्यपद प्रधान होने के कारण समास का लिङ्ग अन्यपद (विशेष्य) के अनुसार होता है। यहाँ विशेष्य 'सरस्' पद नपुंसकलिङ्ग में है, इसलिए समास का लिङ्ग भी नपुंसकलिङ्ग होगा। पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति से प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'सु' के स्थान में अमादेश और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
विमलापम्	रूप सिद्ध होता है।
राजधुरा	राज्ञः धूः, लौ० वि० (राजा का भार)
राजन् ङस् धुर् सु	(अलौ० वि०) 'षष्ठी' से पूर्ववत् 'तत्पुरुष' समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
राजन् धुर्	'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' से षष्ठ्यन्त पद 'राजन्' को 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उपसर्जन का पूर्व प्रयोग हुआ
राजन् धुर्	'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप तथा 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' से 'अ' प्रत्यय हुआ
राज धुर् अ	'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से तत्पुरुष समास का लिङ्ग उत्तरपद के अनुसार होता है। यहाँ 'धुर्' शब्द स्त्रीलिङ्ग में होने के कारण समास का लिङ्ग भी स्त्रीलिङ्ग हुआ इसलिए 'अजाद्यतष्टाप्' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय हुआ
राज धुर् अ टाप्	अनुबन्ध-लोप
राज धुर आ	'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हुआ
राज धुरा	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
राज धुरा सु	अनुबन्ध-लोप
राज धुरा स्	'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से एक अल्रूप प्रत्यय 'स्' की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से आबन्त से उत्तर 'अपृक्त' संज्ञक सकार का लोप होकर
राजधुरा	रूप सिद्ध होता है।

सूत्र में **'अनक्षे'** कहा गया है इसलिए 'धुर्' शब्द का सम्बन्ध 'अक्ष' (चक्र) के साथ होने पर 'दृढा धूर्यस्य सः'–**दृढधूः** और 'अक्षस्य धूः'–**अक्षधूः** में समासान्त 'अ' प्रत्यय नहीं हुआ है।

सखिपथः — सख्युः पन्थाः, लौ० वि० (मित्र का मार्ग)

सखि ङस् पथिन् सु — (अलौ० वि०) 'षष्ठी' से 'तत्पुरुष' समास, पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् हुआ

सखि पथिन् — 'ऋक्पूरब्धूःपथा०' से समासान्त 'अ' प्रत्यय हुआ

सखि पथिन् अ — 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'नस्तद्धिते' से नकारान्त भसंज्ञक के 'टि' का लोप हुआ, तद्धित प्रत्यय परे रहते। 'अचोऽन्त्यादि टि' से 'इन्' भाग की 'टि' संज्ञा होने से 'इन्' का लोप हुआ

सखि पथ् अ — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया

सखि पथ सु — अनुबन्ध-लोप, 'ससजुषो रुः' से सकार के स्थान में रुत्व तथा 'खरवसानयो०' से रेफ के स्थान में विसर्ग होकर

सखिपथः — रूप सिद्ध होता है।

रम्यपथो (देशः)

रम्यपथः — रम्याः पन्थानो यस्य सः, लौ० वि० (रमणीय हैं रास्ते जिसके)।

रम्य जस् पथिन् जस् — (अलौ० वि०) 'अनेकमन्यपदार्थे' से बहुव्रीहि समास पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञा और विभक्तियों का लुक् होकर

रम्य पथिन् — 'ऋक्पूरब्धूःपथा०' से पूर्ववत् 'अ' प्रत्यय होकर शेष सभी कार्य 'सखिपथः' के समान होकर

रम्यपथः — रूप सिद्ध होता है।

११. अक्ष्णोऽदर्शनात् ५।४।७६

अचक्षुःपर्यायादक्ष्णोऽच् स्यात्समासान्तः। गवामक्षीव–गवाक्षः।

प०वि०–अक्ष्णः ५।१।। अदर्शनात् ५।१।। **अनु०**–अच्, समासान्ताः, प्रत्ययः, परश्च।

अर्थ–यदि 'अक्षि' शब्द चक्षु (नेत्र) वाचक न हो तो अक्षि शब्दान्त समास से समासान्त तद्धित-संज्ञक **'अच्'** प्रत्यय होता है।

गवाक्षः — गवाम् अक्षि इव, लौ०वि०(खिड़की, झरोखा)

गो आम् अक्षि सु — (अलौ० वि०) 'षष्ठी' से तत्पुरुष समास, पूर्ववत् 'प्रातिपदिक' संज्ञा और विभक्तियों का लुक् हुआ

गो अक्षि — 'प्रथमानिर्दिष्टं समास०' से षष्ठ्यन्त 'गो' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ

गो अक्षि	'अक्ष्णोऽदर्शनात्' से चक्षु-भिन्न अर्थ (खिड़की) में वर्तमान 'अक्षि' शब्दान्त समास से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हुआ
गो अक्षि अच्	अनुबन्ध-लोप
गो अक्षि अ	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से तद्धित प्रत्यय परे रहते 'अक्षि' के इकार का लोप हुआ
गो अक्ष् अ	यहाँ 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप प्राप्त था, जिसे बाधकर 'अवङ् स्फोटायनस्य' से 'अच्' परे रहते एङन्त 'गो' शब्द को 'अवङ्' आदेश प्राप्त हुआ। ङित् होने से अन्तिम 'अल्' ओकार के स्थान में 'अवङ्' हुआ
ग् अवङ् अक्ष् अ	अनुबन्ध-लोप
गव अक्ष् अ	'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हुआ
गवाक्ष	समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने से पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर सकार के स्थान में रुत्व एवं विसर्गादेश होकर
गवाक्षः	रूप सिद्ध होता है।

९९२. उपसर्गादध्वनः ५।४।८५

प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो-रथः।

प०वि०—उपसर्गात् ५।१।। अध्वनः ५।१।। **अनु०**—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, प्रत्ययः, परश्च।

अर्थ—उपसर्ग (प्र, परा आदि) से उत्तर जो 'अध्वन्' शब्द, तदन्त समास से समासान्त तद्धित-संज्ञक **'अच्'** प्रत्यय होता है।

यथा--प्राध्वो रथः।

प्राध्वः	प्रगतः अध्वानम्, लौ० वि० (गतिशील रथ)
प्र अध्वन् अम्	(अलौ० वि०) 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' से प्रादितत्पुरुष समास हुआ। पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् हुआ
प्र अध्वन्	'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' से 'प्र' की उपसर्जन संज्ञा तथा 'उपसर्जनम् पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
प्र अध्वन्	'उपसर्गादध्वनः' से उपसर्ग से उत्तर 'अध्वन्' शब्द परे रहते समासान्त 'अच्' प्रत्यय हुआ
प्र अध्वन् अच्	अनुबन्ध-लोप
प्र अध्वन् अ	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'नस्तद्धिते' से नकारान्त भसंज्ञक के टिभाग 'अन्' का लोप हुआ

प्र अध्व् अ — 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घादेश हुआ

प्राध्व् अ — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर 'सु' के सकार के स्थान में रुत्व तथा रेफ को विसर्गादेश होकर रूप सिद्ध होता है।

प्राध्वः

९९३. न पूजनात् ५।४।६९

पूजनार्थात् परेभ्यः समासान्ता न स्युः।

(वा०) स्वतिभ्यामेव। सुराजा। अतिराजा।

इति समासान्ताः।

प०वि०–न अ०।। पूजानात् ५।१।। **अनु०** –समासान्ताः, तद्धिताः, प्रत्ययः, परश्च।

अर्थ–पूजार्थक शब्दों से परे जो प्रातिपदिक तदन्त समास से उत्तर समासान्त प्रत्यय नहीं होते।

पूजार्थकों से उत्तर समासान्त प्रत्ययों का निषेध सब जगह नहीं होता, वार्त्तिक के द्वारा इस सूत्र के क्षेत्र को सीमित कर दिया गया है।

(वा०) स्वतिभ्यामेव– अर्थ–पूजार्थक **'सु'** और **'अति'** से उत्तर ही समासान्त प्रत्ययों का निषेध होता है अन्यत्र नहीं। इसीलिए 'परमराजः' आदि में 'टच्' प्रत्यय हो ही जाता है।

सुराजा — शोभनो राजा, लौ० वि० (अच्छा राजा)।

सु राजन् सु — (अलौ० वि०) 'कुगतिप्रादयः' से प्रादि समास हुआ, पूर्ववत् 'कृतद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का लुक् हुआ

सु राजन् — 'प्रथमानिर्दिष्टं समा०' से 'सु' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उपसर्जन संज्ञक 'सु' का पूर्व प्रयोग हुआ

सु राजन् — यहाँ 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' से समासान्त 'टच्' प्रत्यय प्राप्त था, जिसका पूजार्थक 'सु' से उत्तर 'न पूजनात्' से निषेध हो गया।

सु राजन् सु — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया 'सुडनपुंसकस्य' से नपुंसक-भिन्न 'सुट्' की सर्वनामस्थान' संज्ञा होती है, अतः 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते नकारान्त की उपधा को दीर्घ हुआ

सु राजान् सु — अनुबन्ध-लोप

सु राजान् स — 'अपृक्त एकाल्०' से सकार की 'अपृक्त' संज्ञा तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से अपृक्तसंज्ञक सकार का लोप हुआ

सु राजान् — 'सुप्तिङन्तं प्रत्ययलक्षण से 'लुप्त 'सु' को निमित्त मानकर

	पदम्' से 'सु राजान्' की **पद** संज्ञा होने पर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप होकर
सुराजा	रूप सिद्ध होता है।
अतिराजा	राजानम् अतिक्रान्तः, लौ० वि० (राजा का अतिक्रमण करने वाला)
राजन् अम् अति	(अलौ० वि०) 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' से समास, पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्ति का लुक् हुआ
राजन् अति	'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'अति' की 'उपसर्जन' संज्ञा और 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उपसर्जन संज्ञक 'अति' का पूर्व प्रयोग हुआ
अति राजन्	'न पूजनात्' से समासान्त प्रत्यय का निषेध होने पर शेष सभी कार्य 'सुराजा' के समान होकर
अतिराजा	रूप सिद्ध होता है।

॥ समासान्त-प्रकरण समाप्त ॥

(समास समाप्त)

अथ तद्धितप्रकरणम्

११४. समर्थानां प्रथमाद् वा ४।१।८२

इदं पदत्रमधिक्रियते। प्राग्दिश इति यावत्।

प०वि०–समर्थानाम् ६।३।। प्रथमात् ५।१।। वा अ०।।

यह अधिकार सूत्र है। 'प्राग्दिशो विभक्तिः' (५.३.१) सूत्र तक इसका अधिकार जाता है।

अर्थ–इससे आगे जिन प्रत्ययों का विधान किया जायेगा वे समर्थ पदसमुदाय में जो प्रथम समर्थ होगा उससे विकल्प से होंगे।

समर्थ[1] शब्द का अभिप्राय है परस्पर सम्बन्ध की योग्यता होना या अपने अर्थ को सम्पूर्णता देने के लिए पद या पदार्थ की आकांक्षा का होना। जैसे–'तस्याऽपत्यम्' यहाँ दो पद हैं 'तस्य' और 'अपत्यम्'। दोनों ही एक–दूसरे के प्रति सापेक्ष होने के कारण समर्थ हैं। इसीलिए जब 'तस्याऽपत्यम्' सूत्र से 'अण्' प्रत्यय का विधान किया जायेगा तो इन दोनों समर्थों में जो प्रथम उच्चरित समर्थ पद षष्ठ्यन्त होगा उसी से 'अण्' प्रत्यय होगा, द्वितीय समर्थ पद से नहीं। इस विषय को अधिक स्पष्टता के साथ अग्रिम सूत्र के उदाहरण की सिद्धि–प्रक्रिया में देखा जा सकता है।

११५. अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।८४

एभ्योऽण् स्यात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु। अश्वपतेरपत्यादि आश्वपतम्। गाणपतम्।

प०वि०–अश्वपत्यादिभ्यः ५।३।। च अ०।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्राग्दीव्यतोऽण्।

अर्थ–प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अश्वपति आदि प्रातिपदिकों से तद्धितसंज्ञक 'अण्' प्रत्यय होता है।

प्राग्दीव्यतीय–सूत्र में पठित यह शब्द अष्टाध्यायी के क्रम के महत्त्व को प्रतिपादित करता है। अष्टाध्यायी में एक सूत्र पढ़ा गया है **'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्'** (४।४।२) इससे पहले जितने भी अर्थों का निर्देश विभिन्न सूत्रों में किया गया है वे सब 'प्राग्दीव्यतीय' कहलाते हैं।

जैसे–'तस्याऽपत्यम्', 'तेन रक्तं रागात्', 'तत्र जातः', 'तत आगतः', 'तदधीते

---

1. 'समर्थ' पद की विशेष व्याख्या 'समर्थः पदविधि' १०४- में देखें।

तद्वेद', 'तेन प्रोक्तम्', 'तस्मै हितम्', 'सोऽस्य निवासः', 'तेन निर्वृत्तम्', 'तस्य समूहः' इत्यादि निर्दिष्ट अर्थ 'प्राग्दीव्यतीय' कहलाते हैं। इन्हीं अर्थों में निर्दिष्ट 'तस्याऽपत्यम्' भी एक अर्थ है जिसे इस सूत्र के उदाहरण 'आश्वपतम्' में देखा जा सकता है।

आश्वपतम्	(अश्वपतेरपत्यम्-अश्वपति की सन्तान)
अश्वपति ङस्	'अश्वपत्यादिभ्यश्च' से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'अश्वपति' आदि से 'अण्' प्रत्यय होता है यहाँ 'तस्यापत्यम्' (उसकी सन्तान) अर्थ में षष्ठी-समर्थ से तद्धितसंज्ञक 'अण्' हुआ। यहाँ 'तस्यापत्यम्' सूत्र में प्रथम समर्थ पद 'तस्य' है, जो षष्ठ्यन्त का उपलक्षण है। विग्रह-वाक्य में जिसका वाच्य 'अश्वपतेः' षष्ठ्यन्त पद होने से 'अश्वपति ङस्' प्रथम समर्थ पद है अतः 'समर्थानां प्रथमाद्वा' के विधान के कारण प्रथम समर्थ षष्ठ्यन्त 'अश्वपति' से ही 'अण्' प्रत्यय होता है, विग्रहवाक्य में निर्दिष्ट प्रथमान्त 'अपत्य' से नहीं
अश्वपति ङस् अण्	'कृत्तद्धितसमासाश्च' से तद्धित प्रत्ययान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने के कारण 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से प्रातिपदिक के अवयव सुप् 'ङस्' विभक्ति का 'लुक्' हुआ
अश्वपति अ	'तद्धितेष्वचामादेः' से 'णित्' तद्धित परे रहते आदि अच् 'अ' को वृद्धि 'आ' हुई
आश्वपति अ	'यचि भम्' से अजादि प्रत्यय परे रहते पूर्व की 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से तद्धित परे रहते इकार का लोप हुआ
आश्वपत् अ	तद्धितान्त की प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
आश्वपत सु	'अतोऽम्' से ह्रस्व अकारान्त नपुंसक से उत्तर 'सु' को 'अम्' आदेश हुआ
आश्वपत अम्	'अमि पूर्वः' से 'अक्' से उत्तर 'अम्' का अच् परे रहते पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होकर
आश्वपतम्	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार गणपतेरपत्यम्--**गाणपतम्** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

९९६. दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः ४।१।८५

दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः स्यात्। अणोऽपवादः। **दितेरपत्यं दैत्यः। अदितेरादित्यस्य वा अपत्यम्-**

प०वि०-दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात् ५।१।। ण्यः १।१।। **अनु०**--प्रातिपदिकात्, प्राग्दीव्यतः।

अर्थ–दिति, अदिति, आदित्य और पत्यन्त (पति शब्द उत्तर पद में हो जिसके ऐसे) षष्ठ्यन्त समर्थ से 'प्राग्दीव्यतीय' अर्थों में 'ण्य' प्रत्यय होता है।

दैत्यः	(दितेरपत्यम् दैत्यः)
दिति ङस्	'दित्यदित्यादित्य०' से प्राग्दीव्यतीय 'तस्यापत्यम्' अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ से 'ण्य' प्रत्यय हुआ
दिति ङस् ण्य	अनुबन्ध-लोप, 'आश्वपतम्' के समान 'कृत्तद्धितसमा०' से तद्धितान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक्, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से इकार का लोप तथा 'तद्धितेष्व०' से णित् 'तद्धित' संज्ञक प्रत्यय परे रहते आदि 'अच्' इकार को वृद्धि 'ऐ' आदेश हुआ
दैत्य	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप, 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्त्व तथा 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग आदेश होकर
दैत्यः	रूप सिद्ध होता है।

११७. हलो यमां यमि लोपः ८।४।६४

वा स्यात्। इति यलोपः। आदित्यः। प्राजापत्यः।

(वा० १) देवाद् यञञौ। दैव्यम्। दैवम्।

(वा० २) बहिषष्टिलोपो यञ् च। बाह्यः।

(वा० ३) ईकक् च।

प०वि०–हलः ५।१।। यमाम् ६।३।। यमि ७।१।। लोपः १।१।। **अनु०**–अन्यतरस्याम्।

अर्थ–'हल्' (व्यञ्जन) से उत्तर जो 'यम्' (य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्) उसका विकल्प से लोप होता है 'यम्' परे रहते।

आदित्यः–अदितेरपत्यम्-'आदित्यः' की सिद्धि-प्रक्रिया में सभी कार्य 'दैत्यः' (११६.) के समान ही होते हैं केवल 'तद्धितेष्वचामा०' से आदि 'अच्' अकार को 'आ' वृद्धि अधिक होती है।

आदित्यः	(आदित्यस्यापत्यम्)
आदित्य ङस् ण्य	पूर्ववत् 'दित्यदित्या०' से षष्ठ्यन्त 'आदित्य' से 'ण्य' होने पर अनुबन्धलोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्ति-लुक् हुआ
आदित्य य	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा तथा 'यस्येति च' से अकार का लोप हुआ
आदित्य् य	'हलो यमां यमि लोपः' से हल् (तकार) से उत्तर 'यम्' (य्) का 'यम्' (य्) परे रहते विकल्प से लोप हुआ

आदित्य पूर्ववत् प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर
आदित्यः रूप सिद्ध होता है।

प्राजापत्यः—इसी प्रकार प्रजापतेरपत्यम्—'प्राजापत्यः' की सिद्धि-प्रक्रिया 'आदित्यः' से समान जानें।

(वा० १) देवाद्यञञौ—अर्थ—प्राग्दीव्यतीय अर्थों में षष्ठ्यन्त समर्थ 'देव' शब्द से तद्धितसंज्ञक 'यञ्' और 'अञ्' प्रत्यय होते हैं।

दैव्यम्—(देवस्यापत्यम्), षष्ठ्यन्त 'देव+ङस्' से प्रकृत वार्तिक से 'अपत्य' अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय होने पर पूर्ववत् विभक्ति-लुक् आदि कार्य होकर 'यस्येति च' से अकार का लोप, 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' को वृद्धि, स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर 'अतोऽम्' से अमादेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'दैव्यम्' रूप सिद्ध होता है।

दैवम्—'अञ्' प्रत्यय होने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'दैव्यम्' के समान ही जानें।

(वा०२) बहिषष्टि०—अर्थ—'बहिस्' शब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसंज्ञक 'यञ्' प्रत्यय तथा 'बहिस्' के 'टि' भाग का लोप कहना चाहिए।

बाह्यः—(बहिर्भवः बाह्यः) 'बहिस्+ङि' से 'तत्र भवः' अर्थ में प्रकृत वार्तिक 'बहिषष्टिलोपो यञ् च' से 'यञ्' प्रत्यय और 'टि' लोप होने पर 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' को वृद्धि आदि कार्य होकर 'बाह्यः' रूप जानें।

(वा०३) ईकक् चेति—अर्थ—'बहिस्' शब्द से 'प्राग्दीव्यतीय' अर्थों में 'ईकक्' प्रत्यय तथा 'बहिस्' के 'टि' भाग का लोप भी होता है।

९९८. किति च ७।२।११८

किति तद्धिते चाऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात्। बाहीकः।

(वा०) गोरजादिप्रसङ्गे यत्। गोरपत्यादि-गव्यम्।

प०वि०—किति ७।१।। च अ०।। **अनु०**—तद्धितेष्वचामादेः, वृद्धिः।

अर्थ—कित् तद्धित प्रत्यय परे होने पर अचों में आदि 'अच्' के स्थान में वृद्धि होती है।

बाहीकः—(**बहिर्भवः-बाहीकः**) में 'ईकक् च' वार्तिक से 'बहिस्+ङि' से 'ईकक्' प्रत्यय तथा 'टि' भाग (इस्) का लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तिलुक् होने पर 'किति च' से तद्धितसंज्ञक कित् परे रहते आदि 'अच्' को वृद्धि आदि होकर 'सु' आकर सकार को रुत्व और विसर्ग होने पर 'बाहीकः' सिद्ध होता है।

(वा०)-गोरजादि०—अर्थ—'गो' शब्द से अजादि अर्थात् 'अच्' आदि में है जिसके ऐसे 'अण्' आदि के प्रसङ्ग में प्राग्दीव्यतीय अर्थों में **'यत्'** प्रत्यय होता है।

गव्यम्—(गोरपत्यम्-गव्यम्) षष्ठ्यन्त 'गो+ङस्' पद से 'तस्याऽपत्यम्' अर्थ में

प्राग्दीव्यतोऽण्' से होने वाले 'अण्' के प्रसङ्ग में 'गोरजादिप्रसङ्गे०' से 'यत्' प्रत्यय होकर 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति लुक् होने पर 'वान्तो यि प्रत्यये' से यकारादि प्रत्यय परे रहते 'ओ' के स्थान में 'अव्' आदेश होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'अतोऽम्' से 'सु' को सु 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'गव्यम्' रूप सिद्ध होता है।

११९. उत्सादिभ्योऽञ् ४।१।८६

औत्सः।

इत्यपत्यादिविकारान्तार्थाः साधारणप्रत्ययाः।

प०वि०–उत्सादिभ्यः ५।३।। अञ् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्राग्दीव्यतः।

अर्थ–उत्स आदि गण में पठित प्रातिपदिकों में प्राग्दीव्यतीय (अपत्यादि) अर्थों में तद्धित संज्ञक **'अञ्'** प्रत्यय होता है।

औत्सः–(उत्सस्य अपत्यम्) षष्ठ्यन्त 'उत्स+ङस्' से अपत्य अर्थ में 'उत्सादिभ्योऽञ्' से 'अञ्' प्रत्यय, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक्, 'यस्येति च' से अकार का लोप और 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' उकार को वृद्धि 'औ' होकर 'औत्स' बनने पर स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' को रुत्व तथा विसर्ग होकर 'औत्सः' सिद्ध होता है।

'तस्याऽपत्यम्' से लेकर 'तस्य विकारः' (४।३।१३४) पर्यन्त प्राग्दीव्यतीय अर्थों में विहित साधारण तद्धितप्रत्यय यहाँ समाप्त होते हैं।

।। साधारण तद्धित प्रत्यय समाप्त।।

अथ अपत्याधिकारः

१०००. स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ४।१।८७

'धान्यानां भवने०' इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमान्नञ्-स्नञौ स्तः। स्त्रैणः। पौंस्नः।

प०वि०–स्त्रीपुंसाभ्याम् ५।२।। नञ्स्नञौ १।२।। भवनात् ५।१।। अनु०–प्राग्।

इस सूत्र में भी 'भवनात्' शब्द के द्वारा अष्टाध्यायी में पठित 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' (५।२।१) का निर्देश किया गया है। 'स्त्रीपुंसाभ्यां०' (४।१।८७) और 'धान्यानां भवने०' (५।२।१) के मध्य 'तत्र भवः', 'तस्य समूहः' इत्यादि अनेक अर्थों में प्रत्ययों का विधान किया गया है उनका यहाँ ग्रहण होता है–

अर्थ–'धान्यानां भवने०' (५।२।१) सूत्र से पहले 'तत्र भवः', 'तस्य समूहः' आदि सूत्रों से जिन अर्थों में प्रत्ययों का विधान किया है उन सभी अर्थों में '**स्त्री**' शब्द से '**नञ्**' और '**पुंस्**' शब्द से '**स्नञ्**' प्रत्यय होते हैं।

स्त्रैणः
(स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहो वा इत्यादि।)

स्त्री सुप् — 'स्त्रीपुंसाभ्यां०' से 'तत्र भवः' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'स्त्री' शब्द से 'नञ्' प्रत्यय हुआ

स्त्री सुप् नञ् — अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से तद्धितान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने के कारण 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से 'सुप्' विभक्ति का लुक् हुआ

स्त्री न — 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' इकार को 'ऐ' वृद्धि, 'अट्कुप्वाङ्०' से रेफ से उत्तर 'अट्' आदि का व्यवधान होने पर भी नकार को णत्व हुआ

स्त्रैण — स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व तथा विसर्ग होकर

स्त्रैणः — रूप सिद्ध होता है।

पौंस्नः
(पुंसु भवः, पुंसां समूहः वा इत्यादि।)

पुंस् सुप् — 'स्त्रीपुंसाभ्यां०' से 'तत्र भवः' आदि अर्थों में सप्तम्यन्त 'पुंस्' शब्द से 'स्नञ्' प्रत्यय हुआ

पुंस् सुप् स्नञ् — अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से 'सुप्' विभक्ति का लुक् हुआ

पुंस् स्न — 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से स्वादि प्रत्यय 'स्नञ्' परे रहते 'पुंस्' की 'पद' संज्ञा होती है अतः 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद 'पुंस्' के अन्तिम सकार का लोप तथा अनुस्वार अपनी पूर्व अवस्था मकार को प्राप्त हुआ

पुम् स्न — 'नश्चापदान्तस्य०' से मकार को अनुसार, 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् को वृद्धि तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि होकर

पौंस्नः — रूप सिद्ध होता है।

१००१. तस्याऽपत्यम् ४।१।९२

षष्ठ्यन्तात् कृतसन्धेः समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः।

प०वि०–तस्य ६।१।। अपत्यम् १।१।। **अनु०**–तद्धिताः, समर्थानां प्रथमाद्वा।

अर्थ–समर्थों में जो प्रथम समर्थ जिस में सन्धि कार्य किया जा चुका है ऐसे षष्ठ्यन्त पद से 'अपत्य' (सन्तान) अर्थ में यथाविहित तद्धितसंज्ञक प्रत्यय विकल्प से होते हैं।

१००२. ओर्गुणः ६।४।१४६

उवर्णान्तस्य भस्य गुणस्तद्धिते। उपगोपरत्यम्–औपगवः। आश्वपतः। दैत्यः। औत्सः। स्त्रैणः। पौंस्नः।

प०वि०–ओः ६।१।। गुणः १।१।। **अनु०**–भस्य, अङ्गस्य, तद्धिते।

अर्थ–तद्धित प्रत्यय परे रहते उवर्णान्त भसंज्ञक अंग को गुण होता है।

औपगवः — (उपगोरपत्यम्)

उपगु ङस् — 'प्राग्दीव्यतोऽण्' से 'तस्याऽपत्यम्' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हुआ

उपगु ङस् अण् — 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति का लुक् हुआ, अनुबन्ध-लोप

उपगु अ — 'यचि भम्' से भसंज्ञा, 'ओर्गुणः' से उवर्णान्त 'भ' संज्ञक अङ्ग के उकार को गुण तथा 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् 'उ' को 'औ' वृद्धि हुई

औपगो अ — 'एचोऽयवायावः' से 'ओ' को अवादेश, स्वाद्युत्पत्ति से 'सु', सकार को रुत्व एवं रेफ को विसर्ग होकर

औपगवः — रूप सिद्ध होता है।

'**दैत्यः**', '**औत्सः**', '**स्त्रैणः**' और '**पौंस्नः**' की सिद्धि-प्रक्रिया पहले दिखाई जा चुकी है।

१००३. अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ४।१।१६२

अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात्।

प०वि०—अपत्यम् १।१।। पौत्रप्रभृति १।१।। गोत्रम् १।१।।

अर्थ—अपत्य के रूप में विवक्षित पौत्रप्रभृति **'गोत्र'** संज्ञक होते हैं।

विशेष—यह संज्ञा सूत्र है, जिसमें पौत्रप्रभृति अर्थात् तीसरी पीढ़ी या पुत्र के पुत्र तथा उसके बाद वाली चौथी, पाँचवीं आदि पीढ़ियों की सन्तानों की 'गौत्र' संज्ञा का विधान किया गया है। यथा—'उपगु' के पौत्र को भी अपत्य (सन्तान) कहना अभीष्ट हो तो उसकी 'गोत्र' संज्ञा होगी। इसी प्रकार 'उपगु' की चौथी, पाँचवीं और छठी पीढ़ी को अपत्य रूप से कहना हो तो उनकी भी 'गोत्र' संज्ञा होगी।

१००४. एको गोत्रे ४।१।९३

गोत्रे एक एवापत्यप्रत्ययः स्यात्। उपगोर्गोत्रापत्यम्-औपगवः।

प०वि०—एकः १।१।। गोत्रे ७।१।। **अनु०**—प्रत्ययः, अपत्यम्।

अर्थ—गोत्र अर्थ में अपत्यार्थक एक ही प्रत्यय होता है।

इसका आशय यह है कि पौत्र, प्रपौत्र तथा प्रपौत्र के पुत्रादि विभिन्न पीढ़ियों को अपत्य के रूप में विवक्षा होने पर अपत्य प्रत्ययों की आवश्यकता नहीं होती, अपितु एक ही अपत्यार्थक प्रत्यय 'गोत्र' संज्ञक सभी अपत्यों का बोध करा देता है। जैसे—उपगोर्गोत्रापत्यम् (औपगवः) यहाँ अपत्यार्थ एक ही 'अण्' प्रत्यय उपगु के पौत्र तथा प्रपौत्र आदि सभी गोत्रापत्यों का बोध करा देता है।

१००५. गर्गादिभ्यो यञ् ४।१।१०५

गोत्रापत्ये। गर्गस्य गोत्रापत्यम्-गार्ग्यः। वात्स्यः।

प०वि०—गर्गादिभ्यः ५।३।। यञ् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, गोत्रे।

अर्थ—गर्गादिगण में पठित प्रातिपदिकों से गोत्र अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'यञ्'** प्रत्यय होता है।

गार्ग्यः—(गर्गस्य गोत्रापत्यम्) षष्ठ्यन्त 'गर्ग+ङस्' से 'गोत्रापत्य' अर्थात् पौत्र और उसके बाद वाली पीढ़ी के अपत्यों (सन्तानों) को कहने हेतु 'गर्गादिभ्यो यञ्' से 'यञ्' प्रत्यय होने पर पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति का लुक्, 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' को वृद्धि और 'यस्येति च' से 'अ' का लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'गार्ग्यः' बनता है।

इसी प्रकार **'वत्सस्य गौत्रापत्यम्'**—**वात्स्यः** की सिद्धि-प्रक्रिया जाननी चाहिए।

१००६. यञञोश्च २।४।६४

गोत्रे यद् यञन्तमञन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक् स्यात्, तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम्। गर्गाः। वत्साः।

प०वि०—यञञोः ६।२।। च अ०।। अनु०—लुक्, बहुषु, तनैवास्त्रियाम्, गोत्रे।

अर्थ—स्त्रीलिंग से भिन्न जो गोत्रार्थक यञन्त और अञन्त शब्द, उन के अवयव 'यञ्' और 'अञ्' प्रत्ययों का, तत्कृत (उन प्रत्ययों के द्वारा सम्पादित) बहुत्व गम्यमान होने पर, 'लुक्' होता है।

गर्गाः	(गर्गस्य गोत्रापत्यानि पुमांसः)
गर्ग ङस्	'गर्गादिभ्यो यञ्' से 'यञ्' प्रत्यय गोत्रापत्य अर्थ में हुआ
गर्ग ङस् यञ्	अनुबन्ध-लोप
गर्ग ङस् य	'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से 'सुपो धातु०' से विभक्ति का लुक् हुआ, 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि 'अच्' को वृद्धि, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से अकार का लोप तथा प्र० वि०, बहु व० में 'जस्' आया
गार्ग्य जस्	अनुबन्ध-लोप, 'यञञोश्च' से बहुत्व विवक्षित होने पर पुल्लिंग में गोत्र अर्थ में विहित 'यञ्' का 'लुक्' हुआ तथा वृद्धि और अकार-लोप के निमित 'यञ्' के हट जाने पर वृद्धि और अकार का लोप भी निवृत होकर 'गर्ग' शेष रहा
गर्ग अस्	'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश, 'ससजुषो रुः' से 'स्' को रुत्व और 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्ग होकर
गर्गाः	रूप सिद्ध होता है।

वत्साः—इसी प्रकार 'वत्सस्यापत्यानि पुमांसः—वत्साः' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

१००७. जीवति तु वंश्ये युवा ४।१।१६३

वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद् युवसंज्ञमेव स्यात्।

प०वि०—जीविति ७।१।। तु अ०।। वंश्ये ७।१।। युवा १।१।। अनु०—अपत्यम्, पौत्रप्रभृति।

अर्थ—वंश में पिता आदि के जीवित रहते पौत्रप्रभृति के अपत्यों की (पौत्र की सन्तान प्रपौत्र आदि की) 'युव' संज्ञा ही होती है, 'गोत्र' संज्ञा नहीं।

१००८. गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् ४।१।९४

यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात्, स्त्रियां तु न युवसंज्ञा।

प०वि०—गोत्रात् ५।१।। यूनि ७।१।। अस्त्रियाम् ७।१।। अनु०—अपत्यम्।

अर्थ—युवापत्य अर्थ में गोत्रप्रत्ययान्त से ही अपत्यार्थक प्रत्यय होते हैं, स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर। अर्थात् स्त्रीलिंग में 'युव' संज्ञा नहीं होती।

१००९. यञिञोश्च ४।१।१०१

गोत्रे यौ यञिञौ तदन्तात् फक् स्यात्।

प०वि०—यञिञोः ७।२।। च अ०।।

अनु०—तद्धिताः फक्, गोत्रे, तस्यापत्यम्।

अर्थ–गोत्र अर्थ में विहित 'यञ्' प्रत्ययान्त तथा 'इञ्' प्रत्ययान्तों से युवापत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'फक्' प्रत्यय होता है।[१]

१०१०. आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७।१।२

प्रत्ययादेः फस्य आयन्, ढस्य एय्, खस्य ईन्, छस्य ईय्, घस्य इय् स्युः। गर्गस्य युवापत्यं-गार्ग्यायणः। दाक्षायणः।

प०वि०–आयनेयीनीयियः १।३।। फढखछघाम् ६।३।। प्रत्ययादीनाम् ६।३।

अर्थ–प्रत्यय के आदि फ्, ढ्, ख्, छ् और घ् के स्थान पर क्रमशः आयन्, एय्, ईन्, ईय् और इय् आदेश होते हैं।

गार्ग्यायणः–(गर्गस्य युवापत्यम्) युवापत्य अर्थ में प्रत्यय लाने के लिए 'गोत्र' अर्थ में प्रत्यय लाना होगा। इसलिए षष्ठ्यन्त 'गर्ग+ङस्' शब्द से 'गोत्रपत्य' अर्थ में 'गर्गादिभ्यो यञ्' से 'यञ्' आने पर विभक्ति-लुक्, 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' को वृद्धि तथा 'यस्येति च' से अकार-लोप होकर 'गार्ग्य' बनने पर 'यञिञोश्च' से यञन्त से युवापत्य अर्थ में 'फ्क' होगा, 'आयनेयीनी०' से 'फ्' को 'आयन्', 'यस्येति च' से 'गार्ग्य' के 'अ' का लोप, 'अट्कुप्वाङ्०' से 'णत्व' होकर 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होने पर 'गार्ग्यायणः' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'दक्षस्य युवापत्यं'–**दाक्षायणः** में पहले 'दक्ष' से गोत्रापत्य में 'अत इञ्' होकर 'दाक्षि' बनेगा तब 'यञिञोश्च' से 'इञ्' प्रत्ययान्त से 'फक्' होकर, 'फ्' को 'आयन्' तथा सुबुत्पत्ति आदि कार्य 'गार्ग्यायणः' के समान ही होंगे।

१०११. अत इञ् ४।१।९५

अपत्येऽर्थे। दाक्षिः

प०वि०–अतः ५।१।। इञ् १।१।। अनु०–तद्धिताः, तस्यापत्यम्, प्रातिपदिकात्।

अर्थ–ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'इञ्' प्रत्यय होता है।

दाक्षिः–(दक्षस्यापत्यम्) षष्ठ्यन्त 'दक्ष+ङस्' से 'अत इञ्' से 'इञ्' होने पर पूर्ववत् 'सुपो धातु०' से 'ङस्' का लुक्, 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि और 'यस्येति च' से अकार-लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर 'दाक्षिः' रूप सिद्ध होता है।

१०१२. बाह्वादिभ्यश्च ४।१।९६

बाहविः। औडुलोमिः।

(वा०) लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः। उडुलोमाः। आकृतिगणोऽयम्।

प०वि०–बाह्वादिभ्यः ५।३।। च अ०।। अनु०–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्यापत्यम्, इञ्।

---

१. 'गोत्राद् यून्यस्त्रियाम्' नियम के कारण 'फक्' प्रत्यय युवापत्य अर्थ में ही होगा।

अर्थ–षष्ठ्यन्त समर्थ '**बाहु**' आदि प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'इञ्' प्रत्यय होता है।

बाहविः–(बाहोरपत्यम्) षष्ठ्यन्त 'बाहु+ङस्' से 'बाह्वादिभ्यश्च' से 'इञ्' होकर विभक्ति-लुक् आदि होने पर 'ओर्गुणः' से गुण, 'एचोऽयवा०' से 'अव्' आदेश, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व और रेफ के स्थान में विसर्ग होकर 'बाहविः' सिद्ध होता है।

औडुलोमिः–(उडुलोम्नः अपत्यम्) 'उडुलोमन्+ङस्' से पूर्ववत् 'बाह्वादिभ्यश्च' से 'इञ्' होने पर विभक्ति–लुक्, 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' वृद्धि, 'नस्तद्धिते' से 'टि' भाग लोप का तथा पूर्ववत् स्वाद्युत्पति आदि सभी कार्य होकर 'औडुलोमिः' सिद्ध होता है।

(वा०) लोम्नोऽपत्ये०–**अर्थ**–'लोमन्' शब्द से अपत्य अर्थ में बहुवचन में 'अ' प्रत्यय होता है।

यह 'अ' प्रत्यय 'इञ्' का बाधक है।

उडुलोमाः–(उडुलोम्नोऽपत्यानि) षष्ठ्यन्त 'उडुलोमन्+ङस्' से बहुत्व विवक्षा में अपत्य अर्थ में 'लोम्नोऽपत्ये०' से 'अ' प्रत्यय होने पर पूर्ववत् विभक्ति–लुक्, 'नस्तद्धिते' से टि भाग 'अन्' का लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, बहु व० में 'जस्' आने पर 'प्रथमयोः०' से 'जस्' परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ तथा सकार को रुत्व और विसर्ग होकर 'उडुलोमाः' रूप सिद्ध होता है।

१०१३. अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्' ४।१।१०४

ये त्वत्रानृषयस्तेभ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे। बिदस्य गौत्रम्–बैदः, बैदौ, बैदाः। पुत्रास्यापत्यम्–पौत्रः, पौत्रौ, पौत्राः। एवं दौहित्रादयः।

प०वि०–अनृषि–लुप्तपञ्चम्यन्त।। आनन्तर्ये ७।१।। बिदादिभ्यः ५।३।। अञ् १।१।। अनु०–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, गोत्रे, तस्यापत्यम्।

अर्थ–बिदादि गण में पठित षष्ठ्यन्त ऋषि–वाचक प्रातिपदिकों से **गोत्र** अर्थ में तथा ऋषि–भिन्न वाचक प्रातिपदिकों से **अनन्तर अपत्य** अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'अञ्' प्रत्यय होता है।

बैदः–(बिदस्य गोत्रापत्यम्) 'बिद' शब्द ऋषि वाचक है, अतः 'गोत्रापत्य' अर्थ में 'अञ्' होकर 'बैदः' सिद्ध होगा।

पौत्रः–(पुत्रस्यानन्तरापत्यम्)–'पुत्र' शब्द बिदादि में पठित होने पर भी ऋषि वाचक नहीं है इसलिए यहाँ 'अनन्तरापत्य' अर्थ में 'अञ्' होकर 'पौत्रः' सिद्ध होगा।

दौहित्रः–'दुहितुरपत्यम् पुमान्' में भी 'दुहितृ' से अपत्य अर्थ में 'अञ्' होगा, 'गोत्र' अर्थ में नहीं।

१०१४. शिवादिभ्योऽण् ४।१।११२

अपत्ये। शैवः। गाङ्गः।

प०वि०—शिवादिभ्यः ५।३।। अण् १।१।। अनु०—तद्धिताः, प्रातिपदिकात्, तस्यापत्यम्।

अर्थ—शिवादि गण में पठित षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'अपत्य' अर्थ में तद्धितसंज्ञक '**अण्**' प्रत्यय होता है।

यह सूत्र 'अत इञ्' (१०११) का बाधक है।

शैवः—'शिवस्यापत्यम्' षष्ठ्यन्त 'शिव+ङस्' शब्द से 'शिवादिभ्योऽण्' से 'अण्' होकर पूर्ववत् विभक्ति-लुक्, आदि अच् को वृद्धि तथा अकार-लोप आदि होने पर सुबुत्पत्ति आदि कार्य होकर 'शैवः' सिद्ध होता है।

गाङ्गः—'गङ्गाया अपत्यम्' षष्ठ्यन्त 'गङ्गा+ङस्' से 'शिवादिभ्योऽण्' से 'अण्' प्रत्यय, विभक्तिलुक्, 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि, 'यस्येति च' से अकार-लोप होने पर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'गाङ्गः' रूप सिद्ध होता है।

१०१५. ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च ४।१।११४

ऋषिभ्यः-वासिष्ठः, वैश्वामित्रः। अन्धकेभ्यः- श्वाफल्कः। वृष्णिभ्यः- वासुदेवः। कुरुभ्यः-नाकुलः, साहदेवः।

प०वि०—ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यः ५।३।। च अ०।। अनु०—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्, तस्यापत्यम्।

अर्थ०—ऋषि-वाची से तथा अन्धक (सोम वंशवाचक), वृष्णि (यदु वंशवाचक) और कुरु वंशबोधक षष्ठी—समर्थ प्रातिपदिकों से **अपत्य अर्थ** में तद्धितसंज्ञक 'अण्' प्रत्यय होता है।

वासिष्ठः—(वसिष्ठस्यापत्यम्) 'वसिष्ठ' ऋषि वाची है इसलिए 'वसिष्ठ+ङस्' से 'ऋष्यन्धक०' से 'अण्' होकर विभक्ति-लुक्, आदि-वृद्धि, 'यस्येति च' से अकार-लोप तथा सुबुत्पत्ति आदि होकर 'वासिष्ठः' बनता है।

वासुदेवः—इसी प्रकार वृष्णि—कुलबोधक 'वसुदेव' से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में 'ऋष्यन्धक०' से 'अण्' होकर 'वासुदेवः' रूप सिद्ध होता है।

कुरुकुल बोधक 'नकुल' तथा 'सहदेव' से भी 'ऋष्यन्धक०' से 'अण्' होकर क्रमशः 'नाकुलः' और 'साहदेवः' रूप सिद्ध होंगे।

१०१६. मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः ४।१।११५

संख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्य उदादेशः स्याद् अण् प्रत्ययश्च। द्वैमातुरः। षाण्मातुरः। साम्मातुरः। भाद्रमातुरः।

प०वि०—मातुः ६।१।। उत् १।१।। संख्यासम्भद्रपूर्वायाः ६।१।। अनु०—तद्धिताः, प्रातिपदिकात्, तस्यापत्यम्, अण्।

अर्थ—संख्यावाचक शब्द, सम् और भद्र शब्द पूर्व में होने पर षष्ठ्यन्त समर्थ

'मातृ' शब्द से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक '**अण्**' प्रत्यय होता है और 'मातृ' के अन्तिम अल् ऋकार के स्थान में उकारादेश होता है।

'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' को 'उर्' आदेश होता है।

द्वैमातुरः	'द्वयोर्मात्रोरपत्यम्' (दो माताओं का पुत्र)
द्वि ओस् मातृ ओस्	अपत्यार्थक तद्धित प्रत्यय का विषय बनने पर 'तद्धितार्थोत्तरपद०' से तत्पुरुष समास हुआ
द्वि ओस् मातृ ओस्	'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्तियों का 'लुक्' हुआ
द्वि मातृ	'मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः' से संख्यापूर्वक 'मातृ' से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय, 'ऋ' के स्थान में 'उ' आदेश, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'उर्' हुआ
द्विमातुर् अण्	अनुबन्ध-लोप, 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि होकर 'सु' आने पर रुत्व एवं विसर्ग होकर
द्वैमातुरः	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार-'षण्णाम् मातृणामपत्यम्'-**षाण्मातुरः**, 'सम्मातुरपत्यम्'-**साम्मातुरः** और 'भद्रमातुरपत्यम्'-**भाद्रमातुरः** की सिद्धियाँ जानें।

१०१७. स्त्रीभ्यो ढक् ४।१।१२०

स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक्। वैनतेयः।

प०वि०-स्त्रीभ्यः ५।३।। ढक् १।१।। **अनु०**-प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्यापत्यम्।

अर्थ-स्त्रीप्रत्ययान्त षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'ढक्' प्रत्यय होता है।

वैनतेयः-(विनताया अपत्यम्) प्रथमान्त।। 'विनता+ङस्' से अपत्य अर्थ में 'ढक्', पूर्ववत् विभक्तियों का लुक्, 'आयनेयीनी०' से 'ढ्' को 'एय्' आदेश, 'किति च' से आदि अच् 'इ' के स्थान में 'ऐ' वृद्धि, 'यस्येति च' से तद्धित परे रहते 'आ' का लोप होकर 'सु' आकर सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होने पर 'वैनतेयः' रूप सिद्ध होता है।

१०१८. कन्यायाः कनीन च ४।१।११६

चादण्। कानीनो-व्यासः, कर्णश्च।

प०वि०-कन्यायाः ६।१।। कनीन लुप्त प्रथमान्त।। च अ०।। **अनु०**-प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्, तस्यापत्यम्।

अर्थ-षष्ठ्यन्त समर्थ '**कन्या**' प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में '**अण्**' प्रत्यय होता है तथा '**कन्या**' शब्द के स्थान पर '**कनीन**' आदेश होता है।

कानीनः	'कन्याया अपत्यम्' (कन्या का पुत्र)
कन्या ङस्	'कन्यायाः कनीन च' से 'कन्या' को 'कनीन' आदेश तथा अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हुआ

कनीन ङस् अण्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धितसमा०' से तद्धितान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति का लुक्, 'यस्येति च' से अकार-लोप, 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि, स्वाद्युत्पत्ति आदि होकर 'सु' को रुत्व और विसर्ग होने पर
कानीनः	रूप सिद्ध होता है।

१०१९. राजश्वशुराद् यत् ४।१।१३७

(वा०) राज्ञो जातावेवेति वाच्यम्।

प०वि०–राजश्वशुरात् ५।१।। यत् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्यापत्यम्।

अर्थ–षष्ठ्यन्त समर्थ '**राजन्**' और '**श्वशुर**' प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक '**यत्**' प्रत्यय होता है।

(वा०) राज्ञो जातावे०–**अर्थ**–'राजन्' शब्द से 'यत्' प्रत्यय 'जाति' वाच्य होने पर ही होता है।

विशेष–क्षत्रिय राजा की क्षत्रिया पत्नी में उत्पन्न सन्तान में ही क्षत्रियत्व जाति की प्रतीति होने पर ही 'यत्' प्रत्यय होगा, अन्यथा नहीं।

१०२०. ये चाऽभावकर्मणोः ६।४।१६८

यादौ तद्धिते परेऽन् प्रकृत्या स्यात्, न तु भावकर्मणोः। राजन्यः। श्वशुर्यः। जातावेवेति किम्?–

प०वि०–ये ७।१।। च अ०।। अभावकर्मणोः ७।२।। **अनु०**–तद्धिते, प्रकृत्या, अन्, भस्य, अङ्गस्य।

अर्थ–भाव और कर्म से भिन्नार्थक यकारादि तद्धित परे रहते 'अन्' को प्रकृतिभाव रहता है।

राजन्यः	'राज्ञः क्षत्रियायां जातमपत्यं पुमान्' (राजा का क्षत्रिया पत्नी से उत्पन्न पुत्र)
राजन् ङस्	'राजश्वशुराद्यत्' से षष्ठ्यन्त 'राजन्' से अपत्य अर्थ में 'यत्' प्रत्यय, 'राज्ञो जातावेव०' से जाति में हुआ
राजन् ङस् यत्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से तद्धितान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति का लुक् हुआ
राजन् य	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने से 'नस्तद्धिते०' से नान्त भसंज्ञक के 'टि' भाग का लोप प्राप्त हुआ, जिसे बाधकर 'ये चाऽभावकर्मणोः' से यकारादि तद्धित परे रहते 'अन्' को प्रकृतिभाव होकर स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर
राजन्यः	रूप सिद्ध होता है।

श्वशुर्यः–इसी प्रकार 'श्वशुरस्यापत्यम्'–**श्वशुर्यः** में भी 'यत्' आदि कार्य जानें।

जातवेवेति किम्?—वृत्ति के अनन्तर उल्लिखित वार्तिक '**राज्ञो जातावेवेति**' से विहित 'यत्' प्रत्यय **अपत्य** अर्थ में जब तद्धितान्त से जाति कि विवक्षा होगी तभी होगा। अपत्य अर्थ में भी जाति की विवक्षा न होने से 'यत्' नहीं अपितु औत्सर्गिक 'अण्' प्रत्यय होगा।

१०२१. अन् ६।४।१६७

अन् प्रकृत्या स्याद् अणि परे। राजनः।

प०वि०–अन् १।१।। **अनु०**–तद्धिताः, प्रकृत्या, अणि, भस्य, अङ्गस्य।

अर्थ–अन् अन्त वाले भसंज्ञक अङ्ग को 'अण्' परे रहते प्रकृतिभाव होता है।

राजनः–(राज्ञः अपत्यम्) 'राजन्+ङस्' से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' से 'अण्' होने पर 'अन्' से 'अण्' परे रहते अन्नन्त 'भ' संज्ञक अङ्ग को प्रकृतिभाव होने से 'नस्तद्धिते' से 'टि' लोप नहीं होता। अन्यकार्य पूर्ववत्।

१०२२. क्षत्राद् घः ४।१।१३८

क्षत्रियः। जातावित्येव। क्षात्रिरन्यत्र।

प०वि०–क्षत्राद् ५।१।। घः १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः।

अर्थ–षष्ठ्यन्त समर्थ 'क्षत्र' प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में, 'जाति' विवक्षित होने पर, तद्धित-संज्ञक 'घ' प्रत्यय होता है।

क्षत्रियः–(क्षत्रस्य अपत्यम्) 'क्षत्र+ङस्' शब्द से 'क्षत्राद् घः' से जाति विवक्षित होने पर 'अपत्य' अर्थ में 'घ', 'आयनेयीनी०' से 'घ्' को 'इय्' आदेश, 'यस्येति च' से अकार-लोप होकर स्वाद्युत्पत्ति आदि होने पर 'क्षत्रियः' बनता है।

क्षात्रिः–जाति से भिन्न अभिधेय होने पर **अपत्य** अर्थ में 'क्षत्र' से 'अत इञ्' से 'इञ्' होने पर 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि और 'यस्येति च' से अकार-लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति आदि होकर **क्षात्रिः** बनता है।

१०२३. रेवत्यादिभ्यष्ठक् ४।१।१४६

प०वि०–रेवत्यादिभ्यः ५।३।। ठक् १।१।। **अनु०**–तद्धिताः, प्रातिपदिकात्, तस्यापत्यम्।

अर्थ–रेवती आदि गण में पठित प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धित-संज्ञक '**ठक्**' प्रत्यय होता है।

१०२४. ठस्येकः ७।३।५०

अङ्गात् परस्य ठस्येकादेशः स्यात्। रैवतिकः।

प०वि०–ठस्य ६।१।। इकः १।१।। **अनु०**–अङ्गस्य।

अर्थ–अङ्ग से उत्तर '**ठ**' के स्थान में '**इक**' आदेश होता है।

रैवतिकः–(रेवत्याः अपत्यम्) षष्ठ्यन्त 'रेवती+ङस्' से 'रेवत्यादिभ्यः०' से 'ठक्' होकर, 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक', 'यस्येति च' से 'ई' का लोप, 'किति च' से आदि अच् को वृद्धि तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि होकर 'रैवतिकः' सिद्ध होता है।

१०२५. जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् ४।१।१६८

जनपदक्षत्रियवाचकाच्छब्दादञ् स्यादपत्ये। पाञ्चालः।

(वा०)-क्षत्रियसमानशब्दाद् जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्। पञ्चालानां राजा-पाञ्चालः। (वा०) पूरोरण् वक्तव्यः। पौरवः।

(वा०) पाण्डोर्ड्यण्। पाण्ड्यः।

प०वि०–जनपदशब्दात् ५।१।। क्षत्रियात् ५।१।। अञ् १।१।। **अनु०**–तद्धिताः, प्रातिपदिकात्, तस्यापत्यम्।

अर्थ–यदि जनपद का वाचक शब्द क्षत्रियवाची भी हो तो उससे **अपत्य** अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'अञ्'** प्रत्यय होता है।

यथा–जनपद का वाचक 'पञ्चाल' शब्द क्षत्रिय वाचक भी है, अतः इससे अपत्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होकर 'पञ्चालानामपत्यम्'–**पाञ्चालः** सिद्ध होगा।

(वा०) **क्षत्रियसमानेति–अर्थ**–यदि क्षत्रियवाची शब्द के समान ही जनपद का वाचक शब्द हो तो उससे **राजा अर्थ में** अपत्य अर्थ के समान **'अञ्'** प्रत्यय होता है।

यथा–पञ्चालानां राजा–**पाञ्चालः** यहाँ 'पञ्चाल+आम्' से राजा अर्थ में 'अञ्' होकर 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि तथा 'यस्येति च' से अकार लोपादि कार्य पूर्ववत् जानें।

(वा०) **पूरोरण्वक्तव्यः–अर्थ–'पूरु'** शब्द से राजा अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है। यथा–'पूरूणां राजा'–**पौरवः**, 'पूरु+आम्' शब्द से 'अण्' होकर पूर्ववत् विभक्ति-लुक्, आदि अच् को वृद्धि, 'ओर्गुणः' से उकार को गुण, 'एचोऽयवायावः' से अवादेश तथा सुबुत्पत्ति आदि होकर **पौरवः** सिद्ध होता है।

(वा०) **पाण्डोरिति–अर्थ– 'पाण्डु'** शब्द से **अपत्य** और **राजा** अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'ड्यण्'** प्रत्यय होता है।

पाण्ड्यः	(पाण्डोरपत्यम्, पाण्डूनां राजा वेति)
पाण्डु ङस्	'पाण्डोर्ड्यण्' से राजा या सन्तान अर्थ में 'ड्यण्' प्रत्यय हुआ
पाण्डु ङस् ड्यण्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति का लुक् हुआ
पाण्डु य	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा तथा 'टेः' से 'डित्' परे रहते भसंज्ञक के 'टि' भाग 'उकार' का लोप हुआ
पाण्ड् य	स्वाद्युत्पत्ति, प्र०वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर
पाण्ड्यः	रूप सिद्ध होता है।

१०२६. कुरु-नादिभ्यो ण्यः ४।१।१७२

कौरव्यः। नैषध्यः।

प०वि०– कुरु-नादिभ्यः ५।३।। ण्यः १।१।। अनु०–तद्धिताः, प्रातिपदिकात्, जनपदशब्दात्, क्षत्रियात्।

अर्थ–'कुरु' प्रातिपदिक तथा नकारादि प्रातिपदिक जनपद के वाचक तथा क्षत्रिय के वाचक हों तो उनसे राजा और अपत्य अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'ण्य'** प्रत्यय होता है।

कौरव्यः–(कुरूणाम् राजा, अपत्यम् वा) 'कुरु' शब्द जनपद और क्षत्रिय दोनों का वाचक है। अतः 'कुरु+आम्' से 'कुरुनादि०' से 'ण्य' होकर विभक्ति-लुक् आदि होने पर, 'ओर्गुणः' से गुण, 'वान्तो यि प्रत्यये' से यकारादि प्रत्यय परे रहते 'ओ' को 'अव्' आदेश, 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि तथा सुबुत्पत्ति आदि होकर 'कौरव्यः' सिद्ध होता है।

नैषध्यः–इसी प्रकार 'निषधस्यापत्यम्, निषधानां राजा वा' यहाँ 'निषध+ङस्' से 'ण्य' होकर 'नैषध्यः' बनेगा।

१०२७. ते तद्राजाः ४।१।१७४

अञादयस्तद्राजसंज्ञाः स्युः।

प०वि०–ते १।३।। तद्राजाः १।३।।

अर्थ–'जनपदशब्दा०' (४.१.१६८) से लेकर 'ते तद्राजाः' (४.१.१७४) से पूर्व सूत्र तक क्षत्रिय-वाचक तथा जनपद-वाचक शब्दों से जिन 'अञ्' आदि प्रत्ययों का विधान किया गया है वे सब **'तद्राज'** संज्ञक होते हैं।

१०२८. तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् २।४।६२

बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य लुक् तदर्थकृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम्। इक्ष्वाकवः, पञ्चालाः। इत्यादि।

प०वि०–तद्राजस्य ६।१।। बहुषु ७।३।। तेन ३।१।। एव अ०।। अस्त्रियाम् ७।१।। अनु०–लुक्।

अर्थ–स्त्रीलिंग के अतिरिक्त अन्य लिङ्ग (पुँल्लिंग या नपुंसकलिंग) में बहुत्व अर्थ में विहित तद्राजसंज्ञक प्रत्ययों का **'लुक्'** होता है, यदि यह बहुत्व तद्राजसंज्ञक प्रत्यय के अर्थ का ही हो तो।

इक्ष्वाकवः

इक्ष्वाकु आम् — (इक्ष्वाकूणां राजानः, अपत्यानि वा)
'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्' से अपत्य या राजा अर्थ में 'अञ्' हुआ। 'ते तद्राजाः' से 'अञ्' प्रत्यय तद्राज संज्ञक है

इक्ष्वाकु आम् अञ् — अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से 'आम्' का लुक् हुआ

इक्ष्वाकु अ — 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् (इ) को वृद्धि 'ऐ' तथा 'ओर्गुणः' से 'उ' को गुण 'ओ' हुआ

इक्ष्वाको अ — 'एचोऽयवा०' से 'ओ' को अवादेश हुआ

ऐक्ष्वाकव् अ	स्वाद्युत्पत्ति, प्रथमा-बहुवचन में 'जस्' आया
ऐक्ष्वाव् अ जस्	अनुबन्ध-लोप, 'तद्राजस्य बहुषु तेनैव०' से तद्राजसंज्ञक 'अञ्' का लोप हुआ, अतः 'अञ्' के निमित्त से होने वाले कार्य भी हट गए[1]
इक्ष्वाकु अस्	'जसि च' से 'जस्' परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हुआ
इक्ष्वाको अस्	'एचोऽयवायावः' से अवादेश, सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर
इक्ष्वाकवः	रूप सिद्ध होता है।

पञ्चालाः में भी बहुवचन में 'तद्राज' संज्ञक 'अञ्' का लोप आदि कार्य 'इक्ष्वाकवः' के समान जानें।

१०२९. कम्बोजाल्लुक् ४।१।१७५

अस्मात्तद्राजस्य लुक्। कम्बोजः। कम्बोजौ।

(वा०) कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्। चौलः, शकः, केरलः, यवनः।

इत्यपत्याधिकारः।

प०वि०—कम्बोजात् ५।१।। लुक् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्राजाः।

अर्थ—क्षत्रियवाची और जनपदवाची 'कम्बोज' शब्द से विहित तद्राज संज्ञक प्रत्यय का 'लुक्' होता है।

कम्बोजः—(कम्बोजानां राजा) षष्ठ्यन्त 'कम्बोज+आम्' से 'जनपदशब्दात्०' से 'अञ्' हुआ, 'ते तद्राजाः' से 'अञ्' तद्राजसंज्ञक है। स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आने पर 'कम्बोजाल्लुक्' से 'अञ्' का 'लुक्' होकर 'सु' के सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'कम्बोजः' सिद्ध होता है।

(वा०) **कम्बोजादिभ्यः०**—**अर्थ**—कम्बोजादि से उत्तर 'तद्राज' संज्ञक प्रत्यय का 'लुक्' कहना चाहिए, जिससे अन्य शब्द चौलः, शकः, केरलः, यवनः आदि सिद्ध हो सकें।

'चोल' और 'शक' शब्दों से 'द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्' से 'अण्' होता है, जिसकी 'तद्राज' संज्ञा होने से प्रकृत (वा०) 'कम्बोजादिभ्य०' से लुक् होता है। 'केरल' और 'यवन' से 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' से तद्राज-संज्ञक 'अञ्' आने पर 'कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्' वार्तिक से 'अञ्' का लुक् होकर सर्वत्र 'सु', रुत्व एवं विसर्ग आदि कार्य होकर **'चौलः'**, **'शकः'**, **'केरलः'** तथा **'यवनः'** सिद्ध होते हैं।

।। अपत्याधिकार-प्रकरण समाप्त।।

---

१. 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' नियम से आदि-वृद्धि, गुण और अवादेश आदि भी निवृत्त हो गए।

अथ रक्ताद्यर्थका:

१०३०. तेन रक्तं रागात् ४।२।१

अण् स्यात्। रज्यतेऽनेनेति रागः। कषायेण रक्तं वस्त्रं–काषायम्।

प०वि०–तेन ३।१।। रक्तं १।१।। रागात् ५।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः,

अर्थ–तृतीयान्त समर्थ रंग–वाचक प्रातिपदिक से **रक्त** अर्थात् रंगा हुआ अर्थ में यथा विहित तद्धितसंज्ञक **'अण्'** आदि प्रत्यय होते हैं।

विशेष–प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'तेन रक्तम्' भी आता है, अतः सामान्य रूप से 'अण्' प्रत्यय होता है।

काषायम्– (कषायेण रक्तं वस्त्रम्) तृतीयान्त 'कषाय+टा' से 'तेन रक्तं०' अर्थ में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' से 'अण्', 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि, 'यस्येति च' से अकार का लोप आदि होकर 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश आदि होकर 'काषायम्' सिद्ध होता है।

१०३१. नक्षत्रेण युक्तः कालः ४।२।३

अण् स्यात्। (वा०) तिष्यपुष्योर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्। पुष्येण युक्तं-पौषमहः।

प०वि०–नक्षत्रेण ३।१।। युक्तः १।१।। कालः १।१।। **अनु०**–तद्धिताः, प्रातिपदिकात्, तेन।

अर्थ–'युक्त-काल' अर्थ में तृतीयन्त समर्थ नक्षत्र वाचक प्रातिपदिक से यथा–विहित तद्धितसंज्ञक **'अण्'** आदि प्रत्यय होते हैं।

(वा०) **तिष्यपुष्यो०–अर्थ**–नक्षत्र सम्बन्धी 'अण्' परे रहते 'तिष्य' और 'पुष्य' के यकार का लोप होता है

पौषम्

पुष्य टा — (पुष्येण युक्तम् अहः)
'नक्षेत्रण युक्तः कालः' से नक्षत्र वाचक तृतीयान्त 'पुष्य' से 'युक्त काल' अर्थ में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' से प्राप्त 'अण्' प्रत्यय हुआ

पुष्य टा अण् — अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्राति।पदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से 'टा' का लुक् हुआ

पुष्य अ — 'तिष्यपुष्यो०' से नक्षत्र सम्बन्धी 'अण्' परे रहते 'पुष्य' के 'य्' का लोप, 'यस्येति च' से अकार का लोप, 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' उकार को वृद्धि 'औ' होकर, स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर

पौषम् — रूप सिद्ध होता है।

१०३२. लुबविशेषे ४।२।४

पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात् षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते। अद्य पुष्यः।

प०वि०—लुप् १।१।। अविशेषे ७।१।। **अनु०**—तेन, नक्षत्रेण, युक्तः, कालः।

अर्थ—षष्टिदण्डात्मक अर्थात् साठ घड़ी रूप काल का अवान्तर भेद दिन और रात का बोध न होने पर 'नक्षत्र से युक्त काल' अर्थ में विहित प्रत्यय का **'लुप्'** होता है।

यथा–अद्य **पुष्यः**–(अद्य पुष्येण युक्तः कालः) यहाँ 'अद्य' कहने से यह पता नहीं चलता कि यहाँ दिन है या रात, इसलिए 'पुष्य+अण्' इस स्थिति में 'लुबविशेषे' से 'अण्' का 'लुप्' हो जाता है तथा 'प्रत्ययलोपे-प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'अण्' को निमित्त मान कर 'अङ्ग' को होने वाले कार्य 'यस्येति च' से 'अ' का लोप तथा 'तद्धितेष्व०' से प्राप्त आदि अच् को वृद्धि का 'न लुमताङ्गस्य' से निषेध होने पर स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर **'पुष्यः'** सिद्ध होता है।

१०३३. दृष्टं साम ४।२।७

तेनेत्येव। वसिष्ठेन दृष्टं–वासिष्ठं साम।

प०वि०—दृष्टम् १।१।। साम १।१।। **अनु०**—तद्धिताः, प्रातिपदिकात्, तेन।

अर्थ—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'देखा गया साम' इस अर्थ में यथा विहित तद्धित-संज्ञक **'अण्'** आदि प्रत्यय होते हैं।

वासिष्ठम्–(वसिष्ठेन दृष्टं साम) 'वसिष्ठ+टा+अण्' यहाँ 'दृष्टं साम' अर्थ में 'अण्' होने पर पूर्ववत् विभक्ति का लुक्, आदि अच् को वृद्धि, अकार-लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'वासिष्ठम्' रूप सिद्ध होता है।

१०३४. वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ ४।२।९

वामदेवेन दृष्टं साम–वामदेव्यम्।

प०वि०—वामदेवात् ५।१।। ड्यड्ड्यौ १।२।। **अनु०**—तद्धिताः, प्रातिपदिकात्, तेन, दृष्टं साम।

अर्थ–'देखा गया साम' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ **'वामदेव'** प्रातिपदिक से तद्धित-संज्ञक **'ड्यत्'** और **'ड्य'** प्रत्यय होते हैं।

वामदेव्यम्–(वामदेवेन दृष्टं साम) तृतीयान्त 'वामदेव+टा' से प्रकृत सूत्र से 'ड्यत्' और 'ड्य' होने पर पूर्ववत् विभक्ति का लुक्, 'टेः' से डित् परे रहते भसंज्ञक के टि भाग का लोप होकर स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होने पर 'वामदेव्यम्' रूप सिद्ध होता है।

१०३५. परिवृतो रथः ४।२।१०

अस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति। वस्त्रेण परिवृतः–वास्त्रो रथः।

प०वि०–परिवृतः १।१।। रथः १।१।। अनु०–तद्धिताः, प्रातिपदिकात्, तेन।

अर्थ–तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'घिरा हुआ' इस अर्थ में यथा विहित 'अण्' आदि तद्धितसंज्ञक प्रत्यय होते हैं यदि वह परिवृत वस्तु 'रथ' हो तो।

यथा–**वास्त्रो रथः।**

वास्त्रः–(वस्त्रेण परिवृतो रथः) तृतीयान्त 'वस्त्र+टा' से 'अण्' होकर विभक्ति–लुक् आदि अच् को वृद्धि, अकार–लोप होने पर 'सु', रुत्व एवं विसर्ग होकर 'वास्त्रः' रूप सिद्ध होता है।

१०३६. तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ४।२।१४

शरावे उद्धृतः–शाराव ओदनः।

प०वि०–तत्र अ०।। उद्धृतम् १।१।। अमत्रेभ्यः ५।३।। **अनु०**–तद्धिताः, अण्, प्रातिपदिकात्।

अर्थ–सप्तम्यन्त समर्थ अमत्रवाचक अर्थात् पात्रवाचक प्रातिपदिकों से 'उद्धृत' (निकाल कर रखा हुआ) अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'अण्' प्रत्यय होता है।

यथा–शरावे उद्धृतः–शारावः।

शारावः–सप्तम्यन्त 'शराव+ङि' से 'तत्रोद्धृत०' से 'अण्' होने पर शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'शारावः' रूप सिद्ध होगा।

१०३७. संस्कृतं भक्षाः ४।२।१६

सप्तम्यन्तादण् स्यात् संस्कृतेऽर्थे यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते स्युः। भ्राष्ट्रेषु संस्कृताः-भ्राष्ट्रा यवाः।

प०वि०–संस्कृतम् १।१।। भक्षाः १।३।। **अनु०**–तद्धिताः अण्, प्रातिपदिकात्, तत्र।

अर्थ–सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'संस्कृत' (संस्कार किया गया) अर्थ में संस्कृत वस्तु के भक्ष्य होने पर तद्धितसंज्ञक 'अण्' प्रत्यय होता है।

भ्राष्ट्राः

	(भ्राष्ट्रेषु संस्कृताः यवाः)
भ्राष्ट्र सुप्	'संस्कृतं भक्षाः' से सप्तम्यन्त से 'संस्कार किया' हुआ अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हुआ
भ्राष्ट्र सुप् अण्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति का लुक् हुआ

भ्राष्ट्र अ — 'यचि भम्' से भसंज्ञा होने पर 'यस्येति च' से अकार का लोप तथा स्वाद्युत्पत्ति से प्रथमा-बहुवचन में 'जस्' आया
भ्राष्ट्र् अ जस् — अनुबन्ध-लोप, 'प्रथमयोः पूर्व०' से पूर्वसवर्ण दीर्घ तथा सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
भ्राष्ट्राः — रूप सिद्ध होता है।

१०३८. साऽस्य देवता ४।२।२४

इन्द्रो देवता अस्येति ऐन्द्रं-हविः। पाशुपतम्। बार्हस्पत्यम्।

प०वि०—सा १।१।। अस्य ६।१।। देवता १।१।। **अनु०**—तद्धिताः, प्रातिपदिकात्।

अर्थ—'वह इसका देवता है' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ देवता वाचक प्रातिपदिक से यथा-विहित **'अण्'** आदि प्रत्यय होते हैं।

'ऐन्द्रम्'—(इन्द्रो देवता अस्य) प्रथमान्त 'इन्द्र+सु' से 'सास्य देवता' अर्थ में 'प्राग्दीव्यतो०' से 'अण्' होकर पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक्, 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् को वृद्धि, 'यस्येति च' से भसंज्ञक के अकार का लोप तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि होकर 'ऐन्द्रम्' सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **पाशुपतम्**-(पशुपतिः देवता अस्य) प्रथमान्त 'पशुपति+सु' में भी 'अण्', आदि अच् को वृद्धि, 'यस्येति च' से इकार का लोप तथा सुबुत्पत्ति आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

१०३९. शुक्राद् घन् ४।२।२६

शुक्रियम्।

प०वि०—शुक्रात् ५।१।। घन् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, साऽस्य देवता।

अर्थ—'वह इसका देवता है' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ **'शुक्र'** प्रातिपदिक से तद्धितसंज्ञक **'घन्'** प्रत्यय होता है। यथा-शुक्रियम्।

शुक्रियम्—(शुक्रो देवताऽस्य)प्रथमान्त 'शुक्र+सु' से 'घन्' होकर 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से सुपों का लुक्, 'आयनेयीनी०' से 'घ्' को 'इय्' आदेश होने पर 'यस्येति च' से अकार का लोप तथा सुबुत्पत्ति आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'शुक्रियम्' रूप सिद्ध होता है।

१०४०. सोमाट्ट्यण् ४।२।३०

सौम्यम्।

प०वि०—सोमात् ५।१।। ट्यण् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, साऽस्य देवता।

अर्थ—'वहा इसका देवता है' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ **'सोम'** शब्द से तद्धित-संज्ञक **'ट्यण्'** प्रत्यय होता है। यथा-सौम्यम्।

सौम्यम्—(सोमो देवताऽस्य) प्रथमान्त 'सोम+सु' से 'साऽस्य देवता' अर्थ में

'सोमाट्ट्यण्' से 'ट्यण्' प्रत्यय, विभक्ति-लुक्, स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'सोम्यम्' रूप सिद्ध होता है।

१०४१. वाय्वृतुपित्रुषसो यत् ४।२।३१

वायव्यम्। ऋतव्यम्।

प०वि०-वाय्वृतुपित्रुषसः ५।१।। यत् १।१।। **अनु०**-प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, साऽस्य देवता।

अर्थ-'वह इसका देवता है' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ **वायु, ऋतु, पितृ** और **उषस्** प्रातिपदिकों से तद्धित-संज्ञक **'यत्'** प्रत्यय होता है।

यथा-**वायव्यम्**-(वायुः देवता अस्य) प्रथमा-समर्थ 'वायु+सु' से 'वाय्वृतुपित्रु०' से 'साऽस्य देवता' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय, पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञा तथा विभक्ति लुक् आदि होकर, 'ओर्गुणः' से उकार को गुण, 'वान्तो यि०' से 'ओ' को 'अव्' होकर 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होने पर 'वायव्यम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'ऋतव्यम्'**-(ऋतुः देवता अस्य) की सिद्धि जानें।

१०४२. रीङ् ऋतः ७।४।२७

अकृद्यकारे असार्वधातुके यकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः। यस्येति च। पित्र्यम्। उषस्यम्।

प०वि०-रीङ् १।१।। ऋतः ६।१।। **अनु०**-अङ्गस्य, अकृत्सार्वधातुकयोः, यि, च्वौ च।

अर्थ-कृत्-भिन्न तथा सार्वधातुक-भिन्न यकारादि प्रत्यय परे रहते और 'च्वि' प्रत्यय परे रहते ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग को **'रीङ्'** आदेश होता है। यथा-पित्र्यम्।

पित्र्यम्	(पिता देवता अस्येति)
पितृ सु	'वाय्वृतुपित्रो०' से 'साऽस्यदेवता' अर्थ में तद्धित-संज्ञक 'यत्' प्रत्यय हुआ
पितृ सु यत्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से 'सु' का लुक् हुआ
पितृ य	'रीङ् ऋतः' से कृद्भिन्न और सार्वधातुक भिन्न यकारादि प्रत्यय 'यत्' परे रहते ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग को 'रीङ्' आदेश, 'ङिच्च' से अन्तिम अल् 'ऋ' के स्थान में हुआ
पित् रीङ् य	अनुबन्ध लोप, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से 'ई' का लोप हुआ

पित् र् य — स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर

पित्र्यम् — रूप सिद्ध होता है।

उषस्यम्–'उषो देवताऽस्येति' देवतावाची प्रथमान्त समर्थ 'उषस्+सु' से 'वाय्वृतुपित्रुषसो यत्' से 'इसका देवता' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय, 'सुपो धातु०' से 'सु' का लुक्, सुबुत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'उषस्यम्' रूप सिद्ध होता है।

१०४३. पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः ४।२।३६

एते निपात्यन्ते। पितुर्भ्राता-पितृव्यः। मातुर्भ्राता-मातुलः। मातुः पिता-मातामहः। पितुः पिता-पितामहः।

प०वि०–पितृव्य.......पितामहाः १।३।।

अर्थ–पितृव्य, मातुल, मातामह तथा **पितामह** शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं।

विशेष–निपातन से सिद्ध शब्दों में उस शब्द विशेष के अर्थ को ध्यान में रखकर प्रत्यय की कल्पना और शब्द संरचना को ध्यान में रखकर प्रत्ययों के साथ अनुबन्ध तथा उनके कार्यों की कल्पना की जाती है।

जैसे-**पितृव्य**–(पिता का भाई) 'पितृ' शब्द से भ्राता अर्थ में 'व्य' लगाकर 'पितृव्य' और **मातुल**–(माता का भाई) 'मातृ' शब्द से 'डुलच्' प्रत्यय, जिसमें 'ड्' और 'च्' इत् संज्ञक हैं, करके 'टेः' से 'टि' भाग 'ऋ' का लोप होकर 'मातुल' बना है।

पितामहः (पिता का पिता) तथा **मातामहः** (माता का पिता) में क्रमशः 'पितृ' एवं 'मातृ' शब्दों से 'डामहच्' (आमह) प्रत्यय करके 'टेः' से 'ऋ' का लोप होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

इन सभी में **सुबुत्पत्ति** आदि पूर्ववत् जानें।

१०४४. तस्य समूहः ४।२।३७

काकानां समूहः-काकम्।

प०वि०–तस्य ६।१।। समूहः १।१।। **अनु०**–तद्धिताः, प्रातिपदिकात्, अण्।

अर्थ–षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से **'समूह'** अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है। यथा-काकम्।

१०४५. भिक्षादिभ्योऽण् ४।२।३८

भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। गर्भिणीनां समूहः-गार्भिणम्। इह (वा०) भस्याढे तद्धिते। इति पुंवद्भावे कृते-

प०वि०–भिक्षादिभ्यः ५।३।। अण् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्य समूहः।

अर्थ–षष्ठ्यन्त समर्थ भिक्षा आदि प्रातिपदिकों से '**समूह**' अर्थ में तद्धित-संज्ञक 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे–भैक्षम्, गार्भिणम्।

विशेष–'भिक्षा' आदि अचेतन के वाचक हैं इसलिए 'अचित्तहस्ति०' से 'ठक्' प्राप्त था, यह उसका अपवाद है।

(वा०) **भस्याढे तद्धिते**–**अर्थ**–ढ-भिन्न तद्धित प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक को पुंवद्भाव होता है। यथा–गार्भिणम्।

गार्भिणम्	(गर्भिणीनां समूहः)।
गर्भिणी आम्	यहाँ 'गर्भिणी' शब्द अनुदात्तादि होने से 'अनुदात्तादेरञ्' से 'अञ्' प्राप्त था जिसे बाधकर 'भिक्षादिभ्योऽण्' से 'समूह' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हुआ
गर्भिणी आम् अण्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से प्रातिपदिक संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्तियों का लुक् होने पर 'अण्' परे रहते 'भस्याढे तद्धिते' से गर्भिणी को पुंवद्भाव 'गर्भिन्' हुआ
गर्भिन् अ	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'नस्तद्धिते' से तद्धित परे रहते नकारान्त भसंज्ञक के टि भाग का लोप प्राप्त था जिसे बाधकर 'इनण्यनपत्ये' से अपत्य-भिन्न अर्थ में 'अण्' परे रहते इन्नन्त अङ्ग को प्रकृतिभाव हुआ। 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् को वृद्धि तथा 'अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णत्व हुआ
गार्भिण	स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
गार्भिणम्	रूप सिद्ध होता है।

१०४६. इनण्यनपत्ये ६।४।१६४

अनपत्यार्थेऽणि परे इन् प्रकृत्या स्यात्। तेन 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न। युवतीनां समूहः–यौवनम्।

प०वि०–इन् १।१।। अणि ७।१।। अनपत्ये ७।१।। **अनु०**–प्रकृत्या, अङ्गस्य।

अर्थ–अपत्यभिन्नार्थक '**अण्**' प्रत्यय परे रहते इन्नन्त अङ्ग को **प्रकृतिभाव** होता है।

यौवनम्	(युवतीनां समूहः)
युवति आम्	भिक्षादिगण में पठित होने के कारण षष्ठ्यन्त 'युवति' शब्द से 'भिक्षादिभ्योऽण्' से 'तस्य समूहः' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हुआ
युवति आम् अण्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से प्रातिपदिक संज्ञा तथा 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'भस्याढे तद्धिते' वार्तिक से 'युवति' को पुंवद्भाव होकर 'युवन्' हुआ
युवन् अ	'नस्तद्धिते' से टिभाग का लोप प्राप्त था, जिसे बाधकर 'अन्' से 'अण्' परे रहते अन्नन्त को प्रकृतिभाव हो गया। 'तद्धितेष्व०'

से आदि अच् उकार को वृद्धि 'औ' होकर पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर

यौवनम् रूप सिद्ध होता है।

१०४७. ग्राम-जन-बन्धुभ्यस्तल् ४।२।४३

(लि०) तलन्तं स्त्रियाम्। ग्रामता। जनता। बन्धुता।

(वा०) गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम्। गजता। सहायता।

(वा०) अह्नः खः क्रतौ। अहीनः।

प०वि०—ग्रामजनबन्धुभ्यः ५।३।। तल् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्य समूहः।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ **ग्राम, जन** और **बन्धु** प्रातिपदिकों से **'समूह'** अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'तल्'** प्रत्यय होता है।

ग्रामता—(ग्रामाणां समूहः) षष्ठी-समर्थ 'ग्राम+आम्' से 'समूह' अर्थ में 'ग्रामजनबन्धु०' से 'तल्' प्रत्यय,[१] सुब्लुक्, स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्', 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ होकर 'ग्रामता' बनने पर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार लोप होकर 'ग्रामता' सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'जनता'** और **'बन्धुता'** भी जानें।

(वा० १) गजसहा०—अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ **'गज'** और **'सहाय'** शब्दों से भी **समूह** अर्थ में **'तल्'** प्रत्यय होता है। यथा—गजता, सहायता।

(वा०२) अह्नः खः क्रतौ—अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ **'अहन्'** शब्द से **'समूह'** अर्थ में **'यज्ञ'** वाच्य होने पर **'ख'** प्रत्यय होता है।

अहीनः—(अह्नां समूहेन साध्यः क्रतुः) षष्ठ्यन्त 'अहन्+आम्' से 'समूह' अर्थ में 'ख' प्रत्यय होने पर 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, 'आयनेयीनी०' से 'ख्' को 'ईन्', 'नस्तद्धिते' से टिभाग (अन्) का लोप, 'सु' आने पर विसर्गादि कार्य होकर 'अहीनः' रूप सिद्ध होता है।

१०४८. अचित्त-हस्ति-धेनोष्ठक् ४।२।४७

प०वि०—अचित्तहस्तिधेनोः ५।१।। ठक् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्य, समूहः।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ अचेतन वाचक, **हस्तिन्** और **धेनु** प्रातिपदिकों से **'समूह'** अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'ठक्'** प्रत्यय होता है।

१०४९. इसुसुक्तान्तात्कः ७।३।५१

इस्-उस्-उक्-तान्तात्परस्य ठस्य कः। साक्तुकम्। हास्तिकम्। धैनुकम्।

प०वि०—इसुसुक्तान्तात् ५।१।। कः १।१।। **अनु०**—अङ्गस्य, ठस्य।

---

१. लिङ्गानुशासन के सूत्र 'तलन्तः' से तलन्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही होते हैं।

अर्थ–इसन्त, उसन्त, उगन्त और तकारान्त अङ्ग से उत्तर 'ठ' के स्थान पर 'क' आदेश होता है।

'**अनेकाल्शित्सर्वस्य**' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है।

साक्तुकम्	(सक्तूनां समूहः)
सक्तु आम्	'अचित्तहस्ति०' से समूह अर्थ में अचेतन वाचक 'सक्तु' शब्द से 'ठक्' प्रत्यय हुआ, अनुबन्ध–लोप
सक्तु आम् ठ	पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति–लुक्, यहाँ 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक' आदेश प्राप्त था, जिसे बाधकर 'इसुसुक्तान्तात्कः' से उगन्त से उत्तर 'ठ' को 'क' आदेश हुआ
सक्तु क	'किति च' से कित् तद्धित परे रहते आदि 'अच्' को वृद्धि, सुबुत्पत्ति, 'सु' को अमादेश तथा पूर्वरूपादि कार्य पूर्ववत् होकर
साक्तुकम्	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **धैनुकम्**–(धेनूनां समूहः) यहाँ 'धेनु+आम्' से 'अचित्तहस्ति०' से 'ठक्' होने पर प्रकृत सूत्र 'इसुसुक्ता०' से 'क' आदेश आदि कार्य पूर्ववत् जानें।

हास्तिकम्–(हस्तीनां समूहः) 'हस्तिन्+आम्' से 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्' से समूह अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय, अनुबन्ध–लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति–लुक्, 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक' आदेश, 'किति च' से आदि अच् को वृद्धि और 'नस्तद्धिते' से तद्धित–प्रत्यय परे रहते नकारान्त भसंज्ञक के 'टि' भाग का लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'हास्तिकम्' सिद्ध होता है।

१०५०. तदधीते तद्वेद ४।२।५९

प०वि०–तत् २।१।। अधीते क्रियापद।। तत् २।१।। वेद क्रियापद।।

अनु०–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्।

अर्थ–द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'उस को पढ़ता है' और 'उस को जानता है' इन अर्थों में तद्धितसंज्ञक 'अण्' प्रत्यय होता है।

१०५१. न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्। ७।३।३

पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य न वृद्धिः, किं तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमादैचावागमौ स्तः। व्याकरणमधीते वेद वा–वैयाकरणः।

प०वि०–न अ०।। य्वाभ्याम् ५।२।। पदान्ताभ्याम् ५।२।। पूर्वौ १।२।। तु अ०।। ताभ्याम् ५।२।। ऐच् १।१।।

अनु०–वृद्धिः, अचो ञ्णिति, तद्धितेष्वचामादेः, किति च।

अर्थ–ञित्, णित् और कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते पदान्त यकार और वकार से

उत्तरवर्त्ती आदि 'अच्' को वृद्धि नहीं होती, अपितु उन यकार और वकार से पूर्व 'ऐच्' आगम होता है। अर्थात् यकार से पूर्व 'ऐ' और वकार से पूर्व 'औ' आगम होता है।

वैयाकरणः	(व्याकरणमधीते वेद वा)
व्याकरण अम्	'तदधीते तद्वेद' से 'पढ़ता है' और 'जानता है' इन अर्थों में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' से अधिकृत 'अण्' प्रत्यय हुआ
व्याकरण अम् अण्	'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, अनुबन्ध-लोप
व्याकरण अ	यहाँ णित् प्रत्यय परे रहते 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि प्राप्त थी, जिसे बाधकर 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां०' से पदान्त यकार और वकार से उत्तरवर्त्ती 'अच्' को वृद्धि का निषेध होकर पदान्त यकार, वकार से पूर्व 'ऐच्' का आगम होता है इस उदाहरण में 'वि+आ+करण' में 'वि' उपसर्ग पद है अतः पदान्त इकार के स्थान पर हुए 'यण्' (य्) को भी पदान्त मान लेने से 'य्' से पूर्व 'ऐच्' (ऐ) आगम हुआ
व् ऐ या करण अ	'यस्येति च' से अकार-लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'सु' के सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर
वैयाकरणः	रूप सिद्ध होता है।

१०५२. क्रमादिभ्यो वुन् ४।२।६१

क्रमकः। पदकः। शिक्षकः। मीमांसकः।

॥ इति रक्ताद्यर्थकाः॥

प०वि०—क्रमादिभ्यः ५।३।। वुन् १।१।।

अनु०—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तदधीते तद्वेद।

अर्थ—द्वितीयान्त समर्थ क्रमादि प्रातिपदिकों से 'अधीते' (पढ़ता है) या 'वेद' (जानता है) इन अर्थों में तद्धितसंज्ञक '**वुन्**' प्रत्यय होता है।

क्रमकः—(क्रममधीते वेद वा) द्वितीयान्त 'क्रम+अम्' शब्द से 'वुन्' होकर 'युवोरना०' से 'वु' को 'अक' आदेश, 'यस्येति च' से अकार लोपादि होकर 'क्रमकः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य भी जानें।

शिक्षकः, मीमांसकः—इसी प्रकार 'शिक्षा' शब्द से (शिक्षा-शास्त्र को पढ़ता है या जानता है) और 'मीमांसा' से (मीमांसा-शास्त्र को पढ़ता है या जानता है) प्रकृत सूत्र से 'वुन्' प्रत्यय, 'युवोरनाकौ' से 'वु' को 'अक' आदेश, 'यस्येति च' से आकार-लोप आदि होकर स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य पूर्ववत् होने पर क्रमशः 'शिक्षकः' तथा 'मीमांसकः' रूप सिद्ध होते हैं।

॥ रक्ताद्यर्थक-प्रकरण समाप्त॥

अथ चातुरर्थिकाः

१०५३. तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ४।२।६७

उदुम्बराः सन्त्यस्मिन्देशे–औदुम्बरो देशः।

प०वि०–तत् १।१।। अस्मिन् ७।१।। अस्ति[1] ।। इति अ०।। देशे ७।१।। तत् १।१।। नाम्नि ७।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्।

अर्थ–प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से **'वह इसमें हैं'** (अस्मिन्नस्तीति) इस अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है, यदि उस प्रत्ययान्त शब्द से उस प्रकृति के नाम वाला देश अभिधेय हो तो। यथा–**औदुम्बरो देशः।**

औदुम्बरः	(उदुम्बराः सन्ति अस्मिन् देशे)
उदुम्बर जस्	'तदस्मिन्नस्तीति देशे०' से प्रथमा-समर्थ 'उदुम्बर' शब्द से 'वह इसमें है' इस अर्थ में स्थान का अभिधान इष्ट होने के कारण 'अण्' प्रत्यय हुआ
उदुम्बर जस् अण्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्रा०' से विभक्ति-लुक्, 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि तथा 'यस्येति च' से अकार का लोप होने पर सुबुत्पत्ति और विसर्गादि होकर
औदुम्बरः	रूप सिद्ध होता है।

१०५४. तेन निर्वृत्तम् ४।२।६८

कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी–कौशाम्बी।

प०वि०–तेन ३।१।। निर्वृत्तम् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, अण्, देशे, तन्नाम्नि।

अर्थ–तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से **'बसाया गया'** (निर्वृत्तम्) अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'अण्' प्रत्यय होता है, यदि उस शब्द से देश अभिधेय हो तो।

कौशाम्बी	(कुशाम्बेन निवृत्ता नगरी)
कुशाम्ब टा	'तेन निर्वृत्तम्' से तृतीयान्त समर्थ से 'अण्' हुआ
कुशाम्ब टा अण्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से 'टा' का लोप, 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि तथा 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से तद्धित प्रत्यय परे रहते अकार का लोप हुआ

[1] क्रियापद।

कौशाम्ब् अ	स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्द्वय०' से 'अण्' प्रत्ययान्त से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ
कौशाम्ब ङीप्	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से ईकार परे रहते 'अ' का लोप हुआ
कौशाम्बी	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर
कौशाम्बी	रूप सिद्ध होता है।

१०५५. तस्य निवासः ४।२।६९

शिबीनां निवासो देशः-शैबः।

प०वि०—तस्य ६।१।। निसासः १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्, देशे, तन्नाम्नि।

अर्थ—षष्ठ्यन्त-समर्थ प्रातिपदिक से 'निवास' अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है, यदि उस प्रत्ययान्त शब्द से देश का अभिधान करना हो तो।

शैबः—षष्ठ्यन्त 'शिबि+आम्' यहाँ 'तस्य निवासः' से 'अण्' होकर पूर्ववत् 'सुपो धातु०' से विभक्ति का लुक्, 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि और 'यस्येति च' से अकार का लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर 'शैबः' रूप सिद्ध होता है।

१०५६. अदूरभवश्च ४।२।७०

विदिशाया अदूरभवं नगरम्-वैदिशम्।

प०वि०—अदूरभवः १।१।। च अ०।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्, देशे, तन्नाम्नि, तस्य।

अर्थ—षष्ठ्यन्त-समर्थ प्रातिपदिक से 'अदूरभव' (दूर न होने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है, यदि प्रत्ययान्त शब्द से किसी देश का नाम अभिधेय हो तो।

वैदिशम्—षष्ठ्यन्त 'विदिशा+ङस्' से 'अदूरभवश्च' से 'अण्' होकर 'शैबः' के समान सभी कार्य होकर 'वैदिश' बनने पर 'सु' आकर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'वैदिशम्' रूप सिद्ध होता है।

१०५७. जनपदे लुप् ४।२।८१

जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप्।

प०वि०—जनपदे ७।१।। लुप् १।१।। **अनु०**—तन्नाम्नि।

अर्थ–जनपद् अर्थात् 'गामों का समूह' वाच्य होने पर चातुरर्थिक[1] प्रत्ययों का 'लुप्'[2] होता है।

१०५८. लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने १।२।५१

लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः। पञ्चालानां निवासो जनपदः– पञ्चालाः। अङ्गाः। वङ्गाः। कलिङ्गाः। कुरवः।

प०वि०–लुपि ७।१।। युक्तवत् अ०।। व्यक्तिवचने १।२।।

अर्थ–'लुप्' अर्थात् प्रत्यय के अदर्शन होने से पहले उस प्रत्यय की प्रकृति के जो लिङ्ग और वचन होते हैं, वे ही लिङ्ग और वचन प्रत्यय के लुप् होने पर होते हैं, प्रत्ययार्थ विशेष्य के अनुसार नहीं।

पञ्चालाः	'पञ्चालानां निवासो जनपदः' (पञ्चाल क्षत्रियों का निवास)
पञ्चाल आम्	'तस्य निवासः' से 'निवास' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हुआ
पञ्चाल आम् अण्	'कृत्तद्धित०' से तद्धितान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्ति–लुक् हुआ
पञ्चाल अण्	'जनपदे लुप्' से जनपदवाच्य होने पर चातुरर्थिक 'अण्' का लुप् हुआ
पञ्चाल	प्रत्ययार्थ जनपद एकवचन में होने के कारण लुबन्त पद भी एकवचनान्त होना चाहिए था, जिसे बाध कर 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' से 'अण्' प्रत्यय का 'लुप्' होने पर 'पञ्चाल' प्रकृति के लिङ्ग (पुंल्लिग) के अनुसार लिङ्ग और वचन (बहुवचन) के अनुसार बहुवचन हुआ, अतः स्वाद्युत्पत्ति से प्रथमा विभक्ति के बहु वचन में 'जस्' आया
पञ्चाल जस्	अनुबन्ध–लोप
पञ्चाल अस्	'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ तथा सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर
पञ्चालाः	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'अङ्गानां निवासो जनपदः'–**अङ्गाः**, 'वङ्गानां निवासो जनपदः'– **वङ्गाः**, 'कलिङ्गानां निवासो जनपदः'–**कलिङ्गा** और 'कुरुणां निवासो जनपदः'– **कुरवः** रूप सिद्ध होते हैं।

---

1. इस सूत्र की वृत्ति में 'चातुरर्थिक' शब्द का प्रयोग इसके पूर्व सूत्रों में निर्दिष्ट चार अर्थों, क्रमशः '१०५३–तदस्मिन्नस्तीति०'–'इसमें हैं', '१०५४ तेन निर्वृतम्'–'उसके द्वारा बसाया या बनाया गया', '१०५५–तस्य निवासः'–'उसका निवास स्थान' और '१०५६–अदूरभवश्च'–'दूर न होने वाला या समीपस्थ', का ग्रहण कराता है।
2. 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' से प्रत्यय के अदर्शन की 'लुक्', 'श्लु' और 'लुप्' संज्ञाएं होती हैं।

१०५९. वरणादिभ्यश्च ४।२।८२

अजनपदार्थ आरम्भः। वरणानामदूरभवं नगरम्-वरणाः।

प०व०–वरणादिभ्यः ५।३।। च अ०।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, लुप्।

अर्थ–'वरणा' आदि प्रातिपदिकों से उत्तर चातुरर्थिक प्रत्ययों का 'लुप्' होता है। यह सूत्र जनपदभिन्न अर्थ में भी प्रत्ययों का 'लुप्' करने के लिए बनाया गया है।

वरणाः–'वरणानामदूरभवं नगरम्' में 'वरणा+आम्' प्रातिपदिक से 'अदूरभवश्च' से 'अण्' प्रत्यय होने पर 'वरणादिभ्यश्च' से 'अण्' का 'लुप्' होता है। 'लुप्' होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'पञ्चालाः' (१०५८) के समान जानें।

१०६०. कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् ४।२।८७

प०वि०–कुमुदनडवेतसेभ्यः ५।३।। ड्मतुप् १।१।। **अनु०**–तद्धिताः, प्रातिपदिकात्।

अर्थ–**'कुमुद'**, **'नड'** और **'वेतस'** इन सुबन्त प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक अर्थात् 'तस्य निवासः' आदि चार अर्थों में तद्धितसंज्ञक **'ड्मतुप्'** प्रत्यय होता है।

१०६१. झयः ८।२।१०

झयन्तान्मतोर्मस्य वः। कुमुद्वान्। नड्वान्।

प०वि०–झयः ५।१।। **अनु०**–मतोर्वः।

अर्थ–'झय्' अर्थात् सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्णों से उत्तर 'मतु' के मकार के स्थान में वकार आदेश होता है।

कुमुद्वान्	'कुमुदाः सन्ति अस्मिन् इति' (कुमुद हैं इसमें, ऐसा देश)
कुमुद जस्	'तदस्मिन्नस्तीति०' इस अर्थ में 'कुमुदनडवेतसेभ्यो०' से 'ड्मतुप्' प्रत्यय हुआ
कुमुद जस् ड्मतुप्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् हुआ
कुमुद मत्	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'टेः' से डित् तद्धित परे रहते टिभाग का लोप हुआ
कुमुद् मत्	'झयः' से झय् (द्) से उत्तर 'मतुप्' के मकार को वकारादेश हुआ
कुमुद् वत्	स्वाद्युत्पत्ति होकर प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया
कुमुद् वत् सु	'अत्वसन्तस्य चाऽधातोः' से सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते अत्वन्त की उपधा को दीर्घ तथा 'उदिगदचां०' से उगिदन्त को 'नुम्' आगम हुआ
कुमद्वा नुम् त् सु	अनुबन्ध-लोप
कुमद्वा न् त् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्तसंज्ञक 'स्' का लोप तथा

'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद के अन्तिम 'अल्' तकार का लोप होकर

कुमुद्वान् रूप सिद्ध होता है।

नड्वान् की सिद्धि-प्रक्रिया भी 'कुमुद्वान्' के समान जानें।

१०६२. मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८।२।९

मवर्णवर्णान्तान्मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य वः। वेतस्वान्।

प०वि०—मात् ५।१।। उपधायाः ५।१।। च अ०।। मतोः ६।१।। वः १।१।। अयवादिभ्यः ५।३।।

अर्थ—यवादिगण में पठित शब्दों को छोड़कर जो मकारान्त या मकार उपधावाले और अकारान्त या अकार उपधा वाले शब्द, उनसे उत्तर 'मतु' के मकार के स्थान में वकार आदेश होता है।

वेतस्वान्—'वेतसाः सन्ति अस्मिन् देशे', 'वेतस+जस्' शब्द से 'कुमुदनडवे०' से 'ड्मतुप्' प्रत्यय, विभक्ति-लुक्, 'टेः' से 'टि' भाग का लोप तथा 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' से अकारोपध 'वेतस्' से उत्तर 'मतुप्' के मकार को वकारादेश हेकर 'वेतस्वत्' बनने पर शेष कार्य 'कुमुद्वान्' (१०६१) की तरह होकर 'वेतस्वान्' रूप सिद्ध होता है।

१०६३. नड-शादाड्-ड्वलच् ४।२।८८

नड्वलः। शाद्वलः।

प०वि०—नडशादात् ५।११। ड्वलच् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः।

अर्थ—'नड' तथा 'शाद' सुबन्त प्रातिपदिकों से 'तस्य निवासः' आदि चार अर्थों में (चातुरर्थिक) तद्धितसंज्ञक 'ड्वलच्' प्रत्यय होता है।

'ड्वलच्' का 'ड्' और 'च्' इत्संज्ञक होने से 'वल' शेष बचता है।

नड्वलः—'नडाः सन्ति अस्मिन्निति' (नड हैं जिसमें ऐसा देश) 'नड+जस्' सुबन्त से 'ड्वलच्' प्रत्यय, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक् डित्करण सामर्थ्य से 'टेः' से टिभाग का लोप, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होकर 'नड्वलः' रूप सिद्ध होता है।

शाद्वलः	'शादाः सन्ति अस्मिन्निति देशः' (जिसमें हरी घास अधिक है ऐसा देश)
शाद जस्	'नडशादाड् ड्वलच्' से चातुरर्थिक 'ड्वलच्' प्रत्यय हुआ
शाद जस् ड्वलच्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् हुआ
शाद वल	डित्करणसामर्थ्य से 'टेः' से 'टि' भाग (अकार) का लोप तथा

	स्वाद्युपत्ति होकर 'सु' आने पर सकार को रुत्व एवं विसर्ग आदि होकर
शाद्वलः	रूप सिद्ध होता है।

१०६४. शिखाया वलच् ४।२।८९

शिखावलम्।

प०वि०—शिखायाः ५।१।। वलच् १।१।। **अनु०**—तद्धिताः, प्रातिपदिकात्।

अर्थ—'तदस्मिन्नस्तीति' आदि चार अर्थों में 'शिखा' सुबन्त प्रातिपदिक से तद्धितसंज्ञक 'वलच्' प्रत्यय होता है।

शिखावलम्	'शिखाः सन्त्यस्मिन् इति शिखावलम्' (नगर का नाम)
शिखा जस्	'शिखाया वलच्' से 'वलच्' प्रत्यय आया
शिखा जस् वलच्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक् हुआ
शिखावल	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
शिखावल सु	'अतोऽम्' से 'सु' के स्थान पर 'अम्' आदेश हुआ
शिखावल अम्	अमि पूर्वः से पूर्वरूप एकादेश होकर
शिखावलम्	रूप सिद्ध होता है।

।। चातुरर्थिकप्रकरण समाप्त।।

अथ शैषिकाः

१०६५. शेषे ४।२।९२

अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषस्तत्राणादयः स्युः। चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं-रूपम्। श्रावणः-शब्दः। औपनिषदः-पुरुषः। दृषदि पिष्टा दार्षदाः-सक्तवः। चतुर्भिरुह्यते चातुरं-शकटम्। चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं-रक्षः। 'तस्य विकारः' इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः।

प०वि०—शेषे ७।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः।

यह अधिकार-सूत्र भी है और विधि-सूत्र भी।

शेष—अष्टाध्यायी के तद्धितप्रकरण में 'शेषे' सूत्र से पहले जिन अर्थों में प्रत्ययों का विधान किया जा चुका है उन अर्थों को छोड़कर बाकी सभी अर्थ 'शेष' माने जाते हैं। 'शेषे' का अधिकार 'तस्य विकारः' (४।३।३८) से पूर्व सूत्र तक जाता है इसलिए इसके अधिकार में कहे गये सभी अर्थ 'शेष' कहलाते हैं। यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि आचार्य ने जब 'शेषे' के अधिकार में आने वाले अर्थों का स्वयं निर्देश कर ही दिया है तो फिर 'शेष' कहने की क्या आवश्यकता है? आचार्य के इस व्यवहार से ऐसा प्रतीत होता है कि 'शेषे' को विधि-सूत्र और अधिकार-सूत्र के रूप में विधान करके आचार्य पाणिनि इस प्रकरण में अनुक्त अर्थों का (**तेन उह्यते, तत्र क्षुण्णः, तत्र विहितम्** आदि का) भी समावेश चाहते हैं जिस से 'शेष' अर्थों में विहित प्रत्यय अष्टाध्यायी में असंगृहीत अर्थों में भी हो सकें।

अर्थः—उपर्युक्त शेष अर्थों में सुबन्त प्रातिपदिकों से यथा-विहित तद्धित-संज्ञक अणादि प्रत्यय होते हैं। यथा-चाक्षुषं रूपम्

चाक्षुषम्	'चक्षुषा गृह्यते रूपम्' (नेत्र से ग्रहण किया जाने वाला)
चक्षुष् टा	'तेन गृह्यते' इस अर्थ में 'शेषे' से तद्धितसंज्ञक 'अण्' प्रत्यय हुआ, अनुबन्ध-लोप
चक्षुष् टा अ	'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से प्रातिपदिक के अवयव सुपों का लुक् हुआ
चक्षुष् अ	'तद्धितेष्वचामादेः' से णित् तद्धितसंज्ञक प्रत्यय परे रहते आदि 'अच्' को वृद्धि हुई

चाक्षुष् अ — स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
चाक्षुषम् — रूप सिद्ध होता है।

श्रावणः—इसी प्रकार 'श्रवणेन गृह्यते शब्दः'—'श्रावणः' की सिद्धि प्रक्रिया भी 'चाक्षुषम्' के समान जानें।

औपनिषदः—'उपनिषद्भिः प्रतिपादितः पुरुषः' में भी तृतीयान्त समर्थ 'उपनिषद्+भिस्' से 'तेन प्रतिपादितः' अर्थ में 'शेषे' से 'अण्' प्रत्यय , सुब्लुक्, आदि अच् को वृद्धि आदि होने पर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होकर पूर्ववत् 'औपनिषदः' की सिद्धि–प्रक्रिया जाननी चाहिए।

दार्षदाः—(दृषदि पिष्टाः सक्तवः) 'दृषद्+ङि' यहाँ 'तत्र पिष्टः' अर्थ में 'शेषे' से 'अण्' प्रत्यय, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति–लुक्, 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् 'ऋ' को वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' के स्थान में 'आर्' आदेश होने पर प्र० वि०, बहु व० में 'जस्' आकर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश, सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग आदेश होकर 'दार्षदाः' रूप सिद्ध होता है।

चातुरम्—(चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम्) 'चतुर्+भिस्' से 'तैरुह्यते' इस शैषिक अर्थ में 'शेषे' से 'अण्' प्रत्यय, पूर्ववत् विभक्ति–लुक्, आदि अच् को वृद्धि, 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'चातुरम्' रूप सिद्ध होता है।

चातुर्दशम्—(चतुर्दश्यां दृश्यते इति) 'चतुर्दशी+ङि' से 'तत्र दृश्यते' इस शेष अर्थ में 'शेषे' से 'अण्', विभक्ति–लुक्, आदि अच् को वृद्धि तथा 'यस्येति च' से ईकार–लोप होने पर 'सु' आकर 'सु' को 'अम्' तथा पूर्वरूप एकादेश होने पर 'चातुर्दशम्' रूप सिद्ध होता है।

१०६६. राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ ४।२।९३

आभ्यां क्रमाद् घ-खौ स्तः शेषे। राष्ट्रे जातादिः–राष्ट्रियः। अवारपारीणः। (वा०) अवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्। अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः। इह प्रकृतिविशेषाद् घादयष्ट्युट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते, तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते।

प०वि०—राष्ट्राऽवारपारात् ५।१।। घखौ १।२।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, शेषे।

अर्थ—**'राष्ट्र'** तथा **'अवारपार'** सुबन्त प्रातिपदिकों से शेष अर्थों में क्रमशः **'घ'** और **'ख'** प्रत्यय होते हैं। यथा–राष्ट्रियः, अवारपारीणः,

राष्ट्रियः — 'राष्ट्रे जातः' (राष्ट्र में उत्पन्न होने वाला)

राष्ट्र ङि	'तत्र जातः' अर्थ में सप्तमीसमर्थ 'राष्ट्र' शब्द से 'राष्ट्राऽवारपाराद्०' से 'घ' प्रत्यय हुआ
राष्ट्र ङि घ	'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् तथा 'आयनेयीनीयियः०' से 'घ्' को 'इय्' आदेश हुआ
राष्ट्र इय्	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा, 'यस्येति च' से तद्धित प्रत्यय परे रहते अकार-लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर 'सु' के सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर
राष्ट्रियः	रूप सिद्ध होता है।

अवारपारीणः—द्वितीयान्त समर्थ 'अवारपार+अम्' शब्द से 'गत' (शेष) अर्थ में 'राष्ट्रावारपाराद्०' से 'ख' प्रत्यय, 'आयनेयीनी०' से 'ख्' को 'ईन्', 'यस्येति च' से अकार-लोप, 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होकर सुबुत्पत्ति से प्रथमा-एकवचन में 'सु', 'सु' को रुत्व और विसर्गादि होकर बनता है।

(वा०) अवारपाराद्वि०—अर्थ—'अवारपार' शब्द से विगृहीत अर्थात् अलग-अलग 'अवार' और 'पार' से और विपरीत अर्थात् 'पारावार' से भी 'ख' प्रत्यय होता है।

'अवारीणः' और **'पारीणः'** की सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

इह प्रकृति विशेषाद्०—इस शैषिक प्रकरण में 'घ' से लेकर ट्यु-ट्युल् प्रत्ययों तक जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, वे सब प्रत्यय तत्तत् सूत्रों में निर्दिष्ट प्रकृतियों अर्थात् प्रातिपदिकों से होते हैं। इन प्रत्ययों के 'तत्र जातः' आदि अर्थ और समर्थविभक्तियों का निर्देश आगे 'तत्र जातः' आदि सूत्रों में किया जाएगा।

१०६७. ग्रामाद् य-खञौ ४।२।९४

ग्राम्यः। ग्रामीणः।

प०वि०—ग्रामात् ५।१।। यखञौ १।२।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, शेषे।

अर्थ—**'ग्राम'** सुबन्त प्रातिपदिक से 'तत्र जातः', 'ततः आगतः' आदि शेष अर्थों में 'य' और **'खञ्'** प्रत्यय होते हैं।

ग्रामीणः—सप्तमी-समर्थ 'ग्राम+ङि' शब्द से 'जात' आदि अर्थों में प्रकृत सूत्र से 'ख' प्रत्यय, 'आयनेयीनी०' से 'ख्' को 'ईन्' आदेश, 'यस्येति च' से अकार का लोप, 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व तथा पूर्ववत् 'सु', रुत्व और विसर्ग होकर 'ग्रामीणः' रूप सिद्ध होता है।

१०६८. नद्यादिभ्यो ढक् ४।२।९७

नादेयम्। माहेयम्। वाराणसेयम्।

प०वि०—नद्यादिभ्यः ५।३।। ढक् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, शेषे।

अर्थ–'नदी' आदि गण में पठित प्रातिपदिकों से 'तत्र जातः' आदि 'शेष' अर्थों में तद्धित-संज्ञक **'ढक्'** प्रत्यय होता है।

नादेयम्–'नद्यां जातम्' में सप्तमी-समर्थ 'नदी+ङि' से प्रकृत सूत्र से 'ढक्' होकर 'आयनेयीनी०' से 'ढ्' के स्थान में 'एय्', 'यस्येति च' से ईकार-लोप और 'किति च' से वृद्धि होकर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु', 'अतोऽम्' से 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होने पर 'नादेयम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'मही' शब्द से **'माहेयम्'** और 'वाराणसी' शब्द से **'वाराणसेयम्'** रूप सिद्ध होते हैं।

१०६९. दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् ४।२।९८

दाक्षिणात्यः। पाश्चात्यः। पौरस्त्यः।

प०वि०–दक्षिणापश्चात्पुरसः ५।१।। त्यक् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, शेषे।

अर्थ–**'दक्षिणा'**, **'पश्चात्'** और **'पुरस्'** प्रातिपदिकों से 'शेष' अर्थों में तद्धित-संज्ञक **'त्यक्'** प्रत्यय होता है।

दाक्षिणात्यः 'दक्षिणस्यां जातः' (दक्षिण में पैदा होने वाला)

दक्षिणा ङि 'दक्षिणापश्चात्०' से 'तत्र जातः' अर्थ में 'त्यक्', 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्तिलुक्, 'किति च' से आदि अच् को वृद्धि, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु', रुत्व एवं विसर्ग होकर

दाक्षिणात्यः सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'पाश्चात्यः'** और **'पौरस्त्यः'** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

१०७०. द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ४।२।१०१

दिव्यम्। प्राच्यम्। अपाच्यम्। उदीच्यम्। प्रतीच्यम्।

प०वि०–द्यु-प्रागपागुदक्प्रतीचः ५।१।। यत् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, शेषे।

अर्थ–**'दिव्'**, **'प्राच्'**, **'अपाच्'**, **'उदक्'** और **'प्रतीच्'** सुबन्त प्रातिपदिकों से 'तत्र जातः' आदि 'शेष' अर्थों में तद्धित-संज्ञक **'यत्'** प्रत्यय होता है।

१०७१. अव्ययात् त्यप् ४।२।१०४

(वा०) अमेहक्वतसित्रेभ्यः। अमात्यः, इहत्यः, क्वत्यः, ततस्त्यः, तत्रत्यः।

(वा०) त्यब्नेर्ध्रुवे इति वक्तव्यम्। नित्यः।

प०वि०–अव्ययात् ५।१।। त्यप् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, शेषे।

अर्थ–अव्यय प्रातिपदिकों से 'शेष' अर्थों में तद्धित-संज्ञक **'त्यप्'** प्रत्यय होता है।

(वा०) अमेह क्व०– वार्तिक की सहायता से यह तद्धित-संज्ञक **'त्यप्'** प्रत्यय [अ]मा' (साथ-२), **'इह'** (यहाँ), **'क्व'** (कहाँ), **तसन्त** (ततः, अतः आदि) और [त्र]न्त (अत्र, तत्र आदि) इन अव्ययों से ही होता है।

'अमा' आदि अव्ययों से 'तत्र भवः' आदि अर्थों में 'त्यप्' प्रत्यय होकर 'अमात्यः', [इहत्य]:', 'क्वत्यः' इत्यादि रूप सिद्ध होते हैं।

(वा०)-त्यब्नेर्ध्रुवे इति०–अर्थ–'ध्रुव' (स्थिर) अर्थ में **'नि'** उपसर्ग से भी [त]द्धित-संज्ञक **'त्यप्'** प्रत्यय होता है।

नित्यः–'नि' उपसर्ग से 'त्यप्' प्रत्यय होकर 'नित्यः' रूप सिद्ध होता है।

१०७२. वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् १।१।७३

यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिर्वृद्धिस्तद् वृद्धसंज्ञं स्यात्।

प०वि०–वृद्धिः १।१। यस्य ६।१। अचाम् ६।३।। आदिः १।१।। तत् १।१।। वृद्धम् १।१।।

अर्थ–जिस शब्द का अचों में आदि अच् वृद्धि संज्ञक हो तो उस सम्पूर्ण शब्द की 'वृद्ध' संज्ञा हाती है।

१०७३. त्यदादीनि च १।१।७४

वृद्धसंज्ञानि स्युः।

प०वि०–त्यदादीनि १।३।। च अ०।। **अनु०**–वृद्धम्।।

अर्थ–त्यदादिगण में पठित (त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्) शब्दों की भी 'वृद्ध' संज्ञा होती है।

१०७४. वृद्धाच्छः ४।२।११४

शालीयः। मालीयः। तदीयः।

(वा०) वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या। देवदत्तीयः, दैवदत्तः।

प०वि०–वृद्धात् ५।१।। छः १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, शेषे।

अर्थ–वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से 'शेष' अर्थों ('तत्र भवः' आदि) में तद्धित-संज्ञक 'छ' प्रत्यय होता है।

शालीयः

शाला ङि — 'शालायां भवः' (शाला में होने वाला)
'शाला' का आदि अच् 'आ' वृद्धि संज्ञक है अतः 'वृद्धिर्यस्या०' से 'शाला' शब्द की 'वृद्ध' संज्ञा होने के कारण 'वृद्धाच्छः' से 'तत्र भवः' अर्थ में 'छ' प्रत्यय हुआ

शाला ङि छ — 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से तद्धितान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से सुपों का लुक् और 'आयनेयीनी०' से 'छ्' के स्थान में 'ईय्' आदेश हुआ

शालास् ईय् अ	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से अकार लोप, स्वाद्युत्पत्ति से 'सु', सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर
शालीयः	रूप सिद्ध होता है।

मालीयः–(मालायां भवः) की सिद्धि-प्रक्रिया 'शालीयः' के समान जानें।

तदीयः–(तस्यायम्) 'तद्' शब्द की 'त्यदादीनि च' से 'वृद्ध' संज्ञा होने से 'तद्+ङस्' से 'वृद्धाच्छः' से 'तस्येदम्' अर्थ में 'छ' प्रत्यय होकर 'शालीयः' के समान 'तदीयः' रूप सिद्ध होता है।

(वा०)- वानामधेयस्य०–अर्थ–किसी भी नाम की विकल्प से 'वृद्ध' संज्ञा होती है।

देवदत्तीयः–(देवदत्तस्यायम्) 'देवदत्त' शब्द की (वा०) 'वा नामधेय०' से 'वृद्ध' संज्ञा होने पर 'तस्येदम्' अर्थ में 'वृद्धाच्छः' से 'छ' प्रत्यय होकर 'शालीयः' के समान 'देवदत्तीयः' रूप सिद्ध होता है।

दैवदत्तः–'वृद्ध' संज्ञा-अभाव पक्ष में 'तस्येदम्' से प्राग्दीव्यतीय 'अण्' प्रत्यय होकर 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' को वृद्धि तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि होकर 'दैवदत्तः' रूप सिद्ध होता है।

१०७५. गहादिभ्यश्च ४।२।१३८

गहीयः।

प०वि०–गहादिभ्यः ५।३।। च अ०।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, शेषे, छः।
'गह' आदि आकृति-गण है।

अर्थ–'गह' आदि गण मे पठित सुबन्त प्रातिपदिकों से 'शेष' अर्थों ('तत्र जातः' आदि) में तद्धितसंज्ञक **'छ'** प्रत्यय होता है।

गहीयः	'गहे जातः' (गह में उत्पन्न होने वाला)
गह ङि	'गहादिभ्यश्च' से 'तत्र भवः' (शेष) अर्थ में 'छ' प्रत्यय हुआ
गह ङि छ	'कृत्तद्धित०' से तद्धितान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से 'ङि' का लुक् हुआ
गह छ	'आयनेयीनी०' से 'छ्' को 'ईय्' आदेश हुआ
गह ईय् अ	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से तद्धित के रहते अकार का लोप हुआ
गह् ईय् अ	स्वाद्युत्पत्ति, प्रथमा-एकवचन में 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होने पर
गहीयः	रूप सिद्ध होता है।

१०७६. युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ४।३।१

चाच्छः, पक्षेऽण्। युवयोर्युष्माकं वाऽयम्-युष्मदीयः। अस्मदीयः।

प०वि०–युष्मदस्मदोः ६।२।। अन्यतरस्याम् ७।१।। खञ् १।१।। च अ०।। **अनु०**–छः, प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, शेषे।

अर्थ–'युष्मद' और 'अस्मद्' सुबन्त प्रातिपदिकों से 'शेष' अर्थों ('तत्र भवः' आदि) में विकल्प से तद्धित-संज्ञक **'खञ्'** और **'छ'** प्रत्यय होते हैं तथा पक्ष में **'अण्'** भी होता है।

युष्मदीयः, अस्मदीयः–युवयोरयम्–'युष्मद्+ओस्' और **आवयोरयम्**–'अस्मद्+ओस्' से 'छ' प्रत्यय, 'छ्' को 'ईय्' और सुबुत्पत्ति आदि होकर 'युष्मदीयः और 'अस्मदीयः' रूप सिद्ध होते हैं।

१०७७. तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ४।३।२

युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञि अणि च। यौष्माकीणः। आस्माकीनः। यौष्माकः। आस्माकः।

प०वि०–तस्मिन् ७।१।। अणि ७।१।। च अ०।। युष्माकास्माकौ १।२।। अनु०–युष्मदस्मदोः।

अर्थ–'युष्मद' और 'अस्मद्' के स्थान पर क्रमशः 'युष्माक' और 'अस्माक' आदेश होते हैं 'खञ्' और 'अण्' परे रहते।

यौष्माकीणः	'युवयोर्युष्माकं वाऽयम्' (तुम दोनों का या तुम सबका)
युष्मद् आम्	'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां०' से 'तस्येदम्' अर्थ में 'खञ्' प्रत्यय हुआ
युष्मद् आम् खञ्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् हुआ
युष्मद् ख	'तस्मिन्नणि च युष्माका०' से 'खञ्' परे रहते 'युष्मद्' को 'युष्माक' आदेश हुआ
युष्माक ख	'आयनेयीनी०' से 'ख्' को 'ईन्' आदेश हुआ
युष्माक ईन् अ	'तद्धितेष्वचा०' से आदि अच् को वृद्धि, 'यस्येति च' से अकार का लोप और 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व हुआ
यौष्माकीण	सुबुत्पत्ति, 'सु', रुत्व एवं विसर्ग होकर
यौष्माकीणः	रूप सिद्ध होता है।

आस्माकीनः–'अस्मद्' से 'ख' प्रत्यय होने पर सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

यौष्माकः और आस्माकः–'युष्मद्', 'अस्मद्' शब्द से 'अण्' प्रत्यय, प्रकृत सूत्र से 'अण्' परे रहते क्रमशः 'युष्माक' और 'अस्माक' आदेश तथा वृद्धि आदि होकर 'यौष्माकः' और 'आस्माकः' रूप सिद्ध होते हैं

१०७८. तवक-ममकावेकवचने ४।३।३

एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवकममकौ स्तः खञि अणि च। तावकीन:, तावक:। मामकीन:, मामक:। छे तु–

प०वि०–तवकममकौ १।२।। एकवचने ७।१।। **अनु०**–युष्मदस्मदो:, तस्मिन्, अणि, च।

अर्थ–'खञ्' और 'अण्' प्रत्यय परे रहते, एकार्थवाची **'युष्मद्'** और **'अस्मद्'** के स्थान पर क्रमशः **'तवक'** और **'ममक'** आदेश होते हैं।

तावकीन:–'तव अयम्' (तेरा) 'युष्मद्+ङस्' यहाँ 'युष्मदस्मदो०' से 'खञ्' प्रत्यय, एकार्थवाची 'युष्मद्' के स्थान पर 'खञ्' परे रहते 'तवकममकावेक०' से 'तवक' आदेश, 'आयनेयीनी०' से 'ख्' को 'ईन्', 'तद्धितेष्वचामादे:' से आदि अच् को वृद्धि, 'यस्येति च' से अकार का लोप होकर 'तावकीन:' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'अस्मद्+ङस्' से 'ख' होने पर 'मामकीन:' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

तावक:, मामक:–'अण्' परे रहते 'युष्मद्' और 'अस्मद्' को क्रमशः 'तवक' और 'ममक' आदेश तथा आदि अच् को वृद्धि होकर 'तावक:' और 'मामक:' रूप सिद्ध होते हैं।

१०७९. प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ७।२।९८

मपर्यन्तयोरेकार्थवाचिनोस्त्वमौ स्त:, प्रत्यये उत्तरपदे च परत:। त्वदीय:। मदीय:। त्वत्पुत्र:। मत्पुत्र:।

प०वि०–प्रत्ययोत्तरपदयो: ७।२।। च अ०।। **अनु०**–मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदो:, त्वमावेकवचने।

अर्थ–प्रत्यय और उत्तरपद परे रहते एकवचन में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के मपर्यन्त भाग (**युष्म्** और **अस्म्**) के स्थान पर क्रमशः **'त्व'** और **'म'** आदेश होते हैं।

त्वदीय:	'तव अयम्' (तेरा)
युष्मद् ङस्	'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां०' से 'तस्येदम्' अर्थ में 'छ' प्रत्यय हुआ
युष्मद् ङस् छ	'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् और 'आयनेयीनी०' से 'छ्' को 'ईय्' आदेश हुआ
युष्मद् ईय् अ	'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' से प्रत्यय परे रहते 'युष्मद्' के मपर्यन्त भाग को 'त्व' आदेश हुआ
त्व अद् ईय् अ	'अतो गुणे' से अपदान्त अकार से गुण परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एकादेश हुआ
त्वदीय	सुबुत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'सु' के सकार को रुत्व एवं रेफ को विसर्ग होकर
त्वदीय:	रूप सिद्ध होता है।

मदीयः–इसी प्रकार 'अस्मद्' शब्द से 'छ' परे रहते 'अस्मद्' शब्द के मपर्यन्त भाग को 'म' आदेश होकर **मदीयः** रूप सिद्ध होगा।

त्वत्पुत्र 'तव पुत्रः' (तुम्हारा पुत्र)

ष्मद् ङस् पुत्र सु 'षष्ठी' से षष्ठ्यन्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास हुआ, 'कृत्तद्धित०' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति का लुक् हुआ

ष्मद् पुत्र 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' से उत्तरपद परे रहते 'युष्मद्' के मकार पर्यन्त भाग 'युष्म्' को 'त्व' आदेश हुआ

त्व अद् पुत्र 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश तथा 'खरि च' से दकार को चर्त्व (तकार) हुआ

त्वत् पुत्र समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर, रुत्व और विसर्ग होकर

त्वत्पुत्रः रूप सिद्ध होता है।

मत्पुत्रः–'मम पुत्रः' (मेरा पुत्र), 'अस्मद्+ङस् पुत्र सु' यहाँ पूर्ववत् 'षष्ठी' से समास, विभक्ति-लुक्, 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' से 'अस्म्' भाग को 'म' आदेश, 'अतो गुणे' से पररूप, 'खरि च' से चर्त्व 'द्' को 'त्' और 'सु' आने पर रुत्व तथा विसर्ग होकर 'मत्पुत्रः' रूप सिद्ध होता है।

१०८०. मध्यान्मः ४।३।८

मध्यमः।

प०वि०–मध्यात् ५।१।। मः १।१। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, शेषे।

अर्थ–'मध्य' प्रातिपदिक से शेष अर्थों ('तत्र भवः', 'तत्र जातः' आदि) में 'म' प्रत्यय होता है।

१०८१. कालाट्ठञ् ४।३।११

कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यात्। कालिकम्। मासिकम्। सांवत्सरिकम्।

(वा०)–अव्ययानां भमात्रे टिलोपः। सायंप्रातिकः। पौनःपुनिकः।

प०वि०–कालात् ५।१।। ठञ् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, शेषे।

अर्थ–कालवाचक प्रातिपदिकों से 'शेष' अर्थों में तद्धितसंज्ञक 'ठञ्' प्रत्यय होता है।

उदा०–**कालिकम्, मासिकम्, सांवत्सरिकम्**–'काल', 'मास' और 'संवत्सर' शब्दों से शेष अर्थों में सर्वत्र प्रकृत सूत्र से 'ठञ्' प्रत्यय, विभक्ति का लुक्, 'ठस्येकः' से 'ठ्' को 'इक' होकर 'यस्येति च' से अकार का लोप तथा यथास्थिति 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को 'वृद्धि', स्वाद्युत्पत्ति से 'सु', 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

(वा०) अव्ययानामिति-अर्थ—अव्ययों की 'भ' संज्ञा होने मात्र पर ही 'टि' भाग का लोप हो जाता है। जैसे—**सायंप्रातर्भवः—'सायंप्रातिकः'** आदि में 'तत्र भवः' अर्थ में 'कालाट्ठञ्' सूत्र से 'ठञ्' प्रत्यय, 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक' आदेश, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'अव्ययानाम्भमात्रे०' वार्तिक से 'टि' भाग ('अर्' आदि) का लोप होता है। अन्य कार्य पूर्ववत् जानें।

१०८२. प्रावृष एण्यः ४।३।१७

प्रावृषेण्यः।

प०वि०—प्रावृषः ५।१।। एण्यः १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, कालात्, शेषे।

अर्थ—कालवाचक **'प्रावृष्'** सुबन्त प्रातिपदिक से 'शेष' अर्थों में तद्धित-संज्ञक **'एण्य'** प्रत्यय होता है।

प्रावृषि भवः— प्रावृषेण्यः।

१०८३. सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च ४।३।२३

सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्युट्युलौ स्तस्तयोस्तुट् च। सायन्तनम्। चिरन्तनम्। प्राह्णे-प्रगेऽनयोरेदन्तत्वं निपात्यते- प्राह्णेतनम्, प्रगेतनम्। दोषातनम्।

प०वि०—सायंचिरं......ऽव्ययेभ्यः ५।३। ट्युट्युलौ १।२।। तुट् १।१।। च अ०।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, शेषे, कालात्।

अर्थ—कालवाचक **'सायम्, 'चिरम्', 'प्राह्णे', 'प्रगे'** और **अव्ययों** से शैषिक ('तत्र भवः' आदि) अर्थों में तद्धित-संज्ञक **'ट्यु'** और **'ट्युल्'** प्रत्यय होते हैं और इन प्रत्ययों को **'तुट्'** आगम भी होता है। **'प्राह्णे'** तथा **'प्रगे'** इन दोनों को एकारान्त आदेश निपातन भी सूत्र में निर्दिष्ट है।

सायन्तनम्-(सायं काले भवम्) सप्तम्यन्त 'साय+ङि' प्रातिपदिक से प्रकृत सूत्र से 'ट्यु' होने पर 'युवोरनाकौ' से 'यु' को 'अन' आदेश तथा 'सायंचिरंप्राह्णे०' सूत्र से ही 'तुट्' आगम एवं 'साय' को मकारान्तत्व निपातन से होकर सुबुत्पत्ति होने पर 'सायन्तनम्' आदि सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार **प्राह्णेतनम्** तथा **प्रगेतनम्** में 'ट्यु' प्रत्यय, 'तुट्' आगम तथा एकारान्तत्व का निपातन आदि कार्य जानें।

१०८४. तत्र जातः ४।३।२५

सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः। स्रुघ्ने जातः-स्रौघ्नः। उत्से जातः-औत्सः। राष्ट्रे जातः-राष्ट्रियः। अवारपारे जातः-अवारपारीणः। इत्यादि।

प०वि०—तत्र अ०।। जातः १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः।

अर्थ–सप्तमी–समर्थ प्रातिपदिक से 'जात' (उत्पन्न हुआ) अर्थ में यथाविहित 'अण्' आदि तथा शैषिक प्रकरण में विहित 'घ' आदि तद्धित–संज्ञक प्रत्यय होते हैं।

स्रौघ्नः–स्रुघ्ने जातः' सप्तमी–समर्थ 'स्रुघ्न+ङि' से 'तत्र जातः' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय, विभक्ति–लुक् 'तद्धितेष्व०' से वृद्धि, 'यस्येति च' से अकार–लोप होने पर 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर 'स्रौघ्नः' रूप सिद्ध होता है।

'औत्सः' की सिद्धि–(९९९) तथा **'राष्ट्रियः'** आदि की सिद्धि (१०६६) सूत्रों में देखें।

१०८५. प्रावृषष्ठप् ४।३।२६

एण्यापवादः। प्रावृषिकः।

प०वि०–प्रावृषः ५।१।। ठप् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तत्र जातः।

अर्थ–सप्तमी–समर्थ **'प्रावृष्'** प्रातिपदिक से **'उत्पन्न हुआ'** (तत्र जातः) अर्थ में तद्धित–संज्ञक **'ठप्'** प्रत्यय होता है।

यह सूत्र 'प्रावृष एण्यः' का अपवाद है।

प्रावृषिकः–'प्रावृषि जातः' यहाँ सप्तम्यन्त 'प्रावृष्+ङि' से प्रकृत सूत्र से 'ठप्' प्रत्यय, विभक्ति–लुक्, 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक' आदेश इत्यादि होकर 'प्रावृषिकः' रूप सिद्ध होता है।

१०८६. प्रायभवः ४।३।३९

तत्रेत्येव। स्रुघ्ने प्रायेण=बाहुल्येन भवति–स्रौघ्नः।

प०वि०–प्रायभवः १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्, तत्र।

अर्थ–सप्तमी–समर्थ प्रातिपदिक से 'प्रायभवः' अर्थात् 'अधिकतर होता है' इस अर्थ में तद्धित–संज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है।

स्रौघ्नः–स्रुघ्ने प्रायेण (बाहुल्येन) भवति–**'स्रौघ्नः'** की सिद्धि–प्रक्रिया सूत्र (१०८४) में देखें।

१०८७. संभूते ४।३।४१

स्रुघ्ने संभवति–स्रौघ्नः।

प०वि०–संभूते ७।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्, तत्र।

अर्थ–सप्तमी–समर्थ प्रातिपदिक से **'संभूत'** (संभव) अर्थ में तद्धित–संज्ञक 'अण्' प्रत्यय होता हैं।

स्रौघ्नः–स्रुघ्ने संभवति–'स्रौघ्नः' सिद्धि–प्रक्रिया सू० (१०८४) में देखें।

१०८८. कोशाड्ढञ् ४।३।४२

कौशेयम्-वस्त्रम्।

प०वि०–कोशात् ५।१।। ढञ् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तत्र, संभूते।

अर्थ–सप्तम्यन्त समर्थ '**कोश**' प्रातिपदिक से '**संभव**' अर्थ में तद्धित-संज्ञक '**ढञ्**' प्रत्यय होता है।

'कौशेयम्'–'कोशे संभवति', 'कोश+ङि' शब्द से 'ढञ्', 'ढ्' को 'आयनेयीनी०' से 'एय्' आदेश, 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि तथा सुबुत्पत्ति आदि होकर 'कौशेयम्' रूप सिद्ध होता है।

१०८९. तत्र भवः ४।३।५३

स्रुघ्ने भवः-स्रौघ्नः। औत्सः। राष्ट्रियः।

प०वि०–तत्र अ०।। भवः १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्।

अर्थ–सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से '**भव**' (होने वाला) अर्थ में तद्धित-संज्ञक '**अण्**' प्रत्यय होता है।

१०९०. दिगदिभ्यो यत् ४।३।५४

दिश्यम्। वर्ग्यम्।

प०वि०–दिगादिभ्यः ५।३।। यत् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तत्र भवः।

अर्थ–दिगादिगण में पठित सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धित-संज्ञक '**यत्**' प्रत्यय होता है।

दिश्यम्–'दिशि भवम्', सप्तम्यन्त 'दिश्+ङि' शब्द से 'दिगादिभ्यो यत्' से 'तत्र भवः' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय, पूर्ववत् 'सुप्' का लुक् तथा विभक्ति-उत्पत्ति होकर 'दिश्यम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'वर्गे भवम्', 'वर्ग+ङि' से 'यत्' होकार **वर्ग्यम्** भी जानें।

१०९१. शरीरावयवाच्च ४।३।५५

दन्त्यम्। कण्ठ्यम्।

(वा०) अध्यात्मादेष्ठञिष्यते। अध्यात्मं भवम्-आध्यात्मिकम्।

प०वि०–शरीरावयवात् ५।१।। च अ०।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, यत्, तत्र भवः।

अर्थ–शरीर के अवयव वाचक सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'भव' (होने वाला) अर्थ में तद्धित-संज्ञक '**यत्**' प्रत्यय होता है।

दन्त्यम्–'दन्ते भवम्' सप्तम्यन्त 'दन्त+ङि' शब्द से 'शरीरावयवाच्च' से 'यत्' प्रत्यय, सुब्लुक्, 'यस्येति च' से अकार का लोप तथा सुबुत्पत्ति होकर 'दन्त्यम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'कण्ठे भवम्'–**कण्ठ्यम्** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें

(वा०) अध्यात्मा०–अर्थ–सप्तम्यन्त समर्थ अध्यात्मादि प्रातिपदिकों से '**भव**' (होने वाला) अर्थ में '**ठञ्**' प्रत्यय होता है।

आध्यात्मिकम्–'अध्यात्मं भवम्', सप्तम्यन्त 'अध्यात्म+ङि' यहाँ 'आध्यात्मादेष्ठञ् इष्यते' इस वार्तिक से 'ठञ्', 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक', 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' को वृद्धि, 'यस्येति च' से अकार-लोप और स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होने पर 'आध्यात्मिकम्' रूप सिद्ध होता है।

१०९२. अनुशतिकादीनां च ७।३।२०

एषामुभयपदवृद्धिर्ञिति णिति किति च। आधिदैविकम्। आधिभौतिकम्। ऐहलौकिकम्। पारलौकिकम्। आकृतिगणोऽयम्।

प०वि०–अनुशतिकादीनाम् ६।३।। च अ०।। **अनु०**–पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य।

अनुशतिकादि आकृतिगण है, जिसमें अनुशतिक, अधिभूत, अधिदेव, इहलोक और परलोक आदि शब्दों का ग्रहण होता है।

अर्थ–'ञित्', णित्, कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते 'अनुशतिक' आदि अङ्गों के पूर्वपद तथा उत्तरपद के अचों में आदि 'अच्' को 'वृद्धि' होती है।

आधिदैविकम्	'अधिदेवम् भवम्' (देव में होने वाला)
अधिदेव ङि	'अध्यात्मादेष्ठञ् इष्यते' (वा०) से 'तत्र भवः' अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय हुआ
अधिदेव ङि ठञ्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् और 'ठस्येकः' से 'ठ' से 'इक' आदेश हुआ
अधिदेव इक	यहाँ 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' (अ) को वृद्धि प्राप्त थी जिसे बाधकर 'अनुशतिकादीनां च' से दोनों पदों के आदि 'अच्' क्रमशः अकार तथा एकार को वृद्धि हो गई
आधिदैव इक	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा तथा 'यस्येति च' से अकार-लोप हुआ
आधिदैविक	सुबुत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
आधिदैविकम्	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'अधिभूतम् भवम्'–**आधिभौतिकम्**, 'इहलोके भवम्'-**ऐहलौकिकम्**, 'परलोके भवम्'–**'पारलौकिकम्'** की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

१०९३. जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः ४।३।६२

जिह्वामूलीयम्। अङ्गुलीयम्।

प०वि०–जिह्वामूलाङ्गुलेः ५।१।। छः १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तत्र भवः।

अर्थ–सप्तम्यन्त समर्थ 'जिह्वामूल' और 'अङ्गुलि' प्रातिपदिकों से 'भव' अर्थ में तद्धित-संज्ञक 'छ' प्रत्यय होता है।

जिह्वामूलीयम्–'जिह्वामूले भवम्', सप्तमी-समर्थ 'जिह्वमूल+ङि' से 'जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः' से 'तत्र भवः' अर्थ में 'छ' प्रत्यय, विभक्ति-लुक्, 'आयनेयीनी०' से 'छ्' को ईयादेश, 'यस्येति च' से अकार-लोप और स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'जिह्वामूलीयम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'अङ्गुल्यां भवम्'–**'अङ्गुलीयम्'** रूप जानना चाहिए।

१०९४. वर्गान्ताच्च ४।३।६३

कवर्गीयम्।

प०वि०–वर्गान्तात् ५।१।। च अ०।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तत्र भवः, छः।

अर्थ–सप्तम्यन्त समर्थ वर्गान्त प्रातिपदिक से 'भव' अर्थ में तद्धित-संज्ञक 'छ' प्रत्यय होता है।

कवर्गीयम्–'कवर्गे भवम्' की सिद्धि-प्रक्रिया 'जिह्वामूलीयम्' के समान जानें।

१०९५. तत आगतः ४।३।७४

स्रुघ्नादागतः-स्रौघ्नः।

प०वि०–ततः अ०।। आगतः १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्।

अर्थ–पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से **'आगत'** (आया हुआ) अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है।

स्रौघ्नः–'स्रुघ्नाद् आगतः', यहाँ 'स्रुघ्न+ङसि' से 'तत आगतः' से 'आया हुआ' अर्थ में 'अण्' होगा, 'स्रौघ्नः' की सिद्धि-प्रक्रिया (१०८४ सूत्र) में देखें।

१०९६. ठगायस्थानेभ्यः ४।३।७५

शुल्कशालाया आगतः-शौल्कशालिकः।

प०वि०–ठक् १।१।। आयस्थानेभ्यः ५।३।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, ततः, आगतः।

अर्थः–आयस्थानवाची पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से **'आगत'** (आया हुआ) अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'ठक्'** प्रत्यय होता है।

शौल्कशालिकः–'शुल्कशालायाः आगतः'–यहाँ पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक 'शुल्कशाला+ङसि' से 'ठगायस्थानेभ्यः' से 'ठक्', 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक', 'किति च' से वृद्धि, 'यस्येति च' से अकार-लोप तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि होकर 'शौल्कशालिकः' रूप सिद्ध होता है।

१०९७. विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् ४।३।७७

औपाध्यायकः। पैतामहकः।

प०वि०–विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः ५।३।। वुञ् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तत आगतः।

अर्थ–पञ्चम्यन्त समर्थ विद्यासम्बन्ध–वाचक तथा उत्पत्तिसम्बन्ध–वाचक प्रातिपदिकों से 'आगत' अर्थ में तद्धित–संज्ञक **'वुञ्'** प्रत्यय होता है।

औपाध्यायकः–'उपाध्यायात् आगतः' (उपध्याय से आया हुआ) पञ्चमी– समर्थ 'उपाध्याय+ङसि' शब्द से प्रकृत सूत्र से 'वुञ्', 'युवोरनाकौ' से 'वु' को 'अक', 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् 'उ' को वृद्धि 'औ' आदेश, 'यस्येति च' से अकार–लोप तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'औपाध्यायकः' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **पैतामहकः**–'पितामहात् आगतः' की सिद्धि–प्रक्रिया जानें।

१०९८. हेतु-मनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः ४।३।८१

समादागतम्–समरूप्यम्। विषमरूप्यम्। पक्षे–गहादित्वाच्छः–समीयम्। विषमीयम्। देवदत्तरूप्यम्, दैवदत्तम्।

प०वि०–हेतुमनुष्येभ्यः ५।३।। अन्यतरस्याम् ७।१।। रूप्यः १।१।। अनु०–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तत आगतः।

अर्थ–पञ्चम्यन्त समर्थ हेतुवाचक तथा मनुष्यवाचक प्रातिपदिकों से **'आगत'** अर्थ में विकल्प से तद्धित–संज्ञक **'रूप्य'** प्रत्यय होता है।

समरूप्यम्–'समादगतम्' (सम से आया हुआ) पञ्चमी–समर्थ 'सम+ङसि' से प्रकृत सूत्र से 'रूप्य' प्रत्यय, 'सुपो धातु०' से विभक्ति–लुक् तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'समरूप्यम्' रूप सिद्ध होता है।

समीयम्–जब 'रूप्य' प्रत्यय नहीं होगा तो गहादि गण में पठित होने के कारण 'गहादिभ्यश्च' से 'छ' प्रत्यय, 'आयनेयीनी०' से 'छ्' को ईयादेश, 'यस्येति च' से अकार का लोप तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'समीयम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'देवदत्तरूप्यम्'** आदि की सिद्धि–प्रक्रिया जानें।

१०९९. मयट् च ४।३।८२

सममयम्। देवदत्तमयम्।

प०वि०–मयट् १।१।। च अ०।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तत आगतः, हेतु-मनुष्येभ्यः, अन्यतरस्याम्।

अर्थ–पञ्चम्यन्त समर्थ हेतुवाचक और मनुष्यवाचक प्रातिपदिकों से **'आगत'** अर्थ में तद्धित–संज्ञक **'मयट्'** प्रत्यय भी होता है।

सममयम्, देवदत्तमयम्–पञ्चम्यन्त 'सम' और 'देवदत्त' से प्रकृत सूत्र से 'मयट्' प्रत्यय होने पर 'सममयम्' और 'देवदत्तमयम्' आदि रूप जानने चाहिएं।

११००. प्रभवति ४।३।८३

हिमवतः प्रभवति-हैमवती गङ्गा।

प०वि०–प्रभवति क्रियापदम्।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, ततः।

अर्थ–पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से **'प्रभवति'** (निकलती है या प्रथम प्रकाशित होती है) अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है।

हैमवती	(गङ्गा) 'हिमवतः प्रभवति' (हिमालय से निकलती है)
हिमवत् ङसि	'प्रभवति' से 'ततः प्रभवति' (वहाँ से निकलती है) इस अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हुआ
हिमवत् ङसि अण्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति का लुक् हुआ
हिमवत् अ	'तद्धितेष्व०' से णित् तद्धित परे रहते आदि 'अच्' को वृद्धि हुई
हैमवत् अ	'अण्' प्रत्ययान्त से स्त्रीत्व-विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्०' से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ
हैमवत् अ ङीप्	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा हाने पर 'यस्येति च' से अकार का लोप हुआ
हैमवत् ई	सुबुत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
हैमवती सु	अनुबन्ध-लोप तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप होकर
हैवमती	रूप सिद्ध होता है।

११०१. तद् गच्छति पथिदूतयोः ४।३।८५

स्रुघ्नं गच्छति-स्रौघ्नः। पन्थो दूतो वा।

प०वि०–तत् २।१।। गच्छति क्रियापदम्।। पथिदूतयोः ७।२।।

अनु०–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्।

अर्थ–द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से **'जाता है'** अर्थ में **'मार्ग'** और **'दूत'** वाच्य होने पर तद्धित-संज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है।

स्रौघ्नः–'स्रुघ्नं गच्छति पन्था दूतो वा' द्वितीयान्त समर्थ 'स्रुघ्न+अम्' से प्रकृत सूत्र से 'गच्छति' अर्थ में **मार्ग** अथवा **दूत** अभिधेय होने पर 'अण्' होकर विभक्ति-लुक् आदि शेष सिद्धि-प्रक्रिया सूत्र (१०८४) में देखें।

११०२. अभिनिष्क्रामति द्वारम् ४।३।८६

स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति स्रौघ्नम्-कान्यकुब्जद्वारम्।

प०वि०–अभिनिष्क्रामति क्रियापदम्।। द्वारम् ।१।१।। **अनु०** प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्, तद्।

अर्थ–यदि **द्वार** वाच्य हो तो द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से **'अभिनिष्क्रामति'** (उस ओर निकलता है) अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है।

स्रौघ्नम्–'स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति द्वारम्'–स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम्, द्वितीयान्त समर्थ 'स्रुघ्न+अम्' से 'अभिनिष्क्रामति०' से 'की ओर निकलने वाला' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

११०३. अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४।३।८७

शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः–शारीरकीयः।

प०वि०–अधिकृत्य ल्यबन्त अ०।। कृते ७।१।। ग्रन्थे ७।१।। **अनु०**– प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्, तत्।

अर्थ–द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से **'अधिकृत करके बनाया गया ग्रन्थ'** अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है।

शारीरकीयः–(शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः) द्वितीयान्त समर्थ 'शारीरक+अम्' से 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' अर्थ में 'वृद्धाच्छः' से वृद्ध-संज्ञक 'शारीरक' से 'छः' प्रत्यय होने पर पूर्ववत् विभक्ति-लुक्, 'आयनेयीनी०' से 'छ्' को 'ईय्', 'यस्येति च' से अकार का लोप तथा, स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'शारीरकीयः' रूप सिद्ध होता है।

११०४. सोऽस्य निवासः ४।३।८९

स्रुघ्नो निवासोऽस्य–स्रौघ्नः।

प०वि०–सः १।१।। अस्य ६।१।। निवासः १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्।

अर्थ–प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'इसका निवास' अर्थ में तद्धित-संज्ञक 'अण्' प्रत्यय होता है।

स्रौघ्नः–'स्रुघ्नो निवासोऽस्य' यहाँ प्रथमा-समर्थ 'स्रुघ्न+सु' से 'इसका निवास' इस अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होकर शेष कार्य पूर्ववत् जानें।

११०५. तेन प्रोक्तम् ४।३।१०१

पाणिनिना प्रोक्तम्-पाणिनीयम्।

प०वि०–तेन ३।१।। प्रोक्तम् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्।

अर्थ–तृतीयान्त समर्थ प्रातिपिदक से **'प्रोक्तम्'** (प्रवचन किया हुआ) इस अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है।

पाणिनीयम्–'पाणिनिना प्रोक्तम्' (पाणिनि के द्वारा प्रवचन किया हुआ) तृतीया-समर्थ 'पाणिनि+टा' से 'प्रोक्तम्' अर्थ में 'वृद्धाच्छः' से 'छ' प्रत्यय, 'आयनेयीनी०' से 'छ्' को 'ईय्' आदेश, विभक्ति-लुक्, 'यस्येति च' से भसंज्ञक के इकार लोप तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'पाणिनीयम्' रूप सिद्ध होता है।

११०६. तस्येदम् ४।३।१२०

उपगोरिदम्-औपगवम्।

॥ इति शैषिकाः॥

प०वि०–तस्य ६।१॥ इदम् १।१॥ **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्।

अर्थ–षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से **'यह है'** (इदम्) इस अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है।

औपगवम्–'उपगोरिदम्' (उपगु का यह है) षष्ठ्यन्त 'उपगु+ङस्' से 'तस्येदम्' से 'अण्' होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'औपगवः' (१००२) के समान जानें।

॥ शैषिक-प्रकरण समाप्त ॥

अथ प्राग्दीव्यतीयाः (विकाराद्यर्थकाः)

११०७. तस्य विकारः ४।३।१३२

(वा०) अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः। अश्मनो विकारः-आश्मः। भास्मनः। मार्तिकः।

प०वि०-तस्य ६।१।। विकारः १।१।। **अनु०**-प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्।

अर्थ-षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से **'विकार'** अर्थ में यथा-विहित तद्धित-संज्ञक 'अण्' प्रत्यय होता है।

(वा०)-अश्मनो विकारे०-अर्थ-विकार अर्थ वाला प्रत्यय परे रहते 'अश्मन्' के 'टि' भाग का लोप होता है।

आश्मः	'अश्मनो विकारः' (पत्थर का विकार)
अश्मन् ङस्	'तस्य विकारः' से विकार अर्थ में षष्ठ्यन्त 'अश्मन्' से 'अण्' प्रत्यय हुआ
अश्मन् ङस् अण्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से 'ङस्' विभक्ति का लुक् हुआ
अश्मन् अ	'नस्तद्धिते' से 'टि' भाग का लोप प्राप्त था जिसका 'अन्' से निषेध हो गया, अतः (वा०) 'अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः' से विकारार्थक 'अण्' परे रहते 'अश्मन्' के टि भाग 'अन्' का लोप हुआ
अश्म् अ	'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' को वृद्धि तथा स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु', रुत्व एवं विसर्ग होने पर
आश्मः	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **भास्मनः**-'भस्मनो विकारः' और **मार्तिकः**-'मृत्तिकायाः विकारः' आदि की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

११०८. अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ४।३।१३३

चाद्विकारे। मयूरस्यावयवो विकारो वा मायूरः। मौर्वं-काण्डं भस्म वा। पैप्पलम्।

प०वि०-अवयवे ७।१।। च अ०।। प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ५।३।। **अनु०**-प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्, तस्य विकारः।

अर्थ–प्राणिवाचक, औषधिवाचक और वृक्षवाचक षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से **'अवयव'** और **'विकार'** अर्थों में तद्धित-संज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है।

मायूरः, मौर्वः और **पैप्पलम्** में क्रमशः षष्ठ्यन्त समर्थ 'मयूर', 'मूर्वा' और 'पिप्पल' शब्दों से सर्वत्र 'अवयव' या 'विकार' अर्थ में प्रकृत सूत्र से 'अण्' प्रत्यय होकर पूर्ववत् 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् को वृद्धि तथा 'यस्येति च' से अकार का लोप आदि कार्य जानने चाहिएं।

११०९. मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याऽऽच्छादनयोः ४।३।१४१.

प्रकृतिमात्रान्मयड् वा स्याद् विकारावयवयोः। अश्ममयम्, आश्मनम्। अभक्ष्येत्यादि किम्? मौद्गः सूपः। कार्पासमाच्छादनम्।

प०वि०–मयड् १।१।। वा अ०।। एतयोः ७।२।। भाषायाम् ७।१।। अभक्ष्याच्छादनयोः ७।२।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्य।

विशेष–'एतयोः' यह पद 'विकार' और 'अवयव' अर्थों का संकेत करता है।

अर्थ–षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से भक्ष्य-भिन्न और आच्छादन से भिन्न 'विकार' तथा 'अवयव' अर्थों में लौकिक भाषा में विकल्प से तद्धित-संज्ञक **'मयट्'** प्रत्यय होता है।

अश्ममयम्	'अश्मनोऽवयवो विकारो वा' (पत्थर का अवयव अथवा विकार)
अश्मन् ङस्	'मयड् वैतयोर्भाषा०' से 'अवयव' अथवा 'विकार' अर्थ में 'मयट्' हुआ
अश्मन् ङस् मयट्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से 'ङस्' का लुक् हुआ
अश्मन् मय	'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से सर्वनामस्थान-भिन्न स्वादि प्रत्यय 'मयट्' परे रहते 'अश्मन्' की 'पद' संज्ञा होती है, अतः 'न लोपः प्राति०' से 'न्' का लोप हुआ
अश्म मय	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
अश्ममयम्	रूप सिद्ध होता है।

आश्मनम्–'मयट्' के अभाव पक्ष में 'अण्' होने पर पूर्ववत् विभक्ति-लुक् होने पर 'अवयव' अर्थ वाला प्रत्यय 'अण्' परे रहते (वा०) 'अश्नोविकारे टिलोपो वक्तव्यः' (११०७) से 'टि' लोप न होने से 'अन्' सूत्र से प्रकृति-भाव, 'तद्धितेष्व०' से वृद्धि और सुबुत्पत्ति होने पर 'आश्मनम्' बनता है।

अभक्ष्येत्यादि किम्–सूत्र में 'अभक्ष्य०' इत्यादि कहने का प्रयोजन यह है कि जहाँ विकारार्थक एवं अवयवार्थक प्रत्ययान्त शब्द 'भक्ष्य' या 'आच्छादन' का वाचक

होगा वहाँ 'मयट्' नहीं होता। जैसे–'मुद्गाया: विकार:'–**मौद्ग:** सूप:, भक्ष्यार्थक तथा 'कार्पासस्य विकार:'–**कार्पासमाच्छादनम्**, आच्छादनार्थक है इसलिए 'मयट्' नहीं होता।

१११०. नित्यं वृद्धशरादिभ्य: ४।३।१४२

आम्रमयम्। शरमयम्।

प०वि०–नित्यम् अ०।। वृद्धशरादिभ्य: ५।३।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिता:, तस्य विकार:, अवयवे, मयट्, भाषायाम्, अभक्ष्याच्छादनयो:।

अर्थ–षष्ठ्यन्त समर्थ वृद्ध–संज्ञक तथा शरादिगण में पठित प्रातिपदिकों से भक्ष्य और आच्छादन वर्जित **'विकार'** और **'अवयव'** अर्थों में नित्य तद्धित–संज्ञक **'मयट्'** प्रत्यय होता है।

आम्रमयम्–'आम्रस्य विकार: अवयवो वा' (आम का अवयव या विकार) 'आम्र' शब्द 'वृद्धिर्यस्याचामदे०' से वृद्ध संज्ञक है अत: 'मयट्' होता है।

शरमयम्–'शरस्यावयवो विकारो वा' (शर का विकार या अवयव), षष्ठ्यन्त 'शर+ङस्' से 'नित्यं–वृद्धशरादिभ्य:' से 'मयट्', तद्धितान्त की 'कृत्तद्धि०' से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्त–लुक् होकर स्वाद्युत्पत्ति आदि होने पर 'शरमयम्' रूप सिद्ध होता है।

११११. गोश्च पुरीषे ४।३।१४३

गो: पुरीषं गोमयम्।

प०वि०–गो: ५।१।। च अ०। पुरीषे ७।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिता:, तस्य, मयट्।

अर्थ–षष्ठ्यन्त समर्थ 'गो' प्रातिपदिक से 'पुरीष' (गोबर) अभिधेय होने पर तद्धित-संज्ञक 'मयट्' प्रत्यय होता है।

गोमयम्–'गो: पुरीषम्' (गाय का गोबर) षष्ठ्यन्त 'गो+ङस्' से 'गोश्च पुरीषे' से 'पुरीष' (गोबर) अर्थ में 'मयट्', 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति–लुक् आदि होकर स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होने पर 'गोमयम्' रूप सिद्ध होता है।

१११२. गोपयसोर्यत् ४।३।१५८

गव्यम्। पयस्यम्।

।। इति प्राग्दीव्यतीया:।।

प०वि०–गोपयसो: ६।२।। यत्।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिता:, एतयो:, तस्य विकार:, अवयवे।

अर्थ–षष्ठ्यन्त समर्थ 'गो' और 'पयस्' प्रातिपदिकों से 'अवयव' और 'विकार' अर्थों में तद्धित–संज्ञक 'यत्' प्रत्यय होता है।

गव्यम्

'गोरवयवो विकारो वा' (गाय का अवयव या विकार)

गो ङस्	'गोपयसोर्यत्' से षष्ठ्यन्त समर्थ 'गो' से 'अवयव' या 'विकार' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय हुआ
गो ङस् यत्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से 'ङस्' का लुक् हुआ
गो य	'वान्तो यि प्रत्यये' से यकारादि प्रत्यय परे रहते 'ओ' को 'अव्' आदेश हुआ
गव् य	स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर 'अतोऽम् से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
गव्यम्	रूप सिद्ध होता है।

पयस्यम्—इसी प्रकार 'विकार' अर्थ में प्रकृत सूत्र से 'पयस्+ङस्' से 'यत्' होने पर **'पयस्यम्'** रूप सिद्ध होगा।

॥ प्राग्दीव्यतीय-प्रकरण समाप्त ॥

अथ ठगधिकारः

१११३. प्राग् वहतेष्ठक् ४।४।१

तद्वहतीत्यतः प्राक् ठगधिक्रियते।

प०वि०–प्राग् अ०।। वहतेः ५।१।। ठक् १।१।।

यह अधिकार सूत्र है।

अर्थ–'तद्वहति०' ४।४।७६ से पहले-पहले जिन अर्थों का निर्देश किया गया है उन सभी अर्थों में (सामान्य रूप से) 'ठक्' प्रत्यय होता है।

१११४. तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ४।४।२

अक्षैर्दीव्यति खनति जयति जितम् वा-आक्षिकः।

प०वि०–तेन ३।१।। दीव्यति खनति जयति[1] ।। जितम् १।१।। **अनु०**– प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, ठक्।

अर्थ–तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से **'दीव्यति'** (खेलता है) **'खनति'** (खोदता है) **'जयति'** (जीतता है) और **'जितम्'** (जीता हुआ) इन अर्थों में तद्धित-संज्ञक **'ठक्'** प्रत्यय होता है।

आक्षिकः	'अक्षैर्दीव्यति, खनति, जयति, जितम् वा', (पाशे से खेलता है, खोदता है, जीतता है या जीता हुआ)
अक्ष भिस्	'तेन दीव्यतिखनति०' से तृतीयान्त समर्थ 'अक्ष' से 'दीव्यति' आदि अर्थों में 'ठक्' हुआ
अक्ष भिस् ठक्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से तद्धितान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से 'भिस्' का लुक् तथा 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक' हुआ
अक्ष इक	'किति च' से कित् तद्धित परे रहते आदि अच् को वृद्धि तथा 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से अकार का लोप हुआ
आक्ष् इक	स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' को रुत्व एवं विसर्ग होकर
आक्षिकः	रूप सिद्ध होता है।

---

१. ये सभी क्रिया पद है।

१११५. संस्कृतम् ४।४।३

दध्ना संस्कृतम्-दाधिकम्। मारीचिकम्।

प०वि०—संस्कृतम् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तेन, ठक्।

अर्थ—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से **'संस्कृतम्'** (संस्कार किया हुआ) अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'ठक्'** प्रत्यय होता है।

दाधिकम्—तृतीयान्त 'दधि+टा' से 'संस्कृतम्' से 'ठक्', 'सुपो धातुप्राति०' से 'टा' का लुक्, 'ठस्येकः' से 'ठ' को इकादेश, 'किति च' से आदि अच् को वृद्धि, 'यस्येति च' से 'इ' का लोप, सुबुत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'अतोऽम्' से 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'दाधिकम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **मारीचिकम्**—(मरीचिभिः संस्कृतम्) तृतीयान्त 'मरीचि+टा' से 'ठक्' होकर सिद्ध होता है।

१११६. तरति ४।४।५

तेनेत्येव। उडुपेन तरति-औडुपिकः।

प०वि०—तरति[1]। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तेन, ठक्।

अर्थ—तृतीयान्त समर्थ से **'तरति'** (तैरता है) अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'ठक्'** प्रत्यय होता है।

औडुपिकः—'उडुपेन तरति' तृतीयान्त 'उडुप+टा' से 'तरति' से 'ठक्' होकर पूर्ववत् 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक' आदेश, 'यस्येति च' से अकार का लोप और 'किति च' से आदि 'अच्' को वृद्धि आदि सभी कार्य होकर प्रथमा-एकवचन में 'औडुपिकः' रूप सिद्ध होता है।

१११७. चरति ४।४।८

तृतीयान्ताद् गच्छति-भक्षयतीत्यर्थयोष्ठक् स्यात्। हस्तिना चरति- हास्तिकः। दध्ना चरति-दाधिकाः।

प०वि०—चरति[2]। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तेन, ठक्।

अर्थ—तृतीयान्त समर्थ से **'चरति'** (चलता है और खाता है) अर्थ में **'ठक्'** प्रत्यय होता है।

हास्तिकः—(हस्तिना चरति) **दाधिकः**—(दध्ना चरति) यहाँ तृतीयान्त 'हस्ति+टा' एवं 'दधि+टा' से 'चरति' से 'ठक्' होकर शेष कार्य 'दाधिकम्' (१११५) के समान होकर 'सु' के सकार के स्थान में रुत्व एवं विसर्ग होकर क्रमशः 'हास्तिकः' एवं 'दाधिकः' रूप सिद्ध होते हैं।

---

१. यह क्रिया पद है।

२. यह भी क्रिया पद है।।

१११८. संसृष्टे ४।४।२२

दध्ना संसृष्टम्–दाधिकम्।

प०वि०–संसृष्टे ७।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तेन, ठक्।

अर्थ–तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से **'संसृष्ट'** (मिला हुआ) अर्थ में तद्धित-संज्ञक 'ठक्' प्रत्यय होता है।

दाधिकम्-(दध्ना संसृष्टम्) तृतीयान्त 'दधि+टा' से 'संसृष्टे' से 'ठक्' होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया (१११५) के समान जानें।

१११९. उञ्छति ४।४।३२

बदराण्युञ्छति–बादरिकः।

प०वि०–उञ्छति[1]।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, ठक्, तत्।

अर्थ–द्वितीयान्त समर्थ से 'उञ्छति' (चुनता है) अर्थ में तद्धित-संज्ञक 'ठक्' प्रत्यय होता है।

बादरिकः	'बदराणि उञ्छति' (बेरों को चुनता है)
बदर शस्	'उञ्छति' से 'चुनता है' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय हुआ
बदर शस् ठक्	अनुबन्ध–लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से 'शस्' का लुक् हुआ
बदर ठ	'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक', 'किति च' से आदि 'अच्' को वृद्धि और 'यस्येति च' से भसंज्ञक अङ्ग के 'अ' का लोप हुआ
बादर् इक	'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर
बादरिकः	रूप सिद्ध होता है।

११२०. रक्षति ४।४।३३

समाजं रक्षति–सामाजिकः।

प०वि०–रक्षति[2]।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तत्, ठक्।

अर्थ–द्वितीयान्त समर्थ से **'रक्षति'** (रक्षा करता है) अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'ठक्'** प्रत्यय होता है।

सामाजिकः–(समाजं रक्षति) द्वितीयान्त 'समाज+अम्' से 'रक्षा करता है' अर्थ में 'रक्षति' से 'ठक्' होकर पूर्ववत् विभक्ति का लुक्, 'ठस्येकः' से 'ठ' को इकादेश, 'किति च' से आदि अच् को वृद्धि तथा 'यस्येति च' से अकार-लोप आदि होकर 'सु' को रुत्व एवं विसर्ग होकर **'सामाजिकः'** रूप सिद्ध होता है।

---

१. यह क्रिया पद है।

२. यह भी क्रिया पद है।

११२१. शब्ददर्दुरं करोति ४।४।३४

शब्दं करोति-शाब्दिकः। दर्दुरं करोति-दार्दुरिकः।

प०वि०—शब्दर्दुरम् २।१।। करोति[1]।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तत्, ठक्।

अर्थ—द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से **'शब्दं करोति'** (शब्द करता है) और **'दर्दुरं करोति'** (दर्दुर करता है) अर्थों में तद्धितसंज्ञक **'ठक्'** प्रत्यय होता है।

शाब्दिकः (शब्दं करोति) तथा **दार्दुरिकः** (दर्दुरं करोति) में प्रकृत सूत्र में 'ठक्' होकर सिद्धि-प्रक्रिया 'सामाजिकः' (११२०) के समान जानें।

११२२. धर्मं चरति ४।४।४१

धर्मं चरति-धार्मिकः। (वा०) अधर्माच्चेति वक्तव्यम्। अधार्मिकः।

प०वि०—धर्मम् २।१।। चरति[2]।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तत्, ठक्।

अर्थ—द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से **'धर्मम् चरति'** (धर्म का आचरण करता है) अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'ठक्'** प्रत्यय होता है

(वा०) अधर्माच्चेति०—अर्थ-द्वितीयान्त 'अधर्म' शब्द से भी **'चरति'** (आचरण करता है) अर्थ में **'ठक्'** प्रत्यय होता है।

धार्मिकः—द्वितीयान्त 'धर्म+अम्' से 'ठक्' होकर 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक', 'किति च' से वृद्धि आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'धार्मिकः' रूप सिद्ध होता है।

अधार्मिकः—'अधर्मं चरति' (अधर्म का आचरण करता है) द्वितीयान्त 'अधर्म+अम्' से 'अधर्माच्चेति वक्तव्यम्' वार्तिक से 'ठक्' होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'धार्मिकः' के समान जानें।

११२३. शिल्पम् ४।४।५५

मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य-मार्दङ्गिकः।

प०वि०—शिल्पम् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, अस्य, ठक्।

अर्थ—प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से **'शिल्प है इस का'** इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'ठक्'** प्रत्यय होता है।

मार्दङ्गिकः—'मृदङ्गं शिल्पमस्य' (मृदङ्ग-वादन शिल्प है जिसका) प्रथमान्त 'मृदङ्ग+सु' से 'शिल्पम्' से 'ठक्', सुब्लुक्, 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक' आदेश, 'यस्येति च' से अकार-लोप, 'किति च' से वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होने पर 'ऋ' को 'आर्' होकर शेष स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य पूर्ववत् होने पर 'मार्दङ्गिकः' रूप सिद्ध होता है।

११२४. प्रहरणम् ४।४।५७

तदस्येत्येव। असिः प्रहरणमस्य-आसिकः। धानुष्कः।

---

१. यह क्रिया पद है।

२. यह भी क्रिया पद है।

प०वि०—प्रहरणम् १।१।। अनु०—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, अस्य, ठक्।

अर्थ—प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से '**प्रहरण**' (हथियार है इसका) अर्थ में तद्धितसंज्ञक '**ठक्**' प्रत्यय होता है।

धानुष्कः	'धनुः प्रहरणमस्य' (धनु प्रहरण है इसका)
धनुष् सु	'प्रहरणम्' से 'अस्य प्रहरणम्' (आयुध है इस का) अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय हुआ
धनुष् सु ठक्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, 'इसुसुक्तान्तात् कः' से 'उस्' अन्त वाले से परे 'ठ' को 'क' आदेश और 'किति च' से आदि 'अच्' अकार को वृद्धि हुई
धानु ष् क	'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने पर 'ससजुषो रुः' की दृष्टि में 'आदेशप्रत्यययोः' से किया गया षकार असिद्ध होने से षकार को सकार मानने पर 'स्' को 'रु' आदेश, अनुबन्ध-लोप तथा 'खरवसानयोर्वि०' से 'खर्' (क्) परे रहते 'र्' को विसर्ग हुआ
धानुः क	'इणः षः' से अपदादि कवर्ग परे रहते 'इण्' से उत्तर विसर्ग के स्थान में 'ष्' आदेश हुआ
धानु ष् क	पूर्ववत् विभक्ति-कार्य 'सु' आकर, रुत्व एवं विसर्ग होकर
धानुष्कः	रूप सिद्ध होता है।

आसिकः—इसी प्रकार प्रथमान्त 'असि+सु' से 'ठक्' होकर 'आसिकः' की सिद्धि 'दाधिकम्' (१११५) के समान जानें।

११२५. शीलम् ४।४।६१

अपूपभक्षणं शीलमस्य—आपूपिकः।

प०वि०—शीलम् १।१।। अनु०—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तदस्य, ठक्।

अर्थ—प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से '**शीलम् अस्य**' (शील है इसका) अर्थ में तद्धितसंज्ञक '**ठक्**' प्रत्यय होता है।

आपूपिकः—प्रथमान्त 'अपूप+सु' से 'शीलम्' अर्थ में 'ठक्', सुब्लुक्, 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक', 'किति च' से आदि 'अच्' को वृद्धि, 'यस्येति च' से अकार-लोपादि कार्य तथा सुबुत्पत्ति आदि होकर 'आपूपिकः' सिद्ध होता है।

११२६. निकटे वसति ४।४।७३

नैकटिको भिक्षुः।

।। इति ठगधिकारः।।

प०वि०—निकटे ७।१।। वसति क्रियापद।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तत्र, ठक्।

अर्थ—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से **'निकटे वसति'** (समीप में रहता है) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'ठक्'** प्रत्यय होता है।

नैकटिकः—सप्तम्यन्त 'निकट+ङि' से 'समीप में रहता है' अर्थ में 'निकटे वसति' से 'ठक्' प्रत्यय, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति का लुक्, 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक', 'किति च' से आदि 'अच्' इकार को वृद्धि, 'यस्येति च' से अकार-लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'नैकटिकः' बनता है।

।। ठगधिकार-प्रकरण समाप्त ।।

अथ यदधिकारः

११२७. प्राग्घिताद् यत् ४।४।७५

तस्मै हितमित्यतः प्राग् यदधिक्रियते।

प०वि०–प्राग् अ०।। हिताद् ५।१।। यत् १।१।।

यह अधिकार सूत्र है–'तस्मै हितम्' (५.१.५) से पहले तक 'यत्' प्रत्यय का अधिकार जाता है।

११२८. तद्वहति रथ-युग-प्रासङ्गम् ४।४।७६

रथं वहति-रथ्यः। युग्यः। प्रासङ्ग्यः।

प०वि०–तत् २।१।। वहति[1]।। रथयुगप्रासङ्गम् २।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, यत्।

अर्थ–द्वितीयान्त समर्थ **'रथ'**, **'युग'** और **'प्रासङ्ग'** प्रातिपदिकों से **'वहति'** (वहन करता है) अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'यत्'** प्रत्यय होता है।

रथ्यः, युग्यः, प्रासङ्ग्यः–द्वितीयान्त रथ, युग एवं प्रासङ्ग से प्रकृत सूत्र से 'यत्' प्रत्यय, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्रति०' से विभक्ति-लुक्, 'यस्येति च' से अकार का लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति आदि होकर क्रमशः 'रथ्यः', 'युग्यः' एवं 'प्रासङ्ग्यः' रूप सिद्ध होते हैं।

रथ्यः–रथ को वहन करने वाला (घोड़ा)।

युग्यः–'युग' अर्थात् जूआ-धारण करने वाला (घोड़ा)।

प्रासङ्ग्यः–नाथने के समय कन्धे पर काष्ठ के विशेष भार को वहन करने वाला (बछड़ा) आदि।

११२९. धुरो यड्ढकौ ४।४।७७

हलि चेति दीर्घे प्राप्ते-

प०वि०–धुरः ५।१।। यड्ढकौ १।२।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, वहति।

अर्थ–द्वितीयान्त समर्थ **'धुर्'** प्रातिपदिक से **'वहति'** (वहन करता है) अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'यत्'** और **'ढक्'** प्रत्यय होते हैं।

विशेष–सूत्र का कार्य अग्रिम सूत्र के उदाहरणों में देखें।

1. यह क्रिया पद है।

११३०. न भकुर्छुराम् ८।२।७९

भस्य कुर्छुरोश्चोपधाया दीर्घो न स्यात्। धुर्यः। धौरेयः।

प०वि०–न अ०॥ भकुर्छुराम् ६।३॥ **अनु०**–र्वोरुपधायाः, दीर्घः।

अर्थ–भसंज्ञक रेफान्त और वकारान्त की तथा 'कुर्' और 'छुर्' की उपधा को दीर्घ नहीं होता। यथा–**धुर्यः**

धुर्यः	'धुरं वहति' (भार को वहन करने वाला)
धुर् अम्	'धुरो यड्ढकौ' से 'वहति' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय हुआ
धुर् अम् यत्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से 'अम्' का लुक् हुआ
धुर् य	'हलि च' से 'हल्' परे रहते रेफान्त की उपधा 'इक्' को दीर्घ प्राप्त था, 'यचि भम्' से 'धुर्' की 'भ' संज्ञा होने के कारण 'न भकुर्छुराम्' से भसंज्ञक की उपधा को दीर्घत्व का निषेध हो गया, स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु', रुत्व एवं विसर्ग होने पर
धुर्यः	रूप सिद्ध होता है।

धौरेयः–द्वितीयान्त 'धुर्+अम्' से 'धुरो यड्ढकौ' से 'ढक्' होने पर सुब्लुक्, 'आयनेयीनी०' से 'ढ्' को 'एय्' आदेश, 'किति च' से आदि 'अच्' को वृद्धि 'औ' तथा सुबुत्पत्ति होकर 'धौरेयः' रूप सिद्ध होता है।

११३१. नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यस्तार्य-तुल्य-प्राप्य-वध्याऽऽनाम्य-सम-समित-संमितेषु ४।४।९१

नावा तार्यम्–नाव्यम्। वयसा तुल्यः–वयस्यः। धर्मेण प्राप्यम्–धर्म्यम्। विषेण वध्यः–विष्यः। मूलेन आनाम्यम्–मूल्यम्। मूलेन समः–मूल्यः। सीतया समितम्–सीत्यम् क्षेत्रम्। तुलया संमितम्–तुल्यम्।

प०वि०–नौ-वयो........तुलाभ्यः ५।३॥ तार्य......संमितेषु ७।३॥ **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, यत्।

अर्थ–तृतीयान्त समर्थ **'नौ'**, **'वयस्'**, **'धर्म'**, **'विष'**, **'मूल'**, **'मूल'**, **'सीता'**, और **'तुला'**–इन आठ प्रातिपदिकों से क्रमशः **'तार्य'** (पार करने योग्य), **'तुल्य'** (समान), **'प्राप्य'** (प्राप्त करने योग्य), **'वध्य'** (वध करने योग्य), **'आनाम्य'** (प्राप्त होने वाला लाभांश), **'सम'** (बराबर), **'समित'** (समतल, बराबर किया हुआ) और **'संमित'** (नापा हुआ समान) अर्थों में तद्धितसंज्ञक **'यत्'** प्रत्यय होता है। यथा–'नाव्यम्' इत्यादयः।

नाव्यम्	(नावा तार्यम्)
नौ टा	'नौवयोधर्म०' से 'तार्य' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय हुआ
नौ टा यत्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से तद्धितान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से 'टा' का लुक् हुआ

नौ य — 'वान्तो यि प्रत्यये' से यकारादि प्रत्यय परे रहते 'औ' को 'आव्' आदेश हुआ

नाव्य — स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु', अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर

नाव्यम् — रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'वयस्यः'**, **'धर्म्यम्'** आदि में तृतीयान्त समर्थ **वयस्, धर्म** आदि से 'तुल्य' आदि अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होकर अकारान्त तथा आकारान्त शब्दों के 'अ' और 'आ' का 'यस्येति च' से लोप आदि कार्य जानें।

११३२. तत्र साधुः ४।४।९८

अग्रे साधुः-अग्र्यः। सामसु साधुः-सामन्यः।

'१०२०-ये चाऽभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावः। कर्मण्यः शरण्यः।

प०वि०—तत्र अ०।। साधुः १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, यत्।

अर्थ—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से **'साधु'** (निपुण, योग्य) अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'यत्' प्रत्यय होता है।

अग्र्यः—(अग्रे साधुः) सप्तम्यन्त 'अग्र+ङि' से 'तत्र साधुः' से 'साधु' अर्थ में 'यत्', 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक होकर 'यस्येति च' से 'अ' का लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'अग्र्यः' सिद्ध होता है।

सामन्यः—(सामसु साधुः) सप्तम्यन्त 'सामन्+सुप्' से 'यत्', 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक होकर 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'नस्तद्धिते' से 'टि' भाग का लोप प्राप्त था, जिसे बाधकर 'ये चाऽभावकर्मणोः' से भाव-कर्म भिन्न यकारादि तद्धित परे रहते 'अन्' को प्रकृतिभाव हुआ, स्वाद्युत्पत्ति आदि होकर 'सामन्यः' रूप सिद्ध होता है।

कर्मण्यः, शरण्यः—इसी प्रकार 'कर्मणि साधु'—**'कर्मण्यः'** तथा 'शरणे साधुः'—**'शरण्यः'** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

११३३. सभाया यः ४।४।१०५

सभ्यः।

॥ इति यतोऽवधिः॥

प०वि०—सभायाः ५।१।। यः १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तत्र, साधुः।

अर्थ—सप्तम्यन्त **'सभा'** प्रातिपदिक से **'साधुः'** (निपुण, योग्य) अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'य' प्रत्यय होता है। यथा-सभ्यः।

सभ्यः—(सभायां साधुः) सप्तम्यन्त 'सभा+ङि' से 'सभाया यः' से 'य' होकर पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से 'ङि' का लुक् तथा 'आ' का 'यस्येति च' से लोप होने पर 'सु' आदि आकर 'सभ्यः' रूप सिद्ध होता है।

॥ यदधिकार-प्रकरण समाप्त ॥

अथ छयतोरधिकारः

११३४. प्राक् क्रीताच्छः ५।१।१

तेन क्रीतमित्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते।

प०वि०–प्राक् अ०।। क्रीतात् ५।१।। छः १।१।।

अर्थ–यह अधिकार सूत्र है। 'क्रीत' अर्थात् 'तेन क्रीतम्' ५।१।३७ से पहले 'छ' प्रत्यय का अधिकार जाता है।

११३५. उगवादिभ्यो यत् ५।१।२

प्राक् क्रीतादित्येव। उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च यत् स्यात्। छस्याऽपवादः। शङ्कवे हितम्-शङ्कव्यम् दारु। गव्यम्। (वा०)-नाभि नभं च। नभ्यः अक्षः। नभ्यम् अञ्जनम्।

प०वि०–उगवादिभ्यः ५।३।। यत् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्राक्, क्रीतात्।

अर्थ–उवर्णान्त तथा गवादिगण में पठित प्रातिपदिकों में **'तेन क्रीतम्'** से पहले निर्दिष्ट अर्थों में तद्धितसंज्ञक **'यत्'** प्रत्यय होता है।

यह सूत्र पूर्व सूत्र से प्राप्त 'छ' प्रत्यय का अपवाद है। यथा–

शङ्कव्यम्–'शङ्कवे हितम्' यहाँ चतुर्थी समर्थ 'शङ्कु+ङे' से प्रकृत सूत्र से 'तस्मै हितम्' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'ओर्गुणः' से गुण तथा 'वान्तो यि प्रत्यये' से अवादेश होने पर प्रथमा विभक्ति के एकवचन नपुंसकलिङ्ग में 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'शङ्कव्यम्' रूप सिद्ध होता है।

गव्यम्–इसी प्रकार 'गव्यम्' में भी चतुर्थ्यन्त 'गो' शब्द से 'यत्' होने पर सिद्धि-प्रक्रिया (१११२) के समान जानें।

(वा०) नाभि नभं च–अर्थ–'नाभि' शब्द से भी **'यत्'** प्रत्यय होता है तथा **'नाभि'** के स्थान पर **'नभ'** आदेश भी होता है।

नभ्यः–'नाभये हितः' और **नभ्यम्**–'नाभये हितम्' में चतुर्थ्यन्त 'नाभि+ङे' से 'यत्' प्रत्यय तथा 'नाभि' को 'नभ' आदेश, विभक्ति-लुक्, 'यस्येति च' से अकार-लोप होकर पुल्लिग में 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होकर **'नभ्यः'** तथा नपुंसकलिङ्ग में 'सु'

को 'अतोऽम्' से 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर **'नभ्यम्'** रूप सिद्ध होते हैं।

११३६. तस्मै हितम् ५।१।५

वत्सेभ्यो हितः-वत्सीयो: गोधुक्।

प०वि०—तस्मै ४।१।। हितम् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिता:, छ:।

अर्थ—चतुर्थ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से **'हितकर'** अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'छ'** प्रत्यय होता है।

वत्सीयः—'वत्सेभ्यो हित:'। चतुर्थ्यन्त 'वत्स +भ्यस्' से 'तस्मै हितम्' से 'हितकर' अर्थ में 'छ' प्रत्यय, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक्, 'आयनेयीनी०' से 'छ्' को 'ईय्' आदेश, 'यचि भम् से 'भ' संज्ञा और 'यस्येति च' से अकार-लोप होने पर 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर 'वत्सीयः' रूप सिद्ध होता है।

११३७. शरीराऽवयवाद् यत् ५।१।६

दन्त्यम्। कण्ठ्यम्। नस्यम्।

प०वि०—शरीराऽवयवात् ५।१।। यत् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिता:, तस्मै, हितम्।

अर्थ—शरीर के अवयववाची चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिकों से **'हितम्'** (हितकारी) अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'यत्'** प्रत्यय होता है।

दन्त्यम्—'दन्तेभ्यः हितम्' चतुर्थ्यन्त 'दन्त+भ्यस्' से प्रकृत सूत्र से 'यत्' प्रत्यय, विभक्ति-लुक्, 'यस्येति च' से अकार-लोप, 'सु' को अमादि होकर 'दन्त्यम्' रूप सिद्ध होता है।

कण्ठ्यम्—'कण्ठाय हितम्'--'कण्ठ+ङे' से 'शरीरावयवाद्यत्' से 'यत्' प्रत्यय होकर पूर्ववत् 'कण्ठ्यम्' रूप सिद्ध होता है।

नस्यम्	'नासिकायै हितम्' (नासिका के लिए हितकर)।
नासिका ङे	'शरीरावयवाद्यत्' से चतुर्थ्यन्त 'नासिका' से 'तस्मै हितम्' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय हुआ
नासिका ङे यत्	अनुबन्ध-लोप
नासिका ङे य	'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति का लुक् हुआ
नासिका य	'नस् नासिकाया यत्-तस्-क्षुद्रेषु' वार्तिक से 'यत्' परे रहते 'नासिका' को 'नस्' आदेश हुआ
नस् य	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
नस्य सु	'अतोऽम्' से अदन्त नपुंसक से उत्तर 'सु' को अम्' आदेश हुआ

मध्य अम् 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
मध्यम् रूप सिद्ध होता है।

११३८. आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् खः ५।१।९

प०वि०—आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् ५।१।। खः १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्मै हितम्।

अर्थ—चतुर्थ्यन्त **'आत्मन्'**, **'विश्वजन'** और **भोग-उत्तरपद वाले** प्रातिपदिकों से **'हितम्'** (हितकारी) अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'ख'** प्रत्यय होता है।

११३९. आत्माऽध्वानौ खे ६।४।१६९

एतौ खे प्रकृत्या स्तः। आत्मने हितम्—आत्मनीनम्। विश्वजनीनम्। मातृभोगीणः।

इति छयतोरधिकारः।

प०वि०—आत्माध्वानौ १।२।। खे ७।१।। **अनु०**—प्रकृत्या।

अर्थ—**'ख'** प्रत्यय परे रहते **'आत्मन्'** और **'अध्वन्'** शब्द **प्रकृति से** रहते हैं। अर्थात् उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

आत्मनीनम्—'आत्मने हितम्', चतुर्थ्यन्त 'आत्मन्+ङे' से 'आत्मन्-विश्वजन०' से 'ख' प्रत्यय, विभक्ति-लुक्, 'आत्माध्वानौ खे' से 'ख' परे रहते 'आत्मन्' को प्रकृति-भाव होने पर 'नस्तद्धिते' से 'टि' लोप नहीं होता। पूर्ववत् 'आयनेयीनीयिय०' से 'ख' को 'ईन' आदेश, सुबुत्पत्ति, 'सु' प्रत्यय, 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'आत्मनीनम्' रूप सिद्ध होता है।

विश्वजनीनम्—'विश्वजनेभ्यो हितम्' (सबके लिए हितकर), चतुर्थ्यन्त 'विश्वजन+भ्यस्' से 'आत्मन्-विश्वजन०' से 'ख' प्रत्यय, सुप्-लुक्, 'आयनेयीनी०' से 'ख' को 'ईन्', 'यस्येति च' से अकार-लोप, स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु', 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'विश्वजनीनम्' रूप सिद्ध होता है।

मातृभोगीणः—'मातृभोगाय हितः' (माता के शरीर के लिए हितकर) चतुर्थ्यन्त 'मातृभोग+ङे' से पूर्ववत् 'ख' प्रत्यय, सुप्-लुक्, 'ख' को 'ईन्' आदेश, प्र० वि० एक व० में 'सु' आकर सकार को रुत्व और विसर्ग होने पर 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से णत्व होकर 'मातृभोगीणः' रूप सिद्ध होता है।

॥ छ और यत्-अधिकार-प्रकरण समाप्त ॥

अथ ठञधिकार:

११४०. प्राग्वतेष्ठञ् ५।१।१८

तेन तुल्यमिति वतिं वक्ष्यति, ततः प्राक् ठञधिक्रियते।

प०वि०—प्राक् अ०।। वतेः ५।१।। ठञ् १।१।।

'प्राग्वते०' सूत्र से आरम्भ करके 'तेन तुल्यम्०' सूत्र से पूर्व सूत्र तक 'ठञ्' प्रत्यय का अधिकार है। अर्थात् प्रकृत सूत्र से प्रारम्भ करके 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति' (५।१।१५) से पहले तक जिन-अर्थों को कहा गया है उन सभी अर्थों में 'ठञ्' प्रत्यय होता है।

११४१. तेन क्रीतम् ५।१।३७

सप्तत्या क्रीतम्–साप्ततिकम्। प्रास्थिकम्।

प०वि०–तेन ३।१।। क्रीतम् १।१।। अनु०–प्रातिपदिकात्।

अर्थ–तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से **'क्रीतम्'** (खरीदा हुआ) इस अर्थ में यथाविहित 'ठञ्' आदि प्रत्यय होते हैं।

साप्ततिकम्	'सप्तत्या क्रीतम्' (सत्तर से खरीदी हुई वस्तु)
सप्तति टा ठञ्	'प्राग्वतेष्ठञ्' से 'तेन क्रीतम्' अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय, 'कृत्तद्धित०' से तद्धितान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से सुब्लुक्, अनुबन्ध-लोप, 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक' आदेश हुआ
सप्तति इक	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से इकार-लोप, 'तद्धितेष्व०' से ञित् तद्धित परे रहते आदि अच् को वृद्धि, प्रथमा-एकवचन में 'सु' प्रत्यय, 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
साप्ततिकम्	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'प्रस्थेन क्रीतम्'– **'प्रास्थिकम्'** रूप सिद्ध होता है।

११४२. तस्येश्वरः ५।१।४२

सर्वभूमि-पृथिवीभ्यामणञौ स्तः।

प०वि०–तस्य ६।१।। ईश्वरः १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ '**सर्वभूमि**' और '**पृथिवी**' प्रातिपदिकों से '**ईश्वर**' (स्वामी) अर्थ में तद्धितसंज्ञक क्रमशः '**अण्**' और '**अञ्**' प्रत्यय होते हैं।

११४३. अनुशतिकादीनां च ७।३।२०

एषामुभयपदवृद्धिर्ञिति णिति किति च तद्धिते। सर्वभूमेरीश्वरः- सार्वभौमः। पार्थिवः।

प०वि०—अनुशतिकादीनाम् ६।३।। च अ०।। **अनु०**—वृद्धिः, ञ्णिति, तद्धितेषु, अचामादेः, किति, उत्तरपदस्य, पूर्वपदस्य।

अर्थ—अनुशतिकादि शब्दों के पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों के आदि अचों को वृद्धि होती है, ञित्, णित् और कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते।

सार्वभौमः	'सर्वभूमेरीश्वरः' (सम्पूर्ण पृथिवी का स्वामी)
सर्वभूमि ङस्	'तस्येश्वरः' से 'ईश्वर' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हुआ
सर्वभूमि ङस् अण्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से 'ङस्' का लुक् हुआ
सर्वभूमि अ	यहाँ 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' को वृद्धि प्राप्त थी, जिसे बाधकर 'अनुशतिकादीनां च' से पूर्वपद (सर्व) और उत्तरपद (भूमि) के आदि अचों की वृद्धि हो गई
सार्व भौमि अ	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा, 'यस्येति च' से इकार-लोप तथा स्वाद्युत्पत्ति से 'सु', रुत्व तथा विसर्ग होकर
सार्वभौमः	रूप सिद्ध होता है।

पार्थिवः-(पृथिव्या ईश्वरः) में षष्ठ्यन्त 'पृथिवी+ङस्' से 'तस्येश्वरः' से 'अञ्', 'सुपो धातुप्राति०' से 'ङस्' का लुक्, 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' को वृद्धि, 'यस्येति च' से अकार-लोप तथा सुबुत्पत्ति होकर 'पार्थिवः' रूप सिद्ध होता है।

११४४. पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशत्-चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तत्यशीति-नवति-शतम् ५।१।५९

एते रूढिशब्दाः निपात्यन्ते।

प०वि०—पङ्क्ति.......शतम्। १।१।। **अनु०**—तदस्य परिमाणम्।

अर्थ—'वह परिमाण है इसका' इस अर्थ में **पङ्क्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति** और **शतम्** शब्द **निपातन** से सिद्ध होते हैं।

पङ्क्तिः—'पञ्च परिमाणमस्य' (पाँच इसका परिमाण है)।

'पञ्चन्+जस्' से 'ति' प्रत्यय, सुब्लुक्, 'टि' भाग का लोप, 'चोः कुः' से कुत्व, 'नश्चापदान्तस्य०' से अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्ण होकर, स्वाद्युत्पत्ति से 'सु', 'सु' के सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'पङ्क्तिः' रूप सिद्ध होता है।

विंशतिः–(बीस) '**द्वौ दशतौ परिमाणमस्य संघस्य**' (दो दशक परिमाण है जिस समूह का)

'द्विदशत्' शब्द से 'शतिच्' प्रत्यय, 'द्विदशत्' को 'विन्' आदेश तथा 'नश्चापदान्तस्य' से 'न्' को अनुस्वार होकर 'विंशति' बनने पर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर 'विंशतिः' रूप सिद्ध होता है।

त्रिंशत्–(तीस) '**त्रयो दशतः परिमाणमस्य संघस्य**' (तीन दशक परिमाण है जिस समूह का)

'त्रिदशत्' से निपातन से 'शत्' प्रत्यय तथा 'त्रिदशत्' को 'त्रिन्' आदेश, नकार को अनुस्वार होकर 'त्रिंशत्' बनने पर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर हल्ङ्यादि लोप होकर 'त्रिंशत्' रूप सिद्ध होता है।

चत्वारिंशत् (चालीस) '**चत्वारो दशतः परिमाणमस्य संघस्य**' (चार दशक परिमाण है जिस समूह का)। 'चतुर्दशत्' से 'शत्' प्रत्यय तथा 'चतुर्दशत्' को 'चत्वारिन्' आदेश शेष कार्य 'त्रिंशत्' के समान होकर 'चत्वारिंशत्' रूप सिद्ध होता है।

पञ्चाशत् (पचास) '**पञ्च दशतः परिमाणमस्य संघस्य**'। यहाँ भी 'पञ्चदशत्' को 'पञ्चा' आदेश, 'शत्' प्रत्यय आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'पञ्चाशत्' रूप सिद्ध होता है।

षष्टिः–(साठ) '**षड् दशतः परिमाणमस्य संघस्य**'–

'षड्दशत्' शब्द से 'ति' प्रत्यय, 'षड्दशत्' को निपातन से 'षष्' आदेश, जश्त्व का अभाव तथा 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु', रुत्व तथा विसर्ग होकर 'षष्टिः' रूप सिद्ध होता है।

सप्ततिः–(सत्तर) '**सप्त दशतः परिमाणमस्य संघस्य**'–

'सप्तदशत्' से 'ति' प्रत्यय तथा 'सप्तदशत्' को 'सप्त' आदेश होकर 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होने पर 'सप्ततिः' रूप सिद्ध होता है।

अशीतिः–(अस्सी) '**अष्टौ दशतः परिमाणमस्य संघस्य**'–

'अष्टदशत्' से 'ति' प्रत्यय तथा 'अष्टदशत्' को 'अशी' आदेश होकर पूर्ववत् 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होकर 'अशीतिः' बनता है

नवतिः–(नब्बे) '**नव दशतः परिमाणमस्य संघस्य**'–

'नवदशत्' से 'ति' प्रत्यय तथा 'नवदशत्' को 'नव' आदेश होने पर पूर्ववत् 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होने पर 'नवतिः' रूप सिद्ध होता है।

शतम्–(सौ) '**दश दशतः परिमाणमस्य संघस्य**'

'दशदशत्' से 'त' प्रत्यय तथा 'दशदशत्' को 'श' आदेश होकर 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश आदि होकर 'शतम्' रूप सिद्ध होगा।

११४५. तदर्हति ५।१।६३

लब्धुं योग्यो भवति-इत्यर्थे द्वितीयान्तात् ठञादयः स्युः। श्वेतच्छत्रमर्हति-श्वैतच्छत्रिकः।

प०वि०—तत् २।१।। अर्हति[1]।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, ठञ्।

अर्थ—द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से **'अर्हति'** (प्राप्त करने योग्य है) अर्थ में यथा-विहित तद्धित-संज्ञक **'ठञ्** आदि प्रत्यय होते हैं।

श्वैतच्छात्रिकः	'श्वेतच्छत्रमर्हति' (श्वेतच्छत्र प्राप्त करने योग्य है)
श्वेतच्छत्र अम्	'तदर्हति' अर्थ में 'प्राग्वतेष्ठञ्' से 'ठञ्' हुआ
श्वेतच्छत्र अम् ठञ्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से 'अम्' का लुक् हुआ
श्वेतच्छत्र ठ	'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक' आदेश, 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' (ए) को वृद्धि (ऐ) और 'यस्येति च' से अकार का लोप हुआ
श्वैतच्छत्रिक	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर
श्वैतच्छत्रिकः	रूप सिद्ध होता है।

११४६. दण्डादिभ्यो यत् ५।१।६६

एभ्यो यत् स्यात्। दण्डमर्हति-दण्ड्यः। अर्घ्यः। वध्यः।

प०वि०—दण्डादिभ्यः ५।३।। यत् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तदर्हति।

अर्थ—दण्डादि गण में पठित द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'अर्हति' (प्राप्त करने योग्य है) अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'यत्'** प्रत्यय होता है।

दण्ड्यः—(दण्डमर्हति) द्वितीयान्त 'दण्ड+अम्' से 'दण्डादिभ्यो यत्' से 'यत्' 'सुपो धातु०' से विभक्ति का लुक्, 'यस्येति च' से अकार-लोप, 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर 'दण्ड्यः' बनेगा।

इसी प्रकार 'अर्घमर्हति'-**'अर्घ्यः'** तथा 'वधमर्हति'-**'वध्यः'** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

११४७. तेन निर्वृत्तम् ५।१।७९

अह्ना निर्वृत्तम्-आह्निकम्।

।। इति ठञोऽधिकारः ।।

प०वि०—तेन ३।१।। निर्वृत्तम् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, काला ठञ्।

१. यह क्रिया पद है।

अर्थ–तृतीयान्त समर्थ कालवाचक प्रातिपदिक से '**निर्वृत**' (सिद्ध किया हुआ) अर्थ में तद्धित-संज्ञक '**ठञ्**' प्रत्यय होता है।

आह्निकम्	'अह्ना निर्वृत्तम्' (एक दिन में सिद्ध किया गया)
अहन् टा	'तेन निर्वृत्तम्' से तृतीयान्त समर्थ काल-वाचक से 'ठञ्' प्रत्यय हुआ
अहन् टा ठञ्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित॰' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु॰' से 'टा' का लुक्
अहन् ठ	'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक' आदेश हुआ
अहन् इक	'नस्तद्धिते' से 'टि' भाग का लोप प्राप्त हुआ जिसका 'अह्नष्टखोरेव' नियम से निषेध हो गया। 'अल्लोपोऽनः' से अन्नन्त भसंज्ञ के 'अ' का लोप तथा 'तद्धितेष्व॰' से आदि अच् को वृद्धि हुई
आह् न् इक	पूर्ववत् प्र॰ वि॰, एक व॰ में 'सु' आकर, 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर रूप सिद्ध होता है।
आह्निकम्	

॥ ठञधिकार-प्रकरण समाप्त॥

अथ भावकर्मार्थाः

११४८. तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५।१।११५

ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवद् अधीते। क्रिया चेदिति किम्? गुणतुल्ये मा भूत्-पुत्रेण तुल्यः स्थूलः।

प०वि०—तेन ३।१।। तुल्यम् १।१।। क्रिया १।१।। चेत् अ०।। वतिः १।१। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः।

अर्थ—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से क्रिया की समानता होने पर तद्धितसंज्ञक **'वति'** प्रत्यय होता है। यथा:-ब्राह्मणवदधीते।

ब्राह्मणवत्	'ब्राह्मणेन तुल्यम् अधीते' (ब्राह्मण के समान पढ़ता है)
ब्राह्मण टा	'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति' से अध्ययन क्रिया की समानता के कारण तृतीयान्त 'ब्राह्मण' से 'वति' प्रत्यय हुआ
ब्राह्मण टा वति	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से 'टा' का लुक् हुआ
ब्राह्मणवत्	स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' से वति प्रत्ययान्त की 'अव्यय' संज्ञा होने के कारण 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होने पर
ब्राह्मणवत्	रूप सिद्ध होता है।

क्रियाचेदिति किम्—सूत्र में **'क्रिया चेद्'** कहने का प्रयोजन यह है कि जहाँ तुल्यता (समानता) क्रिया के कारण न होकर अन्य गुण के कारण हो तो वहाँ 'वति' प्रत्यय न हो। जैसे—'पुत्रेण तुल्यः स्थूलः' में क्रिया की समानता न होने से 'वति' नहीं होता।

११४९. तत्र तस्येव ५।१।११६

मथुरायामिव-मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। चैत्रस्येव चैत्रवन्मैत्रस्य गावः।

प०वि०—तत्र अ०।। तस्य ६।१।। इव अ०।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वतिः।

अर्थ—'तत्र' अर्थात् सप्तम्यन्त समर्थ और 'तस्य' अर्थात् षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से **'इव'** (समान) अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'वति'** प्रत्यय होता है।

मथुरावत्– 'मथुरायामिव'[1] यहाँ 'मथुरायाम्' में अधिकरण में सप्तमी नहीं है अपितु, षष्ठी विभक्ति के अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। (मथुरा के समान) सप्तम्यन्त 'मथुरा+ङि' से 'तत्र तस्येव' से 'वति' प्रत्यय, 'सुपो धातु०' से 'ङि' का लुक् होने पर 'ब्राह्मणवत्' (११४८) के समान 'मथुरावत्' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

इसी प्रकार 'चैत्रस्येव'–**'चैत्रवत्'** षष्ठ्यन्त समर्थ 'चैत्र+ङस्' से 'वति' प्रत्यय होकर 'चैत्रवत्' की सिद्धि–प्रक्रिया जानें।

११५०. तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११९

प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः। गोर्भावो–गोत्वम्, गोता। 'त्वान्तं क्लीबम्'। 'तलन्तं स्त्रियाम्'।

प०वि०–तस्य ६।१।। भावः १।१।। त्वतलौ १।२।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः।

अर्थ–षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'भावः' (भाव) अर्थ में तद्धित–संज्ञक 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय होते हैं।

प्रकृतिजन्य०–'त्व' और 'तल्' प्रत्ययों के जो प्रकृतिभूत शब्द होते हैं उनसे उत्पन्न होने वाले बोध में जो, जाति आदि विशेषण के रूप में अवभाषित होते हैं वे विशेषण 'भाव' शब्द से जाने जाते हैं। जैसे–'मनुष्यत्व' में 'त्व' प्रत्यय की प्रकृति 'मनुष्य' शब्द है उससे दो हाथ और दो पैर वाले व्यक्तवाणी के स्वामी एक प्राणी का बोध होता है। जिसमें मनुष्यत्वरूप जाति उसके विशेषण के रूप में अवभाषित होती है वह जाति ही प्रकृत उदाहरण में 'भाव' शब्द से अभिप्रेत होगी।

गोत्वम्–'गोर्भावो गोत्वम्' भाव अर्थ में षष्ठ्यन्त 'गो' शब्द से 'त्व' प्रत्यय होकर 'नपुंसकलिङ्ग एकवचवन में 'गोत्वम्' रूप सिद्ध होता है।

गोता–षष्ठ्यन्त 'गो' शब्द से 'भाव' अर्थ में 'तल्' प्रत्यय होकर स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय, 'सु' प्रत्यय, 'सु' के सकार का हल्ङ्यादि लोप होकर 'गोता' रूप सिद्ध होता है।

११५१. आ च त्वात् ५।१।१२०

'ब्रह्मणस्त्वः' इत्यतः प्राक् त्वतलावधिक्रियेते। अपवादैः सह समावेशार्थमिदम्। चकारो नञ्–स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः। स्त्रिया भावः–स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता। पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता।

प०वि०–आ अ०।। च अ०।। त्वात् ५।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्य भावः, त्वतलौ।

---

1. अत्र मथुरायामिवेति नाधिकरणसप्तमी। तथा सति विद्यमानेति क्रियापदसापेक्षतया असामर्थ्यात्। अत एव अस्मादेव सूत्रनिर्देशादिवशब्दयोगे षष्ठ्यर्थे सप्तमीति भाष्यं संगच्छते। (बा० म०)

'ब्रह्मणस्त्वः' (५।१।१३७) सूत्र से पहले-पहले 'त्व' और 'तल्' प्रत्ययों का अधिकार जाता है। अर्थात् 'ब्रह्मणस्त्वः' सूत्र से पहले जिन प्रत्ययों का विधान 'त्व' और 'तल्' के अपवाद के रूप में किया गया वे प्रत्यय 'त्व' और 'तल्' के बाधक नहीं होते, अपितु 'त्व' और 'तल्' के साथ ही वैकल्पिक रूप से उनका भी विधान होता है।

अर्थ—**'भाव'** अर्थ में षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से तद्धितसंज्ञक **'त्व'** और **'तल्'** प्रत्यय होते हैं।

अपवादों के साथ उत्सर्गों के समावेश के लिए इस सूत्र का विधान किया गया है। सूत्र में चकार का ग्रहण **'नञ्'** और **'स्नञ्'** के समावेश के लिए है, जिससे स्त्रिया भावः-'स्त्रीत्वम्' और 'स्त्रीता' के साथ 'स्त्रैणम्' भी बन सके। इसी प्रकार 'पुंस्' शब्द से 'पौंस्नम्', 'पुंस्ता' और 'पुंस्त्वम्' तीनों रूप बन सकें।

स्त्रिया भावः— **'स्त्रैणम्'** में षष्ठ्यन्त समर्थ 'स्त्री+ङस्' से 'भाव' अर्थ मे 'स्त्रीपुंसाभ्याम् नञ्०' से 'नञ्' प्रत्यय होने पर सिद्धि-प्रक्रिया (१०००) के समान जानें।

'पौंस्नः' में भी 'पुंस्' शब्द से 'भाव' अर्थ में 'स्नञ्' प्रत्यय होकर सिद्धि-प्रक्रिया (१०००) के समान जानें।

११५२. पृथ्वादिभ्यः इमनिज् वा ५।१।१२२

वा-वचनमणादिसमावेशार्थम्।

प०वि०—पृथ्वादिभ्यः ५।३।। इमनिच् १।१।। वा अ०।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्य, भावः।

अर्थ— **'पृथु'** आदि गण में पठित षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से **'भाव'** अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'इमनिच्'** प्रत्यय विकल्प से होता है।

सूत्र में 'वा' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' (११५५) आदि सूत्र से प्राप्त होने वाला 'अण्' भी हो सके।

११५३. र ऋतो हलादेर्लघोः ६।४।१६१

हलादेर्लघोर्ऋकारस्य रः स्यात् इष्ठेमेयस्सु परतः।

(वा०)—पृथु-मृदु-भृश-कृश-दृढ-परिवृढानामेव रत्वम्।

प०वि०—रः १।१।। ऋतः ६।१।। हलादेः ६।१।। लघोः ६।१।। **अनु०**— इष्ठेमेयस्सु, अङ्गस्य।

अर्थ—हलादि अङ्ग के **लघु ऋकार** के स्थान में **'र'** आदेश होता है **'इष्ठन्'**, **'इमनिच्'** और **'ईयसुन्'** प्रत्यय परे रहते।

(वा०) पृथुमृथु०-अर्थ—'र ऋतो०' से **ऋकार** के स्थान में होने वाला 'र' आदेश केवल **पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ** और **परिवृढ** शब्दों के ऋकार के स्थान में ही होता है, अन्यत्र नहीं।

११५४. टे: ६।४।१५५

भस्य टेर्लोप: इष्ठमेयस्सु। पृथोर्भाव:—प्रथिमा, पार्थवम्, म्रदिमा, मार्दवम्।

प०वि०—टे: ६।१।। **अनु०**—इष्ठमेयस्सु, अङ्गस्य, भस्य।

अर्थ—'**इष्ठन्**', '**इमनिच्**' और '**ईयसुन्**' प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक अङ्ग के '**टि**' भाग का लोप होता है।

प्रथिमा	'**पृथोर्भाव:**' (विस्तार, विशालता आदि)
पृथु ङस्	'पृथ्वादिभ्य:०' से 'भाव' अर्थ में 'इमनिच्' प्रत्यय हुआ, अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से सुब्लुक् हुआ
पृथु इमन्	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'टे:' से 'इमनिच्' परे रहते भसंज्ञक के 'टि' भाग 'उ' का लोप हुआ
पृथ् इमन्	'र ऋतो हलादे:०' से 'इमनिच्' परे रहते हलादि अङ्ग के लघु ऋकार को 'र' आदेश हुआ
पर थ् इमन्	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
प्रथिमन् सु	अनुबन्ध-लोप, 'सुडनपुंसकस्य' से 'सु' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा, 'सर्वनामस्थाने चा०' से नकारान्त की उपधा को दीर्घ और 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के 'अपृक्त' सकार का लोप हुआ
प्रथिमान्	'न लोप: प्रातिपदिकान्तस्य' से 'न्' का लोप होकर
प्रथिमा	रूप सिद्ध होता है।

११५५. इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ५।१।१३१

पार्थवम्, म्रदिमा, मार्दवम्।

प० वि०—इगन्तात् ५।१।। च अ०।। लघुपूर्वात् ५।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिता:, तस्य, भाव:, कर्मणि।

अर्थ—लघु वर्ण पूर्व में है जिसके ऐसे इगन्त षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से '**भाव**' और '**कर्म**' अर्थ में तद्धित-संज्ञक '**अण्**' प्रत्यय होता है।

'मृदु' शब्द से **म्रदिमा** की सिद्धि-प्रक्रिया 'प्रथिमा' (११५४) के समान जानें।

पार्थवम्—'पृथोर्भाव:', षष्ठ्यन्त 'पृथु+ङस्' शब्द से 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात् से' 'अण्' प्रत्यय, विभक्तियों का लुक्, 'ओर्गुण:' से गुण, अवादेश और सुबुत्पत्ति होकर 'पार्थवम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'मृदु' से 'अण्' प्रत्यय होने पर '**मार्दवम्**' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

११५६. वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च ५।१।१२३

चाद् इमनिच्। शौक्ल्यम्, शुक्लिमा। दार्ढ्यम्। द्रढिमा।

प०वि०—वर्णदृढादिभ्यः ५।३।। ष्यञ् १।१।। च अ०।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्य, भावः।

अर्थ—वर्ण अर्थात् रंगवाचक और दृढादि गण में पठित षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से '**भाव**' अर्थ में तद्धितसंज्ञक '**ष्यञ्**' और '**इमनिच्**' प्रत्यय होते हैं।

शौक्ल्यम्–'शुक्लस्य भावः', षष्ठ्यन्त 'शुक्ल+ङस्' से 'वर्णदृढादि०' से 'ष्यञ्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप, विभक्ति-लुक्, 'यस्येति च' से अकार-लोप, 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' को वृद्धि, 'सु' को अमादि होकर 'शौक्ल्यम्' रूप सिद्ध होता है।

शुक्लिमा	**शुक्लस्य भावः**
शुक्ल ङस्	'वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च' से वर्ण (रंग) वाचक षष्ठ्यन्त से 'भाव' अर्थ में 'इमनिच्' प्रत्यय हुआ
शुक्ल ङस् इमनिच्	अनुबन्ध-लोप
शुक्ल ङस् इमन्	'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति (ङस्) का लुक् हुआ
शुक्ल इमन्	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'टेः' से 'इमनिच्' परे रहते 'टि' भाग (अ) का लोप हुआ
शुक्ल् इमन्	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
शुक्ल् इमन् सु	अनुबन्ध-लोप, 'सुडनपुंसकस्य' से 'सु' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते नकारान्त की उपधा को दीर्घ हुआ
शुक्ल् इमान् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के 'अपृक्त' सकार का लोप होने पर 'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप होकर
शुक्लिमा	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **दार्ढ्यम्** और **द्रढिमा** रूप सिद्ध होते हैं।

११५७. गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५।१।१२४

चाद्भावे। जडस्य भावः कर्म वा–जाड्यम्। मूढस्य भावः कर्म वा–मौढ्यम्। ब्राह्मण्यम्। आकृतिगणोऽयम्।

प०वि०—गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः ५।३।। कर्मणि ७।१।। च अ०।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्य भावः, ष्यञ्।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ ब्राह्मणादिगण में पठित 'ब्राह्मण' आदि तथा गुणवाचक प्रातिपदिकों से '**कर्म**' तथा '**भाव**' अर्थ में तद्धित-संज्ञक '**ष्यञ्**' प्रत्यय होता है।

जाड्यम्–'जडस्य भावः कर्म वा' (जड़–मूर्ख का कार्य या भाव)

'जड+ङस्' यहाँ 'गुणवचनब्राह्मणादि०' से 'ष्यञ्' प्रत्यय, अनुबन्ध–लोप, विभक्ति लुक्, 'यस्येति च' से अकार–लोप, 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि और सुबुत्पत्ति आदि कार्य होकर 'जाड्यम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार गुणवाचक 'मूढ' शब्द से **'मौढ्यम्'** तथा ब्राह्मणादि गण में पठित षष्ठ्यन्त समर्थ 'ब्राह्मण' शब्द से भाव तथा कर्म अर्थ में **'ब्राह्मण्यम्'** रूप सिद्ध होते हैं।

११५८. सख्युर्यः ५।१।१२६

सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम्।

प०वि०–सख्युः ५।१।। यः १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्य भावः, कर्मणि।

अर्थ–षष्ठ्यन्त समर्थ **'सखि'** प्रातिपदिक से **'भाव'** और **'कर्म'** अर्थ में तद्धित–संज्ञक 'य' प्रत्यय होता है।

सख्यम्–'सख्युर्भावः कर्म वा'। षष्ठ्यन्त 'सखि+ङस्' से प्रकृत सूत्र से 'य' प्रत्यय, विभक्ति–लुक्, 'यस्येति च' से इकार–लोप होकर 'सु' आने पर 'सु' को अमादेशादि कार्य होकर **सख्यम्** रूप सिद्ध होता है।

११५९. कपिज्ञात्योर्ढक् ५।१।१२७

कापेयम्। ज्ञातेयम्।

प०वि०–कपिज्ञात्योः ६।२।। ढक् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्य भावः, कर्मणि।

अर्थ–षष्ठ्यन्त समर्थ **'कपि'** और **'ज्ञाति'** प्रातिपदिकों से **'भाव'** और **'कर्म'** अर्थ में **'ढक्'** प्रत्यय होता है।

कापेयम्–'कपेः भावः कर्म वा'। षष्ठी–समर्थ 'कपि+ङस्' से 'कपिज्ञात्योर्ढक्' से 'ढक्' प्रत्यय, पूर्ववत् विभक्ति–लुक् आदि कार्य होकर 'आयनेयीनी०' से 'ढ्' को 'एय्' आदेश, 'किति च' से कित् तद्धित परे रहते आदि अच् को वृद्धि, 'यस्येति च' से इकार का लोप, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'कापेयम्' रूप सिद्ध होता है।

ज्ञातेयम्–'ज्ञातेः भावः कर्म वा' इसी प्रकार षष्ठ्यन्त समर्थ 'ज्ञाति+ङस्' से 'ज्ञातेयम्' रूप जानना चाहिए।

११६०. पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ५।१।१२८

सैनापत्यम्। पौरोहित्यम्।

।। इति भावकर्मार्थाः।।

प०वि०—पत्यन्तपुरोहितादिभ्यः ५।३।। यक् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्य भावः, कर्मणि।

अर्थ—पत्यन्त (पति अन्त वाले शब्द) और पुरोहितादिगण में पठित 'पुरोहित' आदि षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से **'भाव'** और **'कर्म'** अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'यक्'** प्रत्यय होता है।

सैनापत्यम्—'सेपापतेः कर्म भावो वा' (सेनापति का कार्य या भाव) 'सेनापति+ङस्' से 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यः यक्' से 'यक्' प्रत्यय, विभक्ति का लुक्, 'यस्येति च' से इकार-लोप, 'किति च' से आदि अच् को वृद्धि, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'सु' को अमादेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर **सैनापत्यम्** रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार पुरोहितादिगण में पठित 'पुरोहित' शब्द से 'यक्' प्रत्यय आदि होकर **'पौरोहित्यम्'** रूप सिद्ध होता है।

॥ भावकर्मार्थ-प्रकरण समाप्त ॥

अथ भवनाद्यर्थकाः

११६१. धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ५।२।१।

भवत्यस्मिन्निति भवनम्। मुद्गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम्।

प०वि०–धान्यानाम् ६।३।। भवने ७।१।। क्षेत्रे ७।१।। खञ् १।१।। अनु०–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः।।

अर्थ–षष्ठ्यन्त समर्थ धान्यवाचक प्रातिपदिक से **'भवनं क्षेत्रम्'** (भवन क्षेत्र) अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'खञ्'** प्रत्यय होता है।

मौद्गीनम्	'मुद्गानां भवनं क्षेत्रम्' (मूंग का भवन, खेत)
मुद्ग आम्	'धान्यानां भवने०' से धान्य वाचक 'मुद्ग' से 'भवनं क्षेत्रम्' अर्थ में 'खञ्' प्रत्यय हुआ
मुद्ग आम् खञ्	'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, अनुबन्ध-लोप, 'आयनेयीनी०' से 'ख्' को ईनादेश हुआ
मुद्ग ईन् अ	'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि 'अच्' को वृद्धि और 'यस्येति च' से अकार-लोप हुआ
मौद्गीन	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर
मौद्गीनम्	रूप सिद्ध होता है।

११६२. व्रीहिशाल्योर्ढक् ५।२।२

वैहेयम्। शालेयम्।

प०वि०–व्रीहिशाल्योः ६।२।। ढक् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, धान्यानाम्, भवने, क्षेत्रे।

अर्थ–धान्यवाचक षष्ठ्यन्त समर्थ **'व्रीहि'** और **'शालि'** प्रातिपदिकों से **'भवनं क्षेत्रम्'** (भवन क्षेत्र) अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'ढक्'** प्रत्यय होता है।

वैहेयम्–'व्रीहिणाम् भवनं क्षेत्रम्', षष्ठ्यन्त 'व्रीहि+आम्' से 'भवनं क्षेत्रम्' अर्थ में प्रकृत सूत्र से 'ढक्' प्रत्यय, पूर्ववत् विभक्ति-लुक्, 'आयनेयीनी०' से 'ढ' को 'एय्',

'यस्येति च' से इकार-लोप, 'किति च' से आदि अच् को वृद्धि, सुबुत्पत्ति, 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'व्रैहेयम्' रूप सिद्ध होता है।

शालेयम्—इसी प्रकार 'शालीनां भवनं क्षेत्रम्'—**'शालेयम्'** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

११६३. हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् ५।२।२३

ह्योगोदोहशब्दस्य हियङ्गुरादेशः, विकारेऽर्थे खञ् च निपात्यते। दुह्यत इति दोहः-क्षीरम्। ह्योगोदोहस्य विकारः-हैयङ्गवीनम्, नवनीतम्।

प०वि०—हैयङ्गवीनम् १।१।। संज्ञायाम् ७।१।।

अर्थ—संज्ञा अर्थ में 'हैयङ्गवीन' शब्द निपातन से सिद्ध होता है।

हैयङ्गवीनम्— 'विकार' अर्थ में षष्ठ्यन्त 'ह्योगोदोह' शब्द से 'खञ्' प्रत्यय तथा 'ह्योगोदोह+ङस्' को 'हियङ्गु' आदेश निपातन से होकर 'ख्' को 'आयनेयीनी०' से ईन्, 'ओर्गुणः' से उकार को गुण, अवादेश, 'तद्धितेष्व०' से आदि 'अच्' (इकार) को वृद्धि 'ऐ' होकर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु', 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पर्वरूप एकादेश होकर 'हैयङ्गवीनम्' रूप सिद्ध होता है।

११६४. तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ५।२।३६

तारकाः संजाता अस्य तारकितम्-नभः। पण्डितः। आकृतिगणोऽयम्।

प०वि०—तत् १।१।। अस्य ६।१।। सञ्जातम् १।१।। तारकादिभ्यः ५।३।। इतच् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः।

अर्थ—प्रथमान्त समर्थ तारकादिगण में पठित प्रातिपदिकों से 'अस्य संजातम्' (इसका हो गया) अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'इतच्' प्रत्यय होता है।

तारकितम्—'तारकाः सञ्जाता अस्य', प्रथमान्त समर्थ 'तारक+जस्' से 'अस्य संजातम्' अर्थ में 'इतच्' प्रत्यय, 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, 'यस्येति च' से अकार-लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश और 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप होकर 'तारकितम्' रूप सिद्ध होता है।

पण्डितः—इसी प्रकार 'पण्डा संजाता अस्य'-'पण्डितः' की सिद्धि-प्रक्रिया जाननी चाहिए।

११६५. प्रमाणे द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रचः ५।२।३७

तदस्येत्यनुवर्त्तते। ऊरू प्रमाणमस्य-ऊरुद्वयसम्। ऊरुदघ्नम्। ऊरुमात्रम्।

प०वि०—प्रमाणे ७।१।। द्वयसज्-दघ्नञ्मात्रचः। १।३।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, अस्य।

अर्थ—प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से **'वह इसका प्रमाण है'** (तदस्य प्रमाणम्) अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'द्वयसच्'**, **'दघ्नच्'** और **'मात्रच्'** प्रत्यय होते हैं।

ऊरुद्वयसम्—'ऊरु प्रमाणमस्य', प्रथमान्त 'ऊरु+सु' से, 'प्रमाणे द्वयसच्०' सूत्र से 'अस्य प्रमाणम्' अर्थ में 'द्वयसच्' प्रत्यय, पूर्ववत् विभक्ति-लुक्, अनुबन्ध-लोप, स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर तथा अमादि होकर 'ऊरुद्वयसम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'ऊरु' शब्द से 'मात्रच्' और 'दघ्नच्' प्रत्यय होने पर क्रमशः '**ऊरुमात्रम्**' और '**ऊरुदघ्नम्**' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

११६६. यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ५।२।३९

यत् परिमाणमस्य-यावान्। तावान्। एतावान्।

प०वि०—यत्तदेतेभ्यः ५।३।। परिमाणे ७।१।। वतुप् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, अस्य।

अर्थ—प्रथमान्त समर्थ '**यद्**', '**तद्**' और '**एतद्**' प्रातिपदिकों से 'अस्य परिमाणम्' (इसका परिमाण है) अर्थ में तद्धितसंज्ञक '**वतुप्**' प्रत्यय होता है।

यावान्	'यत् परिमाणमस्य' (जितना)
यद् सु	'यत्तदेतेभ्यः०' से 'इसका परिमाण' अर्थ में 'वतुप्' प्रत्यय, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, अनुबन्ध-लोप
यद् वत्	'आ सर्वनाम्नः' से 'वतु' परे रहते 'यद्' सर्वनाम को आकारादेश हुआ
य आ वत्	'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश हुआ
यावत्	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
यावत् सु	'सुडनपुंसकस्य' से 'सु' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'अत्वसन्तस्य चाऽधातोः' से सर्वनामस्थान परे रहते अत्वन्त की उपधा को दीर्घादेश हुआ
यावात् स्	'उगिदचां सर्वनाम०' से उगिदन्त को 'नुम्' आगम हुआ
यावा नुम् त् स्	अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार लोप और 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद के अन्तिम 'अल्' वर्ण 'त्' का लोप होकर
यावान्	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'तत्' से '**तावान्**' तथा 'एतावत्' से '**एतावान्**' की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

११६७. किमिदंभ्यां वो घः ५।२।४०

आभ्यां वतुप्, वकारस्य घश्च।

प०वि०—किमिदंभ्याम् ५।२।। वः ६।१।। घः १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, अस्य, परिमाणे, वतुप्।

अर्थ–प्रथमान्त समर्थ 'किम्' और 'इदम्' प्रातिपदिकों से 'अस्य परिमाणम्' (इसका परिमाण) अर्थ में तद्धित-संज्ञक 'वतुप्' प्रत्यय होता है तथा 'वतुप्' के वकार को घकार आदेश भी होता है।

११६८. इदंकिमोरीश्-की ६।३।९०

दृग्दृशवतुषु इदम ईश्, किमः की स्यात्। इयान्। कियान्।

प०वि०–इदंकिमोः ६।२।। ईश्की लुप्तप्रथमान्तनिर्देश। **अनु०**–दृग्दृशवतुषु।

अर्थ–दृग्, दृश और वतु परे रहते **'इदम्'** और **'किम्'** को क्रमशः **'ईश्'** और **'की'** आदेश होते हैं।

इयान्	'इदम् प्रमाणमस्य' (यह इसका परिमाण है)
इदम् सु	'किमिदंभ्यां०' से 'इसका परिणाम' अर्थ में 'वतुप्' प्रत्यय और 'वतुप्' के 'व्' को 'घ्' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक् हुआ
इदम् घत्	'इदंकिमोरीश् की' से 'वतु' परे रहते 'इदम्' को 'ईश्' आदेश हुआ, अनुबन्ध-लोप
ई घत्	'आयनेयीनी०' से प्रत्यय के आदि में 'घ्' को 'इय्' आदेश हुआ
ई इय् अत्	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से ईकार का लोप हुआ
इयत्	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया,
इयत् सु	अनुबंध-लोप, 'सुडनपुंसकस्य' से 'सु' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'अत्वसन्तस्य०' से अत्वन्त की उपधा को सर्वनामस्थान परे रहते दीर्घादेश हुआ
इयात् स्	'उगिदचां०' से सर्वनामस्थानसंज्ञक 'सु' परे रहते 'नुम्' आगम
इया नुम् त् स्	अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार-लोप तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' से तकार-लोप होने पर
इयान्	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार प्रकृत सूत्र से 'किम्' को 'की' आदेशादि होने पर 'कियान्' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

११६९. संख्याया अवयवे तयप् ५।२।४२

पञ्च अवयवा अस्य-पञ्चतयम्।

प०वि०–संख्यायाः ५।१। अवयवे ७।१।। तयप् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तत्, अस्य।

अर्थ–प्रथमान्त समर्थ संख्यावाचक प्रातिपदिक से 'इसके अवयव' (अस्य अवयवा:) अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'तयप्'** प्रत्यय होता है।

पञ्चतयम्	'पञ्च अवयवा अस्य' (पाँच अवयव हैं इसके)
पञ्चन् जस्	'संख्याया अवयवे तयप्' से 'इसके अवयव' अर्थ में 'तयप्' प्रत्यय
पञ्चन् जस् तयप्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने के कारण 'न लोप०' से नकार का लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर
पञ्चतयम्	रूप सिद्ध होता है।

११७०. द्वित्रिभ्यां तयस्याऽयज्वा ५।२।४३

द्वयम्। द्वितयम्। त्रयम्। त्रितयम्।

प०वि०–द्वित्रिभ्याम् ५।२।। तयस्य ६।१।। अयच् १।१।। वा अ०।।

अर्थ–**'द्वि'** और **'त्रि'** से उत्तर **'तयप्'** के स्थान में विकल्प से **'अयच्'** आदेश होता है।

द्वयम्	**'द्वौ अवयवौ अस्य'** (इसके दो अवयव हैं)
द्वि औ	'संख्याया अवयवे तयप्' से 'इसके अवयव' अर्थ में 'तयप्' प्रत्यय हुआ
द्वि औ तयप्	'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, 'द्वित्रिभ्यां तय०' से 'तयप्' को विकल्प से 'अयच्' आदेश, अनुबन्ध-लोप
द्वि अय	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा, 'यस्येति च' से इकार-लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'अतोऽम्' से 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्व:' से पूर्वरूप एकादेश आदि कार्य होकर
द्वयम्	रूप सिद्ध होता है।

'द्वितयम्' और **'त्रितयम्'** की सिद्धि-प्रक्रिया 'पञ्चतयम्' के समान जानें।
'त्रयम्' की सिद्धि-प्रक्रिया भी 'द्वयम्' के समान ही जानें।

११७१. उभादुदात्तो नित्यम् ५।२।४४

उभशब्दात्तयपोऽयच् स्यात् स चोदात्त:।

प०वि०–उभात् ५।१।। उदात्त: १।१।। नित्यम् १।१।। **अनु०**–तयस्य, अयच्।

अर्थ–**'उभ'** शब्द से उत्तर **'तयप्'** के स्थान पर नित्य ही **'अयच्'** आदेश होता है और वह उदात्त भी होता है।

११७२. तस्य पूरणे डट् ५।२।४८

एकादशानां पूरणः-एकादशः।

प०वि०—तस्य ६।१।। डट् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, संख्यायाः।

अर्थ—षष्ठ्यन्त संख्यावाचक प्रातिपदिक से **'पूरण'** (पूरा करने वाला) अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'डट्'** प्रत्यय होता है।

एकादशः	'एकादशानां पूरणः' (ग्यारहवाँ)
एकादशन् आम्	'तस्य पूरणे डट्' से 'पूरा करने वाला' अर्थ में 'डट्' प्रत्यय हुआ
एकादशन् आम् डट्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति का लुक् हुआ
एकादशन् अ	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा और 'टेः' से अन्नन्त भसंज्ञक के 'टि' भाग (अन्) का लोप हुआ
एकादश् अ	स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर
एकादशः	रूप सिद्ध होता है।

११७३. नान्तादसंख्यादेर्मट् ५।२।४९

डटो मडागमः। पञ्चानां पूरणः-पञ्चमः। नान्तात्किम्?-

प०वि०—नान्ताद् ५।१।। असंख्यादेः ५।१।। मट् १।१।। **अनु०**—डट्[1], सख्यायाः।

अर्थ—असंख्यादि (जिसके आदि में संख्या न हो, ऐसे) और नकारान्त संख्यावाची प्रातिपदिक से उत्तर **'डट्'** को **'मट्'** आगम होता है।

पञ्चमः—'पञ्चन्+आम्' से पूर्ववत् 'डट्' तथा विभक्ति लुक्-आदि होने पर 'नान्तादसंख्यादेर्मट्' से 'डट्' को 'मट्' आगम होकर, 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने पर 'न लोपः प्राति०' से 'न्' का लोप तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'पञ्चमः' रूप सिद्ध होता है।

११७४. ति विंशतेर्डिति ६।४।१४२

विंशतेर्भस्य तिशब्दस्य लोपो डिति परे। विंशः। असंख्यादेः किम्? एकादशः।

प०वि०—ति-लुप्तषष्ठ्यन्त।। विंशतेः ६।१।। डिति ७।१।। **अनु०**—लोपः, भस्य।

अर्थ—भसंज्ञक 'विंशति' के 'ति' का लोप होता है, 'डित्' प्रत्यय परे रहते।

विंशः	'विंशतेः पूरणः' (बीसवाँ)
विंशति ङस्	'तस्य पूरणे डट्' से 'पूरण' अर्थ में 'डट्' प्रत्यय हुआ
विंशति ङस् डट्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से पूर्ववत् विभक्ति का लुक् हुआ

---

१. यहाँ प्रथमान्त 'डट्' षष्ठी में बदल जाता है,

ंशति अ — 'यचि भम्' से 'विंशति' की 'भ' संज्ञा होने पर 'ति विंशतेर्डिति' से डित् परे रहते 'विंशति' के 'ति' का लोप हुआ।

ंश अ — 'यस्येति च' से तद्धित परे रहते भसंज्ञक अङ्ग के अकार का लोप प्राप्त हुआ जो 'असिद्धवदत्राभात्' से 'ति'-लोप के असिद्ध होने के कारण नहीं होता। 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होने पर

ंश: — रूप सिद्ध होता है।

असंख्यादे: किम्—यह प्रश्न 'नान्तादसंख्यादे०' सूत्र में पठित 'असंख्यादे:' पद के विषय में है। इसका प्रयोजन यह है कि जहाँ नकारान्त संख्या से पूर्व कोई दूसरी संख्या नहीं होती, वहीं पर नकारान्त संख्या से उत्तर 'डट्' को 'मट्' आगम होता है। संख्या आदि में होने पर नहीं होता। जैसे—**'एकादशानां पूरण:—एकादश:'** में 'एक' संख्या पूर्व में होने के कारण 'मट्' आगम नहीं होता।

११७५. षट्-कति-कतिपय-चतुरां थुक् ५।२।५१

एषां थुगागम: स्याड् डटि। षण्णां पूरण:-षष्ठ:। कतिथ:। कतिपय-शब्दस्यासंख्यात्वेऽप्यत एव ज्ञापकात् डट्। कतिपयथ:। चतुर्थ:।

प०वि०—षट्.....चतुराम् ६।३।। थुक् १।१।। अनु०—प्रातिपदिकात्, डट्।

अर्थ—**षष्, कति, कतिपय** और **चतुर्** प्रातिपदिकों को **'थुक्'** आगम होता है, 'डट्' परे रहते।

षष्ठ:—(षण्णां पूरण:) छठा, 'षष्+आम्' से 'तस्य पूरणे डट्' से पूर्ववत् 'डट्' आकर विभक्ति का लुक् आदि होकर 'षष्-अ' बनने पर 'षट्कतिकतिपय०' से 'थुक्' आगम, 'ष्टुना ष्टु:' से ष्टुत्व 'थ्' को 'ठ्' होकर विभक्ति-कार्य होने पर 'षष्ठ:' रूप सिद्ध होगा।

'षष्ठ:' के समान **कतिथ:, कतिपयथ:, चतुर्थ:** आदि की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

विशेष—'कतिपय' शब्द संख्यावाचक नहीं है इसलिए इस सूत्र में 'थुक्' विधान ही 'डट्' प्रत्यय के विधान का ज्ञापक है।

११७६. द्वेस्तीय: ५।२।५४

डटोपवाद:। द्वयो: पूरणो-द्वितीय:।

प०वि०—द्वे: ५।१।। तीय: १।१।। अनु०—प्रातिपदिकात्, तद्धिता:, तस्य, पूरणे।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ **'द्वि'** प्रातिपदिक से **'पूरण'** अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'तीय'** प्रत्यय होता है।

यह सूत्र 'तस्य पूरणे डट्' का अपवाद है।

द्वितीयः	**'द्वयोः पूरणः' (दो का पूरण)**
द्वि ओस्	**'द्वेस्तीयः' से 'पूरण' अर्थ में 'तीय' प्रत्यय हुआ**
द्वि ओस् तीय	**'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक् हुआ**
द्वितीय	स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होकर
द्वितीयः	रूप सिद्ध होता है।

११७७. त्रेः सम्प्रसारणं च ५।२।५५

तृतीयः।

प०वि०—त्रेः ६।१।। सम्प्रसारणम् १।१।। च अ०।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः तस्य, पूरणे, तीयः।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ **'त्रि'** प्रातिपदिक से **'पूरण'** अर्थ में **'तीय'** प्रत्यय होता है तथा 'त्रि' को सम्प्रसारण भी होता है।

तृतीयः	'त्रयाणां पूरणः' (तीन संख्या को पूरा करने वाला)
त्रि आम्	'त्रेः सम्प्रसारणं च' से 'पूरण' अर्थ में 'तीय' प्रत्यय तथा 'त्रि' को सम्प्रसारण[1] हुआ
त् ऋ इ आम् तीय	'सम्प्रसारणाच्च' से सम्प्रसारण से 'अच्' परे रहते पूर्वरूप एकादेश हुआ
तृ आम् तीय	'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से 'आम्' का लुक् होकर स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर रुत्व एवं विसर्ग होकर
तृतीयः	रूप सिद्ध होता है।

११७८. श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते ५।२।८४

श्रोत्रियः। वेत्यनुवृत्तेश्छान्दसः।

प०वि०—श्रोत्रियन् १।१।। छन्दः २।१।। अधीते (क्रियापद)।।

अर्थ—'छन्दोऽधीते' अर्थात् **वेद को पढ़ता है** इस अर्थ में **'श्रोत्रियन्'** शब्द निपातन से सिद्ध होता है।

विशेष—द्वितीयान्त समर्थ 'छन्दस्+अम्' से 'तदधीते' अर्थ में 'घ' प्रत्यय तथा 'छन्दस्' को 'श्रोत्र' आदेश निपातन से होने पर 'श्रोत्र+घ' इस स्थिति में 'आयनेयीनी०' से 'घ्' को 'इय्' तथा 'यस्येति च' से अकार-लोप होकर प्रथमा-एकवचन में 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग आदि होकर 'श्रोत्रियः' बनता है।

---

१. 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से 'र्' के स्थान पर 'ऋ' सम्प्रसारण होता है।

११७९. पूर्वादिनिः ५।२।८६

पूर्वं कृतमनेन–पूर्वी।

प०वि०–पूर्वाद् ५।१।। इनिः १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अनेन।

अर्थ–'**पूर्व**' शब्द से '**अनेन कृतम्**' (इसके द्वारा किया गया) अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'इनि' प्रत्यय होता है।

विशेष–'अनेन' से निर्दिष्ट कर्त्ता रूप अर्थ, क्रिया के बिना असम्भव होने के कारण क्रिया-सामान्य वाचक 'कृ' (कृतम्) का अध्याहार किया जाता है।

पूर्वी	'पूर्वं कृतमनेन' (इसके द्वारा पहले कर लिया गया)
पूर्व अम्	'पूर्वादिनिः' से 'इसके द्वारा किया गया' अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'इनि' प्रत्यय हुआ
पूर्व अम् इनि	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से 'अम्' का लुक् हुआ
पूर्व इन्	'यचि भम्' से भसंज्ञा, 'यस्येति च' से तद्धितसंज्ञक 'इन्' परे रहते 'अ' का लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्रथमा एकवचन में 'सु' आया
पूर्विन् सु	अनुबन्ध-लोप, 'सौ च' से इन्नन्त की उपधा को सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' परे रहते दीर्घ और 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्तसंज्ञक 'हल्' सकार का लोप हुआ
पूर्वीन्	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'सु' को निमित्त मानकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से 'पद' संज्ञा होने पर 'न लोपः प्राति०' से पदान्त नकार का लोप होकर
पूर्वी	रूप सिद्ध होता है।

११८०. सपूर्वाच्च ५।२।८७

कृतपूर्वी।

प०वि०–सपूर्वात् ५।१।। च अ०।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, पूर्वात्, इनिः।

अर्थ–'पूर्व' शब्द के पहले किसी अन्य शब्द के रहने पर पूर्व शब्दान्त से भी '**इसके द्वारा किया गया**' इस अर्थ में तद्धित-संज्ञक '**इनि**' प्रत्यय होता है।

कृतपूर्वी:	'कृतं पूर्वमनेनेति' (इसके द्वारा पहले कर लिया गया है) यहाँ पहले 'पूर्वं कृतम्–कृतपूर्वम्' बनाने के लिए 'कृत सु पूर्व सु'–इस स्थिति में 'सुप् सुपा' से समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से सुब्लुक् आदि होने पर 'कृतपूर्व' बनता है तदनन्तर–

कृतपूर्व सु	'सपूर्वाच्च' से 'कृत' पूर्वक 'पूर्व' शब्द से 'इसके द्वारा किया गया' अर्थ में 'इनि' प्रत्यय हुआ
कृतपूर्व सु इनि	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से तद्धितान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से सुब्लुक् हुआ
कृतपूर्व इन्	'यस्येति च' से अकार-लोप, स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' आने पर 'पूर्वी' (११७९) के समान 'सौ च' से इन्नन्त की उपधा को दीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप तथा 'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप होकर
कृतपूर्वी	रूप सिद्ध होता है।

११८१. इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८

इष्टमनेन-इष्टी। अधीती।

इति भवनाद्यर्थकप्रकरणम् ।

प०वि०—इष्टादिभ्यः ५।३।। च अ०।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अनेन, इनिः।

अर्थ—इष्टादि गण में पठित (प्रथमान्त समर्थ) प्रातिपदिकों से 'अनेन' अर्थ में **'इनि'** प्रत्यय होता है। यथा-इष्टी, अधीती।

अधीती—(अधीतमनेन) प्रथमान्त 'अधीत+सु' से 'इष्टादिभ्यश्च' से 'इनि' होकर पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति का लुक्, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा और 'यस्येति च' से अकार का लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'सौ च' से इन्नन्त की उपधा को दीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के सकार का लोप तथा 'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप होकर 'पूर्वी' (११७९) के समान **'अधीती'** रूप सिद्ध होता है

।। भवनाद्यर्थक-प्रकरण समाप्त ।।

अथ मत्वर्थीयाः

११८२. तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप् ५।२।९४

गावोऽस्याऽस्मिन् वा सन्ति-गोमान्।

प०वि०-तद् १।१।। अस्य ६।१।। अस्ति (क्रियापद)।। अस्मिन् ७।१।। इति अ०।। मतुप् १।१।। **अनु०**-प्रातिपदिकात्, तद्धिताः।

अर्थ-प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से, **'वह इसका है'** या **'वह इसमें है'**-इन अर्थों में तद्धितसंज्ञक **'मतुप्'** प्रत्यय होता है। यथा-गोमान्।

विशेष-'मतुप्' आदि प्रत्यय, जो कि इस प्रकरण में विहित हैं, केवल 'अस्ति' की विवक्षा मात्र में ही नहीं होते, अपितु अस्तित्व के अतिरिक्त कुछ अन्य अर्थों को भी अभिव्यक्त करते हैं। जिनका निर्देश प्रस्तुत कारिका में किया गया है-

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः।।

भूमा-(आधिक्य अर्थ में) जैसे-'गोमान्' (बहुत अधिक गायों वाला)।

निन्दा-जैसे-'ककुदावर्तिनी कन्या' (जीभ आलोडने वाली लड़की)।

प्रशंसा-जैसे-'रूपवान्' (प्रशंसनीय रूप वाला)।

नित्ययोग-(नित्यसम्बन्ध) जैसे-'क्षीरिणो वृक्षाः' (सदा दूध से भरे रहने वाले वृक्ष)।

अतिशायन-(अतिशय) जैसे-'उदरिणी कन्या' (बड़े पेट वाली लड़की)।

संसर्ग-(सम्बन्ध) जैसे-'दण्डी' (दण्ड धारण करने वाला)।

गोमान्	(गावोऽस्य, अस्मिन् वा सन्ति)
गो जस्	'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' से 'मतुप्' प्रत्यय हुआ
गो जस् मतुप्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर
	'सुपो धातु०' से 'जस्' का लुक् हुआ
गो मत्	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
गो मत् सु	'अत्वसन्तस्य चाऽधातोः' से 'अतु' अन्त वाले की उपधा को दीर्घ, 'सुडनपुंसकस्य' से 'सु' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने से

	'उगिदचां सर्वनाम०' से सर्वनामस्थानसंज्ञक 'सु' परे रहते 'नुम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से नुम्' अन्तिम अच् से परे हुआ
गोमा नुम् त् सु	अनुबन्ध-लोप
गोमान् त् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर 'सु' के 'अपृक्त' सकार का लोप हुआ
गोमान् त्	'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद के अन्तिम अल् तकार का लोप होकर
गोमान्	रूप सिद्ध होता है।

११८३. तसौ मत्वर्थे १।४।१९

तान्तसान्तौ भसंज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे। गरुत्मान् (३५३)-'वसोः सम्प्रसारणम्'-विदुष्मान्।

(वा०) गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः। शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति-शुक्लः पटः। कृष्णः।

प०वि०—तसौ १।२।। मत्वर्थे ७।१।। **अनु०**—भम्।

अर्थ—मत्वर्थक प्रत्यय परे रहते तकारान्त और सकारान्त की **भसंज्ञा** होती है।

गरुत्मान्—(गरुतौ स्तोऽस्येति) प्रथमान्त 'गरुत्+औ' से 'तदस्यास्ति०' से 'मतुप्' होने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'गोमान्' (११८२) के समान जानें।

विशेषः—तकारान्त 'गरुत्' की 'मतुप्' परे रहते भसंज्ञा होने के कारण यहाँ 'पद' संज्ञा नहीं होती, इसलिए 'झलां जशोऽन्ते' से 'त्' को 'द्' तथा 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' (वा०) से अनुनासिकत्व भी नहीं होता।

विदुष्मान्—'विद्वस्+जस्' से 'तदस्यास्त्यस्मिन्०' से पूर्ववत् 'मतुप्' होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, 'तसौ मत्वर्थे' से सकारान्त की 'मुतुप्' परे रहते 'भ' संज्ञा होने से 'पद' संज्ञा का अभाव तथा वसुस्रंसुध्वंसु०' से 'पद' संज्ञा के आश्रित दत्त्व का अभाव होने पर 'वसोः सम्प्र०' से सम्प्रसारण (वकार को उकार) होकर 'सम्प्रसारणाच्च' से अकार को पूर्वरूप, 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य आदेश होने पर शेष सभी कार्य 'गोमान्' के समान होकर 'विदुष्मान्' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) **गुणवचनेभ्य०**—**अर्थ**-गुण वाचक शब्दों से परे 'मतुप्' प्रत्यय का लुक् होता है। यथा-शुक्लः पटः।

शुक्लः—(शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति) प्रथमान्त 'शुक्ल+सु' से 'तदस्यास्त्यस्मिन्०' से 'मतुप्' पूर्ववत् 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति का लुक् होने पर 'गुणवचनेभ्यो०' से गुण वाचक शब्द 'शुक्ल' से उत्तर 'मतुप्' का लुक्, 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर 'शुक्लः' रूप सिद्ध होता है।

११८४. प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ५।२।९६

चूडालः, चूडावान्। प्राणिस्थात् किम्? शिखावान् दीपः। (वा०) प्राण्यङ्गादेव। नेह-मेधावान्।

प०वि०—प्राणिस्थाद् ५।१।। आतः ५।१।। लच् १।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। अनु०—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, अस्यास्त्यस्मिन्निति।

अर्थः—प्रथमान्त समर्थ प्राणी के अङ्गवाचक आकारान्त प्रातिपादिक से **'इसका है'** या **'इसमें है'** अर्थों में विकल्प से तद्धितसंज्ञक **'लच्'** प्रत्यय होता है।

यथा-चूडालः, चूडावान्।

विशेषः—सूत्र में पठित 'प्राणिस्थाद्' पद का अर्थ, अग्रिम (वा०) 'प्राण्यङ्गादेव' की सहायता से, 'प्राणी के अङ्गवाचक' किया गया है।

चूडालः—(चूडा अस्य अस्तीति) प्रथमान्त 'चूडा+सु' से प्रकृत सूत्र से 'लच्' होकर पूर्ववत् विभक्ति-लुक् एवं स्वाद्युत्पत्ति आदि होकर 'चूडालः' सिद्ध होता है।

चूडवान्—'चूडा+सु' से 'मतुप्' होकर 'मादुपधायाश्च०' से 'म्' को 'व्' होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'गोमान्' (११८२) के समान जानें।

प्राणिस्थात् किम्—सूत्र में **'प्राणिस्थाद्'** पद का प्रयोजन यह है कि 'शिखा' आदि शब्द जब प्राणी के अङ्ग अर्थ में नहीं होंगे तो उनसे 'लच्' प्रत्यय नहीं होगा जैसे-'शिखावान् दीपः' यहाँ 'लच्' नहीं होता।

इसी प्रकार (वा०) **'प्राण्यङ्गाद०'** का प्रयोजन यह है कि जो 'मेधा' आदि प्राणिस्थ होने पर भी प्राणी के मूर्त अङ्ग वाचक नहीं हैं वहाँ 'लच्' प्रत्यय न हो, इसलिए 'मेधावान्' आदि केवल मतुबन्त ही रूप सिद्ध होते हैं।

११८५. लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः ५।२।१००

लोमादिभ्यः शः-लोमशः, लोमवान्। रोमशः, रोमवान्। पामादिभ्यो नः-पामनः। पिच्छादिभ्य (ग० सू०) अङ्गात्कल्याणे-अङ्गना। (ग० सू०) लक्ष्म्या अच्च-लक्ष्मणः। पिच्छादिभ्य इलच्-पिच्छिलः, पिच्छवान्।

प०वि०—लो........पिच्छादिभ्यः ५।३।। शनेलचः १।३।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, अस्यास्त्यस्मिन्, इति, अन्यतरस्याम्।

अर्थ—**'इसका है'** या **'इसमें हैं'** इन अर्थों में प्रथमान्त समर्थ **लोमादि** गण में पठित 'लोमन्' आदि प्रातिपदिकों से **'श'** प्रत्यय, **पामादि** गण में पठित 'पामन्' आदि प्रातिपदिकों से **'न'** प्रत्यय तथा **पिच्छादि** गण में पठित 'पिच्छ' आदि प्रातिपदिकों से **'इलच्'** प्रत्यय विकल्प से होते हैं।

लोमशः—(लोमानि सन्ति अस्य) 'लोमन्+जस्' से प्रकृत सूत्र से 'श' होकर पूर्ववत् विभक्ति-लुक् आदि होने पर 'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप तथा सुबुत्पत्ति आदि होकर 'लोमशः' बनेगा। **लोमवान्**—'मतुप्' होने पर 'लोमवान्' रूप सिद्ध होता है।

पामनः—(पामास्यस्ति) 'पामन्+सु' से प्रकृत सूत्र से 'न' प्रत्यय होकर 'न लोप०' से नकार लोपादि होकर 'पामनः' रूप सिद्ध होगा।

(ग० सू० १) **अङ्गात्कल्याणे**—**अर्थ**—**'अङ्ग'** शब्द से **कल्याण** अर्थ में **'न'** प्रत्यय होता है।

अङ्गना—(कल्याणि अङ्गानि यस्याः सा) 'अङ्ग+जस्' से 'न' प्रत्यय होकर स्त्रीलिंग में 'टाप्' आदि होकर 'अङ्गना' बनेगा।

(ग० सू० २) **लक्ष्म्या अच्च**—**अर्थ**-प्रथमान्त समर्थ **'लक्ष्मी'** शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय के अर्थ में **'न'** प्रत्यय तथा **अकार अन्तादेश** होता है।

लक्ष्मणः—(लक्ष्मीः अस्यास्तीति) प्रथमान्त 'लक्ष्मी+सु' से 'न' प्रत्यय तथा 'ई' को 'अ' आदेश होकर णत्वादि होने पर 'लक्ष्मणः' रूप सिद्ध होता है।

पिच्छिलः—(पिच्छमस्त्यस्य) 'पिच्छ+सु' से पूर्ववत् 'इलच्' होकर 'यस्येति च' से अकार-लोपादि होने पर 'पिच्छिलः' रूप सिद्ध होता है।

पिच्छवान्—जब 'इलच्' नहीं होगा तो 'मतुप्' होकर 'मादुपधायाश्च०' से 'म्' को 'व्' होकर पूर्ववत् 'पिच्छवान्' बनेगा।

११८६. दन्त उन्नत उरच् ५।२।१०६

उन्नता दन्ताः सन्त्यस्य-दन्तुरः।

प०वि०—दन्तः १।१।। उन्नतः १।१।। उरच् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, अस्यास्त्यस्मिन्।

अर्थ—प्रथमान्त समर्थ **'दन्त'** प्रातिपदिक से **'उन्नत'** अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'उरच्'** प्रत्यय होता है।

दन्तुरः—(उन्नताः दन्ताः अस्य सन्तीति) प्रथमा-समर्थ 'दन्त+जस्' शब्द से प्रकृत सूत्र से 'उरच्' प्रत्यय आने पर विभक्ति का लुक् तथा 'यस्येति च' से अकार-लोप आदि करने पर सुबुत्पत्ति आदि कार्य होने पर 'दन्तुरः' रूप सिद्ध होता है।

११८७. केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ५।२।१०९

केशवः। केशी। केशिकः। केशवान्।

(वा०१) अन्येभ्योऽपि दृश्यते। मणिवः।

(वा०२) अर्णसो लोपश्च। अणर्वः।

प०वि०—केशात् ५।१।। वः १।१।। अन्यरस्याम् ७।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, अस्यास्त्यस्मिन्।

अर्थ—प्रथमान्त समर्थ **'केश'** प्रातिपदिक से 'मतुप्' प्रत्यय के अर्थ में विकल्प से **'व'** प्रत्यय होता है।

विशेष—सूत्र में 'समर्थानां प्रथमाद्वा' सूत्र का अधिकार होने के कारण विकल्प

अर्थात् वाक्य की स्थिति स्वतः सिद्ध थी, पुनः 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'मतुप्', 'इनि' तथा 'ठन्' भी हो सकें।

केशवः—(केशाः अस्य सन्ति) प्रथमान्त समर्थ 'केश+जस्' शब्द से प्रकृत सूत्र से विकल्प से 'व' प्रत्यय होकर 'केशवः' रूप सिद्ध होता है।

'इनि', 'ठन्' तथा 'मतुप्' होने पर क्रमशः **'केशी'**, **'केशिकः'** तथा **'केशवान्'** रूप सिद्ध होते हैं।

(वा०) **अन्येऽभ्योऽपि दृश्यते—अर्थ**—'केश' शब्द के अतिरिक्त अन्य शब्दों से भी 'मतुप्' प्रत्यय के अर्थ में **'व'** प्रत्यय दिखाई देता है। जैसे—

मणिवः—(मणिरस्त्यस्येति) यहाँ 'मणि+सु' शब्द से प्रकृत वार्तिक से 'व' प्रत्यय होकर 'मणिवः' (मणिवाला सर्प) तथा 'हिरण्य' शब्द से 'व' प्रत्यय होकर 'हिरण्यवः' (सुवर्ण वाला निधि विशेष) रूप बनते हैं।

(वा०) **अर्णसो लोपश्च—अर्थ**—प्रथमान्त समर्थ **'अर्णस्'** शब्द से 'मतुप्' के अर्थ में **'व'** प्रत्यय होता है तथा उसके अन्तिम 'अल्' का लोप भी होता है।

अर्णवः—(अर्णांसि सन्ति अस्य) जल इसके हैं, प्रथमान्त समर्थ 'अर्णस्+जस्' से प्रकृत वार्तिक से 'व' प्रत्यय तथा अन्तिम वर्ण 'स्' का लोप, 'सुपो धातु०' से सुपों का लुक् तथा सुबुत्पत्ति आदि होकर 'अर्णवः' सिद्ध होता है।

११८८. अत इनिठनौ ५।२।११५

दण्डी, दण्डिकः।

प०वि०—अतः ५।१।। इनिठनौ १।२।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, अस्यास्त्यस्मिन्, अन्यतरस्याम्।

अर्थ—प्रथमान्त समर्थ ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिक से **'इसका है'** या **'इसमें है'** इन अर्थों में विकल्प से तद्धितसंज्ञक **'इनि'** और **'ठन्'** प्रत्यय होते हैं।

दण्डी	(दण्डोऽस्यास्तीति)
दण्ड सु	'अत इनिठनौ' से प्रथमान्त अदन्त प्रातिपदिक से मतुबर्थ में 'इनि' प्रत्यय हुआ
दण्ड सु इनि	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातु०' से 'सु' का लुक् हुआ
दण्ड इन्	'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से अकार-लोप हुआ
दण्ड् इन्	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
दण्ड् इन् सु	'सौ च' से 'सु' परे रहते इन्नन्त की उपधा को दीर्घ हुआ
दण्ड् ईन् सु	अनुबन्ध-लोप

दण्डीन् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से हलन्त से उत्तर अपृक्त सकार का लोप तथा 'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप होकर
दण्डी	रूप सिद्ध होता है।

दण्डिकः–प्रथमान्त 'दण्ड+सु' से 'अत इनिठनौ' से 'ठन्' प्रत्यय, सुब्लुक्, 'ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक' आदेश, 'यस्येति च' से अकार-लोप तथा सुबुत्पत्ति आदि होकर 'दण्डिकः' रूप सिद्ध होता है।

११८९. व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११६

व्रीही, व्रीहिकः।

प०वि०–व्रीह्यादिभ्यः ५।३।। च अ०।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, अस्यास्त्यस्मिन्, इति, अन्यतरस्याम्, इनिठनौ।

अर्थ–'व्रीहि' आदि गण में पठित प्रथमान्त प्रातिपदिक से **'इसका है'** और **'इसमें है'** अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'इनि'** और **'ठन्'** प्रत्यय विकल्प से होते हैं।

'व्रीही' तथा **'व्रीहिकः'** की सिद्धि-प्रक्रिया 'दण्डी' और 'दण्डिकः' (११८८) के समान जानें।

११९०. अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिः ५।२।१२१

यशस्वी, यशस्वान्। मायावी। मेधावी। स्रग्वी।

प०वि०–अस्मायामेधास्रजः ५।१।। विनिः। १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अन्यतरस्याम्, तद्, अस्यास्त्यस्मिन्, इति।

अर्थ–प्रथमान्त समर्थ **असन्त** प्रातिपदिक, **'माया'**, **'मेधा'** और **'स्रज'** शब्दों से **'इसका है'** या **'इसमें है'** अर्थ में तद्धितसंज्ञक **'विनि'** प्रत्यय विकल्प से होता है।

यशस्वी	'यशोऽस्यास्ति' (यश इसका है)।
यशस् सु	'अस्मायामेधा०' सूत्र से प्रथमान्त असन्त 'यशस्' से 'इसका है' अर्थ में विकल्प से 'विनि' प्रत्यय हुआ
यशस् सु विनि	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धितस०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, 'स्वादिष्वसर्व०' से प्राप्त 'पद' संज्ञा को बाधकर 'तसौ मत्वर्थे' से भसंज्ञा होने के कारण 'स्' को 'रु' नहीं होता
यशस् विन्	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
यशस्विन् सु	'सौ च' से 'सु' परे रहते इन्नन्त की उपधा को दीर्घ हुआ
यशस्वीन् सु	अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप तथा प्रत्ययलक्षण से 'पद' संज्ञा होने पर 'न लोपः प्राति०' से 'न्' का लोप होकर
यशस्वी	रूप सिद्ध होता है।

यशस्वान्–'यशस्' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय होने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'गोमान्' (११८२) के समान जानें।

'मायावी', **'मेधावी'** तथा **'स्त्रग्वी'** की सिद्धि-प्रक्रिया 'यशस्वी' के समान जानें।

११९१. वाचो ग्मिनिः ५।२।१२४

वाग्मी।

प०वि०–वाचः ५१।। ग्मिनिः १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, अस्यास्त्यस्मिन्, इति।

अर्थ–प्रथमान्त समर्थ **'वाच्'** प्रातिपदिक से **'इसका है'** और **'इसमें है'** अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'ग्मिनि'** प्रत्यय होता है।

वाग्मी	'वागस्यास्ति' (वाणी इसकी है)
वाच् सु	'वाचो ग्मिनिः' से 'इसकी है' अर्थ में 'ग्मिनि' प्रत्यय हुआ, अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक् हुआ
वाच् ग्मिन्	'स्वादिष्वसर्व०' से 'वाच्' की 'पद' संज्ञा होने के कारण 'चोः कुः' से पदान्त में कुत्व अर्थात् 'च्' को 'क्' आदेश और 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व अर्थात् 'क्' को 'ग्' आदेश हुआ
वाग् ग्मिन्	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर
वाग् ग्मिन् सु	'यशस्वी' के समान 'सौ च' से इन्नन्त की उपधा को दीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त संज्ञक सकार का लोप तथा 'न लोपः प्राति०' से नकार का लोप होकर
वाग्मी	रूप सिद्ध होता है।

११९२. अर्शआदिभ्योऽच् ५।२।१२७

अर्शोऽस्य विद्यते-अर्शसः। आकृतिगणोऽयम्।

प०वि०–अर्शआदिभ्यः ५।३।। अच् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, अस्यास्त्यस्मिन्, इति।

अर्थ–प्रथमान्त समर्थ **'अर्शस्'** आदि प्रातिपदिकों से **'इसका है'** या **'इसमें है'** अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'अच्'** प्रत्यय होता है।

अर्शादिगण आकृति गण है।

अर्शसः–प्रथमान्त 'अर्शस्+सु' शब्द से प्रकृत सूत्र से 'अच्' प्रत्यय, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक् होकर 'सु' आकर सकार को रुत्व और विसर्ग होने पर 'अर्शसः' रूप सिद्ध होता है।

११९३. अहं-शुभमोर्युस् ५।२।१४०

अहंयुरहंकारवान्। शुभंयुः-शुभान्वितः।

॥ इति मत्वर्थीयाः ॥

प०वि०—अहंशुभमोः ६।२।। युस् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तद्, अस्यास्त्यस्मिन्निति।

अर्थ—**'अहम्'** तथा **'शुभम्'** अव्ययों से **'इसका है'** या **'इसमें है'** अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'युस्'** प्रत्यय होता है।

अहंयुः	'अहम् अस्याऽस्ति' (अहंकार इसमें है)
अहम्	'अहंशुभमो०' से 'इसमें है' अर्थ में 'युस्' प्रत्यय हुआ
अहम् युस्	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से प्राप्त 'भ' संज्ञा को बाधकर 'सिति च' से सित् परे रहते 'अहम्' की 'पद' संज्ञा होने पर 'मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार होकर स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'सु' आया
अहंयु सु	अनुबन्ध-लोप, 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व एवं 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर
अहंयुः	रूप सिद्ध होता है।

शुभंयुः—इसी प्रकार 'शुभम्' अव्यय से 'युस्' होकर 'शुभंयुः' रूप सिद्ध होता है।

॥ मत्वर्थीय-प्रकरण समाप्त ॥

अथ प्राग्दिशीयाः

११९४. प्राग्दिशो विभक्तिः ५।३।१

'दिक् शब्देभ्यः' इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विभक्तिसंज्ञाः स्युः।

प०वि०–प्राक् १।१।। दिशः ५।१।। विभक्तिः १।१।।

अर्थ–'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः' (५।३।२७) से पूर्व कहे जाने वाले सभी प्रत्यय **'विभक्ति'** संज्ञक होते हैं।

विशेष–सूत्र में 'दिशः' पद अष्टाध्यायी क्रम में पठित उस सूत्र का निर्देश करता है जिसमें 'दिश्' शब्द साक्षात् पढ़ा गया है। इस प्रकार के निर्देश सूत्रार्थ प्रक्रिया में अष्टाध्यायी के क्रम के महत्त्व को और अधिक परिपुष्ट करते हैं। इस सूत्र से 'विभक्ति' संज्ञा करने का प्रयोजन यह है कि विभक्ति संज्ञा के आश्रय से होने वाले सभी कार्य, जैसे-'न विभक्तौ तुस्माः' से विभक्ति में स्थित तवर्ग, सकार, मकार की इत्संज्ञा का निषेध तथा 'त्यदादीनामः' से अत्व आदि कार्य इन प्रत्ययों में भी हो सकें।

इस प्रकरण में विहित प्रत्ययों का किसी अर्थ विशेष में निर्देश नहीं किया गया है, अतः ये प्रत्यय अपनी प्रकृति के अर्थ को ही अभिव्यक्ति करते हैं। इसलिए ये 'स्वार्थिक' प्रत्यय कहे जाते हैं।

११९५. किं-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ५।३।२

किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्च इति प्राग्दिशोऽधिक्रियते।

प०वि०–किंसर्वनामबहुभ्यः ५।३।। अद्व्यादिभ्यः ५।३।। **अनु०**–प्राग्दिशः।

अर्थ–अद्व्यादि अर्थात् द्वि, अस्मद्, युष्मद् और भवतु शब्दों को छोड़कर 'किम्' सहित शेष सभी सर्वनाम शब्दों से और 'बहु' शब्द से 'प्राग्दिशो विभक्तिः' के अधिकार में कहे गये सभी प्रत्यय होते हैं।

११९६. पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७

पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिल् वा स्यात्।

प०वि०–पञ्चम्याः। ५।१।। तसिल् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा, किं-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः, विभक्तिः।

अर्थ–'द्वि' आदि शब्दों को छोड़कर पञ्चम्यन्त 'किम्' सहित सभी सर्वनाम शब्दों तथा 'बहु' शब्द से विकल्प से तद्धित-संज्ञक **'तसिल्'** प्रत्यय होता है।

विशेष--इस प्राग्दिशीय प्रकरण में 'समर्थानां प्रथमाद्' का अधिकार नहीं आता, केवल 'वा' पद का ही अधिकार आता है।

११९७. कु तिहो: ७।१।१०४

किम: कु: स्यात्तादौ हादौ च विभक्तौ परत:। कुत:, कस्मात्।

प०वि०—कु: १।१।। तिहो: ७।२।। **अनु०**—किम:, विभक्तौ।

अर्थ—तकारादि तथा हकारादि विभक्ति परे रहते **'किम्'** के स्थान पर **'कु'** आदेश होता है।

कुत:	(कहाँ से)
किम् ङसि	'पञ्चम्यास्तसिल्' से पञ्चम्यन्त से स्वार्थ में 'तसिल्' प्रत्यय हुआ
किम् ङसि तसिल्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् हुआ
किम् तस्	'प्राग्दिशो विभक्ति:' से 'तसिल्' की विभक्ति संज्ञा होने से 'कु तिहो:' से तकारादि विभक्ति पर रहते 'किम्' को 'कु' आदेश हुआ
कु तस्	स्वाद्युत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
कु तस् सु	'तद्धितश्चासर्वविभक्ति:' से 'तसिल्' प्रत्ययान्त असर्वविभक्ति तद्धित की 'अव्यय' संज्ञा होने पर 'अव्ययादाप्सुप:' से अव्यय से उत्तर 'सु' का लुक् हुआ
कु तस्	'ससजुषो रु:' से सकारान्त पद के सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयो:०' से रेफ को विसर्ग होकर
कुत:	रूप सिद्ध होता है।

११९८. इदम इश् ५।३।३

प्राग्दिशीये परे। इत:।

प०वि०—इदम: ६।१।। इश् १।१।। **अनु०**—प्राग्दिश:।

अर्थ—प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते **'इदम्'** के स्थान में **'इश्'** आदेश होता है।

इत: (यहाँ से)—पञ्चम्यन्त 'इदम्+ङसि' से 'पञ्चम्यास्तसिल्' से 'तसिल्' प्रत्यय, 'इदम इश्' से 'इदम्' को इशादेश होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'कुत:' के समान जाननी चाहिए।

११९९. एतदोऽन् ५।३।५

एतद: प्राग्दिशीये। अनेकाल्त्वात् सर्वादेश:। अत:। अमुत:। यत:। बहुत:। द्व्यादेस्तु-द्वाभ्याम्।

प०वि०–एतदः ६।१।। अन् १।१।। **अनु०**–प्राग्दिशः।

अर्थ–प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहने पर **'एतद्'** के स्थान पर **'अन्'** आदेश होता है। 'अन्' आदेश अनेकाल् होने के कारण 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' से सम्पूर्ण 'एतद्' के स्थान पर होता है।

अतः (यहाँ से)–पञ्चम्यन्त 'एतद्+ङसि' से 'पञ्चम्यास्तसिल्' से 'तसिल्' होने पर 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति–लुक् होकर 'एतदोऽन्' से प्राग्दिशीय प्रत्यय 'तसिल्' परे रहते 'एतद्' को 'अन्' आदेश होता है, 'स्वादिष्व०' से पदसंज्ञा होने से 'न लोपः प्राति०' से नकार–लोप होने पर 'अ+तस्' इस स्थिति में स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' आने पर 'तद्धितश्चासर्व०' से अव्ययसंज्ञा होने पर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक्, 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग होकर 'अतः' रूप सिद्ध होगा।

अमुतः–(वहाँ से), पञ्चम्यन्त 'अदस्+ङसि' से 'पञ्चम्यास्तसिल्' से 'तसिल्' प्रत्यय, 'सुपो धातुप्राति०' से 'ङसि' का लुक्, 'प्रग्दिशो विभक्तिः' से 'तसिल्' की 'विभक्ति' संज्ञा, 'त्यदादीनामः' से 'अदस्' को अकार अन्तादेश, 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होने पर 'अद+तस्' इस स्थिति में 'अदसोऽसेर्दादु०' से 'अदस्' के 'द्' को 'म्' तथा उससे उत्तरवर्ती अकार को उकार होने पर सकार को रुत्व और विसर्ग होकर 'अमुतः' रूप सिद्ध होता है।

यतः (जहाँ से)–पञ्चम्यन्त 'यत्+ङसि' शब्द से 'तसिल्' परे रहते पूर्ववत् 'त्यदादीनामः' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूपादि होकर 'अतः' के समान 'यतः' रूप सिद्ध होता है।

बहुतः–पञ्चमन्यन्त 'बहु+ङसि' से 'पञ्चम्यास्तसिल्' से 'तसिल्' प्रत्यय, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से सुब्लुक्, 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व और 'खरवसानयोः०' से रेफ को विसर्ग आदेश होकर 'बहुतः' रूप सिद्ध होता है।

सूत्र में 'अद्व्यादिः' कहने से पञ्चम्यन्त 'द्वि+भ्याम्' से 'तसिल' नहीं होता अतः 'द्वाभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

१२००. पर्यभिभ्यां च ५।३।९

आभ्यां तसिल् स्यात्। परितः–सर्वत इत्यर्थः। अभितः–उभयत इत्यर्थः।

प०वि०–पर्यभिभ्याम् ५।२।। च अ०।। **अनु०**–तद्धिताः, तसिल्।

अर्थ–**'परि'** तथा **'अभि'** अव्ययों से उत्तर स्वार्थ में तद्धित-संज्ञक **'तसिल्'** प्रत्यय होता है।

परितः (चारों ओर), **अभितः** (दोनों ओर)–'परि' तथा 'अभि' से प्रकृत सूत्र में 'तसिल्' प्रत्यय होने पर सिद्धि–प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

१२०१. सप्तम्यास्त्रल् ५।३।१०

कुत्र। यत्र। तत्र। बहुत्र।

प०वि०—सप्तम्याः ५।१।। त्रल् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, किंसर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः।

अर्थ—'द्वि' आदि शब्दों को छोड़कर सप्तम्यन्त 'किम्' सहित सभी सर्वनाम प्रातिपदिकों से तथा 'बहु' शब्द से **स्वार्थ** में **'त्रल्'** प्रत्यय होता है।

कुत्र (कहाँ)—**यत्र** (जहाँ), **तत्र** (वहाँ), **बहुत्र** (बहुत जगहों में)

'कुत्र' आदि में सर्वत्र 'किम्' आदि सप्तम्यन्तों से प्रकृत सूत्र से 'त्रल्' प्रत्यय करने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'कुतः' (११९७) आदि के समान जाननी चाहिए।

१२०२. इदमो हः ५।३।११

त्रलोऽपवादः। इह।

प०वि०—इदमः ५।१। हः १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, सप्तम्याः।

अर्थ—सप्तम्यन्त **'इदम्'** प्रातिपदिक से **स्वार्थ** में तद्धित-संज्ञक **'ह'** प्रत्यय होता है।

यह 'त्रल्' का अपवाद है।

इहः—सप्तम्यन्त 'इदम्+ङि' से 'इदमो हः' से 'ह' प्रत्यय, सुब्लुक्, 'इदम इश्' से प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते 'इदम्' को 'इश्' होने पर सुबुत्पत्ति होकर 'सु' आने पर 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' से 'अव्यय' संज्ञा होने पर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होकर 'इह' रूप सिद्ध होता है।

१२०३. किमोऽत् ५।३।१२

वा-ग्रहणमपकृष्यते। सप्तम्यन्तात् किमोऽद्वा स्यात्। पक्षे त्रल्।

प०वि०—किमः ५।१।। अत् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, सप्तम्याः, वा।

अर्थ—सप्तम्यन्त **'किम्'** प्रातिपदिक से विकल्प से तद्धित-संज्ञक **'अत्'** प्रत्यय **स्वार्थ** में होता है।

जब 'अत्' नहीं होगा तो पक्ष में 'त्रल्' प्रत्यय भी होता है।

१२०४. क्वाऽति ७।२।१०५

किमः क्वादेशः स्यादति। क्व, कुत्र।

प०वि०—क्व (लुप्तप्रथमान्त)।। अति ७।१।। **अनु०**—किमः, विभक्तौ।

अर्थ—विभक्ति संज्ञक 'अत्' परे रहते 'किम्' को 'क्व' आदेश होता है।

क्वः—सप्तम्यन्त 'किम्+ङि' से 'किमोऽत्' से स्वार्थ में 'अत्' प्रत्यय, 'सुपो धातुप्रातिपदि०' से विभक्तिलुक् आदि होने पर 'क्वाति' से 'अत्' परे रहते 'किम्' को

'क्व' आदेश तथा 'यस्येति च' से अकार-लोप होने पर सुबुत्पत्ति, 'सु' आने पर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होकर 'क्व' सिद्ध होता है।

१२०५. इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ५।३।१४

पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिलादयो दृश्यन्ते। दृशिग्रहणाद् भवदादियोग एव। स भवान्-ततो भवान्। तत्र भवान्। तं भवन्तम्-ततो भवन्तम्। तत्र भवन्तम्। एवं दीर्घायुः, देवानां प्रियः, आयुष्मान्।

प०वि०—इतराभ्यः ५।३।। अपि अ०।। दृश्यन्ते (क्रियापद)।।

अनु०—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः।

अर्थ—पञ्चमी तथा सप्तमी से भिन्न अन्य विभक्त्यन्त 'किम्' आदियों से भी 'तसिल्' आदि तद्धित-संज्ञक प्रत्यय देखे जाते हैं।

यथा—'**स भवान्**' के अर्थ में '**ततो भवान्**' अर्थात् प्रथमान्त 'तद्' से 'तसिल्' का विधान देखा जाता है। इसी प्रकार '**तं भवन्तम्**'—के अर्थ में '**तत्र भवन्तम्**' तथा '**ततो भवन्तम्**' का प्रयोग भी होता है जहाँ क्रमशः 'त्रल्' एवं 'तसिल्' का प्रयोग द्वितीयान्त 'तद्+अम्' से हुआ है। इसी प्रकार 'दीर्घायुः' तथा 'देवानां प्रियः' आदि के साथ भी 'ततो दीर्घायुः', 'तत्र देवानां प्रियः' आदि प्रयोगों में भी 'तसिल्' तथा 'त्रल्' आदि की ऊहा करनी चाहिए।

१२०६. सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा ५।३।१५

सप्तम्यन्तेभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात्।

प०वि०—सर्वैकान्यकिंयत्तदः ५।३।। काले ७।१।। दा १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, सप्तम्याः।

अर्थ—काल अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त **सर्व, एक, अन्य, किम्, यत्** और **तत्** प्रातिपदिकों से **स्वार्थ** में तद्धितसंज्ञक '**दा**' प्रत्यय होता है।

१२०७. सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ५।३।६

दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा स्यात्। सर्वस्मिन् काले-सदा, सर्वदा। एकदा। अन्यदा। कदा। यदा। तदा। काले किम्? सर्वत्र देशे।

प०वि०—सर्वस्य ६।१।। सः १।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। दि ७।१।। **अनु०**—प्राग्दिशः।

अर्थ—दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते '**सर्व**' के स्थान पर विकल्प से '**स**' आदेश होता है।

सदा—(सर्वस्मिन् काले) सप्तम्यन्त 'सर्व+ङि' से 'सर्वैकान्यकिं०' से स्वार्थ में 'दा' प्रत्यय, पूर्ववत् 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति-लुक्, 'सर्वस्य सोऽन्य०' से विकल्प से 'सर्व' को 'स' आदेश होकर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'तत्र' आदि के समान 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होकर 'सदा' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **एकदा, अन्यदा** आदि की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

काले किम्–पूर्वसूत्र (१२०६) में 'काले' पद का प्रयोजन यह है कि सूत्र में परिगणित शब्द यदि 'काल' से भिन्न अर्थ में होंगे तो वहाँ 'दा' प्रत्यय नहीं होगा। जैसे-**'सर्वत्र देशे'** में देश अर्थात् स्थान अर्थ में होने के कारण 'दा' नहीं होता, 'त्रल्' ही होता है।

१२०८. इदमोर्हिल् ५।३।१६

सप्तम्यन्तात्। काले इत्येव।

प०वि०–इदमः ५।१।। र्हिल् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, काले, सप्तम्याः।

अर्थ–काल अर्थ में विद्यमान सप्तम्यन्त **'इदम्'** प्रातिपदिक से उत्तर **'स्वार्थ** में तद्धितसंज्ञक **'र्हिल्'** प्रत्यय होता है।

१२०९. एतेतौ रथोः ५।३।४

इदम्शब्दस्य एत–इत् इत्यादेशौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये परे। अस्मिन् काले-एतर्हि। काले किम्? इह देशे।

प०वि०–एतेतौ १।२।। रथोः ७।२।। **अनु०**–इदमः, प्राग्दिशः।

अर्थ–'इदम्' शब्द से उत्तर प्राग्दिशीय **रेफादि प्रत्यय** परे रहते **'इदम्'** को 'एत' आदेश तथा **थकारादि प्रत्यय** परे रहते **'इदम्'** को **'इत्'** आदेश होते हैं। **यथा**-एतर्हि।

एतर्हि	(अस्मिन् काले)
इदम् ङि	'इदमोर्हिल्' से सप्तम्यन्त 'इदम्' से स्वार्थ में 'र्हिल्' प्रत्यय हुआ
इदम् ङि र्हिल्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से 'ङि' का लुक् हुआ
इदम् र्हि	रेफादि प्रत्यय परे रहते 'एतेतौ रथोः' से 'इदम्' को 'एत' आदेश हुआ
एत र्हि	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' से 'अव्यय' संज्ञा होने पर 'अव्ययादाप्सुपः' से अव्यय से उत्तर 'सु' का 'लुक्' होकर
एतर्हि	रूप सिद्ध होता है।

काले किम्–पूर्वसूत्र (१२०८) में 'काले' पद की अनुवृत्ति का प्रयोजन यह है कि 'काल' से भिन्न अर्थ में 'र्हिल्' प्रत्यय न हो। जैसे-'इह देशे' में 'स्थान' अर्थ में 'इदम्' से 'इदमो हः' से 'ह' प्रत्यय होता है, 'र्हिल्' नहीं।

१२१०. अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ५।३।२१

कर्हि, कदा। यर्हि, यदा। तर्हि, तदा।

प०वि०–अनद्यतने ७।१।। र्हिल् १।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, द्धिताः, सप्तम्याः, काले, किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः।

अर्थ–अनद्यतन (आज न होने वाले) काल अर्थ में विद्यमान 'द्वि' आदि को छोड़कर सप्तम्यन्त 'किम्' सहित सभी सर्वनाम शब्दों और 'बहु' शब्द से **स्वार्थ** में विकल्प से तद्धित-संज्ञक **'र्हिल्'** प्रत्यय होता है।

यथा–कर्हि, कदा। यर्हि, यदा। तर्हि, तदा।

कर्हि–(कस्मिन् अनद्यतने काले) सप्तम्यन्त 'किम्+ङि' से प्रकृत सूत्र 'अनद्यतने०' से 'र्हिल्' प्रत्यय, सुब्लुक्, 'प्रग्दिशो विभक्तिः' से 'विभक्ति' संज्ञा होने पर 'किमः कः' से विभक्ति परे रहते 'किम्' को 'क' आदेश होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'एतर्हि' (१२०९) के समान जानें।

कदा–(कस्मिन् अनद्यतने काले) काल अर्थ में विद्यमान सप्तम्यन्त 'किम्+ङि' से जब प्रकृत सूत्र से वैकल्पिक 'र्हिल्' नहीं हुआ तब 'सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा' से स्वार्थ में तद्धितसंज्ञक 'दा' प्रत्यय, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से सुपों का लुक्, 'प्राग्दिशो विभक्तिः' से 'दा' की 'विभक्ति' संज्ञा, 'किमः कः' से विभक्तिसंज्ञक 'दा' परे रहते 'किम्' को 'क' आदेश, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'तद्धितश्चासर्व०' से 'अव्यय' संज्ञा होने पर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होकर 'कदा' रूप सिद्ध होता है।

यर्हि, तर्हि–'यत्' से 'यर्हि' और 'तत्' से 'तर्हि' की सिद्धि-प्रक्रिया 'एतर्हि, (१२०९) के समान जानें।

यदा, तदा–'यत्' शब्द से 'यदा' और 'तत्' शब्द 'तदा' की सिद्धि-प्राक्रिया 'कदा' के समान जानें।

१२११. एतदोऽन् ५।३।५

योग विभागः कर्त्तव्यः। एतदः स्तो रथोः। 'अन्' एतद इत्येव। एतस्मिन् काले-एतर्हि।

प०वि०–एतदः ६।१।। अन् १।१।। **अनु०**–एतेतौ, रथोः, प्राग्दिशः।

विशेष–योग विभाग से इस सूत्र को 'एतदः' और 'अन्' दो भागों में बांटा जाता है।

अर्थ–(१) प्राग्दिशीय रेफादि प्रत्यय परे रहते **'एतद'** के स्थान पर **'एत'** और थकारादि प्रत्यय परे रहते **'एतद्'** के स्थान पर **'इत्'** आदेश होते हैं।

(२) रेफादि और थकारादि से भिन्न प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते **'एतद'** के स्थान पर **'अन्'** आदेश होता है।

एतर्हि–'एतस्मिन् काले' (इस समय में), सप्तम्यन्त 'एतद्+ङि' से 'अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्' से 'र्हिल्' प्रत्यय, रेफादि प्रत्यय परे रहते 'एतदोऽन्' से योगविभाग की

सहायता से 'एतद्' के स्थान पर 'एत' आदेश होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया (१२०९) में देखें।

१२१२. प्रकारवचने थाल् ५।३।२३

प्रकारवृत्तिभ्यः किमादिभ्यस्थाल् स्यात् स्वार्थे। तेन प्रकारेण-तथा। यथा।

प०वि०–प्रकारवचने ७।१।। थाल् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, किंसर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः।

अर्थ–प्रकारवाची (प्रकार अर्थ में विद्यमान) 'किम्' प्रातिपदिक से, द्वि-आदि से भिन्न सर्वनाम संज्ञक शब्दों से तथा 'बहु' शब्द से **स्वार्थ** में तद्धितसंज्ञक **'थाल्'** प्रत्यय होता है।

तथा–'तेन प्रकारेण' (उस प्रकार से), तृतीयान्त 'तद्+टा' सर्वनाम से प्रकार अर्थ में 'प्रकारवचने थाल्' से 'थाल्' प्रत्यय होने पर 'त्यदादीनामः' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप, स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' से 'अव्यय' संज्ञा होने पर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होकर 'तथा' रूप सिद्ध होता है।

यथा–इसी प्रकार 'यद्' सर्वनाम से 'थाल्' प्रत्यय होने पर 'यथा' रूप सिद्ध होता है।

१२१३. इदमस्थमुः ५।३।२४

थालोऽपवादः।

(वा०) एतदोऽपि वाच्यः। अनेन एतेन वा प्रकारेण-इत्थम्।

प०वि०–इदमः ५।१।। थमुः १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्रकारवचने।

अर्थ–प्रकारवाची **'इदम्'** प्रातिपदिक से **स्वार्थ** में तद्धित-संज्ञक **'थमु'** प्रत्यय होता है।

यह सूत्र 'प्रकारवचने थाल्' सूत्र का अपवाद है।

इत्थम्–'अनेन प्रकारेण' (इस प्रकार से), तृतीयान्त 'इदम्+टा' शब्द से प्रकृत सूत्र से 'थमु' (थम्) प्रत्यय होने पर 'एतेतौ रथोः' से थकारादि प्रत्यय परे रहते 'इदम्' को 'इत्' आदेश होकर 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' से 'अव्यय' संज्ञा होने पर पूर्ववत् 'सु' आकर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होकर 'इत्थम्' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) **एतदोऽपि०**–**अर्थ**–प्रकार अर्थ में वर्तमान **'एतद्'** प्रातिपदिक से भी स्वार्थ में तद्धित-संज्ञक **'थमु'** प्रत्यय होता है।

इत्थम्–'एतेन प्रकारेण' (इस प्रकार से), तृतीयान्त 'एतद्+टा' से प्रकृत वार्त्तिक से 'थमु' प्रत्यय होकर 'एतदोऽन्' से थकारादि प्रत्यय परे रहते 'एतद्' को 'इत्' आदेश होने पर शेष सुबुत्पत्ति आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'इत्थम्' रूप सिद्ध होता है।

१२१४. किमश्च ५।३।२५

केन प्रकारेण-कथम्।

।। इति प्राग्दिशीयाः ।।

प०वि०—किमः ५।१।। च अ०। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्रकारवचने, थमुः।

अर्थ—प्रकार अर्थ में विद्यमान **'किम्'** प्रातिपदिक से **स्वार्थ** में तद्धितसंज्ञक **'थमु'** प्रत्यय होता है

कथम्—'केन के प्रकारेण' (किस प्रकार से) तृतीयान्त 'किम्+टा' शब्द से 'किमश्च' से 'थमु' होकर सुब्लुक्, 'किमः कः' से विभक्तिसंज्ञक 'थम्' परे रहते 'किम्' को 'क' आदेश, स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'तद्धितश्चाऽसर्व०' से 'अव्यय' संज्ञा होने पर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होकर 'कथम्' रूप सिद्ध होता है।

।। प्राग्दिशीय-प्रकरण समाप्त ।।

अथ प्रागिवीया:

१२१५. अतिशायने तमबिष्ठनौ ५।३।५५

अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः। अयमेषामतिशयेनाढ्यः– आढ्यतमः। लघुतमो–लघिष्ठः

प०वि०–अतिशायने ७।१।। तमबिष्ठनौ १।२।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः।

अर्थ–अतिशय विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धित-संज्ञक **'तमप्'** और **'इष्ठन्'** प्रत्यय होते हैं।

आढ्यतमः–'अयम् एषम् अतिशयेनाढ्यः' (सबसे अधिक सम्पन्न) 'आढ्य+सु' शब्द से 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' से 'तमप्' प्रत्यय, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से 'सु' का लुक् तथा स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु', रुत्व और विसर्गादि होकर **'आढ्यतमः'** रूप सिद्ध होता है।

लघिष्ठः–'अयमेषाम् अतिशयेन लघुः', (अतिशय लघु) 'लघु+सु' शब्द से 'अतिशायने०' से 'इष्ठन्' प्रत्यय होने पर सुब्लुक्, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा, 'टेः' से 'इष्ठन्' प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक के टिभाग (उकार) का लोप तथा सुबुत्पत्ति आदि होकर **'लघिष्ठः'** रूप सिद्ध होता है।

१२१६. तिङश्च ५।३।५६

तिङन्तादतिशये द्योत्ये तमप् स्यात्।

प०वि०–तिङः ५।१।। च अ०। **अनु०**–तद्धिताः, अतिशायने, तमप्।

अर्थ–अतिशायन द्योतित होने पर तिङन्त से भी तद्धितसंज्ञक **'तमप्'** प्रत्यय होता है।

१२१७. तरप्तमपौ घः १।१।२२

एतौ घसंज्ञौ स्तः।

प०वि०–तरप्तमपौ १।२।। घः १।१।।

अर्थ–**'तरप्'** और **'तमप्'** प्रत्यय घसंज्ञक होते हैं।

१२१७. किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ५।४।११

किम एतदन्तात्तिङोऽव्ययाच्च यो घः तदन्तादामुः स्यान्न तु द्रव्यप्रकर्षे। किन्तमाम्। प्राह्णेतमाम्। पचतितमाम्। उच्चैस्तमाम्। द्रव्यप्रकर्षे तु उच्चैस्तमस्तरुः।

प०वि०–किमेत्तिङव्ययघात्। ५।१।। आमु लुप्तप्रथमान्त।। अद्रव्यप्रकर्षे ७।१।।

अनु०–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः।

अर्थ–द्रव्य-प्रकर्ष से भिन्न अर्थ वाले जो घसंज्ञक प्रत्ययान्त अर्थात् 'तरप्' और 'तमप्' प्रत्ययान्त 'किम्' शब्द, एकारान्त शब्द, तिङन्त शब्द और अव्यय शब्द, उनसे **स्वार्थ** में **'आमु'** प्रत्यय होता है।

किन्तमाम्–'इदम् एषाम् अतिशयेन किम्' (सबसे अधिक कुत्सित) 'किम्+सु' से 'अतिशायने०' से 'तमप्' होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से सुब्लुक् 'तरप्तमपौ घः' से 'तमप्' की घसंज्ञा होने पर 'किमेत्तिङव्यय०' से 'आमु' प्रत्यय, 'यस्येति च' से अकार-लोप, 'मोऽनुस्वारः' से 'किम्' के 'म्' को अनुस्वार, 'प्रत्यये भाषायाम् नित्यम्' से अनुस्वार को नित्य परसवर्ण नकार होकर 'किन्तमाम्' बनने पर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' से 'अव्यय' संज्ञा होने से 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होकर 'किन्तमाम्' रूप सिद्ध होता है।

प्राह्णेतमाम् –'अतिशयेन प्राह्णे' (अतिमध्याह्न) सप्तम्यन्त 'प्राह्ण+ङि' शब्द से 'अतिशायने तमबिष्ठ०' से 'तमप्' होने पर 'घकालतनेषु कालनाम्नः' से सप्तमी का अलुक् होने पर 'आद् गुणः' से गुण होकर 'प्राह्णेतम' बनने पर 'किमेत्तिङव्यय०' से 'आमु' प्रत्यय होने पर स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'प्राह्णेतमाम्' रूप सिद्ध होता है।

पचतितमाम्–'इयम् आसाम् अतिशयेन पचति' (इन सब में बढिया पकाती है) तिङन्त 'पचति' से 'तिङश्च' से 'तमप्' प्रत्यय होने पर 'किमेत्तिङव्ययघादा०' से 'आमु' प्रत्यय, 'यस्येति च' से अकार-लोप आदि 'किन्तमाम्' के समान होकर 'तद्धितश्चासर्व०' से 'अव्यय' संज्ञा होने से 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् होने पर 'पचतितमाम्' रूप सिद्ध होता है।

द्रव्यप्रकर्ष अर्थ में 'आमु' प्रत्यय नहीं होता। अतः **'उच्चैस्तमः'** रूप सिद्ध होता है।

१२१९. द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ५।३।५७

द्वयोरेकस्यातिशये विभक्तव्ये चोपपदे सुप्तिङन्तादेतौ स्तः। पूर्वयोरप वादः। अयमनयोरतिशयेन लघुर्लघुतरः। लघीयान्। उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः, पटीयांसः।

प०वि०–द्विवचनविभज्योपपदे ७।१।। तरबीयसुनौ १।२।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तिङः, अतिशायने।

अर्थ–दो में से एक का **अतिशय** अर्थात् आधिक्य बताना हो और विभज्यमान अर्थवाचक पद उपपद में हो तो सुबन्त और तिङन्त से 'तरप्' और **'ईयसुन्'** प्रत्यय होते हैं।

लघुतरः–'अयम् अनयोरतिशयेन लघुः', (यह इन दोनों में यह छोटा है) 'लघु+सु' शब्द से 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' से 'तरप्' प्रत्यय होने पर 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध-लोप, रुत्व और विसर्ग होकर 'लघुतरः' रूप सिद्ध होता है।

लघीयान्	अयम् अनयोरतिशयेन लघुः, (यह इन दोनों में यह छोटा है)
लघु सु	'द्विवचनविभज्यो०' से दो में से एक का अतिशय बताने के लिए 'लघु' शब्द से 'ईयसुन्' प्रत्यय हुआ
लघु सु ईयसुन्	'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, अनुबन्ध-लोप, 'टेः' से 'ईयसुन्' परे रहते भसंज्ञक के टि भाग (उकार) का लोप होकर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आया
लघीयस् सु	'सुडनपुंस्कस्य' से 'सु' की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होने पर 'उगिदचां सर्वनाम०' से नुमागम, अनुबन्ध-लोप
लघीय न् स् स्	'सान्तमहतः संयोगस्य' से सकारान्त संयोग के नकार की उपधा को सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते दीर्घ हुआ
लघीयान् स् स्	'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद के अन्तिम 'अल्' सकार का लोप होकर
लघीयान्	रूप सिद्ध होता है।

पटुतराः–'उदीच्याः प्राच्येभ्यः अतिशयेन पटवः' (उत्तर के लोग दक्षिण के लोग से अधिक चतुर होते हैं) 'लघुतर' के समान 'पट+जस्' से 'तरप्' और विभक्ति-लुक् होकर 'पटुतर' बनने पर बहुवचन में 'जस्' परे रहते 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ, सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'पटुतराः' रूप सिद्ध होता है।

पटीयांसः–'पटु+जस्' से 'ईयसुन्' होकर पूर्ववत् विभक्ति-लुक्, 'टेः' से टि-लोप, 'उगिदचां०' से 'नुम्', 'पट् ईय न् स्+अस्' यहाँ 'सान्तमहत०' से सकारान्त संयोग के नकार की उपधा को दीर्घ होकर प्र० वि०, बहु व० में 'जस्' के सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'पटीयांसः' रूप सिद्ध होता है।

१२२०. प्रशस्यस्य श्रः ५।३।६०

अस्य 'श्र' आदेशः स्यादजाद्योः परतः।

प०वि०–प्रशस्यस्य ६।१।। श्रः १।१।। **अनु०**–अजादी।

अर्थ–अजादि प्रत्यय (इष्ठन् और ईयसुन्) परे रहते **'प्रशस्य'** के स्थान पर **'श्र'** आदेश होता है।

१२२१. प्रकृत्यैकाच् ६।४।१६३

इष्ठादिष्वेकाच् प्रकृत्या स्यात्। श्रेष्ठः, श्रेयान्।

प०वि०–प्रकृत्या ३।१।। एकाच् १।१।। **अनु०**–इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य।

अर्थ–**इष्ठन्**, **ईयसुन्** और **इमनिच्** प्रत्यय परे रहते एकाच् भसंज्ञक अङ्ग को **प्रकृतिभाव** होता है।

श्रेष्ठः–'अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः' (इन सब में से अतिशय प्रशंसनीय) 'प्रशस्य+सु' शब्द से 'अतिशायनेतम०' से 'इष्ठन्', विभक्ति-लुक्, 'प्रशस्यस्य श्रः' से अजादि तद्धित परे रहते 'प्रशस्य' को 'श्र' आदेश, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'टेः' से टिलोप प्राप्त हुआ, जिसको बाधकर 'प्रकृत्यैकाच्' से प्रकृति भाव हो गया। 'आद् गुणः' से गुण, स्वाद्युत्पत्ति से 'सु', 'सु' के 'स्' को रुत्व एवं विसर्ग होकर 'श्रेष्ठः' रूप सिद्ध होता है।

श्रेयान्–'प्रशस्यस्य श्रः' से ईयसुन् परे रहते 'प्रशस्य' को 'श्र' आदेश तथा पूर्ववत् प्रकृतिभाव होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'लघीयान्' (१२१९) के समान जानें।

१२२२. ज्य च ५।३।६१

प्रशस्यस्य ज्यादेशः स्याद् इष्ठेयसोः। ज्येष्ठः।

प०वि०–ज्य लुप्तप्रथमान्त।। च अ०।। **अनु०**–प्रशस्यस्य, अजादी।

अर्थ–अजादि प्रत्यय 'इष्ठन्' और ईयसुन्' परे रहते **'प्रशस्य'** शब्द के स्थान पर **'ज्य'** आदेश भी होता है।

ज्येष्ठः–'अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः', 'प्रशस्य+सु' शब्द से 'इष्ठन्' परे रहते 'ज्य' आदेश होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'श्रेष्ठः' के समान जानें।

१२२३. ज्यादादीयसः ६।४।१६०

(७२) आदेःपरस्य। ज्यायान्।

प०वि०–ज्यात् ५।१।। आत् १।१।। ईयसः ६।१।।

अर्थ–'ज्य' से उत्तर 'ईयसुन्' के ईकार के स्थान में आकार आदेश होता है।

ज्यायान्–'प्रशस्य' को पूर्ववत् 'ज्य' आदेश होने पर 'ज्यादादीयसः' से 'ईयसुन्' के ईकार को आकारादेश होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'लघीयान्' (१२१९) के समान जानें।

१२२४. बहोर्लोपो भू च बहोः ६।४।१५८

बहोः परयोरिमेयसोर्लोपः स्याद् बहोश्च भूरादेशः। भूमा, भूयान्।

प०वि०–बहोः ५।१।। लोपः १।१। भू लुप्तप्रथमान्त।। च अ०।। बहोः ६।१।। **अनु०**–इष्ठेमेयस्सु।

अर्थ–'बहु' शब्द से उत्तर 'इष्ठन्', 'ईयसुन्' और 'इमनिच्' के आदि 'अल्' का लोप होता है तथा **'बहु'** शब्द के स्थान पर **'भू'** आदेश भी होता है।

विशेष:–'बहु' से उत्तर 'ईयसुन्' और 'इमनिच्' का जो लोप कहा गया है वह 'आदे: परस्य' परिभाषा के कारण आदि अल् (इकार और ईकार) का ही होता है सम्पूर्ण प्रत्ययों का नहीं।

भूमा 'बहोर्भाव:' (बहुतायत)

बहु ङस् 'पृथ्वादिभ्य: इमनिज्वा' से 'भाव' अर्थ में 'इमनिच्' प्रत्यय

बहु ङस् इमनिच् अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से विभक्ति का लुक्, 'बहोर्लोपो भू च बहो:' से 'बहु' को 'भू' आदेश तथा 'इमनिच्' के इकार का लोप हुआ

भू मन् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु', 'सर्वनामस्थाने०' से नान्त को उपधा की दीर्घ, 'सु' के सकार का 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से लोप तथा 'न लोप: प्राति०' से 'न्' का लोप होकर

भूमा रूप सिद्ध होता है।

भूयान्–'अयमनयोरतिशयेन बहु:' (यह इन दोनों में अधिक है) 'बहु+सु' शब्द से 'ईयसुन्' प्रत्यय करने पर 'बहोर्लोपो भू च बहो:' से 'बहु' शब्द को 'भू' आदेश और 'ईयसुन्' के ईकार का लोप होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'लघीयान्' (१२१९) के समान जानें।

१२२५. इष्ठस्य यिट् च ६।४।१५९

बहो: परस्य इष्ठस्य लोप: स्याद् यिडागमश्च। भूयिष्ठ:।

प०वि०–इष्ठस्य ६।१।। यिट् १।१।। च अ०।। **अनु०**–बहो:, लोप:, भू, च, बहो:।

अर्थ–'बहु' शब्द से उत्तर 'इष्ठन्' का (इष्ठन् के इकार का) लोप होता है, **'बहु'** के स्थान पर **'भू'** आदेश होता है तथा 'इष्ठन्' को **'यिट्'** आगम भी होता है।

भूयिष्ठ: 'एषाम् अतिशयेन बहु:' (इन में सबसे अधिक)

बहु सु 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' से अतिशय अर्थ में विद्यमान 'बहु' से 'इष्ठन्' प्रत्यय हुआ

बहु सु इष्ठन् अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, सुपो धातु०' से प्रातिपदिक के अवयव 'सु' का लुक्, 'इष्ठस्य यिट् च' से 'बहु' को 'भू' आदेश, 'इष्ठन्' के इकार का लोप तथा 'इष्ठन्' को 'यिट्' आगम हुआ

भू यिट् ष्ठ अनुबन्ध-लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर, रुत्व एवं विसर्ग होकर

भूयिष्ठ: रूप सिद्ध होता है।

१२२६. विन्मतोर्लुक् ५।३।६५

विनो मतुपश्च लुक् स्यादिष्ठेयसोः। अतिशयेन स्रग्वी–स्रजिष्ठः। स्रजीयान्। अतिशयेन त्वग्वान्–त्वचिष्ठः। त्वचीयान्।

प०वि०–विन्मतोः ६।२।। लुक् १।१।। **अनु०**–अजादी।

(यद्यपि सूत्र में 'इष्ठन्' और 'ईयसुन्' की अनुवृत्ति नहीं है पुनरपि इस प्रकरण में विधान होने के कारण इन दोनों प्रत्ययों का ग्रहण किया जाता है।)

अर्थ–अजादि प्रत्यय 'इष्ठन्' और 'ईयसुन्' परे रहते 'विन्' और 'मतुप्' का लुक् होता है।

स्रजिष्ठः	'अयमेषाम् अतिशयेन स्रग्वी' (यह इन सब माला वालों में अधिक माला वाला है)
स्रग्विन् सु	'अतिशायने तमबिष्ठनौ' से 'इष्ठन्' प्रत्यय हुआ
स्रग्विन् सु इष्ठन्	अनुबन्ध–लोप, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु–प्राति०' से विभक्ति–लुक् और 'विन्मतोर्लुक्' से 'इष्ठन्' परे रहते 'विन्' का लुक् हुआ[1]
स्रज् इष्ठ	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर, रुत्व एवं विसर्ग होने पर
स्रजिष्ठः	रूप सिद्ध होता है।

स्रजीयान् (अनयोः अतिशयेन स्रग्वी)–'स्रग्विन्+सु' से 'ईयसुन्' परे रहते 'विन्' का लुक् होने पर शेष सिद्धि–प्रक्रिया 'लघीयान्' (१२१९) के समान जानें।

त्वचिष्ठः–(अतिशयेन त्वग्वान्)–'त्वग्वत्+सु' से 'इष्ठन्' होकर पूर्ववत् 'मतुप्' का लोपादि होकर 'स्रजिष्ठः' के समान 'त्वचिष्ठः' जानें।

त्वचीयान् (अनयोरतिशयेन त्वग्वान्) में भी 'ईयसुन्' परे रहते 'मतुप्' का लोपादि कार्य 'स्रजीयान्' के समान ही होंगे।

१२२७. ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ५।३।६७

ईषदूनो विद्वान्–विद्वत्कल्पः। विद्वद्देश्यः। विद्वद्देशीयः। पचतिकल्पम्।

प०वि०–ईषदसमाप्तौ ७।१।। कल्पब्देश्यदेशीयरः १।३।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तिङः।

---

१. ('स्रग्विन्' शब्द 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' से 'स्रज्' से 'विनि' प्रत्यय होकर बना है। जब 'विन्मतो०' से 'विन्' का लुक् हुआ तो 'विन्' के कारण जो कार्य 'चोः कुः' से कुत्वादि हुए थे वे भी निवृत्त हो गए तथा 'स्रज्' शेष रहा, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः'।)

अर्थ—'**इषद्-असमाप्ति**' अर्थात् कुछ थोड़ी सी न्यूनता अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से और **तिङन्त** से **स्वार्थ** में तद्धितसंज्ञक '**कल्पप्**', '**देश्य**' और '**देशीयर्**' प्रत्यय होते हैं।

विद्वत्कल्पः — 'ईषदूनो विद्वान्' (कुछ न्यून विद्वान्)

विद्वस् सु — 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' से 'कल्पप्' प्रत्यय ईषद् असमाप्ति अर्थ में हुआ

विद्वस् सु कल्पप् — अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, सुपो धातु०' से 'प्रातिपदिक' के अवयव 'सु' का लुक्, 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा होने पर 'वसुस्रंसुध्वंसु०' से वस्वन्त को दकारादेश हुआ

विद्वद् कल्प — 'खरि च' से चर्त्व 'द्' को 'त्' आदेश होकर स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर रुत्व एवं विसर्ग होकर

विद्वत्कल्पः — रूप सिद्ध होता है।

विद्वद्देशीयः—इसी प्रकार 'देशीय' प्रत्यय होने पर 'विद्वद्देशीयः' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

पचतिकल्पम्—'ईषदूनं पचति' (कुछ कम पका रहा है) ईषदसमाप्ति अर्थ में विद्यमान 'पचति' तिङन्त से 'ईषदसमाप्तौ०' से 'कल्पप्' प्रत्यय होकर 'सामान्येन नपुंसकम्' से नुपंसकलिङ्ग होने के कारण 'सु' के स्थान पर 'अतोऽम्' से 'अम्' तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'पचतिकल्पम्' रूप सिद्ध होता है।

१२२८. विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु ५।३।६८

ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुबन्तात् बहुच् वा स्यात् स च प्रागेव न तु परतः। ईषदूनः पटुः-बहुपटुः। पटुकल्पः। सुपः किम्? यजतिकल्पम्।

प०वि०—विभाषा १।१।। सुपः ५।१।। बहुच् १।१।। पुरस्तात् अ०।। तु अ०।।
अनु०—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, ईषदसमाप्तौ।

अर्थ—'ईषद्-असमाप्ति' अर्थात् कुछ कम समाप्ति अर्थ में वर्तमान सुबन्त प्रकृति से पूर्व तद्धितसंज्ञक 'बहुच्' प्रत्यय विकल्प से होता है, परे नहीं[1]।

बहुपटुः — 'ईषदूनः पटुः' (कुछ कम चतुर)

पटु सु — 'विभाषा सुपो बहुच्०' से ईषदसमाप्ति अर्थ में विद्यमान 'पटु+सु' से 'बहुच्' प्रत्यय प्रकृति से पूर्व हुआ

१. सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में एकमात्र यही (बहुच्) प्रत्यय है जो प्रत्ययः परश्च नियम का अपवाद है और प्रकृति से पहले होता है।

बहुच् पटु सु — अनुबन्ध लोप 'अर्थवदधातुरप्रत्ययप्रातिपदिकम्' से 'बहु पटु सु' की 'प्रातिपदिक'[1] संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से 'सु' का लुक् होकर स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर

बहुपटुः — रूप सिद्ध होता है।

पटुकल्पः–जिस पक्ष में 'बहुच्' नहीं होगा तो 'कल्पप्' प्रत्यय होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

सुपः किम्–प्रकृत सूत्र में 'सुपः' पद का प्रयोजन यह है कि 'बहुच्' प्रत्यय सुबन्तों से ही हो, तिङन्तों से नहीं। जैसे– 'यजतिकल्पम्' में 'यजति' तिङन्त से 'कल्पप्' प्रत्यय तो होता है 'बहुच्' नहीं।

१२२९. प्रागिवात् कः ५।३।७०

'इवे प्रतिकृतौ' इत्यतः प्राक्ः काधिकारः।

प०वि०–प्राक् अ०।। इवात् ५।१।। कः १।१।। **अनु०**–तद्धिताः।

अर्थ–यह अधिकार सूत्र है। **'इवे प्रतिकृतौ'** (५।३।९६) से पहले तक तद्धितसंज्ञक 'क' प्रत्यय का अधिकार जायेगा।

१२३०. अव्यय-सर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः ५।३।७१

कापवादः। तिङश्चेत्यनुवर्त्तते।

(वा०) ओकार-सकार-भकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच्, अन्यत्र तु सुबन्तस्य टेः प्रागकच्।

प०वि०–अव्ययसर्वनाम्नाम् ६।३।। अकच् १।१। प्राक् अ०।। टेः ५।१।। **अनु०**–तद्धिताः, प्रागिवात्, तिङः।

अर्थ–यहाँ से लेकर 'इवे प्रतिकृतौ' (५।३।९६) के पूर्व तक कहे जाने वाले अर्थों में **अव्यय, सर्वनाम** और **तिङन्त** (तिङ्प्रत्ययान्त) शब्दों के **'टि' भाग से पहले** तद्धित-संज्ञक **'अकच्'** (अक) प्रत्यय होता है।

यह सूत्र पूर्वसूत्र से प्राप्त 'क' प्रत्यय का अपवाद है।

---

१. इस सिद्धि-प्रक्रिया में 'बहुच्' प्रत्यय की, तद्धितसंज्ञक होने पर भी, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती क्यों कि यहाँ तद्धित-प्रत्यय अन्त में नहीं है।
यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'बहु पटु+सु' के भी प्रत्ययान्त समुदाय होने से 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' से उक्त 'प्रातिपदिक' संज्ञा कैसे हो सकती है? इसका समाधान यह है कि 'सु' प्रत्यय की उत्पत्ति 'पटु' से होती है 'बहु पटु' से नहीं। इसलिए 'पटु+सु' के प्रत्ययान्त समुदाय होने पर भी 'बहु पटु सु' को प्रत्ययान्त नहीं कहा जा सकता तथा 'अप्रत्यय' के द्वारा उक्त प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रवृत्त नहीं होता।

(वा०) ओकार सकार भकारादौ०—**अर्थ**—ओकारादि, सकारादि और भकारादि 'सुप्' परे रहते मूल सर्वनाम प्रकृति के टि भाग से पूर्व 'अकच्' प्रत्यय होता है तथा अन्यत्र अर्थात् ओकारादि, सकारादि और भकारादि से भिन्न सुप् परे रहते सुबन्त के 'टि भाग' से पूर्व 'अकच्' होता है।

१२३१. अज्ञाते ५।३।७३

कस्यायमश्वोऽश्वकः। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वके। युष्मकाभिः युवकयोः। त्वयका।

प०वि०—अज्ञाते ७।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तिङः, सुपः, कः, अव्ययसर्वनाम्नामकच्, टेः।

अर्थ—अज्ञात अर्थ में वर्तमान तिङन्त, सुबन्त और प्रातिपदिक से यथाविहित 'क' या 'अकच्' आदि प्रत्यय होते है।

अश्वकः	'अज्ञातो अश्वः' (यह घोड़ा किसका है)।
अश्व सु	'अज्ञाते' सूत्र से अज्ञात अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त प्रातिपदिक से तद्धित-संज्ञक 'कः' प्रत्यय हुआ
अश्व सु क	'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से सुब्लुक् होने पर स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर
अश्वकः	रूप सिद्ध होता है।
उच्चकैः[1]	'अज्ञातम् उच्चैः' (जिसकी ऊँचाई ज्ञात न हो)
उच्चैस्	'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' के अधिकार में 'अज्ञाते' से अव्यय के टिभाग से पहले 'अज्ञात' अर्थ में 'अकच्' प्रत्यय, 'अचोऽन्त्यादि टि' से 'ऐस्' की 'टि' संज्ञा होने से, 'ऐस्' से पहले हुआ
उच्च् अकच् ऐस्	अनुबन्ध-लोप
उच्च् अक् ऐस्	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
उच्च् अक् ऐस् सु	'स्वरादिनिपातमव्ययम्' से 'उच्चैस्' की 'अव्यय' संज्ञा होने से 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक्, 'ससजुषो रुः' से 'स्' को रुत्व तथा 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्ग आदेश होकर
उच्चकैः	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'नीचकैः'** और **'सर्वके'** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

युष्मकाभिः	'अज्ञातैर्युष्माभिः' (अज्ञात तुम से)

---

१. 'उच्चैः' की 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' से अव्यय संज्ञा है।

युष्मद् भिस्	'अव्ययसर्वनाम्नामकच्०' से 'युष्मद्' सर्वनाम के टिभाग से पूर्व 'अकच्' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर (वा०) 'ओकार-सकार भकारादौ सुपि सर्वनामनष्टेः प्रागकच्' से प्रकृति के टिभाग से पहले 'अकच्' हुआ
युष्म् अकच् अद् भिस्	अनुबन्ध-लोप
युष्म् अक् अद् भिस्	'युष्मदस्मदोरनादेशे' से हलादि विभक्ति परे रहते आदेश रहित 'युष्मद्' के अन्तिम अल् 'द्' को 'आ' आदेश हुआ
युष्म् अक् अ आ भिस्	'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हुआ
युष्मका भिस्	'ससजुषो रुः' से सकार को 'रु' आदेश हुआ
युष्मकाभि रु	अनुबन्ध-लोप
युष्मकाभि र्	'विरामोऽवसानम् से 'अवसान' संज्ञा होने पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से अवसान में रेफ को विसर्ग आदेश होकर
युष्मकाभिः	रूप सिद्ध होता है।

युवकयोः–'अज्ञातयोर्युवयोः', अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में विद्यमान 'युष्मद्+ओस्' से 'अव्ययसर्वनाम्नाम०' से टि भाग से पूर्व 'अकच्', 'युवावौ द्विवचने' से मपर्यन्त भाग को 'युव' आदेश, 'अतो गुणे' से पररूप तथा 'योऽचि' से दकार को यकार आदेश होकर 'युवकय्+ओस्' यहाँ सकार को रुत्व और विसर्ग होकर 'युवकयोः' रूप सिद्ध होता है।

त्वयका–'युष्मद्' से 'टा' परे रहते 'त्वया' (३२०) के समान बनने पर टि भाग से पूर्व 'अकच्' होकर 'त्वयका' रूप सिद्ध होता है।

१२३२. कुत्सिते ५।३।७४

कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः

प०वि०–कुत्सिते ७।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तिङः, सुपः, प्रागिवात्कः, अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः।

अर्थ–कुत्सित अर्थ में विद्यमान प्रातिपदिक, सुबन्त और तिङन्तों से यथा-विहित 'अकच्' तथा 'क' आदि प्रत्यय होते हैं। अर्थात् अव्यय और सर्वनाम के टिभाग से पहले 'अकच्' प्रत्यय तथा अन्य से 'क' प्रत्यय होता है

अश्वकः–(कुत्सितो अश्वः) 'अश्व' शब्द से 'कुत्सिते' सूत्र से 'क' प्रत्यय होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया (१२३१) में देखें।

१२३३. किंयत्तदोनिर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ५।३।९२

अनयोः कतरो वैष्णवः। यतरः। ततरः।

प०वि०–किंयत्तदः ५।१।। निर्धारणे ७।१।। द्वयोः ७।२।। एकस्य ६।१।। डतरच् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः।

अर्थ–दो में से एक का निर्धारण करने के लिए **किम्**, **यद्** और **तद्** प्रातिपदिकों से तद्धित-संज्ञक **'डतरच्'** प्रत्यय होता है।

कतर:–'अनयो: क: वैष्णव:' (इन दोनों में से कौन वैष्णव है।) 'किम्+सु' शब्द से 'किंयत्तदो निर्धारणे०' से दो में से एक के निर्धारण अर्थ में तद्धित-संज्ञक 'डतरच्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से तद्धितान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से 'सु' का लुक्, 'यचि भम्' से भसंज्ञा तथा 'टे:' से भसंज्ञक के टि भाग 'इम्' का लोप होने पर स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर **कतर:** रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'यत्' से **'यतर:'** और 'तत्' से **'ततर:'** की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

१२३४. वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ५।३।९३

बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे डतमच् वा स्यात्। 'जातिपरिप्रश्ने' इति प्रत्याख्यातमाकरे। कतमो भवतां कठः। यतम:। ततम:। वा ग्रहणमकजर्थम्। यक:। सक:।

॥ इति प्रागिवीया: ॥

प०वि०–वा अ०। बहूनाम् ६।३।। जातिपरिप्रश्ने ७।१।। डतमच् १।१।।
अनु०–प्रातिपदिकात्, तद्धिता:, किंयत्तद:, निर्धारणे, एकस्य।

अर्थ–बहुतों में से एक का निर्धारण करने के लिये **'किम्'**, **'यद्'** और **'तद्'** प्रातिपदिकों से तद्धित-संज्ञक **'डतमच्'** प्रत्यय विकल्प से होता है

'कतमो भवतां कठ:' (आप में से कठ शाखा का कौन है) 'किम्+सु' शब्द से निर्धारण गम्यमान होने पर 'वा बहूनां जातिपरि०' से 'डतमच्' (अतम) प्रत्यय, 'सुपो धातु०' से 'सु' का लुक्, तथा 'यचि भम्' से भसंज्ञा होने पर 'टे:' से टिभाग का लोप होकर 'कतर:' के समान सुबुत्पत्ति आदि होकर 'कतम:' रूप सिद्ध होता है।

'तद्' शब्द से **'ततम:'** और 'यद्' शब्द से **'यतम:'** भी इसी प्रकार जानें।

यक:–'एषाम् य:' (इनमें से यह) 'यद्' शब्द से 'डतमच्' के अभाव पक्ष में 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्०' से 'टि' भाग से पूर्व 'अकच्' होकर 'सु' आने पर 'त्यदादीनाम:' से अत्व, 'अतो गुणे' से पररूप, प्र० वि०, एक व० में 'सु', रुत्व और विसर्ग होकर 'यक:' रूप सिद्ध होता है।

सक:–'तद्' शब्द से 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्०' से टिभाग से पहले 'अकच्' प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'त्+अक्+अद्+सु' यहाँ 'त्यदादीनाम:' से दकार को अत्व, अतो गुणे' से पररूप एकादेश, 'सु' परे रहते 'तदो स: सावनन्त्ययो:' से तकार के स्थान में सकार होने पर 'सु' के सकार को 'ससजुषो रु:' से रुत्व और 'खरवसानयो:०' से रेफ को विसर्ग आदेश होकर 'सक:' रूप सिद्ध होता है।

॥ प्रागिवीय-प्रकरण समाप्त ॥

अथ स्वार्थिकाः

१२३५. इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६

कन् स्यात्। अश्व इव प्रतिकृतिः-अश्वकः।

(वा०) 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन्। अश्वकः।

प०वि०—इवे ७।१।। प्रतिकृतौ ७।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, कन्।

अर्थ—'इव' के अर्थ में विद्यमान प्रातिपदिक से **प्रतिकृति** (समान आकृति) अर्थ में तद्धित-संज्ञक **'कन्'** प्रत्यय होता है।

अश्वकः—'अश्व इव प्रतिकृतिः' (अश्व के सदृश प्रतिकृति) 'अश्व+सु' शब्द से 'इवे प्रतिकृतौ' से प्रतिकृति अभिधेय होने पर सादृश्य अर्थ में 'कन्' प्रत्यय होकर 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, सुबुत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होकर 'अश्वकः' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) सर्वप्रातिपदिकेभ्यः०—अर्थ—सभी प्रातिपदिकों से **स्वार्थ** अर्थात् प्रातिपदिक के अर्थ को कहने के लिए **'कन्'** प्रत्यय होता है। 'अश्व एव'- अश्वकः।

१२३६. तत्प्रकृतवचने मयट् ५।४।२१

प्राचुर्येण प्रस्तुतं-प्रकृतं, तस्य वचनं-प्रतिपादनम्। भावे, अधिकरणे वा ल्युट्। आद्ये-प्रकृतमन्नम् अन्नमयम्। अपूपमयम्। द्वितीये तु-अन्नमयो यज्ञः। अपूपमयं पर्व।

प०वि०—तत् १।१।। प्रकृतवचने ७।१।। मयट् १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, तद्धिताः।

अर्थ—प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'प्रकृत' अर्थात् **'प्रचुरता से प्रस्तुत'** अर्थ में **'मयट्'** प्रत्यय होता है।

विशेष— सूत्र में प्रयुक्त 'वचने' पद में 'वच्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय 'भाव' और 'अधिकरण' अर्थ में होगा। इस प्रकार 'प्रकृतवचन' पद का दो प्रकार से विग्रह होगा। भाव में (१) 'प्रकृतस्य वचनम्' तथा अधिकरण में (२) 'प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन्'। जब वस्तु के प्राचुर्य मात्र का कथन अपेक्षित होगा तो वहाँ 'भाव' अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय मानेंगे। ऐसे स्थलों में **'प्राचुर्य'** प्रकृति का अर्थ होने के कारण 'मयट्' प्रत्यय स्वार्थ में होगा। इसके विपरीत जब अधिकरण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय मानेंगे तो वहाँ 'प्रभूत' अर्थ प्रत्यय का मानना होगा। इसलिए प्रथम पक्ष में जो शब्द होंगे उनमें सामान्येन नपुंसक लिंग तथा द्वितीय पक्ष में 'आधार' के अनुसार पुल्लिग आदि होंगे।

अन्नमयम्–'प्रकृतमन्नम्' प्रचुरमन्नम्। प्रथमान्त शब्द 'अन्न+सु' से 'तत्प्रकृतवचने॰' से 'मयट्' प्रत्यय होकर, 'सुपो धातुप्राति॰' से 'सु' का लुक्, 'मयट्' प्रत्यय स्वार्थिक होने के कारण 'मयट्' प्रत्ययान्त शब्द भी प्रकृति के अनुरूप नपुंसकलिङ्ग में होगा, इसलिए प्र॰ वि॰, एक व॰ में 'सु' आने पर 'अतोऽम्' से 'सु' को 'अम्' आदेश तथा 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश होने पर 'अन्नमयम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **'अपूपमयम्'** इत्यादि रूप भी जानने चाहिएं।

द्वितीय पक्ष में तो **'अन्नमयः यज्ञः'** आदि में 'प्रकृतं–प्रभूतमन्नम् यस्मिन् यज्ञे' इत्यादि विग्रह करने पर 'प्रभूत' अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय का होगा तथा वहाँ विशेष्य के अनुसार 'अन्नमयः' में भी पुल्लिंग होगा।

१२३७. प्रज्ञादिभ्यश्च ५।४।३८

अण् स्यात्। प्रज्ञ एव-प्राज्ञः। प्राज्ञी स्त्री। दैवतः। बान्धवः।

प॰वि॰–प्रज्ञादिभ्यः ५।३।। च अ॰।। **अनु॰**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, अण्।

अर्थ–प्रज्ञादिगण में पठित **'प्रज्ञ'** आदि प्रातिपदिकों से **स्वार्थ** में तद्धित-संज्ञक **'अण्'** प्रत्यय होता है।

प्राज्ञः–'प्रज्ञ एव' (बुद्धिमान्) 'प्रज्ञ' शब्द से स्वार्थ में तद्धित-संज्ञक 'अण्' प्रत्यय होकर 'तद्धितेष्व॰' से आदि अच् को वृद्धि, 'यस्येति च' से अकार-लोप तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'प्राज्ञः' शब्द बनता है।

प्राज्ञी–'प्रज्ञ' शब्द से 'अण्' प्रत्यय होकर 'प्राज्ञ' बनने पर स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्॰' से 'ङीप्' प्रत्यय होकर पुनः 'यस्येति च' से अकार-लोप तथा 'सु' आने पर सकार का हल्ङ्यादि लोप होकर 'प्राज्ञी' रूप सिद्ध होता है।

दैवतः–'देवता एव', **बान्धवः**–'बन्धुरेव', इत्यादि में भी 'देवता' एवं 'बन्धु' शब्दों से प्रकृत सूत्र से स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय, 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् को वृद्धि, 'यस्येति च' से अकार-लोप, 'ओर्गुणः' से **बन्धु** के उकार को गुण 'ओ' तथा 'एचोऽयवायावः' से 'अव्' आदेश होकर सुबुत्पत्ति, प्र॰ वि॰, एक व॰ में 'सु' आकर रुत्व और विसर्ग होकर उक्त दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

१२३८. बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् ५।४।४२

बहूनि ददाति-बहुशः। अल्पशः।

(वा॰) आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्।

आदौ-आदितः। मध्यतः। अन्ततः। पार्श्वतः। आकृतिगणोऽयम्। स्वरेण- स्वरतः। वर्णतः।

प॰वि॰–बह्वल्पार्थात् ५।१।। शस् १।१।। कारकात् ५।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। **अनु॰**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः।

अर्थ–बहुत अर्थ वाले तथा अल्पार्थक कारकाभिधायी प्रातिपदिक से **स्वार्थ** में विकल्प से तद्धितसंज्ञक **'शस्'** प्रत्यय होता है।

बहुशः–'बहूनि ददाति' (बहुत देता है) कर्म कारकाभिधायी 'बहु+शस्' शब्द से 'बह्वल्पार्था०' से स्वार्थ में 'शस्' प्रत्यय होने पर 'बहु+शस्+शस्' यहाँ 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से सुप् (शस्) का लुक् हुआ, तदनन्तर औत्सर्गिक 'सु' आने पर 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' से 'बहु+शस्' की 'अव्यय' संज्ञा होने से 'अव्ययादाप्सुपः से 'सु' का लुक् होकर **बहुशः** रूप सिद्ध होता है।

(वा०) **आद्यादिभ्यस्०**–**अर्थ**–आद्यादि गण में पठित **'आदि'** इत्यादि सुबन्तों से **स्वार्थ** में तद्धित-संज्ञक **'तसि'** प्रत्यय होता है।

आदितः–(आदौ इति) सप्तम्यन्त 'आदि+ङि' शब्द से 'आद्यादिभ्यस्तसे०' (वा०) से स्वार्थ में 'तसि' प्रत्यय होकर 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक्, पुनः स्वाद्युत्पत्ति, औत्सर्गिक 'सु' आने पर 'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक् तथा 'तस्' के सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग होकर 'आदितः' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **मध्यतः**, **अन्ततः** आदि की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

आद्यादिगण आकृतिगण है, अतः प्रयोगों को देखकर ही इस गण में परिगणित शब्दों को जाना जायेगा।

१२३९. कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विः ५।४।५०

(वा०) अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्। विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्तमानाद्विकारशब्दात् स्वार्थे च्विर्वा स्यात् करोत्यादिभिर्योगे।

प०वि०–कृभ्वस्तियोगे ७।१।। सम्पद्यकर्त्तरि ७।१।। च्विः १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा।

अर्थ–**अभूततद्भाव** गम्यमान होने पर अर्थात् जो पहले नहीं था, उसकी निष्पत्ति होने पर सम्पद्यमान कर्त्ता अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से, **कृ**, **भू** और **अस्** धातुओं का योग होने पर **स्वार्थ** में तद्धित-संज्ञक **'च्वि'** प्रत्यय विकल्प से होता है।

(वा०) **अभूततद्भाव इति०**–**अर्थ**–यह वार्तिक 'च्वि' का अर्थनिर्धारक है। अर्थात् प्रकृत सूत्र के द्वारा 'च्वि' प्रत्यय **अभूततद्भाव** अर्थात् कार्यरूप में अपरिणत कारण की कार्यरूप में परिणति गम्यमान होने पर होगा, अन्यथा नहीं।

१२४०. अस्य च्वौ ७।४।३२

अवर्णस्य ईत् स्यात् च्वौ। च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम्। अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति-कृष्णीकरोति। ब्रह्मीभवति। गङ्गीस्यात्।

(वा०)–अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम्। दोषाभूतमहः। दिवाभूता रात्रिः।

प०वि०–अस्य ६।१।। च्वौ ७।१।। **अनु०**–अङ्गस्य, ईत्।

अर्थ—अकारान्त अङ्ग को **ईकार** (अन्तादेश) आदेश होता है **'च्वि'** प्रत्यय परे रहते।

'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से ईकार आदेश अन्तिम 'अल्' अकार के स्थान पर ही होता है।

'च्वि' प्रत्ययान्त शब्दों की 'तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः' से अव्ययसंज्ञा होती है, अतः 'च्वि' प्रत्ययान्त से परे सर्वत्र सुपों का लुक् 'अव्ययादाप्सुपः' से जानना चाहिए।

कृष्णीकरोति	'अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति—कृष्णीकरोति'
कृष्ण अम् (करोति)	'अभूततद्भावे इति वक्तव्यम्' इस वार्तिक की सहायता से 'कृभ्वस्तियोगे संपद्य०' से 'कृ' धातु के योग में अभूततद्भाव गम्यमान होने पर सम्पद्यमान कर्त्ता अर्थ में विद्यमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'च्वि' प्रत्यय हुआ
कृष्ण अम् च्वि	'चुटू' से चकार की तथा 'उपदेशेऽज०' से इकार की 'इत्' संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' से दोनों का लोप हुआ
कृष्ण अम् व्	'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' से 'व्' की 'अपृक्त' संज्ञा होने पर 'वेरपृक्तस्य' से अपृक्त 'व्' का लोप हुआ
कृष्ण अम्	'कृत्तद्धित०' से 'च्वि' प्रत्ययान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो 'धातुप्राति०' से 'अम्' का लुक् हुआ
कृष्ण	'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से लुप्त 'च्वि' को निमित्त मानकर 'अस्य च्वौ' से अकार के स्थान में ईकार आदेश हुआ
कृष्णी	स्वाद्युत्पत्ति, प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया
कृष्णी सु	'ऊर्यादिच्विडाचश्च' से 'च्वि' प्रत्ययान्त की गतिसंज्ञा, 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' से निपातसंज्ञा तथा 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' से निपात की अव्ययसंज्ञा होने पर 'अव्यययादाप्सुपः' से अव्यय से उत्तर 'सु' का लुक् होकर
कृष्णीकरोति	रूप सिद्ध होता है।

ब्रह्मी भवति—(अब्रह्म ब्रह्म सम्पद्यमानं भवति) और **गङ्गीस्यात्** (अगङ्गा गंगा सम्पद्यमाना स्यात्) की सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जाननी चाहिए।

(वा०) **अव्ययस्य च्वावीत्वं०**—**अर्थ**—'अस्य च्वौ' से विहित 'च्वि' प्रत्यय परे रहते अवर्ण के स्थान पर होने वाला ईकारान्तादेश अव्यय को नहीं होता।

दोषाभूतम् अहः—'अदोषा दोषा सम्पद्यमानं भूतम्' (जो रात्रि नहीं था वह रात्रि बन गया ऐसा दिन)

यहाँ 'दोषा' प्रातिपदिक से 'भूतम्' परे रहते 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य०' से 'च्वि' प्रत्यय आकर उसका सर्वापहारी लोप होने पर लुप्त 'च्वि' को प्रत्ययलक्षण से निमित्त मान

कर 'अस्य च्वौ' से ईकारान्तादेश प्राप्त था, जिसका 'अव्ययस्य च्वावीत्वं०' (वा०) से निषेध होने पर सुबुत्पत्ति होकर 'सु' आने पर 'सु' का लोपादि कार्य 'कृष्णीकरोति' के समान होकर 'दोषाभूतमह:' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **दिवाभूता** (अदिवा दिवा सम्पद्यमाना भूता) की सिद्धि-प्रक्रिया जाननी चाहिए।

१२४१. विभाषा साति कार्त्स्न्ये ५।४।५२

च्विविषये सातिर्वा स्यात् साकल्ये।

प०वि०–विभाषा १।१।। साति लुप्त-प्रथमान्त।। कार्त्स्न्ये ७।१।।
अनु०–प्रातिपदिकात्, तद्धिता:, अभूततद्भावे, कृभ्वस्तियोगे, सम्पद्यकर्त्तरि।

अर्थ–अभूततद्भाव में अर्थात् कार्यरूप में अपरिणत कारण की जब कार्य रूप में परिणति गम्यमान हो तो 'सम्पद्यते' क्रिया के कर्त्ता अर्थ में विद्यमान प्रातिपदिक से **कृ**, **भू** तथा **अस्** धातु के योग में 'कार्त्स्न्य' (साकल्य) गम्यमान होने पर विकल्प से **'साति'** प्रत्यय होता है। पक्ष में यथा-प्राप्त 'च्वि' प्रत्यय भी होगा।

१२४२. सात्पदाद्यो: ८।३।१११

सस्य षत्वं न स्यात्। दधि सिञ्चति। कृत्स्नं शस्त्रमग्नि: सम्पद्यते- अग्निसाद्भवति।

प०वि०–सात्पदाद्यो: ६।२।। **अनु०**–मूर्धन्य:, स:, न।

अर्थ–(इण् तथा कवर्ण से उत्तर) 'सात्' के सकार को तथा पद के आदिभूत सकार को मूर्धन्य षकार नहीं होता।

यह सूत्र 'आदेशप्रत्यययो:' से प्राप्त मूर्धन्य आदेश का अपवाद है।

दधि सिञ्चति–दही सींचता है। यहाँ 'आदेशप्रत्यययो:' से 'दधि' के इकार से उत्तर 'सिञ्चति' पद के आदिभूत आदेश के सकार को मूर्धन्यादेश प्राप्त था, जिसका 'सात्पदाद्यो:' से पद के आदि में षत्व का निषेध हो गया।

अग्निसाद्भवति	'कृत्स्नं शस्त्रमग्नि: सम्पद्यते' (सम्पूर्ण शस्त्र अग्नि स्वरूप हो गया)
अग्नि सु (भवति)	'विभाषा साति कार्त्स्न्ये' से अभूततद्भाव अर्थ में वर्तमान 'सम्पद्यते' क्रिया के कर्त्ता 'अग्नि' से 'भू' धातु (भवति) के योग में विकल्प से 'साति' प्रत्यय हुआ, अनुबन्ध-लोप
अग्नि सु सात्	'कृत्तद्धित० से 'सात्' प्रत्ययान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातुप्राति०' से 'सु' का लुक् हुआ
अग्नि सात्	स्वाद्युत्पत्ति से प्रथमा-एकवचन में 'सु' आया
अग्निसात् सु	तद्धितश्चासर्वविभक्ति:' से 'साति' प्रत्ययान्त की 'अव्यय' संज्ञा होने पर 'अव्ययादाप्सुप:' से अव्यय से उत्तर 'सु' का लुक् हुआ

अग्निसात् — यहाँ 'आदेशप्रत्यययोः' से 'इण्' (इकार) से उत्तर प्रत्यय के सकार को मूर्धन्यादेश प्राप्त था, जिसका 'सात्पदाद्योः' से 'सात्' के सकार को मूर्धन्यादेश का निषेध हो गया
'झलां जशोऽन्ते' से पदान्त में 'झल्' तकार को 'जश्' दकार होकर

अग्निसाद्भवति — रूप सिद्ध होता है।

१२४३. च्वौ च ७।४।२६

च्वौ च परे पूर्वस्य दीर्घः स्यात्। अग्नी भवति।

प०वि०–च्वौ ७।१।। च अ०।। **अनु०**–दीर्घः, अङ्गस्य।

अर्थ–'च्वि' प्रत्यय परे रहते पूर्ववर्ती अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है।

अग्नी भवति–'अनग्निः अग्निः सम्पद्यमानो भवति' (जो अग्नि नहीं था वह अग्नि स्वरूप हो गया) 'अग्नि+सु' शब्द से 'कृभ्वस्तियोगे०' से 'भू' धातु के योग में अभूततद्भाव गम्य होने पर 'च्वि' प्रत्यय होकर उसका सर्वापहारी लोप होने पर, सुब्लुक्, प्रत्यय-लक्षण से लुप्त 'च्वि' को निमित्त मानकर 'च्वौ च' से इकार को दीर्घ सुबुत्पत्ति होकर 'सु' आने पर 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' से च्विप्रत्ययान्त की 'गति' संज्ञा, 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' से 'निपात' संज्ञा तथा 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' से निपात की 'अव्यय' संज्ञा होने से 'अव्ययादाप्सुपः' से अव्यय से उत्तर 'सु' का लुक् होकर 'अग्नी भवति' रूप सिद्ध होता है।

१२४४. अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् ५।४।५७

द्व्यजेवावरं न्यूनं न तु ततो न्यूनमनेकाजिति यावत्तादृशमर्धं यस्य तस्माड् डाच् स्यात् कृभ्वस्तिभिर्योगे।

(वा०१) डाचि च द्वे बहुलम्। इति डाचि विवक्षिते द्वित्वम्।

(वा०२) नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्।

डाच्परं यदाम्रेडितं तस्मिन्परे पूर्वपरयोर्वर्णयोः पररूपं स्यात्। इति तकारपकारयोः पकारः। पटपटा करोति। अव्यक्तानुकरणात्किम्? ईषत्करोति। द्व्यजवरार्धात्किम्? श्रत्करोति। अवरेति किम्? खरटखरटाकरोति। अनितौ किम्? पटिति करोति

॥ इति स्वार्थिकाः ॥

प०वि०–अव्यक्तानुकरणात् ५।१।। द्व्यजवरार्धात् ५।१।। अनितौ ७।१।। डाच् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, कृभ्वस्तियोगे।

अर्थ–अव्यक्त ध्वनियों का ऐसा अनुकरण शब्द जिसका अर्धभाग कम से कम दो अच् वाला हो, उससे 'इति' परे न होने पर, 'कृ', 'भू' तथा 'अस्' धातुओं के योग में स्वार्थ में तद्धितसंज्ञक **'डाच्'** प्रत्यय होता है।

(वा०१) **डाचि च द्वे बहुलम्**—**अर्थ**—'डाच्' प्रत्यय की विवक्षा होने पर अव्यक्त के अनुकरण शब्द को विकल्प से द्वित्व होता है।

(वा०२) **नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्**—**अर्थ**—'डाच्' परे है जिससे ऐसा आम्रेडितसंज्ञक परे रहते पूर्व और पर वर्णों के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

पटपटा करोति 'पटत्-पटत् करोति' ('पटत्' ऐसी ध्वनि करता है)

'पटत्' अम् (करोति)	यहाँ अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण 'पटत्' से 'इति' शब्द परे नहीं है तथा 'कृ' धातु (करोति) के साथ कर्मत्वेन सम्बन्ध भी है इसलिए भविष्य में 'डाच्' प्रत्यय होगा, इस विवक्षा में 'डाचि च द्वे बहुलम्' वार्त्तिक से द्वित्व हुआ
पटत् अम् पटत् अम्	'अव्यक्तानुकरणाद्०' से अव्यक्त के अनुकरण दो अच् वाले 'पटत्' से इति परे न होने पर 'कृ' धातु के योग में तद्धितसंज्ञक 'डाच्' हुआ,
पटत् अम् पटत् अम् डाच्	अनुबन्ध-लोप, 'कृत्तद्धित०' से तद्धितान्त की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातु०' से प्रातिपदिक के अवयव 'अम्' प्रत्ययों का लुक् हुआ,
पटत् पटत् आ	'तस्य परमाम्रेडितम्' से बाद वाले 'पटत्' की 'आम्रेडित' संज्ञा होती है। अत: 'नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्' वार्त्तिक से डाच्-परक आम्रेडित परे रहते पूर्व 'पटत्' के तकार और पर 'पटत्' के पकार के स्थान में पररूप एकादेश (पकार) हुआ
पट पटत् आ	'यचि भम्' से भसंज्ञा तथा 'टे:' से डित् (डाच्) परे रहते भसंज्ञक के टिभाग 'अत्' का लोप होने पर
पटपटा करोति	रूप सिद्ध होता है।

अव्यक्तानुकरणात् किम्—सूत्र में 'अव्यक्तानुकरणाद्०' पद का प्रयोजन यह है कि अव्यक्तानुकरण से भिन्न पदों से 'डाच्' नहीं होता। यथा—**ईषत्करोति** में 'ईषत्' किसी अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण नहीं है अपितु 'थोड़ा' अर्थ में अव्यय है इसलिए 'डाच्' और डाचपरक द्वित्वादि कार्य नहीं होते।

द्व्यजवरार्धात् किम्—सूत्र में '**द्व्यजवरार्धात्**' पद का प्रयोजन यह है कि अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण होने पर यदि द्वित्व करने पर जिसके आधे भाग में कम से कम दो अच् हों तो उससे ही 'डाच्' प्रत्यय होता है, एकाच् पद से 'डाच्' प्रत्यय नहीं होता। अत: **श्रत्करोति** यहाँ पर अव्यक्तध्वनि के अनुकरण 'श्रत्' से एकाच् होने के कारण 'डाच्' प्रत्यय नहीं हुआ।

अवरेति किम्—सूत्र में '**अवर**' (न्यून अर्थात् कम से कम) पद का प्रयोजन यह है कि यदि 'अवर' पद का पाठ सूत्र में न करते तो केवल दो अच् वाले अव्यक्तध्वनि

के अनुकरण शब्द से ही 'डाच्' प्रत्यय हो पाता, दो से अधिक अच् वाले **'खरटखरटा करोति'** आदि से नहीं। 'अवर' पद के पाठ से प्रस्तुत उदाहरण में भी 'डाच्' प्रत्यय हो ही जाता है।

अनितौ किम्—सूत्र में अनितौ पद का प्रयोजन यह है कि यदि अव्यक्तध्वनि के अनुकरण शब्द के बाद **'इति'** शब्द परे हो तो 'डाच्' प्रत्यय न हो, जिससे **'पटिति'** आदि प्रयोग सिद्ध हो सकें।

पटिति—'पटत्+इति' यहाँ 'डाच्' न होने से 'अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ' से 'इति' परे रहते अव्यक्त के अनुकरण 'पटत्' के 'अत्' और 'इति' के इकार के स्थान पर पररूप ('इ') एकादेश होकर 'पटिति' रूप सिद्ध होता है।

।। स्वार्थिक-प्रकरण समाप्त ।।

।। तद्धित प्रकरण समाप्त ।।

अथ स्त्रीप्रत्यय-प्रकरणम्

१२४५. स्त्रियाम् ४।१।३

अधिकारोऽयं 'समर्थानाम्०' इति यावत्।

प०वि०—स्त्रियाम् ७।१।।

अर्थ--यह अधिकार सूत्र है। 'स्त्रियाम्' इस सूत्र से लेकर 'समर्थानाम् प्रथमाद्वा' ४।१।८२ सूत्र से पूर्व तक प्रातिपदिकों से जिन प्रत्ययों को विधान किया जायेगा वे सभी स्त्रीत्व की विवक्षा में ही होंगे।

१२४६. अजाद्यतष्टाप् ४।१।४

अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्यात्। अजा। एडका। अश्वा। चटका। मूषिका। बाला। वत्सा। होडा। मन्दा। विलाता। मेधा-इत्यादिः अजादिगणः। सर्वा।

प०वि०—अजाद्यतः ५।१।। टाप् १।१।। **अनु०**—स्त्रियाम्।

अर्थ—अजादिगण में पठित 'अज' आदि शब्दों से तथा ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय होता है।

अजा	बकरी
अज	'अजाद्यतष्टाप्' से अजादिगण में पठित 'अज' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' हुआ
अज टाप्	अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हुआ
अजा	आबन्त होने से 'स्वौजसमौट्छस्०' इत्यादि स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र 'रामः' (१२४) के समान लगकर 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' से प्रथमा विभक्ति तथा 'द्वयेकयोर्द्वि० से एकवचन की विवक्षा में 'सु' आया
अजा सु	'उपदेशेऽजनु०' से उकार की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से 'इत्' संज्ञक उकार का लोप हुआ
अजा स्	'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' से एक अल्रूप प्रत्यय सकार की 'अपृक्त' संज्ञा होकर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से आबन्त से परे 'सु' के अपृक्त 'हल्' सकार का लोप होकर
अजा	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **एडका, अश्वा, चटका, बाला, वत्सा** और **होडा** आदि शब्दों की सिद्धि-प्रक्रिया भी जानें।

मूषिका 'मूष् स्तेये' धातु से संज्ञा अर्थ में औणादिक 'क्वुन्' प्रत्यय आने पर 'युवोरनाकौ' से 'वु' को 'अक' आदेश होकर 'मूषक' कृदन्त प्रातिपदिक बनता है जिसे अजादि गण में पढ़ा गया है।

मूषक 'अजाद्यतष्टाप्' से स्त्रीत्व की विवक्षा में अजादि गण में पठित 'मूषक' से 'टाप्' प्रत्यय हुआ

मूषक टाप् अनुबन्ध-लोप

मूषक आ 'प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' से सुप् परे नहीं है जिससे ऐसा 'टाप्' परे रहते प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व ह्रस्व अकार के स्थान में ह्रस्व इकार आदेश हुआ

मूष् इक आ 'अकः सवर्णे दीर्घः' से 'अक्' (अ) से उत्तर सवर्ण अच् (आ) परे रहते दीर्घ एकादेश हुआ

मूषिका आबन्त से स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदिकार्थ०' से प्रथमा विभक्ति और 'द्व्येकयोर्द्वि०' से एक वचन की विवक्षा में 'सु' आया

मूषिका सु अनुबन्ध-लोप होने पर 'स्' का पूर्ववत् हल्ङ्याादि लोप होकर

मूषिका रूप सिद्ध होता है।

सर्वा—ह्रस्व अकारान्त 'सर्व' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्', 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ, सुबुत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर सकार का हल्ङ्याादि लोप आदि सभी कार्य 'अजा' के समान होकर 'सर्वा' रूप सिद्ध होता है।

१२४७. उगितश्च ४।१।६

उगिदन्तात्प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीप् स्यात्। भवन्ती। पचन्ती। दीव्यन्ती।

प०वि०—उगितः ५।१॥ च अ०॥ **अनु०**—स्त्रियाम्, ङीप्।

अर्थ—उगिदन्त अर्थात् जिसका अन्तिम 'उक्' (उ, ऋ, लृ) वर्ण 'इत्' संज्ञक हो उस प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ङीप्'** प्रत्यय होता है।

भवन्ती (होती हुई)

भवत् यह शब्द 'भू' धातु से 'लट्' के स्थान में 'शतृ' होने पर 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्', 'सार्वधातुकार्ध०' से ऊकार को गुण, 'एचोऽयवायावः' से ओकार को अवादेश तथा 'अतो गुणे' से पररूप करने पर बना है। 'शतृ' के ऋकार (उक्) की इत्संज्ञा

	होने से यह उगिदन्त भी है, अतः 'उगितश्च' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीप्' हुआ
भवत् ङीप्	अनुबन्ध-लोप, 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' से स्त्री आख्या वाले ईकार (ङीप्) की 'नदी' संज्ञा होने पर 'शाश्यनोर्नित्यम्' से 'नदी' संज्ञक परे रहते 'शप्' के अकार से उत्तर जो 'शतृ' का अवयव, तदन्त को नित्य 'नुम्' आगम, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से 'नुम्' आगम अन्तिम अच् से परे हुआ
भव नुम् त् ई	अनुबन्ध-लोप, 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अपदान्त नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्ण आदेश हुआ
भवन्त् ई	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर संहिता होने पर
भवन्ती	रूप सिद्ध होता है।

पचन्ती, दीव्यन्ती—इसी प्रकार 'शतृ' प्रत्ययान्त 'पचत्' और 'दीव्यत्' से 'उगितश्च' से 'ङीप्' आदि कार्य होकर 'पचन्ती' और 'दीव्यन्ती' रूप सिद्ध होंगे।

१२४८. टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः। ४।१।१५

अनुपसर्जनं यट्टिदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततः स्त्रियाम् ङीप् स्यात्। कुरुचरी। नदट्-नदी। देवट्-देवी। सौपर्णेयी। ऐन्द्री। औत्सी। ऊरुद्वयसी। ऊरुदघ्नी। ऊरुमात्री। पञ्चतयी। आक्षिकी। प्रास्थिकी। लावणिकी। यादृशी। इत्वरी।

(वा०) नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुण-तलुनानामुपसंख्यानम्। स्त्रैणी। पौंस्नी। शाक्तीकी। आढ्यङ्करणी। तरुणी। तलुनी।

प०वि०—टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्.....क्वरपः ५।१।। **अनु०**—ङीप्, अतः, स्त्रियाम्, अनुपसर्जनात्।

अर्थ—टित् प्रत्ययान्त, **ढ**, **अण्**, **अञ्**, **द्वयसच्**, **दघ्नच्**, **मात्रच्**, **तयप्**, **ठक्**, **ठञ्**, **कञ्** तथा **क्वरप्** प्रत्ययान्त ह्रस्व अकारान्त अनुपसर्जन प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ङीप्'** प्रत्यय होता है।

कुरुचरी	'कुरुषु चरति स्त्री' (कुरु देश में घूमने वाली)
	'कुरुचर' शब्द 'कुरु' अधिकरण उपपद में रहते 'चर्' धातु से 'चरेष्टः' से 'ट' प्रत्यय होकर बना है अतः टित् होने से 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्०' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीप्' प्रत्यय हुआ

कुरुचर ङीप्	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से अजादि प्रत्यय परे रहते 'कुरुचर' की भसंज्ञा होने पर 'यस्येति च' से ईकार परे रहते भसंज्ञक के अकार का लोप हुआ
कुरुचरी	ङ्यन्त होने के कारण स्वाद्युत्पत्ति के सभी सूत्र लगकर 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' से प्रथमा विभक्ति तथा 'द्व्येकयो०' से एकवचन की विवक्षा में 'सु' आया
कुरुचरी सु	अनुबन्ध-लोप, 'अपृक्त एकाल्प्रत्यय:' से एक-अल्रूप प्रत्यय 'स्' की 'अपृक्त' संज्ञा हुई
कुरुचरी स्	'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से ङ्यन्त से उत्तर 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर
कुरुचरी	रूप सिद्ध होता है।

नदी–'नदट्' में टकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होने पर 'टिड्ढाणञ्०' से 'ङीप्' होकर 'कुरुचरी' के समान 'नदी' रूप सिद्ध होगा।

विशेष–आगे के उदाहरणों में 'ङीप्' के पश्चात् जहाँ स्वाद्युत्पत्ति का उल्लेख प्राय: नहीं किया गया है वहाँ भी 'सु' आने पर हल्ङ्यादि लोप आदि कार्य 'कुरुचरी' के समान ही जानें।

देवी–'नदी' के समान ही 'देवट्' शब्द से 'टिड्ढाणञ्०' से 'ङीप्' होकर 'देवी' की सिद्धि-प्रक्रिया जानें।

सौपर्णेयी–'सुपर्णाया अपत्यं स्त्री' यहाँ 'सुपर्णा+ङस्' से 'स्त्रीभ्यो ढक्' से अपत्यार्थक 'ढक्' प्रत्यय, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से 'ङस्' का लुक्, 'आनयेयीनी०' से 'ढ्' को 'एय्' तथा 'किति च' से आदि वृद्धि होकर 'सौपर्णेय' बनने पर 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्०' से 'ङीप्' होकर शेष कार्य 'कुरुचरी' के समान होकर 'सौपर्णेयी' रूप सिद्ध होता है।

ऐन्द्री–'इन्द्रस्यापत्यं स्त्री' यहाँ 'इन्द्र+ङस्' से 'प्राग्दीव्यतोऽण्' से अपत्यार्थक 'अण्' प्रत्यय, विभक्ति-लुक्, 'तद्धितेष्वचमा०' से आदि अच् को वृद्धि होकर बने 'ऐन्द्र' शब्द से पूर्ववत् 'ङीप्' आदि होकर 'ऐन्द्री' रूप सिद्ध होता है।

औत्सी–'उत्सस्यापत्यं स्त्री' यहाँ 'उत्स+ङस्' से 'उत्सादिभ्योऽञ्' से 'अपत्य' अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होने पर आदि-वृद्धि होकर 'औत्स' बनने पर 'अञ्' प्रत्ययान्त शब्द से 'टिड्ढाणञ्०' से पूर्ववत् 'ङीप्' आदि कार्य होकर 'औत्सी' रूप सिद्ध होता है।

ऊरुद्वयसी, ऊरुदघ्नी, ऊरुमात्री–'ऊरु प्रमाणमस्या: नद्या:' यहाँ 'ऊरु+ङस्' से 'प्रमाण' अर्थ में 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्०' से क्रमश: 'द्वयसच्', 'दघ्नच्' और 'मात्रच्' प्रत्यय तथा विभक्ति-लुक् होकर **ऊरुद्वयस, ऊरुदघ्न** और **ऊरुमात्र** बनने पर 'टिड्ढाणञ्०' से 'ङीप्' प्रत्यय, स्वाद्युत्पत्ति तथा 'सु' का लोप आदि पूर्ववत् जानें।

पञ्चतयी–'पञ्च अवयवा यस्याः सा' यहाँ 'पञ्चन्+जस्' से 'संख्याया: अवयवे तयप्' से 'तयप्' प्रत्यय, विभक्ति-लुक् 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पद' संज्ञा, 'न लोपः०' से 'न्' का लोप होकर 'पञ्चतय' बनने पर स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्०' से 'ङीप्' प्रत्यय तथा शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

आक्षिकी–'अक्षान्, अक्षैर्वा दीव्यति' (पासों से खलेने वाली) 'अक्ष+भिस्' से 'तेन दीव्यति खनति०' से 'ठक्' प्रत्यय, विभक्ति-लुक्, 'ठस्येकः' से 'ठकार' को 'इक्' आदेश, 'किति च' से आदिवृद्धि होकर 'आक्षिक' बनने पर 'ठक्' प्रत्ययान्त से पूर्ववत् 'टिड्ढाणञ्०' से 'ङीप्' प्रत्यय तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'आक्षिकी' रूप सिद्ध होता है।

प्रास्थिकी–'प्रस्थने क्रीता' (एक प्रस्थ से खरीदी गई) 'प्रस्थ+टा' से 'तेन क्रीतम्' से 'क्रीत' अर्थ में 'ठञ्', 'ठस्येकः' से ठकार को 'इक्' आदेश, 'तद्धितेष्वचा०' से आदि अच् को वृद्धि होकर 'प्रास्थिक' बनने पर पूर्ववत् 'टिड्ढाणञ्द्वय०' से 'ङीप्' प्रत्यय तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'प्रास्थिकी' रूप सिद्ध होता है।

लावणिकी–'लवणं पण्यं अस्याः' (नमक बेचने वाली) 'लवण+सु' से 'लवणाट्ठञ्' से 'तदस्य पण्यम्' अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय, 'ठस्येकः' से ठकार को 'इक्', 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि होकर 'लावणिक' बनने पर पूर्ववत् 'टिड्ढाणञ्०' से 'ङीप्' प्रत्यय तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि कार्य होकर 'लावणिकी' रूप सिद्ध होता है।

यादृशी–(जैसी) 'यत्' उपपद में रहते 'दृश्' धातु से 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' से 'कञ्' प्रत्यय होने पर 'आसर्वनाम्नः' से 'दृश्' परे रहते 'यत्' को आकार अन्तादेश होने पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश होकर 'यादृश' बनने पर 'कञ्' प्रत्ययान्त से 'टिड्ढाणञ्०' से 'ङीप्' होने पर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

इत्वरी–(स्वेच्छाचारिणी) 'इण् गतौ' धातु से 'इण्नशजि०' से 'क्वरप्' होकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'इ+वर' यहाँ 'ह्रस्वस्य पिति०' से इकार को 'तुक्' आगम होकर 'इत्वर' बनने पर 'क्वरप्' प्रत्ययान्त से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्०' से 'ङीप्' प्रत्यय और सुबुत्पत्ति आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'इत्वरी' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) **नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुण०–अर्थ**–**नञ्**-प्रत्ययान्त, **स्नञ्**-प्रत्ययान्त, **ईकक्** प्रत्ययान्त, **ख्युन्**-प्रत्ययान्त तथा **तरुण** और **तलुन** प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में **'ङीप्'** प्रत्यय होता है।

स्त्रैणी–(स्त्री सम्बन्धिनी) 'स्त्री+सुप्' से 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्०' से 'तत्र भवः' आदि अर्थों में 'नञ्' प्रत्यय, 'सुपो धातु०' से सुब्लुक्, 'तद्धितेष्वचा०' से आदि अच् को वृद्धि होकर 'स्त्रैण' बनने पर 'नञ्स्नञीकक्०' वार्त्तिक से नञ्-प्रत्ययान्त से 'ङीप्' प्रत्यय होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

पौंस्नी–(पुरुषसम्बन्धिनी) 'पुंस्+सुप्' से 'स्त्रीपुंसाभ्यां०' से 'स्नञ्' प्रत्यय होकर,

'सुपो धातु०' से सुब्लुक्, 'तद्धितेष्व०' से आदि वृद्धि, 'पौंस्+स्न' यहाँ 'स्वादिष्वसर्व०' से 'पौंस्' की पद संज्ञा होने पर 'संयोगान्तस्य लोपः' से सकार का लोप होकर 'पौंस्न' शब्द बनने पर 'नञ्स्नञीकक्०' (वा) से 'स्नञ्' प्रत्ययान्त से 'ङीप्' प्रत्यय होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जाननी चाहिए।

शाक्तीकी–'शक्तिः प्रहरणम् अस्याः' (शक्ति शस्त्र वाली) 'शक्ति+सु' से 'शक्तियष्ट्योरीकक्' से 'तदस्य प्रहरणम्' अर्थ में 'ईकक्' प्रत्यय, 'सुपो धातुप्राति०' से सुब्लुक्, 'किति च' से कित् तद्धित परे रहते आदि अच् को वृद्धि तथा 'यस्येति च' से इकार-लोप होकर 'शाक्तीक' बनने पर स्त्रीत्व की विवक्षा में 'नञ्स्नञीकक्०' (वा) से 'ङीप्' प्रत्यय आदि कार्य पूर्ववत् होकर 'शाक्तीकी' रूप सिद्ध होता है।

आढ्यङ्करणी–'अनाढ्य आढ्यः क्रियते अनया' (निर्धन को धनवान् बनाने वाली) आढ्यपूर्वक 'कृ' धातु से 'आढ्यसुभगस्थूल०' से 'करण' कारक में 'ख्युन्' प्रत्यय, 'युवोरनाकौ' से 'यु' को 'अन' आदेश, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' को 'अर्' हुआ, 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व, 'खित्यनव्ययस्य' से खित् परे रहते 'आढ्य' को मुमागम, 'मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार को परसवर्ण 'ङ्' होकर 'आढ्यङ्करण' बनने पर 'नञ्स्नञीकक्०' वार्त्तिक से 'ङीप्' प्रत्यय, पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति तथा सकार का हल्ङ्यादि लोप आदि सभी कार्य होकर 'आढ्यङ्करणी' रूप सिद्ध होता है।

तरुणी, तलुणी–**तरुण** एवं **तलुन** शब्दों से स्त्रीत्व-विवक्षा में 'नञ्स्नञ् ईकक्०' वार्त्तिक से 'ङीप्' प्रत्यय तथा स्वाद्युत्पत्ति आदि अन्य कार्य पूर्ववत् होकर 'तरुणी' और 'तलुनी' रूप बनते हैं।

१२४९. यञश्च ४।१।१६

यञन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात्। अकारलोपे कृते–

प०वि०–यञः ५।१।। च अ०।। **अनु०**–स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, ङीप्।

अर्थ–यञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ङीप्'** प्रत्यय होता है।

१२५०. हलस्तद्धितस्य ६।४।१५०

हलः परस्य तद्धितयकारस्योपधाभूतस्य लोप ईकारे परे। गार्गी।

प०वि०–हलः ५।१।। तद्धितस्य ६।१।। **अनु०**–यः, उपधायाः, ईति, लोपः।

अर्थ–भसंज्ञक अङ्ग के हल् से उत्तर तद्धित प्रत्यय के उपधाभूत यकार का लोप होता है ईकार परे रहते।

गार्गी

गर्ग+ङस्	'गर्गस्य अपत्यं स्त्री' (गर्ग गोत्र की लड़की)
	'गर्गादिभ्यो यञ्' से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'यञ्' प्रत्यय हुआ

गर्ग यञ् — अनुबन्ध-लोप, कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति० से 'ङस्' का लुक्, 'तद्धितेष्व०' से ञित् तद्धित परे रहते आदि अच् को वृद्धि, 'यचि भम्' से यकारादि प्रत्यय परे रहते पूर्व की 'भ' संज्ञा तथा 'यस्येति च' से तद्धित परे रहते अकार का लोप हुआ

गार्ग्य — 'यञश्च' से स्त्रीत्व की विवक्षा में यञन्त से 'ङीप्' आया

गार्ग्य ङीप् — अनुबन्ध-लोप

गार्ग्य ई — 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा, 'यस्येति च' से ईकार परे रहते अकार का लोप, 'असिद्धवदत्राभात्' से आभीय कार्यों के परस्पर असिद्ध होने से 'हलस्तद्धितस्य' की दृष्टि में अकार-लोप के असिद्ध होने पर यकार को उपधा में मान लिया जाता है, अतः 'हलस्तद्धितस्य' से ईकार परे रहते भसंज्ञक अङ्ग से उत्तर तद्धित के उपधाभूत यकार का लोप हुआ

गार्गी — स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से ङ्यन्त से उत्तर 'सु' के 'अपृक्त' संज्ञक 'स्' का लोप होकर

गार्गी — रूप सिद्ध होता है।

१२५१. प्राचां ष्फस्तद्धितः ४।१।१७

यञन्तात् ष्फो वा स्यात्, स च तद्धितः।

प०वि०—प्राचाम् ६।३।। ष्फः १।१।। तद्धितः १।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, यञः, स्त्रियाम्।

अर्थ—प्राचाम् अर्थात् पूर्व देश में रहने वाले आचार्यों के मत में यञन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ष्फ'** प्रत्यय होता है और वह **'तद्धित'** संज्ञक भी होता है।

१२५२. षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१

षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च ङीष् स्यात्। गार्ग्यायणी। नर्तकी। गौरी। (वा०) आमनडुहः स्त्रियां वा। अनड्वाही। अनडुही। आकृतिगणोऽयम्।

प०वि०—षिद्गौरादिभ्यः ५।३।। च अ०।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, ङीष्।

अर्थ—**षित्** प्रातिपदिकों से तथा **गौरादि** गण में पठित शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ङीष्'** प्रत्यय होता है।

गार्ग्यायणी — 'गर्गस्य युवापत्यं स्त्री' अपत्य अर्थ में 'गर्ग+ङस्' से 'गर्गादिभ्यो यञ्' से 'यञ्' प्रत्यय होकर, अनुबन्ध लोप, सुब्लुक्, 'यस्येति च' से अकार-लोप तथा 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् को वृद्धि आदि होकर 'गार्ग्य' बना है

गार्ग्य — 'प्राचां ष्फस्तद्धितः' से यञन्त से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से 'ष्फ' प्रत्यय हुआ

गार्ग्य ष्फ — 'षः प्रत्ययस्य' से प्रत्यय के आदिभूत षकार की इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से लोप हुआ

गार्ग्य फ — 'आयनेयीनीयियः॰' से प्रत्यय के आदि 'फ्' को 'आयन्' आदेश हुआ

गार्ग्य आयन् अ — 'यचि भम्' से भसंज्ञा 'यस्येति च' से अकार-लोप तथा 'अट्कुप्वाङ्॰' से नकार के स्थान में णकार हुआ

गार्ग्यायण — 'षित्' होने के कारण 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय हुआ

गार्ग्यायण ङीष् — अनुबन्ध-लोप, 'यस्येति च' से अकार का लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप होने पर पूर्ववत् 'हल्ङ्याब्भ्यो॰' से सकार लोप होकर

गार्ग्यायणी — रूप सिद्ध होता है।

नर्त्तकी — (नाचने वाली)

नर्त्तक — 'नृत्' धातु से 'शिल्पिनि ष्वुन्' से 'ष्वुन्' प्रत्यय होने पर 'युवोरनाकौ' से 'वु' को 'अक' आदेश तथा ऋकार को 'पुगन्तलघूपधस्य च' से गुण होकर बना 'नर्त्तक' शब्द षित् है अतः 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय हुआ

नर्त्तक ङीष् — अनुबन्ध-लोप, 'यस्येति च' से अकार-लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर हल्ङ्यादि लोप आदि कार्य पूर्ववत् होकर

नर्त्तकी — रूप सिद्ध होता है।

गौरी–(गौर वर्ण वाली स्त्री) 'गौर' शब्द से, 'गौरादिगण में पठित होने के कारण, 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से 'ङीष्' होकर पूर्ववत् 'यस्येति च' से अकार लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर हल्ङ्यादि लोप आदि होकर 'गौरी' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) **आमनडुहः स्त्रियां वा**–**अर्थ**–स्त्रीलिङ्ग में ङीप् परे रहते **'अनडुह्'** शब्द को विकल्प से **'आम्'** आगम होता है।

अनड्वाही — (गाय)

अनडुह् — गौरादिगण में पठित 'अनडुह्' शब्द से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय हुआ। 'आमनडुहः स्त्रियां वा' वार्त्तिक से स्त्रीलिङ्ग में 'अनुडुह्' को 'आम्' आगम हुआ

अनडु आम् ह् ङीष् — अनुबन्ध-लोप

अनडु आ ह् ई — 'इको यणचि' से यणादेश 'उ' को 'व्' हुआ

अनड्वाही	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि० एक व० में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप तथा 'हल्ङ्या०' से सकार का लोप होकर
अनड्वाही	रूप सिद्ध होता है।

'आम्' अभाव पक्ष में 'अनडुही' रूप सिद्ध होता है।

१२५३. वयसि प्रथमे ४।१।२०

प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात् स्त्रियाम् ङीप् स्यात्। कुमारी।

प०वि०—वयसि ७।१।। प्रथमे ७।१।। **अनु०**—ङीप्, अतः, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्।

अर्थ—वयस् (आयु) का प्रथम भाग अर्थात् कौमारावस्था के बोधक ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ङीप्'** प्रत्यय होता है।

कुमारी—प्रथम अवस्था के वाचक 'कुमार' शब्द से स्त्रीत्व-विवक्षा में 'वयसि प्रथमे' से 'ङीप्' प्रत्यय होकर पूर्ववत् 'यस्येति च' से अकार-लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु', अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर 'कुमारी' रूप सिद्ध होता है।

१२५४. द्विगोः ४।१।२१

अदन्ताद् द्विगोर्ङीप् स्यात्। त्रिलोकी। अजादित्वात्-त्रिफला। त्र्यनीका सेना।

प०वि०—द्विगोः ५।१।। **अनु०**—प्रातिपदिकात्, अतः, ङीप्, स्त्रियाम्।

अर्थ—ह्रस्व अकारान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ङीप्'** प्रत्यय होता है।

त्रिलोकी	'त्रयाणां लोकानां समाहारः' (तीन लोकों समूह)
त्रि आम् लोक आम्	'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' से समाहार अर्थ में तत्पुरुष समास हुआ, 'कृत्तद्धितसमासा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से प्रातिपदिक के अवयव सुपों का लुक् हुआ
त्रिलोक	'संख्यापूर्वो द्विगुः' से यहाँ तत्पुरुष समास की 'द्विगु' संज्ञा होने से 'द्विगोः' से ह्रस्व अकारान्त द्विगु से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीप्' प्रत्यय हुआ[1], अनुबन्ध-लोप
त्रिलोक ई	पूर्ववत् 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा, 'यस्येति च' से भसंज्ञक के अकार का लोप तथा स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से ङ्यन्त से उत्तर 'सु' के सकार का लोप होकर
त्रिलोकी	रूप सिद्ध होता है।

---

१. अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः, बा० म०, सूत्र (४७८).

त्रिफला–(त्रयाणां फलानां समाहारः) 'त्रि+आम् फल+आम्' यहाँ 'तद्धितार्थोत्तर०' से समास, 'कृत्तद्धित०' से समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से सुपों का लुक्, 'संख्यापूर्वो द्विगुः' से 'द्विगु' संज्ञा होने पर स्त्रीत्व की विवक्षा में 'द्विगोः' से प्राप्त 'ङीप्' को बाधकर, अजादि गण में पठित होने के कारण, 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' प्रत्यय, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश, सुबुत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर 'त्रिफला' रूप सिद्ध होता है।

त्र्यनीका–(त्रयाणामनीकानां समाहारः) की सिद्धि-प्रक्रिया 'त्रिफला' के समान जानें।

१२५५. वर्णादनुदात्तात् तोपधात् तो नः ४।१।३९

वर्णवाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्तादनुपसर्जनात् प्रातिपदिकाद् वा ङीप् तकारस्य नकारादेशश्च। एता, एनी। रोहिता, रोहिणी।

प०वि०–वर्णाद् ५।१।। अनुदत्तात् ५।१।। तोपधात् ५।१।। तः ६।१।। नः १।१।।

अनु०– ङीप्, वा, स्त्रियाम्, अनुपसर्जनात्, प्रातिपदिकात्।

अर्थ–वर्ण अर्थात् रंगवाची जो अनुदात्तान्त (अनुदात्त अन्त वाला) तकारोपध (तकार उपधा वाला) अनुपसर्जन प्रातिपदिक, उससे स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से **'ङीप्'** प्रत्यय तथा **तकार** के स्थान में **नकारादेश** होता है।

एनी	(चितकबरी)
एत	अकारान्त वर्णवाची अनुदात्तान्त तकार-उपधा वाले 'एत' शब्द से 'वर्णादनुदात्तात् तोपधात्तो नः' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीप्' प्रत्यय हुआ तथा तकार के स्थान में नकार आदेश भी हुआ
ए न् अ ङीप्	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा तथा 'यस्येति च' से अकार लोप हुआ
ए नी	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के 'अपृक्त' सकार का लोप होकर
एनी	रूप सिद्ध होता है।

एता–जब प्रकृत सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होगा तो 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' होकर 'अजा' (१२४६) के समान 'एता' रूप सिद्ध होता है।

रोहिणी–अकारान्त वर्णवाची अनुदात्तान्त तथा तकारोपध 'रोहित' शब्द से 'एनी' के समान 'वर्णादनुदात्तात् तोपधात्० से 'ङीप्' प्रत्यय तथा तकार को नत्व होने पर 'यस्येति च' से अकार-लोप तथा 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व होने पर सुबुत्पत्ति आदि होकर 'रोहिणी' रूप सिद्ध होगा।

रोहिता–'ङीप्' के अभाव पक्ष में 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' होकर 'रोहिता' बनता है।

१२५६. वोतो गुणवचनात् ४।१।४४

उदन्तात् गुणवाचिनो वा ङीष् स्यात्। मृद्वी, मृदुः।

प०वि०–वा अ०।। उतः ५।१।। गुणवचनात् ५।१।। **अनु०**–स्त्रियाम्, ङीष्, प्रातिपदिकात्।

अर्थ–ह्रस्व उकारान्त गुणवाचक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से 'ङीष्' प्रत्यय होता है।

मृद्वी	(कोमला)
मृदु	'वोतो गुणवचनात्' से गुण वाचक ह्रस्व उकारान्त 'मृदु' से विकल्प से 'ङीष्' हुआ
मृदु ङीष्	अनुबन्ध-लोप, 'इको यणचि' से यणादेश उकार के स्थान में वकार हुआ
मृद् व् ई	स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप तथा सकार का हल्ङ्यादि लोप आदि पूर्ववत् होकर
मृद्वी	रूप सिद्ध होता है।

मृदुः–'मृदु' शब्द से 'ङीष्' अभाव पक्ष में स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर 'ससजुषो रुः' से सकार को रुत्व तथा 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ के स्थान में विसर्ग होकर 'मृदुः' रूप सिद्ध होता है।

१२५७. बह्वादिभ्यश्च ४।१।४५

एभ्यो वा ङीष् स्यात्। बह्वी, बहुः।

(ग० सू० १) कृदिकारादक्तिनः। रात्रिः, रात्री।

(ग० सू० २) सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके। शकटिः, शकटी।

प०वि०–बह्वादिभ्यः ५।३।। च अ०।। **अनु०**–स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, ङीष्, वा।

अर्थ–बह्वादि गण में पठित 'बहु' आदि प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से 'ङीष्' प्रत्यय होता है।

बह्वी, बहुः–'बहुः' शब्द से 'बह्वादिभ्यश्च' से विकल्प से 'ङीष्' होने पर और 'ङीष्' प्रत्यय के अभाव पक्ष में सिद्धि-प्रक्रिया 'मृद्वी' और 'मृदुः' (१२५६) के समान जानें।

(ग० सू० १) कृदिकारादक्तिनः–**अर्थ**–'क्तिन्' प्रत्ययान्त से भिन्न जो इकारान्त कृत् प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से **'ङीष्'** प्रत्यय होता है।

रात्री (रात)

रात्रि — 'रा' धातु से औणादिक 'राशदिभ्यां त्रिप्' से 'त्रिप्' प्रत्यय होकर 'रात्रि' शब्द बनता है अतः यह क्तिन् प्रत्ययान्त से भिन्न इकारान्त कृदन्त है।

'कृदिकारदक्तिनः' से 'क्तिन्' प्रत्ययान्त से भिन्न कृदन्त इकारान्त से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से 'ङीष्' हुआ

रात्रि ङीष् — अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से भसंज्ञा होने पर 'यस्येति च' से इकार-लोप होकर स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर

रात्री — रूप सिद्ध होता है।

रात्रिः–'ङीष्'–अभाव पक्ष में स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर, रुत्व एवं विसर्ग होकर 'रात्रिः' सिद्ध होता है।

(ग० सू० २) सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके–अर्थ–कुछ आचार्यों के मत में 'क्तिन्' प्रत्यय के अर्थ से भिन्न सभी ह्रस्व इकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से 'ङीष्' प्रत्यय होता है।

शकटिः, शकटी–'शकटि' शब्द से गण सूत्र 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके' से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से **'ङीष्'** प्रत्यय होने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'रात्री' के समान और ङीष्-अभाव पक्ष में 'रात्रिः' के समान जानें।

१२५८. पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८

या पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्त्तते ततो ङीष्। गोपस्य स्त्री-गोपी। (वा०) पालकान्तान्न। गोपालिका। अश्वपालिका।

प०वि०–पुंयोगात् ५।१।। आख्यायाम् ७।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, अतः, ङीष्।

अर्थ–जो पुरुष-वाचक ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिक पुरुष के सम्बन्ध से स्त्रीलिङ्ग का वाचक हो तो उससे 'ङीष्' प्रत्यय होता है।

गोपी–'गोपस्य स्त्री' (गोप की स्त्री) 'गोप' यहाँ 'पुंयोगादाख्यायाम्' से 'गोप' के सम्बन्ध से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' होकर 'यस्येति च' से अकार लोप, 'सु' आकर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार लोप होकर 'गोपी' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) पालकान्तान्न–अर्थ–पालक अन्त वाले शब्दों से पुरुष सम्बन्ध से स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ङीष्'** प्रत्यय नहीं होता।

गोपालिका–'गोपालक' शब्द से 'पुंयोगादाख्यायाम्' से 'ङीष्' प्राप्त था, जिसका 'पालकान्तान्न' से निषेध होने पर 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' प्रत्यय, 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' से ककार से पूर्ववर्ती अकार को इकार आदेश तथा 'अकः सवर्णे०'

से दीर्घ एकादेश होकर 'सु' आने पर हल्ङ्यादि लोप आदि कार्य 'मूषिका' (१२४६) के समान होकर 'गोपालिका' रूप सिद्ध होता है।

१२५९. प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ७।३।४४

प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्याकारस्येकारः स्यादापि, स आप् सुपः परो न चेत्। सर्विका। कारिका। अतः किम्? नौका। प्रत्ययस्थात् किम्? शक्नोतीति शका। असुपः किम्? बहुपरिव्राजका नगरी। (वा० १) सूर्याद्देवतायां चाब्वाच्यः। सूर्यस्य स्त्री देवता-सूर्या। देवतायां किम्?

(वा०२) सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च यलोपः। सूरी-कुन्ती, मानुषीयम्।

प०वि०—प्रत्ययस्थात् ५।१।। कात् ५।१।। पूर्वस्य ६।१।। अतः ६।१।। इत् १।१।। आपि ७।१।। असुपः ५।१।।

अर्थ—प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्ववर्ती ह्रस्व अकार के स्थान में ह्रस्व इकारादेश होता है 'आप्' अर्थात् चाप्, टाप् और डाप् परे रहते, यदि वह 'आप्' सुप् से परे न हो तो।

सर्विका

सर्व	'अव्ययसर्वनाम्नामकच्०' से प्रागिवीय अर्थों में 'टि' भाग से पहले 'अकच्' प्रत्यय हुआ
सर्व् अकच् अ	अनुबन्ध-लोप
सर्व् अक् अ	'अजाद्यतष्टाप्' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय हुआ
सर्वक टाप्	अनुबन्ध-लोप, 'प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' से प्रत्यय (अकच्) में स्थित ककार से पूर्ववर्ती अकार के स्थान में इकार आदेश हुआ 'टाप्' प्रत्यय परे रहते, यहाँ 'टाप्' प्रत्यय 'सुप्' के बाद भी नहीं है।
सर्व् इ क आ	'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश होकर स्वाद्युत्पत्ति से 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप होकर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होने पर
सर्विका	रूप सिद्ध होता है।

कारिका—'कृ' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' से 'ण्वुल्' प्रत्यय, 'युवोरनाकौ' से 'वु' को 'अक', 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि, 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'ऋ' के स्थान में 'आर्' होकर 'कारक' बनने पर 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' होने पर 'प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्या०' से प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्ववर्ती अकार को इकार आदेश तथा 'अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश होकर सुबुत्पत्ति आदि कार्य 'अजा' (१२४६) के समान होने पर 'कारिका' रूप सिद्ध होता है।

अतः किम्–सूत्र में '**अतः**' पद का प्रयोजन है कि 'नौका' इत्यादि में ककार से पूर्ववर्ती औकार के स्थान में इकारादेश नहीं होता।

प्रत्ययस्थात् किम्–सूत्र में '**प्रत्ययस्थात्**' पद का प्रयोजन यह है कि 'शक्नोतीति शका' इत्यादि में 'टाप्' परे रहते ककार से पूर्व ह्रस्व अकार होने पर भी इकार आदेश नहीं होता क्योंकि 'शक्' धातु से पचादि 'अच्' होकर स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' होकर 'शका' बना है जहाँ ककार प्रत्यय का न होकर धातु का है।

असुपः किम्–सूत्र में '**असुपः**' पद का प्रयोजन यह है कि जहाँ 'सुप्' के पश्चात् 'टाप्' होगा वहाँ उस 'टाप्' के परे रहते प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्ववर्ती अकार को इकारादेश नहीं होता। जैसे– '**बहुपरिव्राजका नगरी**' यहाँ 'बहुपरिव्राजक' शब्द से 'टाप्' प्रत्यय होने पर यह रूप सिद्ध होता है। 'बहुपरिव्राजक' शब्द में 'बहवः परिव्राजका यस्यां सा' समस्त पद होने के कारण 'जस्' विभक्ति का 'लुक्' हुआ है। अतः लुप्त 'सुप्' से परे 'टाप्' होने के कारण यहाँ अकार के स्थान इकार नहीं होता।

(वा० १) सूर्याद्देवतायां०–**अर्थ**–'सूर्य' शब्द से देवतारूप स्त्री अर्थ को पुरुष के सम्बन्ध से कहने के लिए '**चाप्**' प्रत्यय होता है।

सूर्या–(सूर्यस्य स्त्री देवता) 'सूर्य' शब्द से प्रकृत वार्तिक 'सूर्याद्देवतां०' से 'चाप्', अनुबन्ध-लोप होने पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ, स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर अनुबन्ध -लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर 'सूर्या' रूप सिद्ध होता है।

(वा० २) सूर्यागस्त्ययोः०–**अर्थ**–'छ' प्रत्यय या 'ङी' अर्थात् ङीप्, ङीष् और ङीन् प्रत्यय परे रहते 'सूर्य' और 'अगस्त्य' शब्दों के अवयव उपधाभूत यकार का लोप होता है।

सूरी	'सूर्यस्य स्त्री, मानुषी' (कुन्ती)
सूर्य	'पुंयोगादाख्यायाम्' से पुरुष सम्बन्ध से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' हुआ
सूर्य ङीष्	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होने पर 'यस्येति च' से अकार-लोप तथा 'सूर्यागस्त्ययो०' से 'ङीष्' परे रहते 'सूर्य' के उपधाभूत यकार का लोप हुआ
सूर् ई	स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर
सूरी	रूप सिद्ध होता है।

१२६०. इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक ४।१।४९

एषामानुगागमः स्यात् ङीष् च। इन्द्रस्य स्त्री-इन्द्राणी। वरुणानी। भवानी। शर्वाणी। रुद्राणी। मृडानी।

(वा० १) हिमारण्ययोर्महत्त्वे। महद्धिमम्-हिमानी, महदरण्यम्-अरण्यानी।

(वा० २) यवाद्दोषे। दुष्टो यवो-यवानी।

(वा० ३) यवनाल्लिप्याम्। यवनानां लिपिः-यवनानी।

(वा० ४) मातुलोपाध्याययोरानुग्वा। मातुलानी, मातुली। उपाध्यायानी, उपाध्यायी।

वा० ५) आचार्यादणत्वं च। आचार्यस्य स्त्री-आचार्यानी।

(वा० ६) अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे। अर्याणी, अर्या। क्षत्रियाणी, क्षत्रिया।

प०वि०–इन्द्रवरुण....णाम् ६।३। आनुक् १।१।। **अनु०**–स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, ङीष्, पुंयोगात्, अनुपसर्जनात्।

अर्थ–अनुपसर्जन **इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल** और **आचार्य** इन प्रातिपदिकों से पुंयोग अर्थात् पुरुष के संयोग में स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ङीष्'** प्रत्यय तथा **'आनुक्'** आगम होता है।

इन्द्राणी	'इन्द्रस्य स्त्री' (इन्द्र की पत्नी)
इन्द्र	'इन्द्रवरुणभवशर्व०' से पुरुष के सम्बन्ध से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय तथा 'इन्द्र' शब्द को 'आनुक्' आगम हुआ
इन्द्र आनुक् ङीष्	अनुबन्ध-लोप
इन्द्र आन् ई	'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ तथा 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व हुआ
इन्द्राणी	स्वाद्युत्पत्ति, प्रथमा-एकवचन में 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्या०' से 'सु' के अपृक्त सकार लोप होकर
इन्द्राणी	रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार **शर्वाणी**–'शर्वस्य स्त्री' (शर्व की स्त्री), **वरुणानी**–'वरुणस्य स्त्री' (वरुण की स्त्री) और **मृडानी**–'मृडस्य स्त्री' (मृड की स्त्री) इत्यादि में 'ङीष्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम प्रकृत सूत्र से होने पर सिद्धि-प्रक्रिया 'इन्द्राणी' के समान जानें।

(वा०१) **हिमारण्ययो०**–**अर्थ**–**'हिम'** और **'अरण्य'** शब्दों से **महत्त्व** अर्थात् विशालता अर्थ को बताने के लिये **'ङीष्'** प्रत्यय और **'आनुक्'** आगम होता है।

हिमानी–(महद्धिमम्) 'हिम' प्रातिपदिक से 'हिमारण्ययो०' वार्तिक की सहायता से 'विशालता' अर्थ में 'इन्द्रवरुणभवशर्व०' से 'ङीष्' प्रत्यय तथा 'आनुक्' आगम होकर शेष सिद्धि-प्रक्रिया 'इन्द्राणी' के समान जानें।

'हिमानी' के समान ही **'अरण्यानी'** की सिद्धि जानें।

(वा०२) **यवाद्दोषे–अर्थ–'यव'** प्रातिपदिक से **'दोष'** अर्थ में **'ङीष्'** प्रत्यय और **'आनुक्'** आगम होता हैं।

यवानी (दुष्टो यव:)–'यव' प्रातिपदिक से 'यवाद्दोषे' वार्तिक की सहायता से **दोष** अर्थ में 'इन्द्रवरुणभवशर्व०' से 'ङीष्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम होकर पूर्ववत् 'यवानी' की सिद्धि–प्रक्रिया जाननी चाहिए।

(वा० ३) **यवनाल्लिप्याम्–अर्थ–'यवन'** प्रातिपदिक से **'लिपि'** अर्थ में **'ङीष्'** प्रत्यय तथा **'आनुक्'** आगम होता है।

यवनानी–(यवनानी लिपि) सिद्धि–प्रक्रिया पूर्ववत् जाननी चाहिए।

(वा० ४) **मातुलोपाध्याययो०–अर्थ–'मातुल'** और **'उपाध्याय'** शब्दों से पुरुष के सम्बन्ध में स्त्रीत्व की विवक्षा में **'आनुक्'** आगम विकल्प से होता है।

मातुलानी, मातुली–'मातुल' शब्द से 'ङीष्' प्रत्यय तो नित्य ही यथाप्राप्त होता है। वैकल्पिक 'आनुक्' आगम होने पर 'मातुल' शब्द से 'मातुलानी' तथा आनुगभाव पक्ष में 'मातुली' रूप बनते हैं।

इसी प्रकार 'उपाध्याय' से 'आनुक्' आगम होने पर **'उपाध्यायानी'** तथा अभाव पक्ष में **'उपाध्यायी'** रूप सिद्ध होते हैं।

(वा० ५) **आचार्यदणत्वं च–अर्थ**–आचार्य शब्द से परे नकार के स्थान में णत्व नहीं होता।

आचार्याणी–(आचार्यस्य स्त्री) 'आचार्य' शब्द से 'इन्द्रवरुणभवशर्व०' से 'ङीष्' प्रत्यय तथा 'आनुक्' आगम होकर 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व की प्राप्ति थी, जिसका 'आचार्यादणत्वं च' से निषेध होने पर शेष सभी कार्य 'इन्द्राणी' के समान होकर 'आचार्यानी' रूप सिद्ध होता है।

(वा० ६) **अर्य क्षत्रियाभ्यां०–अर्थ–'अर्य'** और **'क्षत्रिय'** प्रातिपदिकों से **स्वार्थ** में अर्थात् जाति आदि वाच्य होने पर स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ङीष्'** प्रत्यय तथा **'आनुक्'** आगम विकल्प से होते हैं।

अर्याणी–(वैश्या–स्त्री) 'अर्य' शब्द से स्वार्थ में स्त्रीत्व की विवक्षा में (बिना पुरुष के सम्बन्ध के) 'अर्यक्षत्रियाभ्यां०' से विकल्प से 'ङीष्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम होकर 'अर्याणी' रूप सिद्ध होता है।

अर्या–'ङीष्' और 'आनुक्' अभाव पक्ष में 'अर्य' शब्द से स्त्रीत्व विवक्षा में टाबादि होकर 'अर्या' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'क्षत्रिय' शब्द से **'ङीष्'** तथा 'आनुक्' आगम होने पर **'क्षत्रियाणी'** तथा अभाव–पक्ष में **'क्षत्रिया'** रूप सिद्ध होते हैं।

१२६१. क्रीतात् करणपूर्वात् ४।१।५०

क्रीतान्ताददन्तात् करणादेः स्त्रियां ङीष् स्यात्। वस्त्रक्रीती। क्वचिन्न–धनक्रीता।

प०वि०–क्रीतात् ५।१।। करणपूर्वात् ५।१।। **अनु०**–ङीष्, अतः, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्।

अर्थ–करण पूर्व में है जिसके ऐसे '**क्रीत**' अन्त वाले ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में '**ङीष्**' प्रत्यय होता है।

वस्त्रक्रीती	'वस्त्रेण क्रीता' (वस्त्र से खरीदी हुई)।
वस्त्र टा क्रीत	'कर्तृकरणे कृता०' से करण अर्थ में जो तृतीया तदन्त से कृदन्त 'क्रीत' का बहुल करके समास होता है, 'गातिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' वार्त्तिक से सुबुत्पत्ति से पहले ही यह समास हुआ। 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् हुआ
वस्त्र क्रीत	'क्रीतात् करणपूर्वात्' से करणपूर्वक 'क्रीत' अन्तवाले ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय हुआ
वस्त्र क्रीत ङीष्	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से भसंज्ञा होने पर 'यस्येति च' से अकार-लोप हुआ
वस्त्रक्रीती	'ङीष्' प्रत्ययान्त से स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सु' आकर अनुबन्ध -लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होने पर
वस्त्रक्रीती	रूप सिद्ध होता है।

इस 'ङीष्' प्रत्यय के अपवाद भी दिखाई देते हैं जब 'ङीष्' नहीं होता तो 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' आदि होकर **धनक्रीता** (धनेन क्रीता) इत्यादि रूप भी प्राप्त होते हैं।

१२६२. स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद् असंयोगोपधात् ४।१।५४

असंयोगोपधमुपसर्जनं यत्स्वाङ्गं तदन्താददन्तात् ङीष् वा स्यात्। केशानतिक्रान्ता-अतिकेशी, अतिकेशा। चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा।

असंयोगोपधात् किम्? सुगुल्फा। उपसर्जनात् किम्? शिखा।

प०वि०–स्वाङ्गात् ५।१।। च अ०।। उपसर्जनात् ५।१।। असंयोगोपधात् ५।१।। **अनु०**–ङीष्, अतः, वा, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्।

अर्थ–संयोग उपधा में नहीं है जिसके, ऐसे उपसर्जन अर्थात् अप्रधान अथवा विशेषणवाची जो '**स्वाङ्ग**' वाचक शब्द, तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से '**ङीष्**' प्रत्यय होता है।

विशेष--सूत्र में पठित 'स्वाङ्ग' एक पारिभाषिक शब्द है 'अपना अङ्ग' वाचक नहीं। जिसे निम्न-लिखित कारिका में परिभाषित किया गया है--

अद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्॥

अर्थात् जो पदार्थ द्रव (तरल) न हो, मूर्तिमान् (दृश्य) हो, विकार से उत्पन्न न हुआ हो तथा प्राणियों में स्थित रहता हो--वह 'स्वाङ्ग' कहलाता है। इसके अतिरिक्त ऐसा पदार्थ जो अब प्राणियों में स्थित न हो परन्तु प्राणियों में देखा अवश्य गया हो उसे तथा ऐसा अङ्ग जो प्राणियों के समान मूर्ति आदि में भी दिखाई दे उसे **'स्वाङ्ग'** कहा जाता है।

अतिकेशी	'केशानतिक्रान्ता' (बहुत केशो वाली)
केश शस् अति	'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' से 'क्रान्त' अर्थ में विद्यमान 'अति' का द्वितीयान्त के साथ समास, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् हुआ
केश अति	'प्रथमानिर्दिष्टं समा०' से 'अति' की 'उपसर्जन' संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ
अति केश	स्त्रीत्व की विवक्षा में 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयो०' से असंयोग उपधा वाले स्व अङ्गवाची उपसर्जनसंज्ञक[1] केश अन्त वाले 'अतिकेश' शब्द से 'ङीष्' प्रत्यय हुआ
अतिकेश ङीष्	अनुबन्ध-लोप, पूर्ववत् 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होकर 'यस्येति च' से अकार का लोप हुआ
अतिकेशी	स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर
अतिकेशी	रूप सिद्ध होता है।

अतिकेशा--'ङीष्' अभाव पक्ष में 'अजाद्यतष्टाप्' से टाबादि कार्य जानने चाहिए।

चन्द्रमुखी	'चन्द्र इव मुखं यस्याः सा', (चन्द्रमा के समान मुखवाली)
चन्द्र सु मुख सु	'अनेकमन्यपदार्थे' से बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् हुआ
चन्द्र मुख	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से 'चन्द्र' का पूर्वप्रयोग हुआ
चन्द्र मुख	अन्य-पद (विशेष्य) के अनुसार स्त्रीत्व की विवक्षा में 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद्०' से स्व अङ्गवाची 'मुख' अन्त वाले 'चन्द्रमुख' प्रातिपदिक से विकल्प से 'ङीष्' प्रत्यय हुआ
चन्द्रमुख ङीष्	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा, 'यस्येति च' से

---

१. 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' से विग्रह वाक्य में नियत विभक्ति वाले 'केश' शब्द की 'उपसर्जन' संज्ञा होती है।

अकार-लोप, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप तथा सकार का हल्ङ्यादि लोप आदि कार्य पूर्ववत् होकर

चन्द्रमुखी — रूप सिद्ध होता है।

चन्द्रमुखा–'ङीष्' अभाव पक्ष में 'अजाद्यतष्टाप्' से टाबादि होकर 'चन्द्रमुखा' रूप जानें।

असंयोगोपधात् किम्–सूत्र में 'असंयोगोपधात्' पद का प्रयोजन यह है कि स्व अङ्गवाची शब्द अन्तवाले प्रातिपदिक से भी उपधा में संयोग होने पर 'ङीष्' प्रत्यय न हो। जैसे-'सुगुल्फा' इत्यादि में 'टाप्' होता है, 'ङीष्' नहीं।

उपसर्जनात् किम्–'उपसर्जनात्' पद का प्रयोजन यह है कि जहाँ स्व अङ्गवाची शब्द असंयोगोपध होने पर भी समास आदि के अभाव में उपसर्जन संज्ञक नहीं होता वहाँ प्रकृत सूत्र से 'ङीष्' प्रत्यय न हो। जैसे- **'शिखा'** यहाँ 'शीङ्–स्वप्ने' धातु से औणादिक 'शीङो ह्रस्वश्च' सूत्र से 'ख' प्रत्यय तथा धातु को ह्रस्व होकर 'शिख' शब्द बनता है। यह शब्द स्व अङ्गवाची तथा असंयोगोपध तो है परन्तु 'उपसर्जन' संज्ञक नहीं है इसलिए स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत सूत्र से वैकल्पिक ङीष् न होकर अदन्त होने के कारण 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' होने पर प्र० वि०, एक व० में 'सु' के सकार का हल्ङ्यादि लोप होकर 'शिखा' रूप सिद्ध होता है।

१२६२. न क्रोडादिबह्वचः ४।१।५६

क्रोडादेर्बह्वचः स्वाङ्गाच्च न ङीष्। कल्याणक्रोडा। आकृतिगणोऽयम्। सुजघना।

प०वि०–न अ०।। क्रोडादिबह्वचः ५।१।। **अनु०**–ङीष्, उपसर्जनात्, स्वाङ्गात्, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्।

अर्थ–क्रोडादिगण में पठित स्वाङ्गवाची जो उपसर्जनसंज्ञक 'क्रोडा' आदि और 'बह्वच्' (बहुत अच् वाले) शब्द यदि किसी प्रातिपदिक के अन्त में हो तो उससे स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता।

कल्याण क्रोडा	'कल्याणी क्रोडा यस्याः सा' (जिसके वक्षस्थल पर कल्याणजनक चिह्न हों)
कल्याणी सु क्रोडा सु	'अनेकमन्यपदार्थे' से बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा और 'सुपो धातु०' से विभक्ति-लुक् हुआ
कल्याणी क्रोडा	'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषणवाची 'कल्याणी' का पूर्व प्रयोग हुआ। 'स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्०' से 'कल्याणी' को पुंवद्भाव होकर 'कल्याण' आदेश हुआ
कल्याण क्रोडा	'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त 'क्रोडा' के अन्तिम 'अच्' को ह्रस्व हुआ

कल्याण क्रोड	यहाँ 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद्०' से स्वाङ्गवाची असंयोगोपध तथा उपसर्जन 'क्रोड' अन्त वाले शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्राप्त था, जिसका 'न क्रोडादिबह्वचः' से निषेध हो गया। अतः 'अजाद्यतष्टाप्' से अदन्त से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय हुआ
कल्याण क्रोड टाप्	अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हुआ
कल्याण क्रोडा	स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप होकर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्तसंज्ञक सकार का लोप होकर
कल्याणक्रोडा	रूप सिद्ध होता है।

क्रोडादिगण आकृतिगण है अतः 'सुजघन' इत्यादि शब्दों को भी इस गण में मानकर दो से अधिक अच् वाला होने से प्रकृत सूत्र से **'ङीष्'** प्रत्यय का निषेध हो जाता है तथा पूर्ववत् 'टाप्' आदि कार्य होते हैं।

१२६४. नखमुखात् संज्ञायाम् ४।१।५८

न ङीष्।

प०वि०—नखमुखात् ५।१।। संज्ञायाम् ७।१।। **अनु०**—न, ङीष्, स्वाङ्गात्, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्।

अर्थ—संज्ञा अर्थ द्योत्य होने पर स्वाङ्गवाची **'नख'** अन्त वाले और **'मुख'** अन्त वाले प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता।

१२६५. पूर्वपदात् संज्ञायामगः ८।४।३

पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य नस्य णः स्यात् संज्ञायां न तु गकारव्यवधाने। शूर्पणखा। गौरमुखा। संज्ञायां किम्? ताम्रमुखी कन्या।

प०वि०—पूर्वपदात् ५।१।। संज्ञायाम् ७।१।। अगः ५।१।। **अनु०**—रषाभ्यां, नः, णः।

अर्थ—संज्ञा अभिधेय होने पर पूर्वपद में स्थित रेफ और मूर्धन्य षकार से परे नकार के स्थान में णकार आदेश होता है, परन्तु गकार का व्यवधान होने पर नहीं होता।

शूर्पणखा	'शूर्पाणीव नखानि यस्याः' (जिसके नख सूर्प के समान हों)
शूर्प जस् नख् जस्	'अनेकमन्यपदार्थे' से समास, पूर्ववत् 'कृत्तद्धितसमा०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा 'सुपो धातु०' से सुपों का लुक् हुआ
शूर्पनख	अन्य-पद की प्रधानता होने के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा में 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद०' से स्वाङ्गवाची अनुपसर्जन 'नख' अन्त वाले प्रातिपदिक से 'ङीष्' प्राप्त था, जिसका 'नखमुखात् संज्ञायाम्' से नखान्त प्रातिपदिक से उत्तर 'ङीष्' का निषेध हो गया। अतः 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्', अनुबन्ध-लोप तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हुआ

शूर्पनखा — 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' से पूर्वपद 'शूर्प' में स्थित रेफ से उत्तर नकार को णकार होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'सु' का पूर्ववत् हल्ङ्यादि लोप होकर

शूर्पणखा — रूप सिद्ध होता है।

गौरमुखा–'गौरं मुखं यस्याः सा' (जिसका मुख गौरा हो) की सिद्धि-प्रक्रिया 'शूर्पणखा' के समान जानें।

संज्ञायां किम्–पूर्व सूत्र (१२६४) में 'संज्ञायाम्' पद का प्रयोजन यह है कि जहाँ समस्तपद से संज्ञा अभिधेय न हो वहाँ 'ङीष्' का निषेध नहीं होता, जिससे 'ताम्रमुखी' आदि विशेषण शब्द सिद्ध हो सकें।

१२६६. जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ४।१।६३

जातिवाचि यन्न च स्त्रियां नियतमयोपधं ततः स्त्रियां ङीष् स्यात्। तटी। वृषली। कठी। बह्वृची। जातेः किम्? मुण्डा। अस्त्रीविषयात् किम्? बलाका। अयोपधात् किम्? क्षत्रिया।

(वा० १) योपधप्रतिषेधे हय-गवय-मुकय-मनुष्य-मत्स्यानामप्रतिषेधः। हयी, गवयी, मुकयी। '१२५०'-हलस्तद्धितस्य इति यलोपः। मानुषी।

(वा० २) मत्स्यस्य ङ्याम् यलोपः। मत्सी।

प०वि०–जातेः ५।१।। अस्त्रीविषयात् ५।१।। अयोपधात् ५।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, ङीष्, स्त्रियाम्।

अर्थ–ऐसे जाति[1] वाचक प्रातिपदिक जो नित्य स्त्रीलिङ्ग में नहीं हैं और जिनकी उपधा में यकार नहीं है, उनसे स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ङीष्'** प्रत्यय होता है।

तटी–'तट' शब्द अनियत लिङ्ग वाला है तथा यकारोपध भी नहीं है, अतः 'जातेरस्त्रीविषयाद्०' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' होकर 'यस्येति च' से अकार-लोप,

---

१. यहाँ 'जाति' शब्द से जाति के तीन प्रकारों का ग्रहण होता है–

(क) 'आकृतिग्रहणाजातिः'-अवयव सन्निवेश से जिसका ज्ञान हो जाये अर्थात् आकृति से पहचानी जाने वाली 'जाति' होती है। जैसे-'तट' इत्यादि।

(ख) ऐसे शब्द जो तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त नहीं होते, तथा एक बार बताने से ही जिनका ज्ञान अन्यत्र भी हो जाए जैसे-'यज्ञदत्त ब्राह्मण है' ऐसा कहने से उसके पितामह, पिता तथा भ्राता आदि की जाति (ब्राह्मणत्व) का बोध भी हो जाता है।

(ग) जाति का निर्धारक तृतीय एवं चतुर्थ तत्त्व गोत्र प्रत्ययान्त एवं शाखा अध्येतृवाची शब्दों को कहा जा सकता है–जिनमें औपगव, कठ इत्यादि शब्दों का समावेश होता है। जैसा कि इस कारिका में कहा गया है–

'आकृतिग्रहणाजातिः, लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या, गोत्रं च चरणैः सह ।।'

तथा 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर 'तटी' रूप सिद्ध होता है।

वृषली, (वृषल जाति की स्त्री) **कठी**, (कठ शाखा को पढ़ने वाली) और **बह्वृची** (वेद की बह्वृच् शाखा को पढ़ने वाली) इत्यादि की सिद्धि-प्रक्रिया भी पूर्ववत् जाननी चाहिए।

जातेः किम्—सूत्र में 'जातेः' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

'जातेः' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि जहाँ अयकारोपध और अस्त्री विषयक शब्द से किसी जाति का बोध नहीं होता वहाँ 'ङीष्' प्रत्यय न हो। जैसे-'मुण्डा' यहाँ 'मुण्ड' शब्द से जाति का बोध नहीं होता, इसलिए यहाँ 'ङीष्' नहीं होता, अपितु 'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' होता है।

अस्त्रीविषयात्किम्—सूत्र में 'अस्त्रीविषयात्' पद के कहने का क्या प्रयोजन है?

जहाँ शब्द जातिवाचक और अयोपध होने पर भी केवल स्त्री लिङ्गवाची होता है। वहाँ स्त्रीत्व की विवक्षा होने पर 'ङीष्' प्रत्यय न हो। जैसे—'बलाका' इत्यादि में 'ङीष्' नहीं होता, 'टाप्' ही होता है।

अयोपधात्--सूत्र में 'अयोपधात्' पद का क्या प्रयोजन है?

इसका प्रयोजन यह है कि जातिवाची 'क्षत्रिय' आदि शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में यकार उपधा में होने के कारण 'ङीष्' न हो अपितु 'टाप्' ही हो।

(वा० १) **योपधप्रतिषेधे हय-गवय०—अर्थ**—सूत्र में यकारोपध से जो 'ङीष्' प्रत्यय का निषेध किया गया है वह प्रतिषेध **हय, गवय, मुकय, मनुष्य** और **मत्स्य** इन शब्दों में नहीं होता। अर्थात् यकारोपध होने पर भी इनसे स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय हो ही जाता है।

हयी (घोड़ी), **गवयी** (नील गाय), **मुकयी** (खच्चरी) में क्रमशः 'हय', 'गवय' और 'मुकय' से 'योपधप्रतिषेधे हय-गवय०' वार्त्तिक से हयादि परिगणित शब्दों के यकारोपध होने पर भी 'जातेरस्त्रीविषयाद्०' से 'ङीष्' प्रत्यय होने पर 'यस्येति च' से अकार-लोप, सुबुत्पत्ति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर उक्त तीनों रूप बनते हैं।

मनुषी	(मानवी)
मनुष्य	यह शब्द 'मनु' प्रातिपदिक से 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' से तद्धितसंज्ञक 'यत्' प्रत्यय और 'षुक्' आगम होकर बना है। 'हयगवय०' आदि वार्त्तिक के द्वारा यकारोपध होने पर भी 'जातेरस्त्रीविषयाद्०' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय हुआ
मनुष्य ङीष्	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से भसंज्ञा, 'यस्येति च' से ईकार

	परे रहते अकार-लोप तथा 'असिद्धवदत्राभात्' से आभीय कार्य ' हलस्तद्धितस्य' (६.४.१५०) की दृष्टि में 'यस्येति च' (६.४.१४८) से होने वाले अकार-लोप के असिद्ध होने से उपधा में यकार मिल जाने से 'हलस्तद्धितस्य' से ईकार परे रहते तद्धित के उपधाभूत यकार का लोप हुआ
मनुष् ई	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर
मनुषी	रूप सिद्ध होता है।

(वा० २) **मत्स्यस्य ङ्यां यलोपः**–**अर्थ**–ङी (ङीष् या ङीप्) परे रहने पर 'मत्स्य' शब्द के उपधाभूत यकार का लोप होता है।

मत्सी (मछली)–'मत्स्य' शब्द से पूर्ववत् 'ङीष्' होने पर 'मत्स्यस्य ङ्याम्०' से यकार-लोप, 'यस्येति च' से अकार-लोप, सुबुत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० 'सु' के सकार का 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से लोप होकर 'मत्सी' रूप सिद्ध होता है।

१२६७. इतो मनुष्यजातेः ४।१।६५

ङीष्। दाक्षी।

प० वि०–इतः। ५।१।। मनुष्यजातेः ५।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, ङीष्। **अर्थ**–मनुष्यजातिवाचक ह्रस्व इकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय होता है।

दाक्षी	(दक्षस्यापत्यं स्त्री)
दक्ष ङस्	'अत इञ्' से षष्ठ्यन्त समर्थ ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिक से 'अपत्य' अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय हुआ
दक्ष ङस् इञ्'	'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्राति०' से 'ङस्' का लुक् हुआ
दक्ष इञ्	अनुबन्ध-लोप, 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् को वृद्धि, 'यचि भम्' से भसंज्ञा होने पर 'यस्येति च' से तद्धित परे रहते अकार-लोप हुआ
दाक्षि	'इतो मनुष्यजातेः' से ह्रस्व इकारान्त मनुष्यजातिवाचक से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय हुआ
दाक्षि ङीष्	अनुबन्ध-लोप
दाक्षि ई	'यचि भम्' से भसंज्ञा होने पर 'यस्येति च' से ईकार परे रहते इकार का लोप हुआ

दाक्ष् ई	ङ्यन्त से स्वाद्युत्पति होकर प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
दाक्षी सु	अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर
दाक्षी	रूप सिद्ध होता है।

१२६८. ऊङ् उतः ४।१।६६

उदन्ताद् अयोपधान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियामूङ् स्यात्। कुरूः। अयोपधात् किम्? अध्वर्युर्ब्राह्मणी।

प०वि०—ऊङ् १।१।। उतः ५।१।। **अनु०**—अयोपधात्, मनुष्यजातेः, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्।

अर्थ—यकार उपधा में नहीं है जिनके ऐसे ह्रस्व उकारान्त मनुष्य जातिवाची प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ऊङ्'** प्रत्यय होता है।

कुरूः—(कुरुजाति की स्त्री) अयकारोपध, जातिवाची, ह्रस्व उकारान्त 'कुरु' शब्द से 'ऊङुतः' से 'ऊङ्' प्रत्यय होकर, 'अकः सवर्णे०' से सवर्णदीर्घ एकादेश, स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर अनुबन्ध-लोप, 'ससजुषो रुः' से सकार के स्थान में 'रु' आदेश तथा 'खरवसानयो०' से रेफ को विसर्ग होकर 'कुरूः' रूप सिद्ध होता है।

अयोपधात् किम्—सूत्र में 'अयोपधात्' इस पद की अनुवृत्ति का प्रयोजन यह है कि यदि मनुष्यजातिवाची शब्द उकारान्त होने के साथ-साथ यकारोपध भी हो तो उससे 'ऊङ्' प्रत्यय न हो। जैसे—'अध्वर्युर्ब्राह्मणी' इसमें 'अध्वर्यु' शब्द चरणवाचक होने से मनुष्यजातिवाची यकरोपध उकारान्त प्रातिपदिक है अतः यहाँ 'ऊङ्' प्रत्यय नहीं होता।

१२६९. पङ्गोश्च ४।१।६८

पङ्गूः।

(वा०) श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च। श्वश्रूः।

प०वि०—पङ्गो ५।१।। च अ०।। **अनु०**—ऊङ्, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्।

अर्थ—**'पङ्गु'** प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ऊङ्'** प्रत्यय होता है।

पङ्गूः (लंगड़ी)—'पङ्गु' शब्द जातिवाचक न होने के कारण 'ऊङुतः' से 'ऊङ्' प्रत्यय प्राप्त नहीं था अतः 'पङ्गोश्च' से 'ऊङ्' प्रत्यय का विधान किया गया है। सिद्धि-प्रक्रिया पूर्ववत् जाननी चाहिए।

(वा०) **श्वशुरस्यो०**—**अर्थ**—**'श्वशुर'** प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ऊङ्'** प्रत्यय, उकार का तथा रेफ से उत्तरवर्त्ती अकार का लोप होता है।

श्वश्रूः[1]	'श्वशुरस्य स्त्री' (श्वसुर की स्त्री, सास)

---

१. यहाँ 'पुंयोगादाख्यायाम्' से 'ङीष्' प्रत्यय प्राप्त था जिसका यह 'ऊङ्' प्रत्यय अपवाद है।

श्वशुर — 'श्वशुरस्योकाराकार०' से 'ऊङ्' प्रत्यय, उकार का तथा रेफ से उत्तरवर्ती अकार का लोप हुआ

श्वश् र् ऊङ् — अनुबन्ध-लोप, स्वाद्युत्पत्ति, सु आकर रुत्व एवं विसर्ग होकर

श्वश्रूः — रूप सिद्ध होता है।

१२७०. ऊरूत्तरपदादौपम्ये ४।१।६९

उपमानवाचिपूर्वपदम् ऊरूत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तस्मादूङ् स्यात्। करभोरूः।

प०वि०–ऊरूत्तरपदात् ५।१।। औपम्ये ७।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकात्, ऊङ्, स्त्रियाम्।

अर्थ–उपमानवाचक शब्द पूर्वपद में है जिसके ऐसे 'ऊरु' शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ऊङ्'** प्रत्यय होता है।

करभोरूः — 'करभौ इव ऊरू यस्याः सा' (हाथी की सूंड के समान जंघा वाली)

करभ औ ऊरु औ — 'अनेकमन्यपदार्थे' से समास, 'कृत्तद्धित०' से 'प्रातिपदिक' संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति- लुक् तथा 'आद् गुणः' से गुण हुआ

करभोरु — समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने से 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' से उपमानवाची पूर्वपद वाले 'ऊरु' शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ऊङ्' प्रत्यय हुआ

करभोरु ऊङ् — अनुबन्ध-लोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ होकर, स्वाद्युत्पत्ति से सु आकर, सकार को रुत्व एवं विसर्ग होकर

करभोरूः — रूप सिद्ध होता है।

१२७१. संहितशफलक्षणवामादेश्च ४।१।७०

अनौपम्यार्थं सूत्रम्। संहितोरूः। लक्षणोरूः। वामोरूः। शफोरूः।

प०वि०–संहितशफलक्षणवामादेः ५।१।। च अ०।। **अनु०**–ऊङ्, ऊरूत्तरपदात्, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्।

विशेष–उपमान वाचक शब्दों के पूर्वपद में न रहने पर भी यह सूत्र 'ऊङ्' प्रत्यय विधान करता है।

अर्थ–**संहित** (संश्लिष्ट या जुड़ा हुआ), **शफ** (खुर), **लक्षण** (सुन्दर) और **वाम** (अतिसुन्दर) प्रातिपदिकों से परे उत्तरपद में 'ऊरु' हो तो तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ऊङ्'** प्रत्यय होता है।

संहितोरूः — 'संहितौ ऊरू यस्याः सा' (मिली हुई जाघों वाली स्त्री)

संहित औ ऊरु औ — 'अनेकमन्यपदार्थे' से बहुव्रीहि समास, 'कृत्तद्धितसमा०' से प्रातिपदिक संज्ञा, 'सुपो धातु०' से विभक्ति लुक्, 'आद् गुणः' से गुण हुआ

संहितोरु	'संहितशफलक्षण०' से स्त्रीत्व की विवक्षा में संहित पूर्वक 'ऊरु' अन्त वाले प्रातिपदिक से 'ऊङ्' प्रत्यय हुआ
संहितोरु ऊङ्	अनुबन्ध-लोप, 'अक: सवर्णे०' से दीर्घ होकर स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आने पर 'ससजुषो रु:' से सकार को रुत्व एवं 'खरवसानयो:०' से रेफ को विसर्ग होकर
संहितोरू:	रूप सिद्ध होता है।

लक्षणोरू:–'लक्षणौ (सुंदरौ) ऊरू यस्या: सा' (शोभन चिह्नों से युक्त जंघा वाली स्त्री) **वामोरू:**–'वामौ ऊरू यस्या: सा' (सुन्दर जंघा वाली), **शफोरू:**,–'शफौ इव ऊरू यस्या: सा' (खुरों के समान संश्लिष्ट ऊरुवाली) इत्यादि की सिद्धि-प्रक्रिया भी 'संहितोरू:' के समान जानें।

१२७२. शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ४।१।७३

शार्ङ्गरवादेरञो योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन् स्यात्। शार्ङ्गरवी। बैदी। ब्राह्मणी। (ग० सू०) नृनरयोर्वृद्धिश्च। नारी।

प०वि०–शार्ङ्गरवादि-लुप्तपञ्चम्यन्त।। अञ:।।६।१।। ङीन् १।१।। **अनु०**–प्रातिपदिकत्, स्त्रियाम्, जाते:, अत:।

अर्थ–शार्ङ्गरवादि गण में पठित प्रातिपदिकों से और 'अञ्' प्रत्यय का जो अकार, तदन्त जातिवाचक प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में **'ङीन्'** प्रत्यय होता है।

शार्ङ्गरवी	'शृङ्गरोरपत्यं स्त्री' (शृङ्गरु मुनि की सन्तान स्त्री)
शार्ङ्गरव	यह शब्द 'शृङ्गरु' से अपत्य अर्थ में 'अण्' होकर 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि, 'ओर्गुण:' से गुण तथा 'एचोऽयवा०' से 'अव' आदेश होकर बना है, जो गोत्रवाचक होने से यह जातिवाची भी है। अत: 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' से शार्ङ्गरवादि गण में पठित जातिवाचक 'शार्ङ्गरव' से 'ङीन्' प्रत्यय हुआ
शार्ङ्गरव ङीन्	अनुबन्ध-लोप, 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा और 'यस्येति च' से ईकार परे रहते अकार का लोप हुआ
शार्ङ्गरवी	स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर
शार्ङ्गरवी	रूप सिद्ध होता है।
बैदी	बिदस्यापत्यं स्त्री (बिद की सन्तान स्त्री)
बैद	'बिद' शब्द से 'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्' से 'अञ्' होकर 'तद्धितेष्व०' से आदि अच् को वृद्धि होने पर 'बैद' बना है। अत: 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' से अञन्त से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीन्' हुआ

बैद ङीन् अनुबन्ध-लोप, 'यचि,भम्' से 'भ' संज्ञा, 'यस्येति च' से अकार का लोप तथा सुबुत्पत्तिं आदि शेष सभी कार्य 'शार्ङ्गरवी' के समान होकर

बैदी रूप सिद्ध होता है।

ब्राह्मणी--शार्ङ्गरवादि गण में पठित 'ब्राह्मण' शब्द से 'ङीन्' प्रत्यय होकर सिद्धि-प्रकिया के अन्य कार्य 'शार्ङ्गरवी' के समान होकर 'ब्राह्मणी' बनेगा।

(ग० सू०) **नृनरयोर्वृद्धिश्च--अर्थ**--जातिवाची 'नृ' और 'नर' प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीन्' प्रत्यय होता है तथा 'नृ' और 'नर' को वृद्धि भी होती है।

नारी (स्त्री)

नृ 'नृनरयोर्वृद्धिश्च' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीन्' प्रत्यय तथा 'नृ' को वृद्धि हुई। 'उरण् रपरः' से 'अण्' के रपर होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'ऋ' को 'आर्' वृद्धि हुई

न् आर् ङीन् अनुबन्ध-लोप, स्वाद्युत्पत्ति, 'सु' आकर अनुबन्ध-लोप होने पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर

नारी रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'नर' शब्द से भी स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत (ग० सू०) 'नृनरयो०' से 'ङीन्' प्रत्यय और आदि 'अच्' को वृद्धि होकर 'यस्येति च' से अकार का लोप तथा प्र० वि०, एक व० में 'सु' आकर सकार का हल्ङ्यादि लोप आदि कार्य होकर **'नारी'** रूप ही सिद्ध होगा।

१२७३. यूनस्तिः ४।१।७७

युवन्शब्दात् स्त्रियां तिः प्रत्ययः स्यात्। युवतिः।

इति स्त्रीप्रत्ययाः ।

प०वि०--यूनः ५।१।। तिः १।१।। **अनु०**→प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, स्त्रियाम्।

अर्थ--'युवन्' प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में तद्धितसंज्ञक **'ति'** प्रत्यय होता है।

यह सूत्र 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से प्राप्त 'ङीप्' का अपवाद है, जो नकारान्त 'युवन्' प्रातिपदिक से 'ति' प्रत्यय का विधान करता है।

युवतिः (युवा स्त्री)

युवन् 'यूनस्तिः' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'युवन्' प्रातिपदिक से 'ति' प्रत्यय हुआ

युवन् ति 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से 'ति' परे रहते 'युवन्' की 'पद' संज्ञा होने पर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप हुआ

युव ति	स्वाद्युत्पत्ति, प्र० वि०, एक व० में 'सु' आया
युवति सु	अनुबन्ध-लोप, 'ससजुषो रुः' से सकारान्त पद के अन्तिम अल् सकार को 'रु' आदेश हुआ
युवति रु	अनुबन्ध-लोप, 'विरामोऽवसानम्' से 'अवसान' संज्ञा होने पर 'खरवसानयोर्वि०' से 'अवसान' में रेफ को विसर्जनीय आदेश होकर
युवतिः	रूप सिद्ध होता है।

॥ स्त्रीप्रत्यय-प्रकरण समाप्त ॥

॥ डॉ० सत्यपाल सिंह द्वारा विरचित लघुसिद्धान्तकौमुदी की प्रकाशिका व्याख्या समाप्ता ॥

अथ लघुसिद्धान्तकौमुदीस्थो गणपाठः

अच्सन्धिप्रकरणे

शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। (६/१/९४) शकन्धुः कर्कन्धुः कुलटा। सीमन्तः केशवेशे। हलीषा मनीषा लाङ्गलीषा पतञ्जलिः। सारङ्गः पशुपक्षिणोः।। **आकृतिगणोऽयम्।** मार्तण्डः। **इति शकन्ध्वादिः।।**

चादयोऽसत्वे–(१/४/५७) च वा ह अह एव एवम् नूनम् शश्वत् यूपत् युगपत् भूयस् सूपत् कूपत् कुवित् नेत् चेत् चण् क्वचित् यत्र तत्र नह हन्त माकिम् माकीम् माकिर् नकिम् नकीम् नकिर् आकीम् माङ् नञ् तावत् यावत् त्वा न्वै त्वै द्वै रै (रे) श्रोषट् वौषट् स्वाहा स्वधा ओम् तथा तथाहि खलु किल अथ सुष्ठु स्म अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ आदह उञ् उकञ् वेलायाम् मात्रायाम् यथा तत् किम् पुरा वधा (वध्वा) धिक् हाहा हेहै पाट् यत् प्याट् आहो उताहो हो अहो नो (नौ) अथो ननु मन्ये मिथ्या असि ब्रूहि तु नु इति इव वत् वात् वन् बत (सम्) वशम् शिकम् दिकम् सनुकम् छेवट् (छम्वट्) शङ्के शुकम् खम् सनात् सनतर् तहिकम् सत्यम् ऋतम् अद्धा इद्धा नो चेत् नहि जातु कथम् कुतः कुत्र अव अनु हाहे (है) आहोस्वित् शम् कम् खम् दिष्ट्या पशु वट् सह अनुषट आनुषक् अङ्ग फट् ताजक् (भाजक्) अये अरे वाट् (चाटु) कुम् खुम् घुम् अम् ईम् सीम् सिम् सि वै।

उपसर्ग विभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च निपाताः। आकृतिगणोऽयम्।। इति चादयः।।

अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणे

सर्वादीनि सर्वनामानि। (१/१/२७) सर्व विश्व उभ उभय डतर डतम अन्य अन्यतर इतर त्वत् त्व नेम सम सिम। **पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम- संज्ञायाम्। स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्। अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः।** त्यद् तद् यद् एतद् इदम् अदस् एक द्वि युष्मद् अस्मद् भवतु किम्। **इति सर्वादिः।।**

कण्ड्वादिप्रकरणे

कण्ड्वादिभ्यो यक्। (३/१/१२७) कण्डूञ् मन्तु हृणीङ् वल्गु असु (मनस्) महीङ् लाट् लेट् इरस् इरज् इरञ् उवस् उषस्वेट् मेधा कुषुभ (नमस्) मगध तन्तस् पम्पस् (पपस्) सुख दुःख (भिक्षा चरम चरण अवर) सपर अरर (अरर्) भिषज् भिष्णुज् (अपर आर) इषुध वरण चुरण तुरण भुरण गद्गद एला केला खेला (वेला शेला) लिट् लोट (लेखा लेख) रेखा द्रवस् तिरस् अगद उरस् तरण (तरिण) पयस् संभूयस् सम्बर।। **आकृतिगणोऽयम्। इति कण्ड्वादिः।।**

कृदन्तप्रकरणे

नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। (३/१/१३४) नन्दिवाशिमदिदूषिसाधिवर्धि-शोभिरोचिभ्यो ण्यन्तेभ्यः संज्ञायाम्। नन्दनः वाशनः मदनः दूषणः साधनः वर्धनः शोभनः रोचनः। **सहितपिदमः संज्ञायाम्।** सहनः तपनः दमनः जल्पनः रमणः दर्पणः संक्रन्दनः संकर्षणः संहर्षणः जर्नादनः यवनः मधुसूदनः विभीषणः लवणः चित्तविनाशनः कुलदमनः (शत्रुदमनः)। **इति नन्द्यादिः॥**

ग्राही उत्साही उद्दासी उद्भासी स्थायी मन्त्री संमर्दी। **रक्षश्रुवपशां नौ।** निरक्षी निश्रावी निवापी निशायी। **याचृव्याहृसंव्याहृव्रजवदवशां प्रतिषिद्धानाम्।** अयाची अव्याहारी। असंव्याहारी अव्राजी अवादी अवासी। **अचामचित्तकर्तृकाणाम्।** अकारी अहारी अविनायी (विशायी विषायी) विशयी विषयी देशे। **विशयी विषयी देशः। अभिभावी भूते।** अपराधी उपरोधी परिभवी परिभावी। **इति ग्रह्यादिः॥**

पच वच वद वप चल पत नदट् भषट् प्लवट् चरट् गरट् तरट् चोरट् गाहट् शरट् देवट् (दोषट्) जर (रज) मर (मद) क्षम (क्षप) सेव मेष कोप (कोष) मेघ नर्त व्रण दर्श सर्प (दम्भ दर्प) जारभर श्वपच। **पचादिराकृतिगणः। इति पचादिः॥**

मूलविभुजादिभ्यः कः। (३/२/३) मूलविभुज नखमुच काकगुह कुमुद महीध्र कुध्र। गिध्र। **आकृतिगणोऽयम्। इति मूलविभुजादयः॥**

संपदादिभ्यः क्विप्। (३/२/३) संपद् विपद् आपद् प्रतिपद् परिषद्॥ **एते संपदा-दयः॥**

अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः। (५/४/१०७) शरद् विपाश् अनस् मनस् उपानह् अनुडुह दिव् हिमवत् हिरुक् विद् सद् दिश् दृश् विश् चतुर् त्यद् तद् यद् एतद् कियत्। जराया जरस् च। **प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः।** पथिन्। इति **शरदादिः॥**

तत्पुरुषसमासे

सप्तमी शौण्डैः। (२/१/४०) शौण्ड धूर्त कितव व्याड प्रवीण संवीत अन्तर अधि पटु पण्डित कुशल चपल निपुण। **इति शौण्डादिः॥**

ऊर्यादिच्विडाचश्च। (१/४/६१) ऊरी उररी तन्थी ताली तन्थी ताली आताली वेताली धूली धूसी शकला संशंकला ध्वंसकला भ्रंशकला गुलुगुधा सजूस् फलफली विक्ली आक्ली आलोष्ठी केवाली केवासी सेवासी पर्याली शेवाली वर्षाली अत्यूमशा वश्मशा मस्मसा मसमसा औषट् श्रौषट् वौषट् वषट् स्वाहा स्वधा (पापी) प्रादुस् श्रत् आविस्। **एते ऊर्यादयः॥**

शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानम् (उपमानानि सामान्यवचनैः)। (२/१/६०) इति

सूत्रे। शाकपार्थिव कुतपसौश्रुत अजातौल्वलि। **आकृतिगणोऽयम्।** कृतापकृत भुक्तविभुक्त पीतविपीत गतप्रत्यागत यातानुयात क्रयाक्रयिका पुटापुटिका फलाफलिका मानोन्मानिका। **इति शाकपार्थिवादिः।।**

अर्धर्चाः पुंसि च। (२/४/३१) अर्धर्च गोमय कषाय कार्षापण कुतप कुशप (कुणप) कपाट शङ्ख गूथ यूथ ध्वज कबन्ध पद्म गृह सरक कंस दिवस यूष अन्धकार दण्ड कमण्डलु मण्ड भूत द्वीप द्यूत चक्र धर्म कर्मन् मोदक शतमान यान नख नखर चरण पुच्छ दाडिम हिम रजत सक्तु पिधान सार पात्र धृत सैन्धव औषध आढक चषक द्रोण खलीन पात्रीव षष्टिक वारबाण (वारवारण) प्रोथ कपित्थ (शुष्क) शाल शील शुक्ल (शुल्क) शीधु कवच रेणु (ऋण) कपट शीकर मुसल सुवर्ण वर्ण पूर्व चमस क्षीर कर्ष आकाश अष्टापद मङ्गल निधन निर्यास जृम्भ वृत्त पुस्त बुस्त क्ष्वेडित शृङ्ग निगड (खल) मूलक मधु मूल स्थूल शराव नाल वप्र विमान मुख प्रग्रीव शूल वज्र कटक कण्टक (कर्पट) शिखर कल्क (वल्कल) नटमस्तक (नाटमस्तक) वलय कुसुम तृण पङ्क्ति कुण्डल किरीट (कुमुद) अर्बुद अङ्कुश तिमिर आश्रय भूषण इक्कस (इष्वास) मुकुल वसन्त तटाक (तडाग) पिटक विटङ्क विडङ्ग पिण्याक माष कोश फलक दिन दैवत पिनाक समर स्थाणु अनीक उपवास शाक कर्पास (विशाल) चषाल (चखाल) खण्ड दर विटप (रण बल मक) मृणाल हस्त आर्द्र हल (सूत्र) ताण्डव गाण्डीव मण्डप पटह सौध योध पार्श्व शरीर फल (छल) पुर (पुरा) राष्ट्र अम्बर बिम्ब कुट्टिम मण्डल (कुक्कुट) कुडप ककुद खण्डल तोमर तोरण मञ्चक पञ्चक पुङ्ख मध्य (बाल) छाल वल्मीक वर्ष वस्त्र वसु देह उद्यान उद्योग स्नेह स्तेन (स्तन स्वर) संगम निष्क क्षेम शूक क्षत्र पवित्र (यौवन कलह) मालक (पालक) मूषिक (मण्डल वल्कल) कुज (कुञ्ज) विहार लोहित विषाण भवन अरण्य पुलिन दृढ आसन ऐरावत शूर्प तीर्थ लोमन (लोमश) तमाल लोह दण्डक शपथ प्रतिसर दारु धनुस् मान वर्चस्क कूर्च तण्डक मठ सहस्र ओदन प्रवाल शकट अपराह्ण नीड शकल तण्डुल। **इत्यर्धर्चादिः।।**

बहुव्रीहिसमासे

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः। (५/४/१३८) हस्तिन् कुद्दाल अश्व कशिक कुरुत कटोल कटोलक गण्डोल गण्डोलक कण्डोल कण्डोलक अज कपोत जाल गण्ड महेला दासी गणिका कुसूल। **इति हस्त्यादिः।।**

उरः प्रभृतिभ्यः कप्। (५/४/१५१) उरस् सर्पिस् उपानह् पुमान् अनड्वान् पयः नौः लक्ष्मीः दधि मधु शाली शालिः। **अर्थान्नञः। इत्युरःप्रभृतयः।।**

कस्कादिषु च। (८/३/४८) कस्कः कौतस्कुतः भ्रातुष्पुत्रः शुनस्कर्णः सद्यस्कालः सद्यस्कीः साद्यस्कः कांस्कान् सर्पिष्कुण्डिका धनुष्कपालम् बहिष्पलम् (बर्हिष्पलम्) यजुष्पात्रम् अयस्कान्तः तमस्काण्डः अयस्काण्डः मेदस्पिण्डः भास्करः अहस्करः। **इति कस्कादिराकृतिगणः।।**

द्वन्द्वसमासे

राजदन्तादिषु परम्। (२/२/३१) राजदन्तः अग्रेवणम् लिप्तवासितम् नग्नमुषितम् सिक्तसंमृष्टम् मृष्टलुञ्चितम् अविक्लिन्नपक्वम् अर्पितोतम् (अर्पितोप्तम्) उप्तगाढ। उलूखलमुसलम् तण्डुलकिण्वम् दृषदुपलम् आरड्वायनि (आरग्वायनबन्धकी) चित्ररथ-बाह्लीक। अवन्त्यश्मकम् शूद्रार्यम् स्नातकराजानौ विष्वक्सेनार्जुनौ अक्षिभ्रुवम् दारगवम् शब्दार्थौ धर्मार्थौ कामार्थौ अर्थशब्दौ अर्थधर्मौ अर्थकामौ वैकारिमतम् गाजवाजम् (गोजवाजम्) गोपालिधानपूलासम् (गोपालधानीपूलासम्) पूलासकारण्डम् (पूलासककुरण्डम्) स्थूलासम् (स्थूलपूलासम्) उशीरबीजम् (जिज्ञास्थि) सिञ्जास्थम् (सिञ्जाश्वत्थम्) चित्रास्वाति (चित्रस्वाति) भार्यापती दंपती जंपती जायापती पुत्रपती पुत्रपशू केशश्मश्रू शिरोबीजु (शिरोबीजम्) शिरोजानु सर्पिर्मधुनी मधुसर्पिषी (आद्यन्तौ) अन्तादी गुणवृद्धी वृद्धिगुणौ। **इति राजदन्तादिः।।**

तद्धितप्रकरणे

अश्वपत्यादिभ्यश्च। (४/१/८४) अश्वपति ज्ञानपति शतपति धनपति गणपति (स्थानपति यज्ञपति) राष्ट्रपति कुलपति गृहपति (पशुपति) धान्यपति धन्वपति (धर्मपति बन्धुपति) सभापति प्राणपति क्षेत्रपति। **इत्यश्वपत्यादिः।।**

उत्सादिभ्योऽञ्। (४/१/८६) उत्स उदपान विकर मिनद महानद महानस महाप्राण तरुण तनुल। बष्कयासे। पृथिवी (धेनु) पङ्क्ति जगती त्रिष्टुप् अनुष्टुप् जनपद भरत उशीनर ग्रीष्म पीलुकुण। उदस्थान देशे। पृषदंश भल्लकीय रथन्तर मध्यन्दिन बृहत् महत् सत्त्वत् कुरु पञ्चाल इन्द्रावसान उष्णिह् ककुभ् सुवर्ण देव **ग्रीष्मादच्छन्दसि। इत्युत्सादिः।**

बाह्वादिभ्यश्च। (४/१/९६) बाहु उपबाहु उपवाकु निवाकु शिवाकु वटाकु उषनिन्दु (उपबिन्दु) वृषली वृकला चूडा बलाका मूषिका कुशला भगला (छगला) ध्रुवका (धुवका) सुमित्रा दुर्मित्रा पुष्करसद् अनुहरत् देवशर्मन् अग्निशर्मन् (भद्रशर्मन् सुशर्मन्) कुनामन् (सुनामन्) पञ्चन् सप्तन् अष्टन्। अमितौजसः सलोपश्च। सुधावत् उदञ्चु शिरस् माष शराविन् मरीची क्षेमवृद्धिन् शृङ्खलतोदिन् खरनादिन् नगरमर्दिन् प्राकारमर्दिन् लोमन् अजीगर्त कृष्ण युधिष्ठिर अर्जुन साम्ब गद प्रद्युम्न रक्म (उदङ्क)। उदकः संज्ञायाम्। संभूयोम्भसोः सलोपश्च।। **आकृतिगणोऽयम्।।** तेन सात्त्विकिः जाङ्घिः एन्दशर्मिः आजधेनविः इत्यादि।। **इति बाह्वादयः।।**

अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्। (४/१/१०४) बिद उर्व कश्यप कुशिक भरद्वाज उपमन्यु किलात कन्दर्प (किंदर्भ) विश्वानर ऋष्टषेण (ऋष्टिषेण) ऋतभाग हर्यश्व प्रियक आपस्तम्ब कूचवार शरद्वत् शुनक (शुनक्) धेनु गोपवन शिग्रु बिन्दु (भोगक) भाजन (शमिक) अश्वावतान श्यामाक श्यामक (श्यावलि) श्यापर्ण हरित किंदास बह्यस्क अर्कजूष (अर्कलूष) बध्योग विष्णु वृद्ध प्रतिबोध रचित (रथीतर) रथन्तर गविष्ठिर निषाद

(शबर अनस) मठर (मृडाकु) सृपाकु मृदु पुनर्भू पुत्र दुहितृ ननान्दृ। परस्त्री परशुं च।। **इति बिदादिः।।**

गर्गादिभ्यो यञ्। (४/१/१०४) गर्ग वत्स वाजासे। सङ्कृति अज व्याघ्रपात् विदभृत् प्राचीनयोग (अगस्ति) पुलस्ति चमस रेभ अग्निवेश शंख शट शक धूम एक अवट मनस् धनञ्जय वृक्ष विश्वावसु जरमाण लोहित शंसित बभ्रु वल्गु मण्डु शङ्कु लिगु गुहलु मन्तु मंक्षु अलिगु जिगीषु मनु तन्तु मनायी सूनु कथक कन्थक ऋक्ष तृक्ष (वृक्ष) (तनु) तरुक्ष तलुक्ष तण्ड वतण्ड कपिकत (कपि कत) कुरुकत अनडुह कण्व शकल गोकक्ष कोकक्ष अगस्त्य कण्डिनी यज्ञवल्क पर्णवल्क अभयजात विरोहित वृषगण रहूगण शण्डिल वर्णक (चणक) चुलुक मुद्गल मुसल जमदग्नि पराशर जतुकर्ण जातुकर्ण महित मन्त्रित अश्मरथ शर्कराक्ष पूतिमाष स्थूरा अदरक (अररक) एलाक पिङ्गल कृष्ण गोलन्द उलूक तितिक्ष भिषज (भिषज्) भिष्णज भडित भण्डित दल्भ चेकित चिकित्सित देवहू इन्द्रहू एकलु पिप्पलू बृहदग्नि (सुलोहिन्) सुलाभिन् उक्थ कुटीगु। **इति गर्गादिः।।**

शिवादिभ्योऽण्। (४/१/११२) शिव प्रोष्ठ प्रोष्ठिक चण्ड जन्म भूरि दण्ड कुठार ककुभ् (ककुभा) अनभिम्लान कोहित सुख सन्धि मुनि ककुत्स्थ कहोड कोहड कहुय कहय रोध कपिञ्जल (कुपिञ्जल) खञ्जन वतण्ड तृणकर्ण क्षीरह्रद जलह्रद परिल (पथिक) पिष्ट हैहय (पार्षिका) गोपिका कपिलिका जटिलिका बधिरिका मञ्जीरक (मजिरक) वृष्णिक खञ्जार खञ्जाल (कर्मार) रेख लेख आलेखन विश्रवण रवण वर्तनाक्ष ग्रीवाक्ष (पिटक विटप)विटाक तृक्षाक नभाक ऊर्णनाभ जरत्कारु (पृथा उत्क्षेप) पुरोहितिका सुरोहितिका सुरोहिका आर्यश्वेत (अर्यश्वेत) सुपिष्ट मसुरकर्ण मयूरकर्ण खर्जूरकर्ण कदूरक तक्षन् ऋष्टिषेण गङ्गा विपाश यस्क लह्य द्रुह्य अयस्थूण तृणकर्ण (तृण कर्ण) पर्ण भलन्दन विरूपाक्ष भूमि इला सदत्नी। **द्व्यचो नद्याः। त्रिवणी त्रिवणं च। इति शिवादिः। आकृतिगणः।।**

रेवत्यादिभ्यष्टक्। (४/१/१४६) रेवती अश्वपाली मणिपाली द्वारपाली वृक वञ्चिन् वृकबन्धु वृकग्राह दण्डग्राह कर्णग्राह कुक्कुटाक्ष (ककुदाक्ष) चामरग्राह। **इति रेवत्यादिः।।**

भिक्षादिभ्योऽण्। (४/२/३८) भिक्षा गर्भिणी क्षेत्र करीष अङ्गारचर्मिन् धर्मिन् सहस्र युवति पादाति पद्धति अथर्वन् दक्षिणा भरत विषय श्रोत्र। **इति भिक्षादिः।।**

क्रमादिभ्यो वुन्। (४/२/६१) क्रम पद शिक्षा मीमांसा सामन्। **इति क्रमादिः।।**

वरणादिभ्यश्च। (४/२/८२) वरणा शृङ्गी शाल्मलि शुण्डी शयाण्डी पर्णी ताम्रपर्णी गोद आलिङ्ग्यायनी जालपदी (जानपदी) जम्बू पुष्कर चम्पा पम्पा वल्गु उज्जयिनी गया मथुरा तक्षशिला उरसा गोमती वलभी। **इति वरणादिः।।**

मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः। (८/२/९) यव दल्मि ऊर्मि भूमि कृमि क्रुञ्चा

वशा द्राक्षा ध्राक्षा ध्रजि (व्रजि) ध्वजि निजि सिजि सञ्जि हरित् ककुत् मरुत् गरुत् इक्षु द्रु मधु। आकृतिगणोऽयम्। **इति यवादिः।।**

नद्यादिभ्यो ढक्। (४/२/९७) नदी मही वाराणसी श्रावस्ती कौशाम्बी वनकौशाम्बी (वनकोशाम्बी) काशपरी काशफारी (काशफरी) खादिरी पूर्वनगरी पाठा माया शाल्वदार्वा सेतकी। **वडवाया वृषे। इति नद्यादिः।।**

गहादिभ्यश्च। (४/२/१३८) गह अन्तस्थ सम विषम मध्य। **मध्यन्दिनं चरणे।** उत्तम अङ्ग बङ्ग मगध पूर्वपक्ष अपरपक्ष अधमशाख उत्तमशाख एकाशाख एकग्राम समानग्राम एकवृक्ष एकपलाश इष्वग्र इष्वनीक अवस्यन्दन कामप्रस्थ शाडिकाडायनि (खाडायन) काठेरणि लावेरणि सौमित्रि शैशिरि आसुत् दैवशर्मि श्रौति अहिंसि अमित्रि व्याडि वैजि आध्यश्वि आनृशंसि (आनृशंसि) शौङ्गि आग्निशर्मि भौजि वाराटकि वाल्मिकि (वाल्मीकी) क्षैमवृद्धि आश्वत्थि औद्‌गाहमानि ऐकवन्दवि दन्ताग्र हंस तत्त्वग्र तन्त्वग्र उत्तर अन्तर (अनन्तर)। **मुखपार्श्वतसोर्लोपः जनपरयोः कुक् च। देवस्य च। वेणुकादिभ्यश्छण्। इति गहादिः आकृतिगणोऽयम्।।**

दिगादिभ्यो यत्। (४/३/५४) दिश् वर्ण पूग गण पक्ष धाय्य मित्र मेधा अन्तर पथिन् रहस् अलीक उखा साक्षिन् देश आदि अन्त मुख जघन मेघ यूथ। उदकात्संज्ञायाम्। ज्ञायवंश वेश काल आकाश। **इति दिगादिः।।**

नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (४/३/१४४) शर दर्भ मृद् (मृत्) कुटी तृण सोम बल्वज। **इति शरादिः।।**

उगवादिभ्यो यत्। (५/१/२) गो हविस् अक्षर विष बर्हिस् अष्टका स्खदा युग मेधा स्रुच्। **नाभि नभं च। शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वं तत्सन्नियोगेन चान्तोदात्तत्वम्। ऊधसोऽनङ् च।** कूप खद दर खर असुर अध्वन् (अध्वन) क्षर वेद बीज दीस दीप्त। **इति गवादिः।।**

दण्डादिभ्यो यत्। (५/१/६६) पृथु मृदु महत् पटु तनु लघु बहु साधु आशु उरु गुरु बहुल खण्ड दण्ड चण्ड अकिंचन बाल होड पाक वत्स मन्द स्वादु ह्रस्व दीर्घ प्रिय वृष ऋजु क्षिप्र क्षुद्र अणु। **इति पृथ्वादिः।।**

वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च। (५/१/१२३) दृढ वृढ परिवृढ भृश कृश वक्र शुक्र चुक्र आम्र कृष्ट लवण ताम्र शीत उष्ण जड बधिर पण्डित मधुर मूर्ख मूक स्थिर। **वेर्यातलातमतिर्मनः शारदानाम्, समो मतिमनसोः।** जवन। **इति दृढादिः।।**

गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च। (५/१/१२४) ब्राह्मण वाडव माणव। अर्हतो नुम्च। चोर धूर्त आराधय विराधय अपराधय उपराधय एकभव द्विभाव त्रिभाव अन्यभाव अक्षेत्रज्ञ संवादिन् संवेशिन् संभाषिन् बहुभाषिन् शीर्षघातिन् विघातिन् समस्थ

विषमस्थ परमस्थ मध्यमस्थ अनीश्वर कुशल चपल निपुण पिशुन कुतूहल क्षेत्रज्ञ निश्न बालिश अलस दुःपुरुष कापुरुष राजन् गणपति अधिपति गडुल दायाद विशस्ति विषम विपात निपात। **सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे। चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च।** शौटीर। **आकृतिगणोऽयम्। इति ब्राह्मणादिः।।**

पत्यन्तपुरोहितादिभ्य यक्। (५/१/१२८) पुरोहित। राजऽसे। ग्रामिक पिण्डित सुहित बालमन्द (बाल-मन्द) खण्डिक दण्डिक वर्मिक कर्मिक धर्मिक शीलिक सूतिक मूलिक तिलक अञ्जलिक (अन्तलिक) रूपिक ऋषिक पुत्रिक अविक छत्रिक पर्षिक पथिक चर्मिक प्रतिक सारथि आस्तिक सूचिक संरक्ष सूचक (संरक्षसूचक) नास्तिक अजानिक शाक्वर नागर चूडिक। **इति पुरोहितादिः।।**

तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्। (५/२/३६) तारका पुष्प कर्णक मञ्जरी ऋजीष क्षण सूच सूत्र निष्क्रमण पुरीष उच्चार प्रचार विचार कुड्चल कण्टक मुसल मुकुल कुसुम कुतूहल स्तबक (स्तवक) किसलय पल्लव खण्ड वेग निद्रा मुद्रा बुभुक्षा धेनुष्या पिपासा श्रद्धा अभ्र पुलक अङ्गारक वर्णक द्रोह दोह सुख दुःख उत्कण्ठा भर व्याधि वर्मन् व्रण गौरव शास्त्र तरंग तिलक चन्द्रक अन्धकार गर्व कुमुर (मुकुर) हर्ष उत्कर्ष रण कवलय गर्ध क्षुध् सीमन्त ज्वर गर रोग रोमाञ्च पण्डा कज्जल तृष् कोरक कल्लोल स्थपुट फल कञ्चुकशृङ्गार अङ्कुर शैवल बकुल श्वभ्र अराल कलङ्क कर्दम कन्दल मूर्च्छा अङ्गार हस्तक प्रतिबिम्ब विघ्नतन्त्र प्रत्यय दीक्षा गर्ज। गर्भादप्राणिनि। **इति तारकादिराकृतिगणः।।**

इष्टादिभ्यश्च। (५/२/८८) इष्ट पूर्त उपासादित निगदित परिगदित परिवादित निकथित निषादित निपठित संकलित परिकलित संरक्षित परिरक्षित अर्चित गणित अवकीर्ण आयुक्त गृहीत आम्नात श्रुत अधीत अवधान आसेवित अवधारित अवकल्पित निराकृत उपकृत उपाकृत अनुयुक्त अनुगणित अनुपठित व्याकुलित। **इतीष्टादिः।।**

लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः। (५/२/१००) लोमन् रोमन् बभ्रु हरि गिरि कर्क कपि मुनि तरु। **इति लोमादिः।।**

पामन् वामन् वेमन् हेमन् श्लेष्मन् कद्रु (कद्रू) वलि सामन् ऊष्मन् कृमि। **अङ्गात्कल्याणे। शाकीपालालीदद्रूणां ह्रस्वत्वं च। विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः।** लक्ष्म्या अच्च। **इति पामादिः।।**

पिच्छा उरस् धुवक ध्रुवक। **जटाघटाकालाः क्षेपे।** वर्ण उदक पङ्क प्रज्ञा। इति **पिच्छादिः।।**

व्रीह्यादिभ्यश्च। (५/२/११६) व्रीहि माया शाला शिला माला मेखला केका अष्टका पताका चर्मन् कर्मन् वर्मन् दंष्ट्रा संज्ञा बडवा कुमारी नौ वीणा बलाका यवखदनौ कुमारी। **शीर्षान्नञः। इति व्रीह्यादिः।।**

अर्श आदिभ्योऽच्। (५/२/१२७) अर्शस् उरस् तुन्द चतुर कलित जटा घटा घाटा अभ्र अघ कर्दम अम्ल लवण **स्वाङ्गाद्धीनात्। वर्णात्। इत्यर्शआदिराकृतिगणः।।**

क्षुभ्नादिषु च। (८/४/३९) क्षुभ्न नृगमन नन्दिन् नन्दन नगर। एतान्युत्तरपदानि संज्ञायां प्रयोजयन्ति। हरिनन्दी हरिनन्दनः गिरिनगरम्। नृतिर्यङि प्रयोजयन्ति। नरीनृत्यते। नर्तन गहन नन्दन निवेश निवास अग्नि अनूप। एतान्युत्तरपदानि प्रयोजयन्ति। परिनर्तनम् परिगहनम् परिनन्दनम् शरनिवेशः शरनिवासः शराग्निः दीर्भानूपः। **आचार्यादणत्वं च। आकृतिगणोऽयम्।। पाठान्तरम्**—क्षुभ्ना तृप्नु नृनमन नरनगर नन्दन। नृतिर्यङि। गिरिनदी गृहगमन निवेश निवास अग्नि अनूप आचार्यभोगीन चतुर्हायन। **इरिकादीनि वनोत्तरपदानि संज्ञायाम्।** इरिका तिमिर समीर कुबेर हरि कर्मार। **इति क्षुभ्नादिः।।**

अनुशतिकादीनां च। (७/३/२०) अनुशातिक अनुहोड अनुसंवरण (अनुसंचरण) अनुसंवत्सर अङ्गारवेणु असिहत्य अस्यहत्य अस्यहेति बध्योग पुष्करसद् अनुहरत् कुरुकत् कुरुपञ्चाल उदकशुद्ध इहलोक परलोक सर्वलोक सर्वपुरुष सर्वभूमि प्रयोग परस्त्री (राजपुरुषात्ष्यञि) सूत्रनड। **इत्यनुशतिकादिराकृतिगणोऽयम्।** तेन अभिगम अभिभूत अधिदेव चतुर्विद्या इत्यादयोऽन्येऽपि गृह्यन्ते।

आद्यादिभ्य उपसंख्यानम् (वा०) (५/४/४२) आदि मध्य अन्त पृष्ठ पार्श्व। **इत्याद्यादिराकृतिगणोऽयम्!**

प्रज्ञादिभ्यश्च (५/४/३८) प्रज्ञ वणिज् उशिज् उष्णिज् प्रत्यक्ष विद्वस् वेदन् षोडन् विद्या मनस्। **श्रोत्रं शरीरे।** जुह्वत्। **कृष्णमृगे।** चिकीर्षत्। चोर शत्रु योध चक्षुष् वसु एनस् मरुत् क्रुञ्च सत्त्वत् दशार्ह वयस् व्याकृत असुर रक्षस् पिशाच अशनि कर्षापण देवता बन्धु। **इति प्रज्ञादिः।।**

स्त्रीप्रत्ययप्रकरणे

अजाद्यतष्टाप्। (४/१/४) अजा एडका कोकिला चटका अश्वा मूषिका बाला होडा पाका वत्सा मन्दा विलाता पूर्वापिहाणा (पूर्वापहाणा) अपरापहाणा। **सम्भस्त्राजिन-शणपिण्डेभ्यः फलात्। सदच्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात्। शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः।** क्रुञ्चा उष्णिहा देवविशा ज्येष्ठा कनिष्ठा। **मध्यमेति पुंयोगेऽपि। मूलान्नञः। दंष्ट्रा। एतेऽजादयः। आकृतिगणोऽयम्।**

षिद्गौरादिभ्यश्च। (४/१/४१) गौर मत्स्य मनुष्य शृङ्ग पिङ्गल हय गवय मुकय ऋष्य (पुट तूण) द्रुण द्रोण कोकण (काकण) हरिण पटर उणक (आमल) आमलक कुवल बिम्ब बदर कर्करक तर्कार शर्कार पुष्कर शिखण्ड सलद शष्कण्ड सनन्द सुषम सुषव अलिन्द गडुल षाण्डश आढक आनन्द आश्वत्थ सृपाट आखक (आपच्चिक) शष्कुल सूर्य (सूर्म) शूर्प सूच यूष (पूष) यूथ सूप मेथ वल्लक घातक सल्लक माल्लक

मालत साल्वक वेतस वृक्ष (वृस) अतस (उभय) भृङ्ग मह मठ छेद पेश मेद श्वन् तक्षन् अनडुही अनड्वाही। **एषणः करणे।** देह देहल काकादन गवादन तेजन रजन लवण औद्गाहमानी आद्गाहमानी गौतम (गोतम) (पारक) अयस्थूण (अयःस्थूण) भौरिकि भौलिकि भौलिङ्गि यान मेध आलम्बि आलजि आलब्धि आलक्षि केवाल आपक आरट नट टोट नोट मूलाट शातन (पोतन) पातन पाठन (पानठ) आस्तरण अधिकरण अधिकार अग्रहायणी (आग्रहायणी) प्रत्यवरोहिणी (सेचन)। सुमङ्गलात् संज्ञायाम्। अण्डर सुन्दर मण्डल मन्थर मङ्गल पट पिण्ड (षण्ड) उर्द गुद शम सूद औड (आर्द्र) हृद ह्रद पाण्ड (भाण्डल) भाण्ड (लोहाण्ड) कदर कन्दर कदल तरुण तलुन कल्माष बृहत् महत् (सोम) सौधर्म। **रोहिणी नक्षत्रे। रेवती नक्षत्रे।** विकल निष्कल। पुष्कल **कटाच्छ्रोणिवचने। पिप्पल्यादयश्च।** पिप्पली हरितकी (हरीतकी) कोशातकी शमी वरी शरी पृथिवी क्रोष्टु मातामह पितामह। **इति गौरादिः।।**

बह्वादिभ्यश्च। (४/१/४५) बहु पद्धति अङ्कति अञ्चति अंहति शकटि (शकति)। **शक्तिः शस्त्रे।** शारि वारि राति राधि (शाधि) अहि कपि यष्टि मुनि। **इतः प्राण्यङ्गात्। कृदिकारादक्तिनः। सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके।** चण्ड अराल कृपण कमल विकट विशाल विशङ्कट भरुज ध्वज। **चन्द्रभागान्नद्याम्।** (चन्द्रभागा नद्याम्) कल्याण उदार पुराण अहन् क्रोड नख खुर शिखा वाल शफ गुद। **आकृतिगणोऽयम्।** तेन भग गल साग इत्यादि। **इति बह्वादयः।।**

न क्रोडादिबह्वचः। (४/१/५६) क्रोड नख खुर गोखा उखा शिखा वाल शफ शुक्र। **आकृतिगणोऽयम्।** तेन भगगलघोणनालभुजगुदकर। **इति क्रोडादिः।।**

शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्। (४/१/७३) शार्ङ्गरव कापटव गौग्गुलव ब्राह्मण बैद गौतम कामण्डलेय ब्राह्मणकृतेय (आनिचेय) आनिधेय आशोकेय वात्स्यायन मौञ्जायन कैकश काप्य (काव्य) शैव्य एहि पर्येहि आश्मरथ्य औदपान अराल चण्डाल वतण्ड। **भोगवद् गौरिमतोः संज्ञायाम् घादिषु। नृनरयोर्वृद्धिश्च।** इति **शार्ङ्गरवादिः।**

।। इति लघुसिद्धान्तकौमुदीस्थो गणपाठः ।।

सूत्राणामकारादिक्रमेण सूची

॥ इति लघुसिद्धान्तकौमुदीस्थसूत्राणां वर्णानुक्रमसूची ॥

डॉ. सत्यपाल सिंह का जन्म 31 जनवरी, 1964 को हरियाणा प्रान्त के झज्जर जिले के लोहारी गाँव में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के राजकीय माध्यमिक विद्यालय में ग्रहण करने के अनन्तर सन् 1979 में आर्ष गुरुकुल महाविद्यालय झज्जर में प्रविष्ट होकर 'श्रीमद्दयानन्द आर्ष विद्यापीठ' से मध्यमा और 'महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय' रोहतक से व्याकरण विशेष के साथ शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की। गुरुकुल शिक्षा के समय और उसके बाद व्याकरण शास्त्र के उद्भट विद्वान् श्री आचार्य प्रद्युम्न जी (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) के सान्निध्य में अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति, काशिका, माधवीया धातुवृत्ति और महाभाष्य आदि व्याकरण शास्त्र के ग्रन्थों का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन किया। तदुपरान्त दिल्ली विश्वविद्यालय से एम्.ए. संस्कृत तथा वहीं से पी-एच्.डी. के उपरान्त 1991-92 में हंसराज कॉलेज में अस्थायी प्रवक्ता के रूप में कार्य किया। तदनन्तर 1992 में ज़ाकिर हुसैन महाविद्यालय, दिल्ली में प्रवक्ता के रूप में नियुक्त हुए। आज भी आप वहीं पर एसोशिएट प्रोफेसर के रूप में कार्यरत हैं। विद्या-व्यसनी और विनयशील इस विद्वान ने भाषा-विज्ञान में एम्.ए. के समकक्ष डिप्लोमा दिल्ली विश्वविद्यालय से द्वितीय स्थान के साथ प्राप्त किया। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय शोध संगोष्ठियों में शोध-पत्र प्रस्तुत करने वाले अनेक शोधकार्यों के निर्देशक डॉ. सिंह को 'महात्मा गाँधी इंस्टीट्यूट' मॉरीशस में विजिटिंग फैलो के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय [illegible] करने का अनुभव भी प्राप्त है।

[illegible] परिचय

'लघुसिद्धान्तकौमुदी' की अनेक विशालकाय, लघुपरिमाण और मध्यम-परिमाण व्याख्याओं की उपस्थिति में इस व्याख्या की आवश्यकता और उपयोगिता के विषय में तो सुधी पाठकगण ही प्रमाण हैं।

प्रकाशिकानाम्नी इस व्याख्या में 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' मल्लिनाथ के इस कथन को आदर्श वाक्य मानकर मूल्यग्रन्थ लघुसिद्धान्तकौमुदी में अस्पृष्ट विषयों को और शास्त्र के अनपेक्षित पक्षों को नहीं उठाया गया है। सूत्रार्थ की स्पष्टता और तार्किक ग्राह्यता हेतु सूत्रार्थ से पहले सूत्र का पदच्छेद, विभक्ति और पूर्व सूत्रों से आने वाली अनुवृत्ति का उल्लेख किया गया है। तदनन्तर सूत्रार्थ देकर उदाहरणों में सूत्र की संगति को स्पष्ट किया गया है। उदाहरणों को सूत्र की व्याख्या के साथ ही यथासम्भव समग्र सिद्धि-प्रक्रिया सहित प्रदर्शित किया गया है। इस ग्रन्थ की भूमिका में व्याकरण की संरचना के आधारभूत सिद्धान्तों और तत्त्वों, नामतः सामान्य भाषा से पाणिनि की शास्त्रीय भाषा का भेद, प्रत्याहार, अनुवृत्ति, पौर्वापर्य व्यवस्था, संज्ञाव्यवस्था, परिभाषाओं का उपयोग और उनकी कार्यपद्धति, उत्सर्ग-अपवाद व्यवस्था, आभीय असिद्ध-प्रकरण की कार्य व्यवस्था आदि को सोदाहरण स्पष्ट किया गया है।

लघुसिद्धान्तकौमुदी पर लिखने का यह लघु-प्रयास पाठकगण को पसन्द आयेगा ऐसा लेखक का विश्वास है।

₹ 395/-

ISBN: 978-81-88808-34-2

SHIVALIK PRAKASHAN

27/16 Shakti Nagar, New Delhi-110007
Phone: 011- 24564680, 42351161
E-mail: shivalikprakashan@gmail.com
Website : shivalikprakashan.com